याज्ञवल्क्यस्मृतिः

डॉ॰ गङ्गासागर राय

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

१।

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

॥श्रीः॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

९०

श्रीमद्योगीश्वरमहर्षियाज्ञवल्क्यप्रणीता

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

विज्ञानेश्वरप्रणीतमिताक्षराव्याख्यया, 'गङ्गा' हिन्दीव्याख्यया,
बालंभट्टी-श्रीकर-विश्वरूपापरार्कादिप्राचीनटीकापाठान्तर-
टिप्पण्यादिभिश्च समलंकृता।

हिन्दी व्याख्याकारः संपादकश्च

डॉ. गङ्गासागरराय

सर्वभारतीय काशिराजन्यास
दुर्ग रामनगर, वाराणसी

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड़
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

सर्वाधिकार सुरक्षित
पुनर्मुद्रित संस्करण 2015
पेज : 6+24+22+670+30
मूल्य : ₹ 350.00
ISBN : 978-81-7084-121-6

अन्य प्राप्तिस्थान :
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

❈

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

❈

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE
VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA
90

YĀJÑAVALKYASMṚTI

of

YOGĪŚVARA MAHARṢI YĀJÑAVALKYA

with

The Mitākṣarā Commentary of Vijñāneśvara,
Hindi Translations, notes and Varient readings
from the old commentaries

Edited and Translated
By
Dr. Ganga Sagar Rai
All India Kashiraj Trust
Fort Ramnagar, Varanasi (India)

ज्ञाने सर्वं प्रतिष्ठितम्

CHAWKHAMBHA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

YĀJÑAVALKYASMṚTI

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902
E-mail : cspdel.sales@gmail.com

© Publishers

Reprinted : 2015
Price : ₹ 350.00
Pages : 6+24+22+670+30
ISBN : 978-81-7084-121-6

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

*

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

*

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi

भूमिका

मनुस्मृति के बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण स्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति मानी जाती है। याज्ञवल्क्य की स्मृति मनु से अधिक सुगठित स्मृति है। याज्ञवल्क्य ने पूर्ण स्मृति ग्रंथ को तीन भागों—आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त में विभाजित किया है तथा विषयों को उनके समुचित स्थान पर रखा है एवं व्यर्थ का पुनरुक्ति दोष नहीं आने दिया है। मनु के दो श्लोक याज्ञवल्क्य के एक श्लोक के बराबर है। याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रणयनकर्ता के समक्ष मनुस्मृति रही होगी क्योंकि दोनों स्मृतियों में कहीं-कहीं शब्दों में समानता पाई जाती है।

याज्ञवल्क्यस्मृति के श्लोक अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध हैं। यद्यपि इस स्मृति के प्रणेता को अपनी बात थोड़े में कहना है, तथापि कहीं भी दुरवबोध्यता नहीं झलकती। शैली सरल है तथा धाराप्रवाह है।

विष्णुधर्मसूत्र तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं इस स्मृति में बहुत समानता दिखाई पड़ती है। यद्यपि मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में बहुत ही समानताएँ हैं तथापि याज्ञवल्क्य मनु की बहुत बातें नहीं मानते हैं, यथा, मनु ब्राह्मण को शूद्रकन्या से विवाह करने का आदेश कर देते हैं (३ .१३), परंतु याज्ञवल्क्य इससे सहमत नहीं हैं। इसी प्रकार मनु ने नियोग का वर्णन करके उसकी भर्त्सना की है (९.५९-६८), परंतु याज्ञवल्क्य ने ऐसा नहीं किया है। मनु ने १८ व्यवहार पदों के नाम लिए हैं किन्तु याज्ञवल्क्य ने ऐसा न करके केवल व्यवहार पद की परिभाषा की है। मनु ने जुआ की भर्त्सना की है, किन्तु याज्ञवल्क्य ने उसे राज्य नियंत्रण में रखकर आय का एक माध्यम बना डाला है (२.२००-२०३)।

पूर्व मध्यकालीन स्मृतिकार पराशर ने १९ स्मृतिकारों के नाम गिनाए हैं जिनमें याज्ञवल्क्य को रखा है। अग्निपुराण एवं गरुडपुराण में याज्ञवल्क्य के अनेक श्लोक मिलते हैं। याज्ञवल्क्य एवं अग्निपुराण के व्यवहार सम्बन्धी बहुत सी बातों में समानता है यद्यपि इस पुराण ने कहीं भी यह स्वीकार नहीं किया है कि ये अंश याज्ञवल्क्यस्मृति से लिया गया है। इसके विपरीत गरुडपुराण ने इस ऋण को स्वीकार किया है। (याज्ञवल्क्येन वै पूर्वं धर्मः प्रोक्तः कथं हरे। तन्मे कथय केशिघ्न यथातत्वेन माधव। (९३/१)।

इस ग्रंथ के नाम से इसे याज्ञल्क्य द्वारा लिखित मानने की प्रतीति होती है। शतपथ ब्राह्मण (१४/९/४/३३) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय-३) में याज्ञवल्क्य का उल्लेख आता है। वे शुक्ल यजुर्वेद के द्रष्टा थे। शुक्ल यजुर्वेद के द्रष्टा याज्ञवल्क्य को इस स्मृति का रचयिता मानने में विसंवाद है और उन्हें इस स्मृति का रचयिता नहीं माना जाता। इस ग्रंथ की शैली और विषय नए हैं। शुक्ल यजुर्वेद से उनका घनिष्ठ संबध है। मिताक्षरा का साक्ष्य भी इस ग्रंथ के लेखक के विषय में बहुत आधिकारिक इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि टीका बहुत बाद की

है। प्राचीन भारत में प्रायः लेखक अपने ग्रंथ को लोकप्रिय बनाने के लिए किसी ऋषि के नाम से संबद्ध कर देते थे। कुछ विद्वान् याज्ञवल्क्य स्मृति को एक मौलिक ग्रंथ की अपेक्षा संग्रह ग्रन्थ मानते हैं। लेखक ने धर्म सूत्रों, मनु स्मृति, विष्णु स्मृति और पुराणों से अनेक विचार लिए हैं, याज्ञवल्क्य का सबंध मिथिला से बताया गया है। परंतु के॰ पी॰ जायसवाल का अपने ग्रंथ मनु एण्ड याज्ञवल्क्य (कलकत्ता, १९३६ पृ॰ ६१) में यह मत है कि इस स्मृति का प्रणयन मध्यदेश अथवा पश्चिम भारत में कहीं हुआ। यह स्मृति तब लिखी गयी जब म्लेच्छों का प्रभुत्व था, म्लेच्छों के प्रति किसी प्रकार की कटुता का संकेत नहीं मिलता। यह अनुमान हो सकता है कि यह ग्रंथ बाद में लिखा गया जब म्लेच्छों के प्रति शत्रुभाव का अभाव हो गया। यह शुद्धतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लिखा गया ग्रंथ है। लेखक के वैज्ञानिक और पक्षपात-रहित दृष्टिकोण के कारण ही इस ग्रंथ को संपूर्ण भारत में मान्यता प्राप्त हुई।

गणेश एवं ग्रहों की पूजा इस स्मृति की विशेषता है (या॰ १/२७१-३०८)। दान से संबद्ध धर्मों और ताम्र पत्र लेखों का निर्देश इस स्मृति में है (या॰ १/१९८-२१६ तथा ३१९-३२०)। मनु ने इसका उल्लेख नहीं किया है। याज्ञवल्क्य ने बौद्धमत का खण्डन किया है (या॰ १/२७३)। शरीर रचना एवं चिकित्सा संबन्धी सामग्री तथा कई अन्य बातों में मनु एवं याज्ञवल्क्य में भेद है (तुलना कीजिये या॰ ३/७५-१०८ तथा २/९५-११३ और मनु॰ ८/११४, ३/१३)।

याज्ञवल्क्य स्मृति ने मानवगृह्यसूत्र (२.१४) से विनायक शान्ति की बातें ले ली हैं, किन्तु विनायक की अन्य उपाधियाँ या नाम नहीं लिए हैं जैसे-मित, सम्मित, शालकटंकट एवं कूष्माण्डराजपुत्र।

महामहोपाध्याय काणे का विचार है कि शंख-लिखित धर्मसूत्र ने धर्मशास्त्रकार याज्ञवल्क्य का उल्लेख किया है और याज्ञवल्क्य ने स्वयं शंख-लिखित को धर्मशास्त्रकार के रूप में माना है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शंख-लिखित के सामने कोई प्राचीन याज्ञवल्क्यस्मृति थी। इस बात के अतिरिक्त कोई अन्य सूत्र हमारे पास नहीं है कि हम कहें कि इस स्मृति का कोई प्राचीन संस्करण भी था। विश्वरूप एवं मिताक्षरा के संस्करणों की तुलना यदि अग्नि एवं गरुड पुराणों से की जाए तो यह झलक उठता है कि याज्ञवल्क्य स्मृति में ८०० ई॰ से लेकर ११००ई॰ तक कुछ शाब्दिक परिवर्तन अवश्य हुए, किन्तु मुख्य स्मृति सन् ७००ई॰ से अब तक ज्यों की त्यों चली आयी है। ११वीं शताब्दी का अरबी यात्री अलबीरूनी ने याज्ञवल्क्य का स्मृतिकार के रूप में उल्लेख किया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति पर सुश्रुत तथा चरक संहिता जैसे वैद्यक ग्रंथों का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में मर्मों की संख्या सुश्रुत के समान ही १०७ दी गई है। दूसरी

ओर इसमें अस्थियों की संख्या चरक संहिता के अनुसार ३६० दी गई है। इसके अतिरिक्त चरक संहिता तथा याज्ञवल्क्य में कहीं-कहीं पारस्परिक अर्थ अथवा भावसाम्य ही नहीं अपितु पद साम्य भी मिलता है। प्रारब्ध एवं पुरुषार्थ के बलाबल के विषय में याज्ञवल्क्य के विचार देखिए— दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता। तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदेहिकम् ॥ केचित् दैवात् स्वभावाद्वा कालात्पुरुषकारता। संयोगे केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः॥ याज्ञ० ३४९-३५०

तुलना करें:–

दैवे पुरुषाकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम्।
दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम्॥ च०चि० ३.३६

कर्म किंचित् क्वचित् काले विपाके नियतं महत्।
किंचित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते॥ च०वि० ३.४१

ब्रह्म विषयक विचारों की तुलना करें - याज्ञ० स्मृ० प्रायश्चित १२० तथा च०शा० १८

गणेश एवं ग्रहों की पूजा इस स्मृति की विशेषता है (या० १/२७१-३०८)। दान से सम्बद्ध धर्मों और ताम्रपत्र लेखों का निर्देश इस स्मृति में है (या० १/१९८-२१६) तथा मनु ने इसका उल्लेख नहीं किया है। याज्ञवल्क्य ने बौद्धमत का खण्डन किया है (या० १/२७३)। शरीर रचना एवं चिकित्सा संबधी सामग्री तथा कई अन्य बातों में मनु एवं याज्ञवल्क्य में भेद हैं (या० ३/७५-१०८ तथा २/९५-११३ और मनु ८/११४, ३/१३)।

जाली ने 'नाणक' (तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च ॥ एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम्॥ अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम् ॥ स नाणकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम्॥ याज्ञ० स्मृ० २/२४०-२४१) सिक्के के आधार पर याज्ञवल्क्य स्मृति को चौथी शताब्दी ई० का माना है (जैकोबी एवं जॉली-जीत्स क्रिफ्ट डेर ड्यूत्सेन मार्जेन लैन्डिचेन गेसेल्स कैफट पृ० ३०६)।

के० पी० जायसवाल 'नाणक' सिक्के को कुषाणों के उस स्वर्ण प्रकार से समीकृत करते हैं जिस पर 'नया' एवं उसकी आकृति अंकित है। इसी आधार पर उन्होंने इस स्मृति का समय १५०ई० से २००ई० के मध्य निश्चित किया है। चूँकि कुषाणों का अभ्युदय ७८A.D. बनाया गया है। परंतु पाण्डुरंग वामन काणे ने जायसवाल के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि 'नानक' शब्द कुषाण देवी नानया (Nanaia) से समीकृत करना कठिन है (Vol I. पृ० १८६)।

काणे ने इस स्मृति की तिथि निश्चित करते हुए लिखा है कि काल निर्णय में ९वीं शताब्दी के उपरांत का साक्ष्य नहीं लेना है, क्योंकि उस शताब्दी में उसके व्याख्याकार विश्वरूप हुए थे। याज्ञवल्क्य विश्वरूप से कुछ शताब्दी पहले के तो निंश्चित रूप से थे। विश्वरूप के

पहले भी याज्ञवल्क्य के कई टीकाकार थे, ऐसा विश्वरूप की टीका से ज्ञात होता है। नीलकण्ठ ने अपने प्रायश्चित्तमयूख में कहा है कि शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में याज्ञवल्क्य (३.२२६) की बातें कही हैं। बहुत से साक्ष्यों के आधार पर याज्ञवल्क्य स्मृति को हम ई॰ पू॰ पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद तीसरी शताब्दी के बीच में कहीं रख सकते हैं।" (काणे, ध॰शा॰ इ॰ - ४ भाग - १ पृ॰ ५३)[१]

स्मृति के विषय

प्राप्त स्मृति में श्लोक संख्या लगभग १००० मानी जाती है। श्लोक संख्या– निर्णय सागर संस्करण में १०१०, त्रिवेन्द्रम संस्करण में १००३ तथा आनन्दाश्रम संस्करण में १००६ श्लोक मिलते हैं। संपूर्ण स्मृति मुख्यतया तीन विषयों आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त खंड में विभक्त है। आचार खण्ड में ३६७ श्लोक, व्यवहार खण्ड में ३०७ तथा प्रायश्चित्त खण्ड में ३३५ श्लोक है। आचारध्याय के १३ प्रकरणों में १४ विद्याओं, धर्म के उपादान, परिषद् का गठन, सभी संस्कारों का उल्लेख, उपनयन, इसका काल एवं अन्य तथ्य, ब्रह्मचारी के विहित कर्त्तव्य, ब्रह्मचारी के लिए वर्जित पदार्थ एवं कर्म, विद्यार्थी काल, विवाह, विवाह योग्य कन्या की पात्रता, सपिण्ड संबध की सीमा, अन्तर्जातीय विवाह, विवाह के आठों प्रकार तथा उनसे प्राप्त आध्यात्मिक लाभ, क्षेत्रज पुत्र, पुनर्विवाह, पत्नी कर्त्तव्य, प्रमुख एवं गौण जातियाँ, गृहस्थ कर्त्तव्य, पंच महायज्ञ, अतिथि-सत्कार, मधुपर्क, अग्रगमन के कारण, मार्गनियम, चारो वर्णों के अधिकार एवं कर्त्तव्य, आचार के दस सिद्धान्त, गृहस्थ जीविका वृत्ति, स्नातक कर्त्तव्य, अनध्याय, भक्ष्याभक्ष्य के नियम, मांस प्रयोग नियम, कुछ पदार्थों का पवित्रीकरण जैसे- धातु एवं लकड़ी के बरतन, दान, दान पाने का पात्र, दान पुरस्कार, गोदान, अन्य वस्तु दान, ज्ञान का दान सबसे

---

[१] याज्ञवल्क्यस्मृति के काल के विषय में डॉ.डी.आर. भण्डारकर ने 'Some Aspect of Ancient Hindu Polity' में विचार करते हुए कहा है कि यह कौटिलीय अर्थशास्त्र से परवर्ती ग्रन्थ है; यथा Slightly anterior to the Nyaya bhashya comes the YaS the compilation of which is generally referred to 350 A.D. If any one carefully compares the parallel passages between this Smriti and the Kautaliya culled together by Dr. Shamasastry and Prof. Jolly, it gives the impression that one has borrowed from the other. And the former has adduced cogent reasons pointing to the indebtedness of Yajnavalkya to Kautaliya". Besides any scholar who has studied law knows that this Smriti represents a stage of Juristic Science which is far, for more developed and advandced than the Kautaliya. The natural inference therefore ought to be that the Yajnavalkya Smriti is the borrower. P. 52

महान्, श्राद्ध का समय, श्राद्ध के अनुकूल व्यक्ति को बुलाना, श्राद्ध के प्रतिकूल व्यक्ति, निमंत्रित ब्राह्मणों की संख्या, श्राद्ध विधि, श्राद्ध प्रकार, पार्वण, वृद्धि, एकोद्दिष्टः, सपिण्डीकरण, श्राद्ध में कौन-सा मांस दिया जाए, श्राद्ध करने का पुरस्कार, ग्रह शान्ति, राजधर्म और दण्ड का निरूपण किया गया है।

व्यवहार के २५ प्रकरणों में न्याय करने वाली परिषद् के सदस्य, न्यायाधीश, व्यवहारपद की परिभाषा, कार्यविधि, अभियोग, उत्तर, जमानत लेना, झूठे पक्ष या साक्षी पर अभियोग, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का परस्पर विरोध, लेख प्रमाण, साक्षियों एवं स्वत्व के साधन, स्वत्व एवं अधिकार, न्यायालय के प्रकार, बल प्रयोग, धोखाधड़ी, कोष, ऋण, व्याज, संयुक्त परिवार के ऋण, पुत्र पिता के किस ऋण को न दे, ऋण निक्षेपण, तीन प्रकार के बन्धक, प्रतिज्ञा, साक्षिगण की पात्रता एवं अपात्रता, शपथ ग्रहण, झूठे साक्षी पर दण्ड, लेख-प्रमाण, तुला, जल, अग्नि, विष एवं पूत जल के दिव्य साक्ष्य, बँटवारा, इसका समय, विभाजन में स्त्री भाग, पिता के मृत्यु के बाद बँटवारा, विभाजन योग्य संपत्ति, पिता-पुत्र का संयुक्त स्वामित्व, बारह प्रकार के पुत्र, शूद्र का अनौरस पुत्र, पुत्रहीन पिता के लिए उत्तराधिकार, पुनर्मिलन, व्यावर्तन, स्त्रीधन पर पति का अधिकार, सीमा विवाद, स्वामी गोरक्षक विवाद, स्वामित्व के बिना विक्रय, दान की प्रमाणहीनता, विक्रय-विलोप, भृत्यता संबधी प्रतिज्ञा का भंग होना, बल प्रयोग द्वारा दास्य, परम्परा-विरोध, मजदूरी न देना, जुआ एवं पुरस्कार युद्ध, अपशब्द, मानहानि एवं पिशुनवचन, आक्रमण, चोट आदि, साहस, साझा, चोरी, व्यभिचार, अन्य दोष, न्याय पुनरावलोकन है।

प्रायश्चित्त खण्ड के अन्तर्गत निम्न लिखित विषयों का ५ प्रकरणों में उल्लेख किया गया है जैसे जलाना एवं गाडना, मृत व्यक्तियों का जल द्वारा तर्पण, उस मृत व्यक्ति के लिए जिसके लिए नहीं रोया गया, तथा नहीं जल तर्पण किया गया, कुछ व्यक्तियों के लिए परिवेदन अवधि, शोक प्रकट करने वालों के नियम, जन्म पर अशुद्धि, जन्म-मरण के तत्क्षण पवित्रीकरण के उदाहरण, समय, अग्नि-क्रिया संस्कार, पंक आदि पवित्रीकरण के साधन, विपत्ति में आचार एवं जीविका वृत्ति, वानप्रस्थ के नियम, यति के नियम, आत्मा शरीर में किस प्रकार आवृत है, भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) के कतिपय स्तर, मोक्ष मार्ग में संगीत प्रयोग, अपवित्र वातावरण में पूत आत्मा कैसे जन्म लेती है, पापी किस प्रकार विभिन्न पशुओं एवं पदार्थों की योनि में उत्पन्न होते हैं, योगी किस प्रकार अमरता ग्रहण करता है, सत्त्व, रज एवं तम के कारण तीन प्रकार के कार्य, आत्म-ज्ञान के साधन, दो मार्ग-एक मोक्ष की ओर और दूसरा स्वर्ग की ओर, पापियों के भोग के लिए कतिपय- व्याधियाँ, प्रायश्चित्त प्रयोजन, २१ प्रकार के नरकों के नाम, पंच महापातक, उपपातक, ब्रह्महत्या तथा मनुष्य हत्या के लिए प्रायश्चित्त, सुरापान, मानवीय तथा विविध प्रकार की पशु-हत्याओं के लिए प्रायश्चित्त, समय, स्थान, अवस्था एवं समर्थता के अनुसार अधिक या कम शुद्धि, नियम नहीं मानने वाले पापियों का निष्कासन, गुप्त शुद्धियाँ, दस यम एवं नियम,

सान्तपन, महासांतपन, तप्तकृच्छ्र पराक, चान्द्रायण एवं अन्य शुद्धियाँ, याज्ञवल्क्य स्मृति पढ़ने का फल आदि।

इस स्मृति का अनेक बार प्रकाशन हुआ है। कुछ प्रकाशन इस प्रकार हैं–

१. निर्णय सागर संस्करण (मोघे शास्त्री द्वारा सम्पादित)

२. त्रिवेंद्रम संस्करण, विश्वरूप की टीका सहित

३. आनन्द आश्रम संस्करण, विश्वरूप की टीका सहित

४. चौखंबा संस्कृत सीरीज आफिस, १९८६, श्री मित्र मिश्र कृत वीरमित्रोदय टीका तथा श्री विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा टीका सहित।

५. मिताक्षरा विश्वरूप और सुबोधिनी तथा बालमभट्टी सहित याज्ञवल्क्य स्मृति— सं० एस० एस० सालेटोर, मद्रास १९१२.

याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रमुख टीकाकार

विश्वरूप

याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकारों में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं उपलब्ध व्याख्याकार विश्वरूप हैं। इनकी व्याख्या का नाम बालक्रीडा है। आचार एवं प्रायश्चित संबधी टीका विस्तृत है तथा व्यवहार इनकी अपेक्षा संक्षिप्त है। मिताक्षरा की भूमिका में स्पष्ट उल्लेख है कि याज्ञवल्क्य के सिद्धान्तों की व्याख्या विश्वरूप ने बड़े विस्तार से की है।

विश्वरूप ने अपनी व्याख्या में चरकों, वाजसनेयियों, काठकों, ऋग्वेदीय मंत्रों, ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं पारस्कर, भरद्वाज एवं आश्वलायन के गृह्यसूत्रों तथा अंगिरा, अत्रि, आपस्तम्ब, उशना, कात्यायन, काश्यप, गार्ग्य, गौतम, दक्ष, नारद, पराशर, पितामह, पुलस्त्य, पैठीनसि, बृहस्पति, भृगु, मनु, यम, व्यास, शंख एवं हारीत आदि स्मृतिकारों का उल्लेख किया है। काणे का विचार है कि विश्वरूप ने कौटिल्य का उल्लेख नहीं किया है परँतु विषय वस्तु की व्याख्या से पता चलता है कि अर्थशास्त्र उनके समक्ष उपस्थित था, जैसे मंत्रियों की परीक्षा में धर्म, अर्थ, काम एवं भय नामक उपायों का प्रयोग कौटिलीय है।

विश्वरूप में पूर्वमीमांसा के प्रति विशेष अभिरुचि दिखलाई पड़ती है। यहाँ तक कि जैमिनि का नाम तक आ गया है, परंतु यह आश्चर्य की बात है कि विश्वरूप ने मीमांसा के लिए 'न्याय' शब्द प्रयोग किया है। यद्यपि पूर्वमीमांसा के प्रति गहरी रुचि दिखाई पड़ती है तथापि उनके दार्शनिक मत शंकराचार्य के मत से बहुत मिलते हैं। उनके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान द्वारा होती है और यह संसार अविद्या के कारण है। काणे के मत से विश्वरूप

ने कुमारिलल के श्लोकवार्तिक का उद्धरण दिया है और मिताक्षरा ने उन्हें एक प्रामाणिक भाष्यकार माना है अतः उनका काल ७५० ई० तथा १००० ई० के बीच में बतलाया है।

माधवाचार्य ने अपने कुछ ग्रंथों में सुरेश्वर के ग्रंथों से उद्धरण लेते हुए विश्वरूप के उद्धरणों को दिया है। क्या विश्वरूप एवं सुरेश्वर एक ही व्यक्ति है। सुरेश्वर शंकराचार्य के शिष्य थे शंकराचार्य की तिथि काणे के अनुसार ७८८-८२० ई. है। शंकर के चार शिष्य थे— सुरेश्वर, पद्मपाद, त्रोटक एवं हस्तामलक। मानसोल्लास में रामतीर्थ ने स्पष्ट रूप से शंकर के शिष्य सुरेश्वर का दूसरा नाम विश्वरूप बतलाया है। गुरुवंश काव्य ने भी सुरेश्वर और विश्वरूप को एक माना है और उन्हें कुमारिल एवं शंकर का शिष्य भी घोषित किया है। अतः सुरेश्वर एवं विश्वरूप को हम एक व्यक्ति मान सकते हैं।

विज्ञानेश्वर

याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा जिसके प्रणेता विज्ञानेश्वर हैं अत्यंत लोकप्रिय भाष्य है। इसकी बहुत सी प्रतियों के अध्याओं के अन्त में ॠजु मिताक्षरा, प्रमिताक्षरा या केवल मिताक्षरा नाम आया है। काणे ने लिखा है कि विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में अपने पूर्व के दो सहस्र वर्षों से चले आए हुए मतों के सारतत्त्व को ग्रहण किया और ऐसा रूप खड़ा किया जिसके प्रकाश में अन्य मतों एवं सिद्धान्तों का विकास हुआ। वर्तमान भारतीय कानून में मिताक्षरा का विशेष महत्त्व है। इसी के आधार पर दायभाग आदि का निर्णय किया जाता है।

इसमें भाष्यकार असहाय, विश्वरूप, मेधातिथि, श्रीकर, भारुचि तथा भोजदेव, प्रभृति भाष्यकारों अंगिरा, वृहदंगिरा, मध्यमांगिरा, अत्रि, आपस्तम्ब, आश्वलायन, उशना, काश्यप, काण्व, गोभिल, गौतम, देवल, धौम्य, पराशर, पारस्कर, पितामह, पुलस्त्य, पैङ्ग्य, पैठीनसी, विष्णु, वृद्ध विष्णु, सुमन्तु, हारीत, आदि स्मृतियों काठक, वृहदारण्य उपनिषद, गर्भोपनिषद, जाबालोपनिषद, निरुक्त, स्कन्दपुराण, विष्णुपुराण आदि का उल्लेख दिया है।

इस संपूर्ण भाष्य में पूर्वमीमांसा न्याय का प्रयोग देखा जाता है। इस ग्रंथ में विश्वरूप, मे धातिथि एवं धारेश्वर के नाम आते हैं। अतः यह १०५० ई० के बाद की रचना है। स्मृतिचन्द्रिका जिसका प्रणयन काल १२०० माना जाता है ने मिताक्षरा के सिद्धान्तों की आलोचना की है, तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर काणे ने मिताक्षरा का रचना काल १०७० से ११०० ई० के बीच माना है।

विज्ञानेश्वर ने अपने भाष्य के अंत में स्वयं को विज्ञानयोगी कहा है। वे भारद्वाज गोत्र के पद्मनाभ भट्ट के पुत्र थे। वे स्वयं परमहंस उत्तम के शिष्य थे; जब उन्होंने इस भाष्य का प्रणयन किया तब कल्याण नगरी में विक्रमार्क या विक्रमादित्य शासन कर रहे थे।

कृत्य कल्पतरु में लक्ष्मीधर ने विज्ञानेश्वर का उल्लेख किया है। लक्ष्मीधर बारहवीं

शताब्दी के दूसरे चरण में हुए थे। अतः इस दृष्टि से भी मिताक्षरा का प्रणयन ११२० ई॰ के पूर्व हुआ था। अतः काणे की उपर्युक्त तिथि को ही इस दृष्टि से यथार्थ माना जा सकता है।

मिताक्षरा के भी भाष्य हुए जिनमें विश्वेश्वर, नन्द पण्डित एवं बालंभट्ट प्रसिद्ध हैं।

अपरादित्य

अपरादित्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर एक विस्तृत टीका लिखी जो अपरार्क याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र के नाम से जाना जाता है। यह आनन्द आश्रम पूना से दो भागों में प्रकाशित हुआ सन् १९०३ तथा १९०४ ई॰ में।

यद्यपि मिताक्षरा की भाँति यह एक भाष्य है तथापि यह एक निबंध है। इसमें गृह्य एवं धर्मसूत्रों, स्मृतियों, आदित्य, कूर्म, कालिका, देवी, नन्दी, ब्रह्माण्ड, भविष्य, मत्स्य, मार्कण्डेय, लिंग, वराह, वामन, वायु, विष्णु, विष्णुधर्मोत्तर, स्कन्द पुराणों के लम्बे-लम्बे उद्धरण दिए हैं। काणे का विचार है कि यद्यपि अपरार्क ने शारीरिक मीमांसा शास्त्र की ओर संकेत किया है तथापि वे अद्वैत के पुजारी नहीं लगते। अपरार्क ने अपने पूर्व के भाष्यकारों यथा असहाय, विश्वरूप, भारुचि, श्रीकर, मेधातिथि एवं धारेश्वर के नाम नहीं लिए हैं। अपरार्क ने गर्ग, क्रियाश्रय तथा सारावली जैसे ज्योतिष शास्त्र की कृतियों की चर्चा की है।

इनके भाष्य के अन्त में लिखे वचनों से स्पष्ट होता है है कि इनके पिता का नाम अनन्तदेव तथा पितामह नागार्जुन थे। ये जीमूतवाहन के वंश में पैदा हुए।

स्मृतिचन्द्रिका ने अपरार्क के मतों की चर्चा की है। स्मृतिचन्द्रिका का काल १२०० ई॰ माना जाता है। इसके अतिरिक्त अपरार्क ने मिताक्षरा की चर्चा की है अतः अपरार्क की अनुमानित तिथि ११००-१२०० ई॰ के बीच में होगी।

म. म. काणे ने जीमूतवाहन वंश के शिलाहार राजकुमार अपरादित्य से इनका ऐक्य मानकर अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर अपरादित्य का काल १११५-११३० ई॰ के बीच में बतलाया है तथा लिखा है कि अपरार्क ने अपना भाष्य १२वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में अवश्य लिखा होगा।

श्रीकण्ठचरित में मंख ने लिखा है कि कोंकण के राजा अपरादित्य ने तेजकण्ठ को कश्मीर के राजा जय सिंह (११२९-११५० ई॰) की विद्वत् सभा में दूत बनाकर भेजा था। आज भी काश्मीर में अपरार्क की टीका चलती है। काणे ने आगे यह लिखा है कि अपरार्क की कृति यह स्पष्ट करती है कि वे काश्मीर से परिचित थे। लगता है कि दूत अपने साथ इस भाष्य को भी ले गया था।

शूलपाणि

याज्ञवल्क्यस्मृति के भाष्यकारों में शूलपाणि का नाम वैशिष्ट्य के साथ आता है। इनके भाष्य का नाम दीपकलिका है जो अत्यंत संक्षिप्त है, परंतु इसकी प्रमाणिकता में कोई संदेह नहीं

है । इस भाष्य में कल्पतरु, गोविन्दराज, मिताक्षरा, मेधातिथि एवं विश्वरूप के मत उल्लिखित मिलते है । शूलपाणि ने चण्डेश्वर के रत्नाकर एवं कालमाधवीय का उल्लेख किया है । अतः ये १३७५ ई० के उपरांत हुए होंगे । इनके नाम का उल्लेख रुद्रधर, गोविन्दानन्द एवं वाचस्पति ने किया है, अतः ये १४६० ई० के पहले रहे होंगे । उपर्युक्त आधार पर म.म. काणे ने शूलपाणि का काल १३७५ से १४६० के बीच में माना है । घारपूरे भी उपर्युक्त तिथि से सहमत हैं ।

शूलपाणि ने एकादशी विवेक, तिथि विवेक, दुर्गोत्सव विवेक, दोलयात्रा विवेक, प्रतिष्ठा विवेक, शुद्धिविवेक, श्राद्ध विवेक आदि ग्रंथ लिखे । इन सभी ग्रंथों को मिलाकर 'स्मृति विवेक' ग्रंथ नाम रखा गया है । अपने ग्रंथों में वे साहुडियाल महामहोपाध्याय कहे गए हैं । वल्लालसेन के समय से बंगाल में साहुडियाल ब्राह्मण निम्न श्रेणी के कहे जाते रहे हैं । इनकी बंगाल के अत्यंत लोकप्रिय धर्मशास्त्रकारों में गणना की जाती है । इनके श्राद्ध विवेक एवं अन्य विवेक ग्रंथों पर कई भाष्य भी कालान्तर में लिखे गए हैं । इनमें श्रीनाथ, आचार्य चूडामणि, एवं गोविन्दराज ने श्राद्ध विवेक पर भाष्य लिखे हैं जो अत्यंत प्रसिद्ध हैं ।

मित्रमिश्र

मित्रमिश्र का वीरमित्रोदय धर्मशास्त्र के प्रायः सभी विषयों पर एक विशाल निबंध ग्रंथ है । मित्रमिश्र ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर एक भाष्य लिखा है । इनके भाष्य में बहुसंख्यक स्मृति तथा पुराणों का उद्धरण दिया है । म.म. काणे ने डेक्कन कॉलेज के No. ५८ के A १८८३-८४ की भाष्य की पाण्डुलिपि का उल्लेख किया है । इस भाष्य में तीन कांड यथा आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त का वर्णन है । आचार काण्ड ४४६ पत्रों, व्यवहार २५७ एवं प्रायश्चित्त कांड १५३ पत्रों में निबद्ध है । प्रत्येक पत्रा में ६ पक्तियाँ है तथा प्रत्येक पक्ति में ३० अक्षर हैं । इस भाष्य में कर्म प्रदीप एवं स्मृतिसार का भी उल्लेख किया गया है । भाष्य में तीन प्रकार की दासियों का उल्लेख किया गया है (पत्र संख्या २४०)।

जैसा की इनके भाष्य में उल्लिखित है कि यह भाष्य इनकी अपना लिखा हुआ नहीं है बल्कि किसी सदानन्द नाम के विद्वान् ने मित्रमिश्र के अनुरोध से इसका संग्रथन किया था और मित्रमिश्र के नाम से ही इसे प्रख्यापित किया (वीरमित्रोदय आ० अ०, श्लो० - १६)

जैसा की वीरमित्रोदय के प्रारंभ में कथन है कि ये हंस पंडित के पौत्र एवं परशुराम पण्डित के पुत्र थे । हंस पण्डित गोपाचल (ग्वालियर) के निवासी थे । मित्रमिश्र ने वीरसिंह के आदेश से वीरमित्रोदय की रचना की । वीरसिंह ओरछा ने १६०५ से १६२७ तक राज्य किया था अतः मित्रमिश्र का रचना काल १७ वीं शताब्दी का प्रथम चरण रहा होगा ।

प्राचीन साहित्य में याज्ञवल्क्य का निर्देश

प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे याज्ञवल्क्य का अनेकत्र उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य नाम के अनेकों ऋषि थे।

१. विश्वामित्र कुलोत्पन्न एक गोत्रकार।

२. वसिष्ठ कुलोत्पन्न एक गोत्रकार। इसे याज्ञदत्त नामान्तर भी प्राप्त था (मत्स्य २००.६)

३. एक आचार्य, जो व्यास की ऋक् शिष्य परंपरा में से वाष्कल नामक ऋषि का शिष्य था। इसी के नाम से व्यास की उस ऋक् शिष्य परंपरा को 'याज्ञवल्क्य' नाम प्राप्त हुआ (वायु ६०.१२.१५)

४. एक आचार्य जिसके आश्रम में विष्णु यशस् नामक ब्राह्मण के घर कल्कि नामक विष्णु का ग्यारहवाँ अवतार उत्पन्न होने वाला है। (भा० १.२.३५)।

५. विश्वामित्र के ब्रह्मवादी पुत्रों में से एक है (महा० अनु० ४.५१)

६. याज्ञवल्क्य वाजसनेय

एक सर्वश्रेष्ठ विद्वान्, शास्त्रार्थपटु एवं आत्म तत्त्वज्ञ ऋषि जो शुक्ल यजुर्वेद संहिता के द्रष्टा माने जाते है। ये उद्दालक आरुणि नामक आचार्य के शिष्य थे (शतपथ ब्राह्मण ६.४.३)। एक श्रेष्ठ दार्शनिक के रूप में इनका शतपथ ब्राह्मण (१.१:१.९, २.३.१.२१, ४.२.१.७) एवं बृहदारण्यक उपनिषद् (३.१.२ माध्यं) में उल्लेख हुआ है।

ये विदेह देश के रहने वाले थे। बृहदारण्यक उपनिषद् से जनक राजा के द्वारा इन्हें संरक्षण मिलने की जो सूचना प्राप्त होती है, उससे भी उपर्युक्त बातें स्पष्ट होती हैं। परन्तु इनके गुरु उद्दालक आरुणि कुरु-पंचाल देश में रहने वाले थे; इस कारणवश इनकी भी कुरु-पांचाल देश के निवासी होने की संभावना होती है।इनका याज्ञवल्क्य नाम तो प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् (६.३.७-८, ६.५.३) एवं शतपथ ब्राह्मण (१४.९.४.३३) में इन्हें 'वाजसनेय' कहा गया है। महीधर के अनुसार, वाजसनि का पुत्र होने के कारण इन्हें वाजसनेय नाम प्राप्त हुआ। इनके 'मध्यंदिन' नामक शिष्य के द्वारा इनकी शुक्ल यजुर्वेद संहिता का प्रचार होने के कारण इन्हें 'मध्यंदिन' भी कहते हैं।

विष्णुपुराण (३.५.२) में इन्हें ब्रह्मरात का पुत्र एवं वैशंपायन का शिष्य कहा गया है। वायु (६०.४१), भागवत (१२.६.६४) एवं ब्रह्मांड पुराण (३.३५.२४) में इनके पिता का नाम क्रमशः 'ब्रह्मवाह', 'दैवरात' एव 'ब्रह्मराति मिलता है। वायु पुराण (६०.४२) का कथन है कि ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न होने के कारण इनका 'ब्रह्मवाह' नाम हुआ। महाभारत (शां. ३०६) में इन्हें वैशंपायन ऋषि का भ्रातृज एवं शिष्य बताया गया है। उद्दालक शिष्य याज्ञवल्क्य एवं वैशंपायन

शिष्य याज्ञवल्क्य दोनों संभवतः एक ही होंगे। इनमें से उद्दालक इनके दार्शनिक शास्त्रों के एवं वैशंपायन वैदिक शास्त्रों के गुरु थे।

ब्रह्मांड (३.६३.२०८), वायु (८८.२०७), विष्णु (४४.४७) एवं भागवत, पुराण (१.१२.४) में हिरण्यनाभ कौशल्य नामक इनके एक और गुरु थे जिन से याज्ञवल्क्य ने योगशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी।

योग्यता

याज्ञवल्क्य के मुख्यतः दो रूप जाने जाते हैं। प्रथमतः वैदिक साहित्य में एक श्रेष्ठ ऋषि के रूप में जिन्हें 'शुक्ल यजुर्वेद' एवं 'शतपथ ब्राह्मण' के द्रष्टा का श्रेय दिया जाता है। द्वितीय याज्ञवल्क्य को दार्शनिक विषयों के सर्वश्रेष्ठ आचार्य के रूप में जाना जाता है, जिसका विवरण 'बृहदारण्यक उपनिषद्' से प्राप्त होता है।

यजुः शिष्यपरंपरा

याज्ञवल्क्य यजुःशिष्यपरंपरा में वैशंपायन ऋषि के शिष्य थे। वैशंपायन ऋषि के कुल ८६ शिष्य थे, जिनमें श्यामायनि, आसुरि, आलंबि-एवं याज्ञवल्क्य प्रमुख थे। वैशंपायन ने 'कृष्ण यजुर्वेद' की कुल ८६ शाखायें बना कर, अपने शिष्यों को प्रदान की थी। वैशंपायन ने याज्ञवल्क्य से विवाद के कारण 'शुक्ल यजुर्वेद' नामक स्वतंत्र संहिता ग्रंथ को प्राप्त किया।

याज्ञवल्क्य ने 'कृष्ण यजुर्वेद' के शुद्धीकरण या संशोधन का कार्य सम्पन्न किया एवं उसी वेद की संहिता में से चालीस अध्यायों से युक्त शुक्ल यजुर्वेद को प्राप्त किया (शतपथ ब्राह्मण १४.९.४.३३)।

याज्ञवल्क्य के पूर्व कृष्ण यजुर्वेद संहिता में यज्ञ विषयक मंत्र एवं यज्ञ प्रक्रियाओं की सूचनाएँ सन्निहित थी। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय संहिता में इषेत्वेति छिनत्ति' मंत्र प्राप्त है। यहाँ 'इषेत्वेति' (इषे त्वा) वैदिक मंत्र है, जिसके पठन के साथ 'छिनत्ति' (लकड़ी तोड़ना) की प्रक्रिया बताई गयी है।

याज्ञवल्क्य की महत्ता यह है कि, इसने 'इषे त्वा' की भाँति वैदिक मंत्र भागों को अलग कर उन्हें 'शुक्ल यजुर्वेद' संहिता में बाँध दिया, एवं 'इति छिनत्ति' जैसे याज्ञिक प्रक्रियात्मक भागों को अलग कर ब्राह्मण ग्रंथों में एकत्र किया।

कृष्ण यजुर्वेद के इस शुद्धीकरण या संशोधन करने में, याज्ञवल्क्य को अपने समकालीन आचार्यों से ही नहीं, बल्कि अपने गुरु वैशंपायन से भी झगड़ा करना पड़ा। आगे चलकर संहिता विषयक यह वाद-विवाद एक देश व्यापी आन्दोलन के रूप में उठ खड़ा हुआ। अन्त में यह विवाद हस्तिनापुर के साम्राट् जनमेजय (तृतीय) के पास तक जा पहुँचा, और उसने याज्ञवल्क्य की विचारधारा को सही कह कर उसका अनुमोदन किया।

जनमेजय की राजसभा में

जनमेजय के राजपुरोहित उस समय वैशंपायन थे जिन्हें छोड़कर यज्ञों के अध्वर्युकर्म के लिए उन्होंने याज्ञवल्क्य को चुना। किन्तु इसके परिणामस्वरूप जनमेजय के विरुद्ध उनकी प्रजा में अत्यधिक क्षोभ की भावना फैलने लगी, जिस कारण उन्हें राजसिंहासन को परित्याग कर.वनवास की शरण लेनी पड़ी। इतना हो जाने पर भी जनमेजय ने अपनी जिद्द न छोड़ी और याज्ञवल्क्य के द्वारा ही अश्वमेधादि यज्ञ करा कर, महावाजसनेय' उपाधि प्राप्त की। इसके परिणाम स्वरूप वैशंपायन और उसके अनुयायियों को मध्य देश छोड़कर पश्चिम में समुद्रतट एवं उत्तर में हिमालय की शरण लेनी पड़ी।

इस प्रकार, धार्मिक आधार पर खड़ी हुई याज्ञवल्क्य और वैशंपायन के बीच के विवाद ने राजनैतिक जीवन के आदर्शों का आमूल परिवर्तन किया, जो भारतीय इतिहास में एक अनूठी घटना साबित हुई। इस प्रकार सर्वसाधारण से लेकर राजाओं तक को भी अपने प्रभाव से बदल देने वाले याज्ञवल्क्य एक युग प्रर्वतक आचार्य बन गये।

शुक्ल यजुर्वेद का प्रणयन

अन्य वैदिक आचार्यों के समान याज्ञवल्क्य भी कर्म एवं ज्ञान के सम्मिलन को महत्व प्रदान करते थे। इसी कारण 'शुक्ल यजुर्वेद' का प्रणयन करते समय ये उस ग्रंथ के अंत में 'ईश उपनिषद्' को भी सम्मिलित किए हैं। शुक्ल यजुर्वेद वैदिक कर्मकाण्ड का ग्रंथ है। उसमें ज्ञान विषयक 'ईश उपनिषद्" के अठारह मंत्र जोड़ने के कारण, उस ग्रंथ की महत्ता बढ़ गयी है। वैदिक कर्मकाण्ड का अंतिम साध्य आत्मज्ञान की प्राप्ति है। इसी तत्त्व का साक्षात्कार 'ईश उपनिषद्' से होता है।

अपने काल के सर्वश्रेष्ठ उपनिषद् द्रष्टा याज्ञवल्क्य को माना जाता है जिन्होंने कर्म एवं ज्ञान का सम्मिलन करने वाले 'शुक्ल यजुर्वेद' की रचना की। इस घटना को वैदिक साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। वैदिक परंपरा मंत्रों के अर्थ से संगठित है। अर्थ के मूल स्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए, प्रसंगवश मंत्रों को शब्दों में बदला जा सकता है, इसी क्रांतिकारी विचारधारा का प्रणयन याज्ञवल्क्य ने किया एवं ये वैदिक साहित्य में एक श्रेष्ठ आचार्य बन गये।

ईश उपनिषद्

शुक्ल यजुर्वेद संहिता का अन्तिम चालीसवाँ अध्याय 'ईश उपनिषद्' अथवा 'ईशावास्य उपनिषद्' है। इस उपनिषद् में केवल अठारह मंत्र हैं, फिर भी वह प्रमुख दस उपनिषदों में से एक माना जाता है। शंकराचार्य से लेकर बिनोवाजी तक के सारे प्राचीन एवं आधुनिक आचार्य उसे अपना नित्य पाठ का ग्रंथ मानते हैं। इस उपनिषद में 'सारा संसार ईश्वर से भरा हुआ

है' (ईशावास्यमिदं सर्वम्) यह सिद्धान्त बहुत ही सुन्दर तरीके से वर्णित किया गया है। इसी उपनिषद् के अन्य एक मंत्र में, धन लोभ का निषेध किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण

शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण ग्रंथ 'शतपथ ब्राह्मण' है। इस ब्राह्मण ग्रंथ में चौदह काण्ड एवं सौ अध्याय हैं। उनमें से १-४ एवं १०-१४ काण्डों में याज्ञवल्क्य के 'यज्ञ प्रक्रिया' 'देवता विज्ञान' आदि विषयक सिद्धान्त ग्रथित किए गए हैं। इस ग्रंथ के ५-९ काण्डों में तुरकावषेय एवं शांडिल्य के सिद्धान्तों का संग्रह किया गया है। इस ग्रंथ का अत्यधिक विस्तार एवं उसमें निर्दिष्ट प्रगतिशील विचारों के कारण 'शतपथ ब्राह्मण' क्रिया-कलापों का एक अद्वितीय ग्रंथ माना जाता है।

इसी ग्रंथ के अंतिम भाग में बृहदारण्यक उपनिषद् का समावेश किया गया है। ब्रह्मज्ञान एवं आत्मज्ञान के विषय में याज्ञवल्क्य का तत्त्वज्ञान इस उपनिषद् में समाविष्ट किया गया है।

कात्यायन के वार्तिक में 'शतपथ ब्राह्मण' को पुराणकल्प में विरचित अन्य ब्राह्मण ग्रंथों से उत्तरकालीन कहा गया है (पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु) (पा.सू. ३.३.१०५)।

वैशपायन से विरोध

अपने गुरु वैशंपायन से याज्ञवल्क्य का विरोध किस कारण से हुआ, इसके संबध में अनेकानेक कथाएँ पुराणों में मिलती है।

एक बार सब ऋषियों ने नियत समय पर मेरुपर्वत पर एकत्र होने का निश्चय किया। उस समय यह भी तय हुआ कि, जो भी ऋषि समय पर नहीं पहुँच सकेगा उसे ब्रह्म हत्या का पाप सहना पड़ेगा। वैशंपायन पर यह हत्या लगी। तब उन्होंने ब्रह्महत्या के अपने पाप को समाप्त करने के लिए, अपने सभी शिष्यों से प्रायश्चित करने के लिए कहा। उस समय याज्ञवल्क्य ने आत्मश्लाघा से वशीभूत हो कर कहा, 'सब शिष्यों की क्या आवश्यकता है? मैं अकेला ही काफी हूँ' कहा। इनकी ऐसी गर्वोक्ति सुनकर वैशंपायन क्रोधित हो उठे तथा उन्होने इनसे कहा, 'तुमने मुझसे जो वेद सीख लिए हैं, वह मुझे वापस करो।'

गुरु के शाप के कारण सीखे हुए सारे वेद इन्हें उगलने पड़े, जिसे वैशंपायन के बाकी शिष्यों ने उठा लिए। वेद विहीन होने के कारण, यह विद्याहीन, स्मृति हीन एवं कुष्ठ रोगी बन गया। किन्तु पश्चात्, सूर्य की कृपा से इन्होने नया वेद प्राप्त कर लिया एवं यह पूर्व की भाँति तेजस्वी बन गये (म.शां. ३०६, वायु ६१.१८-२२)

सूर्य से वेद प्राप्ति

वायु पुराण (६१.२२) के अनुसार सूर्य से वेद स्वीकार करते समय याज्ञवल्क्य ने अश्व का रूप धारण किया था, जिस कारण इनके वेद तथा शिष्यों को 'वाजिन' नाम प्राप्त हुआ। भागवत पुराण (१२.६.७३) तथा ब्रह्मांड पुराण (२.३५.२६-७४) के अनुसार, वेद लेते समय उन्होने नहीं बल्कि सूर्य ने अश्व का रूप धारण किया था। स्कन्दपुराण (६.१२९) में इनके गुरु का नाम वैशंपायन न देकर, शाकल्य दिया है एवं अपने आथर्वण मंत्र के बल से शाकल्य ने इनकी समस्त वेद विद्या वापस लेने की कथा वहाँ बताई गई हैं।

काल निर्णय

विष्णु पुराण (४.२१.२) के अनुसार सूर्य से वेद विद्या सीखने के बाद, इन्होने वह विद्या जनक, कात्यायन, शतानीक, जनमेजय (तृतीय) आदि राजाओं को सिखायी थी।

इससे याज्ञवल्क्य ऋषि शतानीक एवं जनमेजय (तृतीय) राजाओं के समकालीन प्रतीत होते है।

महाभारत में याज्ञवल्क्य के द्वारा देवराति जनक की सभा में वाद-विवाद करने का निर्देश प्राप्त है। किन्तु उस समय देवराति जनक का होना असंभव प्रतीत होता है। उस समय जो जनक था उसका स्पष्ट उल्लेख यद्यपि अप्राप्य है, तथापि शतानीक, जनमेजय इत्यादि याज्ञवल्क्य के समकालीन राजाओं से प्रतीत होता है कि उस समय का जनक उग्रसेन होगा। एक तर्क यह भी दिया गया है कि 'दैवराति' जनक का विशेषण न होकर, याज्ञवल्क्य का विशेषण है (द्र० पं० भगवत् दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० २६४)

महाभारत (शा०पर्व २९८-३९६) में जनक एवं विश्वावसु गंधर्व के साथ याज्ञवल्क्य के द्वारा किए तत्त्वज्ञान विषयक संवाद का निर्देश प्राप्त है। वही (म.शा. पर्व-३०६.२६-८०) इन्होंने विश्वावसु के चौबीस प्रश्नों के उत्तर दिए हैं।

दार्शनिक समस्याओं के आचार्य

'वृहदारण्य उपनिषद' के दूसरे, तीसरे एवं चौथे अध्यायों में याज्ञवल्क्य की दार्शनिक महत्ता एवं सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है। उनमें से दूसरे अध्याय में, याज्ञवल्क्य का अपनी ब्रह्मवादिनी पत्नी मैत्रेयी से तत्वज्ञान पर संवाद प्राप्त है। तीसरे अध्याय में विदेह देश के जनक राजा के दरबार में इसके द्वारा अनेकानेक तत्वज्ञानियों से हुए वाद-विवादों की जानकारी दी गयी है, एवं चौथे अध्याय में स्वयं जनक राजा से हुए इनके तत्त्वज्ञान पर संवाद प्राप्त है। इन सारे संवादों से याज्ञवल्क्य के व्यक्तित्व एवं दार्शनिक तत्वज्ञान पर काफी प्रकाश पड़ता है।

जनक राजा के दरबार में

जनक राजा के यज्ञ मंडप में कुरु-पंचाल देश के अनेकानेक तत्वज्ञ उपस्थित हुए थे। याज्ञवल्क्य ने उन सभी तत्वज्ञों को वाद-विवाद में परास्त किया। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार याज्ञवल्क्य जिन आचार्यों के साथ वाद-विवाद किए थे, उनके नाम एवं वाद-विवाद के विषय निम्न प्रकार है-

१. अश्वलः– मृत्यु से मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है (बृ. उ. ३.१)

२. जारत्कारव आर्तभागः– आठ ग्रह एवं आठ उपग्रह कौन से है (बृ. उ. ३.२)

३. भुज्यु लाह्यायनिः– मृत्यु के उपरांत परलोक में क्या होता है, यज्ञ करने वाले परीक्षित राजा को कौन सी गति मिली। (बृ. उप. ३.३)

४. उषस्त चाक्रायणः– सर्वान्तर्यामी आत्मा (बृ. उप. ३.४)

५. कहोल कौषीतकेय– सर्व अर्न्तयामी आत्मा (बृ. उप. ३.४)

६. गार्गी वाचक्नवी– जगत् का मूल कारण क्या है (बृ. उप. ३.६)

७. वाचक्नवी– ब्रह्म (बृ. उ. ३.८)

८. उद्दालक आरुणि– अन्तर्यामी आत्मा, परलोक (बृ. उ. ३.७)

९. विदग्ध शाकल्य– देव कितने हैं (बृ. उ. ३.९)

उपरिनिर्दिष्ट आचार्यों के सिवा, याज्ञवल्क्य निम्नलिंखित आचार्यों से भी तत्त्वज्ञान संबंधी वाद-विवाद किए थे जिनका निर्देश बृहदारण्यक उपनिषद् के चौथे अध्याय में प्राप्त हैं:–

(१) उदंक शौल्वायन– प्राण ब्रह्म (बृ. उ. ४.१.२.३)।

(२) वर्कु वार्ष्ण– चक्षु ब्रह्म (बृ. उ. ४.१.४)।

(३) गर्दभीविपीत भारद्वाज– श्रोत्र ब्रह्म (बृ उ. ४.५)

(४) सत्यकाम जाबाल– 'मनोब्रह्म (बृ. उ. ४.१.६)

(५) विदग्ध शाकल्य– हृदय ब्रह्म (बृ. उ. ४.१.७)

वाद-विवाद के विषय

जनक के दरबार में हुए वाद-विवाद में अश्वल एवं विदग्ध शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से ईश्वर एवं कर्मकाण्ड के विषय में प्रश्न पूछे थे, जो विशेष कठिन नहीं थे। शाकल्य ने इनसे पूछा– देव कितने हैं (कति देवाः)। इस पर याज्ञवल्क्य ने देवों की संख्या तीन हजार तैंतीस,

तीन ऐसी विभिन्न प्रकार से बताकर, अंत में ये सारे एक ही परमेश्वर के विविध रूप हैं, ऐसा कह कर बहुत ही सुन्दर जवाब दिया था (बृ॰ उ॰ ३.९.१-३)।

अपने इस जवाब से याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को मौन कर दिया। यही नहीं, वाद-विवाद की शर्त के अनुसार, शाकल्य को मृत्यु स्वीकार करनी पड़ी, एवं उनकी अस्थियाँ भी उनके शिष्यों को प्राप्त नही हुई (बृ॰ उ॰ ३.९.४)।

शाकल्य की तुलना में याज्ञवल्क्य से वाद-विवाद करने वाले जनक सभा के अन्य ऋषिगण अधिक अधिकारी व्यक्ति थे, एवं उनके द्वारा पूछे गए प्रश्न भी अधिक कठिन थे। मृत्यु के पश्चात् आत्मा की क्या गति होती है, यह पूछने वाले जारत्कारव, अंतिम सत्य का स्वरूप क्या होता है, यह पूछने वाले उषस्त, आत्मानुभव किस मार्ग से मिलता है, यह पूछने वाले कहोल एवं परमात्मा सर्वान्तर्गत हो कर भी अचेतन अथवा चेतना युक्त कैसे रह सकता है, यह पूछने वाले उद्दालक एवं गार्गी, ये उस समय के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञ थे। उनके प्रश्नों का तर्कसम्मत उत्तर देकर याज्ञवल्क्य ने विद्वत्सभा में अपना वर्चस्व स्थापित किया।

निष्प्रपंच सिद्धान्त

इसी वाद-विवाद में याज्ञवल्क्य ने आत्मा विषयक अपने 'निष्प्रपंच सिद्धान्त' का पुनरुद्घोष किया और कहा 'आत्मा बड़ा नहीं, उसी तरह छोटा भी नहीं। वह ऊँचा नहीं, उसी तरह नीचा भी नहीं। वह रुचि, दृष्टि एवं गंध से विरहित है (बृ॰ उ॰ -३८८)। वह सृष्टि के समस्त वस्तुमात्रों का अंतर्नियामक है, जिसके कारण सारी सृष्टि कठपुतलियों के जैसी नाचती है।

पुराणों में

देवमित्र शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य द्वारा किए गए वाद-विवाद की कथा, पुराणों एवं महाभारत में भी विस्तृत रूप से दी गयी है।

विदेह देश के देवराति जनक ने अश्वमेध यज्ञ प्रारंभ किया तथा उस संबंध में सैकड़ों ऋषियों को निमंत्रित भी किया। (म॰ शा॰ ३०६)। उस यज्ञ में हजार गायों के अतिरिक्त न जाने कितने स्वर्ण, रत्नादि सामने रख कर उसने कहा 'यह सारी सुख सामग्री, तथा ग्रामादि और सेवक आदि सारी संपत्ति वह ऋषि ले सकता है जो उपस्थित सभा में सर्वश्रेष्ठ हो। यह सुनकर कोई न उठा तब याज्ञवल्क्य सामने आए तथा अपने शिष्य सामश्रवस् से कहा 'मेरे समान वेद वक्ता यहाँ कोई नहीं है। इस लिए यह समस्त संपत्ति हमारी है। उसे तुम उठा लो।'

इतना कह कर फिर समस्त उपस्थित जनों को संबोधित कर याज्ञवल्क्य ने कहा 'यदि कोई भी व्यक्ति मुझे सर्वश्रेष्ठ नहीं समझता, तो उसे मेरी ओर से चुनौती है कि वह मेरे सामने

आए। इतना सुनते ही सारी सभा में खलबली मच गई और कई ब्राह्मण इससे वाद-विवाद करने आए; लेकिन सभी इससे परास्त हुए।

उपस्थित पंडितों से इनका कई विषयों पर वाद-विवाद हुआ। सबको जीतने के वाद, इन्होने देवमित्र शाकल्य को ललकारते हुए कहा 'भरी हुई धौंकनी के समान चुप क्यों बैठे हो ? कुछ बोलो तो'। इस प्रकार इसकी वाणी सुनकर शाकल्य ने अकेले ही समस्त धन ले जाने के संबंध में इनसे शिकायत की। तब याज्ञवल्क्य ने कहा ब्राह्मण का बल है विद्या एवं तत्त्वज्ञान में निपुणता। क्योंकि मैं किसी भी प्रकार के प्रश्न का उत्तर देने के लिए अपने को समर्थ समझता हूँ, इसलिए इस समस्त धन पर मेरा ही अपना अधिकार है।

याज्ञवल्क्य की ऐसी वाणी सुनकर देवमित्र शाकल्य क्रोध से पागल हो गये, और उन्होने इनसे एक हजार प्रश्न पूछे जिन सभी के उत्तर इन्होने बड़ी निपुणता एवं विद्वता के साथ दिए। फिर याज्ञवल्क्य को प्रश्न पूछने की बारी आई। याज्ञवल्क्य ने एक ही प्रश्न उनसे किया। किन्तु शाकल्य उसका उत्तर न दे सके, जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।

देवमित्र शाकल्य की मृत्यु से सब ब्राह्मणों को ब्रह्महत्या का पाप लगा, इसलिये सभी उपस्थित जनों ने पवन पुर में जाकर द्वादशार्क, बालुकेश्वर, एकादशरुद्र इत्यादि के दर्शन किए और चारों कुण्डों में स्नान किया। उसके उपरांत इन्होंने उत्तरेश्वर में जाकर वाड्वों का दर्शन किया, जिससे सभी व्यक्ति हत्यादोष से मुक्त हुए (वायु ६०.६९-७१)। प्रस्तुत कथा पुरातन इतिहास के रूप में भीष्म के द्वारा युधिष्ठिर से कही गयी है (म. शा॰ २९८.४, ३०६.९२)।

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद

याज्ञवल्क्य ऋषि के द्वारा संन्यास लिए जाने पर, उन्होने अपनी संपत्ति कात्यायनी एवं मैत्रेयी नामक अपनी दो पत्नियों में विभाजित करनी चाही उस समय इनकी ब्रह्मवादिनी पत्नी मैत्रेयी ने इनसे अध्यात्मिक ज्ञान का हिस्सा मांगा, एवं अमरत्व प्राप्त करने का मार्ग पूछा। उस समय इन्होने मैत्रेयी से कहा, पति-पत्नी, संतान-संपत्ति ये सारें आत्मा के ही अनेक विध रूप है। इस आत्मा का निरीक्षण, अध्ययन एवं मनन (निदिध्यास) करने से ही समस्त वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है (बृ॰ उ॰ २४.२.५)

आत्मा का स्वरूप बताते हुए याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा 'जिस तरह समस्त स्पर्श त्वचा में केंद्रीभूत होते हैं', अथवा सारे विचार मन में समा जाते हैं, उसी प्रकार संसार की सारी चीज़ें आत्मा में केंद्रीभूत होती हैं (बृ॰ उ॰ २८.११)। इसी कारण आत्म प्राप्ति ही मानवीय प्रयत्नों का सबसे बड़ा साध्य है। बाकी सारे ध्येय तुच्छ हैं।

अद्वैतवाद

केवल आत्मा के ज्ञान से ही बाह्य सृष्टि का ज्ञान हो सकता है, इस सिद्धान्त का विवरण करते समय, याज्ञवल्क्य ने आत्मा एवं मानवी मन का ध्येयात्मक अद्वैत प्रतिपादित किया। इस प्रतिपादन के समय, इन्होने आत्मा को दुंदुभी बजाने वाला वादक कह कर, मन को दुंदुभी वाद्य की उपमा दी। याज्ञवल्क्य ने कहा 'दुंदुभी बजाने वाले को हाथ में पकड़ लेने से दुंदुभी की आवाज सहज ही हाथ में आती है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान होने से, संसार की सारी वस्तु मात्रों का ज्ञान बिना किसी कष्ट से प्राप्त हो सकता है (बृ० उ० २.४.६-९)।

अमरत्व की प्राप्ति

अमरत्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है, इसका विवरण करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा 'आत्मा का श्रवण, मनन एवं चिंतन कर आत्मतत्व के व्यापकत्व का अनुभव हर एक साधक को करना चाहिए (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः) आत्मतत्त्व के इसी अनुभव से अमरत्व प्राप्त हो सकता है (एतावद् खलु अमृतत्वम्)। आत्मतत्त्व का यह साक्षात्कार केवल मन से ही हो सकता है (मनसैवानुद्रष्टव्यम्)।

जनक-याज्ञवल्क्य संवाद

बृहदारण्य उपनिषद् के चौथे अध्याय में आत्मज्ञान संबंधी 'जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद, प्राप्त होता है। उस संवाद के प्रारंभ में याज्ञवल्क्य ने जनक से पूछा 'अन्तिम सत्य के बारे में किन-किन ऋषियों के उपदेश आज तक आपने सुना है। उस पर जनक ने कहा 'वाणी को परम सत्य कहने वाले ज़ित्वन शैलिनि का, प्राण को ब्रह्म कहने वाले उदंक शौल्बायन का, चक्षु को परम सत्य कहने वाले बर्कु वार्ष्णु का, कर्ण को ब्रह्म कहने वाले गर्दभी विपीत भारद्वाज का, मन को ब्रह्म कहने वाले सत्यकाम जाबाल का, एवं हृदय को अन्तिम सत्य कहने वाले विदग्ध शाकल्प का उपदेश आज तक मैने श्रवण किया है। उस पर याज्ञवल्क्य ने कहा 'तुम्हारे द्वारा सुने गए ये उपदेश अंशतः सत्य है, पूर्णरूपेण नहीं (बृ० उ० ४.१.२-७)

अपने इस कथन से याज्ञवल्क्य यह कहना चाहते थे कि इन्द्रियों अथवा मन से परमसत्य प्राप्त होना असंभव है। वह तो केवल आत्मज्ञान से प्राप्त हो सकता है, क्योंकि आत्मा ही केवल सत्य है, मन एवं इन्द्रिय मात्र साधन है।

मृत्यु का वर्णन

मृत्यु के समय देहात्मा की स्थिति क्या होती है, उसका अत्यंत सुन्दर वर्णन याज्ञवल्क्य ने जनक राजा को बताया था। इसने कहा 'मृत्यु के समय मनुष्य की प्रज्ञात्मा उसकी देहात्मा पर आरूढ होती है। इसी कारण, बोझ से लदे हुए गाड़ी जैसा आर्त चीत्कार मृत्यु के समय आत्मा से निकलती है (बृ० उ० ४.३.३५)। मृत्यु के पूर्व आँखों में से प्राणरूपी पुरुष सर्वप्रथम

निकल जाता है। पश्चात् हृदय का लोक प्रकाशित होता है जिसकी सहायता से नेत्र, मस्तक अथवा अन्य किसी भी इंद्रिय के द्वारा आत्मा निकल जाती है। उस समय, मनुष्य का कर्म ही केवल उसके साथ रहता है, जो आत्मा के अगले जन्म का मार्गदर्शक बनता है (बृ. उ. ४.४.१.५)।

तत्वज्ञान (१) भौतिक सुख का पुरुषार्थवाद

नैतिक कल्याण मानवीय जीवन का अन्तिम साध्य जरूर है, फिर भी ऐहिक सुख का महत्व नैतिक कल्याण से कम नहीं है, ऐसा याज्ञवल्क्य का मत था। राजा जनक के सभा में जब वे गये तब उसने इन्हें लक्ष्य कर कहा 'आप धनलक्ष्मी तथा गायों को प्राप्त करने के लिए आए हैं अथवा विद्वानों के बीच चल रही चर्चा में भाग ले कर विजय प्राप्त करने आए हैं? उस समय विश्वास के साथ इन्होने जवाब दिया 'दोनों के लिए (उभयमेव साम्राट्) जिनकी सींगों में स्वर्ण मुद्रिकाओं की थैलियां लगी हुई हैं ऐसी गायों की प्राप्ति की उतनी ही आवश्यक समझता हूँ, जितना कि आवश्यक विद्वानों के बीच अपनी विजय की।

अपने द्वारा कही उक्त बात का स्पष्टीकरण करते हुए इन्होने स्वयं कहा है "मेरे पिता का कथन था कि बिना धन प्राप्त किए किसी को भी आत्म ज्ञान न देना चाहिए किन्तु आत्म ज्ञान का उपदेश किए बिना किसी से दक्षिणा नहीं लेनी चाहिए, ऐसा भी इसका अभिमत था (अननुच्य हरेत दक्षिणां न गृह्णीयात्)।

जनक राजा के पुरोहित अश्वल के द्वारा पूछने पर भी याज्ञवज्क्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा था 'मैं ब्रह्मज्ञ जरूर हूँ, किन्तु मैं धन की कांक्षा मन में रखता हूँ (गोकामा एवं वयं स्मः)'

इस प्रकार आध्यात्मिक एवं अधिभौतिक इन दोनों को मान्यता देने वाले याज्ञवल्क्य हैं। पाश्चात्य 'साफ़िस्ट' लोग भी तत्व ज्ञान के उपलक्ष में धन ग्रहण करना कोई खराबी नहीं मानते है।

(२) आत्मज्ञान

जीवन में आत्मज्ञान प्राप्त करना संभव है और वही अन्तिम सत्य है, ऐसा इनका अभिमत था। जनक ने इनसे प्रश्न किया था, मनुष्य की ज्योति कौन है जो उसे प्रकाश देती है? इस प्रश्न का यथाविध उत्तर देते हुए इन्होने सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि को मनुष्य की ज्योति बताकर कहा, कि आत्म ज्ञान मनुष्य की अन्तिम ज्योति है, जो सूर्यचन्द्र तथा अग्नि की अनुपस्थिति में भी उसे प्रकाश देती है (बृ. उ. ४.३.२-६)।

आत्मा ही जब केवल ज्ञेय एवं ज्ञाता रहता है इस अवस्था का वर्णन याज्ञवल्क्य ने उक्त कथन में व्यक्त किया है। अरस्तू उसे 'थियोरिया' अथवा 'उन्मन' अवस्था कहता है।

(३) शुद्धाद्वैतवाद अथवा कर्ममीमांसा

याज्ञवल्क्य शुद्धाद्वैतवाद के पुरस्कर्ता थे, जिनके अनुसार आत्मा अजर, अमर एवं कालातीत अवस्था में सर्वत्र उपस्थित रहता है। इस कारण, मृत्यु के साथ होने वाले आत्मा के स्थानान्तर अथवा जन्मान्तर में शोक अथवा दुःख करने की आवश्यकता नहीं है। जिस तरह घाँस का नया तिनका प्राप्त किए बगैर भँवरा अपना पहला तिनका नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार अपने वास्तव्य की नयी व्यवस्था हुए वगैर आत्मा अपनी पुरानी स्थिति को नहीं छोड़ता है। इस प्रकार मृत्यु ही स्वयं एक माया होने के कारण, उसमें दुःख नहीं मानना चाहिए। जिस प्रकार सुवर्णकार पुराने अलंकारों से नया, एवं पहले से भी अधिक सुंदर अलंकार बना सकता है, उसी प्रकार आत्मा को पहले से भी अधिक सुंदर जन्म प्राप्त होना संभव है (बृ॰ उ॰ ४.४.४)। याज्ञवल्क्य के ये विचार सुनकर इसकी पत्नी मैत्रेयी भयभीत हुई। इसी कारण अपने मतो का अधिक विवरण न करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा 'जो मैंने कहा है, वह संस्कार के अज्ञ लोगों के लिए काफी है (बृ॰ उ॰ २.४.१३)।

चरित्र-चित्रण

याज्ञवल्क्य अपने युग के एक अद्वितीय विद्वान, वाक्पटु एवं आत्मज्ञानी थे। वे उग्र स्वभाव के थे। जनक की विद्वत् सभा में विवाद करते समय, इन्होने शाकल्य से आक्रोश पूर्ण शब्दों में कहा था 'आगे तुम इस प्रकार के प्रश्न करोगे, तो तुम्हारा सर कट कर पृथ्वी पर लोटने लगेगा (मूर्धा ते निपतिष्यति)। ये क्रोधी तो थे पर, उसी प्रकार परम दयालु तथा कोमल प्रवृत्तियों के भी थे जो इनके द्वारा अपनी पत्नी मैत्रेयी के संवाद से प्रकट है। यह जरूर है किं वाद-विवाद के बीच स्त्री हो अथवा कोई भी हो, किसी के प्रति यह कृपा भाव नहीं दिखाते थे। गार्गी से चल रही चर्चा के बीच इन्होने उसे 'तुम बहुत प्रश्न कर रही हो (अति प्रश्नं पृच्छसि) कँह कर, उद्दामता दिखाने के लिए डाँटा था।

ये बड़े होशियार भी थे। जब जनक की सभा में जारत्कारव ने ज्ञान एवं कर्म के संबंध में कुछ ऐसे प्रश्न किए थे, जो केवल अधिकारी व्यक्ति ही जान सकते हैं तब उसके जवाब में इन्होने उसे सभा से अलग ले जाकर बताए थे।

यह अपने समय के सबसे बड़े वाक् पटु थे। अश्वल ने इनसे 'आचार्य संप्रदाय' के संबंध में बहुत कठिन प्रश्न पूछे; जिनके तत्काल उचित उत्तर देकर इन्होने उन्हे निरुत्तर किया।

आत्मगत भाषण

अधिकारी विद्वान् के द्वारा तत्वज्ञान सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाने पर ही उसका जवाब देने की इनकी पद्धति थी। किंतु कभी-कभी ऐसा भी होता था कि, भावातिरेक में प्रश्न की परिधि से अलग बातों-विषयों की विवेचना कर, उनका भी कथन करने लगते थे। उदाहरणार्थ जनक

की सभा में उद्दालक के प्रश्न का उत्तर देते समय वे एकाएक ध्यानमग्न हुए तथा ईश्वर की व्यापकता बताते हुए कहा 'ईश्वर तो जगत् व्यापी है। याज्ञवल्क्य के उक्त विचार 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' नामक ग्रंथ में सम्मिलित हैं (वृ. उ. ३.७.१)।

जनक राजा के साथ हुए संवाद में आत्मा के अव्यय रूप के संबंध में अपने विचार भी बिना पूछे ही प्रकट किए थे। इस प्रकार, जब भावमग्न होकर आत्मज्ञान संबंधी विचारों को प्रकट करते थे तो सतत प्रकट ही करते जाते थे।

परिवार

याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी एवं कात्यायनी नामक दो पत्नियाँ थी। उनमें से मैत्रेयी आध्यात्मिक ज्ञान की पिपासु थी। इस कारण, इसने उसे आत्मज्ञान कराया एवं संन्यास लेने के पश्चात् भी यह उसे अपने साथ अरण्य में ले गये। स्कंद पुराण में मैत्रेयी के लिए 'कल्याणी' नामान्तर प्राप्त है। (स्कंद पु. ६.१३०-१३१)। वैदिक ग्रंथों में से 'जाबालोपनिषद्' एवं शतपथ ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख प्राप्त है (श. ब्रा. १.४.१०-१४)।

इनकी दूसरी पत्नी कात्यायनी एक सामान्य गृहणी थी, जिनसे उन्हें कात्यायन एवं पिप्पलाद नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए थे (स्कन्द ५.३, ४२.१)।

रामायण कथा की परम्परा में याज्ञवल्क्य रामचरित के एक प्रधान वक्ता हैं।

काण्व एवं माध्यंदिन परंपरा में इसके निम्नलिखित शिष्यों का निर्देश प्राप्त है:-

१. आसुरि यह याज्ञवल्क्य का प्रमुख शिष्य था, जिनसे आसुरि नामक शिष्य शाखा का निर्माण हुआ (श.व्रा. १४.९.४.३)। आसुरि के शिष्य का नाम 'पंचशिख' अथवा कपिलेय या कपिल था। पञ्चशिख के शिष्यों में 'जनक जानदेव' एवं जनक धर्मध्वज प्रमुख थे। पंचशिख के शिष्यों में आसुरायण भी प्रमुख था।, जो यास्क के समकालीन थे।

२. मधुक पैङ्ग्य इसके शिष्यों में चूडभागवित्ति प्रमुख थे। चूडभागवित्ति से लेकर जानकि आयस्थूण सत्यकाम जाबाल ऐसी इसकी शिष्य परंपरा थी (बृ. उ. ६.३७-११)

३. सामश्रवसा इसे जनक के विद्वत् सभा में अपनी ओर से संपत्ति उठाने के लिए याज्ञवल्क्य ने कहा था। इनके अतिरिक्त महाभारत (शांति ३०६.१७) में इसके १०० शिष्य बताए गए है।

शाखा प्रवर्तक शिष्य

वायु में याज्ञवल्क्य के निम्नलिखित पंद्रह शाखा प्रवर्तक शिष्य बताए गए हैं:- (१) कण्व (२) वैधेय (३) शालिन (४) मध्यंदिन (५) शापेयिन (६) विदग्ध (७) उछल (८) ताम्रायण (९) वात्स्य (१०) गालव (११) शैषिरि (१२) आटवि (१३) पर्णिन् (१४) वीरणिन् (१५) परायण (वायु ६१.२४-२५)। इन शिष्यों को 'वाजिन्' सामूहिक नाम प्राप्त था।

ब्रह्मांड (२.३५८-३०) में ये नाम कई पाठ भेदों के साथ प्राप्त हैं। अन्य पुराणों में भी इन शाखा प्रवर्तक आचार्यों के नाम अनेकानेक रूप से दिए गए हैं।

इन शाखा प्रवर्तक आचार्यों में से 'कण्व' एवं 'माध्यंदिन' शाखाओं के ग्रंथ आज प्राप्त हैं। बाकी शाखाओं के ग्रंथ नष्ट हो चुके हैं।

ग्रंथ

याज्ञवल्क्य के नाम पर निम्नलिखित ग्रंथ प्राप्त हैं:-

१. शुक्ल यजुर्वेद संहिता (श.ब्रा. १४.९४.३३). २. ईशावास्योपनिषद ३. शतपथ ब्राह्मण (म.शा. ३०६.१-२५) ४. वृहदारण्यक उपनिषद् (याज्ञ. ३.११०), ५. याज्ञवल्क्य शिक्षा जिसमें २३२ श्लोक है ६. मनःस्वार शिक्षा, जिसमें हस्त स्वर की अपेक्षा भिन्न प्रकार के विचारों को प्रतिपादित किया गया है ७. वृहद् याज्ञवल्क्य ८. वृद्धयोगी याज्ञवल्क्य ९. योगशास्त्र, इनके सिवा इसके नाम पर 'याज्ञवल्क्य स्मृति' नामक यह स्मृतिग्रंथ भी प्रसिद्ध है।

शुक्ल यजुर्वेद

शुक्ल यजुर्वेद संहिता के कुल चालीस अध्याय हैं, एवं उनमें निम्नलिखित विषयों का विवरण प्राप्त है अ. १-२ दशपूर्णमास मंत्र एवं पिंड पितृयज्ञ, अ. ३, नित्याग्निकर्म, अग्नि प्रतिष्ठा हवन एवं चातुर्मास्य यज्ञ, अ. ४-८, सोमयज्ञ, पशुयज्ञ एवं राजसूय यज्ञ के मंत्र अ. ९-१०, सोमयज्ञ के मंत्र, अ. ११-१८, अग्निचयन विधि एवं मंत्र, अ. १९-२१ सौत्रामणि यज्ञ के मंत्र, अ. २२-२५, अश्वमेघ के मंत्र, अ. २६-३०, पुरुष-मेध (यज्ञ रहस्य) अ. ३१, पुरुष सूक्त, अ. ३२, तत्वज्ञान (उपनिषद) अ. ३३-३४, शिवसंकल्पोपनिषद, अ. ३५, अंत्येष्ठिमंत्र, अ. ३६-३९, प्रवर्ग्य मंत्र, अ.-४०, ईशावास्य उपनिषद्। इनमें से अध्याय २६-३५ को 'खिल' (परिशिष्ट) कहते हैं।

यह संहिता गद्य एवं पद्य भागों से बनी है। उनमें से पद्य भाग ऋग्वेद से लिया गया है, एवं गद्य भाग नया है। उस गद्य भाग को ही यजुः कहते हैं, जिस कारण इस वेद को यजुर्वेद नाम प्राप्त हुआ है।

इस वेद के श्रौत सूत्र की रचना कात्यायन ने की थी उसमें 'श्रौत' एवं गृह्य ये दोनों सूत्र समाविष्ट किए गए हैं, जिन से 'गृह्य सूत्र' पारस्कर गृह्यसूत्र नाम से सुविख्यात है। इन सूत्रों का प्रतिशाख्य भी कात्यायन के द्वारा ही विरचित है।

शुक्ल यजुर्वेद का शिक्षा ग्रंथ 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' है जो इस वेद के उच्चारण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। स्वर एवं उच्चारण की दृष्टि से यह वेद अन्य वेदों से काफी अलग है। प्रायः इस वेद में 'य' एवं 'ष' का उच्चारण क्रमशः 'ज' एवं 'ख' जैसे किया जाता है।

---

१. वैदिक शाखाओं के विस्तृत विवरण के लिये दृष्टव्य मेरा ग्रन्थ- Vedic Sakhas

अनुस्वारों का उच्चारण भी सानुनासिक किया जाता है। इस वेद के स्वर भी उच्चारण से व्यक्त करने के बदले हाथों के द्वारा अधिकतर व्यक्त किए जाते है।

याज्ञवल्क्य स्मृति

इस ग्रंथ में एक सहस्त्र श्लोक हैं, जो तीन काण्डो में विभाजित किए गए हैं। यद्यपि इस ग्रंथ के आरंभ में इसकी रचना का श्रेय 'शतपथ ब्राह्मण' 'योगशास्त्र' आदि ग्रंथों के रचयिता याज्ञवल्क्य को दिया गया है, परन्तु मिताक्षरा के अनुसार, इस ग्रंथ का रचयिता याज्ञवल्क्य न होकर, इसका कोई शिष्य था। फिर भी इस ग्रंथ की विचारधारा शुक्ल यजुर्वेद एवं तत्संवन्धी अन्य ग्रथों से काफी साम्य रखती है और उसी परम्परा मे है।

इस ग्रंथ में प्राप्त व्यवहार विषयक विवरण अग्निपुराण में प्राप्त 'व्यवहार काण्ड' से मिलता जुलता है। इस स्मृति में प्राप्त वेदान्त विषयक विवरण शंकराचार्य के 'ब्रह्मसूत्र' से काफी मिलता जुलता है (याज्ञ० ३.६४, ६७, ६९, १०९, १२५, १४०, २०५)।

सप्ताह में अंतर्भूत किए गए 'रविवार' 'सोमवार' आदि वारों का संबंध आकाश में स्थित 'रवि' 'सोम' आदि ग्रहों से है, ऐसा स्पष्ट निर्देश याज्ञवल्क्य स्मृति में प्राप्त है। इस स्मृति में नाणक सिक्के का एवं ताम्रपट्ट, शिलालेख आदि उत्कीर्ण शिलालेखों का भी निर्देश प्राप्त है (याज्ञ० १.२९६.३१५)।

गङ्गासागरराय

याज्ञवल्क्यस्मृतिस्थविषयाणामनुक्रमणिका।

आचाराध्यायः १

विषयः **पृष्ठं**

उपोद्घातप्रकरणम् १

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम् १
मुनीनां प्रश्नः १
षड्विधस्मार्तधर्मः २
धर्मस्य चतुर्दश स्थानानि २
धर्मशास्त्रप्रयोजका ऋषयः ३
धर्मस्य कारकहेतवः ३
धर्मस्य ज्ञापकहेतवः ४
देशादिकारकहेतूनामपवादः ४
कारकहेतुषु ज्ञापकहेतुषु वा संदेहे निर्णयः ५

ब्रह्मचारिप्रकरणम् २

वर्णाः ५
गर्भाधानादिसंस्काराः ६
संस्कारकरणे फलम् ६
स्त्रीसंस्कारेषु विशेषः ६
ब्राह्मणादीमुपनयनकालः ७
गुरुधर्माः ७
शौचाचाराः ७
प्राजापत्यादितीर्थानि ८
आचमनविधिः ९
प्राणायामविचारः १०
सावित्रीजपप्रकारः १०
अग्निकार्यम् १०
अभिवादनम् ११
अध्याप्याः १२
दण्डादिधारणम् १२
भैक्षचर्याप्रकारः १२
भोजनादिप्रकारः १३
ब्रह्मचारिणो वर्ज्यानि १४
गुर्वाचार्यादिलक्षणम् १५
उपाध्यायर्त्विग्लक्षणम् १६
ब्रह्मचर्यावधिः १७
उपनयनकालस्य परमावधिः १७
द्विजत्वहेतुकथनम् १८
वेदग्रहणाध्ययनफलम् १९
काम्यब्रह्मयज्ञाध्ययनफलम् १९
पञ्चमहायज्ञफलम् १९
नैष्ठिकब्रह्मचारिधर्माः २१

विवाहप्रकरणम् ३

गुरुदक्षिणादानपूर्वं स्नानम् २१
कन्यालक्षणानि २२
कन्याया बाह्यलक्षणानि २४
कन्याया आभ्यन्तरलक्षणानि २४
सापिण्ड्यविचारः २५
कन्यावरणे नियमः २७
कन्यादाने वरनियमः २७
द्विजातिनां शूद्रापरिणयननिषेधः २७
वर्णक्रमेण द्विजातीनां भार्याकरणेऽविकारः २८
ब्राह्मविवाहलक्षणम् २८
द्वैवार्षविवाहयोर्लक्षणम् २९
प्राजापत्यविवाहलक्षणम् २९
आसुरगान्धर्वादिविवाहलक्षणानि ३०
सवर्णादिपरिणयने विशेषः ३०

विषयाः **पृष्ठं**

कन्यादातृक्रमः ३१
कन्याहरणे दण्डः ३२
कन्याया दोषमनाख्याय दाने ३२
अन्यपूर्वालक्षणम् ३३
देवरादिनियोगविधिः ३३
व्यभिचारिणीविषये ३४
तस्या अल्पप्रायश्चित्तार्थमर्थवादः ३५
द्वितीयपरिणयने हेतवः ३५
पतिव्रतास्त्रीप्रशंसा ३६
अधिवेत्तुर्दण्डः ३६
स्त्रीधर्माः ३७
शास्त्रीयदारसंग्रहस्य फलम् ३७
स्त्रीणां ऋतुकालावधिः ३८
स्त्रीगमने वर्ज्यदिनानि ३८
अनृतुगमने नियमाः ३९
स्त्रीणां भर्त्रादिभिः सत्कारः ४१
स्त्रियाः कर्तव्यम् ४१
प्रोषितभर्तृकानियमाः ४१
स्त्रिया अस्वातन्त्र्यम् ४२
मृतभर्तृकाविषये ४२
सहगमनम् ४३
अनेकभार्याविषये ४४
प्रमीतभार्याविषये ४४

वर्णजातिविवेकप्रकरणम् ४

सजातिपुत्रादयः ४५
अनुलोमा मूर्धावसिक्तादयः ४६
प्रतिलोमजाः ४७
संकीर्णजात्यन्तरम् ४७
वर्णप्राप्तौ कारणान्तरम् ४८
हीनवृत्त्या जीवनम् ४८

गृहस्थधर्मप्रकरणम् ५

कस्मिन्नग्नौ किं कर्तव्यं तन्निर्णयः ४९

विषयाः **पृष्ठं**

गृहस्थधर्माः ४९
दन्तधावनादि ५०
योगक्षेमार्थं राजाद्याश्रयः ५०
वेदादिजपः ५१
पञ्चमहायज्ञाः ५१
भूतबलिः ५१
पितृमनुष्येभ्योऽन्नदानम् ५२
दम्पत्योः शेषभोजनम् ५२
अतिथीनां भोजनम् ५२
भिक्षवे भिक्षादानम् ५३
श्रोत्रियसत्कारः ५३
प्रतिसंवत्सरमर्घ्याः ५४
परपाकरुचिनिषेधः ५५
सायंसंध्यादि ५६
ब्राह्मे मुहूर्ते आत्मनो हितचिन्तनम् ५६
मानार्हाः ५६
वृद्धादीनां मार्गो देयः ५७
द्विजातीनामिज्यादिकर्माणि ५७
क्षत्रियवैश्यकर्माणि ५८
शूद्रकर्माणि ५८
साधारणधर्माः ५९
श्रौतकर्माणि ५९
नित्यश्रौतकर्माणि ६०
यज्ञार्थं हीनभिक्षानिषेधः ६०
कुशूलधान्यादिसंचयोपायः ६१

स्नातकधर्मप्रकरणम् ६

स्नातकव्रतानि ६२
राजादिभ्यो धनग्रहणम् ६२
उपाकर्मकालः ६३
उत्सर्जनकालः ६८
अनध्यायाः ६८
स्नातकव्रतानि ७१

विषयाः पृष्ठं

अभोज्यानि ७२
अभोज्यान्नानि ७५
अभोज्यान्नेषु प्रतिप्रसवः ७६

भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम् ७

द्विजातीनां धर्माः ७६
पर्युषितस्य प्रतिप्रसवः ७७
संधिन्यादिदुग्धविषये ७७
शिम्वादिनिषेधः ७८
क्रव्यादपक्ष्यादिनिषेधः ७८
पलाण्ड्वादिनिषेधः ८०
पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः ८१
मांसभक्षणे विधिः ८१
वृथामांसभक्षणे निन्दा ८२
मांसवर्जनविधिः ८२

द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ८

सौवर्णादिपात्राणां शुद्धिः ८३
यज्ञपात्रादीनां शुद्धिः ८४
सलेपानां शुद्धिः ८५
भूमिशुद्धिः ८७
गवाघ्रातान्नादिशुद्धिः ८७
त्रपुसीसकादीनां शुद्धिः ८८
अमेध्योपहतद्रव्यशुद्धिः ८९
उदकमांसयोः शुद्धिः ९०
अग्न्यादिशुद्धिः ९०

दानप्रकरणम् ९

दानपात्रब्राह्मणप्रशंसा ९२
सत्पात्रब्राह्मणलक्षणम् ९३
सत्पात्रे गवादिदानं देयम् ९३
प्रतिग्रहनिषेधः ९४
प्रत्यहंदाने विशेषः ९४
गोदाने विशेषः ९४
गोदानफलम् ९५

विषयाः पृष्ठं

उभयतोमुखीलक्षणं, तद्दाने फलं च ९५
सामान्यगोदाने फलम् ९६
गोदानसमानि ९६
भूम्यादिदाने फलम् ९६
गृहादिदाने फलम् ९७
वेददानफलम् ९७
दानं विनापि दानफलावाप्तिः ९७
सर्वप्रतिग्रहनिवृत्तिप्रसङ्गेऽपवादः ९८
अप्रत्याख्येयमाह ९८
प्रतिग्रहनिवृत्तेरपवादः ९८

श्राद्धप्रकरणम् १०

श्राद्धशब्दार्थः ९९
पार्वणश्राद्धस्वरूपम् ९९
एवोद्दिष्टश्राद्धस्वरूपम् ९९
त्रिविधं श्राद्धम् ९९
पार्वणवृद्धिश्राद्धयोः कालः ९९
श्राद्धे ब्राह्मणसंपत्तिः १००
श्राद्धे वर्ज्यब्राह्मणाः १०१
पार्वणश्राद्धप्रयोगः १०३
अग्नौकरणम् १०७
अन्ननिवेदनम् १०८
पिण्डप्रदानम् ११०
अक्षय्योदकदानम् १११
स्वधावाचनम् १११
ब्राह्मणप्रार्थना ११२
ब्राह्मणविसर्जनम् ११२
वृद्धिश्राद्धम् ११३
एवोद्दिष्टश्राद्धम् ११४
नवश्राद्धम् ११४
सपिण्डीकरणम् ११५
उदकुम्भश्राद्धम् ११८
एवोद्दिष्टकालः ११९

विषयाः पृष्ठं

नित्यश्राद्धव्यतिरिक्तसर्वश्राद्धपिण्डप्रक्षेपस्थलम् १२१
भोज्यविशेषेण फलविशेषः १२१
गयाश्राद्धफलम् १२२
तिथिविशेषात्फलविशेषः १२३
नक्षत्रविशेषात्फलविशेषः १२३
पितृशब्दार्थः १२३

गणपतिकल्पप्रकरणम् ११

विघ्नकारकहेतवः १२५
विघ्नज्ञापकहेतवः १२६
विघ्नज्ञापकहेतुप्रत्यक्षलिङ्गानि १२६
विघ्नोपशान्त्यर्थं कर्म १२७
स्नपनविधिः १२७
उपस्थानमन्त्राः १३१
ग्रहपूजा १३२
नित्यकाम्यसंयोगाः १३२

ग्रहशान्तिप्रकरणम् १२

ग्रहयज्ञः १३३
नवग्रहनामानि १३३
नवग्रहमूर्तिद्रव्याणि १३४
नवग्रहध्यानानि १३४
नवग्रहमन्त्राः १३५
नवग्रहसमिधः १३५
नवग्रहहोमाहुतिसंख्या १३६
नवग्रहाणां भोजनानि १३६
नवग्रहदक्षिणा १३६
दुष्टग्रहपूजा १३७

राजधर्मप्रकरणम् १३

अभिषिक्तस्य राज्ञो धर्माः १३८
अष्टादश व्यसनानि १३८
राजमन्त्रिणः राजपुरोहितश्च १३९
राजपुरोहितलक्षणम् १४०

विषयाः पृष्ठं

यज्ञादिकरणे ऋत्विजः १४०
ब्राह्मणेभ्यो धनदाने फलविशेषः १४०
धनरक्षणप्रकारः १४१
लेख्यकरणम् १४१
लेख्यकरणप्रकारः १४१
राज्ञो निवासस्थानम् १४२
अधिकारिणः १४३
विक्रमार्जितद्रव्यदाने फलम् १४३
रणे मरणं स्वर्गफलकम् १४३
शरणागतरक्षणम् १४४
आयव्ययनिरीक्षणम् १४४
हिरण्यस्य भाण्डागारे निक्षेपः १४४
दूतानां त्रैविध्यम् १४४
स्वैरविहारः सेनादर्शनं च १४५
चाराणां गूढभापणश्रवणम् १४५
राज्ञो निद्रादिप्रकारः १४६
प्रजापालनफलम् १४७
चाटुतस्करादिभ्यो रक्षणम् १४७
प्रजानामरक्षणे फलम् १४८
राष्ट्राधिकृतविचेष्टितज्ञानम् १४८
उतकोचजीविनां दण्डः १४८
अन्यायेन प्रजाभ्याः करग्रहणे १४८
देशाचारादिरक्षणम् १४९
मन्त्रमूलत्वं राज्यस्य १५०
शल्यादीनां चिन्तनम् १५०
सामाद्युपायाः १५१
संधिविग्रहादिगुणाः १५१
परराष्ट्रे यानकालः १५१
दैवपुरुषकारयोर्विचारः १५२
दैवविपये मतान्तराणि १५२
लाभप्रकारः १५३
राज्याङ्गानि १५३

विषयाः	पृष्ठं
दुर्वृत्तेषु दण्डकरणम्	१५३
अन्यायदण्डनिषेधः	१५४
दण्ड्यदण्डने फलम्	१५५
त्रसरेण्वादिमानम्	१५६
रजतमानम्	१५६
ताम्रमानम्	१५७
स्वशास्त्रपरिभाषा	१५८
दण्डभेदाः	१५८
दण्डव्यवस्थानिमित्तानि	१५८

इत्याचाराध्यायः ।

अथ व्यवहाराध्यायः २

साधारणव्यवहार भातृकाप्रकरणम् १

विषयाः	पृष्ठं
उपोद्घातः	१६१
व्यवहारलक्षणम्	१६१
सभासदलक्षणम्	१६२
सभासदसंख्या	१६३
बृहस्पतिमते सभ्यसंख्या	१६३
ब्राह्मणानां सभासदां च भेदः	१६३
अन्यायाद्राजनिवारणम्	१६३
ब्राह्मणानां दोषः	१६३
राजसंसदि वणिजामपि स्थापना	१६३
प्राड्विवाकः	१६३
प्राड्विवाकगुणाः	१६३
ब्राह्मणप्राड्विवाकाभावे क्षत्रियादिः	१६३
प्राड्विवाकलक्षणम्	१६३
सभासदां दण्डः	१६३
व्यवहारविषयः	१६४
व्यवहारस्याष्टादश भेदाः	१६४
राज्ञः कार्यानुत्पादकत्वम्	१६४
कार्यार्थिनि प्रश्नः	१६५
आह्वानानाह्वाने	१६५
तदपवादः	१६५
आसेधलक्षणम्	१६५
आसेधश्चतुर्विधः	१६५
क्वचिदासेधातिक्रमे दण्डाभावः	१६५
प्रतिवादिन्यागते लेखादिकर्तव्यता	१६५
हीनः पञ्चविधः	१६५
भाषाकरणप्रकारः	१६६
पक्षाभासाः	१६६
अनादेयव्यवहाराः	१६६
आदेयव्यवहाराः	१६७
शोधितलेख्यनिवेशनप्रकारः	१६७
उत्तरावधि शोधनम्	१६७
पूर्वपक्षमशोधयित्वैव उत्तरादाने सभ्यानां दण्डः	१६७
उत्तरदानप्रकारः	१६७
उत्तरस्वरूपम्	१६७
चतुर्विधमुत्तरम्	१६७
सत्योत्तरोदाहरणम्	१६७
मिथ्योत्तरोदाहरणम्	१६८
मिथ्योत्तरं चतुर्विधम्	१६८
कारणोत्तरोदाहरणम्	१६८
पूर्वन्यायोत्तरोदाहरणम्	१६८
उत्तराभासानां लक्षणानि	१६८
उत्तराभासोदाहरणानि	१६८
संकरानुत्तरम्	१६८
अनुत्तरत्वे कारणम्	१६८
मिथ्योत्तरकारणोत्तरयोः संकरे तदुदाहरणम्	१६८

विषयाः पृष्ठं

कारणोत्तरप्राङ्न्यायोत्तरसंकरः १६९
तदुदाहरणम् १६९
उत्तरसंकरे क्रमः १६९
मिथ्योत्तरकारणोत्तरयोरेकस्मिन् व्यवहारप्राप्तौ निर्णयप्रकारः १६९
उत्तरे पत्रे निवेशिते साधननिर्देशप्रकारः १७०
व्यवहारस्य चत्वारः पादाः १७१

असाधारणव्यवहारमातृकप्रकरणम् २

प्रत्यभियोगः १७१
अर्थिविषये १७२
एवस्मिन्नभियोगेऽनेकद्रव्याणां निवेशाभावः १७२
तदुदाहरणम् १७२
अभियोगमनिस्तीर्येत्यस्यापवादः १७३
प्रतिभूग्रहणम् १७३
प्रतिभ्वभावे निर्णयः १७३
निह्नवे प्रतिभूकर्तव्यम् १७४
मिथ्याभियोगे दण्डः १७४
कालविलम्बापवादः १७४
दृष्टलक्षणम् १७५
अनाहूतवादने १७५
द्वावपि युगपद्धर्माधिकारिणं प्राप्तौ तत्र कस्य क्रियेत्याकाङ्क्षिते निर्णयः १७६
सपणविवादस्थले निर्णयप्रकारः १७७
छलनिरसनप्रकारः १७७
छलानुसारिव्यवहारलक्षणम् १७७
निह्नुतैकदेशविभावने निर्णयप्रकारः १७८
न्यायाधिगमे तर्कः १७८
अनेकार्थाभियोगे निर्णयः १७८
स्मृत्योर्विरोधे निर्णयप्रकारः १७९
धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्विप्रतिपत्तौ निर्णयः १७९
धर्मशास्त्रार्थशास्त्रोदाहरणम् १७९

विषयाः पृष्ठं

आततायिहननविषये निर्णयः १८०
द्विजातीनां शस्त्रग्रहणे १८०
आततायिनः १८०
अन्योदाहरणम् १८०
अन्यथाकरणे प्रायश्चित्तम् १८०
प्रमाणचतुष्टयम् १८०
प्रमाणभेदाः १८०
मानुषदिव्यप्रमाणग्रहणे निर्णयः १८१
तत्रोदाहरणम् १८१
दिव्यप्रमाणग्रहणे निषेधः १८१
तदपवादः १८१
लेख्यादीनामपि क्वचिनियमः १८१
प्रमाणबलाबलविचारः १८२
आध्यादिषु पूर्वोत्तरक्रियानिर्णयः १८२
दशविंशतिवर्षोपभोगे निर्णयः १८२
अनागमोपभुक्तौ दण्डः १८३
अस्वत्वस्य दाने दण्डः १८३
दशविंशतिवर्षोपभोगे हानेरपवादः १८४
उपनिक्षेपलक्षणम् १८४
आध्यादीनां हर्तुर्दण्डः १८५
दण्डपरिमाणम् १८५
दण्डप्रकाराः १८५
धनदानाशक्तौ दण्डप्रकारः १८५
उत्तमसाहसदण्डस्वरूपम् १८५
ब्राह्मणस्य वधदण्डनिषेधः १८५
शिरोमुण्डनादिदण्डाः १८६
अङ्कने च व्यवस्था १८६
चक्षुर्निरोधशब्दार्थः १८६
कीदृशो भोगः प्रमाणम् १८६
आगमनिरपेक्षस्य भोगस्य प्रामाण्यम् १८६
अनागमोपभोगे दण्डः १८६
आगमसापेक्षभोगविपये १८७

विषयाः पृष्ठं

त्रिविधः स्वीकारः १८८
स्वीकारे नियमः १८८
पुरुषव्यवस्थया प्रामाण्यव्यवस्थया च आगमविषये दण्डव्यवस्था १८८
अभियुक्ते मृते निर्णयः १८९
व्यवहारसिद्धये व्यवहारदर्शिनां बलाबलम् १८९
प्रबलदृष्टव्यवहारविषये १९०
मत्तोन्मत्तादिभिर्निर्णीतव्यवहार विषये १९०
गुरुशिष्यपितृपुत्रादीनां व्यवहार विषये १९१
स्त्रीभर्तृव्यवहारविषये १९१
स्वामिदासव्यवहारविषये १९१
अनादेयवादविषये १९१
गोपशौण्डिकादिस्त्रीणां व्यवहारे १९१
परावर्त्यद्रव्यविषये निर्णयप्रकारः १९२
तत्र कालावधिः १९२
तत्र नृपतिभागः १९२
स्वाम्यनागमविषये १९२
निधिप्राप्तौ निर्णयप्रकारः १९३
ब्राह्मणस्य निधौ प्राप्ते निर्णयः १९३
ब्राह्मणभिन्नस्य निधौ लब्धे निर्णयः १९३
अनिवेदितनिधिविषये निर्णयः १९३
धनस्वामिन्यागते निर्णयः १९३
तत्र राजभागः १९३
चौरहृतद्रव्यविषये १९३
चौरहृतद्रव्यापहारे राज्ञो दोषः १९३
चौरहृतोपेक्षाकरणे १९३
चौरहृतदानविषये १९३

ऋणादानप्रकरणम् ३

ऋणादानं सप्तविधम् १९४
अधमर्णविषये पञ्चविधम् १९४

विषयाः पृष्ठं

उत्तमर्णविषये द्विविधम् १९४
मासि मासि वृद्धिदानविषये १९४
वर्णक्रमाद्वृद्धिनिर्णयः १९४
चक्रवृद्धिकायिकादिवृद्धिप्रकाराः १९४
ग्रहीतृविशेषेण प्रकारान्तरवृद्धिः १९५
कारितवृद्धिः १९५
अकृतवृद्धिः १९५
याचितकविषये निर्णयः १९५
याचितकादाने निर्णयः १९५
अनाकारितवृद्धेरपवादः १९५
द्रव्यविशेषेण वृद्धिविशेषः १९५
प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य चिरकालावस्थितस्य वृद्धिः १९६
वस्त्रधान्यादीनां वृद्धिः १९६
पुरुषान्तरे संक्रमणेन प्रयोगान्तरकरणविषये १९६
सकृत्प्रयोगविषये १९६
प्रयुक्तस्य धनस्य ग्रहणप्रकाराः १९६
धर्मादयश्चोपायाः १९७
राज्ञा दापने च प्रकाराः १९७
बहुषूत्तमर्णिकेषु युगपत्प्राप्तेषु केन क्रमेणाधमर्णिको दाप्य इत्यपेक्षितविषये क्रमः १९८
उत्तमर्णे दुर्बले प्रतिपन्नार्थदापने निर्णयप्रकारः १९८
न्यायार्थं व्ययदानम् १९८
निर्धनाधमर्णिकविषये १९८
दीयमानाग्रहणे १९९
कुटुम्बार्थे कृतर्णविषये १९९
अदेयर्णविषये निर्णयः १९९
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयमित्यस्यापवादः १९९
न पतिः स्त्रीकृतमित्यस्यापवादः २००

विषयाः **पृष्ठं**

पतिकृतमृणं भार्या न दद्यादित्यस्यापवादः २००
भार्यादीनामधनत्वम् २००
पुनरपि यदृणं दातव्यं येन च यत्र दातव्यं तन्निन्नतये निर्णयः २००
कालविशेषे ऋणदानविषये २००
प्राप्तव्यवहारविषये निर्णयः २००
प्राप्तव्यवहारेऽपि ऋणदाननिषेधः २०१
आसेधाह्वाननिषेधः २०१
ऋणात्पितृमोचनविषये २०१
श्राद्धे बालस्याप्यधिकारः २०१
विभक्तविषये निर्णयः २०१
अविभक्तविषये निर्णयः २०१
पुत्रविषये ऋणदाने विशेषः २०१
पौत्रविषये ऋणदाने विशेषः २०१
ऋणापाकरणे ऋणी तत्पुत्रः पौत्र इति त्रयः कर्तारस्तेषां समवाये क्रमः २०२
परपूर्वाः स्त्रियः २०२
पुनर्भूस्वैरिणीस्त्रीणां लक्षणम् २०२
योषिद्ग्राह ऋणापाकरणेऽधिकारीरिक्थग्रहणाभावे पुत्र पौत्रैर्ऋणदानविषये २०३
योषिद्ग्राहिविषये २०३
प्रातिभाव्यादीनां निषेधः २०४
दम्पत्योर्विभागाभावे २०४
पूर्तेषु कर्मसु जायापत्योः पृथगधिकारः २०४
प्रातिभाव्यनिरूपणम् २०५
प्रातिभाव्यं त्रिविधम् २०५
दर्शनप्रत्ययप्रतिभूविषये २०५
दानप्रतिभूविषये २०५
दर्शनप्रतिभूविषये २०५
दानप्रतिभूपौत्रविषये २०५

विषयाः **पृष्ठं**

प्रातिभाव्यातिरिक्तपैतामहर्णदाने पौत्राधिकारः २०५
वृद्धिदाने निषेधः २०६
बन्धकप्रतिभूविषये ऋणदाने निर्णयः २०६
प्रतिभुवामनेकत्वे ऋणदानप्रकारः २०६
प्रतिभूदत्तस्य प्रतिक्रियाविधिः २०६
प्रीतिदत्तस्यावृद्धिः २०७
प्रतिभूदत्तस्य सर्वत्र द्वैगुण्ये प्राप्ते अपवादः २०७
स्त्रीपशूनां वृद्धिविषये २०७
धान्यवृद्धिविषये २०७
वस्त्ररसविषये २०७
लग्नके विशेषनिषेधः २०७
आधिविधिः २०८
आधिलक्षणम् २०८
स च द्विविध। २०८
चतुर्विधस्याधेर्विशेषः २०८
गोप्याधिभोगे वृद्धिनिषेधः २०९
आधिनाशे निर्णयः २१०
आधिसिद्धिविषये निर्णयः २१०
जङ्गमस्थावरभेदेन द्विविध आधिः २१०
आधिनाशविषये धनदाने विशेषः २१०
आधिमोक्षणविषये निर्णयः २१०
असन्निहिते प्रयोक्तरि कर्तव्यता २११
असंनिहितेऽधर्मे कर्तव्यता २११
भोग्याधौ विषये २१२
फलभोग्याधिविषये २१२

उपनिधिप्रकरणम् ४

उपनिधिद्रव्यलक्षणम् २१३
उपनिधिदानेऽपवादः २१३
उपनिध्युपभोक्तुर्दण्डः २१३
उपनिधिधर्माणां याचितादिष्वतिदेशः २१४

विषयाः पृष्ठं

साक्षिप्रकरणम् ५

साक्षिस्वरूपनिरूपणम् २१५
साक्षिभेदाः २१५
कृतसाक्षिणः २१५
अकृतसाक्षिणः २१५
लिखितादिसाक्षिणां भेदाः २१५
तेऽपि साक्षिणः कीदृशाः कियन्तश्च भवन्तीत्येतद्विषये २१५
दोषादसाक्षिणः २१६
भेदादसाक्षिणां स्वरूपम् २१६
स्वयमुक्तिस्वरूपम् २१६
असाक्षिणः स्वरूपम् २१७
एकसाक्षिविषये २१७
चौर्यादिषु वर्ज्यसाक्षिणोऽपि ग्राह्याः साक्षिश्रावणम् २१८
ब्राह्मणादिषु श्रावणे नियमाः २१८
तदपवादः २१९
साक्षिदूषणदाने स्थलम् २१९
साक्षिदूषणदाने स्थलम् २१९
साक्षिश्रावणप्रकारः २१९
साक्षिसंत्रासने २१९
साक्षिणामकथने कर्तव्यता २१९
साक्ष्यानङ्गीकारविषये २२०
कूटसाक्षिणां दण्डः २२०
साक्षिद्वैधे निर्णयप्रकारः २२१
जयपराजयावधारणविषये २२१
साक्षिणां स्वभावोक्तवचनग्रहणे २२१
साक्षिभाषितपरीक्षा २२२
क्रियाबलाबलावलम्बे २२२
साक्षिणां दोषावधारणे २२३
अथ मतम् २२३
कूटसाक्षिणां दण्डः २२३
विषयाः पृष्ठं
ब्राह्मणकूटसाक्षिविषये २२३
लोभादिकारणविशेषे दण्डः २२३
ब्राह्मणे शरीरदण्डनिषेधः २२४
साक्ष्यनिह्नवे दण्डः २२४
जानतः साक्ष्यानङ्गीकारे २२४
वर्णिनां वधे अनृतानुज्ञा २२५
अनृतवचने प्रायश्चित्तम् २२६

लेख्यप्रकरणम् ६

लेख्यद्वैविध्यम् २२६
अन्यकृतलेख्ये विशेषः २२७
लेख्ये संवत्सरादीनां निवेशः २२७
लेख्यसमाप्तौ अधमर्णस्य संमतिः २२७
लेख्ये साक्षिणां विशेषः २२७
लेख्यकसंमतिः २२८
स्वकृतलेख्ये विशेषः २२८
लेख्यारूढर्णविषये विशेषः २२९
बलात्कारकृतलेख्ये विशेषः २२९
तदपवादः २२९
जीर्णादिपत्रविषये २२९
देशान्तरस्थपत्रानयनाय कालावधिः २२९
राजकीयपत्रविषये २३०
राजकीयजयपत्रविषये २३०
सभासदां पत्रविषये २३०
पञ्चविधहीनविषये २३०
लेख्यसंदेहे निर्णयोपायाः २३०
लेख्यस्य पृष्ठे लेखनप्रकारः २३१
कृत्स्ने ऋणे दत्ते कर्तव्यता २३१
ससाक्षिके ऋणे कृत्स्ने दातव्ये कर्तव्यता २३२

दिव्यप्रकरणम् ७

दिव्यमातृका २३२
शपथाः २३२

विषयाः	पृष्ठं
महाभियोगेषु शङ्कितेष्वपवादः	२३२
ततोऽर्थी लेखयेदित्यस्यापवादः	२३३
अवष्टम्भाभियोगेष्वेवेत्यस्यापवादः	२३३
दिव्ये साधारणविधिः	२३४
दिव्येषु पूर्वाह्णादिकालाः	२३४
घटदिव्यप्रयोगाः	२३४
अग्निदिव्यविधिः	२४१
कर्तुरन्याभिमन्त्रणम्	२४१
उदकदिव्यविधिः	२४४
विषदिव्यविधिः	२४७
कोशदिव्यविधिः	२४८
तण्डुलदिव्यविधिः	२४९
तप्तमाषविधिः	२५०
धर्माधर्माख्यविधिः	२५०
पक्षान्तरेण विधिः	२५१
अन्ये शपथाः	२५१
शुद्धिविभावना	२५१

दायविभागप्रकरणम् ८

विषयाः	पृष्ठं
दायशब्दार्थः	२५२
दायो द्विविधः	२५२
अप्रतिबन्धदायलक्षणम्	२५२
सप्रतिबन्धदायलक्षणम्	२५२
विभागलक्षणम्	२५२
स्वत्वनिरूपणम्	२५२
स्तेनातिदेशः	२५२
लौकिकीसत्ताविषये विचारः	२५२
यत्र काले येन च यथा विभागः	२५५
पितुरिच्छया विभागप्रकारः	२५६
विषमविभागनियमः	२५६
ज्येष्ठपुत्रविषये उद्धारविभागः	२५६
विभागकालाः	२५६
समविभागे पत्नीनां विशेषः	२५६
पुत्रस्य दायजिघृक्षाभावे विशेषः	२५७
विषमविभागनिषेधः	२५८
पितृमरणान्तरं समविभागः	२५८
विंशोद्धारादिः	२५८
विषमविभागनिषेधः	२५८
उद्धारविभागे निषेधः	२५८
मातृधने दुहित्रधिकारः	२५८
दुहित्रभावे मातृधने पुत्राधिकारः	२५८
अविभाज्यधनम्	२५९
पितृधृतवस्त्रादिविषये	२६०
स्त्रीणामलङ्कारविषये	२६०
योगक्षेमशब्दार्थः	२६०
पैतामहे द्रव्ये पौत्राणां विभागे विशेषः	२६१
पितामहोपात्तधने पितुः पुत्रस्य च सत्ताविषये	२६२
विभागोत्तरमुत्पन्नपुत्रस्य विभागविषये	२६३
पितृदत्तधनविषये निर्णयः	२६३
पितुरूर्ध्वं विभागे मातुः स्वपुत्रसमांशित्वम्	२६४
असंस्कृतभ्रातृसंस्कारकरणविषये	२६४
असंस्कृतभगिनीसंस्कारकरणविषये	२६४
भगिनीनां विभागः	२६४
भिन्नजातीयानां विभागः	२६५
भिन्नजातीयानां पुत्राणां विभागः	२६६
भ्रात्रादिवञ्चनया स्थापितस्य समुदायद्रव्यस्य विभागः	२६७
समुदायद्रव्यापहारे दोषः	२६७
द्व्यामुष्यायणपुत्रलक्षणम्	२६७
द्व्यामुष्यायणाधिकारविषये	२६८
नियोगप्रकारः	२६८
नियोगनिन्दा	२६८
विधवासंयमः	२६८

विषयाः पृष्ठं

धर्म्यनियोगप्रशंसा २६९
मुख्यगौणपुत्राणां दायग्रहणव्यवस्था तेषां स्वरूपं च २६९
औरसपुत्रलक्षणम् २६९
पुत्रिकापुत्रलक्षणम् २६९
क्षेत्रजपुत्रलक्षणम् २६९
गूढजपुत्रलक्षणम् २६९
कानीनपुत्रलक्षणम् २७०
पौनर्भवपुत्रलक्षणम् २७०
दत्तकपुत्रलक्षणम् २७०
एकपुत्रदाने निषेधः २७०
अनेकपुत्रसद्भावेऽपि ज्येष्ठदाने निषेधः २७०
पुत्रप्रतिग्रहप्रकारः २७०
क्रीतपुत्रलक्षणम् २७०
कृत्रिमपुत्रलक्षणम् २७०
स्वयंदत्तपुत्रलक्षणम् २७०
सहोढजपुत्रलक्षणम् २७१
अपविद्धपुत्रलक्षणम् २७१
पुत्राणां दायग्रहणे क्रमः २७१
औरसपौत्रिकेयसमवाये निर्णयः २७१
पूर्वपूर्वसत्त्वे उत्तरेषां चतुर्थां शित्वम् २७१
दत्तकानन्तरं औरसे जाते निर्णयः २७१
असवर्णपुत्रविषये २७२
क्षेत्रजस्य विशेषः २७२
द्वादशपुत्राणां मध्ये षट् दायादाः षट् अदायादाः २७२
दत्तकस्य जनकरिक्थगोत्रनिवृत्तिः २७२
पूर्वपूर्वाभावे सर्वेषां पितृधनाधिकारः २७२
भ्रातृपुत्रसत्त्वे अन्यपुत्रग्रहणनिषेधः २७२
शूद्रापुत्रविषये २७२
शूद्रधनविभागे विशेषः २७३

विषयाः पृष्ठं

विभक्तस्यापुत्रस्यासंसृष्टिनो धनेऽधिकारिणः २७३
पत्नी २७४
दुहिता २७५
दौहित्रः २७८
माता २७८
पिता २७८
भ्रातरः २७८
भिन्नोदराः २७८
भ्रातृपुत्राः २७९
गोत्रजाः २७९
पितामही २७९
पितामहादयः २७९
समानोदकाः २७९
बन्धवः २७९
आत्मबन्धवः २७९
पितृबन्धवः २७९
मातृबन्धवः २७९
आचार्यः २७९
शिष्यः २७९
सब्रह्मचारी २७९
श्रोत्रियः २७९
राजा २७९
वीरमित्रोदयकारमतम् २७९
वानप्रस्थादीनां धनेऽधिकारिणः २८०
संसृष्टिधनविषये निर्णयः २८१
सोदरस्य संसृष्टिधनेऽधिकारि निर्णयः २८१
सोदरासोदरसंसर्गे निर्णयः २८१
संसृष्टिधनविभागे २८२
तस्योद्धतस्य विनियोगः २८२
अनंशाः २८२

विषयाः **पृष्ठं**

तेषां भरणम् २८३
अनंशानां पुत्रविषये विभागनिर्णयः २८३
क्लीबादिदुहितॄणां विशेषः २८३
क्लीबादिपत्नीनां विशेषः २८३
अथ स्त्रीधनम् २८४
स्त्रीधनस्वरूपनिरूपणम् २८४
स्त्रीधनभेदाः २८५
अध्यग्न्या स्त्रीधनस्त्ररूपम् २८५
स्त्रीधनविभागः २८५
विवाहभेदेन स्त्रीधनेऽधिकारिभेदः २८५
अपत्यवतीधने दुहित्राद्यधिकारः २८५
ऊढानूढासमवाये अधिकारनिर्णयः २८६
प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितासमवाये अधिकारनिर्णयः २८६
वाग्दत्ताविषये निर्णयः २८६
वाग्दत्ताकन्यामरणे निर्णयः २८६
दुर्भिक्षादिसंकटे स्त्रीधनग्रहणे भर्तुरधिकारः २८७
आधिवेदनिकाख्यस्त्रीधनल २८७
विभागसंदेहे हेतवः २८८

सीमाविवादप्रकरणम् ९

सीमाविवादे निर्णयः २८८
सीमाविवादे तन्निर्णयसाधनानि २८८
सीमायाश्चातुर्विध्यम् २८८
ग्रामसामन्तादयः २८९
वृद्धादिलक्षणम् २८९
मौललक्षणम् २८९
उद्धृतलक्षणम् २८९
वनचारिलक्षणम् २८९
सीमावृक्षाः २८९
सीमालिङ्गानि २८९
सीमानिर्णयोपायः २९०
सीमानिर्णये साक्षिणः २९१
निर्णीतसीमापत्रकरणप्रकारः २९१
साक्षिणामनृतवचने दण्डः २९१
ज्ञातृचिह्नाभावे राज्ञा निर्णयः कर्तव्यः २९२
सीमानिर्णयस्यारामादिषु अतिदेशः २९२
सीमानिर्णयप्रसंगेन मर्यादाभेदादौ दण्डाः २९३
स्वीयभ्रान्त्या क्षेत्रादिहरणे दण्डः २९३
उत्तमसाहसदण्डलक्षणम् २९३
सेतुकूपादिकरणनिषेधे दण्डः २९३
अल्पोपकारे निषेधः २९३
सेतोर्द्वैविध्यम् २९३
सेतुप्रवर्तयितृविषये २९४
फालाहतक्षेत्रविषये २९४

स्वमिपालविवादप्रकरणम् १०

गवादिभिः परसस्यादिभक्षणे दण्डः २९५
माषप्रमाणम् २९५
अपराधातिशये द्विगुणदण्डः २९५
क्षेत्रान्तरे पश्वन्तरे चातिदेश २९५
क्षेत्रस्वामिने फलदापनविषये निर्णयः २९६
क्षेत्रविशेषे अपवादः २९६
वृत्तिकरणप्रकारः २९६
पशुविशेषे दण्डाभावः २९७
अदण्ड्याः पशवः २९७
गोपविषये निर्णयः २९७
गोपविषये वेतनकल्पना २९७
प्रमादनाशे निर्णयः २९७
पशूनां कर्णादिचिह्नदर्शने २९७
पालदोषेण पशुविनाशे पाले दण्डः २९८
गोप्रसंगाद्गोप्रचारः २९८
गवादिप्रचारार्थक्षेत्रपरिमाणम् २९८

विषयाः पृष्ठं

स्वामिविक्रयप्रकरणम् ११

अस्वामिविक्रयलक्षणम् २९९
रहस्यल्पेन क्रयनिषेधः २९९
स्वाम्यभियुक्तक्रेतुः कर्तव्यता २९९
ग्राहिते हर्तरि कर्तव्यतानिर्णयः ३००
देशान्तरगते योजनसंख्यायानयनार्थं कालो देयः ३००
मूलस्थानयने ३००
अविज्ञातदेशविषये ३००
साक्ष्यादिभिः क्रयस्याशोधने दण्डः ३००
नष्टवस्तुनिश्चयोपायाः ३०१
नष्टवस्त्वभाविते दण्डः ३०१
तस्करस्य प्रच्छादकविषये ३०१
राजपुरुषानीतविषये ३०१
नष्टं द्रव्यं राजपार्श्वं प्रत्यानीतं राज्ञा रक्षणीयम् ३०१
रक्षणनिमित्तं राजभागः ३०१
मनूक्तषड्भागादिग्रहणस्य द्रव्यविशेषऽपवादः ३०२

दत्ताप्रदानिकप्रकरणम् १२

दत्ताप्रदानिकंस्वरूपम् ३०२
दत्तानपाकर्मस्वरूपम् ३०२
तच्चतुर्विधम् ३०३
कुटुम्बाविरोधेन देयविषये ३०३
भर्तव्यगणः ३०३
अदेयमष्टविधम् ३०३
सर्वस्वदानेन निषेधः ३०३
हिरण्यादिकमन्यस्मै प्रतिश्रुतमन्यस्मै न देयम् ३०३
देयधनस्य प्रतिग्रहमप्रकाशविषये ३०४
प्रतिश्रुतमप्यधर्मिषु न देयम् ३०४
अदत्तप्रकारः ३०४

विषयाः पृष्ठं

दत्तादत्तस्वरूपम् ३०५

क्रीतानुशयप्रकरणम् १३

क्रीतानुशयः ३०५
क्रीतानुशयस्वरूपम् ३०५
प्रत्यर्पणीयनिर्णयः ३०५
द्वितीयादिदिने प्रत्यर्पणीयनिर्णयः ३०५
बीजादिक्रये परीक्षाकालः ३०५
स्वर्णादिपरीक्षा ३०६
कम्बलादौ वृद्धिः ३०६
द्रव्यान्तरे विशेषः ३०७
ह्रासवृद्धिज्ञानोपायः ३०७

अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् १४

अभ्युपेत्याशुश्रूषास्वरूपम् ३०७
शुश्रूषकः पञ्चविधः ३०७
कर्मकरश्चतुर्विधः ३०८
कर्मापि द्विविधम् ३०८
भृतकत्रैविध्यम् ३०८
दासभेदाः ३०८
बलाद्दासीकृतविषये ३०९
दासमोक्षविषये ३०९
प्रव्रज्यावसितस्य मोक्षविषये ३०९
वर्णापेक्षया दास्यव्यवस्था ३०९
अन्तेवासिधर्माः ३१०

संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १५

संविद्व्यतिक्रमलक्षणम् ३११
धर्मरक्षणाय ब्राह्मणस्थापना ३११
नियुक्तकर्तव्यकर्म ३११
तदतिक्रमादौ दण्डः ३११
गणिषु राज्ञो वर्तनप्रकारः ३१२
समूहदत्तापहारिणो दण्डः ३१३
कार्यचिन्तकलक्षणम् ३१३
त्रैविद्यधर्मस्य श्रेण्यादिष्वतिदेशः ३१३

विषयाः पृष्ठं

वेतनादानप्रकरणम् १६

वेतनादानस्वरूपम् ३१४
गृहीतवेतनविषये ३१४
भृतिमपरिच्छिद्य कर्मकारयितुर्दण्डः ३१४
अनाज्ञप्तकारिविषये ३१५
मृतिदानप्रकारः ३१५
आयुधीयभारवाहकविषये ३१५
त्याजकविषये ३१६
अपगतव्याधिविषये ३१६

द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् १७

द्यूतसमाह्वयस्वरूपम् ३१७
द्यूतसभाधिकारिणो वृत्तिः ३१७
क्लृप्तवृत्तेः सभिकस्य कर्तव्यम् ३१७
सभिकेनादत्ते राज्ञा दापनम् ३१८
जयपराजयविप्रतिपत्तौ निर्णयोपायः ३१८
द्यूतं निषेद्धुं दण्डः ३१८
कूटाक्षदेविनिर्वासने विशेषः ३१९
समाह्वये द्यूतधर्मातिदेशः ३१९

वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८

वाक्पारुष्यलक्षणम् ३१९
तस्य त्रैविध्यम् ३१९
निष्ठुराक्रोशे सवर्णविषये दण्डः ३१९
अश्लीलादोषे दण्डः ३२०
विषमगुणदण्डः ३२०
परस्पराक्षेपे दण्डः ३२१
प्रतिलोमानुलोमाक्षेपे दण्डः ३२१
निष्ठुराक्षेपे दण्डः ३२२
असक्तविषये ३२२
तीव्राक्रोशे दण्डः ३२२
त्रैविद्यादीनां क्षेपे ३२३

दण्डपारुष्यप्रकरणम् १९

ारुष्यस्य प्रकरणम् ३२३
तस्य त्रैविध्यम् ३२३
तत्र पञ्चविधयः ३२४
दण्डप्रणयनार्थं तत्स्वरूपसंदेहे निर्णयहेतुः ३२४
साधनविशेषेण दण्डविशेषः ३२४
पुरीषादिस्पर्शे दण्डः ३२५
प्रातिलोम्यापराधे दण्डः ३२५
सजातीयविषये हस्तपादे उद्गूर्णे दण्डः ३२६
केशादिलुञ्चने दण्डः ३२६
काष्ठादिभिस्ताडने दण्डः ३२६
लोहितदर्शने दण्डः ३२६
करपादादित्रोटने दण्डः ३२७
चेष्टादिरोधने दण्डः ३२७
कन्धरादिभङ्गे दण्डः ३२७
बहुभिरेकस्याङ्गभङ्गादिकरणे दण्डः ३२७
व्रणरोपणादौ औषधार्थं पथ्यार्थं च व्ययदानम् ३२७
बहिरङ्गार्थनाशे दण्डः ३२८
दुःखोत्पादादिद्रव्यप्रक्षेपे दण्डः ३२८
पश्वभिद्रोहे दण्डः ३२८
लिङ्गच्छेदने दण्डः ३२९
महापशुविषये दण्डः ३२९
स्थावराभिद्रोहे दण्डः ३२९
वृक्षविशेषच्छेदने दण्डः ३३०
गुल्मादीनां छेदने दण्डः ३३०

साहसप्रकरणम् २०

साहसलक्षणम् ३३०
साहसस्य त्रैविध्यम् ३३१
प्रथमसाहसम् ३३१
मध्यमसाहसम् ३३१
उत्तमसाहसम् ३३१
परद्रव्यापहरणरूपे साहसे दण्डः ३३१

विषयाः पृष्ठं

साहसस्य प्रयोजयितुर्दण्डः ३३१
साहसिकविशेषं प्रति दण्डः ३३२
भ्रातृभार्याताडने दण्डः ३३२
संदिष्टस्याप्रदातुर्दण्डः ३३२
समुद्रगृहभेदकृदादीनां दण्डः ३३२
स्वच्छन्दविधवागाम्यादीनां दण्डः ३३२
अयुक्तशपथकरणे दण्डः ३३२
पुंस्त्वप्रतिघातने दण्डः ३३२
दासीगर्भविनाशने दण्डः ३३२
पितापुत्रादीनामन्योन्यत्यागे दण्डः ३३२
निर्णेजकस्य दण्डः ३३३
पितापुत्रविरोधे साक्षिणां दण्डः ३३४
तुलानाणककूटकरणे दण्डः ३३४
नाणकपरीक्षकविषये दण्डः ३३४
चिकित्सकविषये दण्डः ३३५
अवध्यबन्धनादौ दण्डः ३३५
कूटतूलापहारे दण्डः ३३५
भेषजादावसारद्रव्यमिश्रणे दण्डः ३३६
अजातौ जातिकरणे दण्डः ३३६
समुद्रभाण्डव्यत्यासकरणे दण्डः ३३६
वणिजां अर्धह्रासवृद्धिकरणे दण्डः ३३७
अर्धकरणे विशेषः ३३८
स्वदेशपण्यविषये लाभनिर्णयः ३३८
परदेशपण्यविषयेऽर्थनिरूपणप्रकारः ३३८

विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् २१

विक्रीयासंप्रदानस्वरूपम् ३३९
तस्य द्वैविध्यम् ३३९
विक्रीयासंप्रयच्छतो दण्डः ३३९
अर्घहानिविषये निर्णयः ३४०
राजदैवोपघातेन पण्यदोषे ३४०
एकत्र विक्रीयान्यत्र विक्रये ३४०
निर्दोषं दर्शयित्वा सदोषदाने ३४०

विषयाः पृष्ठं

तदुभयसाधारणधर्माः ३४१
अनुशयकालावधिः ३४१

संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२

संभूयसमुत्थानविषये लाभालाभौ ३४१
प्रतिषिद्धादिविषये निर्णयः ३४२
राजनिरूपितार्घे राजभागः ३४२
व्यासिद्धादिविषये निर्णयः ३४२
शुल्कवञ्चनार्थं पण्यपरिमाणनिह्नवे दण्डः ३४३
तरिकस्य शुल्कविषये ३४३
देशान्तरमृतवणिग्धननिर्णयः ३४३
वणिग्धर्मस्य ऋत्विगादिष्वतिदेशः ३४४

स्तेयप्रकरणम् २३

स्तेयलक्षणम् ३४५
स्तेयग्रहणस्य ज्ञानोपायाः ३४५
लोप्त्रपरीक्षणम् ३४५
शङ्कया ग्राह्यविषये ३४५
चौर्यशङ्कया गृहीतविषये निर्णयः ३४६
चौरे दण्डः ३४६
चौरविशेषेऽपवादः ३४७
श्वपदाकारमङ्कनम् ३४७
प्रायश्चित्तं कुर्वतो नाङ्कनम् ३४७
चौरादर्शनेऽपहृतद्रव्यप्राप्त्युपायः ३४७
अपराधविशेषेण दण्डविशेषः ३४८
कोष्ठागारादिभेदकादिवधः ३४८
उत्क्षेपकादीनां करादिच्छेदः ३४८
उत्क्षेपकादीनां द्वितीयतृतीयापराधे दण्डः ३४९
दण्डकल्पनोपायः ३४९
क्षुद्रादिद्रव्यस्वरूपम् ३४९
तद्विषये दण्डनियमः ३४९
धान्यापहारे दण्डः ३५०

विषयाः पृष्ठं

सुवर्णाद्यपहारे दण्डः ३५०
द्रव्यविशेषाद्दण्डः ३५०
अकुलीनानां तु दण्डान्तरम् ३५०
क्षुद्रद्रव्यापहारे दण्डः ३५०
अपराधगुरुत्वादपि दण्डगुरुत्वम् ३५०
पथिकानां अल्पापराधे निर्णयः ३५०
अचौरस्यापि चौरोपकारिणो दण्डः ३५०
शस्त्रावपातनादिषु दण्डः ३५१
विप्रदुष्टादिस्त्रीणां दण्डः ३५१
अविज्ञातकर्तृके हनने हन्तृज्ञानोपायः ३५२
व्यभिचारिणिप्रश्नविषये ३५२
क्षेत्रादीनां दाहकस्य राजपत्न्यभिगामिनश्च दण्डः ३५३

स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४

स्त्रीसंग्रहणस्य त्रैविध्यम् ३५३
स्त्रीसंग्रहणोपायः ३५४
प्रतिषिद्धस्त्रीपुंसयोः पुनः संल्लापादिकरणे दण्डः ३५४
चारणदारेषु दण्डाभावः ३५४
संग्रहणे दण्डः ३५४
मात्रादिगमने दण्डः ३५५
प्रातिलोम्येन स्त्रीगमने क्षत्रियादीनां दण्डः ३५५
द्विजातिभिः शस्त्रधारणे ३५५
पारदार्यप्रसंगात्कन्याहरणे दण्डः ३५६
आनुलोम्यापहरणे दण्डः ३५६
कन्यादूषणे दण्डः ३५६
उत्तमवर्णकन्यासेवने दण्डः ३५६
स्त्रीदूषणे दण्डः ३५७
मिथ्याभिशंसने दण्डः ३५७
पशुगमने दण्डः ३५७
साधारणस्त्रीगमने दण्डः ३५७

विषयाः पृष्ठं

वेश्याख्यानादिजातिनिरूपणम् ३५८
पञ्चचूडाख्या अप्सरसः ३५८
दास्यभिगमने दण्डः ३५९
बलात्कारेण एकस्यां मुहुर्गमने दण्डः ३५९
व्याधिताया अदण्डः ३५९
शुल्कं गृहीत्वा नेच्छन्त्या दण्डः ३५९
गत्वा शुल्कमददद्दण्ड्यः ३५९
अयोनौ गच्छतो दण्डः ३६०
अन्त्यस्यार्यागमने वधः ३६०
प्रायश्चित्तानभिमुखस्य निर्वासनम् ३६०

प्रकीर्णप्रकरणम् २५

स्त्रीपुंयोगाख्यव्यवहारः ३६०
तल्लक्षणम् ३६०
स्त्रीपुंसयोः स्वमार्गे स्थापनम् ३६१
प्रकीर्णलक्षणम् ३६१
अपराधविशेषेण दण्डः ३६१
अभक्ष्येण द्विजदूषणे दण्डः ३६१
कूटस्वर्णव्यवहारादौ दण्डः ३६२
विषयविशेषे दण्डः ३६२
काष्ठलोष्टाद्युत्क्षेपणे दण्डः ३६२
छिन्ननस्ययानेन मारणविषये ३६२
उपेक्षायां स्वामिनो दण्डः ३६३
प्रवीणाप्राजकस्थलविषये निर्णयः ३६३
प्राणिविशेषाद्दण्डः विशेषः ३६३
क्षुद्रपशुहिंसायां विशेषः ३६३
जारं चौरेति वदतो दण्डः ३६३
राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तुर्दण्डः ३६४
राज्ञः कोशापहारे दण्डः ३६४
जीवनोपकरणापहारे ३६४
ब्राह्मणस्य शारीरदण्डनिषेधः ३६४
मृतवस्तुविक्रेयगुरुताडनविषये ३६४
राजासनारोहणे दण्डः ३६४

विषयाः पृष्ठं

परनेत्रभेदनादौ दण्डः ३६४
ब्राह्मणवेषधारणे दण्डः ३६४
रागलोभादिनाऽन्यथाव्यवहारदर्शने दण्डः ३६५
साक्षिदोषेण दुर्दृष्टतायां साक्षिणां दण्डः ३६५
राजानुमत्या व्यवहारस्य दुर्दृष्टत्वे दण्डः ३६५
निर्णीतव्यवहारप्रत्यावर्तने दण्डः ३६५
तीरितादिस्थलविषये ३६५
न्यायापेतस्य पुनर्न्याये विशेषः ३६६
अन्यायगृहीतदण्डधनस्य गतिविषये ३६६

इति व्यवहाराध्यायः

प्रायश्चित्ताध्यायः ३

आशौचप्रकरणम् १

आशौचशब्दार्थः ३६७
मृतविषये खननदाहानिर्णयः ३६७
अनुगमनम् ३६७
चाण्डालाद्यग्निनिषेधः ३६७
उदकदाने निर्णयः ३६७
आहिताग्निमरणे विशेषः ३६७
शूद्राहृताग्निकाष्ठविषये ३६८
प्रेतस्नानम् ३६८
प्रेतनिर्हरणे विशेषः ३६८
प्रेतनयने द्वारनिर्णयः ३६८
पर्णशरदाहादि ३६९
अग्निसंस्कारोत्तरं कर्तव्यता ३६९
उदकदाने गुणविधिः ३७०
सपिण्डानां मध्ये केषांचिदुदकदानप्रतिषेधः ३७१
पाखण्ड्यादीनां मरणे आशौचादिनिर्णयः ३७१
मृत्युविशेषादाशौचादिनिषेधः ३७१
पतितादीनां दाहाश्रुपातनिषेधः ३७२
आत्महननविषये ३७२
नारायणबलिप्रयोगः ३७३
नागबलिः ३७३
विष्णुपुराणोक्तनारायणबलिः ३७४
उदकदानोत्तरं कर्तव्यता ३७४
शोकनिरसनेतिहासस्वरूपम् ३७४
रोदननिषेधः ३७५
प्रेतदहनोत्तरं गृहप्रवेशविधिः ३७६
अतिदेशः ३७६
धर्मार्थप्रेतनिर्हरणे फलम् ३७६
ब्रह्मचारिविषये निर्णयः ३७७
आशौचिनां नियमाः ३७७
प्रेतपिण्डदाने निर्णयः ३७८
कर्तृनियमाः ३७८
द्रव्यनियमः ३७८
पिण्डदानाधिकारिणः ३७८
पिण्डसंख्याकालादिनिर्णयः ३७८
शिक्यादौ जलदानम् ३७८
अस्थिसंचयनकालः ३७८
वपनम् ३७९
अग्निहोत्रविषये निर्णयः ३७९
सूतके संध्योपासननिर्णयः ३७९
स्मार्तकर्मविषये निर्णयः ३७९
सूतकान्नभोजनादिनिषेधः ३८०
आशौचनिमित्तानि कालनियमाश्च ३८१
सपिण्डाद्याशौचम् ३८१

विषयाः पृष्ठं

बालाद्याशौचम् ३८१
जननाशौचम् ३८२
प्रसूतिकाशौचम् ३८२
पुत्रजननदिने दानाद्यधिकारः ३८२
षष्ठीपूजने निर्णयः ३८३
आशौचसंपाते निर्णयः ३८३
जननमरणाशौचसंपाते निर्णयः ३८३
पित्रोराशौचसंकरे निर्णयः ३८४
गर्भस्रावे आशौचनिर्णयः ३८४
सप्तममासादौ गर्भस्रावे निर्णयः ३८४
जातमृते मृतजाते वा आशौचम् ३८५
तत्र व्यवस्था ३८५
रजस्वलाशुद्धिविषये निर्णयः ३८६
रजस्वलावस्थायां नियमाः ३८६
ज्वरादिपीडितरजस्वलाविषये शुद्धिनिर्णयः ३८६
रजस्वलायाः सूतिकायाश्च मरणे निर्णयः ३८६
आहतिग्निमरणे विशेषः ३८६
मृत्युविशेषेणाशौचापवादः ३८७
युद्धमरणे निर्णयः ३८७
विदेशस्थाशौचे विशेषः ३८७
विदेशस्थमृताशौचे विशेषः ३८७
दशाहादूर्ध्वं ज्ञाते निर्णयः ३८८
पितृपत्नीविषये विशेषः ३८८
देशान्तरलक्षणम् ३८९
वर्णविशेषत आशौचदिनसंख्या ३८९
वयोवस्थाविशेषादपि दशाहाद्याशौचस्यापवादः ३९०
वयोवस्थाविशेषः स्त्रीणामाशौचम् ३९१
गुरुमातुलादिमरणे आशौचम् ३९२
पित्रोर्मरणे विवाहितकन्याविषये आशौचम् ३९३

विषयाः पृष्ठं

श्वशुरादिमरणे आशौचम् ३९३
अनौरसपुत्राद्याशौचम् ३९३
अन्याश्रितभार्यामरणे आशौचनिर्णयः ३९४
अनुगमनाशौचनिर्णयः ३९४
राजादीनां सपिण्डाशौचापवादः ३९५
दासादीनामाशौचविषये निर्णयः ३९५
ऋत्विगादीनां आशौचापवादः ३९६
ब्रह्मचारिसंन्यासिविषये निर्णयः ३९६
आशौचान्ते स्नानम् ३९८
रजस्वलादीनां स्पर्शे निर्णयः ३९८
दुःस्वप्नादिविषये निर्णयः ३९९
श्वादिस्पर्शविषये निर्णयः ३९९
श्वपाकविषये निर्णयः ३९९
पक्षिस्पर्शे निर्णयः ३९९
शुद्धिहेतूनां कथनम् ४०१
अकार्यकारिणां नद्यादीनां च शुद्धिविषये निर्णयः ४०१

आपद्धर्मप्रकरणम् २

आपदि वृत्यन्तरजीवननिर्णयः ४०३
वैश्यवृत्त्या जीवतो ब्राह्मणस्यापणनीयविषये ४०४
निषिद्धे प्रतिप्रसवः ४०५
निषिद्धातिक्रमे दोषः ४०५
आपद्यसत्प्रतिग्रहेऽदोषः ४०६
आपत्काले जीवनानि ४०६
कृष्यादीनां जीवनहेतूनामसंभवे जीवनम् ४०७
राज्ञो वृत्तिविषये कर्तव्यता ४०७

वानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ३

वानप्रस्थधर्माः ४०८
अग्निपरिचर्याक्षमविषये निर्णयः ४०९
पूर्वोक्तद्रव्यसंचयनियमः ४१०

विषयाः पृष्ठं

चान्द्रायणादिविधानम् ४११
भैक्षाचरणम् ४१२
सकलानुष्ठानासमर्थविषये ४१३

यतिधर्मप्रकरणम् ४

यतिधर्मनिरूपणम् ४१४
यतिधर्माः ४१५
भिक्षाटने कर्तव्यता ४१७
यतिपात्राणि तेषां शुद्धिश्च ४१८
यतेरात्मोपासनाङ्गनियमविषये
आशयशुद्धिविषये ४१८
इन्द्रियनिरोधोपायतया
संसारस्वरूपनिरूपणम् ४१९
अनन्तरं कर्तव्यविषयः ४२०
जीवपरमात्मनोरभेदनिरूपणम् ४२०
शरीरग्रहणप्रकारः ४२२
पृथिव्यादीनां शरीरारम्भकत्वविषये ४२२
संयुक्तशुक्रशोणितस्य
कायरूपपरिणतौ क्रमः ४२४
गर्भिण्यै दोहददानम् ४२५
गर्भस्थैर्यादिकथनम् ४२६
प्रसवंकालः ४२६
कायस्वरूपकथनम् ४२७
अस्थिसंख्या ४२९
सविषयाणि ज्ञानेन्द्रियाणि ४२९
कर्मेन्द्रियाणि ४२९
प्राणायतनानि ४३०
प्राणायतनानां विस्तारः ४३०
नवच्छिद्राणि ४३१
नाडीसंख्या ४३२
शिरासंख्या ४३२
केशमर्मसंधिसंख्या ४३२
सकलशरीरछिद्रसंख्या ४३२

विषयाः पृष्ठं

शरीररसादिपरिमाणम् ४३३
उपासनीयात्मस्वरूपम् ४३४
आत्मध्यानप्रकारः ४३५
शब्दब्रह्मोपासनप्रकारः ४३५
वीणादिवाद्यद्वारा मोक्षमार्गप्राप्तिः ४३६
गीतज्ञस्य फलान्तरम् ४३७
पुनरात्मस्वरूपम् ४३७
ऋषिप्रश्नः ४३७
प्रत्युत्तरम् ४३८
कर्मानुरूपशरीरग्रहणम् ४३९
सत्त्वादिगुणपरिपाकः ४४३
जन्मान्तरज्ञानविषये ४४४
अन्यदुःस्वज्ञानविषये ४४५
भेदप्रत्ययः ४४५
आत्मनो जगदुत्पत्तिः ४४६
आत्मनि प्रमाणनिरूपणम् ४४७
संसारस्वरूपम् ४४७
शरीरग्रहणद्वारेण पुनस्तस्य विस्रम्भः ४४९
अमृतत्वप्राप्त्युपायाः ४४९
जातिस्मरणविषये ४५०
कालकर्मादीनां कारणत्वम् ४५१
मोक्षमार्गनिरूपणम् ४५२
स्वर्गमार्गनिरूपणम् ४५२
संसरणमार्गनिरूपणम् ४५३
भूतचैतन्यवादिपक्षखण्डनम् ४५३
क्षेत्रज्ञस्वरूपम् ४५५
बुद्ध्यादेरुत्पत्तिः ४५५
गुणस्वरूपम् ४५६
स्वर्गमार्गनिरूपणम् ४५७
धर्मप्रवर्तकाः ४५७
वेदादीनामनादित्वनिरूपणम् ४५८
आतमदर्शनावश्यकता ४५९

विषयाः **पृष्ठं**

प्राप्तिमार्गदेवयानमार्गौ ४५९
पितृयानमार्गः ४६०
उपासनाप्रकारनिरूपणम् ४६०
धारणात्मकयोगाभ्यासप्रयोजनम् ४६१
यज्ञदानाद्यसंभवे सत्त्वशुद्धावुपायान्तरम् ४६२

प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५

कर्मविपाकनिरूपणम् ४६३
पूर्वकर्मानुरोधेने जन्मानि ४६३
पापानुरोधेन रोगिणो भवन्ति ४६४
कर्मविपाकं दर्शयितुमाह ४६६
शङ्खेन क्वचिद्विशेषो दर्शितः ४६६
प्रायश्चित्ताधिकारिनिरूपणम् ४६८
प्रायश्चित्ताकरणे दोषः ४७०
तामिस्रादिनरकाः ४७०
प्रायश्चित्तफलम् ४७१
महापातकिनः ४७३
ब्रह्महत्यासमानि पापानि ४७५
सुरापानसमानि ४७५
सुवर्णस्तेयसमानि ४७६
गुरुतल्पसमानि ४७६
गुरुतल्पातिदेशः ४७७
गुरुतल्पपापे प्रायश्चित्तम् ४७७
उपपातकानि ४७८
जातिभ्रंशकराणि ४८०
संकरीकरणानि ४८०
अपात्रीकरणानि ४८०
मलावहप्रकीर्णकानि ४८१
ब्रह्मवधप्रायश्चित्तम् ४८१
अनुग्रहकादिप्रायश्चित्तम् ४८४
ब्रह्मवधे विशेषः ४८४
प्रोत्साहकादीनामपि दण्डप्रायश्चित्तनिरूपणम् ४८४

विषयाः **पृष्ठं**

बालवृद्धादीनां साक्षात्कर्तृविषये अर्धं प्रायश्चित्तम् ४८५
ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तस्य नैमित्तिकसमाप्त्यवधिः ४८७
प्रायश्चित्तान्तरम् ४९०
ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तस्यातिदेशः ४९४
आत्रेयीहत्याप्रायश्चित्तम् ४९४
आत्रेयीलक्षणम् ४९४
सुरापानप्रायश्चित्तम् ४९६
सुराविषये विचारः ४९७
एकादशमद्यानि ४९७
प्रायश्चित्तान्तरम् ४९८
सुरासंसृष्टशुष्करसान्नभक्षणे प्रायश्चित्तम् ४९९
शुष्कसुराभाण्डस्थोदकपानविषये प्रायश्चित्तम् ५००
मद्यपाने प्रायश्चित्तम् ५००
द्विजातिभार्याविषये सुरापान प्रायश्चित्तम् ५०२
सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तम् ५०२
शङ्खोक्तो विशेषः ५०३
सुवर्णशब्दस्यार्थः ५०४
सुवर्णस्तेये प्रायश्चित्तान्तरम् ५०५
गुरुतल्पगमनप्रायश्चित्तम् ५०७
गुरुशब्दस्यार्थः ५०८
गुरुतल्पगमने प्रायश्चित्तान्तरम् ५०९
ब्रह्महादिमहापातकिसंसर्गिप्रायश्चित्तम् ५१३
पतितसंसर्गप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धस्य यौवनसंबन्धस्य क्वचित्प्रतिप्रसवः ५१६
निषिद्धसंसर्गोत्पन्नप्रतिलोमवधे प्रायश्चित्तम् ५१६
शूद्रादीनां विषमे प्रायश्चित्तम् ५१७
गोवधप्रायश्चित्तम् ५१७

विषयाः **पृष्ठं**

तथा वयोविशेषादपि प्रायश्चित्तविशेषः ५२१
पालनाकरणादिनोपेक्षायां क्वचित्प्रायश्चित्तविषये विशेषः ५२२
पुरुषेषु च विशेषः ५२३
उपपातकानां प्रायश्चित्तम् ५२४
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधे प्रायश्चित्तम् ५३२
स्त्रीवधे प्रायश्चित्तम् ५३४
ईषद्व्यभिचरितब्राह्मण्यादिवधे विशेषः ५३५
अनुपपातकप्राणिवधे प्रायश्चित्तम् ५३५
मार्जारादिवधे प्रायश्चित्तम् ५३६
वृक्षगुल्मलतादिछेदने प्रायश्चित्तम् ५३९
पुंश्चलीवानरादिवधप्रायश्चित्तप्रसंगात्तद्दंशनिमित्तं प्रायश्चित्तम् ५४०
शारीरचरमधातुरिच्छेदकस्कन्दने प्रायश्चित्तम् ५४१
ब्रह्मचारिणा योषिद्गमने कृत प्रायश्चित्तम् ५४२
स्वप्ने रेतःपाते प्रायश्चित्तम् ५४३
गार्हस्थ्यपरिग्रहेण संन्यासात्प्रच्युतौ. प्रायश्चित्तम् ५४३
ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसंगादन्यदप्यनुपातकप्रायश्चित्तम् ५४५
ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसंगाद्गुरोरपि प्रायश्चित्तम् ५४६
सकलहिंसाप्रायश्चित्तापवादः ५४६
मिथ्याऽभिशंसने प्रायश्चित्तम् ५४७
अभिशस्तप्रायश्चित्तम् ५४८
भ्रातृभार्यागमने प्रायश्चित्तम् ५४९
रजस्वलाभार्यागमने प्रायश्चित्तम् ५४९
रजस्वलायास्तु रजस्वलादिस्पर्शे प्रायश्चित्तम् ५५०
अयाज्ययाजने प्रायश्चित्तम् ५५०

विषयाः **पृष्ठं**

वेदविप्लावने प्रायश्चित्तम् ५५०
स्वाध्यायत्यागे प्रायश्चित्तम् ५५२
अग्नित्यागे प्रायश्चित्तम् ५५२
अनाश्रमवासप्रायश्चित्तम् ५५३
समुद्रयानादौ प्रायश्चित्तम् ५५३
वेश्यादावभ्यासे ५५४
असत्प्रतिग्रहे प्रायश्चित्तम् ५५५
पलाण्ड्वादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् ५५६
जातिदुष्टसंधिन्यादिक्षीरपाने प्रायश्चित्तम् ५५६
स्वभावदुष्टमांसादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् ५५७
अशुचिरस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम् ५५८
अशुचिद्रव्यसंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम् ५५९
भावदमुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम् ५६१
कालदुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम् ५६२
गुणदुष्टशुक्तादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् ५६२
हस्तदानादिक्रियादुष्टाभोज्यभक्षणे प्रायश्चित्तम् ५६२
एकादशाहादिश्राद्धभोजने प्रायश्चित्तम् ५६३
परिग्रहाभोज्यभोजने प्रायश्चित्तम् ५६४
आशौचिपरिगृहीतान्नभोजने प्रायश्चित्तम् ५६४
अपुत्राद्यन्नभोजने प्रायश्चित्तम् ५६५
जातिभ्रंशकरपापे प्रायश्चित्तम् ५६५

प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि ६

गुरुनिर्भर्त्सने प्रायश्चित्तम् ५६६
विप्रदण्डोद्यमे प्रायश्चित्तम् ५६७
पादप्रहारे प्रायश्चित्तम् ५६७
मनुप्रोक्तप्रकीर्णकप्रायश्चित्तम् ५६८
नित्यश्रौतादिकर्मलोपे प्रायश्चित्तम् ५६८
इन्द्रधनुर्दर्शनादौ प्रायश्चित्तम् ५६८
पतितादिसंभाषणे प्रायश्चित्तम् ५६८
ब्रह्मसूत्रं बिना विण्मूत्रोत्सर्गादौ प्रायश्चित्तम् ५६८

विषयाः	पृष्ठं
स्तेनपतितादिपङ्क्तिभोजने प्रायश्चित्तम्	५६९
नीलीविषये प्रायश्चित्तम्	५६९
क्वचिद्देशविशेषगमने प्रायश्चित्तम्	५६९
प्रायश्चित्तविषये देशकालादि विचारः	५७०
पतितस्य घटस्फोटविधिः	५७१
पतितस्य प्रायश्चित्तानन्तरं ग्रहणविधिः	५७२
पूर्वोक्तानां पतितपरित्यागादिविधेरतिदेशः	५७३
स्त्रीणां विशेषपातित्यम्	५७३
सकलव्रतविधौ विशेषः	५७४
चरितव्रतसाधारणधर्माः	५७४
रहस्यप्रायश्चित्तानि	५७६
प्रायश्चित्तान्तरम्	५७७
सुरापानप्रायश्चित्तम्	५७७
सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तम्	५७८
गुरुतल्पगप्रायश्चित्तम्	५७९
गोवंधादिपट्पञ्चाशदुपपातकप्रायश्चित्तम्	५८०
उपपातकसामान्यप्राप्तस्य प्राणायामशतस्यापवादः	५८१
अज्ञानकृतपातके प्रायश्चित्तम्	५८१
सकलसाधारणवित्रमन्त्राः	५८१
यमनियमाः	५८४
सान्तपनाख्यव्रतम्	५८४
महासान्तपनाख्यव्रतम्	५८४
पर्णकृच्छ्राख्यव्रतम्	५८६
तप्तकृच्छ्रव्रतम्	५८६
पादकृच्छ्रः	५८७
प्राजापत्यकृच्छ्रः	५८७
अतिकृच्छ्रः	५८९
कृच्छ्रातिकृच्छ्रः	५८९
पराककृच्छ्रः	५९०
सौम्यकृच्छ्रः	५९०
तुलापुरुषकृच्छ्रः	५९०
चान्द्रायणव्रतम्	५९०
चान्द्रायणान्तरम्	५९२
कृच्छ्रचान्द्रायणसाधारणेतिकर्तव्यता	५९३
प्रायश्चित्ते वपननिर्णयः	५९३
अनादिष्टपापे प्रायश्चित्तम्	५९५
व्रताशक्तौ गोदानादिकादयोऽनुकल्पा	५९६
महापातकादौ गवादिसंख्या	५९६
चान्द्रायणादौ धेनुसंख्या	५९६
अभ्यासे प्रायश्चित्तावृत्तिः	५९६
व्रताशक्तस्य ब्राह्मणभोजनम्	५९७
कृच्छ्रचान्द्रायणादिफलम्	५९७
एवच्छास्त्राध्ययने फलश्रुतिः	५९९

इति प्रायश्चित्ताध्यायः।

इति विषयानुक्रमणिका समाप्ता।

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

मिताक्षरासंवलिता ।

[आचाराध्यायः १]

उपोद्घातप्रकरणम्

श्रीगणेशाय नमः ।

धर्माधर्मौ तद्विपाकास्त्रयोऽपि क्लेशाः पञ्च प्राणिनामायतन्ते ।
यस्मिन्नेतैर्नो परामृष्ट ईशो यस्तं वन्दे विष्णुमोंकारवाच्यम् ॥ १ ॥
याज्ञवल्क्यमुनिभाषितं मुहुर्विश्वरूपविकटोक्तिविस्तृतम् ।
धर्मशास्त्रमृजुभिर्मिताक्षरैर्बालबोधविधये विविच्यते ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चित्प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास—यथा मनुप्रणीतं भृगुः । तस्य चायमाद्यश्लोकः—

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन् ।
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः ॥ १ ॥

योगिनां सनकादीनामीश्वरः श्रेष्ठस्तं **याज्ञवल्क्यं संपूज्य** मनोवाक्कायकर्मभिः पूजयित्वा **मुनयः** सामश्रवःप्रभृतयः श्रवणधारणयोग्या **अब्रुवन्** उक्तवन्तः **धर्मान्नो**ऽस्मभ्यं **ब्रूहीति** । कथम्? **अशेषतः** कार्त्स्न्येन । केषाम्? **वर्णाश्रमेतराणाम्**, वर्णा ब्राह्मणादयः, आश्रमा ब्रह्मचारिप्रभृतयः, इतरेऽनुलोमप्रतिलोमजाता मूर्धावसिक्तादयः । 'इतर'शब्दस्य 'द्वन्द्वे च' (पा. १।१।३१) इति सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । अत्र च 'धर्म'शब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः । तद्यथा—

वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः, निमित्तधर्मः, साधारणधर्मश्चेति। तत्र वर्णधर्मो ब्राह्मणो नित्यं मद्यं वर्जयेदित्यादिः[1]। आश्रमधर्मोऽग्नीन्धनभैक्षचर्यादिः। वर्णाश्रमधर्मः पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्येत्येवमादिः। गुणधर्मः शास्त्रीयाभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापरिपालनादिः। निमित्तधर्मो विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम्। साधारणधर्मोऽहिंसादिः। 'न हिंस्यात्सर्वा[2] भूतानि[1]'इत्याचण्डालं साधारणो धर्मः। 'शौचाचा[3]रांश्च शिक्षयेत्'इत्याचार्यकरणविधिप्रयुक्तत्वाद्धर्मशास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनादिकथनं नातीवोपयुज्यते। तत्र चायं क्रमः—प्रागुपनयनात्कामचारकामवादकामभक्षाः। ऊर्ध्वमुपनयनात्प्राग्वेदाध्ययनोपक्रमाद्धर्मशास्त्राध्ययनं, ततो धर्मशास्त्रविहितयमनियमोपेतस्य वेदाध्ययनं, ततस्तदर्थजिज्ञासा, ततस्तदर्थानुष्ठानमिति। तत्र यद्यपि धर्मार्थकाममोक्षाः शास्त्रेणानेन प्रतिपाद्यन्ते, तथापि धर्मस्य प्राधान्याद्धर्मग्रहणम्। प्राधान्यं च धर्ममूलत्वादितरेषाम्। नच वक्तव्यं धर्ममूलोऽर्थोऽर्थमूलो धर्म इत्यविशेष इति। यतोऽर्थमन्तरेणापि जपतपस्तीर्थयात्रादिना धर्मनिष्पत्तिः, अर्थलेशोऽपि न धर्ममन्तरेणेति। एवं काममोक्षावपीति ॥ १ ॥

योगिराज याज्ञवल्क्य की पूजा (सत्कार) कर मुनियों ने कहा– वर्णों, आश्रमों तथा अन्यों (अनुलोम तथा प्रतिलोम जनों तथा मूर्धावसिक्त (राजा) आदि) के धर्मों को संपूर्ण रूप से कहिए ॥ १ ॥

एवं पृष्टः किमुवाचेत्याह—

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्।
यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥ २ ॥

मिथिलानाम नगरी तत्र स्थितः स याज्ञवल्क्यो योगीश्वरः क्षणं ध्यात्वा किंचित्कालं मनः समाधाय एते श्रवणाधिकारिणो विनयेन पृच्छन्तीति युक्तमेतेभ्यो वक्तुमित्युक्तवान्मुनीन्। किम्? 'यस्मिन्देशे मृगः कृ[2]ष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत'– इति। कृष्णसारो मृगो यस्मिन्देशे स्वच्छन्दं विहरति तस्मिन्देशे वक्ष्यमाणलक्षणा धर्मा अनुष्ठेया नान्यत्रेत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

मिथिला (जनकपुर) में स्थित उन योगिराज ने क्षणमात्र ध्यान कर मुनियों से कहा– 'जिस देश में कृष्णमृग (चरता) है उस देश में (व्यवहृत) धर्मों को (आप लोग) जानें (सुनें) ॥ २ ॥

'शौचाचारांश्च शिक्षयेत्'इत्याचार्यस्य धर्मशास्त्राध्यापनविधिः। शिष्येण तदध्ययनं कर्तव्यमिति कुतोऽवगम्यत इत्यत आह—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ ३ ॥

पुराणं ब्राह्मादि, **न्यायस्तर्कविद्या, मीमांसा** वेदवाक्यविचारः, **धर्मशास्त्रं** मानवादि, **अङ्गानि** व्याकरणादीनि षट्, एतैरुपेताश्चत्वारो **वेदाः,** **विद्याः** पुरुषार्थसाधनानि, तासां **स्थानानि** च चतुर्दश, **धर्मस्य च चतुर्दश स्थानानि** हेतवः। एतानि च त्रैवर्णिकैरध्येतव्यानि। तदन्तर्भूतत्वाद्धर्मशास्त्रमप्यध्येतव्यम्। तत्रैतानि[2] ब्राह्मणेन विद्याप्राप्तये धर्मानुष्ठानाय चाधिगन्तव्यानि। क्षत्रियवैश्याभ्यां धर्मानुष्ठानाय। तथा च **शङ्खेन** विद्यास्थानान्युपक्रम्योक्तम्—'एतानि ब्राह्मणोऽधिकुरुते स च वृत्तिं दर्शयतीतरेषाम्' इति। मनुरपि द्विजातीनां धर्मशास्त्राध्ययनेऽधिकारः, ब्राह्मणस्य प्रवचने नान्यस्येति दर्शयति (२।१६) 'निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्ज्ञेयो नान्यस्य कर्हिचित्[3]॥ विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः। शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित्॥' इति ॥ ३ ॥

पुराण (ब्रह्म आदि), न्यायशास्त्र (तर्कविद्या), मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा अङ्गों (व्याकरण आदि छः) से युक्त (चारों) वेद-- ये चौदह (पुरुषार्थसाधक) विद्याओं तथा धर्म के स्थान (हेतु) हैं ॥ ३ ॥

अस्तु धर्मशास्त्रमध्येतव्यं, याज्ञवल्क्यप्रणीतस्यास्य शास्त्रस्य किमायातमित्यत आह—

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥ ४ ॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥ ५ ॥

'उशनः[2]'शब्दपर्यन्तो द्वन्द्वैकवद्भावः। याज्ञवल्क्यप्रणीतमिदं धर्मशास्त्रमध्येतव्यमित्यभिप्रायः। नेयं[3] परिसंख्या[4], किंतु प्रदर्शनार्थमेतत्। अतो बौधायनादेरपि धर्मशास्त्रत्वमविरुद्धम्। एतेषां प्रत्येकं प्रामाण्येऽपि साकाङ्क्षाणामाकाङ्क्षापरिपूरणमन्यतः क्रियते। विरोधे विकल्पः ॥ ४ ॥ ५ ॥

मनु, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना (शुक्र), अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ– ये धर्मशास्त्रों के प्रणेता हैं ॥ ४-५ ॥

इदानीं धर्मस्य कारकहेतूनाह—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्।
पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम् ॥ ६ ॥

देशो 'यस्मिन्देशे मृगः कृष्णः' (१।२) इत्युक्तलक्षणः, **कालः** संक्रान्त्यादिः, **उपायः** शास्त्रोक्तेतिकर्तव्यताकलापः, **द्रव्यं** प्रतिग्रहादिलब्धं गवादि, **श्रद्धा** आस्तिक्यबुद्धिः, **तदन्वितं** यथा भवति तथा । **पात्रं** 'न विद्यया केवलया' (आचार. १।२००) इत्येवमादिवक्ष्यमाणलक्षणम् । **प्रदीयते** यथा न प्रत्यावर्तेत तथा परस्वत्वापत्त्यवसानं त्यज्यते । एतद्धर्मस्योत्पादकम् । किमेतावदेव नेत्याह— **सकलमिति** । अन्यदपि शास्त्रोक्तं जातिगुणहोमयागादि तत्सकलं **धर्मस्य कारणं** जातिगुणद्रव्यक्रियाभावार्थात्मकं चतुर्विधं धर्मस्य कारणमित्युक्तं भवति । तच्च समस्तं व्यस्तं वा यथाशास्त्रं द्रष्टव्यम् । श्रद्धा सर्वत्रानुवर्तत एव ॥ ६ ॥

(पवित्र) देश (जिस देश में कृष्णमृग चरते हैं' इत्यादि १/२) में, काल (उपयुक्त संक्रान्त्यादि) में विधिपूर्वक जो श्रद्धायुक्त द्रव्य (स्वर्णादि) (उचित) पात्र को दिया जाता है वह समस्त धर्म का लक्षण है ॥ ६ ॥

इदानीं धर्मस्य ज्ञापकहेतूनाह—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ ७ ॥

श्रुतिर्वेदः, **स्मृतिर्धर्मशास्त्रम्**, तथा च मनुः (२।१०) 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' इति । **सदाचारः** सतां शिष्टानामाचारोऽनुष्ठानम्, **स्वस्य चात्मनः प्रियं**, वैकल्पिके विषये यथा–'गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे' (आचार. २।१४) इत्यादावात्मेच्छैव नियामिका । **सम्यक्संकल्पाज्जातः कामः** शास्त्रविरुद्धो यथा—'मया भोजनव्यतिरेकेणोदकं न पातव्यम्' इति । एते **धर्मस्य मूलं** प्रमाणम् । एतेषां विरोधे पूर्वपूर्वस्य बलीयस्त्वम् ॥ ७ ॥

श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र), सदाचार (शिष्ट पुरुषों का आचरण), अपने आत्मा को प्रिय कार्य तथा उचित संकल्प से उत्पन्न काम (इच्छा)– यह धर्म का मूल माना गया है ॥ ७ ॥

देशादिकारकहेतूनामपवादमाह—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥

इज्यादीनां कर्मणामयमेव परमो धर्मः यद्योगेन बाह्यचित्तवृत्तिनिरोधेनात्मनो **दर्शनं** याथातथ्यज्ञानम् । योगेनात्मज्ञाने देशादिनियमो नास्तीत्यर्थः । तदुक्तं 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्' (ब्र. सू. ४।१।६।१०) इति ॥ ८ ॥

यजन, सदाचार, दम (इन्द्रियसंयम), अहिंसा, दान और वेदाध्ययन– कर्मों में यही श्रेष्ठ धर्म है कि योग द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो ॥ ८ ॥

कारकहेतुषु ज्ञापकहेतुषु वा संदेहे तु निर्णयहेतुमाह—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा ।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥९॥

चत्वारो ब्राह्मणाः वेद[६]धर्मशास्त्रज्ञाः पर्षत् । तिस्रो विद्या अधीयन्त इति त्रैविद्याः[४], तेषां समूहस्त्रैविद्यम् । धर्मशास्त्रज्ञत्वमत्राप्यनुवर्तते, तद्वा पर्षत् । सा पूर्वोक्ता पर्षत् यं ब्रूते स धर्मः । अध्यात्मज्ञानेषु निपुणतमो धर्मशास्त्रज्ञश्च[१] एकोऽपि वा यं ब्रूते सोऽपि धर्मः[२] ॥ ९ ॥

(चारों) वेद तथा धर्मशास्त्र के ज्ञाता चार पुरुषों या तीनों विद्याओं (ऋग्, यजुः, साम) के ज्ञाता तीन पुरुषों की जो परिषद् होती है वह जिस बात को कहे वह धर्म है अथवा अध्यात्म-विद्या में निपुणतम एक व्यक्ति भी जो कहे वह धर्म है ॥ ९ ॥

टिप्पणी– मनु ने परिषत् की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की है–

‘ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये’ ॥

इत्युपोद्घातप्रकरणम् ।

अथ ब्रह्मचारिप्रकरणम् १

एतैर्नवभिः श्लोकैः सकलशास्त्रोपोद्घातमुक्त्वा इदानीं वर्णादीनां धर्मान्वक्तुं प्रथमं तावद्वर्णानाह—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः ।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः ॥१०॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारो वर्णा वक्ष्यमाणलक्षणास्तेषामाद्यास्त्रयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या **द्विजाः**,–द्विर्जायन्त इति द्विजाः, **तेषां** द्विजानां **वै** एव न[३] शूद्रस्य[१], एतेन शूद्रस्यामन्त्रकाः क्रियाः इत्युक्तं भवति; ‘शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः’ इति यमोक्तेः । **निषेकाद्याः** निषेको गर्भाधानमाद्यो यासां तास्तथोक्ताः । **श्मशानं** पितृवनं तत्संबन्धि कर्म अन्तो यासां ताः **क्रिया मन्त्रैर्भवन्ति** ॥ १० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र– ये (चार) वर्ण हैं । इनमें प्रथम तीन द्विज हैं । इनकी निषेक (गर्भाधान) से अन्त्येष्टि तक सभी क्रियायें (संस्कार) (वैदिक) मन्त्रों से होती हैं ॥ १० ॥

इदानीं ताः क्रिया अनुक्रामति—

गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा ।
षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मास्येते जातकर्म च ॥ ११ ॥
अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम् ॥ १२ ॥

गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम् । एवं वक्ष्यमाणान्यपि । तद्गर्भाधान-**मृतौ** ऋतुकाले वक्ष्यमाणलक्षणे । **पुंसवना**ख्यं कर्म गर्भचलनात्पूर्वम् । **षष्ठेऽष्टमे** वा मासि **सीमन्तोन्नयनम्** । एते च द्वे पुंसवन-सीमन्तोन्नयने क्षेत्रसंस्कारकर्मत्वात्सकृदेव कार्ये, न प्रतिगर्भम् । यथाह **देवलः**—'सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता । यं यं गर्भं प्रसूयेत स सर्वः संस्कृतो भवेत्' इति । यद्वा,–एते आ इते आगते गर्भकोशाज्जाते कुमारे **जातकर्म** । **एकादशेऽहनि नाम** । तच्च पितामहमातामहादिसंबद्धं कुलदेवतासंबद्धं वा । यथाह **शङ्खः** (२।१४)—'कुलदेवतासंबद्धं पिता नाम कुर्यात्' इति । **चतुर्थे मासि निष्क्रमण**लक्षणं सूर्यावेक्षणं कर्म । **षष्ठे मास्यन्नप्राशनं** कर्म । **चूडाकरणं** तु **यथाकुलं कार्य**मिति प्रत्येकं संबध्यते ॥ ११–१२ ॥

गर्भाधान-संस्कार ऋतुकाल में, पुंसवन गर्भसंचलन से पूर्व, छठे या आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन तथा बालक के उत्पन्न होने पर जातकर्म संस्कार होता है । जन्म के ग्यारहवें दिन नाम-संस्कार, चतुर्थ महीने में निष्क्रमण, छठे में अन्नप्राशन और कुल-नियमानुसार (समय में) चूडाकरण करना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

टिप्पणी– धर्मशास्त्रकारों के अनुसार सीमन्तोन्नयन तथा पुंसवन ये दोनों क्षेत्र संस्कार हैं अतः इन्हें एक बार ही करना है प्रत्येक गर्भ में नहीं । इस विषय में देवल का मत द्रष्टव्य है–

'सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता ।
यं यं गर्भं प्रसूयेत स सर्वः संस्कृतो भवेत्' ॥

एतेषां नित्यत्वेऽप्यानुषङ्गिकं फलमाह—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।

एवमुक्तेन प्रकारेण गर्भाधानादिभिः संस्कारकर्मभिः कृतैरे**नः** पापं **शमं याति** । किंभूतम् ? **बीजगर्भसमुद्भवं** शुक्रशोणितसंबद्धं गात्रव्याधिसंक्रान्तिनिमित्तं वा, नतु पतितोत्पन्नत्वादि ॥—

स्त्रीणां विशेषमाह—

तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः ॥ १३ ॥

एता जातकर्मादिकाः **क्रियाः स्त्रीणां तूष्णीं** विनैव मन्त्रैर्यथाकालं कार्याः । **विवाहः** पुनः **समन्त्रकः** कार्यः ॥ १३ ॥

इस प्रकार से (इन संस्कारों के द्वारा) बीज (शुक्र) एवं गर्भ से संबद्ध पाप शान्त होता है । ये जातकर्मादि संस्कार स्त्रियों के लिये चुपचाप (बिना मन्त्र के) होते हैं और विवाह-संस्कार समन्त्रक होता है ॥ १३ ॥

उपनयनकालमाह—

गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ॥ १४ ॥

गर्भाधानमादिं[1] कृत्वा जननं **वाष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं** उपनयनमेवोपनायनम् । स्वार्थे अण् । वृत्तानुसारात्[2], छन्दोभङ्गात् । आर्षं वा दीर्घत्वम् । अत्रेच्छया विकल्पः । **राज्ञामेकादशे**[1] । **विशां** वैश्यानां **सैके** एकादशे । द्वादशे इत्यर्थः । 'गर्भ'ग्रहणं सर्वत्रानुवर्तते । समासे गुणभूतस्यापि 'गर्भ'शब्दस्य बुद्ध्या विभज्योभयत्राप्यनुवर्तनं कार्यम् । 'गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाद्धि द्वादशे विशः' (शंख. २।७) इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्[3] । यथा अथ शब्दानुशासनं[4], केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानामिति । अत्रापि कार्यमित्यनुवर्तते । **कुलस्थित्या केचिदुपनयनमिच्छन्ति** ॥ १४ ॥

गर्भ के आठवें या (जन्म से) आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन-संस्कार होता है और वह कुल-नियमानुसार क्षत्रियों का ग्यारहवें और वैश्यों का बारहवें वर्ष में होता है ॥ १४ ॥

गुरुधर्मानाह—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥ १५ ॥

स्वगृह्योक्तविधिनोपनीय **गुरुः शिष्यं**[5] **महाव्याहृतिपूर्वकं**[6] **वेदमध्यापयेत्** । महाव्याहृतयश्च भूरादिसत्यान्ताः सप्त । पञ्च वा गौतमाभिप्रायेण । किंच **शौचाचारांश्च** वक्ष्यमाणलक्षणान् **शिक्षयेत्** । 'उपनीय शौचाचारांश्च शिक्षयेत्' इत्यनेन प्रागुपनयनात्कामचारो दर्शितो वर्णधर्मान्वर्जयित्वा । स्त्रीणामप्येतत्समानं विवाहादर्वाक्; उपनयनस्थानीयत्वाद्विवाहस्य ॥ १५ ॥

गुरु शिष्य का उपनयन-संस्कार संपन्न कर उसे महाव्याहृतिपूर्वक वेद पढ़ावे तथा उसे शौच एवं आचारों को सिखावे ॥ १५ ॥

टिप्पणी– ॐ भूः भुवः स्वः इत्यादि सात या पाँच व्याहृतियाँ बतायी गई हैं ।

शौचाचारानाह—

दिवासंध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः ।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥ १६ ॥

कर्णस्थं ब्रह्मसूत्रं यस्य स तथोक्तः। कर्णश्च दक्षिणः, 'पवित्रं दक्षिणे कर्णे कृत्वा विण्मूत्रमुत्सृजेत्' इति लिङ्गात्। [2]असावहनि संध्ययोश्च **उदङ्मुखो मूत्रपुरीषे कुर्यात्।** चकाराद्भस्मादिरहिते देशे। **रात्रौ तु दक्षिणामुखः** १६

दिन में और दोनों संध्याओं में वह (ब्रह्मचारी) कान पर ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) करके उत्तर दिशा की ओर मुख कर और रात्रि में दक्षिण मुखकर मल-मूत्र का त्याग करे ॥ १६ ॥

गृहीतशिश्नश्चोत्थाय मृद्भिरभ्युद्धृतैर्जलैः।
गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः ॥ १७ ॥

किंच, अनन्तरं **शिश्नं गृहीत्वोत्थायोद्धृताभिरद्भिर्**वक्ष्यमाणलक्षणाभि**र्मृद्भिश्च** [3]**गन्धलेपयोः क्षयकरं शौचं कुर्यात्। अतन्द्रितो**ऽनलसः। उद्धृताभिरद्भिरिति जलान्तःशौचनिषेधः। अत्र **'गन्धलेपक्षयकरम्'** इति सर्वाश्रमिणां साधारणमिदं [1]**शौचम्।** मृत्संख्यानियमस्त्वदृष्टार्थः ॥ १७ ॥

(मल-मूत्र त्यागकर) शिश्न (लिङ्ग) को पकड़कर उठ कर रखे गये जल और मिट्टी से आलस्यरहित होकर मल के गन्ध और लेप को नष्ट करने वाला शौच (शुद्धि) करे ॥ १७ ॥

अन्तर्जानु शुचौ देश उपविष्ट उदङ्मुखः।
प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ॥ १८ ॥

शुचौ अशुचिद्रव्यासंस्पृष्टे। **देश** [3]इत्युपानच्छयनासनादिनिषेधः। **उपविष्टो** न स्थितः शयानः प्रह्वो गच्छन्वा। **उदङ्मुखः प्राङ्मुखो** वेति दिगन्तरनिवृत्तिः। 'शुचौ देशे' इत्येतस्मात्पादप्रक्षालनप्राप्तिः। **ब्राह्मेण तीर्थेन** वक्ष्यमाणलक्षणेन **द्विजो** न शूद्रादिः। **नित्यं** सर्वकालमाश्रमान्तरगतोऽपि। **उपस्पृशेदा**चामेत्। कथम्? [4]अन्तर्जानु जानुनोर्मध्ये हस्तौ कृत्वा दक्षिणेन हस्तेनेति ॥ १८ ॥

ब्राह्मण प्रतिदिन पवित्र स्थान पर उत्तर या पूर्वाभिमुख बैठ कर दोनों जानुओं के बीच हाथ करके आचमन करे ॥ १८ ॥

प्राजापत्यादितीर्थान्याह—

कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च।
प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥ १९ ॥

कनिष्ठायास्तर्जन्या अङ्गुष्ठस्य च मूलानि करस्याग्रं च प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थानि यथाक्रमं वेदितव्यानि ॥ १९ ॥

कनिष्ठा, देशिनी (तर्जनी), अङ्गुष्ठ और हाथ के अग्रभाग को (क्रमशः) प्रजापतितीर्थ, पितृतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ और देवतीर्थ हैं ॥ १९ ॥

आचमनप्रकारः—

त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्य खान्यद्भिः समुपस्पृशेत् ।
अद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभिर्हीनाभिः फेनबुद्बुदैः ॥ २० ॥

वारत्रयमपः पीत्वा मुखमङ्गुष्ठमूलेन **द्विरुन्मृज्य खानि** छिद्राणि ऊर्ध्वंकायगतानि घ्राणादीनि **अद्भिरुपस्पृशेत्** । **अद्भिः** द्रव्यान्तरासंसृष्टाभिः । पुनरद्भिरित्यब्ग्रहणं प्रतिच्छिद्रमुदकस्पर्शनार्थम् । स्मृत्यन्तरात्—'अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं चैव मुखं स्पृशेत् । अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च चक्षुःश्रोत्रं पुनः पुनः ॥ कनिष्ठाङ्गुष्ठयोर्नाभिं हृदयं तु तलेन वै । सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद्बाहू चाग्रेण संस्पृशेत् ॥' इति । पुनस्ता एव विशिनष्टि—**प्रकृतिस्थाभिः** गन्धरूपरसस्पर्शान्तरमप्राप्ताभिः । **फेनबुद्बुदरहिताभिः** । **तु** शब्दादूर्ध्वधारागतानां शूद्राद्यावर्जितानां च निषेधः ॥ २० ॥

तीन बार जल का आचमन कर (अंगुष्ठ के मूल से) दो बार मुँह पोछकर नाक, कान, आँख और मुँह का जल से स्पर्श करे। वह जल निर्मल तथा बुलबुलों से रहित होना चाहिये ॥ २० ॥

हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु यथासंख्यं द्विजातयः ।
शुध्येरन्स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ २१ ॥

हृत्कण्ठतालुगाभिरद्भिर्यथाक्रमेण द्विजातयः शुध्यन्ति । स्त्री च शूद्रश्च अन्ततः अन्तर्गतेन **तालुना स्पृष्टाभिरपि । 'सकृत्'** इति वैश्याद्विशेषः । **च**शब्दादनुपनीतोऽपि ॥ २१ ॥

द्विजातिगण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) क्रमशः हृदय, कण्ठ और तालु तक जल जाने से शुद्ध होते हैं । स्त्री और शूद्र तो एक बार जल के अन्तःस्पृष्ट (तालु में जाने पर) शुद्ध होते हैं ॥ २१ ॥

टिप्पणी– यहाँ एक 'च' से टीकाकार स्त्री और शूद्र के अतिरिक्त अनुपनीत भी अर्थ ग्रहण करते हैं ।

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः ।
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः ॥ २२ ॥

प्रातः**स्नानं** यथाशास्त्र**मब्दैवतैर्मन्त्रैः** 'आपोहिष्ठा' इत्येवमादिभि**र्मार्जनम्** । **प्राणसंयमः** प्राणायामो वक्ष्यमाणलक्षणः । ततः **सूर्यस्योपस्थानं** सौरमन्त्रेण **गायत्र्याः** । 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्याद्यायाः प्रतिदिवसं **जपः** कार्यः । 'कार्य'-शब्दो यथालिङ्गं प्रत्येकमभिसंबध्यते ॥ २२ ॥

प्रतिदिन (प्रातः) स्नान, अब्दैवत मन्त्र, ('आपो हि ष्ठा' इत्यादि) से मार्जन, प्राणसंयम (प्राणायाम), सूर्य का उपस्थान और गायत्री का जप करना चाहिये ॥ २२ ॥

प्राणायामविचारः—

गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥ २३ ॥

गायत्रीं पूर्वोक्ताम्, 'आपोज्योतिः' इत्यादिना **शिरसा** संयुक्तां **उक्तव्याहृतिपूर्विकां** प्रतिव्याहृति प्रणवेन **संयुक्तां** ॐभूः ॐभुवः ॐस्वरिति **त्रीन्वारान्**मुखनासिकासंचारिवायुं निरुन्धन् मनसा जपेदित्ययं सर्वत्र प्राणायामः ॥२३॥

शिरो मंत्र ('आपो ज्योतिः' इत्यादि) तथा प्रणव से युक्त प्रत्येक व्याहृति को पूर्व में संयुक्त कर तीन बार गायत्री का मुख और नासिका के संचार-वायु को रोककर जप प्राणायाम है ॥ २३ ॥

सावित्रीजपप्रकारः—

प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य तृचेनाब्दैवतेन तु ।
जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात् ॥ २४ ॥
संध्यां प्राक्प्रातरेवं हि तिष्ठेदा सूर्यदर्शनात् ।

प्राणायामं पूर्वोक्तं **कृत्वा तृचेनाब्दैवतेन** पूर्वोक्तेनात्मानमद्भिः **संप्रोक्ष्य सावित्रीं जपन् प्रत्यक्संध्यामासीत** । अर्थात् 'प्रत्यङ्मुख' इति लभ्यते । **आ तारकोदयात्** तारकोदयावधि । **प्राक्संध्यां** प्रातःसमये **एवं** पूर्वोक्तविधिमाचरन् प्राङ्मुखः सूर्योदयावधि तिष्ठेत् । अहोरात्रयोः संधौ या क्रिया विधीयते सा **संध्या** । तत्र अहः संपूर्णादित्यमण्डलदर्शनयोग्यः कालः, तद्विपरीता रात्रिः । यस्मिन्काले खण्डमण्डलस्योपलब्धिः स संधिः ॥ २४ ॥

(सायं संध्या को) पश्चिमाभिमुख बैठकर प्राणायाम कर अब्दैव तृचा ('आपो हि ष्ठा' इत्यादि तीन मंत्रों) से जल शिर पर छिड़क कर तारागण के उदय तक गायत्री मंत्र का जप करे । इसी प्रकार प्रातःकाल पूर्वाभिमुख बैठकर सूर्यदर्शन तक जप करे ॥ २४ ॥

अग्निकार्यं ततः कुर्यात्संध्ययोरुभयोरपि ॥ २५ ॥

ततः संध्योपासनानन्तरं द्वयोः **संध्ययोरग्निकार्यं** अग्नौ कार्यं समित्प्रक्षेपादि यत्तत्**कुर्यात्** स्वगृह्योक्तेन विधिना ॥ २५ ॥

तदनन्तर दोनों संध्याओं में अग्निकार्य (अग्निहोत्र) करे ॥ २५ ॥

टिप्पणी– अहोरात्र की संधि को संध्या कहते हैं, अतः इस समय में की जाने वाली क्रिया को भी संध्या कहते हैं । जिस समय संपूर्ण आदित्य-मण्डल का दर्शन हो वह दिन है । जब वह अस्त हो जाय तो रात्रि हुई । जिस समय खण्ड सूर्यमण्डल

दर्शनीय हो वह संध्या है । यहाँ 'जपन्नासीत्' का यह भाव है कि बैठकर जप करे । यहाँ यह भी विवक्षित है कि हवन-कार्य भी संध्या के सद्यः बाद करे ।

ततोऽभिवादयेद्वृद्धानसावहमिति ब्रुवन् ।

तदनन्तरं **वृद्धान्** गुरुप्रभृतीन**भिवादयेत्** । कथम् ? **असौ** देवदत्तशर्मा**ऽहमिति** स्वं नाम **कीर्तयन्** ॥—

गुरुं चैवाप्युपासीत स्वाध्यायार्थं समाहितः ॥ २६ ॥
आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेत् ।
हितं तस्याचरेन्नित्यं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २७ ॥

तथा **गुरुं** वक्ष्यमाणलक्षण**मुपासीत** तत्परिचर्यापरस्तदधीनस्तिष्ठेत् । **स्वाध्यायार्थं**मध्ययनसिद्धये **समाहितो**ऽविक्षिप्तचित्तो भवेत् । **आहूतश्चाप्यधीयीत** गुर्वाहूत एवाधीयीत, न स्वयं गुरुं प्रेरयेत् । यच्च **लब्धं** तत्सर्वं गुरवे **निवेदयेत्** । तथा **तस्य** गुरो**र्हित**मा**चरेत्** । **नित्यं** सदा । **मनोवाक्कायकर्मभिः** न प्रतिकूलं कुर्यात् । अपिशब्दाद्गुरुदर्शने गौतमोक्तं कण्ठप्रावृतादि वर्जयेत् ॥ २६–२७ ॥

तदनन्तर वृद्धों का 'असौ अहम्' (यह मैं) कहता हुआ अभिवादन करे ॥२५$\frac{१}{२}$ ॥

अविक्षिप्त चित्त से स्वाध्याय (वेदाध्ययन) के निमित्त गुरु की उपासना करे (उनके अधीन होकर उनकी परिचर्या करे) । गुरु द्वारा (अध्ययन के लिये) बुलाये जाने पर ही (अर्थात् स्वयं प्रेरित करके नहीं) पढ़े तथा जो कुछ प्राप्त हो उसे उन्हें निवेदन कर दे । मन, वाणी और शरीर की क्रियाओं से उनका सदा हित करे अर्थात् प्रतिकूल आचरण न करे ॥ २६-२७ ॥

टिप्पणी– वृद्ध कौन है ? इस विषय में मनु का कथन है कि–

'दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणामल्पेनापि स्वयोनिषु' ॥

अभिवादन-विधि के विषय में मनु का वचन इस प्रकार है–

'व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥
अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥
नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥
भोः शब्दः कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने' ।

इस प्रकार वह अभिवादन करते समय कहेगा–

'अभिवादये चैत्रनामाहमस्मि भोः' ।

अभिवादन करने के बाद ज्येष्ठ द्वारा प्रत्यभिवादन की विधि बताते हुये मनु ने कहा है–

'आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः' ॥

यहाँ यह भी स्मर्तव्य है कि गुरु और ज्येष्ठ को पृथक् किया गया है । यहाँ उपासना भी सामान्य अभिवादन से पृथक् है, क्योंकि गुरु को प्रणाम तो मनु ने उसके पूर्व ही निर्दिष्ट कर दिया है–

'लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव वा ।
आददीत यतो ज्ञानं तत्पूर्वमभिवादयेत्' ॥

अध्याप्यानाह—

कृतज्ञाद्रोहिमेधाविशुचिकल्यानसूयकाः ।
अध्याप्या धर्मतः साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदाः ॥ २८ ॥

कृतमुपकारं न विस्मरतीति कृतज्ञः । **अद्रोही** दयावान् । **मेधावी** ग्रन्थग्रहणधारणशक्तः । **शुचिर्वाह्याभ्यन्तरशौचवान्** । **कल्यः** आधिव्याधिरहितः । **अनसूयको** दोषानाविष्करणेन गुणाविष्करणशीलः । **साधुः** वृत्तवान् । **शक्तः** शुश्रूषायाम् । **आप्तो** वन्धुः । **ज्ञानदो** विद्याप्रदः । **वित्तदो**ऽर्पणपूर्वकमर्थप्रदाता । एते गुणाः समस्ता व्यस्ताश्च यथासंभवं द्रष्टव्याः । एते च **धर्मतः** शास्त्रानुसारेण **अध्याप्याः** ॥ २८ ॥

धर्म (शास्त्र) के अनुसार ये ही अध्यापन योग्य (शिष्य) है– कृतज्ञ (उपकार का स्मरण करने वाला), द्रोहरहित (अपरार्क के अनुसार दयावान), मेधावी, पवित्र, कल्य (नीरोग = आधि-व्याधिरहित), अनसूयक (द्वेषान्वेषण से विरत), सदाचारी (साधु), समर्थ (शास्त्र-श्रवण में उपयुक्त), आप्त (बन्धु, छल न करने वाला), ज्ञान देने वाला तथा अर्थ देने वाला ॥ २८ ॥

दण्डादिधारणमाह—

दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत् ।

तथा स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं पालाशादि**दण्डं**, **अजिनं** च कार्ष्णादि, **उपवीतं** कार्पासादिनिर्मितं, **मेखलां च** मुञ्जादि, ब्राह्मणादिर्ब्रह्मचारी **धारयेत्** ॥—

(विद्यार्थी-ब्रह्मचारी) दण्ड, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत और मेखला को धारण करे ॥ २८$\frac{१}{२}$ ॥

भैक्षचर्याप्रकारः—

ब्राह्मणेषु चरेद्भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये ॥ २९ ॥

आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षिता ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भैक्षचर्या यथाक्रमम् ॥ ३० ॥

पूर्वोक्तदण्डादियुक्तो ब्रह्मचारी **ब्राह्मणेष्वनिन्द्येषु** अभिशस्तादिव्यतिरिक्तेषु स्वकर्मनिरतेषु **भैक्षं चरेत्। आत्मवृत्तये** आत्मनो जीवनाय न परार्थं आचार्यतद्भार्यापुत्रव्यतिरेकेण । निवेद्य गुरवे तदनुज्ञातो भुञ्जीत। 'तदभावे तत्पुत्रादा'इति नियमात्। अत्र च 'ब्राह्मण'ग्रहणं संभवे सति नियमार्थम्। यत्तु 'सार्ववर्णिकं भैक्षचरणम्' इति, तत्त्रैवर्णिकविषयम्। यच्च 'चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्षम्' इति, तदापद्विषयम्। कथं भैक्षचर्या कार्या? **आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षिता** 'भवति भिक्षां देहि', 'भिक्षां भवति देहि', 'भिक्षां देहि भवति 'भिक्षां भवति देहि' इत्येवं वर्णक्रमेण भैक्षचर्या कार्या ॥ २९–३० ॥

वह अपने जीवनयापन के लिये प्रशस्त ब्राह्मणों के घर में भिक्षा माँगे । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमानुसार आरम्भ, मध्य और अन्त में भवत् शब्द का प्रयोग करे अर्थात् क्रमानुसार भवति भिक्षां देहि, भिक्षां भवति देहि तथा भिक्षां देहि भवति का प्रयोग करे ॥ २९-३० ॥

टिप्पणी– दण्ड किस वृक्ष का हो इस विषय में मनु का कथन है–

'ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः' ॥

दण्ड की लम्बाई के विषय में मनु का मत है–

'केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः' ॥

मृगचर्म के विषय में बृहस्पति का मत है–

'कृष्णाजिनं ब्राह्मणस्य रौरवं क्षत्रियस्य तु ।
वस्ताजिनं तु वैश्यस्य सर्वेषां वा गवाजिनम्' ॥

उपवीत के विषय में मनु का इस प्रकार मत है–

'कार्पासमुपवीतं स्यात् विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसूत्रजम्' ॥

मेखला के विषय में मनु का निर्देश है–

'मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी' ॥

भोजनप्रकारः—

कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुज्ञया ।
आपोशानक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तेन विधिना भिक्षामाहृत्य गुरवे निवेद्य तदनुज्ञया कृताग्निकार्यो वाग्यतो मौनी अन्नं सत्कृत्य संपूज्य अकुत्सयन्ननिन्दन् आपोशानक्रियां 'अमृतोपस्तरणमसि' इत्यादिकां पूर्वं कृत्वा भुञ्जीत। अत्र पुनः अग्निकार्यग्रहणं संध्याकाले कथंचिदकृताग्निकार्यस्य कालान्तरविधानार्थं न पुनस्तृतीयप्राप्त्यर्थम् ३१

(पूर्वोक्त विधि से भिक्षा लाकर तथा गुरु को निवेदन कर) गुरु की आज्ञा लेकर, अग्नि-कार्य (भिक्षान्न से हवन) कर आपोशान-क्रिया करके अन्न का सम्मान कर तथा उसकी निन्दा न करते हुए वाणी पर संयम कर (मौन होकर) भोजन करे ॥ ३१ ॥

टिप्पणी– आपोशान-क्रिया में भोजन से पूर्व तथा भोजन के बाद एक-एक मंत्र का उच्चारण किया जाता है । भोजन से पूर्व का मंत्र है– 'अमृतस्योपस्तरणमसि स्वाहा' । भोजन के बाद का मन्त्र है– 'अमृतापिधानमसि स्वाहा' । आपोशानम् का अर्थ हुआ– भोजन के लिये आस्तरण तथा अपिधान बनाने की क्रिया ।

मनु ने अन्न की पूजा की प्रशंसा इस प्रकार की है–

'पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु यद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्' ॥

आदित्यपुराण में अन्न के नमस्कार की विधि इस प्रकार दी गई है–

'अन्नं दृष्ट्वा प्रशस्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत् ततः।
अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत्' ॥

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि।
ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मचर्ये स्थित एकान्नं नाद्यादनापदि व्याध्याद्यभावे। ब्राह्मणः पुनः श्राद्धेऽभ्यर्थितः सन् काममश्नीयात्। व्रतमपीडयन् मधुमांसपरिहारेण। अत्र 'ब्राह्मण'ग्रहणं क्षत्रियादेः श्राद्धभोजनव्युदासार्थम्। 'राजन्यवैश्ययोश्चैव नैतत्कर्म प्रचक्षते' इति स्मरणात् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मचारिव्रत में स्थित बिना (रोगादि) विपत्ति के एक ही व्यक्ति का अन्न न खावे । श्राद्ध में ब्राह्मण अपने व्रत को भङ्ग न करते हुए ऐसा (एकान्न भोजन) कर सकता है ॥ ३२ ॥

टिप्पणी– यहाँ ब्राह्मण पद का ग्रहण इसलिये किया गया है कि क्षत्रिय और वैश्य के लिये श्राद्ध-भोजन की विधि नहीं है–

'राजन्यवैश्ययोश्चैव नैतत् कर्म प्रचक्षते' ।

बिना व्रतभङ्ग किये का अभिप्राय है कि ब्रह्मचारी के लिये निषिद्ध मधु और मांस विरहित भोजन करे ।

अपरार्क 'ब्राह्मणः काममश्नीयात्' का अन्वय पूर्ववाक्य में भी करते हैं और कहते हैं कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी बिना विपत्ति में (अनापदि) भी एकान्न ग्रहण कर सकता है ।

मधुमांसादिवर्ज्यान्याह—

मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टशुक्तस्त्रीप्राणिहिंसनम् ।
भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

मधु क्षौद्रं, न मद्यम्; तस्य 'नित्यं मद्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्' इति निषेधात् । **मांसं** छागादेरपि । **अञ्जनं** घृतादिना गात्रस्य, कज्जलादिना चाक्ष्णोः । **उच्छिष्ट**मगुरोः । **शुक्तं** निष्ठुरवाक्यं, नान्नरसः; तस्याभक्ष्यप्रकरणे निषेधात् । **स्त्रिय**मुपभोगे । **प्राणिहिंसनं** जीववधः । **भास्कर**स्योदयास्तमयावलोकनम् । **अश्लील**मसत्यभाषणम् । **परिवादः** सदसद्रूपस्य परदोषस्य ख्यापनम् । **'आदि'**शब्दात् स्मृत्यन्तरोक्तं गन्धमाल्यादि गृह्यते । एतानि ब्रह्मचारी वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

मधु, मांस, (घृतादि से शरीर का तथा काजल से आँख का) अंजन, (गुरु के अतिरिक्त अन्य का) जूठा, कठोर वचन, स्त्री, प्राणिवध, (उदय तथा अस्त के समय) सूर्य को देखना, अश्लील (अवाच्य या असत्य) भाषण, परदोषान्वेषण इत्यादि का त्याग करे ॥ ३३ ॥

गुर्वादिलक्षणमाह—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।
उपनीय दद्द्वेदमाचार्यः स उदाहृतः ॥ ३४ ॥

योऽसौ गर्भाधानाद्या उपनयनपर्यन्ताः **क्रिया** यथाविधि **कृत्वा वेदमस्मै** ब्रह्मचारिणे **प्रयच्छति स गुरुः** । यः पुनरुपनयनमात्रं कृत्वा वेदं प्रयच्छति **स आचार्यः** ॥ ३४ ॥

जो (गर्भाधानादि उपनयनान्त संस्कार) सम्पन्न करके इसे (ब्रह्मचारी को) वेदज्ञान दे वह गुरु होता है और जो (केवल) उपनयन-संस्कार करके वेद (ज्ञान) दे वह आचार्य होता है ॥ ३४ ॥

टिप्पणी– उपर्युक्त सामान्य अर्थ केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारी पर ही अन्वित होता है, क्षत्रियादि पर नहीं । इतर वर्णों के लिये 'स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा' ही संगत बैठता है, क्योंकि इतर वर्णों को वेददानादि का अधिकार न होने से वेददान उनमें संगत नहीं । उनमें केवल आचार्यत्व भी संगत नहीं, क्योंकि उस स्थिति में पितादि का गुरुत्व ही लुप्त हो जायेगा । इसीलिये मनु गर्भाधानादि क्रिया को वेददान से पृथक् कर गुरुत्व प्रतिपादित करते हैं–

'निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते' ॥२/१४२

देवल ने गुरुवर्ग की सामान्य गणना इस प्रकार की है–

'उपाध्यायः पिता ज्येष्ठो भ्राता चैव महीपतिः ।
मातुलः श्वसुरस्त्राता मातामहपितामहौ ॥
वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवः स्मृताः ।
माता मातामही गुर्वी पितुर्मातुश्च सोदरा ॥
श्वश्रूः पितामही ज्येष्ठा धात्री च गुरवः स्त्रियः ।
इत्युक्तो गुरुवर्गोऽयं पितृतः मातृतः द्विधा' ॥

इनका मन, वाणी और कर्म से अनुवर्तन स्मृतिकारों को अभीष्ट है ।

याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त श्लोक में वेद शब्द से अन्य विद्याओं का अध्ययन भी अभीष्ट है । मनु की आचार्य की परिभाषा इस प्रकार है–

'उपनीय गुरुः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते' ॥२/६९

इसी को ध्यान में रखकर व्यास ने अर्थानुसंधानपूर्वक वेदपाठ का निर्देश किया है–

'नवेदपाठमात्रेण सन्तोषं कारयेद् द्विजः । पाठमात्रावसानस्तु पङ्के गौरिव सीदति' ॥

उपाध्यायर्त्विग्लक्षणम्—

एकदेशमुपाध्याय ऋत्विग्यज्ञकृदुच्यते ।
एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी ॥ ३५ ॥

वेदस्यैकदेशं मन्त्र-ब्राह्मणयोरेकं अङ्गानि वा योऽध्यापयति स **उपाध्यायः**। यः पुनः पाकयज्ञादिकं वृतः **करोति** स **ऋत्विक्**। **एते** च गुर्वाचार्योपाध्यायर्त्विजो **यथापूर्वं** यथाक्रमेण **मान्याः** पूज्याः । **एभ्यः** सर्वेभ्यो **माता गरीयसी** पूज्यतमा ॥ ३५ ॥

वेद के एक भाग (मन्त्र या ब्राह्मण या अङ्ग) का ज्ञान देने वाला उपाध्याय कहा जाता है और जो यज्ञ को (वरण करने पर) करता है वह ऋत्विक् कहा जाता है । ये (गुरु, आचार्य, उपाध्याय, ऋत्विक्) क्रमानुसार पूज्य हैं और माता इन सबसे श्रेष्ठ (पूज्यतमा) है ॥ ३५ ॥

टिप्पणी– यज्ञकर्ता द्वारा यज्ञ-क्रिया की निष्पत्ति के निमित्त दक्षिणा पर जो यज्ञ करे वह ऋत्विग् कहा जाता है । ऋत्विग् की परिभाषा मनु ने इस प्रकार से दी है–

'अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते' ॥२/१४८

ऋत्विग् के क्षीरहोता, आहार्यवृत और विशेषवृत ये तीन भेद हैं ।

वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यावधिमाह—

प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा ।
ग्रहणान्तिकमित्येके केशान्तश्चैव षोडशे ॥ ३६ ॥

यदा विवाहासंभवे 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वा'इति प्रवर्तते तदा **प्रतिवेदं** वेदं वेदं प्रति **ब्रह्मचर्यं** पूर्वोक्तं द्वादशवर्षाणि कार्यम् । अशक्तौ पञ्च । **'ग्रहणान्तिकं इत्येके** वर्णयन्ति । **केशान्तः** पुनर्गोदानाख्यं[1] कर्म गर्भादारभ्य **षोडशे** वर्षे ब्राह्मणस्य कार्यम् । एतच्च द्वादशवार्षिके वेदव्रते बोद्धव्यम् । इतरस्मिन्पक्षे यथासंभवं द्रष्टव्यम् । राजन्य-वैश्ययो[1]स्तूपनयनकालवद्द्वाविंशे चतुर्विंशे वा द्रष्टव्यम् ॥ ३६ ॥

प्रत्येक वेद के (अध्ययन के) लिये बारह वर्षों या पाँच वर्षों का ब्रह्मचर्य होता है । कुछ लोगों की मान्यता है कि विद्याग्रहण के अन्त तक का (ब्रह्मचर्य का) काल है । केशान्त या गोदान संस्कार (गर्भ के) सोलहवें वर्ष में होना चाहिये ॥ ३६ ॥

टिप्पणी– मनु की एतद्विषयक विवक्षा इस प्रकार है–

'षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैविद्यकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा' ॥३/१

उपनयनकालस्य परमावधिमाह—

आ षोडशादा द्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात् ।
ब्रह्मक्षत्रविशां काल औपनायनिकः परः ॥ ३७ ॥
अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्म[2]बहिष्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः ॥ ३८ ॥

आषोडशाद्वर्षात्षोडशवर्षं यावत् **आ द्वाविंशादाचतुर्विंशाद्**वर्षाद्**ब्रह्म[3]क्षत्रविशां औपनायनिकः** उपनयनसंबन्धी **परः कालः** । नातःपरमुपनयनकालोऽस्ति, किंतु **अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः** सर्वधर्मेष्वनधिकारिणो भवन्ति । **सावित्रीपतिताः** पतितसावित्रीका भवन्ति । सावित्रीदानयोग्या न भवन्ति । **व्रात्याः** संस्कारहीनाश्च **व्रात्य[2]स्तोमात्क्रतो**र्विना कृते तु तस्मिन्नुपनयनाधिकारिणो भवन्ति ॥ ३७–३८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के उपनयन का अन्तिम काल सोलहवाँ, बाइसवाँ और चौबीसवाँ वर्ष होता है । इसके बाद ये पतित हो जाते हैं और सर्वधर्मों से बहिष्कृत तथा पतितसावित्रीक हो जाते हैं तथा व्रात्यस्तोम के बिना व्रात्य होते हैं ॥ ३७-३८ ॥

टिप्पणी– व्रात्यस्तोम व्रात्यों का प्रायश्चित्त याग है । उससे और उद्दालक व्रतादि से प्रायश्चित्त किया हुआ द्विज उपनयन करने के बाद धर्म में अधिकारी होता है और अन्यों से ब्राह्म और यौन संबंध का अधिकारी होता है । इसीलिये मनु का कथन है–

'नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह' ॥

पैठीनसि स्मृति में– 'द्वादश षोडश विंशतिश्चेत्यतीता विरुद्धकाला भवन्ति'। किन्तु इसका अर्थ मित्रमिश्र ने यह किया है कि ब्राह्मणादिं का क्रमशः बारह, सोलह और बीस वर्ष बीत जाने पर काल का अतिक्रम हो जाता है और कुछ पाप संलग्न होता है, परन्तु याज्ञवल्क्य और मनु की अन्तिम अवधि से कोई विरोध नहीं है । मनु भी सावित्री का अन्तिम काल याज्ञवल्क्य के अनुरूप ही बताते हैं –

'आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः' ॥

'आद्यास्त्रयो द्विजाः' (आचार. २०।१) इत्युक्तं, तत्र हेतुमाह—

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः ॥ ३९ ॥

मातुः सकाशात्प्रथमं **जायन्ते, मौञ्जिबन्धनाच्च द्वितीयं** जन्म यस्मात्**तस्मादेते** ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्या **द्विजा** उच्यन्ते ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पहले माता से जन्म लेते हैं और मौञ्जीबंधन (उपनयन) के बाद उनका दूसरा जन्म होता है, अतः वे द्विज कहे जाते हैं ॥ ३९ ॥

टिप्पणी– यहाँ अभिप्रेत यह है कि जन्मतः ब्राह्मणादि भी व्रात्य ही हैं । मौञ्जीबन्धन (उपनयन) से उनमें द्विजत्व आता है । इसीलिये कहा है कि– 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते' ।

प्रश्न होगा कि द्वितीय जन्म में कौन माता-पिता होंगे तो अन्य स्मृति (शङ्ख १/७) में कहा है कि द्वितीय जन्म में सावित्री माता और आचार्य पिता होता है । मनु का कथन है कि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में तृतीय जन्म होता है । इसकी व्याख्या में कुल्लूकभट्ट का कथन है यह द्वितीय जन्म का स्तुतिपरक है, क्योंकि द्वितीय जन्म से संपन्न का ही यज्ञादि में अधिकार है ।

वेदग्रहणाध्ययनफलमाह—

यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम् ।
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ॥ ४० ॥

यज्ञानां श्रौत-स्मार्तानां, **तपसां** कायसंतापरूपाणां चान्द्रायणादीनां, **शुभानां च कर्मणां** उपनयनादिसंस्काराणां अवबोधकत्वेन **वेद एव द्विजातीनां परो निःश्रेयसकरो** नान्यः । 'वेद एव' इति तन्मूलकत्वेन स्मृतेरप्युपलक्षणार्थम् ॥ ४० ॥

ब्राह्मणों के लिये यज्ञों, तपों और शुभकर्मों का अवबोधक होने से वेद ही परम कल्याणकारक है (अन्य कुछ नहीं) ॥ ४० ॥

ग्रहणाध्ययनफलमुक्त्वेदानीं काम्यव्रतब्रह्मयज्ञाध्ययनफलमाह—

मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद्द्विजः ।
पितॄन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते च योऽन्वहम् ॥४१॥
यजूंषि शक्तितोऽधीते योऽन्वहं स घृतामृतैः ।
प्रीणाति देवानाज्येन मधुना च पितॄंस्तथा ॥ ४२ ॥
स तु सोमघृतैर्देवांस्तर्पयेद्योऽन्वहं पठेत् ।
सामानि तृप्तिं कुर्याच्च पितॄणां मधुसर्पिषा ॥ ४३ ॥

योऽन्वहमृचोऽधीते स मधुना पयसा च देवान्पितॄंश्च मधुघृताभ्यां तर्पयति । यः पुनः शक्तितोऽन्वहं यजूंष्यधीते स घृतामृतैर्देवान्पितॄंश्च मधु-घृताभ्यां तर्पयति । **यस्तु सामान्यन्वहमधीते स सोमघृतैर्देवान्पितॄंश्च मधुसर्पिर्भ्यां प्रीणाति ।** ऋगादिग्रहणं सामान्येन ऋगादिमात्रप्राप्त्यर्थम् ॥ ४१–४३ ॥

जो द्विज प्रतिदिन ऋचाओं (ऋग्वेद) का अध्ययन करता है वह मधु और दुग्ध से देवताओं को और मधु तथा घृत से पितरों को तृप्त करता है । जो ब्राह्मण प्रतिदिन यथाशक्ति यजुषों (यजुर्वेद) का अध्ययन करता है वह घृत और अमृत से देवताओं का तथा मधु तथा घृत से पितरों को तृप्त करता है। जो प्रतिदिन सामों का पाठ करता है वह सोम और घृत से देवों को और पितरों को मधु और घृत से तृप्त करता है ॥ ४१-४३ ॥

मेदसा तर्पयेद्देवानथर्वाङ्गिरसः पठन् ।
पितॄंश्च मधुसर्पिर्भ्यामन्वहं शक्तितो द्विजः ॥ ४४ ॥

वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः ।
इतिहासांस्तथा विद्याः शक्त्याधीते हि योऽन्वहम् ॥४५॥
मांसक्षीरौदनमधुतर्पणं स दिवौकसाम् ।
करोति तृप्तिं कुर्याच्च पितृणां मधुसर्पिषा ॥ ४६ ॥
ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ।

यः पुनः. **शक्तितोऽन्वहं अथर्वाङ्गिरसोऽधीते स देवान्मेदसा पितृंश्च मधुसर्पिर्भ्यां तर्पयति** । यस्तु **वाकोवाक्यं** [1]प्रश्नोत्तररूपवेदवाक्यम् । **पुराणं** ब्राह्मादि । चकारान्मानवादिधर्मशास्त्रम् । **नाराशंसीश्च** रुद्रदैवत्यान्मन्त्रान् । **गाथा** यज्ञगाथेन्द्रगाथाद्याः । **इतिहासान्** महाभारतादीन् । **विद्याश्च** वारुणाद्या विद्याः । **शक्तितोऽन्वहमधीते** । **स मांसक्षीरौदनमधुसर्पिर्भिर्देवान्** पितृंश्च मधुसर्पिर्भ्यां तर्पयति ॥ ४४–४६ ॥ **ते** पुनस्तृप्ताः सन्तो देवाः पितरश्च **एनं** स्वाध्यायकारिणं **सर्वकामफलैः** शुभैरनन्योपघातलक्षणैस्तर्पयन्ति ॥–

जो द्विज यथाशक्ति प्रतिदिन अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद) का पाठ करता है वह मेद से देवों का और मधु तथा घृत से पितरों का तर्पण करता है । जो प्रतिदिन यथाशक्ति वाकोवाक्य, पुराण, नाराशंसी, गाथा, इतिहास तथा विद्याओं का अध्ययन करता है वह मांस, क्षीर, ओदन तथा मधु से देवताओं का तर्पण करता है और पितरों को मधु तथा घृत से तृप्त करता है । वे (देवता तथा पितर) तृप्त होकर इसे (द्विज को) सभी शुभ कामनाओं से तृप्त करते हैं ॥ ४४-४६$\frac{१}{२}$ ॥

टिप्पणी– वाकोवाक्य का अर्थ प्रश्नोत्तर रूप वेदवाक्य किया गया है । नाराशंसी मन्त्र ऋग्वेद के खिल में पठित 'इदं जना उपश्रुत' इत्यादि तीन मंत्र हैं । गाथा शब्द का अर्थ ब्राह्मणादि में आयी यज्ञगाथा इन्द्रगाथा आदि हैं । इतिहास शब्द से रामायण, महाभारत आदि हैं और विद्या से अभिप्रेत वारुणी आदि विद्यायें या मधुविद्या है। विशेष के लिये अपरार्क की टीका द्रष्टव्य है ।

प्रशंसार्थमाह—

यं यं क्रतुमधीते[1] च तस्य तस्याप्नुयात्फलम् ॥ ४७ ॥
त्रिर्वित्तपूर्णपृथिवीदानस्य फलमश्नुते ।
[2]तपसश्च परस्येह नित्यं[3] स्वाध्यायवान्द्विजः ॥ ४८ ॥

यस्य यस्य क्रतोः प्रतिपादकं वेदैकदेशमन्वहमधीते **तस्य तस्य** क्रतोः **फलमवाप्नोति** । तथा **वित्तपूर्णायाः पृथिव्याः त्रिः** त्रिवारं **दानस्य** यत्फलं **परस्य तपसश्चा**न्द्रायणादेर्यत्फलं तदपि **नित्यं स्वाध्यायवानाप्नोति** । 'नित्य'ग्रहणं काम्यस्यापि सतो नित्यत्वज्ञापनार्थम् ॥ ४७–४८ ॥

वह द्विज जिस-जिस क्रतु (यज्ञ) का (अर्थात् तत्प्रतिपादक वेदभाग का) अध्ययन करता है वह उस-उस ऋतु का फल प्राप्त करता है । नित्य स्वाध्याय वाला ब्राह्मण ऐश्वर्य से पूर्ण पृथ्वी के तीन बार दान का और उत्कृष्ट तप का फल प्राप्त करता है ॥ ४७-४८ ॥

एवं सामान्येन ब्रह्मचारिधर्मानभिधायाधुना नैष्ठिकस्य विशेषमाह—

नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसंनिधौ ।
तद्भावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा ॥ ४९ ॥
अनेन विधिना देहं सादयन्विजितेन्द्रियः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहाजायते पुनः ॥ ५० ॥

अनेनोक्तेन प्रकारेणात्मानं निष्ठां उत्क्रान्तिकालं नयतीति **नैष्ठिकः** स यावज्जीवमाचार्यसमीपे **वसेत्** । न वेदग्रहणोत्तरकालं स्वतन्त्रो भवेत् । **तद्भावे** तत्पुत्रसमीपे, तदभावे तद्भार्यासमीपे, तदभावे वैश्वानरेऽपि । अनेनोक्तविधिना **देहं सादयन्** क्षपयन् **विजितेन्द्रियः** इन्द्रियजये विशेषप्रयत्नवान्ब्रह्मचारी **ब्रह्मलोकममृतत्वमाप्नोति** । न कदाचिदिह पुनराजायते ॥ ४९–५० ॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के समीप रहे । आचार्य के अभाव में उसके पुत्र के पास रहे । उसके भी न रहने पर आचार्य-पत्नी के पास रहे और उसके भी न रहने पर (अग्निहोत्र की) अग्नि के पास रहे । इस प्रकार से विजितेन्द्रिय होकर शरीर को क्षीण करता हुआ ब्रह्मचारी ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है और फिर इस संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥ ४९-५० ॥

टिप्पणी– ब्रह्मचारी के दो भेद बताये गये हैं– उपकुर्वाणक और नैष्ठिक । नैष्ठिक का अर्थ है– शरीरान्त तक जो ब्रह्मचर्य का संकल्प ले – 'निष्ठाशरीरपातः तदवधिके ब्रह्मचर्ये सङ्कल्पः कृतो येन स नैष्ठिकब्रह्मचारी' । इसके विपरीत उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी चाहे जिस आश्रम का वरण करे वह स्वतन्त्र है ।

देहं साधयन् का अर्थ है– 'देहवन्तमात्मानं साधयन् ब्रह्मप्राप्तियोग्यं कुर्वन्' । अपुनरावृत्ति केवल ब्रह्मोपासक की ही बतायी गयी है ।

इति ब्रह्मचारिप्रकरणम् ।

अथ विवाहप्रकरणम् २

यः पुनर्वैवाह्यस्तस्य विवाहार्थं स्नानमाह—

गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।
वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ॥ ५१ ॥

पूर्वोक्तेन प्रकारेण **वेदं** मन्त्रब्राह्मणात्मकम्, **व्रतानि**, ब्रह्मचारिधर्माननुक्रान्तान्। **उभयं वा, पारं नीत्वा** समाप्य, **गुरवे** पूर्वोक्ताय **वरमभिलषितं** यथाशक्ति **दत्त्वा स्नायात्** । अशक्तौ **तदनुज्ञया** अदत्तवरोऽपि । एतेषां च पक्षाणां शक्तिकालाद्यपेक्षया व्यवस्था ॥ ५१ ॥

वेदाध्ययन या व्रतों या दोनों को पूर्ण कर गुरु की आज्ञा से उसे वर (दक्षिणा) देकर ब्रह्मचारी स्नान करे (समावर्तन करे) ॥ ५१ ॥

टिप्पणी– ब्रह्मचारि-धर्म के बाद गृहस्थ-धर्म का वर्णन करने के लिये स्नातक (समावर्तन) संस्कार का वर्णन किया गया । व्रत का समान्य अर्थ जैसा कि मिताक्षराकार ने निर्देश किया है ब्रह्मचारी के धर्म हैं । कुछ व्याख्याकारों ने इसका अभिप्राय आरण्यक अध्ययन से लिया है । वर का अभिप्राय गुरु को अभीष्ट वस्तु दान से है । वेदमधीत्य का अभिप्राय अर्थज्ञानपूर्वक वेदाध्ययन से ही है । मनु ने गुरुदक्षिणा का वर्णन करते हुए लिखा है–

'क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत्' ॥

लघुहारीत का कथन है– शिष्य जो विद्या ग्रहण करता है इसलिये वह गुरु से अनृण नहीं हो सकता–

'एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणो भवेत्' ॥

संकल्प-भेद से स्नातक के भी नव प्रकार मनु ने निर्दिष्ट किये हैं–

'सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सार्ववेदसम् ।
गुर्वर्थपितृमात्रर्थस्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥
नवैतान् स्नातकान् विद्याद् ब्राह्मणान् धर्मभैक्षुकान्' ।

विषय के अनुसार स्नातक तीन प्रकार का हुआ– विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक ।

वर्णानुसार वर की भी व्याख्या धर्मशास्त्रकारों ने इस प्रकार की है–

'गौर्ब्राह्मणस्य वरो ग्रामो राजन्यस्याश्वो वैश्यस्य' ।

स्नानानन्तरं किं कुर्यादित्यत आह—

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥ ५२ ॥

अविप्लुतब्रह्मचर्योऽस्खलितब्रह्मचर्यः । **लक्षण्यां** बाह्याभ्यन्तरलक्षणैर्युक्ताम् । बाह्यानि 'तनुलोमकेशदशनाम्' इत्यादीनि (३।१०) **मनुनो**क्तानि । आभ्यन्तराणि 'अष्टौ पिण्डान्कृत्वा' इत्याद्याश्वलायनोक्तविधिना ज्ञातव्यानि । **स्त्रियं** नपुंसकत्वनिवृत्तये स्त्रीत्वेन परीक्षिताम् । **अनन्यपूर्विकां** दानेनोपभोगेन वा पुरुषान्तराऽपरिगृहीताम् । **कान्तां** कमनीयां वोढुर्मनोनयनानन्द-

कारिणीम्। 'यस्यां मनश्चक्षुषोर्निर्बन्धस्तस्यामृद्धिः' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । एतच्च न्यूनाधिकाङ्गादिबाह्यदोषाभावे । **असपिण्डां** समान एकः पिण्डो देहो यस्याः सा सपिण्डा, न सपिण्डा असपिण्डा ताम्। सपिण्डता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति। तथा हि–पुत्रस्य पितृशरीरावयवान्वयेन पित्रा सहैकपिण्डता। एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात्। एवं मातृशरीरावयवान्वयेन मात्रा। तथा मातामहादिभिरपि मातृद्वारेण। तथा मातृष्वसृमातुलादिभिरप्येकशरीरावयवान्वयात। तथा पितृव्य-पितृष्वस्रादिभिरपि। तथा पत्या सह पत्न्या एकशरीरारम्भकतया। एवं भ्रातृभार्याणामपि परस्परमेकशरीरारब्धैः सहैकशरीरारम्भकत्वेन। एवं यत्र यत्र 'सपिण्ड'शब्दस्तत्र तत्र साक्षात्परम्परया वा एकशरीरावयवान्वयो वेदितव्यः। यद्येवं मातामहादीनामपि 'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते' इत्यविशेषेण प्राप्नोति। स्यादेतत्,–यदि तत्र 'प्रत्तानामितरे कुर्युः' इत्यादिविशेषवचनं न स्यात्। अतश्च सपिण्डेषु यत्र विशेषवचनं नास्ति तत्र 'दशाहं शावमाशौचम्' इत्येतद्वचनमवतिष्ठते। अवश्यं चैकशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यं वर्णनीयम्। 'आत्मा हि जज्ञ आत्मनः' इत्यादिश्रुतेः। तथा 'प्रजामनु प्रजायसे' इति च। 'स एवायं विरूढः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते, दृश्यते चापि सारूप्यम्। देहत्वमेवान्यत् इत्यापस्तम्बवचनाच्च। तथा गर्भोपनिषदि—'एतत् षाट्कौशिकं शरीरं त्रीणि पितृतस्त्रीणि मातृतः। अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतस्त्वङ्मांसरुधिराणि मातृतः' इति तत्र तत्रावयवान्वयप्रतिपादनात्। निर्वाप्यपिण्डान्वयेन तु सापिण्ड्ये मातृसंताने भ्रातृपितृव्यादिषु च सापिण्ड्यं न स्यात्। समुदायशक्त्यङ्गीकारेण रूढिपरिग्रहेऽवयवशक्तिस्तत्र तत्रावगम्यमाना परित्यक्ता स्यात्। सत्स्ववयवार्थेषु योऽन्यत्रार्थे प्रयुज्यते। तत्रानन्यगतित्वेन समुदायः प्रसिद्ध्यति। एवं परम्परयैकशरीरावयवान्वयेन तु सापिण्ड्ये यथा नातिप्रसङ्गस्तथा वक्ष्यामः। **यवीयसीं** वयसा प्रमाणतश्च न्यूनां **उद्वहेत्** परिणयेत् स्वगृह्योक्तेन विधिना ॥ ५२ ॥

ब्रह्मचर्य से च्युत न हुआ शुभ लक्षणों वाली, पहले किसी अन्य पुरुष को न दी गई और अन्य पुरुष से अभुक्त सुन्दरी, असपिण्ड तथा (आयु एवं शरीर-प्रमाण में) अपने से छोटी स्त्री से विवाह करे ॥ ५२ ॥

टिप्पणी– यहाँ अविप्लुतब्रह्मचर्य का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य का लोप दो अवस्थाओं में संभव है– एक तो ब्रह्मचारी अवस्था में और दूसरे स्नातक अवस्था में। ब्रह्मचारी अवस्था में ब्रह्मचर्य विलुप्त होने पर याज्ञवल्क्य ने अवकीर्णिप्रायश्चित्त का विधान किया है–

'अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम्।
गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं च विशुध्यति' ॥(प्रायश्चित्ताध्याय २८०)

मनु का इस विषय में यह वचन है–

'अवकीर्णी तु काणेन रासभेन चतुष्पथे ।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि' ॥

वसिष्ठ का भी यही मत है–

'ब्रह्मचारी चेत् स्त्रियमुपेयादरण्ये चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ रक्षो दैवतं गर्दभं पशुमालभेत्' ॥

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि याज्ञवल्क्य को यहाँ अभीष्ट यही है कि ब्रह्मचर्य लुप्त होने पर अविवाह्य का प्रसङ्ग नहीं अपितु प्रायश्चित्तानन्तर विवाह हो ।

लक्षण्याम् से अभिप्राय बाह्य और आभ्यन्तर लक्षणों से युक्त । बाह्य लक्षण का निर्देश मनु ने इस प्रकार किया है–

'अव्ययाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्' ॥

आभ्यन्तर लक्षणों का विवेचन कात्यायन ने किया है, जिसका उल्लेख अपरार्क ने किया है ।

असपिण्डता– सामान्यतः सपिण्डता सात पीढ़ी तक पितृपक्ष में मानी जाती है ।

'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' ।

परन्तु विवाह में यह मातृ और पितृ दोनों पक्षों से परिगणित होती है । उद्वाहतत्त्व में इस प्रसङ्ग में नारद का वचन इस प्रकार है–

'पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतः क्रमात् ।
सपिण्डता निवर्तेत सर्ववर्णेष्वयं विधिः' ॥

अनन्यपूर्विकाम् का अभिप्राय ऐसी कन्या से है, जिसका पूर्व में किसी को दान न हुआ हो और न किसी पुरुष ने उपभोग किया हो ।

मनु ने कुल-परीक्षा का भी आदेश दिया है–

'महान्त्यपि सुसमृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षयामयापस्मारिश्वित्रिकुष्ठकुलानि च' ॥

विशेषान्तराण्याह–

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम् ।

अरोगिणीं अचिकित्सनीयव्याध्यनुपसृष्टाम् । **भ्रातृमतीं** पुत्रिकाकरणशङ्कानिवृत्तये । अनेनापरिभाषितापि पुत्रिका भवतीति गम्यते । **असमानार्षगोत्रजां**

ऋषेरिदमार्षं नाम प्रवर इत्यर्थः । गोत्रं वंशपरम्पराप्रसिद्धम्, आर्षं च गोत्रं च आर्षगोत्रे, समाने आर्षगोत्रे यस्यासौ समानार्षगोत्रस्तस्माज्जाता समानार्षगोत्रजा, न समानार्षगोत्रजा असमानार्षगोत्रजा ताम् । गोत्रप्रवरौ च पृथक्पृथक्पर्युदासेनिमित्तम् । तेनासमानार्षजामसमानगोत्रजामित्यर्थः । तथा च 'असमानप्रवरैर्विवाहः' (गौ. स्मृ. ४।१) इति **गौतमः** । तथा 'असपिण्डा च या मातुरसपिण्डा च या पितुः । सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥' इति (३।५) **मनुः** । तथा मातृगोत्रामप्यपरिणेयां केचिदिच्छन्ति, 'मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च । समानप्रवरां चैव गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति प्रायश्चित्तस्मरणात् । अत्र च 'असपिण्डाम्' इत्यनेन पितृष्वसृ-मातृष्वस्रादिदुहितृनिषेधः । तथा 'असगोत्राम्' इत्यनेनासपिण्डाया अपि भिन्नसन्तानजायाः समानगोत्राया निषेधः । तथा 'असमानप्रवराम्' इत्यनेनाप्यसपिण्डाया असगोत्राया अपि समानप्रवराया निषेधः । तथा च 'असपिण्डाम्' इत्येतत्सार्ववर्णिकम्; सर्वत्र सापिण्ड्यसद्भावात् । 'असमानार्षगोत्रजाम्' इत्येतत्त्रैवर्णिकविषयम् । यद्यपि राजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात्प्रवराभावस्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरौ वेदितव्यौ । तथा च 'यजमानस्यार्षेयान्प्रवृणीते' इत्युक्त्वा 'पौरोहित्यान्राजन्यविशां प्रवृणीते' इत्याहाश्वलायनः (श्रौ. सू. अ. ६ खं. १५) । सपिण्डासु समानगोत्रासु मानप्रवरासु भार्यात्वमेव नोत्पद्यते । रोगिण्यादिषु तु भार्यात्वे उत्पन्नेऽपि दृष्टविरोध एव ॥—

वह (असाध्य) रोगों वाली न हो, भाई वाली हो तथा अपने गोत्र और प्रवर की न हो ॥ ५२$\frac{१}{२}$ ॥

'असपिण्डाम्' इत्यत्रैकशरीरावयवान्वयद्वारेण साक्षात्परम्परया वा सापिण्ड्यमुक्तं, तच्च सर्वत्र सर्वस्य यथाकथंचिदनादौ संसारे संभवतीत्यतिप्रसङ्ग इत्यत आह—

पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ॥ ५३ ॥

मातृतो मातुः संताने **पञ्चमादूर्ध्वं पितृतः** पितुः संताने **सप्तमादूर्ध्वं**, 'सापिण्ड्यं निवर्तते' इति शेषः । अतश्चायं 'सपिण्ड'शब्दोऽवयवशक्त्या सर्वत्र प्रवर्तमानोऽपि निर्मन्थ्य-पङ्कजादिशब्दवन्नियतविषय एव । तथा च पित्रादयः षट् सपिण्डाः, पुत्रादयश्च षट्, आत्मा च सप्तमः, संतानभेदेऽपि यतः संतानभेदस्तमादाय गणयेद्यावत्सप्तम इति सर्वत्र योजनीयम् । तथा च मातरमारभ्य तत्पितृपितामहादिगणनायां पञ्चमसंतानवर्तिनी मातृतः पञ्चमीत्युपचर्यते । एवं पितरमारभ्य तत्पित्रादिगणनायां सप्तमपुरुषसंतानवर्तिनी पितृतः सप्तमीति । तथा च 'भगिन्योर्भगिनीभ्रात्रोर्भ्रातृपुत्रीपितृव्ययोः । विवाहे द्व्यादिभूतत्वाच्छाखाभेदोऽत्र गण्यते ॥' यद्यपि **वसिष्ठेनोक्तं** 'पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा' इति, 'त्रीनतीत्य

मातृतः पञ्चातीत्य च पितृतः' इति च **पैठीनसिना**, तदप्यर्वाङ्निषेधार्थं न पुनस्तत्प्राप्त्यर्थमिति सर्वस्मृतीनामविरोधः । एतच्च समानजातीये द्रष्टव्यम्, विजातीये तु विशेषः । यथाह **शङ्खः**—'यद्येकजाता बहवः पृथक्क्षेत्राः पृथग्जनाः । एकपिण्डाः पृथक्शौचाः पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु ॥' एकस्माद्ब्राह्मणादेर्जाताः एकजाताः । पृथक्क्षेत्राः भिन्नजातीयासु स्त्रीषु जाताः । पृथग्जनाः समानजातीयासु भिन्नासु स्त्रीषु जातास्ते एकपिण्डाः सपिण्डाः, किंतु पृथक्शौचाः । पृथक्शौचमाशौचप्रकरणे वक्ष्यामः । 'पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु' त्रिपुरुषमेव सापिण्ड्यमिति ॥ ५३ ॥

वह क्रमशः माता और पिता के कुल में पाँच और सात पीढ़ी ऊपर हो ॥५३ ॥

टिप्पणी– मनु ने रोगिणी के साथ ही कुछ और दोष दर्शाये हैं जिनके साथ विवाह निषिद्ध है–

'नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम् ॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥

'भ्रातृमतीं' के विषय में मनु का वचन है–

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत् तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया' ॥

यहाँ प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि पूर्व में 'असपिण्डा' का निषेध कर चुके हैं तो यहाँ पुनः पाँच या सात पीढ़ी तक निषेध करने का क्या तात्पर्य है– असपिण्डा का भी तो यही अर्थ हुआ । इस विषय में शास्त्रकारों का कहना है कि यहाँ बीजी पिता का भी अन्वय इसमें करने के लिये इसका कथन हुआ है ।

दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात् ।

पुरुषा एव पूरुषाः, दशभिः **पुरुषैर्मातृतः** पञ्चभिः पितृतः पञ्चभिर्विख्यातं यत्कुलं तस्मात् । **श्रोत्रियाणामधीतवेदानाम्** । अध्ययनमुपलक्षणं श्रुताध्ययनसंपन्नानाम् । महच्च तत्कुलं च **महाकुलं** पुत्रपौत्रपशुदासीग्रामादिसमृद्धं, तस्मात्कन्यका आहर्तव्येति नियम्यते ॥

दश पीढ़ी से विख्यात श्रोत्रियों के महान् कुल से कन्या ग्रहण करे ॥५३$\frac{१}{२}$ ॥

एवं सर्वतः प्राप्तौ सत्यामपवादमाह—

स्फीतादपि न संचारिरोगदोषसमन्वितात् ॥ ५४ ॥

स्फीतादिति । **संचारिणो रोगाः** श्वित्रकुष्ठापस्मारप्रभृतयः शुक्रशोणितद्वारेणानुप्रविशन्तो **दोषाः** पुनः हीनक्रियनिःपौरुषत्वादयो मनुनोक्ताः । एतैः **समन्वितात्स्फीतादपि** पूर्वोक्तान्महाकुलादपि नाहर्तव्या ॥ ५४ ॥

(परन्तु इस पूर्वोक्त) प्रशस्त महान् कुल से भी संचारी रोगों से युक्त कन्या को ग्रहण न करे ॥ ५४ ॥

टिप्पणी– श्वित्र, कुष्ठ, अपस्मार, यक्ष्मा आदि संचारी रोग हैं । इनसे युक्त कन्योद्वाह का निषेध यहाँ है । इसके अतिरिक्त मनुप्रोक्त अन्य दोषों का भी यहाँ अन्वय करना चाहिये ।

एवं कन्याग्रहणनियममुक्त्वा कन्यादाने वरनियममाह—

एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः ।
यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमाञ्जनप्रियः ॥ ५५ ॥

एतैरेव पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो दोषैश्च वर्जितो वरो भवति । तस्यायमपरो विशेषः– **सवर्ण** उत्कृष्टो वा, न हीनवर्णः । **श्रोत्रियः** स्वयं च श्रुताध्ययनसंपन्नः । **यत्नात्** प्रयत्नेन **पुंस्त्वे परीक्षितः** । परीक्षोपायश्च नारदेन दर्शितः–'यस्याप्सु प्लवते बीजं ह्लादि मूत्रं च फेनिलम् । पुमान्स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतैस्तु षण्ढकः ॥ इति । **युवा** न वृद्धः । **धीमान्** लौकिकवैदिकव्यवहारेषु निपुणमतिः । **जनप्रियः** स्मितपूर्वमृद्वभिभाषणादिभिरनुरक्तजनः ॥ ५५ ॥

इन पूर्वोक्त (कन्याप्रसङ्ग में कहे) गुणों से युक्त सवर्ण (अर्थात् हीन वर्ण का नहीं), श्रोत्रिय (स्वयं वेदशास्त्राभ्यासी) वर हो । उसके पुंसत्व की परीक्षा प्रयत्नपूर्वक की गई हो तथा वह युवक, बुद्धिमान् तथा लोकप्रिय हो ॥ ५५ ॥

टिप्पणी– नारद ने परीक्षा के उपाय का निदर्शन करते हुये कहा है–

'यस्याप्सु प्लवते बीजं ह्लादि मूत्रं च फेनिलम् ।
पुमान् स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतैस्तु षण्ढकः' ॥

रति-पुत्र-धर्मार्थत्वेन विवाहस्त्रिविधः । तत्र पुत्रार्थो द्विविधः–नित्यः, काम्यश्च । तत्र नित्ये प्रजार्थे 'सवर्णः श्रोत्रियो वरः' (आचार. ५५) इत्यनेन सवर्णा मुख्या दर्शिता । इदानीं काम्ये नित्यसंयोगे चानुकल्पो वक्तव्य इत्यत आह—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः ।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ॥ ५६ ॥

यदुच्यते 'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि । कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः ॥' इत्युपक्रम्य–ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे इति द्विजातीनां शूद्रावेदनमिति **नैतद्याज्ञवल्क्यस्य मतम् । यस्मादयं द्विजातिस्तत्र स्वयं जायते** । 'तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः' इति श्रुतेः । अत्र च 'तत्रायं जायते स्वयम्' इति हेतुं वदता नैत्यकपुत्रोत्पादनाय काम्यपुत्रोत्पादनाय वा प्रवृत्तस्य शूद्रापरिणयननिषेधं कुर्वता नैत्यकपुत्रोत्पादनानुकल्पे काम्ये च पुत्रोत्पादने ब्राह्मणस्य क्षत्रियावैश्ये, क्षत्रियस्य च वैश्या भार्यानुज्ञाता भवति ॥ ५६ ॥

जो द्विजातियों को शूद्रा स्त्री से दिवाह की बात कही गई है यह मेरा मंत नहीं है (अर्थात् वह मुझे मान्य नहीं है) । क्योंकि यह (द्विजाति) वहाँ (उसी स्त्री में) स्वयं उत्पन्न होता है ॥ ५६ ॥

टिप्पणी– गृह्यसूत्रकारों और स्मृतिकारों ने 'क्वचित् चतस्रो ब्राह्मणस्य स्युस्तिस्रः क्षत्रियस्य द्वे वैश्यस्य शूद्रस्यैका' कह कर अनुलोम विवाह की स्वीकृति के साथ ही द्विजातियों की शूद्रा के साथ विवाह की भी मान्यता दी है । एतद्विषयक स्मृतिवचन भी उपलब्ध है–

'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः' ॥

किन्तु याज्ञवल्क्य ने शूद्रा के साथ विवाह की स्वीकृति न देते हुये कहा है कि मेरे मत में यह मान्य नहीं है, किन्तु इस उनके स्पष्ट आदेश से यह बात सुतरां सिद्ध ही है कि शूद्रा-विवाह भी द्विजातियों में प्रचलित था ही ।

इदानीं रतिकामस्योत्पन्नपुत्रस्य वा विनष्टभार्यस्याश्रमान्तरानधिकारिणो गृहस्थाश्रमावस्थामात्राभिकाङ्क्षिणः परिणयनक्रममाह—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः ॥ ५७ ॥

वर्णक्रमेण ब्राह्मणस्य तिस्रो भार्याः । **क्षत्रियस्य द्वे** । **वैश्यस्यैका** । **शूद्रस्य तु स्वैव भार्या** भवति । सवर्णा पुनः सर्वेषां मुख्या स्थितैव । पूर्वस्याः पूर्वस्या अभावे उत्तरोत्तरा भवति । अयमेव च क्रमो नैत्यकानुकल्पे काम्ये च पुत्रोत्पादनविधौ । अतश्च यच्छूद्रापुत्रस्य पुत्रमध्ये परिगणनं विभागसंकीर्तनं च, तथा 'विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि' इत्युपक्रम्य 'विन्नास्वेष विधिः स्मृतः' इति च तत् रतिकामस्याश्रममात्राभिकाङ्क्षिणो वा नान्तरीयकतयोत्पन्नस्य ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों की वर्णक्रम से क्रमशः तीन, दो और एक भार्या होती है और शूद्र की शूद्रा ही भार्या होती है ॥ ५७ ॥

टिप्पणी– याज्ञवल्क्य ने शूद्रा के साथ द्विजाति का विवाह तो पूर्णतः निषिद्ध कर दिया और यह भी स्पष्ट हो गया कि सवर्णा सभी में मुख्य है । परन्तु यदि सवर्णा न हो या विनष्ट हो गयी हो तो अन्य विवाह का प्रविधान अभीष्ट है, क्योंकि अनाश्रमी नहीं होना चाहिये और गार्हस्थ्य में स्त्री का होना आवश्यक है । शूद्रा के साथ विवाह का निषेध प्रायशः सभी ने किया है ।

विवाहानाह—

ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता ।
तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ॥ ५८ ॥

स ब्राह्माभिधानो विवाहः यस्मिन्नुक्तलक्षणाय वरायाहूय यथाशक्त्यलंकृता कन्या दीयते उदकपूर्वकं, तस्यां जातः पुत्र उभयतः पित्रादीन्दश पुत्रादींश्च दश, आत्मानं चैकविंशं पुनाति सद्वृत्तश्चेत् ॥ ५८ ॥

ब्राह्म विवाह वह है जिसमें वर को आमन्त्रित कर उसे यथाशक्ति (वस्त्राभूषणादि से) अलंकृत कर कन्या दी जाती है । ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र दोनों ओर की इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करते हैं ॥ ५८ ॥

टिप्पणी– इक्कीस पीढ़ी का तात्पर्य पिता आदि दश पूर्व की पीढ़ियाँ तथा पुत्रादि दश पीढ़ियाँ एवं अपने को लेकर इक्कीस पीढ़ियाँ हुई । एतद्विषयक मनु का वचन इस प्रकार है–

'दश पूर्वान् परान् वंश्यानात्मानं चैकविशंतिम्' ।

वीरमित्रोदय में ब्राह्म विवाह की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

'निरुपाधिककन्यादानपूर्वकः सवर्णापरिणयो ब्राह्मो विवाहः' ।

दैवार्षविवाहौ—

यज्ञस्थ ऋत्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्वयम् ।
चतुर्दश प्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट् ॥ ५९ ॥

स दैवो विवाहो यस्मिन्यज्ञानुष्ठाने वितते ऋत्विजे यथाशक्त्यलंकृता कन्या दीयते । यत्र पुनर्गोमिथुनमादाय कन्या दीयते स आर्षः । प्रथमजो दैवविवाहजश्चतुर्दश पुनाति सप्तावरान् सप्त परान् । उत्तरज आर्षविवाहजः षट् पुनाति त्रीन्पूर्वान् त्रीन्परान् ॥ ५९ ॥

जब यज्ञानुष्ठान होने पर ऋत्विज को (यथाशक्ति अलंकृत कर) कन्या दी जावे तो यह दैव विवाह होता है और जब दो गायें लेकर कन्या दी जाय तो यह आर्ष विवाह होता है । प्रथम (अर्थात् दैव विवाह) से उत्पन्न सन्तान (सात पूर्व और सात उत्तर) चौदह पीढ़ियों को और बाद वाले (आर्ष) से उत्पन्न सन्तान (तीन पूर्व और तीन पर) छः पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ५९ ॥

प्राजापत्यविवाहलक्षणम्—

इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने ।
स कायः पावयेत्तज्जः षट् षड्वंश्यान्सहात्मना ॥ ६० ॥

'सह धर्मं चरताम्' इति परिभाष्य कन्यादानं स प्राजापत्यः । तज्जः षट् पूर्वान्षट् परान् आत्मना सहेत्येवं त्रयोदश पुनाति ॥ ६० ॥

जो कन्या इच्छुक को 'साथ-साथ धर्म का आचरण करो' यह कह कर दी जाय वह काय (प्राजापत्य) विवाह होता है । इस विवाह से उत्पन्न पुत्र छः (पूर्व) और छः (उत्तर) की पीढ़ियों को तथा अपने को पवित्र करता है ॥ ६० ॥

आसुरगान्धर्वादिविवाहलक्षणानि—

आसुरो द्रविणादानाद्गान्धर्वः समयान्मिथः ।
राक्षसो युद्धहरणात्पैशाचः कन्यकाछलात् ॥ ६१ ॥

आसुरः पुनर्द्रविणादानात् । गान्धर्वस्तु परस्परानुरागेण भवति । राक्षसो युद्धेनापहरणात् । पैशाचस्तु कन्यकाछलात् छलेन छद्मना स्वापाद्यवस्थास्वपहरणात् ॥ ६१ ॥

धन लेकर जो कन्या दी जावे वह आसुर विवाह होता है, परस्पर समय (अनुराग) से गान्धर्व विवाह होता है । युद्ध में कन्या के आहरण से राक्षस विवाह होता है और छल से (सोने की अवस्था इत्यादि में) कन्या का हरण कर किया गया विवाह पैशाच है ॥ ६१ ॥

टिप्पणी– आर्ष विवाह के लक्षण में मनु का वचन इस प्रकार है–

'एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्म स उच्यते' ॥

राक्षस विवाह का प्रकार मनु ने इस प्रकार दिया है–

'हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते' ॥

मनु ने इन विवाहों की वर्णानुसार ग्राह्यता का भी निर्देश किया है–

'षडानुपूर्व्याविप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद् धर्म्यानराक्षसान्' ॥

तथा—

'चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः' ॥

सवर्णादिपरिणयेन विशेषमाह—

पाणिर्ग्राह्यः सवर्णासु गृह्णीयात्क्षत्रिया शरम् ।
वैश्या प्रतोदमादद्याद्वेदने त्वग्रजन्मनः ॥ ६२ ॥

सवर्णासु विवाहे स्वगृह्योक्तविधिना पाणिरेव ग्राह्यः । क्षत्रियकन्या तु शरं गृह्णीयात् । वैश्या प्रतोदमादद्यात् । उत्कृष्टवेदने शूद्रा पुनर्वसनस्य दशाम् । यथाह मनुः (३।४४)–'वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने' इति ॥ ६२ ॥

सवर्णा (अपने वर्ण की कन्या) से विवाह के समय उसकी पाणि (हाथ) पकड़ना चाहिये । यदि ब्राह्मण क्षत्रिया से विवाह करे तो क्षत्रिया (वर के हाथ में स्थित) बाण को पकड़े और वैश्या (से यदि विवाह करे तो) वैश्या (वर के हाथ में स्थित प्रतोद (चाबुक) पकड़े ॥ ६२ ॥

टिप्पणी– क्योंकि याज्ञवल्क्य को द्विजाति का शूद्रा से विवाह मान्य नहीं था और उसका उन्होंने स्पष्टतः निषेध कर दिया है, अतः उन्होंने शूद्रा का उल्लेख नहीं किया । किन्तु मनु आदि ने किसी प्रकार उसे भी स्वीकार किया था, एतदर्थ मनु ने शूद्रा-विवाह में शूद्रा के द्वारा वस्त्र का किनारा पकड़ने का उल्लेख किया है –

'वस्त्रस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने' ।

याज्ञवल्क्य के मितक्षरादि टीकाकारों को यह स्थिति ज्ञात थी, अतः उन्होंने उपर्युक्त मनु के वचन का उल्लेख किया है ।

कन्यादातृक्रममाह—

पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा ।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥ ६३ ॥
अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ।
गम्यं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ॥ ६४ ॥

एतेषां पित्रादीनां पूर्वस्य पूर्वस्याभावे परः परः कन्याप्रदः प्रकृतिस्थश्चेत् यद्युन्मादादिदोषवान्न भवति । अतो यस्याधिकारः सोऽप्रयच्छन् भ्रूणहत्यामृतावृतावाप्नोति । एतच्चोक्तलक्षणवरसंभवे वेदितव्यम् । यदा पुनर्दातॄणामभावस्तदा कन्यैव गम्यं गमनार्हमुक्तलक्षणं वरं स्वयमेव वरयेत् ॥ ६३-६४ ॥

पिता, पितामह, भ्राता, उस कुल का कोई व्यक्ति और माता– ये क्रमशः पूर्व के अभाव में तदुत्तरवर्ती प्रकृतिस्थ (उन्मादादि से विरहित) होने पर कन्यादान करने वाले हैं । कन्या को (उचित वर को समय पर) न देने वाला अधिकारी कन्या के प्रत्येक ऋतुकाल में भ्रूणहत्या के पाप को पूर्ण रूप से प्राप्त करता है । कन्यादान के दाताओं के अभाव में कन्या स्वयं (उपर्युक्त लक्षणों से युक्त) वर का वरण कर ले ॥ ६३-६४ ॥

टिप्पणी– मनु का वचन है कि ऋतुमती कन्या भले ही मरण तक पिता के घर में रहे परन्तु गुणहीन को नहीं देना चाहिये–

'काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न त्वेवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्' ॥

परन्तु इसका अर्थ निबन्धकारों ने यह किया है कि गुणवान् वर के होने पर

गुणहीन को न दे । किन्तु मनु का वचन तो स्पष्ट ही गुणवान् वर की प्राप्ति तक प्रतीक्षा का है ।

अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी ऋतुमती कन्या का पितृगृह में निवास दोषकारक बताया है । कुछ वचन इस प्रकार हैं–

काश्यप–

'पितुर्गेहे तु या कन्या रजः पश्येदसंस्कृता ।
भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः कन्या वृषली स्मृता ॥
यस्तु तां वरयेत्कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ।
अश्राद्धेयमपाङ्क्तेयं तं विद्याद् वृषलीपतिम्' ॥

संवर्त–

'माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्' ॥

कन्याहरणे दण्डः—

सकृत्प्रदीयते कन्या हरंस्तां चोरदण्डभाक् ।

सकृदेव कन्या प्रदीयत इति शास्त्रनियमः । **अतस्तां** दत्त्वा अपहरन् कन्यां **चोरवद्दण्ड्यः** ॥

कन्या एक बार दी जाती है. अतः (उसे देकर) पुनः उसका अपहरण करने पर चौर के तुल्य दण्ड का पात्र होता है ॥ ६४$\frac{१}{२}$ ॥

एवं सर्वत्र प्रतिषेधे प्राप्तेऽपवादमाह—

दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत् ॥ ६५ ॥

यदि **पूर्व**स्माद्वराच्छ्रेयान्विद्याभिजनाद्यतिशययुक्तो **वर आ**गच्छति, पूर्वस्य च पातकयोगो दुर्वृत्तत्वं वा, तदा **दत्तामपि हरेत्** । एतच्च सप्तमपदात्प्राग्द्रष्टव्यम् ॥ ६५ ॥

परन्तु पूर्व वर से श्रेष्ठ वर आ जाय तो दी गई कन्या को भी वापस ले ले ॥ ६५॥

टिप्पणी– मनु का कथन है कि भाग एक बार दिया जाता है, कन्या एक बार दी जाती है तथा 'एक ही बार दिया' ऐसा कहा जाता है–

'सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्' ॥

कन्या को लौटाने का विधान मेधातिथि के अनुसार वागदत्ता को दी है, क्योंकि वे कहते हैं कि सप्तपदी से पूर्व यह हो सकता है । नारद के अनुसार यदि वर अपने दोष को छिपा कर विवाह करता है तो उससे कन्या लौटा ली जाय और वर को दण्ड दिया जाय–

'गूहयित्वाऽऽत्मनो दोषान् विन्दनत्ययमर्हति ।
वरस्य दत्तनाशश्च भवेत्स्त्री च निवर्तते' ॥

अनाख्याय ददद्दोषं दण्ड्य उत्तमसाहसम् ।
अदुष्टां तु त्यजन्दण्ड्यो दूषयंस्तु मृषा शतम् ॥ ६६ ॥

यः पुनश्चक्षुर्ग्राह्यं दोषमनाख्याय कन्यां प्रयच्छति असावुत्तमसाहसं दण्ड्यः । उत्तमसाहसं च (आचा० ३६६) वक्ष्यते । अदुष्टां तु प्रतिगृह्य त्यजन् उत्तमसाहसमेव दण्ड्यः । यः पुनर्विवाहात्प्रागेव द्वेषादिना असद्भिर्दोषैर्दीर्घरोगादिभिः कन्यां दूषयति स पणानां वक्ष्यमाणलक्षणानां शतं दण्ड्यः ॥ ६६ ॥

जो व्यक्ति (आँख से दिखाई पड़ने वाले) दोषों के बिना बताये कन्या को देता है वह उत्तम साहस के दण्ड का पात्र है और दोषरहित कन्या को छोड़ने वाला (भी इसी) दण्ड का भागी है । (और विवाह के पूर्व कन्या में) झूठे दोषों का आरोप करने वाला सौ पणों के दण्ड का भागी होता है ॥ ६६ ॥

टिप्पणी– उत्तम साहस दण्ड का विधान आगे इसी अध्याय में इस प्रकार किया गया है–

'साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहसः ।
तदर्धं मध्यमः प्रोक्तस्तदर्धमधमः स्मृतः' ॥ (३६६)

'अनन्यपूर्विकाम्' (श्लो. ५२) इत्यत्रानंन्यपूर्वा परिणेयोक्ता, तत्रान्यपूर्वा कीदृशीत्याह—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः, संस्कृता पुनः ।
स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत् ॥ ६७ ॥

अन्यपूर्वा द्विविधा—पूनर्भूः, स्वैरिणी चेति । पुनर्भूरपि द्विविधा—क्षता चाक्षता च । तत्र क्षता संस्कारात्प्रागेव पुरुषसंबन्धदूषिता । अक्षता पुनः संस्कारदूषिता । या पुनः कौमारं पतिं त्यक्त्वा कामतः सवर्णमाश्रयति सा स्वैरिणीति ॥ ६७ ॥

स्त्री चाहे क्षत (पुरुष संपर्क वाली) या अक्षत (पुरुष से न संपर्क वाली) हो यदि उसका दुबारा विवाह हुआ तो वह पुनर्भू कहलाती है और जो अपने पति का त्याग कर इच्छानुसार अपने वर्ण के (किसी दूसरे) पति का आश्रय ले वह स्वैरिणी कहलाती है ॥ ६७ ॥

एवं सर्वप्रकारेणान्यपूर्वापर्युदासे प्राप्ते विशेषमाह—

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया ।
सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात् ॥ ६८ ॥

आ गर्भसंभवाद्गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत् ।
अनेन विधिना जातः क्षेत्रजो[2]ऽस्य भवेत्सुतः ॥ ६९ ॥

अपुत्रामलब्धपुत्रां पित्रादिभिः पुत्रार्थमनुज्ञातो **देवरो** भर्तुः कनीयान् भ्राता **सपिण्डो वा** उक्तलक्षणः **सगोत्रो वा**, एतेषां पूर्वस्याभावे परः परः **घृताभ्यक्तसर्वाङ्गः**, **ऋतावेव** वक्ष्यमाणलक्षणे **इयाद्गच्छेत् आ गर्भोत्पत्तेः** । ऊर्ध्वं पुनर्गच्छन् अन्येन वा प्रकारेण तदा **पतितो भवति** । **अनेन विधिनोत्पन्नः** पूर्वपरिणेतुः **क्षेत्रजः पुत्रो भवेत्** । एतच्च वाग्दत्ताविषयमित्याचार्याः; 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥' इति (९।६९) मनुस्मरणात् ॥ ६८–६९ ॥

(अपने पति से) बिना पुत्र वाली स्त्री के पास ऋतुकाल में गुरु की आज्ञा से देवर, सपिण्ड या सगोत्र अपने शरीर में घृत का लेप कर जाय । ऐसा गमन वह गर्भ की उत्पत्ति तक करे । अन्यथा (इससे अतिरिक्त गमन करने पर) वह पतित होता है । इस प्रकार से उत्पन्न पुत्र उसका (पूर्व पति का) क्षेत्रज पुत्र होता है ॥ ६८-६९ ॥

टिप्पणी– मिताक्षराकार का कहना है कि यह वाग्दत्ता के विषय में है और उन्होंने मनु का यह वचन उद्धृत किया है–

'यस्याः म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' ॥९ ।६९

व्यभिचारिणीं प्रत्याह—

हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम् ।
परिभूतामधःशय्यां वासयेद्व्यभिचारिणीम् ॥ ७० ॥

या व्यभिचरति तां **हृताधिकारां** भृत्यभरणाद्यधिकाररहिताम् । **मलिनां** अञ्जनाभ्यञ्जनशुभ्रवस्त्राभरणशून्यां **पिण्डमात्रोपजीविनीं** प्राणयात्रामात्रभोजनाम्, धिक्कारादिभिः **परिभूतां**, भूतलशायिनीं स्ववेश्मन्येव **वासयेत्** वैराग्यजननार्थं, न पुनः शुद्ध्यर्थम् । 'यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम्' (मनु. ११।१७६) इति पृथक्प्रायश्चित्तोपदेशात् ॥ ७० ॥

व्यभिचारणी को सभी अधिकारों से वञ्चित कर, मलिन बनाकर जीवनयापन भर भोजन देकर, तिरस्कृत कर, भूमिशयन कराकर (अपने घर में ही) रखे ॥ ७० ॥

टिप्पणी– नीच वर्ण के साथ व्यभिचार करने पर बृहस्पति की व्यवस्था यह है–

'हीनवर्णोपभुक्ता या त्याज्या वध्या च सा भवेत्' ।

अतः संभव है कि याज्ञवल्क्य की यह व्यवस्था उच्चवर्ण या सवर्ण के साथ व्यभिचारिणी के लिये हो ।

तस्या अल्पप्रायश्चित्तार्थमर्थवादमाह—

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥ ७१ ॥

परिणयनात्पूर्वं सोम-गन्धर्व-वह्नयः स्त्रीर्भुक्त्वा यथाक्रमं तासां शौचमधुरवचनसर्वमेध्यत्वानि दत्तवन्तः । तस्मात् स्त्रियः सर्वत्र स्पर्शालिङ्गनादिषु मेध्याः शुद्धाः स्मृताः ॥ ७१ ॥

सोम ने स्त्रियों को शौच (पवित्रता) दी, गन्धर्व ने मधुर वाणी दी और अग्नि ने सब प्रकार से मेध्यत्व (पवित्रता) दी, अतः स्त्रियाँ (सर्वथा) पवित्र हैं ॥ ७१ ॥

नच तस्यास्तर्हि दोषो नास्तीत्याशङ्कनीयमित्याह—

व्यभिचाराद्दतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधीयते ।
गर्भभर्तृवधादौ च तथा महति पातके ॥ ७२ ॥

अप्रकाशितान्मनोव्यभिचारात्पुरुषान्तरसंभोगसंकल्पाद्यदपुण्यं तस्य ऋतौ रजोदर्शने शुद्धिः; शूद्रकृते तु गर्भे त्यागः । मनुः (९।१५५) 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः शूद्रेण संगताः । अप्रजाता विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥' इति स्मरणात् । तथा गर्भवधे भर्तृवधे महापातके च, ब्रह्महत्यादौ आदिग्रहणाच्छिष्यादिगमने च त्यागः । 'चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या । पतिघ्नी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या ॥' (वसिष्ठ. २१।१०) इति व्यासस्मरणात् । जुङ्गितः प्रतिलोमजश्चर्मकारादिः । त्यागश्चोपभोगधर्मकार्ययोः, नतु निष्कासनं गृहात्तस्याः । 'निरुन्ध्यादेकवेश्मनि' इति नियमात् ॥ ७२ ॥

स्त्री के व्यभिचार करने पर ऋतुकाल में वह शुद्ध होती है, (व्यभिचार से) गर्भ धारण करने पर त्याग विहित है तथा गर्भ एवं पति के वध आदि में तथा महापातक (ब्रह्महत्यादि) में त्यागना विहित है ॥ ७२ ॥

द्वितीयपरिणयने हेतूनाह—

सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्यार्थघ्न्यप्रियंवदा ।
स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा ॥ ७३ ॥

सुरां पिबतीति सुरापी शूद्राऽपि । 'पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां

पिबेत्' इति सामान्येन प्रतिषेधात् । **व्याधिता** दीर्घरोगग्रस्ता । **धूर्ता** विसंवादिनी । **वन्ध्या** निष्फला । **अर्थघ्नी** अर्थनाशिनी । **अप्रियंवदा** निष्ठुरभाषिणी । **स्त्रीप्रसूः** स्त्रीजननी । **पुरुषद्वेषिणी** सर्वत्राहितकारणी । '**अधिवेत्तव्या**' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । अधिवेदनं भार्यान्तरपरिग्रहः ॥ ७३ ॥

मदिरा पीने वाली, दीर्घरोगिणी, धूर्ता, वन्ध्या, धननाश करने वाली, कटु भाषण करने वाली, कन्याओं को उत्पन्न करने वाली तथा पुरुष (पति) से द्वेष करने वाली पत्नी के रहते हुए भी दूसरा विवाह विहित है ॥ ७३ ॥

अधिविन्ना तु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत् ।
यत्रानुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते ॥ ७४ ॥

किंच, सा **अधिविन्ना** पूर्ववदेव दानमानसत्कारैर्भर्तव्या । अन्यथाऽभरणे महदपुण्यं वक्ष्यमाणो दण्डश्च । नच भरणे सति केवलमपुण्यपरिहारः । यतः यत्र दंपत्योरानुकूल्यं चित्तैक्यं तत्र धर्मार्थकामानां प्रतिदिनमभिवृद्धिश्च ॥ ७४ ॥

(पूर्वोक्त दोषों वाली) जिस पत्नी के रहते हुये दूसरा विवाह कर लिया गया है उस पूर्व पत्नी का भरण करना चाहिये अन्यथा महान् पाप होता है । जहाँ पति-पत्नी में परस्पर अनुकूलता रहती है वहाँ त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) की वृद्धि होती है ॥ ७४ ॥

स्त्रियं प्रत्याह—

मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति ।
सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह ॥ ७५ ॥

भर्तरि **जीवति मृते वा** या चापल्यादन्यं पुरुषं **नोपगच्छति सेह** लोके विपुलां **कीर्तिमवाप्नोति । उमया च सह** क्रीडते; पुण्यप्रभावात् ॥ ७५ ॥

जो स्त्री पति के जीवित रहने या मरने पर अन्य पुरुषों के पास नहीं जाती वह इस लोक में कीर्ति पाती है तथा (मरने पर) पार्वती के साथ आनन्द करती है ॥ ७५ ॥

अधिवेदनकारणाभावे अधिवेत्तारं प्रत्याह—

आज्ञासंपादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम् ।
त्यजन्दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्यो भरणं स्त्रियाः ॥ ७६ ॥

आज्ञासं[३]पादिनीमादेशकारिणीम्, **दक्षां** शीघ्रकारिणीम्, **वीरसूं** पुत्रवतीम्, **प्रियवादिनीं** मधुरभाषिणीं **यस्त्यजति** अधिविन्दति, स राज्ञा स्वधनस्य **तृतीयांशं दाप्यः**। **निर्धनस्तु भरणं** ग्रासाच्छादनादि **दाप्यः** ॥ ७६ ॥

जो आज्ञाकारिणी, कुशल, पुत्र उत्पन्न करने वाली तथा प्रियवादिनी है, ऐसी पत्नी का त्याग करने पर (राजा) उससे धन का तृतीयांश (त्यक्ता पत्नी) को दिलवाये और यदि (पति) निर्धन है तो उससे (राजा) अन्न-वस्त्र दिलवाये ॥ ७६ ॥

स्त्रीधर्मानाह—

स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः ।
आ [३]शुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः ॥ ७७ ॥

स्त्रीभिः सदा **भर्तृवचनं कार्यम्** । यस्मादयमेव **पर** उत्कृष्टो **धर्मः**; **स्त्रीणां** स्वर्गहेतुत्वात् । यदा तु **महापातकदूषितस्तदा आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यः**, न तत्पारतन्त्र्यम् । उत्तरकालं तु पूर्ववदेव तत्पारतन्त्र्यम् ॥ ७७ ॥

स्त्रियों को पति के वचन का पालन करना चाहिये, क्योंकि स्त्री का यही परम (उत्कृष्ट) धर्म है । महापातक से दूषित पति का उसकी शुद्धिकाल तक पत्नी प्रतीक्षा करे ॥ ७७ ॥

शास्त्रीयदारसंग्रहस्य फलमाह—

लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः ।
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः ॥७८॥

लोके आनन्त्यं वंशस्याविच्छेदः **लोकानन्त्यं, दिवः प्राप्तिश्च**, दारसंग्रहस्य प्रयोजनम् । कथमित्याह—**पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकै**र्लोकानन्त्यम्, अग्निहोत्रादिभिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वयः । **यस्मात्** स्त्रीभ्य एतद्द्वयं भवति **तस्मात् स्त्रियः सेव्या** उपभोग्याः प्रजार्थम् । **रक्षितव्याश्च** धर्मार्थम् । तथा चापस्तम्बेन 'धर्मप्रजासंपत्तिः प्रयोजनं दारसंग्रहस्योक्तं धर्मप्रजासंपन्नेषु दारेषु नान्यां कुर्वीत' इति वदता । रतिफलं तु लौकिकमेव ॥ ७८ ॥

क्योंकि (दार संग्रह द्वारा) लोक में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों द्वारा अनन्तता (अविच्छिन्न-वंश) तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है, अतः (प्रजार्थ) उनका सेवन करना चाहिये तथा उन्हें सुरक्षित रखना चाहिये ॥ ७८ ॥

'पुत्रोत्पत्त्यर्थं स्त्रियः सेव्याः' (श्लो० ७८) इत्युक्तं, तत्र विशेषणमाह—

षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत् ।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

स्त्रीणां गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षितः काल **ऋतुः** । स च रजोदर्शनदिवसादारभ्य षोडशाहोरात्रस्तस्मिन् **ऋतौ युग्मासु** समासु रात्रिषु । 'रात्रि'-ग्रहणाद्दिवसप्रतिषेधः । **संविशेत्** गच्छेत्पुत्रार्थम् । 'युग्मासु' इति बहुवचनं समुच्चयार्थम् । अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ अप्रतिषिद्धासु युग्मासु सर्वासु रात्रिषु गच्छेत् । एवं गच्छन् **ब्रह्मचार्येव** भवति । अतो यत्र ब्रह्मचर्यं श्राद्धादौ चोदितं तत्र गच्छतोऽपि न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषोऽस्ति । किंच **पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्** । 'पर्वाणि' इति बहुवचनादाद्यर्थावगमादष्टमीचतुर्दश्योर्ग्रहणम् । यथाह मनुः (४।१५५)—'अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥' इति । अतोऽमावास्यादीनि रजोदर्शनादारभ्य चतस्रो रात्रीश्च वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

स्त्रियों की सोलह ऋतुकाल की रात्रियाँ होती हैं उस ऋतुकाल में युग्म (सम) रात्रियों में (पुत्रार्थ) उनके पास जाना चाहिये । (इस प्रकार स्त्री-गमन करने वाला) ब्रह्मचारी ही होता है । किन्तु पर्वकाल (अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी और चतुर्दशी) तथा प्रथम चार रात्रियों का निषेध करे ॥ ७९ ॥

टिप्पणी– युग्म (सम) रात्रियों में गमन से पुत्र की प्राप्ति वर्णित है । मनु का कथन है–

'युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्' ॥

पर्वकाल तथा आद्य चार रात्रियों का निषेध करने वाला ब्रह्मचारी ही होता है । इस विषय में मनु का कथन है–

'अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः' ॥ ४/१५५

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् ।
सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥ ८० ॥

किंच, एवमुक्तेन प्रकारेण **स्त्रियं गच्छन् क्षामां** गच्छेत् । क्षामता च तस्मिन्काले रजस्वलाव्रतेनैव भवति । अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्त्यर्थमल्पाऽस्निग्धभोजनादिना । 'पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियः' इति वचनात् । यदा युग्मायामपि रात्रौ शोणिताधिक्यं तदा स्त्र्येव भवति पुरुषाकृतिः । अयुग्मायामपि शुक्राधिक्ये पुमानेव भवति स्त्र्याकृतिः; कालस्य निमित्तत्वात् । शुक्रशोणितयोश्चोपादानकारणत्वेन प्राबल्यात् । तस्मात्क्षामा

कर्तव्या । **मघा-मूलनक्षत्रे वर्जयेत्** । **चन्द्रे** चैकादशादिशुभस्थानगते चकारात्पुंनक्षत्रे शुभयोगलग्नादिसंपत्तौ **सकृदेकस्यां** रात्रौ न द्विस्त्रिर्वा । **ततो लक्षणैर्युक्तं पुत्रं जनयति** । पुमानप्रतिहतपुंस्त्वः ॥ ८० ॥

मघा और मूल नक्षत्रों को छोड़कर चन्द्रमा के (एकादशादि शुभ स्थान में होने पर) जो (रजःस्राव के बाद) दुर्बल स्त्री के पास एक बार जाता है वह मनुष्य शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र को उत्पन्न करता है ॥ ८० ॥

एवमृतौ नियममुक्त्वा इदानीमनृतौ नियममाह—

यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् ।
स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृताः ॥ ८१ ॥

भार्याया इच्छानतिक्रमेण प्रवृत्तिरस्यास्तीति **यथाकामी भवेत्**। 'वा'शब्दो नियमान्तरपरिग्रहार्थः, न पूर्वनियमनिवृत्त्यर्थः। **स्त्रीणां वर**मिन्द्रदत्त**मनुस्मरन्** 'भवतीनां कामविहन्ता पातकी स्यात्' इति । यथा 'ता अब्रुवन् वरं वृणीमहा ऋत्वियात्प्रजां विन्दामहै काममा विजनितोः संभवामेति तस्मादृत्वियात् स्त्रियः प्रजां विन्दन्ते काममा विजनतोः संभवन्ति वारे वृतश्ह्यासाम्' इति । अपि च **स्वदारेष्वेव निरतः** नितरां रतस्तन्मनस्कः, 'भवेत्' इत्यनुषज्यते। एवकारेण स्त्र्यन्तरगमनं निवर्तयति; प्रायश्चित्तस्मरणात् । उभयत्रापि दृष्टप्रयोजनमाह—**स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृता** इति । यस्मात्स्त्रियो **रक्ष्याः स्मृता** उक्ताः 'कर्तव्याश्च सुरक्षिताः'—(आचार. ७८) इति । तच्च सुरक्षणं यथाकामित्वेन स्त्र्यन्तरागमनेन च भवतीति । अत्राह—तस्मिन्युग्मासु संविशेत्' (आचार. ७९) इति, किमयं विधिर्नियमः परिसंख्या वा? उच्यते,—न तावद्विधिः; प्राप्तार्थत्वात् । नापि परिसंख्या; दोषत्रयसमासक्तेः । अतो नियमं प्रतिपेदिरे न्यायविदः । कः पुनरेषां भेदः? अत्यन्ताप्राप्तप्रापणं **विधिः**, यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'अष्टकाः कर्तव्याः' इति । पक्षे प्राप्तस्याप्राप्तपक्षान्तरप्रापणं **नियमः**, यथा 'समे देशे यजेत' 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इति यागः कर्तव्यतया विहितः । स च देशमन्तरेण कर्तुमशक्य इत्यर्थाद्देशः प्राप्तः । सच समो विषमश्चेति द्विविधः । यदा यजमानः समे यियक्षते तदा समे यजेतेति वचनमुदास्ते, स्वार्थस्य प्राप्तत्वात् । यदा तु विषमे देशे यियक्षते तदा समे यजेतेति स्वार्थं विधत्ते, स्वार्थस्य तदानीमप्राप्तत्वात् । विषमदेशनिवृत्तिस्त्वार्थिकी । चोदितदेशेनैव यागनिष्पत्तेरचोदितदेशोपादानेन यथाशास्त्रं यागो नानुष्ठितः स्यादिति । तथा 'प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत' इति । इदमपि स्मार्तमुदाहरणं पूर्वेण व्याख्यातम् ॥ एकस्यानेकत्र प्राप्तस्यान्यतो निवृत्त्यर्थमेकत्र पुनर्वचनं **परिसंख्या** । तद्यथा—'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इत्ययं मन्त्रः स्वसामर्थ्यादश्वाभिधान्याः गर्दभाभिधान्याश्च रशनाया ग्रहणे विनियुक्तः; पुनरश्वाभिधानीमादत्त इत्यनेनाश्वाभिधान्यां विनियुज्यमानो गर्दभाभिधान्या निवर्तते । यथा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यत्र हि यदृच्छया शशादिषु

श्वादिषु च भक्षणं प्राप्तं पुनः शशादिषु श्रूयमाणं श्वादिभ्यो निवर्तेत इति ॥ किं[2] पुनरत्र युक्तम्? परिसंख्येत्याह। तथा हि—कृतदारसंग्रहस्य स्वेच्छयैवर्तौ गमनं प्राप्तमिति न विधेरयं विषयः। नापि नियमस्य; गृह्यस्मृतिविरोधात्। एवं हि स्मरन्ति गृह्यकाराः—'दारसंग्रहानन्तरं त्रिरात्रं द्वादशरात्रं संवत्सरं वा ब्रह्मचारी स्यात्' इति। तत्र द्वादशरात्रात्संवत्सराद्वा पूर्वमेवर्तुसंभवे ऋतौ गच्छेदेवेति नियमाद्ब्रह्मचर्यस्मरणं बाध्येत। अपि च प्राप्ते भावार्थे वचनं विशेषणपरं युक्तं, प्राप्तं चर्तौ भार्यागमनमिच्छयैव, अतो यदि गच्छेदृतावेवेति वचनव्यक्तिर्युक्ता। किंच नैयमिकात्पुत्रोत्पत्तिविधेरेव ऋतौ गमनं नित्यप्राप्तमेवेति ऋतौ गच्छेदेवेति नियमोऽनर्थकः स्यात्। नियमे चादृष्टं कल्पनीयम्। किंच ऋतौ गन्तव्यमेवेति नियमे असन्निहितस्य व्याध्यादिना असमर्थस्यानिच्छोश्चाशक्योऽर्थ उपदिष्टः स्यात्। विध्यनुवादविरोधश्च नियमे। तथा हि—एकः शब्दः सकृदुच्चरितस्तमेवार्थं पक्षेऽनुवदति पक्षे तु विधत्ते चेति। तस्मादृतावेव गच्छेन्नान्यत्रेति परिसंख्यैव युक्ता। [1]तदिदं [1]भारुचिविश्वरूपादयो नानुमन्यन्ते। अतो नियम एव युक्तः; पक्षे स्वार्थविधिसंभवात्, अगमने दोषश्रवणाच्च। 'ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥' (पराशर.) इति। नच विध्यनुवादविरोधः; अनुवादाभावाद्विध्यर्थत्वाच्च वचनस्य। तत्र हि विध्यनुवादविरोधो यत्र विधेयावधितया तदेवानुवदितव्यं, अप्राप्ततया[2]न्योद्देशेन विधातव्यं च। यथा वाजपेयाधिकरणपूर्वपक्षे 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति वाजपेयलक्षणगुणविधानावधित्वेन यागोऽनुवदितव्यः, स एव स्वाराज्यलक्षणफलोद्देशेन विधातव्यश्चेति। न चानुवादेनेह कृत्यमस्ति। यत्तु—नियमेऽदृष्टं कल्प्यमित्युक्तं, तत्परिसंख्यायामपि समानम्; अनृतौ गच्छतो दोषकल्पनात्। यत्तु नैयमिकपुत्रोत्पादनविध्याक्षेपेणैव ऋतौ नित्यगमनप्राप्तेर्न नियम इति,—[3]तदसत्; स एवायं नैयमिकपुत्रोत्पादनविधिः स्यान्मतम्। 'एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां लक्षण्यं पुत्रं जनयेत्' इति स्त्र्यभिगमनातिरिक्तः पुत्रोत्पादनविधिरिति,—तन्न; [4]गमनकरणिकाया भावनाया एव पुत्रोत्पत्तिकर्मता प्रदृश्यते। एवं गच्छन् लक्षण्यं पुत्रं जनयेदित्यनेन यथाग्निहोत्रं जुह्वन् स्वर्गं भावयेदिति। न चासंनिहितादेरशक्यार्थविधिप्रसङ्गः। सन्निहितशक्तयोरेवोपदेशात् 'ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति'। 'यः स्वदारानृतुस्नातान्स्वस्थः सन्नोपगच्छति' (देवल.) इति विशेषोपादानात्। अनिच्छानिवृत्तिस्तु नियमविधानादेव। नच विशेषणपरतापि। पक्षे भावार्थविधिसंभवात्। नापि गृह्यस्मृतिविरोधः। संवत्सरात्पूर्वमेवर्तुदर्शने संविशतो न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषो यथा श्राद्धादिषु। तस्मात्स्वार्थहानि-परार्थकल्पना-प्राप्तबाधलक्षणदोषत्रयवती परिसंख्या न युक्ता। एवं 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इत्यत्र यद्यपि शशादिषु भक्षणस्य पक्षे प्राप्तेर्नियमः शशादिषु, श्वादिषु च प्राप्तेः परिसंख्येत्युभयसंभवः, तथापि नियमपक्षे शशाद्यभक्षणे दोषप्रसङ्गः, श्वादिभक्षणे चादोषप्रसङ्गेन प्रायश्चित्त[5]स्मृतिविरोध इति परिसंख्यैवाश्रिता। एतेन 'सायंप्रातर्द्विजातीनामशनं [6]स्मृतिनोदितम्' इत्यत्रापि नियमो व्याख्यातः। 'नान्तरा भोजनं कुर्यात्' इति च

पुनरुक्तं स्यात्परिसंख्यायाम्। एवं च नियमे सति ऋतावृताविति वीप्सा लभ्यते, 'निमित्तावृत्तौ नैमित्तिकमप्यावर्तते' इति न्यायात्। 'यथाकामी भवेत्'इत्ययमपि नियम एव। अनृतावपि स्त्रीकामनायां सत्यां स्त्रियमभिरमयेदेवेति। 'ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्' इत्येतदपि गौतमीयं (५।१-२) सूत्रद्वयं नियमपरमेव। ऋतावुपेयादेव। अनृतावपि स्त्रीकामनायां सत्यां प्रतिषिद्धवर्जमुपेयादेवेत्यलमतिप्रसङ्गेनेति ॥ ८१ ॥

अथवा स्त्रियों के (इन्द्र-प्रदत्त) वर को स्मरण करते हुये (कि तुम्हारी कामना होने पर ऋतुकाल में जो तुम्हारे पास नहीं जायेगा वह पातकी होगा) उसकी इच्छानुसार जावे। वह अपनी स्त्री में रत हो, क्योंकि स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिये ऐसी विधि है ॥ ८१ ॥

भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः।
बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ॥ ८२ ॥

किंच, **भर्तृप्रभृतिभिः** पूर्वोक्ताः साध्व्यः **स्त्रियो** यथाशक्त्यलंकारवसनभोजनपुष्पादिभिः **संमाननीयाः**। यस्मात्ताः पूजिता धर्मार्थकामान्संवर्धयन्ति ॥

स्त्री पति, भाई, पिता, जाति, सास, श्वसुर, देवर तथा बान्धवों द्वारा आभूषण, वस्त्र तथा भोजन द्वारा पूजनीय है ॥ ८२ ॥

तथा पुनः समर्पितगृहव्यापारया किंभूतया भवितव्यमित्यत आह—

संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी।
कुर्याच्छ्वशुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा ॥ ८३ ॥

संयतः स्वस्थाननिवेशितः **उपस्करो** गृहोपकरणवर्गो यया सा तथोक्ता। यथोलूखलमुसलशूर्पादेः कण्डनस्थाने, दृषदुपलयोरवियोगेन पेषणस्थान इत्यादि। **दक्षा** गृहव्यापारकुशला, **हृष्टा** सदैव प्रहसितानना, **व्ययपराङ्मुखी** न व्ययशीला; 'स्यात्' इति सर्वत्र शेषः। किंच, श्वश्रूश्च श्वशुरश्च **श्वशुरौ**। 'श्वशुरः श्वश्र्वा' (पा० १।२।७१) इत्येकशेषः, तयोः **पादवन्दनं** नित्यं **कुर्यात्**। 'श्वशुर'ग्रहणं मान्यान्तरोपलक्षणार्थम्। **भर्तृतत्परा** भर्तृवशवर्तिनी सती पूर्वोक्तं कुर्यात् ८३

स्त्री घर के उपस्कर (सामानों) को संभाल कर रखने वाली, कुशल, प्रसन्नचित्त, खर्च न करने वाली तथा पति की वशवर्तिनी हो। वह सास-ससुर को पैर छूकर प्रणाम करे ॥ ८३ ॥

भर्तृसन्निधावुक्तम्, प्रोषिते भर्तरि तया किं कर्तव्यमित्यत आह—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥ ८४ ॥

देशान्तरगतभर्तृका क्रीडां कन्दुकादिभिः **शरीरसंस्कार**मुद्वर्तनादिभिः, **समाजो** जनसमूहः। **उत्सवो** विवाहादिः। **तयोर्दर्शनं, हास्यं** विजृम्भणं **परगृहे** गमनम्। 'त्यजेत्' इति प्रत्येकं संबध्यते॥ ८४॥

जिसका पति बाहर गया हो वह क्रीड़ा, शरीर का शृंगार, जन-समूह तथा विवाहादि उत्सवों का दर्शन, हंसी, पर-गृह में गमन न करे ॥ ८४ ॥

रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां[1] पतिः पुत्रास्तु वार्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः॥ ८५॥

किंच, पाणिग्रहणात्प्राक् **पिता कन्यामकार्यकरणाद्रक्षेत्**। तत ऊर्ध्वं भर्ता। तदभावे **पुत्राः**, वृद्धभावे च **तेषामुक्तानामभावे ज्ञातयः**, ज्ञातीनामभावे राजा; 'पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता प्रभुः स्त्रियाः' इति वचनात्। अतः **क्वचिदपि स्त्रीणां नैव स्वातन्त्र्यम्**॥ ८५॥

पति स्त्री की कन्यावस्था में पिता रक्षा करे, विवाहानन्तर पति रक्षा करे, वृद्धावस्था में (पति के अभाव में) पुत्र रक्षा करे। इनके अभाव में जाति के लोग रक्षा करें। स्त्रियों का कहीं भी स्वातन्त्र्य नहीं है ॥ ८५ ॥

पितृमातृसुतभ्रातृश्वश्रूश्वशुरमातुलैः।
हीना न स्याद्विना भर्त्रा गर्हणीयाऽन्यथा भवेत्॥८६॥

किंच, **भर्त्रा[2] विना** भर्तृरहिता पित्रादिरहिता वा **न स्यात्**। यस्मात्तद्रहिता[3] **गर्हणीया** निन्द्या **भवेत्**। एतच्च ब्रह्मचर्यपक्षे।–'भर्तरि प्रेते ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा' (२५।१४) इति विष्णुस्मरणात्। अन्वारोहणे महानभ्युदयः। तथा च व्यासः कपोतिकाख्यानव्याजेन दर्शितवान्—'पतिव्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम्। तत्र चित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्वपद्यत॥ ततः स्वर्गं गतः पक्षी भार्यया सह संगतः। कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे च सह भार्यया॥' इति। तथा च शङ्खाङ्गिरसौ–'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे। तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति॥' इति प्रतिपाद्य तयोरवियोगं दर्शयतः—'व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात्। तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते॥ तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमानाऽप्सरोगणैः। क्रीडते पतिना सार्धं यावदिन्द्राश्चतुर्दश॥' इति। तथा—'ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भवेत्पतिः। पुनात्यविधवा नारी तमादाय मृता तु या॥ मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम्। सारुन्धतीसमाचारा स्वर्गलोके महीयते॥ यावच्चाग्नौ मृते पत्यौ स्त्री नात्मानं प्रदाहयेत्। तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात्कथंचन॥' इति। हारीतोऽपि–'मातृकं पैतृकं चापि यत्र चैव प्रदीयते। कुलत्रयं पुनात्येषा

भर्तारं यानुगच्छति ॥' इति, तथा—'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति । अयं च सकल एव सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्यानामाचण्डालं साधारणो धर्मः; 'भर्तारं याऽनुगच्छति' इत्यविशेषोपादानात् । यानि च ब्राह्मण्यनुगमननिषेधपराणि वाक्यानि—'मृतानुगमनं नास्ति ब्राह्मण्या ब्रह्मशासनात् । इतरेषु तु वर्णेषु तपः परममुच्यते ॥ जीवन्ती तद्धितं कुर्यान्मरणादात्मघातिनी । या स्त्री ब्राह्मणजातीया मृतं पतिमनुव्रजेत् ॥ सा स्वर्गमात्मघातेन नात्मानं न पतिं नयेत् ॥' इत्येवमादीनि, तानि पृथक्चित्यधिरोहणविषयाणि; 'पृथक्चितिं समारुह्य न विप्रा गन्तुमर्हति' इति विशेषस्मरणात् । अनेन क्षत्रियादिस्त्रीणां पृथक्चित्यभ्यनुज्ञा गम्यते । यत्तु कैश्चिदुक्तं—पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यात्महननस्य प्रतिषिद्धत्वादतिप्रवृद्धस्वर्गाभिलाषायाः प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामन्त्या अयमनुगमनोपदेशः श्येनवत् । यथा 'श्येनेनाभिचरन्यजेत' इति तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्तस्य प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामतः श्येनोपदेश इति,—तदयुक्तम् । ये तावत् श्येनकरणिकायां भावनायां भाव्यभूतहिंसायां विधिसंस्पर्शाभावेन प्रतिषेधसंस्पर्शात्फलद्वारेण श्येनस्यानर्थतां वर्णयन्ति, तेषां मते हिंसाया एव स्वर्गार्थतया अनुगमनशास्त्रेण विधीयमानत्वात्प्रतिषेधसंस्पर्शाभावादग्नीषोमीयवत्स्पष्टमेवानुगमनस्य श्येनवैषम्यम् । यत्तु मतं—हिंसा नाम मरणानुकूलो व्यापारः, श्येनश्च परमरणानुकूलव्यापाररूपत्वाद्धिंसैव, कामाधिकारे च करणांशे रागतः प्रवृत्तिसंभवेन विधेरप्रवर्तकत्वात् । रागप्रयुक्तहिंसारूपत्वात् श्येनः प्रतिषिद्धः स्वरूपेणैवानर्थकर इति, तत्राप्यनुगमनशास्त्रेण मरणस्यैव स्वर्गसाधनतया विधानान्मरणे यद्यपि रागतः प्रवृत्तिस्तथापि मरणानुकूले व्यापारेऽग्निप्रवेशादावितिकर्तव्यतारूपे विधित एव प्रवृत्तिरिति न निषेधस्यावकाशः 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इतिवत्; तस्मात्स्पष्टमेवानुगमनस्य श्येनवैषम्यम् । यत्तु—'तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्' इति श्रुतिविरोधादनुगमनमयुक्तमिति, यच्च 'तदुह न स्वःकाम्यायुषः प्राङ् न प्रेयात्' इति स्वर्गफलोद्देशेनायुषः प्रागायुर्व्ययो न कर्तव्यो मोक्षार्थिना, यस्मादायुषः शेषे सति नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानक्षपितान्तःकरणकलङ्कस्य श्रवणमनननिदिध्यासनसंपत्तौ सत्यमात्मज्ञानेन नित्यनिरतिशयानन्दब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षसंभवः । तस्मादनित्याल्पसुखरूपस्वर्गार्थमायुर्व्ययो न कर्तव्य इत्यर्थः । अतश्च मोक्षमनिच्छन्त्या अनित्याल्पसुखरूपस्वर्गार्थिन्या अनुगमनं युक्तम्, इतरकाम्यानुष्ठानवदिति सर्वमनवद्यम्॥८६॥

पति के अभाव में पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर, मामा के बिना न रहे । अन्यथा (स्त्री) निन्दनीय होती है ॥ ८६ ॥

पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया ।
सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम् ॥ ८७ ॥

किंच, प्रियमनवद्यत्वेन मनसोऽनुकूलम्, आयत्यां यच्छ्रेयस्करं तद्धितम्, प्रियं च तद्धितं च प्रियहितम्। पत्युः प्रियहितं **पतिप्रियहितं** तस्मिन् **युक्ता** निरता। **स्वाचारा** शोभन आचारो यस्याः सा तथोक्ता। शोभनश्चाचारो दर्शितः शङ्खेन—'नानुक्त्वा गृहान्निर्गच्छेन्नानुत्तरीया न त्वरितं व्रजेन्न परपुरुषमभिभाषेतान्यत्र वणिक्प्रव्रजितवृद्धवैद्येभ्यः, न नाभिं दर्शयेत्, आगुल्फाद्वासः परिदध्यात्, न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्, न हसेदप्रावृता भर्तारं तद्बन्धून्वा न द्विष्यान्न गणिकाधूर्ताभिसारिणीप्रव्रजिताप्रेक्षणिकामायामूलकुहककारिकादुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत्, संसर्गेण हि कुलस्त्रीणां चारित्रं दुष्यति' इति। **विजितेन्द्रिया** विजितानि संयमितानि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि वागादीनि च मनःसहितानि यया **सा इह** लोके **कीर्तिं** प्रख्यातिं परलोके **चोत्तमां गतिं प्राप्नोति**। अयं च सकल एव स्त्रीधर्मो विवाहादूर्ध्वं वेदितव्यः। 'प्रागुपनयनात्कामचारकामवादकामभक्षाः' इति स्मरणात्। 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः' इति च ॥८७॥

पति के प्रिय तथा हित में संलग्न, शोभन आचार वाली तथा विजितेन्द्रिय स्त्री इस लोक में कीर्ति प्राप्त करती है तथा पर लोक में उत्तम गति को प्राप्त करती है ॥ ८७ ॥

अनेकभार्यं प्रत्याह—

सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत्।
सवर्णासु विधौ धर्म्ये ज्येष्ठया न विनेतरा ॥ ८८ ॥

सवर्णायां सत्यामन्यामसवर्णां नैव धर्मकार्यं कारयेत्। सवर्णास्वपि बह्वीषु **धर्म्ये** विधौ धर्मानुष्ठाने **ज्येष्ठया विना** ज्येष्ठां मुक्त्वा **इतरा** मध्यमा कनिष्ठा वा **न** नियोक्तव्या ॥ ८८ ॥

सवर्णा (समान जाति वाली) स्त्री के रहने पर अन्या (असवर्णा) को धर्मकार्य में न लगावे। बहुत सवर्णा के होने पर भी धर्मकार्य में ज्येष्ठा (सवर्णा) के बिना अन्य को न लगावे ॥ ८८ ॥

प्रमीत[1]पतिकाया विधिमुक्त्वा इदानीं प्रमीत[2]भार्यं प्रत्याह—

दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः।
आहरेद्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन् ॥ ८९ ॥

पूर्वोक्तवृत्तवतीं आचारवतीं विपन्नां[3] **स्त्रियमग्निहोत्रेण** श्रौतेनाग्निना तदभावे स्मार्तेन **दाहयित्वा पतिः** भर्ता अनुत्पादितपुत्रोऽनिष्टयज्ञो वा आश्रमान्तरेष्वनधिकृतो वा ह्यन्तराभावे पुनर्**दारान् अग्नींश्च विधिवदाहरेत्**। **अविलम्बयन्** शीघ्रमेव।—'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः' इति दक्षस्मरणात्। एतच्चाधानेन सहाधिकृताया एव, नान्यस्याः। यत्तु—'द्वितीयां

चैव यो भार्यां दहेद्वैतानिकाग्निभिः । जीवन्त्यां प्रथमायां हि सुरापानसमं हि तत् ॥' इति, तथा—'मृतायां तु द्वितीयायां योऽग्निहोत्रं समुत्सृजेत् । ब्रह्मघ्नं तं विजानीयाद्यश्च कामात्समुत्सृजेत् ॥' इत्येवमादि, तदाधानेन सहानधिकृताया अग्निदाने वेदितव्यम् ॥ ८९ ॥

सदाचार युक्त पत्नी का (पत्नी के मृत होने पर) पति अग्निहोत्र की अग्नि से दाहसंस्कार कर बिना विलम्ब के विधिपूर्वक (दूसरी) पत्नी का ग्रहण करे और अग्निहोत्राग्नि का आधान करे ॥ ८९ ॥

इति विवाहप्रकरणम् ।

अथ वर्णजातिविवेकप्रकरणम् ४

ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्या भवन्ति, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे, शूद्रस्यैका, इत्युक्त्वा, तासु च पुत्रा उत्पादयितव्या इत्युक्तम् । इदानीं कस्यां कस्मात् कः पुत्रो भवतीति विवेकमाह—

सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः ।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः संतानवर्धनाः ॥ ९० ॥

सवर्णेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः **सवर्णासु** ब्राह्मण्यादिषु **सजातयो** मातृपितृसमानजातीयाः **पुत्रा** भवन्ति । 'विन्नास्वेष विधिः स्मृतः' (२९) इतिं सर्वशेषत्वेनोपसंहारात् विन्नासु, 'सवर्णासु' इति संबध्यते । 'विन्न'शब्दस्य संबन्धिशब्दत्वाद्वेत्तृभ्यः सवर्णेभ्य इति लभ्यते । एकः 'सवर्ण'शब्दः स्पष्टार्थः । अतश्चायमर्थः संवृत्तः—उक्तेन विधिनोढायां सवर्णायां वोढुः सवर्णादुत्पन्नास्तस्मात्समानजातीया भवन्ति । अतश्च कुण्डगोलककानीनसहोढजादीनामसवर्णत्वमुक्तं भवति । ते च सवर्णेभ्योऽनुलोमप्रतिलोमेभ्यश्च भिद्यमानाः साधारणधर्मैर्हिंसादिभिरधिक्रियन्ते ।—'शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः' इति स्मरणात् । अपध्वंसजा व्यभिचारजाताः शूद्रधर्मैरपि द्विजशुश्रूषादिभिरधिक्रियन्ते । ननु कुण्डगोलकयोर्ब्राह्मणत्वात् श्राद्धे प्रतिषेधोऽनुपपन्नः न्यायविरोधश्च । यो यज्जातीयाद्यज्जातीयायामुत्पन्नः स तज्जातीय एव भवति,—यथा गोर्गवि गौः, अश्वादडवायामश्वः । तस्माद्ब्राह्मणाद्ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण इति न विरुद्धम् । तथा कानीनपौनर्भवादीननुक्रम्य—'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः' (व्य. १३३) इति वक्ष्यमाणवचनविरोधश्च । नैतत्सारम् । ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण इति भ्रमनिवृत्त्यर्थः श्राद्धे प्रतिषेधः । यथाऽत्यन्तमप्राप्तस्य पतितस्य श्राद्धे प्रतिषेधः । नच न्यायविरोधः । यत्र प्रत्यक्षगम्या जातिर्भवति तत्र तथा । ब्राह्मणादि-

जातिस्तु स्मृतिलक्षणा यथास्मरणं भवति । यथा समानेऽपि ब्राह्मण्ये कुण्डिनो वैसिष्ठोऽत्रिर्गौतम इति स्मरणलक्षणं गोत्रम्, तथा मनुष्यत्वे समानेऽपि ब्राह्मण्यादिजातिः स्मरणलक्षणा । मातापित्रोश्चैतदेव जातिलक्षणम्' । न चानवस्था । अनादित्वात्संसारस्य शब्दार्थव्यवहारवत् । 'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः' (व्य.१३३) इति चोक्तानुवादत्वाद्यथासंभवं व्याख्यास्यते । क्षेत्रजस्तु मातृसमानजातीयः; नियोगस्मरणात्, शिष्टसमाचाराच्च । यथा धृतराष्ट्रपाण्डुविदुराः क्षेत्रजाः सन्तो मातृसमानजातीया इत्यलमतिप्रसङ्गेन । किंच, **अनिन्द्येषु** ब्राह्मादि**विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धना** अरोगिणो दीर्घायुषो धर्मप्रजासंपन्ना **भवन्ति** ॥९०॥

सवर्ण (पुरुषों) द्वारा प्रशस्त (ब्राह्म आदि) विवाहों से ग्रहण की गई सवर्णा (समान वर्ण) की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र सजाति (उसी वर्ण के) होते हैं और ऐसे पुत्र सन्तान बढ़ाने वाले (अर्थात् अरोगी, दीर्घायु तथा धर्म सन्तान बढ़ाने वाले) होते हैं ॥ ९० ॥

सवर्णानुक्त्वा इदानीमनुलोमानाह—

विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम् ।
अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि वा ॥ ९१ ॥

ब्राह्मणात्क्षत्रियायां विन्नायामुत्पन्नो **मूर्धावसिक्तो** नाम पुत्रो भवति । वैश्यकन्यकायां विन्नायामुत्पन्नो**ऽम्बष्ठो** नाम भवति । **शूद्रायां** विन्नायां **निषादो** नाम पुत्रो भवति । निषादो नाम कश्चिन्मत्स्यघातोपजीवी प्रतिलोमजः, स मा भूदिति **पारशवो**ऽयं निषाद इति संज्ञाविकल्पः । **'विप्रात्'** इति सर्वत्रानुवर्तते । यत्तु—'ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति, क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति । वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः शूद्र एव भवति' इति शङ्खस्मरणं, तत्क्षत्रियादिधर्मप्राप्त्यर्थम्, न पुनर्मूर्धावसिक्तादिजातिनिराकरणार्थं, क्षत्रियादिजातिप्राप्त्यर्थं वा । अतश्च मूर्धावसिक्तादीनां क्षत्रियादेरुक्तैरेव दण्डाजिनोपवीतादिभिरुपनयनादिकं कार्यम् । प्रागुपनयनात्कामचारादि पूर्ववदेव वेदितव्यम् ॥ ९१ ॥

ब्राह्मण द्वारा (विवाहित) क्षत्रिया स्त्री के उत्पन्न पुत्र मूर्धावसिक्त, वैश्या स्त्री में उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ और शूद्रा में उत्पन्न पुत्र निषाद या पारशव होता है ॥ ९१ ॥

वैश्याशूद्र्योस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ ।
वैश्यात्तु करणः शूद्र्यां विन्नास्वेष विधिः स्मृतः ॥ ९२ ॥

वैश्यायां शूद्रायां च विन्नायां **राजन्यान्माहिष्योग्रौ** यथाक्रमं **पुत्रौ**

भवतः । **वैश्येन शूद्रायां विन्नायां करणो** नाम पुत्रो भवति । **एष** सवर्णमूर्धावसिक्तादिसंज्ञाविधिः विन्नासूढासु **स्मृत** उक्तो वेदितव्यः । एते च मूर्धावसिक्ता-म्बष्ठ-निषाद-माहिष्योग्र-करणाः षडनुलोमजाः पुत्रा वेदितव्याः ॥ ९२ ॥

क्षत्रिय द्वारा (विवाहित) वैश्या और शूद्रा स्त्री में उत्पन्न पुत्र क्रमशः माहिष्य और उग्र होते हैं । वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र करण होता है । यह विवाहित स्त्रियों के विषय में ही नियम कहा गया है ॥ ९२ ॥

प्रतिलोमजानाह—

ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा ।
शूद्राज्जातस्तु चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥ ९३ ॥

ब्राह्मण्यां क्षत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादिता यथाक्रमं **सूत-वैदेहक-चण्डाला**ख्याः पुत्रा भवन्ति । तत्र **चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः** ॥ ९३ ॥

ब्राह्मणी में क्षत्रिय द्वारा उत्पन्न पुत्र सूत, वैश्य से वैदेहक और शूद्र से उत्पन्न चाण्डाल होता है, जो सभी धर्मों से बहिष्कृत है ॥ ९३ ॥

क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात्क्षत्तारमेव च ।
शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥ ९४ ॥

किंच, **क्षत्रिया** योषित् **वैश्यान्मागधं** नाम पुत्रं **जनयति । सैव शूद्रात्क्षत्तारं** पुत्रं जनयति । **वैश्ययोपिच्छूद्रादायोगवं पुत्रं** जनयति । एते च सूत-वैदेहक-चण्डाल-मागध-क्षत्राऽयोगवाः षट् प्रतिलोमजाः । एतेषां च वृत्तय **औशनसे मानवे** च द्रष्टव्याः ॥ ९४ ॥

क्षत्रिया स्त्री वैश्य से मागध तथा शूद्र से क्षत्ता पुत्र को उत्पन्न करती है । वैश्या स्त्री शूद्र से आयोगव नामक पुत्र को उत्पन्न करती है ॥ ९४ ॥

संकीर्णसंकरे जात्यन्तरमाह—

माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते ।
असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः ॥ ९५ ॥

क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो **माहिष्यः** । वैश्येन शूद्रायामुत्पादिता **करणी** तस्यां **माहिष्येणोत्पादितो रथकारो** नाम जात्या भवति । तस्य चोपनयनादि सर्वं कार्यम्; वचनात् । यथाह शङ्खः—'क्षत्रियवैश्यानुलोमान्तरोत्पन्नो यो रथकारस्तस्येज्यादानोपनयनसंस्कारक्रिया अश्वप्रतिष्ठारथसूत्रवास्तुविद्याध्ययनवृत्तिता च' इति । एवं ब्राह्मणक्षत्रियोत्पन्नमूर्धावसिक्तमाहिष्यादनुलोमसंकरे जात्यन्तरता उपनयनादिप्राप्तिश्च वेदितव्या; तयोर्द्विजातित्वात् । संज्ञास्तु स्मृत्यन्तरोक्ता

द्रष्टव्याः । एतच्च प्रदर्शनमात्रमुक्तम्; संकीर्णसंकरजाता[४]नामानन्त्याद्वक्तुमशक्यत्वात् । अत एतावदत्र विवक्षितं—**असन्तः प्रतिलोमजाः, सन्तश्चानुलोमजा ज्ञातव्या** इति ॥ ९५ ॥

माहिष्य (वैश्या स्त्री से क्षत्रिय द्वारा उत्पन्न) पुरुष द्वारा करणी (वैश्य द्वारा शूद्रा में उत्पन्न स्त्री) में रथकार उत्पन्न होता है । (इनमें) प्रतिलोमों और अनुलोमों (उच्च पुरुष द्वारा अपने से नीची स्त्री में उत्पन्न सन्तान) को क्रमशः निन्दित तथा प्रशस्त समझना चाहिये ॥ ९५ ॥

'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्त' (९०) इत्यादिना वर्णप्राप्तौ कारणमुक्तम्, इदानीं कारणान्तरमाह—

जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा ।
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम् ॥ ९६ ॥

जातयो मूर्धावसिक्ताद्यास्तासामुत्कर्षो ब्राह्मणत्वादिजातिप्राप्तिर्जात्युत्कर्षो **युगे** जन्मनि **सप्तमे पञ्चमे, 'अपि'**शब्दात्षष्ठे **वा** बोद्धव्यः । व्यवस्थितश्चायं विकल्पः । व्यवस्था च—ब्राह्मणेन शूद्रायामुत्पादिता निषादी, सा ब्राह्मणेनोढा दुहितरं कांचिज्जनयति, सापि ब्राह्मणेनोढाऽन्यां जनयतीत्यनेन प्रकारेण षष्ठी सप्तमं ब्राह्मणं जनयति । ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पादिता ऽम्बष्ठा । साप्यनेन प्रकारेण पञ्चमी षष्ठं[१] ब्राह्मणं जनयति । मूर्धावसिक्ताप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चमं ब्राह्मणमेव जनयति । एवमुग्रा क्षत्रियेणोढा माहिष्या च यथाक्रमं क्षत्रियं षष्ठं पञ्चमं जनयति । तथा करणी वैश्योढा पञ्चमं वैश्यमिति, एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । किंच, **कर्मणां व्यत्यये** वृत्त्यर्थानां **कर्मणां** व्यत्यये विपर्यासे यथा ब्राह्मणो मुख्यया[२] वृत्त्या अजीवन् क्षात्रेण कर्मणा जीवेदित्यनुकल्पः।तेनाप्यजीवन् वैश्यवृत्त्या तयाप्यजीवन् शूद्रवृत्त्या। क्षत्रियोऽपि स्वकर्मणा जीवनार्थेनाजीवन् वैश्यवृत्त्या शूद्रवृत्त्या वा । वैश्योऽपि स्ववृत्त्या अजीवन् शूद्रवृत्त्येति कर्मणां व्यत्ययः । तस्मिन्व्यत्यये सति यद्यापद्विमोक्षेऽपि तां वृत्तिं न परित्यजति तदा सप्तमे[३] षष्ठे पञ्चमे वा जन्मनि साम्यं, यस्य हीनवर्णस्य कर्मणा जीवति तत्समानजातित्वं भवति । तद्यथा ब्राह्मणः शूद्रवृत्त्या जीवंस्तामपरित्यजन् यदि पुत्रमुत्पादयति सोऽपि तथैव वृत्त्या जीवन्पुत्रान्तर[४]मित्येवं पुत्रपरम्परया सप्तमे जन्मनि शूद्रमेव जनयति । वैश्यवृत्त्या जीवन् षष्ठे वैश्यम् । क्षत्रियवृत्त्या जीवन् पञ्चमे क्षत्रियम् । क्षत्रियोऽपि शूद्रवृत्त्या जीवन् षष्ठे शूद्रम् । वैश्यवृत्त्या जीवन् पञ्चमे वैश्यम् । वैश्योऽपि शूद्रवृत्त्या जीवंस्तामपरित्यजन्पुत्रपरम्परया पञ्चमे जन्मनि शूद्रं जनयतीति । पूर्ववच्चाधरोत्तरम् । अस्यार्थः—वर्णसंकरे अनुलोमजाः प्रतिलोमजाश्च दर्शिताः । संकीर्णसंकरजाताश्च रथकारनिदर्शनेन दर्शिताः । इदानीं वर्णसंकीर्णसंकरजाताः प्रदर्श्यन्ते—अधरे च उत्तरे च अधरोत्तरम्, यथा मूर्धावसिक्तायां क्षत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादितस्तथाम्बष्ठायां वैश्यशू-

द्राभ्यां निषाद्यां शूद्रेणोत्पादिता अधराः प्रतिलोमजास्तथा मूर्धावसिक्ताम्बष्ठानिषादीषु ब्राह्मणेनोत्पादिताः, माहिष्योग्रयोर्ब्राह्मणेन क्षत्रियेण चोत्पादिताः, करण्यां ब्राह्मणेन क्षत्रियेण वैश्येन चोत्पादिताः उत्तरे अनुलोमजाः । एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । एतदधरोत्तरं पूर्ववदसत्सदिति बोद्धव्यम् ॥ ९६ ॥

मूर्धावसिक्त आदि जातियों का सातवें या पाँचवें जन्म (पीढ़ी) में जाति का उत्कर्ष होता है अर्थात् अपने से ऊपर वाली जाति में हो जाता है । (आपत्ति में) कर्मों का व्यत्यय होने पर अर्थात् छोटी जाति का कर्म करने पर आपत्ति व्यतीत होने पर भी उसका त्याग न करने पर पाँचवीं या सातवीं पीढी में वही हो जाता है । इन वर्णसंकरों में निम्न कोटि के प्रतिलोमज और उत्तम अनुलोमज होते हैं ॥ ९६ ॥

'इति वर्णजातिविवेकप्रकरणम् ।

अथ गृहस्थधर्मप्रकरणम् ५

श्रौतस्मार्तानि कर्माणि अग्निसाध्यानि दर्शयिष्यन् कस्मिन्नग्नौ किं कर्तव्यमित्याह—

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही ।
दायकालाहृते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥ ९७ ॥

स्मृत्युक्तं वैश्वदेवादिकं कर्म, लौकिकं च यत्प्रतिदिनं पाकलक्षणं तदपि, गृहस्थो विवाहाग्नौ विवाहसंस्कृते कुर्वीत । दायकाले विभागकाल आहृते[1] वा 'वैश्यकुलादग्निमानीय' इत्यादिनोक्तसंस्कारसंस्कृते । 'अपि'-शब्दात्प्रेते वा गृहपतावाहृते संस्कृते एव । ततश्च कालत्रयातिक्रमे[2] प्रायश्चित्तीयते । श्रुत्युक्तमग्निहोत्रादिकं कर्म वैतानिकाग्निषु आहवनीयादिषु कुर्वीत ॥९७॥

गृहस्थ प्रतिदिन (बलिवैश्वदेवादिक) स्मार्त कर्म विवाहाग्नि में करे या दायकाल (गृह-विभाजन के समय) स्थापित अग्नि में करे तथा श्रौतकर्म आहवनीयादि अग्नि में करे ॥ ९७ ॥

गृहस्थधर्मानाह—

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिर्द्विजः ।
प्रातःसंध्यामुपासीत दन्तधावनपूर्वकम् ॥ ९८ ॥

शरीरचिन्तामावश्यकादिकां[3] 'दिवासंध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः' इत्याद्युक्तविधिना निर्वर्त्य 'गन्धलेपक्षयकरम्'(आचार. २।१७)इत्यादिनोक्तेन विधिना कृतशौचविधिर्द्विजः दन्तधावनपूर्वकं प्रातःसंध्यामुपासीत । दन्तधावनविधिश्च—'कण्टकिक्षीरवृक्षोत्थं द्वादशाङ्गुलसंमितम् । कनि-

छिकाग्रवत्स्थूलं पर्वार्धकृतकूर्चकम् ॥ दन्तधावनमुद्दिष्टं जिह्वोल्लेखनिका तथा ॥' (आचार. १६) इति । अत्र 'वृक्षोत्थम्' इत्यनेन तृणलोष्टाङ्गुल्यादिनिषेधः । पलाशाश्वत्थादिनिषेधश्च स्मृत्यन्तरोक्तो द्रष्टव्यः । दन्तधावनमन्त्रश्च—'आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशुवसूनि च । ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो धेहि वनस्पते ॥' इति । ब्रह्मचारिप्रकरणोक्तस्यापि संध्यावन्दनस्य पुनर्वचनं दन्तधावनपूर्वकत्वप्रतिपादनार्थम्; 'दन्तधावननृत्यगीतादि ब्रह्मचारी वर्जयेत्' इति तन्निषेधात् ॥ ९८ ॥

शरीर की चिन्ता को दूर कर अर्थात् मल-मूत्रादि का त्याग कर द्विज दन्तधावन कर शौच को संपन्न कर (स्नानादि कर) प्रातःसन्ध्या की उपासना करे ॥ ९८ ॥

टिप्पणी– संध्या का विधान ब्रह्मचारी के वर्णन में किया जा चुका है । उसका पुनः यहाँ उपादान दन्तधावन का निर्देश करने के लिये किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि ब्रह्मचारी को दन्तधावन का निषेध है ।

हुत्वाग्नीन्सूर्यदैवत्यान्जपेन्मन्त्रान्समाहितः ।
वेदार्थानधिगच्छेच्च शास्त्राणि विविधानि च ॥ ९९ ॥

प्रातःसंध्यावन्दनानन्तरं **अग्नी**नाहवनीयादीन् यथोक्तेन विधिना **हुत्वा** औपासनाग्निं वा । तदनन्तरं **सूर्यदैवत्यान्** 'उदु त्यं जातवेदसम्' (ऋ. १।४।७।८) इत्यादीन्**मन्त्रान्जपेत्** । **समाहितो**ऽविक्षिप्तचित्तः । तदनन्तरं **वेदार्था**न्निरुक्तव्याकरणादिश्रवणे**नाधिगच्छे**ज्जानीयात् । चकारादधीतं चाभ्यसेत् । **विविधानि च शास्त्राणि** मीमांसाप्रभृतीनि धर्मार्थारोग्यप्रतिपादकान्यधिगच्छेत् ॥ ९९ ॥

(प्रातःसन्ध्या के अनुसार) अग्नियों (आहवनीयादि) में हवन कर समाहित चित्त से (अविक्षिप्त चित्त से) सूर्य दैवत्य मन्त्रों (उदु त्यं जातवेदसम् १/४/७/८ इत्यादि) का जप करे । तदनन्तर वेदार्थों एवं विविध शास्त्रों का अधिगम (ज्ञान) करे ॥ ९९ ॥

उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये ।
स्नात्वा देवान्पितॄंश्चैव तर्पयेदर्चयेत्तथा ॥ १०० ॥

तदनन्तरमीश्वरमभिषेकादिगुणयुक्तमन्यं वा श्रीमन्तमकुत्सितं **योगक्षेमार्थसिद्धये** । अलब्धलाभो योगः, लब्धपरिपालनं क्षेमं, तदर्थमुपेयादुपासीत । **'उपेयात्'** इत्यनेन सेवां प्रतिषेधति । 'वेतन'ग्रहणेनाज्ञाकरणं सेवा; तस्याः श्ववृत्तित्वेन निषेधात्, ('सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' इति **मनु**स्मरणात्)। ततो मध्याह्ने शास्त्रोक्तविधिना नद्यादिषु **स्नात्वा देवान्** स्वगृह्योक्तान् **पितॄंश्च**, चकारादृषींश्च, देवादितीर्थेन **तर्पयेत्** । तदनन्तरं गन्धपुष्पाक्षतैः

हरिहरहिरण्यगर्भप्रभृतीनामन्यतमं यथावासनमृग्यजुःसाममन्त्रैस्तत्प्रकाशकैः स्वनामभिर्वा चतुर्थ्यन्तैर्नमस्कारयुक्तैराराधयेद्यथोक्तविधिना ॥ १०० ॥

योग (अप्राप्त की प्राप्ति) तथा क्षेम (प्राप्त का रक्षण) के निमित्त ईश्वर (राजा या प्रशस्तसंपन्न व्यक्ति) के पास जाय । (तदनन्तर मध्याह्न काल में) स्नान कर देवताओं तथा पितरों का तर्पण तथा अर्चन करे ॥ १०० ॥

वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः ।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥ १०१ ॥

तदनन्तरं वेदाथर्वेतिहासपुराणानि समस्तानि व्यस्तानि वा आध्यात्मिकीं च विद्यां जपयज्ञसिद्ध्यर्थं यथोक्तेन विधिना यथाशक्ति जपेत् १०१

तदनन्तर जपयज्ञ की सिद्धि के लिये, वेद (ऋग्, यजुः, साम, अथर्व), पुराण तथा इतिहास (रामायण, महाभारत) तथा आध्यात्मिकी विद्या का यथाशक्ति जप करे ॥ १०१ ॥

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः ।
भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः ॥ १०२ ॥

बलिकर्म भूतयज्ञः, स्वधा पितृयज्ञः, होमो देवयज्ञः, स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः, अतिथिसत्क्रिया मनुष्ययज्ञः । एते पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तव्याः; नित्यत्वात् । यत्पुनरेषां फलश्रवणं तदेषां पावनत्वख्यापनार्थं, न काम्यत्वप्रतिपादनाय ॥ १०२ ॥

बलिकर्म (बलिवैश्वदेव), स्वधा (श्राद्ध-तर्पण), स्वाध्याय और अतिथि-सत्कार– ये क्रमशः भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और मनुष्ययज्ञ हैं । ये महायज्ञ हैं ॥ १०२ ॥

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद्भूतबलिं हरेत् ।
अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभ्यश्च निक्षिपेत् ॥ १०३ ॥

स्वगृह्योक्तविधिना वैश्वदेवहोमं कृत्वा तदवशिष्टेनान्नेन भूतेभ्यो बलिं हरेत् । 'अन्न'ग्रहणमपक्वव्युदासार्थम् । तदनन्तरं यथाशक्ति भूमावन्नं श्वचाण्डालवायसेभ्यो निक्षिपेत् । चशब्दात्कृमिपापरोगिपतितेभ्यः । यथाह मनुः (३।९२)—'शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् । वायसानां कृमीणां च शनकैर्निक्षिपेद्भुवि ॥' इति । एतच्च सायंप्रातः कर्तव्यम् । 'अथ सायंप्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' (१।२।१) इत्याश्वलायनस्मरणात् । इह केचिद्वैश्वदेवाख्यस्य कर्मणः पुरुषार्थत्वमन्नसंस्कारकर्मत्वं चेच्छन्ति—'अथ सायंप्रातः

सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' इत्यन्नसंस्कारकर्मकता प्रतीयते। 'अथातः पञ्च यज्ञाः' (गृ. सू. ३।१।१) इत्युपक्रम्य 'तानेतान्यज्ञानहरहः कुर्वीत' (३।१।४) इति नित्यत्वाभिधानात्पुरुषार्थत्वं चावगम्यते' इति,–तदयुक्तम्; पुरुषार्थत्वेऽन्नसंस्कारकर्मत्वानुपपत्तेः। तथा हि—द्रव्यसंस्कारकर्मत्वपक्षेऽन्नार्थता वैश्वदेवकर्मणः, पुरुपार्थत्वे वैश्वदेवकर्मार्थता द्रव्यस्येति परस्परविरोधत्पुरुषार्थत्वमेव युक्तम्।— 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इति। तथा—'वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्। तस्मा अन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न वलिं हरेत्॥' इति (३।१०८) मनुस्मरणात्। पुरुषार्थत्वे वैश्वदेवाख्यं कर्म न प्रतिपाकमानर्तनीयम्। तस्मात् 'अथ सायंप्रातः' इत्यादिनोत्पत्तिप्रयोगौ दर्शितौ, 'तानेतान्यज्ञानहरहः कुर्वीत' (गृ. सू. अ. ३ खं. १) इत्यधिकारविधिरिति सर्वमनवद्यम्॥ १०३॥

देवों (वैश्वदेव) के लिये हवन किये अन्न के शेष से भूतयज्ञ करे। (तदनन्तर यथाशक्ति) कुत्ता, चाण्डाल तथा कौवों के लिये भूमि पर अन्न रखे॥ १०३॥

अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम्।
स्वाध्यायं संततं कुर्यान्न पचेदन्नमात्मने॥ १०४॥

प्रत्यहमन्नं पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथाशक्ति देयम्। अन्नाभावे कन्दमूलफलादि, तस्याप्यभावे जलं देयम्; **'अपि'**शब्दात्। **स्वाध्यायं सततं कुर्या**द्विस्मरणार्थम्। **न पचेदन्नमात्मने** इति 'अन्न'ग्रहणं सकलादनीयद्रव्यप्रदेशनार्थम्। कथं तर्हि? देवताद्युद्देशेनैव॥ १०४॥

प्रतिदिन पितरों तथा मनुष्यों को अन्न दे तथा (अन्नाभाव में) जल दे। प्रतिदिन स्वाध्याय करे। (केवल) अपने लिये अन्न न पकावे॥ १०४॥

बालस्ववासिनीवृद्धगर्भिण्यातुरकन्यकाः।
संभोज्यातिथिभृत्यांश्च दम्पत्योः शेषभोजनम्॥ १०५॥

परिणीता पितृगृहे स्थिता **स्ववासिनी**। शेषाः प्रसिद्धाः। **बालादीनतिथिभृत्यांश्च संभोज्य** भोजयित्वा **दम्पत्योः शेषभोजनं** कर्तव्यम्। 'प्राणाग्निहोत्रविधिनाश्नीयादन्नमनापदि। मतं विपक्वं विहितं भक्षणं प्रीतिपूर्वकम्॥' १०५

बालक, सुवासिनी (पिता के घर में रहने वाली) विवाहिता स्त्री, वृद्ध, गर्भिणी, रोगी, कन्या, अतिथि और भृत्यों को भोजन बाँटकर (देकर) जो शेष बचे उसे पति-पत्नी खाय॥ १०५॥

आपोशनेनोपरिष्टादधस्तादश्नता तथा।
अनग्नममृतं चैव कार्यमन्नं द्विजन्मना॥ १०६॥

भुञ्जानेन **द्विजन्मना उपरिष्टादधस्ताच्चापोशनाख्येन कर्मणान्नमनग्नममृतं च कार्यम्**। 'द्विजन्म'ग्रहणमुपनयनप्रभृतिसर्वाश्रमसाधारण्यार्थम् ॥

भोजन के समय द्विजाति को पूर्व तथा पश्चात् आपोशन कर्म द्वारा भोजन को अनग्न तथा अमृत करना चाहिये ॥ १०६ ॥

टिप्पणी– आपोशान क्रिया के लिये द्रष्टव्य पूर्व में श्लोक ३१ की टिप्पणी।

अतिथित्वेन वर्णानां देयं शक्त्यानुपूर्वशः ।
अप्रणोद्योऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकैः ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवानन्तरं **वर्णानां** ब्राह्मणादीनामतिथित्वेन युगपत्प्राप्तानां ब्राह्मणाद्यानुपूर्व्येण यथाशक्ति देयम्। **सायं**कालेऽपि यद्यतिथिरागच्छति तदाऽसावप्रणोद्योऽप्रत्याख्येय एव। यद्यप्यदनीयं किमपि नास्ति, तथापि **वाग्भूतृणोदकै**रपि सत्कारं कुर्यात्। यथाह मनुः (४।१०१)—'तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥' इति ॥ १०७ ॥

(ब्राह्मणादि कई वर्णों के अतिथि आने पर) अतिथियों को क्रमशः वर्णक्रम से यथाशक्ति दे । सायंकाल भी यदि अतिथि आ जाय तो उसे निराश न करे अपितु (मधुर) वाणी, भूमि (स्थान), तृण (शय्या) तथा जल से उसका सत्कार करे ॥ १०७ ॥

सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा दातव्या सुव्रताय च ।
भोजयेच्चागतान्काले सखिसंबन्धिबान्धवान् ॥ १०८ ॥

भिक्षवे सामान्ये भिक्षा दातव्या। **सुव्रताय** ब्रह्मचारिणे यतये **च सत्कृत्य** स्वस्तिवाच्य 'भिक्षादानमप्पूर्वम्' (गौतम.) इत्यनेन विधिना **भिक्षा दातव्या**। भिक्षा च ग्राससंमिता। ग्रासश्च मयूराण्डपरिमाणः; 'ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा पुष्कलं तच्चतुर्गुणम्। हंतस्तु तैश्चतुर्भिः स्यादग्रं तत्त्रिगुणं भवेत् ॥' इति शातातपस्मरणात्। भोजनकाले **चागतान्सखिसंबन्धिबान्धवान् भोजयेत्**। सखायो मित्राणि, संबन्धिनो येभ्यः कन्या गृहीता दत्ता वा, मातृपितृसंबन्धिनो बान्धवाः ॥ १०८ ॥

भिक्षुक तथा ब्रह्मचारी को सत्कारपूर्वक भिक्षा देनी चाहिये । (भोजन के) समय पर आये मित्रों, संबन्धियों एवं बान्धवों (ज्ञातिजनों) को भोजन कराना चाहिये ॥ १०८ ॥

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् ।
सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः ॥ १०९ ॥

महान्तमुक्षाणं धौरेयं **महाजं वा श्रोत्रियायोक्तलक्षणायोपकल्पयेत्** 'भवदर्थमयमस्माभिः परिकल्पितः' इति । तत्प्रीत्यर्थं, नतु दानाय व्यापादनाय वा, यथा सर्वमेतद्भवदीयमिति ; प्रतिश्रोत्रियमुक्षासंभवात्, 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्नतु' (आ. १५३) इति निषेधाच्च । तस्मात्सत्क्रियाद्येव कर्तव्यम् । **सत्क्रिया** स्वागतवचनासनपाद्यार्घ्याचमनादिदानम् । तस्मिन्नुपविष्टे पश्चादुपवेशनमन्वासनम्, **स्वादु भोजनं** मिष्टमन्नम्, **सूनृतं वचः** 'धन्या वयमद्य भवदागमनात्' इत्येवमादि । अश्रोत्रिये पुनः 'अश्रोत्रियस्योदकासने' (५।३१) इति गौतमोक्तं वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥

श्रोत्रिय (वेदपाठी) के लिये बड़ा बैल या बकरा उपस्थित करे, उसका (अर्घ आचमनादि से) सत्कार करे, उसके बैठने के बाद बैठे तथा स्वादपूर्ण (मिष्ठ) भोजन करावे एवं मधुर वचन कहे ॥ १०९ ॥

प्रतिसंवत्सरं त्वर्घ्याः स्नातकाचार्यपार्थिवाः ।
प्रियो विवाह्यश्च तथा यज्ञं प्रत्यृत्विजः पुनः ॥ ११० ॥

स्नातको विद्यास्नातकः, व्रतस्नातकः, विद्याव्रतस्नातकः इति । समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः, समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः, उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः । **आचार्य** उक्तलक्षणः, **पार्थिवो** वक्ष्यमाणलक्षणः, **प्रियो** मित्रम्, **विवाह्यो** जामाता । चकाराच्छ्वशुरपितृव्यमातुलानां ग्रहणम् । 'ऋत्विजो वृत्वा मधुपर्कमाहरेत्स्नातकायोपस्थिताय राज्ञे चाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलादीनां च' इत्याश्वलायन (गृ. सू. अ. १ खं. ४) स्मरणात् । एते स्नातकादयः प्रतिसंवत्सरं गृहमागता अर्घ्याः मधुपर्केण पूज्या वन्दितव्याः । 'अर्घ'शब्दो मधुपर्कं लक्षयति । ऋत्विजश्चोक्तलक्षणाः संवत्सरादर्वागपि प्रतियज्ञं मधुपर्केण संपूज्याः ॥ ११० ॥

स्नातक, आचार्य, राजा, प्रिय (मित्र) तथा दामाद की प्रतिवर्ष अर्घ्य (मधुपर्क) से पूजा करे तथा ऋत्विज की प्रत्येक यज्ञ में मधुपर्क से पूजा करे ॥ ११० ॥

अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः श्रोत्रियो वेदपारगः ।
मान्यावेतौ गृहस्थस्य ब्रह्मलोकमभीप्सतः ॥ १११ ॥

अध्वनि वर्तमानोऽतिथिर्वेदितव्यः । श्रोत्रियवेदपारगावध्वनि वर्तमानौ ब्रह्मलोकमभीप्सतो गृहस्थस्य मान्यावतिथी वेदितव्यौ । यद्यप्यध्ययनमात्रेण श्रोत्रियस्तथापि श्रुताध्ययनसंपन्नोऽत्र श्रोत्रियोऽभिधीयते । एकशाखाध्यापनक्षमो वेदपारगः ॥ १११ ॥

मार्ग में जाने वाले (यात्री) को अतिथि जानना चाहिये । श्रोत्रिय (वेदपाठी) तथा वेद का पूर्ण अध्ययन किया हुआ- ये दोनों (यदि अतिथि हों तो) ब्रह्मलोक की प्राप्ति की कामना करने वाले गृहस्थ के लिये सम्मान्य (अतिथि) हैं ॥ १११ ॥

परपाकरुचिर्न स्यादनिन्द्यामन्त्रणादृते ।
वाक्पाणिपादचापल्यं वर्जयेच्चातिभोजनम् ॥ ११२ ॥

परपाके रुचिर्यस्यासौ स **परपाकरुचिः**, **नैव परपाकरुचिः स्यात्**। **अनिन्द्येनामन्त्रणं विना**; 'अनिन्द्येनामन्त्रितो नापक्रामेत्' (कात्यायन.) इति स्मरणात्। वाक्पाणिपादचापल्यं-वाक्च पाणी च पादौ च **वाक्पाणिपादं तस्य चापल्यं, वर्जयेत्**। वाक्चापल्यमसभ्यानृतादिभाषणम्, पाणिचापल्यं वेल्गनास्फोटनादि, पादचापल्यं लङ्घनोत्प्लवनादि । चकारान्नेत्रादिचापल्यं च वर्जयेत्; 'न शिश्नोदरपाणिपादचक्षुर्वाक्चापलानि कुर्यात्' (९।५०) इति गौतमस्मरणात्। तथा **अतिभोजनं च वर्जयेत्**; अनारोग्यादिहेतुत्वात् ॥ ११२ ॥

प्रशस्त निमन्त्रण के अतिरिक्त (अन्यत्र) दूसरे के पकाये अन्न की रुचि वाला नहीं होना चाहिये । वाणी, हाथ तथा पैर की चपलता तथा अधिक भोजन का त्याग करे ॥ ११२ ॥

टिप्पणी- वाक्चापल्य का अभिप्राय अश्लील, अनृतादि भाषण, पाणिचापल्य का अर्थ हाथ को रगड़ना, उठाना आदि तथा पैर की चपलता का अभिप्राय लाँघना, कूदना आदि है । अनिन्द्य निमन्त्रण को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि इस विषय में कात्यायन का वचन है- 'अनिन्द्येनामन्त्रितो नापक्रामेत' । इस विषय में गौतम का भी कथन है- 'न शिश्नोदरपाणिपादचक्षुर्वाक्चापलानि कुर्यात्' (९।५०) । मनु ने अधिक भोजन की निन्दा की है-

'अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्' ॥

अतिथिं श्रोत्रियं तृप्तमासीमान्तमनुव्रजेत् ।
अहःशेषं सहासीत शिष्टैरिष्टैश्च बन्धुभिः ॥ ११३ ॥

पूर्वोक्तं **श्रोत्रियातिथिं** वेदपारगातिथिं च भोजनादिना **तृप्तं सीमान्तं यावदनुव्रजेत्**। ततो भोजनानन्तरम**हःशेषं शिष्टैरि**तिहासपुराणादिवेदिभिः, **इष्टैः** काव्यकथाप्रपञ्चचतुरैः, **बन्धुभि**श्चानुकूलालापकुशलैः **सहासीत** ११३

श्रोत्रिय (वेदपाठी एवं वेदपारग) अतिथि को तृप्त करके (गाँव की) सीमा तक पहुँचावे । (भोजन के बाद) दिन के शेष भाग को शिष्ट (पुराणादि के विद्वान) तथा इष्ट (प्रिय, काव्यालाप में निपुण) जनों के साथ बितावें ॥ ११३ ॥

उपास्य पश्चिमां संध्यां हुत्वाग्नींस्तानुपास्य च ।
भृत्यैः परिवृतो भुक्त्वा नातितृप्त्याथ संविशेत् ॥ ११४ ॥

ततः पूर्वोक्तेन विधिना पश्चिमां संध्यामुपास्य, आहवनीयादीनग्नीनग्निं वा हुत्वा तानुपास्योपस्थाय, भृत्यैः पूर्वोक्तैः स्ववासिन्यादिभिः परिवृतो नातितृप्त्या भुक्त्वा, चकारात् आय-व्ययादिगृहचिन्तां निर्वर्त्यानन्तरं संविशेत्स्वप्यात् ॥ ११४ ॥

(तदनन्तर पूर्वोक्त प्रकार से) सायंकालीन सन्ध्या की उपासना कर तथा (आहवनीयादि) अग्नियों में हवन कर एवं उनकी उपासना कर भृत्यों के साथ (रात्रि का) भोजन करे, किन्तु तृप्ति से अधिक भोजन न करे । तदनन्तर शयन करे ॥ ११४ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ।
धर्मार्थकामान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत् ॥ ११५ ॥

ततो ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय पश्चिमेऽर्धप्रहरे प्रबुद्धयात्मनो हितं कृतं करिष्यमाणं च, वेदार्थसंशयांश्च चिन्तयेत् । तदानीं चित्तस्याव्याकुलत्वेन तत्त्वप्रतिभानयोग्यत्वात् । ततो धर्मार्थकामान्स्वोचितकाले यथाशक्ति न परित्यजेत् । यथासंभवं सेवेतेत्यर्थः; पुरुषार्थत्वात् । यथाह गौतमः (९।४६-४७)— 'न पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णानफलान्कुर्यात् धर्मार्थकामेभ्यः', 'तेषु धर्मोत्तरः स्यात्' इति । अत्र यद्यप्येतेषां सामान्येन सेवनमुक्तं, तथापि कामार्थयोर्धर्माविरोधेनानुष्ठानं तयोर्धर्ममूलत्वात् । एवं प्रतिदिनमनुष्ठेयम् ॥ ११५ ॥

ब्राह्म मुहूर्त (रात्रि के अन्तिम प्रहर) में उठकर अपने (किये और किये जाने वाले) हित का चिन्तन करे । धर्म, अर्थ तथा काम का यथाशक्ति अपने उचित समय पर त्याग न करे ॥ ११५ ॥

विद्याकर्मवयोबन्धुवित्तैर्मान्या यथाक्रमम् ।
एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि वार्धके मानमर्हति ॥ ११६ ॥

विद्या पूर्वोक्ता, कर्म श्रौतं स्मार्तं च, वयः आत्मनोऽतिरिक्तं सप्तत्या वा ऊर्ध्वं, न्धुः स्वजनसंपत्तिः, वित्तं ग्रामरत्नादिकम्; एतैर्युक्ताः क्रमेण मान्याः पूजनीयाः । एतैर्विद्याकर्मबन्धुवित्तैः प्रभूतैः प्रवृद्धैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा युक्तः शूद्रोऽपि वार्धके अशीतेरूर्ध्वं मानमर्हति; 'शूद्रोऽप्यशीतिको वरः' (६।७) इति गौतमस्मरणात् ॥११६॥

विद्या, कर्म, अवस्था, बन्धु तथा धन से युक्त व्यक्ति क्रमानुसार आदरणीय है । इन सबसे (या एक से) युक्त वृद्ध शूद्र भी आदरणीय होता है ॥ ११६ ॥

वृद्धभारिनृपस्नातस्त्रीरोगिवरचक्रिणाम् ।
पन्था देयो नृपस्तेषां मान्यः स्नातश्च भूपतेः ॥ ११७ ॥

वृद्धः पक्वकेशः प्रसिद्धः, भारी भाराक्रान्तः, नृपो भूपतिः न क्षत्रियमात्रम्, स्नातो विद्याव्रतोभयस्नातकः, स्त्री प्रसिद्धा, रोगी व्याधितः, वरो विवाहोद्यतः, चक्री शाकटिकः । चकारान्मत्तोन्मत्तादीनां ग्रहणम्; 'बालवृद्धमत्तोन्मत्तोपहतदेहभाराक्रान्तस्त्रीस्नातकप्रव्रजितेभ्यः' इति शङ्खस्मरणात् । एभ्यः पन्था देयः । एतेष्वभिमुखायातेषु स्वयं पथोऽपक्रामेत् । वृद्धादीनां राज्ञा सह पथि समवाये राजा मान्य इति तस्मै पन्था देयः । भूपतेरपि स्नातको मान्यः, 'स्नातक'ग्रहणं स्नातकमात्रप्राप्त्यर्थं, न ब्राह्मणाभिप्रायेण; तस्य सदैव गुरुत्वात् । यथाह शङ्खः— 'अथ ब्राह्मणायाग्रे पन्था देयो राज्ञ इत्येके । तच्चानिष्टं गुरुर्ज्येष्ठश्च ब्राह्मणो राजानमतिशेते तस्मै पन्था' इति । वृद्धादीनां परस्परं पथि समवाये वृद्धेतराद्यपेक्षया विद्यादिभिर्वा विशेषो द्रष्टव्यः ॥ ११७ ॥

वृद्ध, भार (बोझा) लिये हुये, राजा, स्नातक, स्त्री, रोगी, वर (विवाह को जाने वाला) और चक्री (सुराकार) को (आगे से आने पर स्वयं मार्ग से हट कर उन्हें) मार्ग देना चाहिये । इनमें राजा सबसे अधिक मान्य होता है और राजा से भी अधिक मान्य स्नातक होता है ॥ ११७ ॥

इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥ ११८ ॥

वैश्यस्य क्षत्रियस्य च, चकाराद्ब्राह्मणस्य द्विजानुलोमानां च, यागाध्ययनदानानि साधारणानि कर्माणि, ब्राह्मणस्याधिकानि प्रतिग्रहयाजनाध्यापनानि । तथेति स्मृत्यन्तरोक्तवृत्त्युपसंग्रहः । यथाह गौतमः (१०।५-६)—'कृषिवाणिज्ये वा स्वयं कृते' 'कुसीदं च' इति । अध्यापनं तु क्षत्रियवैश्ययोर्ब्राह्मणप्रेरितयोर्भवति, न स्वेच्छया; 'आपत्काले ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः, अनुगमनं शुश्रूषा, समाप्ते ब्राह्मणो गुरुः' (७।१, २।३) इति गौतमस्मरणात् । एतान्यनापदि ब्राह्मणस्य षट् कर्माणि । तत्र त्रीणीज्यादीनि धर्मार्थानि, त्रीणि प्रतिग्रहादीनि वृत्त्यर्थानि; 'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥' इति (१०।७६) मनुस्मरणात् । अत इज्यादीन्यवश्यं कर्तव्यानि न प्रतिग्रहादीनि; 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानं', 'ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः', 'पूर्वेषु नियमः' (१०।१-३) इति गौतमस्मरणात् ॥ ११८ ॥

यज्ञ करना, अध्ययन और दान (ये कर्म) वैश्य और क्षत्रिय के भी हैं । ब्राह्मण में दान लेना, यज्ञ कराना और अध्यापन करना– ये (वैश्य और क्षत्रिय से) अधिक हैं ॥ ११८ ॥

प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम् ।
कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं विशः स्मृतम् ॥ ११९ ॥

क्षत्रियस्य प्रजापालनं प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च । वैश्यस्य कुसीदकृषिवाणिज्यपशुपालनानि वृत्त्यर्थानि कर्माणि । कुसीदं[2] वृद्ध्यर्थं द्रव्यप्रयोगः, लाभार्थं क्रयविक्रयौ वाणिज्यम्[3] । शेषं प्रसिद्धम्; 'शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्[4]पशुकृषी विशः । आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥' इति (१०।७९) मनुस्मरणात् ॥ ११९ ॥

क्षत्रिय में (जीविका के लिये) प्रधान कर्म प्रजा का परिपालन है । वैश्य का कुसीद (सूद), कृषि, वाणिज्य और पशु-पालन (कर्म) माना गया है ॥ ११९ ॥

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तयाऽजीवन्वणिग्भवेत् ।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्द्विजातिहितं[1]माचरन् ॥ १२० ॥

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च । तत्र ब्राह्मणशुश्रूषा परमो धर्मः; 'विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते' (१०।१२३) इति मनुस्मरणात् । यदा पुनर्द्विजशुश्रूषया जीवितुं न शक्नोति तदा वणिग्वृत्त्या जीवेत् । नानाविधैर्वा शिल्पैर्द्विजातीनां हितं कुर्वन् । यादृशैः कर्मभिर्द्विजातिशुश्रूषायामयोग्यो न भवति तादृशानि कर्माणि कुर्वन्नित्यर्थः । तानि च देवलोक्तानि—शूद्रधर्मो द्विजातिशुश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादिपोषणकर्षणपशुपालनभारोद्वहनपण्यव्यवहारंचित्रकर्मनृत्यगीतवेणुवीणामुरजमृदङ्गवादनादीनि' ॥ १२० ॥

शूद्र की द्विजों की सेवावृत्ति है । उससे जीविका न चलने पर वाणिज्य करे । अथवा द्विजों का हित करते हुये विविध प्रकार के शिल्पकर्मों से जीविका चलावे ॥ १२० ॥

भार्यारतिः शुचिर्भृत्यभर्ता श्राद्धक्रियारतः ।
नमस्कारेण मंत्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ॥ १२१ ॥

किंच, भार्यायामेव न साधारणस्त्रीषु परस्त्रीषु वा रतिरभिगमनं यस्य स तथोक्तः । शुचिः बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः द्विजवत्, भृत्यादेर्भर्ता, श्राद्धक्रियारतः;—श्राद्धानि नित्यनैमित्तिककाम्यानि, क्रियाः स्नातकव्रतान्यविरुद्धानि, तेषु रतः । 'नम' इत्यनेन मन्त्रेण[1] पूर्वोक्तान्पञ्चमहायज्ञानहरहर्न हापयेदनुतिष्ठेत् । नमस्कारमन्त्रं च केचित्—'देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च । नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमो नमः ॥' इति वर्णयन्ति । 'नमः' इत्यन्ये । तत्र वैश्वदेवं लौकिकेऽग्नौ कर्तव्यं, न वैवाहिकेऽग्नावित्याचार्याः ॥ १२१ ॥

स्वस्त्री में रति, पवित्रता, भृत्यों का भरण-पोषण, श्राद्ध क्रिया में संलग्न रहे तथा नमस्कार मंत्रों सहित पञ्चयज्ञों को न छोड़े ॥ १२१ ॥

इदानीं साधारणधर्मानाह—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

हिंसा प्राणिपीडा, तस्या अकरणमहिंसा । सत्य[2]मप्राणिपीडाकरं यथार्थवचनम्, अस्तेयमदत्तानुपादानम्, शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च, बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां नियतविषयवृत्तितेन्द्रियनिग्रहः । यथाशक्ति प्राणिनामन्नोदकादिदानेनार्तिपरिहारो दानम् अन्तःकरणसंयमो दमः । आपन्नरक्षणं दया । अपकारेऽपि चित्तस्याविकारः क्षान्तिः । इत्येते सर्वेषां पुरुषाणां ब्राह्मणाद्याचण्डा[1]लान्तं धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शौच (पवित्रता), इन्द्रिय-संयम, दान, दम (अन्तःकरण का संयम), दया (दीनों पर) और (अपकार पर भी) क्षमा– ये सभी के लिये (सामान्य रूप से) धर्म के साधन हैं ॥१२२ ॥

वयोबुद्ध्यर्थवाग्वेषश्रुताभिजनकर्मणाम् ।
आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा ॥ १२३ ॥

वयो बाल्ययौवनादि, बुद्धिर्नैसर्गिकी लौकिकवैदिकव्यवहारेषु, अर्थो वित्तं गृहक्षेत्रादि, वाक् [3]कथनम्, वेषो वस्त्रमाल्यादिविन्यासः, श्रुतं पुरुषार्थशास्त्रश्रवणम्, अभिजनः कुलम्, कर्म वृत्त्यर्थं प्रतिग्रहादि, एतेषां वयःप्रभृतीनां सदृशीमुचितां वृत्तिमाचरणं आचरेत्स्वीकुर्यात् । यथा वृद्धः स्वोचितां न यौवनोचिताम् । एवं बुद्ध्यादिष्वपि योज्यम् । अजिह्मामवक्राम्, अशठाममत्सराम् ॥ १२३ ॥

अवस्था (आयु), बुद्धि, संपत्ति, वाणी, वेष, शास्त्रज्ञान, कुल तथा (जीविका के लिये विहित) कर्म के अनुरूप आचरण करे, जो न तो कुटिल (वक्र) हो और न शठता (मत्सर) युक्त हो ॥ १२३ ॥

टिप्पणी– पुराणों में भी कहा गया है–

'अजिह्मामशठां चैव जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम्' ।

एवं स्मार्तानि कर्माण्यनुक्रम्येदानीं श्रौतानि कर्माण्यनुक्रामति—

त्रैवार्षिकाधिकान्नो यः स हि सोमं पिबेद्द्विजः ।
प्राक्सौमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेत् ॥ १२४ ॥

त्रिवर्षजीवनपर्याप्तं त्रैवार्षिकं अधिकं वा अन्नं यस्य स एव सोमपानं कुर्यान्नातोऽल्पधनः; (मनु. ११।८)—'अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः । स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥' इति दोषश्रवणात् । एतच्च काम्याभिप्रायेण नित्यस्य चावश्यकर्तव्यत्वान्न नियमः । यस्य वर्षजीवन-

पर्याप्तमन्नं भवति स **प्राक्सौमिकीः** सोमात्प्राक् प्राक्सोमं, प्राक्सोमंभावः प्राक्सौमिक्यः। कास्ताः? अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासाग्रयणपशुचातुर्मास्यानि[2] काम्यानि कर्माणि तद्विकाराश्च। ताः **क्रियाः कुर्यात्** ॥ १२४ ॥

जिसके पास तीन वर्ष (जीवनयापन) से अधिक अन्न हो वह द्विज सोमपान करे। जिसके पास वर्षभर का अन्न हो वह सोमयाग से पहले की (अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-आग्रयण-पशु चातुर्मास्य) क्रियायें करे ॥ १२४ ॥

एवं काम्यानि श्रौतानि कर्माण्यभिधायेदानीं नित्यान्याह—

प्रतिसंवत्सरं सोमः पशुः प्रत्ययनं तथा।
कर्तव्याग्रयणेष्टिश्च चातुर्मास्यानि चैव हि ॥ १२५ ॥

संवत्सरे संवत्सरे सोमयागः कार्यः। **पशुः प्रत्ययनं** अयने अयने दक्षिणोत्तरसंज्ञिते निरूढः पशुयागः कार्यः। तथा प्रतिसंवत्सरं वा; 'पशुना संवत्सरे संवत्सरे यजेत, षट्सु षट्सु वा मासेष्वित्येके' इति बौधायनस्मरणात्। **आग्रयणेष्टिश्च** सस्योत्पत्तौ कर्तव्या। **चातुर्मास्यानि च** प्रतिसंवत्सरं कर्तव्यानि ॥ १२५ ॥

सोमयाग प्रत्येक वर्ष में करे, प्रत्येक अयन (उत्तरायन तथा दाक्षिणायन) में पशुयाग करे, आग्रयणेष्टि (नये अन्न के उत्पन्न होने पर) करे और चातुर्मास्य क्रियाओं को (प्रति वर्ष) करे ॥ १२५ ॥

एषामसंभवे कुर्यादिष्टिं वैश्वानरीं द्विजः।
हीनकल्पं न कुर्वीत सति द्रव्ये फलप्रदम् ॥ १२६ ॥

एषां सोमप्रभृतीनां पूर्वोक्तानां नित्यानां कथंचिद**संभवे** तत्काले **वैश्वानरीमिष्टिं कुर्यात्**। किंच योऽयं **हीनकल्प** उक्तः, **सति द्रव्ये**[1]ऽसौ न कर्तव्यः। यच्च **फलप्रदं** काम्यं त**द्धीनकल्पं न कुर्वीत** न कर्तव्यमिति १२६

द्विज इन क्रियाओं के असंभव होने पर वैश्वानर इष्टि करे। द्रव्य होने पर यह हीनकल्प (छोटी इष्टि) न करे और जो फलप्रद (काम्य) है उसे हीन कल्प न करे ॥ १२६ ॥

चाण्डालो जायते यज्ञकरणाच्छूद्रभिक्षितात्।
यज्ञार्थं लब्धमददद्भासः काकोऽपि वा भवेत् ॥ १२७ ॥

यज्ञार्थं शूद्रधनयाचनेन स जन्मान्तरे **चाण्डालो जायते**। यः पुनर्यज्ञार्थं **याचितं न**[3] सर्वं **प्रयच्छति** न त्यजति, स **भासः काकोऽपि वा** वर्षशतं **भवेत्**। यथाह मनुः (११।२५)—'यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यः सर्वं न प्रयच्छति। स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥' इति। भासः शकुन्तः। काकः प्रसिद्धः ॥ १२७ ॥

शूद्र से मागे हुये (द्रव्य) से यज्ञ करने वाला (अपर जन्म में) चाण्डाल होता है और यज्ञ के लिये प्राप्त द्रव्य को (पूर्ण रूप से) न देने वाला भास (पक्षी) या काक होता है ॥ १२७ ॥

कुशूलकुम्भीधान्यो वा त्र्याहिको़ऽश्वस्तनोऽपि वा ।

कुशूलं कोष्ठकं, कुम्भी उष्ट्रिका, कुशूलं च कुम्भी च कुशूलकुम्भ्यौ, ताभ्यां परिमितं धान्यं यस्य स तथोक्तः **कुशूलधान्यः स्यात्, कुम्भीधान्यो वा ।** तत्र स्वकुटुम्बपोषणे द्वादशाहमात्रपर्याप्तं धान्यं यस्यास्ति स कुशूलधान्यः । कुम्भीधान्यस्तु स्वकुटुम्बपोषणे षडहमात्रपर्याप्तधान्यः । त्र्यहःपर्याप्तं धान्यमस्यास्तीति **त्र्याहिकः** । श्वोभवं धान्यादिकं श्वस्तनम्, न विद्यते श्वस्तनं यस्य सोऽश्वस्तनः ॥—

कुशूल (कोठिला) भर अन्न वाला, कुम्भी (घड़ा) भर अन्न वाला, तीन दिन भर अन्न वाला, एक दिन भर अन्न वाला या खेतों में गिरे अन्न को बीन कर जीवन निर्वाह करने वाला हो ॥ १२७$\frac{१}{२}$ ॥

कुशूलधान्यादिसंचयोपायमाह—

जीवेद्वापि शिलोञ्छेन श्रेयानेषां परः परः ॥ १२८ ॥

शाल्यादिनिपतितपरित्यक्तवल्लरीग्रहणं शिलम्, एकैकस्य परित्यक्तस्य कणस्योपादानमुञ्छः, शिलं चोञ्छश्च शिलोञ्छम्, तेन **शिलेनोञ्छेन वा** । कुशूलधान्यादिश्चतुर्विधो गृहस्थो **जीवेत्** । **एषां** कुशूलधान्यादीनां ब्राह्मणानां गृहस्थानां चतुर्णां **परः परः** पश्चात्पश्चात्पठितः **श्रेयान्** प्रशस्यतमः । एतच्च यद्यपि द्विजःप्रकृतस्तथापि ब्राह्मणस्यैव भवितुमर्हति; विद्योपशमादियोगात् । तथा च **मनुना** (४।२)—'अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥' इति विप्रमेव प्रस्तुत्य मनुः (४।७)—'कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा' इत्याद्यभिहितम् । एतच्चातिसंर्थतं यायावरं प्रत्युच्यते, न विप्रमात्राभिप्रायेण । तथा सति—'त्रैवार्षिकाधिकान्नो यः स हि सोमं पिबेद्द्विजः' (आ. १२६) इत्यनेन विरोधः । तथा च गृहस्थानां द्वैविध्यं तत्र तत्रोक्तम् । यथाह देवलः—'द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च । तयोर्यायावरः प्रवरो याजनाध्यापनप्रतिग्रहरिक्थसंचयवर्जनात् । षट्कर्माधिष्ठितः प्रेष्यचतुष्पदगृहग्रामधनधान्ययुक्तो लोकानुवर्ती शालीनः' इति । शालीनोऽपि चतुर्विधः–याजनाध्यापनप्रतिग्रहकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यैः षड्भिर्जीवत्येकः, याजनादिभिस्त्रिभिरन्यः, याजनाध्यापनाभ्यामपरः, चतुर्थस्त्वध्यापनेनैव । तथाह मनुः (४।९)—'षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते । द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥' इति । अत्र च 'प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे' (आ.११८) इत्यादिना शालीनस्य वृत्तयो दर्शिताः । यायावरस्य 'जीवेद्वापि शिलोञ्छेन' इति ॥१२८॥

इनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पर-पर (बाद) वाला श्रेष्ठ है ॥ १२८ ॥

टिप्पणी– कुशूलधान्य वह है जिसके पास बारह दिन जीवननिर्वाह का अन्न हो और कुम्भीधान्य वह है जिसके पास छः दिन जीवननिर्वाह योग्य अन्न हो ।

इति गृहस्थधर्मप्रकरणम् ।

अथ स्नातकधर्मप्रकरणम् ६

एवं श्रौत-स्मार्तानि कर्माण्यभिधायेदानीं गृहस्थस्य स्नानादारभ्य ब्राह्मणस्यावश्यकर्तव्यानि विधि-प्रतिषेधात्मकानि मानससंकल्परूपाणि स्नातकव्रतान्याह—

न स्वाध्यायविरोध्यर्थमीहेत न यतस्ततः ।
न विरुद्धप्रसङ्गेन संतोषी च भवेत्सदा ॥ १२९ ॥

ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादयोऽर्थप्राप्त्युपाया दर्शिताः तत्र विशेष उच्यते—**स्वाध्यायविरोधिनमर्थम**प्रतिषिद्धमपि **नेहेत** नान्विच्छेत् । **न यतस्ततः** न यतः कुतश्चिदविदिताचारान्न । **विरुद्धप्रसङ्गेन** विरुद्धमयाज्ययाजनादिप्रसङ्गो नृत्यगीतादिः । विरुद्धं च प्रसङ्गश्च विरुद्धप्रसङ्गं तेन । नार्थमीहेतेति संबध्यते । नञ आवृत्तिः प्रत्येकं पर्युदासार्था । सर्वत्राप्यस्मिन्स्नातकप्रकरणे नञ्शब्दः प्रत्येकं पर्युदासार्थ एव । किंचिदर्थालाभेऽपि **संतोषी** परितृप्तो **भवेत्** । चकारात्संयतश्च 'संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्' (४।१३) इति मनुस्मरणात् ॥

स्वाध्याय के विरोधियों से, जहाँ कहीं से (उचित-अनुचित स्थान से बिना विचार किये), या स्वधर्म से विरुद्ध (नृत्य-गीत आदि) कार्य से धन कमाने की इच्छा न करे । सदा सन्तोषी रहे ॥ १२९ ॥

टिप्पणी– इस विषय में मनु का कथन है–

'सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्' ॥ (४/१३)

कुतस्तर्हि धनमन्विच्छेदित आह—

राजान्तेवासियाज्येभ्यः सीदन्निच्छेद्धनं क्षुधा ।
दम्भिहैतुकपाखण्डिबकवृत्तींश्च वर्जयेत् ॥ १३० ॥

क्षुधा सीदन् पीड्यमानः स्नातकः **राज्ञो** विदितवृत्तान्तात्, **अन्तेवासिनो** वक्ष्यमाणलक्षणात्, **याज्यात्** याजनार्हाच्च, **धनमाददीत** । 'क्षुधा सीदन्' इत्यनेन विभागादिप्राप्तकुटुम्बपोषणपर्याप्तधनो न कुतश्चिदर्थमन्विच्छेदिति गम्यते । किंच **दम्भिहैतुकादीन्** सर्वकार्येषु **वर्जयेत्** । चकाराद्विकर्मस्थवैडालव्रतिकान्शठान् । यथाह मनुः (४।३०)—'पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकान्शठान् । हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥' इति । लोकरञ्जनार्थमेव कर्मानुष्ठायी

दम्भी, युक्तिबलेन सर्वत्र संशयकारी हैतुकः, त्रैविद्यविरुद्धपरिगृहीताश्रमिणः **पाखण्डिनः**। बकवदस्य वर्तनमिति **बकवृत्तिः**। यथाह मनुः (४।१९६)—'अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः। शठो मिथ्याविनीतश्च बकवृत्तिरुदाहृतः॥' इति। प्रतिषिद्धसेविनो विकर्मस्थाः। बिडालो मार्जारस्तस्य व्रतं स्वभावो यस्यासौ बैडालव्रतिकः। तस्य लक्षणमाह मनुः (४।१९५)—'धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः। बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः॥' इति। शठः=सर्वत्र वक्रः। एतैः संसर्गनिषेधादेव स्वयमेवंभूतो न भवेदिति गम्यते॥ १३०॥

भूख से पीड़ित होने पर राजा, शिष्य तथा यजमान से धन की इच्छा (याचना) करे। पर दम्भी (अहंकारी), हैतुक (तर्कबल से संशय करने वाला), पाखण्डी, बकवादी (छद्म स्वभाव वाले) को त्याग करे॥ १३०॥

शुक्लाम्बरधरो नीचकेशश्मश्रुनखः शुचिः।
न भार्यादर्शनेऽश्नीयान्नैकवासा न संस्थितः॥ १३१॥

किंच, शुक्ले धौते अम्बरे वाससी धरतीति **शुक्लाम्बरधरः**। केशाश्च श्मश्रूणि च नखाश्च केशश्मश्रुनखम्, नीचं निकृत्तं **केशश्मश्रुनखं** यस्यासौ तथोक्तः। **शुचि**रन्तर्बहिश्च स्नानानुलेपनधूपस्रगादिभिः सुगन्धी च भवेत्। यथाह गौतमः (९।२)—'स्नातको नित्यं शुचिः सुगन्धिः स्नानशीलः' इति। सुगन्धित्वविधानादेव निर्गन्धमाल्यस्य निषेधः। तथा च गोभिलः—'नागन्धां स्रजं धारयेदन्यत्र हिरण्यरत्नस्रजः' इति। सदा स्नातक एवंभूतो भवेत्। एतच्च सति संभवे; 'न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति' (मनु. ४।३४) इति स्मरणात्। न च **भार्यादर्शने** तस्यां पुरतोऽवस्थितायाम**श्नीयात्**; अवीर्यवदपत्योत्पत्तिभयात्। तथा च श्रुतिः—'जायाया अन्ते नाश्नीयादवीर्यवदपत्यं भवति' इति। अतस्तया सह भोजनं दूरादेव निरस्तम्। न **चैकवासाः**, न **संस्थितः** 'अश्नीयात्' इति संबध्यते॥ १३१॥

श्वेत वस्त्र धारण करे, केश, दाढ़ी और नख को छोटा रखे, पवित्र रहे तथा स्त्री के सामने एक वस्त्र धारण कर और खड़ा होकर भोजन न करे॥ १३१॥

न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं वदेत्।
नाहितं नानृतं चैव न स्तेनः स्यान्न वार्धुषी॥ १३२॥

किंच, कदाचिदपि **संशयं** प्राणविपत्तिसंशयावहं कर्म **न प्रपद्येत** न कुर्यात्। यथा व्याघ्रचौराद्युपहतदेशाक्रमणादि। **अकस्मा**न्निष्कारणं किंचिदपि परुषं **अप्रियं** उद्वेगकरं वाक्यं **न वदेत्**। **न चाहितं, नानृतं** वा प्रियमपि, चकारात् असभ्यं बीभत्सकरं च, अकस्मान्न वदेदिति संबध्यते। एतच्च परिहासादि-

व्यतिरेकेण; 'गुरुणापि समं हास्यं कर्तव्यं कुटिलं विना' इति स्मरणात्। **न च स्तेनः** अन्यदीयस्यादत्तस्य ग्रहीता **न स्यात्। न वार्धुषी स्यात्।** प्रतिषिद्धवृद्ध्युपजीवी वार्धुषी ॥ १३२ ॥

संशयपूर्ण (प्राणविपत्ति के सन्देहवाले) कर्म में प्रवृत्त न हो, निष्कारण अप्रिय वचन न बोले, अहितकारी तथा अनृत वचन भी (अकस्मात्) न बोले । चोरी न करे तथा निषिद्ध सूद से जीविका न चलावे ॥ १३२ ॥

दाक्षायणी ब्रह्मसूत्री वेणुमान्सकमण्डलुः ।
कुर्यात्प्रदक्षिणं देवमृद्गोविप्रवनस्पतीन् ॥ १३३ ॥

किंच, दाक्षायणं सुवर्णम्, तदस्यास्तीति **दाक्षायणी**। ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं तदस्यास्तीति **ब्रह्मसूत्री, वैणवयष्टिमान्, कमण्डलुमान्,** 'स्यात्' इति सर्वत्र संबन्धनीयम्। अत्र च ब्रह्मचारिप्रकरणोक्तस्यापि यज्ञोपवीतस्य पुनर्वचनं द्वितीयप्राप्त्यर्थम्। यथाह वसिष्ठः—'स्नातकानां तु नित्यं स्यादन्तर्वासस्तथोत्तरम्। यज्ञोपवीते द्वे यष्टिः सोदकश्च कमण्डलुः ॥' इति। अत्र च दाक्षायणीति सामान्याभिधानेऽपि कुण्डलधारणमेव कार्यम्; 'वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्। यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले॥' (४।३६) इति मनुस्मरणात्। तथा **देवं** देवप्रतिमाम्, **मृदं** तीर्थादुद्धृतां, **गां, ब्राह्मणं, वनस्पतिं** अश्वत्थादिकं **प्रदक्षिणं कुर्यात्।** एतान्दक्षिणतः कृत्वा प्रव्रजेदित्यर्थः। एवं चतुष्पथादीनपि 'मृदं गां देवतां विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्। प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥' (४।३९) इति मनुस्मरणात् ॥ १३३ ॥

सदैव स्वर्ण(कुण्डल)धारी, यज्ञोपवीती, दण्ड तथा कमण्डलुयुक्त रहे । देवता, (तीर्थ की) मिट्टी, विप्र तथा (अश्वत्थादि प्रख्यात) वनस्पतियों की प्रदक्षिणा करे ॥ १३३ ॥

न तु मेहेन्नदीछायावर्त्मगोष्ठाम्बुभस्मसु ।
न प्रत्यग्न्यर्कगोसोमसंध्याम्बुस्त्रीद्विजन्मनः ॥ १३४ ॥

नद्यादिषु न मेहेत् न मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात्, एवं श्मशानादावपि। यथाह शङ्खः—'न गोमयकृष्टोप्तशाद्वलचितिश्मशानवल्मीकवर्त्मखलगोष्ठबिलपर्वतपुलिनेषु मेहेत्; भूताधारत्वात्' इति। तथाग्न्यादीन्प्रति अग्न्यादीनामभिमुखं न मेहेत्, नाप्येतान्पश्यन्। यथाह गौतमः (९।१२)—'न वाय्वग्निविप्रादित्यापोदेवतागाश्च प्रतिपश्यन्वा मूत्रपुरीषामेध्यान्युदस्येत्, न देवताः प्रति पादौ प्रसारयेत्' इति। एतद्देशव्यतिरेकेण भूमिमयज्ञियैस्तृणैरन्तर्धाय मूत्रपुरीषे कुर्यादिति। यथाह वसिष्ठः—'परिवेष्टितशिरा भूमिमयज्ञियैस्तृणैरन्तर्धाय मूत्रपुरीषे कुर्यात्' इति ॥ १३४ ॥

नदी, छाया, मार्ग, गौशाल, जल तथा भस्म में मल-मूत्र का त्याग न करे । अग्नि, सूर्य, गाय, चन्द्रमा, सन्ध्या, जल, स्त्री तथा द्विज की ओर मुख कर मल-मूत्र का त्याग न करे ॥ १३४ ॥

नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनाम् ।
न च मूत्रं पुरीषं वा नाशुची राहुतारकाः ॥ १३५ ॥

नैवार्कमीक्षेतेति यद्यप्यत्र सामान्येनोक्तं, तथाप्युदयास्तमयराहुग्रस्तोदकप्रतिबिम्बमध्याह्नवर्तिन एवादित्यस्यावेक्षणं निषिध्यते, न सर्वदा । यथोक्तं मनुना (४।३७)—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन । नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥' इति । उपभोगादन्यत्र **नग्नां स्त्रियं नेक्षेत** । 'न नग्नां स्त्रियमीक्षेतान्यत्र मैथुनात्' इत्याश्वलायनः । **संसृष्टमैथुनां** कृतोपभोगाम् । उपभोगान्ते नग्नामपि नेक्षेत । चकाराद्भोजनादिकमाचरन्तीम् । तथा च मनुः (४।४३)—'नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् । क्षुवतीं जृम्भमाणां च न चासीनां यथासुखम् ॥ नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् । न पश्येत्प्रसवन्तीं च श्रेयस्कामो द्विजोत्तमः ॥' इति । **मूत्रपुरीषे च न पश्येत्** । तथा **अशुचिः सन् राहुतारकाश्च न पश्येत्** । चकारादुदके स्वप्रतिबिम्बं न पश्येत्; 'न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा' (मनु. ४।३८) इति वचनात् ॥ १३५ ॥

(उदयास्त के समय, जल में सूर्य-प्रतिबिम्ब तथा ग्रहण काल में) सूर्य को न देखे । नग्न स्त्री को, सद्यः संभोग की गई (नग्ना) स्त्री को, मूत्र और मल को तथा अशुचि अवस्था में राहु और ताराओं को न देखे ॥ १३५ ॥

टिप्पणी– यद्यपि यहाँ याज्ञवल्क्य ने सामान्य रूप से सूर्यावलोकन का निषेध किया है, परन्तु एतद्विषय में मनु का वचन इस प्रकार है–

'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्' ॥ ४/३७

स्त्री के प्रतिषेध-विषय में मनु का वचन इस प्रकार है–

'नाश्नीयाद् भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।
क्षुवतीं जृम्भमाणां च न चासीनां यथासुखम् ॥
नाञ्जयन्ती स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।
न पश्येत्प्रस्रवन्तीं, श्रेयस्कामो द्विजोत्तमः' ॥ ४/४३

जल में प्रतिबिम्ब न देखने के विषय में मनु का वचन यह है–

'न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा' । ४/३८

अयं मे वज्र इत्येवं सर्वं मन्त्रमुदीरयेत् ।
वर्षत्यप्रावृतो गच्छेत्स्वपेत्प्रत्यक्शिरा न च ॥ १३६ ॥

वर्षति सति 'अयं मे वज्रः पाप्मानमपहन्तु' इति मन्त्रमुच्चारयेत् । वर्षति अप्रावृतोऽनाच्छादितो न गच्छेन्न धावेत्। 'न प्रधावेच्च वर्षति' इति प्रतिषेधात्; नैच प्रत्यक्शिराः स्वप्यात् । चकारान्नग्नो न शयीत। एकश्च शून्यगृहे नच नग्नः शयीतेति । 'नैकः सुप्याच्छून्यगेहे' (४।५७) मनुस्मरणात् ॥ १३६ ॥

वर्षा होने पर 'अयं मे वज्र पाप्मानमपहन्तु' इस मन्त्र का उच्चारण करे । वर्षा काल में बिना (छत्र आदि से) आवृत हुये न चले और पश्चिम की ओर शिर कर (तथा नंगा) न सोवे ॥ १३६ ॥

ष्ठीवनासृक्शकृन्मूत्ररेतांस्यप्सु न निक्षिपेत् ।
पादौ प्रतापयेन्नाग्नौ न चैनमभिलङ्घयेत् ॥ १३७ ॥

ष्ठीवनमुद्गिरणम्, असृक् रक्तं, शकृत् पुरीषं, शेषं प्रसिद्धम्, एतान्यप्सु न निक्षिपेत्। एवं तुषादीन्यपि। यथाह शङ्खः—'तुषकेशपुरीषभस्मास्थिश्लेष्मनखलोमान्यप्सु न निक्षिपेन्न पादेन पाणिना वा जलमभिहन्यात्' इति। अग्नौ च पादौ न प्रतापयेत्। नाप्यग्निं लङ्घयेत् । चकारात् ष्ठीवनादीन्यग्नौ न निक्षिपेत्। मुखोपधमनादि चाग्नेर्न कुर्यात्। तथा च मनुः (४।५३)—'नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् । नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत्। न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणिबाधमाचरेत् ॥' इति ॥ १३७ ॥

थूक, रक्त, मल, मूत्र तथा वीर्य जल में न फेंके तथा अग्नि में न तो पैर सेंके और न अग्नि का उल्लंघन करे ॥ १३७ ॥

जलं पिबेन्नाञ्जलिना न शयानं प्रबोधयेत् ।
नाक्षैः क्रीडेन्न धर्मघ्नैर्व्याधितैर्वा न संविशेत् ॥ १३८ ॥

जलमञ्जलिना संहताभ्यां हस्ताभ्यां न पिबेत् । 'जल'ग्रहणं पेयमात्रोपलक्षणम्। विद्यादिभिरात्मनोऽधिकं शयानं न प्रबोधयेन्नोत्थापयेत्। 'श्रेयांसं न प्रबोधयेत्' इति विशेषस्मरणात् । अक्षादिभिर्न क्रीडेत् । धर्मघ्नैः पशुलम्भनादिभिर्न क्रीडेत् । व्याधितैर्ज्वराद्यभिभूतैः सहैकत्र न संविशेन्न शयीत ॥ १३८ ॥

अञ्जलि से जल न पिये, सोये को न जगाये, पाशे से न खेले (अर्थात् जुआ न खेले), धर्मनाशकों या रोगियों के साथ न बैठे ॥ १३८ ॥

विरुद्धं वर्जयेत्कर्म प्रेतधूमं नदीतरम् ।
केशभस्मतुषाङ्गारकपालेषु च संस्थितिम् ॥ १३९ ॥

जनपदग्रामकुलाचारविरुद्धं कर्म वर्जयेत्। प्रेतधूमं, बाहुभ्यां नदीतरणं च, वर्जयेदिति संबद्धयते। केशादिषु च संस्थितिं वर्जयेत्। चकारादस्थिकार्पासामेध्येषु च ॥ १३९ ॥

(शास्त्र, शिष्ट तथा कुलाचार से) विरुद्ध कर्म का आचरण न करे, प्रेत (श्मशान) का धुँआ तथा तैरकर नदी पार करने का त्याग करे । केश, भस्म, भूसा, अंगार तथा कपाल पर न बैठे ॥ १३९ ॥

नाचक्षीत धयन्तीं गां नाद्वारेण विशेत्क्वचित् ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णीयाल्लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ॥ १४० ॥

परस्य क्षीरादि पिबन्तीं गां परस्मै नाचक्षीत नच निवर्तयेत्। अद्वारेण कापथेन क्वचिदपि नगरे ग्रामे मन्दिरे वा न प्रविशेत्। नच कृपणस्य शास्त्रातिक्रमकारिणो राज्ञः सकाशात्प्रतिगृह्णीयात् ॥ १४० ॥

(दूसरे की) पिलाती हुई गाय को न बतावे, कहीं भी बिना मार्ग के प्रवेश न करे, लोभी तथा शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन करने वाले राजा से प्रतिग्रह न ले ॥ १४० ॥

प्रतिग्रहे सूनिचक्रिध्वजिवेश्यानराधिपाः ।
दुष्टा दशगुणं पूर्वात्पूर्वादेते यथाक्रमम् ॥ १४१ ॥

प्रतिग्रहे साध्ये सून्यादयः पञ्च पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्परः परो दशगुणं दुष्टः। सूना प्राणिहिंसा साऽस्यास्तीति सूनी प्राणिहिंसापरः। चक्री तैलिकः। ध्वजी सुराविक्रयी। वेश्या पण्यस्त्री। नराधिपोऽनन्तरोक्तः ॥ १४१ ॥

दान-ग्रहण में व्याध, तैलिक, सुराविक्रयी, वेश्या और राजा में क्रमशः पहले वाले की अपेक्षा बाद वाले दश गुना निन्द्य हैं ॥ १४१ ॥

अथाध्ययनधर्मानाह—

अध्यायानामुपाकर्म श्रावण्यां श्रवणेन वा ।
हस्तेनौषधिभावे वा पञ्चम्यां श्रावणस्य तु ॥ १४२ ॥

अधीयन्त इत्यध्याया वेदाः, तेषामुपाकर्म उपक्रममोषधीनां प्रादुर्भावे सति श्रावणमासस्य पौर्णमास्यां, श्रवणनक्षत्रयुते वा दिने, हस्तेन युतायां पञ्चम्यां वा, स्वगृह्योक्तविधिना कुर्यात्। यदा तु श्रावणे मासि ओषधयो न प्रादुर्भवन्ति, तदा भाद्रपदे मासि श्रवणनक्षत्रे कुर्यात् । तत ऊर्ध्वं सार्धचतुरो

मासान्वेदानधीयीत। तथा च मनुः (४।९५)—'श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि। युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥' इति ॥१४२॥

अध्ययन (वेदाध्ययन) का उपाकर्म (प्रारम्भ) औषधियों के उग जाने पर श्रावण मास की पूर्णिमा, श्रवण नक्षत्र से युक्त दिन या हस्त नक्षत्र से युक्त पञ्चमी तिथि को करे ॥ १४२ ॥

उत्सर्जनकालः—

पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामथापि वा।
जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्बहिः ॥ १४३ ॥

पौषमासस्य रोहिण्याम[1]ष्टकायां वा ग्रामा[2]द्बहिर्जलसमीपे छन्दसां वेदानां स्वगृह्योक्तविधिनोत्सर्गं कुर्यात्। यदा पुनर्भाद्रपदे मासि उपाकर्म तदा माघशुक्लप्रथमदिवसे उत्सर्गं कुर्यात्। यथोक्तं मनुना (४।९६)—'पु[3]ष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः। माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥' इति। तदनन्तरं पक्षिणीमहोरात्रं वा विरम्य शुक्लपक्षेषु वेदान् कृष्णपक्षेष्वङ्गान्यधीयीत। यथाह मनुः (४।९७)—'यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः। विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं यद्वाऽप्येकमहर्निशम् ॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत्। वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ इति ॥ १४३ ॥

पौषमास का रोहिणी नक्षत्र या अष्टमी तिथि को (ग्राम के) बाहर जल के पास वेदों का (गृह्योक्त) विधि के अनुसार उत्सर्ग करे ॥ १४३ ॥

अनध्यायानाह—

त्र्यहं प्रेतेष्वनध्यायः शिष्यर्त्विग्गुरुबन्धुषु।
उपाकर्मणि चोत्सर्गे स्वशाखाश्रोत्रिये तथा ॥ १४४ ॥

उक्तेन मार्गेणाधीयानस्य द्विजस्य शिष्यर्त्विग्गुरुबन्धुषु प्रेतेषु मृतेषु त्र्यहमनध्यायस्त्रीनहोरात्रानध्ययनं वर्जयेत्। उपाकर्मणि उत्सर्गाख्ये च कर्मणि कृते त्र्यहमनध्यायः। उत्सर्गे तु मनूक्तपक्षिण्यहोरात्राभ्यां सहास्य विकल्पः। स्वशाखाश्रोत्रिये स्वशाखाध्यायिनि च प्रेते त्र्यहमनध्यायः ॥ १४४ ॥

शिष्य, ऋत्विक्, गुरु, बान्धव (सजाति) के मरने तथा उपाकर्म, उत्सर्ग एवं स्वशाखा के अध्येता के मरने पर तीन दिनों का अनध्याय होता है ॥ १४४ ॥

संध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातने ।
समाप्य वेदं द्युनिशमारण्यकमधीत्य च ॥ १४५ ॥

संध्यायां मेघध्वनौ, **निर्घाते** आकाशे उत्पातध्वनौ, **भूमिचलने, उल्कापतने,** मन्त्रस्य ब्राह्मणस्य वा **समाप्तौ, आरण्यकाध्ययने च द्युनिशमहो**रात्रमनध्यायः ॥ १४५ ॥

सन्ध्या समय मेघगर्जन होने पर, आकाश में उत्पात-ध्वनि होने पर, भूकम्प होने पर, उल्कापात पर, संहिता या ब्राह्मण की समाप्ति पर और आरण्यक का अध्ययन पूरा होने पर एक दिन और एक रात का अनध्याय होता है ॥ १४५ ॥

पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके ।
ऋतुसंधिषु भुक्त्वा वा श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ १४६ ॥

पञ्चदश्याममावास्यायां पौर्णमास्यां **चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके** चन्द्रसूर्योपरागे च द्युनिशमनध्यायः । यत्तु—'त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके' (मनु. ४।११०) इति तद्ग्रस्तास्तविषयम् । **ऋतुसंधि**गतासु च प्रतिपत्सु **श्राद्धिक**भोजने **तत्प्रतिग्रहे च** द्युनिशमनध्यायः । एतच्चैकोद्दिष्टव्यतिरिक्तविषयम्; तत्र तु त्रिरात्रम् मनुः (४।११०)—'प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् । त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म' इति स्मरणात् ॥ १४६ ॥

पञ्चदशी (अमावस्या एवं पूर्णिमा), चतुर्दशी, अष्टमी, चन्द्र और सूर्य ग्रहण, ऋतुसंधि की प्रतिपदा तिथियों में श्राद्ध-भोजन करने पर अथवा श्राद्ध का प्रतिग्रह लेने पर (एक दिन का अनध्याय होता है) ॥ १४६ ॥

पशुमण्डूकनकुलश्वाहिमार्जारमूषकैः ।
कृतेऽन्तरे त्वहोरात्रं शक्रपाते तथोच्छ्रये ॥ १४७ ॥

अध्येतॄणां **पश्वादिभिरन्तरागमने कृते शक्र**ध्वजस्यावरोपणदिवसे, **उच्छ्राय**दिवसे **चाहोरात्र**मनध्यायः । द्युनिशमिति प्रकृते पुनः 'अहोरात्र'-ग्रहणं संध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातेष्वाकालिकत्वज्ञापनार्थम्; 'आकालिकनिर्घातभूकम्पराहुदर्शनोल्काः' (१६।२२) इति गौतमवचनात् । निमित्तकालादारभ्यापरेद्युर्यावत्स एव कालस्तावत्काल अकालः, तत्र भव आकालिकोऽनध्यायः । एतच्च प्रातःसंध्यास्तनिते । सायंसंध्यास्तनिते तु रात्रिमेव; 'सायंसंध्यास्तनिते तु रात्रिः, प्रातःसंध्योस्तनितेऽहोरात्रम्' इति हारीतस्मरणात् । यत्पुनर्गौतमेनोक्तं (१।७९) 'श्वनकुलसर्पमण्डूकमार्जाराणामन्तरागमने त्र्यहमुपवासो विप्रवासश्च' इति तत्प्रथमाध्ययनविषयमेव ॥ १४७ ॥

अध्येताओं के मध्य में किसी पशु, मेंढक, नेवला, कुत्ता, सर्प, बिल्ली, मूषक के आने पर शक्रध्वज के अवरोपण दिन में तथा उत्सव के दिन में (एक दिन-रात का अनध्याय होता है) ॥ १४७ ॥

श्वक्रोष्टृगर्दभोलूकसामबाणार्तनिःस्वने ।
अमेध्यशवशूद्रान्त्यश्मशानपतितान्तिके ॥ १४८ ॥

श्वा कुक्कुरः, **क्रोष्टा** सृगालः, **गर्दभो** रासभः, **उलूको** घूकः, **साम** सामानि, **बाणो** वंशः, **आर्तो** दुःखितः, एषां श्वादीनां **निःस्वने** तावत्कालमनध्यायः । एवं वीणादिनिःस्वनेऽपि ।—'वेणुवीणाभेरीमृदङ्गगन्त्र्यार्तशब्देषु' (१६।७) इति गौतमवचनात् । गन्त्री शकटम् । **अमेध्यादीनां संनिधाने** तावत्कालिकोऽनध्यायः ॥ १४८ ॥

कुत्ता, स्यार, गर्दभ, उल्लू, सामगान, बाँस तथा दुःखी का स्वर सुनायी पड़ने पर तथा अपवित्र शव, शूद्र, चाण्डाल, श्मशान या पतित व्यक्ति के पास होने पर (उस स्थिति तक अनध्याय होगा) ॥ १४८ ॥

देशेऽशुचावात्मनि च विद्युत्स्तनितसंप्लवे ।
भुक्त्वार्द्रपाणिरम्भोन्तरर्धरात्रेऽतिमारुते ॥ १४९ ॥

अशुचौ देशेऽशुचावात्मनि च । तथा **विद्युत्स्तनितसंप्लवे** पुनःपुनर्विद्योतमानायां विद्युति, स्तनितसंप्लवे प्रहरद्वयं पुनः पुनर्मेघघोषे तावत्कालिकोऽनध्यायः । **भुक्त्वार्द्रपाणि**र्नाधीयीत । जलमध्ये च । **अर्धरात्रे** महानिशाख्ये मध्यमप्रहरद्वये, **अतिमारुते**ऽह्न्यपि तावत्कालं नाधीयीत ॥ १४९ ॥

अशुचि स्थान में, स्वयं अपवित्र होने पर, पुनः-पुनः बिजली चमकने तथा मेघगर्जन होने पर, भोजन करने पर, भींगा हाथ होने पर, जल में रहने पर, अर्धरात्रि में तथा तेज हवा चलने पर उतने समय तक अनध्याय होता है ॥ १४९ ॥

पांसुप्रवर्षे दिग्दाहे संध्यानीहारभीतिषु ।
धावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते ॥ १५० ॥

औत्पातिके **रजोवर्षे, दिग्दाहे** यत्र ज्वलिता इव दिशो दृश्यन्ते । **संध्ययोः, नीहारे** धूमिकायां, **भीतिषु** चौरराजादिकृतासु तावत्कालमनध्यायः । **धावत**स्त्वरितं गच्छतोऽनध्यायः । **पूतिगन्धे** कुत्सितगन्धे अमेध्यमद्यादिगन्धे । **शिष्टे च** श्रोत्रियादौ **गृहं प्राप्ते** तदनुज्ञावध्यनध्यायः ॥ १५० ॥

धूल की वृष्टि होने पर, दिग्दाह होने पर, संध्या के कुहरे में (चोर, राजा आदि से) भय होने पर, दौड़ते समय, सड़ी गन्ध होने पर और सज्जन के घर आने पर (तात्कालिक अनध्याय होता है) ॥ १५० ॥

खरोष्ट्रयानहस्त्यश्वनौवृक्षेरिणरोहणे ।
सप्तत्रिंशदनध्यायानेतांस्तात्कालिकान्विदुः ॥ १५१ ॥

यानं रथादि, **इरिणमूषरं** मरुभूमिर्वा, **खरादीनामारोहणे** तावत्कालमनध्यायः । एवं 'श्वक्रोष्टृगर्दभ–'इत्यस्मादारभ्य सप्तत्रिंशदनध्यायानेतांस्तात्कालिकान्निमित्तसमकालान्विदुरनध्यायविधिज्ञाः । **'विदुः'** इत्यनेन स्मृत्यन्तरोक्तानन्यानपि संगृह्णाति । यथाह मनुः (४।११२)—'शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् । नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥' इत्यादि ॥१५१॥

गधा, ऊँट, रथ, हाथी, घोड़ा, नाव, वृक्ष और ऊषर में चढ़ने पर अनध्याय होता है । ये सैंतीस अनध्याय तात्कालिक (जितने समय ये कारण रहे) हैं ॥ १५१ ॥

एवमनध्यायानुक्त्वा प्रकृतानि स्नातकव्रतान्याह—

देवर्त्विक्स्नातकाचार्यराज्ञां छायां परस्त्रियाः ।
नाक्रामेद्रक्तविण्मूत्रष्ठीवनोद्वर्तनादि च ॥ १५२ ॥

देवानां देवार्चानामृत्विक्स्नातकाचार्यराज्ञां परस्त्रियाश्च **छायां** **नाक्रामेन्**नाधितिष्ठेन्न लङ्घयेद्बुद्धिपूर्वम् । यथाह मनुः (४।१३०)—'देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा । नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥' इति । बभ्रुणो नकुलवर्णस्य यस्य कस्यचिद्गोरन्यस्य वा श्यामादेः; 'बभ्रुण' इति नपुंसकलिङ्गनिर्देशात् । **रक्तादीनि च नाधितिष्ठेत्** । 'आदि'ग्रहणात्स्नानोदकादेर्ग्रहणम् । (मनु.४।१३२)—'उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च । श्लेष्मनिष्ठ्यतवान्तानि नाधितिष्ठेत कामतः ॥' इति ॥ १५२ ॥

देवता, ऋत्विक्, स्नातक, आचार्य, राजा तथा परस्त्री की छाया एवं रक्त, विष्ठा, मूत्र, थूक एवं उबटन की सीठी को न लाँघे ॥ १५२ ॥

विप्राहिक्षत्रियात्मानो नावज्ञेयाः कदाचन ।
आ मृत्योः श्रियमाकाङ्क्षेन्न कंचिन्मर्मणि स्पृशेत् १५३

विप्रो बहुश्रुतो ब्राह्मणः, **अहिः** सर्पः, **क्षत्रियो** नृपतिः, एते कदाचिदपि नावमन्तव्याः । **आत्मा** च स्वयं नावमन्तव्यः । **आमृत्योर्यावज्जीवं श्रियमिच्छेत्** । **न कंचित्** पुरुषं **मर्मणि स्पृशेत्** कस्यचिदपि मर्म दुश्चरितं न प्रकाशयेत् ॥ १५३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपनी कभी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये । मृत्यु-पर्यन्त श्री (ऐश्वर्य) की कामना करनी चाहिये तथा किसी व्यक्ति के मर्म का स्पर्श नहीं करना चाहिये (अर्थात् उसके दुष्कर्म को प्रकाशित न करे) ॥ १५३ ॥

दूरादुच्छिष्टविण्मूत्रपादाम्भांसि समुत्सृजेत् ।
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्नित्यमाचारमाचरेत् ॥ १५४ ॥

भोजनाद्युच्छिष्टं विण्मूत्रे पादप्रक्षालनोदकं च गृहाद्दूरात्समुत्सृजेत् । श्रौतं स्मार्तं चाचारं नित्यं सम्यगनुतिष्ठेत् ॥ १५४ ॥

जूठा, विष्ठा, मूत्र, पैर धोने का जल दूर फेंके । नित्य श्रुति एवं स्मृति द्वारा बताये सदाचार का पालन करे ॥ १५४ ॥

गोब्राह्मणानलान्नानि नोच्छिष्टो न पदा स्पृशेत् ।
न निन्दाताडने कुर्यात्पुत्रं शिष्यं च ताडयेत् ॥ १५५ ॥

गां ब्राह्मणमग्निं अन्नमदनीयं, विशेषतः पक्वमशुचिर्न स्पृशेत् । पादेन त्वनुच्छिष्टोऽपि[1] । यदा पुनः प्रमादात्स्पृशति तदा आचमनोत्तरकालम्— 'स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् । गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥' इति (४।१४३) मनूक्तं कार्यम् । एवं प्राणादीनुपस्पृशेत् । कस्यचिदपि निन्दाताडने न कुर्यात् । एतच्चानपकारिणि । मनुः(४।१६७)–'अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः । दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ॥' इति । पुत्रशिष्यौ शि[2]क्षार्थमेव ताडयेत् । चकाराद्दासादीनपि । ताडनं च रज्ज्वादिनोत्तमाङ्गव्यतिरेकेण कार्यम्; 'शिष्यशिष्टिरवधेनाशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्यामन्येन[3] घ्नन् राज्ञा शास्यते' (२।४२,३।४) इति गौतमवचनात् । '—पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे[4] कथंचन' इति (८।३००) मनुवचनात् ॥ १५५ ॥

गाय, ब्राह्मण तथा अग्नि को स्वयं जूठा रहने पर न छुये और पैर से न छुये, किसी की निन्दा न करे और न मारे । पुत्र और शिष्य का ताडन करे ॥ १५५ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत् ।
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु ॥ १५६ ॥

कर्मणा कायेन यथाशक्ति धर्ममनुतिष्ठेत् तमेव मनसा ध्यायेत् वाचा च वदेत् । धर्मं विहितमपि लोकविद्विष्टं लोकाभिशस्तिजननं मधुपर्के गोवधादिकं नाचरेत् । यस्मादस्वर्ग्यमग्नीषोमीयवत्स्वर्गसाधनं न भवति ॥ १५६ ॥

कर्म, मन और वचन से यत्नपूर्वक धर्म का आचरण करना चाहिये । ऐसे धर्म का भी आचरण न करे जो स्वर्ग को न देने वाला तथा लोक से विद्वेष कराने वाला हो ॥ १५६ ॥

मातृपित्रतिथिभ्रातृजामिसंबन्धिमातुलैः ।
वृद्धबालातुराचार्यवैद्यसंश्रितबान्धवैः ॥ १५७ ॥

ऋत्विक्पुरोहितापत्यभार्यादाससनाभिभिः ।
विवादं वर्जयित्वा तु सर्वांल्लोकाञ्जयेद्गृही ॥ १५८ ॥

माता जननी, **पिता** जनकः, **अतिथि**रध्वनीनः, **भ्रातरो** भिन्नोदरा अपि । **जामयो** विद्यमानभर्तृकाः स्त्रियः, **संबन्धिनो** वैवाह्याः, **मातुलो** मातुर्भ्राता, **वृद्धः** सप्तत्युत्तरवयस्कः, **बाल** आ षोडशाद्वर्षात्, **आतुरो** रोगी, **आचार्य** उपनेता, **वैद्यो** विद्वान् भिषग्वा, **संश्रितः**[2] उपजीवी, **बान्धवाः** पितृपक्ष्या मातृपक्ष्याश्च, मातुलस्य पृथगुपादानमादरार्थम् । **ऋत्वि**ग्याजकः, **पुरोहितः** शान्त्यादेः कर्ता, **अपत्यं** पुत्रादि, **भार्या** सहधर्मचारिणी, **दासः** कर्मकरः, **सनाभयः** सोदराः, भ्रातृभ्यः पृथगुपादानं[1] जामिभगिनीप्राप्त्यर्थम् । एतैर्मात्रादिभिः सह वाक्कलहं परित्यज्य **सर्वा**न्प्राजापत्यादीन् **लोका**न्प्राप्नोति ॥ १५७–१५८ ॥

माता, पिता, अतिथि, भाई (जो सहोदर न हो), सधवा स्त्रियाँ, मामा, वृद्ध, बालक, रोगी, आचार्य, वैद्य, उपजीवी, बान्धव, ऋत्विक्, पुरोहित, सन्तान, पत्नी, नौकर और सहोदर भाइयों से विवाद का त्याग कर गृहस्थ सभी लोकों पर विजय प्राप्त करता है ॥ १५७-१५८ ॥

पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिषु ।
स्नायान्नदीदेवखातह्रदप्रस्रवणेषु च ॥ १५९ ॥

परवारिषु परसंबन्धिषु सर्वसत्त्वोद्देशेनात्यक्तेषु तडागादिषु **पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्** । अनेनात्मीयोत्सृष्टाभ्यनुज्ञातेषु पिण्डोद्धारमन्तरापि[1] स्नानमभ्यनुज्ञातम् । नद्यादिषु कथं तर्हीत्याह—**स्नायान्नदीति** । साक्षात्परम्परया वा समुद्रगाः स्रवन्त्यो **नद्यः**, **देवखातं** देवनिर्मितं पुष्करादि, उदकप्रवाहाभिपातकृतसजलो महानिम्नप्रदेशो **ह्रदः**, पर्वताद्युच्चप्रदेशात्प्रसृतमुदकं **प्रस्रवणम्**, एतेषु पञ्चपिण्डानुद्धरणेनैव **स्नायात्** । एतच्च नित्यस्नानविषयं सति संभवे **मनुः** (४।२०३)—'नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥' इति 'नित्य'ग्रहणात् । शौचाद्यर्थं तु यथासंभवं परवारिषु पिण्डानुद्धरणे सर्वस्य निषेधः ॥ १५९ ॥

दूसरे के जलाशय में पाँच पिण्ड (पाँच मुट्ठी मिट्टी) बिना निकाले न स्नान करे । नदी, देवखात (देव-निर्मित जलाशय), ह्रद (ऊँचे से जल के गिरने से बना निम्न प्रदेश का जलाशय) और झरने आदि में (बिना मिट्टी निकाले ही) स्नान करे ॥ १५९ ॥

परशय्यासनोद्यानगृहयानानि वर्जयेत् ।
अदत्तान्यग्निहीनस्य नान्नमद्यादनापदि ॥ १६० ॥

शय्या कशिपुः, **आसनं** पीठादि, **उद्यान**माम्रादिवनम्। **गृहं** प्रसिद्धम्, **यानं** रथादि, **परसंबन्धीन्**येतान्यदत्तान्यननुज्ञातानि **वर्जयेत्** नोपभुञ्जीत। अभोज्यान्नान्याह—**अग्निहीनस्येति** । **अग्निहीनस्य** श्रौतस्मार्ताभ्यधिकाररहितस्य शूद्रस्य प्रतिलोमजस्य च अधिकारवतोऽप्यग्निरहितस्यान्नम**नापदि न भुञ्जीत,** न प्रतिगृह्णीयाच्च। 'तस्मात्प्रशस्तानां स्वकर्मशुद्धजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत प्रतिगृह्णीयाच्च' (१७।१,२) इति गौतमवचनात् ॥ १६० ॥

(बिना दिये या अनुमति के) दूसरे की शय्या, आसन, उद्यान, गृह और सवारी का त्याग करे । अग्निहीन (अग्न्याधान के अधिकार से रहित तथा अधिकारी होने पर भी) अग्न्याधान न करने वाले का श्रद्धापूर्वक दिया हुआ भी अन्न बिना आपत्ति काल के न खाय ॥ १६० ॥

कदर्यबद्धचौराणां क्लीबरङ्गावतारिणाम् ।
वैणाभिशस्तवार्धुष्यगणिकागणदीक्षिणाम् ॥ १६१ ॥

कदर्यो लुब्धः; 'आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत् । लोभाद्यः पितरौ भृत्यान्स कदर्य इति स्मृतः ॥' (देवल.) इत्युक्तः । **बद्धो** निगडादिना वाचा संनिरुद्धश्च, **चौरो** ब्राह्मणसुवर्णव्यतिरिक्तपरस्वापहारी, **क्लीबो** नपुंसकः, **रङ्गावतारी** नटचारणमल्लादिः, वेणुच्छेदजीवी, **वैणः अभिशस्तः** पतनीयैः कर्मभिर्युक्तः, **वार्धुष्यो** निषिद्धवृद्ध्युपजीवी, **गणिका** पण्यस्त्री, **गणदीक्षी** बहुयाजकः। एतेषामन्नं नाश्नीयादित्यनुवर्तते ॥ १६१ ॥

कदर्य (लोभी या कृपण), बन्धन में पड़ा, चौर, नपुंसक, रङ्गावतारी (नट, चारण, मल्ल आदि), वैण (बाँस को छेद कर जीविकोपार्जन करने वाला), अभिशस्त (पातक कर्मों से युक्त), वार्धुषी (कुत्सित सूद कमाने वाला), वेश्या और बहुयाजक का (अन्न नहीं खाना चाहिये) ॥ १६१ ॥

चिकित्सकातुरक्रुद्धपुंश्चलीमत्तविद्विषाम् ।
क्रूरोग्रपतितव्रात्यदाम्भिकोच्छिष्टभोजिनाम् ॥ १६२ ॥

चिकित्सको भिषग्वृत्त्युपजीवी, **आतुरो** महारोगोपसृष्टः; 'वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः। अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः प्रकीर्तिताः' इति । **क्रुद्धः** कुपितः, **पुंश्चली** व्यभिचारिणी, **मत्तो** विद्यादिना गर्वितः, **विद्विट्** शत्रुः, **क्रूरो** दृढाभ्यन्तरकोपः, वाक्कायव्यापारेणोद्वेजक **उग्रः**, **पतितो** ब्रह्महादिः, **व्रात्यः** पतितसावित्रीकः, **दाम्भिको** वञ्चकः, **उच्छिष्टभोजी** परभुक्तोज्झिताशी, एतेषां चिकित्सकादीनामन्नं नाश्नीयात् ॥ १६२ ॥

वैद्य, रोगी, क्रोधी, व्यभिचारिणी, अभिमानी, शत्रु, क्रूर (भीतर से अति क्रोधी), उग्र (वाणी और कर्म से उद्वेजक), पतित (ब्रह्महत्यारा आदि), व्रात्य (पतितसावित्रीक), दाम्भिक (वञ्चक), जूठा खाने वाला (इनका अन्न न खाय) ॥ १६२ ॥

अवीरास्त्रीस्वर्णकारस्त्रीजितग्रामयाजिनाम् ।
शस्त्रविक्रयिकर्मारतन्तुवायश्ववृत्तिनाम् ॥ १६३ ॥

अवीरा स्त्री स्वतन्त्रा,–व्यभिचारमन्तरेणापि । पतिपुत्ररहितेत्यर्थः । **स्वर्णकारः** सुवर्णस्य विकारान्तरकृत्, **स्त्रीजितः** सर्वत्र स्त्रीवशवर्ती, **ग्रामयाजी** ग्रामस्य शान्त्यादिकर्ता, बहूनामुपनेता वा । **शस्त्रविक्रयी** शस्त्रविक्रयोपजीवी, **कर्मारो** लोहकारः तक्षादिश्च, **तन्तुवायः** सूचिशिल्पोपजीवी । श्वभिर्वृत्तिर्वर्तनं जीवनमस्यास्तीति **श्ववृत्ती,** एतेषामन्नं नाश्नीयात् ॥ १६३ ॥

अवीरा स्त्री (पति-पुत्रादि से रहित स्वतन्त्र स्त्री), सोनार, स्त्री के वश में रहने वाला, गाँव भर का यजन कराने वाला, शस्त्र बेचने वाला, लोहार, तन्तुवाय (जुलाहा या दर्जी) और कुत्तों से जीविका चलाने वाला (इनका अन्न नहीं खाना चाहिये) ॥ १६३ ॥

नृशंसराजरजककृतघ्नवधजीविनाम् ।
चैलधावसुराजीवसहोपपतिवेश्मनाम् ॥ १६४ ॥
पिशुनानृतिनोश्चैव तथा चाक्रिकबन्दिनाम् ।
एषामन्नं न भोक्तव्यं सोमविक्रयिणस्तथा ॥ १६५ ॥

नृशंसो निर्दयः, **राजा** भूपतिः, तत्साहचर्यात्पुरोहितश्च । यथाह शङ्खः— 'शीतावगीतरुदिताक्रन्दितावघुष्टक्षुधितपरिभुक्तविस्मितोन्मत्तावधूतराजपुरोहितान्नानि वर्जयेत्' इति । **रजको** वस्त्रादीनां नीलादिरागकारकः, **कृतघ्न** उपकृतस्य हन्ता **वधजीवी** प्राणिनां वधेन वर्तकः, **चैलधावो** वस्त्रनिर्णेजनकृत्, **सुराजीवो** मद्यविक्रयजीवी, उपपतिर्जारः । सहोपपतिना वेश्म यस्यासौ **सहोपपतिवेश्मा । पिशुनः** परदोषस्य ख्यापकः, **अनृती** मिथ्यावादी, **चाक्रिकस्तैलिकः,** शाकटिकश्चेत्येके । 'अभिशस्तः पतितश्चाक्रिकस्तैलिक' इति भेदेनाभिधानात् । **वन्दिनः** स्तावकाः, **सोमविक्रयी** सोमलताया विक्रेता, एतेषामन्नं न भोक्तव्यम् । सर्वे चैते कदर्यादयो द्विजा एव कदर्यत्वादिदोषदुष्टा अभोज्यान्नाः। इतरेषां प्राप्त्यभावात्प्राप्तिपूर्वकत्वाच्च निषेधस्य ॥ १६४–१६५ ॥

निर्दयी, राजा, कपड़ा रंगने वाला, कृतघ्न, प्राणियों के वध से जीविका चलानें वाला, धोबी, मद्य बेचने वाला (कलवार) तथा जिसके घर में जार रहता हो (इनका अन्न नहीं खाना चाहिये) । पिशुन (दूसरे का दोष प्रकाशित करने वाला), झूठ बोलने वाला, तेली या गाड़ीवान, वन्दीजन तथा सोमविक्रयी– इनका अन्न नहीं खाना चाहिये ॥ १६४-६५ ॥

'अग्निहीनस्य नान्नमद्यादनापदि' (आचार. १६०) इत्यत्र शूद्रस्याभोज्यान्नत्वमुक्तं, तत्र प्रतिप्रसवमाह—

शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः ।
भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ १६६ ॥

दासा गर्भदासादयः । **गोपालो** गवां पालनेन यो जीवति । **कुलमित्रं** पितृपितामहादिक्रमायातः । **अर्धसीरी** हलपर्यायसीरोपलक्षितकृषिफलभागग्राही । **नापितो** गृहव्यापारकारयिता, नापितश्च । **यश्च** वाङ्मनःकायकर्मभिरात्मानं **निवेदयति** तवाहमिति । एते दासादयः शूद्राणां मध्ये भोज्यान्नाः । चकारात्कुम्भकारश्च; 'गोपनापितकुम्भकारकुलमित्रार्धिकनिवेदितात्मानो भोज्यान्नाः' इति वचनात् ॥ १६६ ॥

शूद्रों में दास, अहीर (गोपाल), कुल के मित्र, आधे पर खेती करने वाले, नाई तथा अपने को निवेदित करने वाले – इनका अन्न खाना चाहिये ॥ १६६ ॥

इति स्नातकधर्मप्रकरणम् ।

अथ भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम् ७

'न स्वाध्यायविरोध्यर्थम्' (आचार. १२९) इत्यत आरभ्य ब्राह्मणस्य स्नातकव्रतान्यभिधायेदानीं द्विजातिधर्मानाह—

अनर्चितं वृथामांसं केशकीटसमन्वितम् ।
शुक्तं पर्युषितोच्छिष्टं श्वस्पृष्टं पतितेक्षितम् ॥ १६७ ॥
उदक्यास्पृष्टसंघुष्टं पर्यायान्नं च वर्जयेत् ।
गोघ्रातं शकुनोच्छिष्टं पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ १६८ ॥

अनर्चितं अर्चार्हाय यदवज्ञया दीयते । **वृथामांसं** वक्ष्यमाणप्राणात्ययादिव्यतिरेकेण देवाद्यर्चनावशिष्टं च यन्न भवति आत्मार्थमेव यत्साधितम् । **केशकीटादिभिश्च समन्वितं** संयुक्तम् । यत्स्वयमनम्लं केवलं कालपरिवासेन द्रव्यान्तरसंसर्गकालपरिवासाभ्यां वाम्लीभवति **तच्छुक्तं** दध्यादिव्यतिरेकेण; 'न पापीयसोऽन्नमश्नीयान्न द्विःपक्वं, न शुक्तं, न पर्युषितं, अन्यत्र रागखाण्डवचुक्रदधिगुडगोधूमयवपिष्टविकारेभ्यः' इति शङ्खस्मरणात् । **पर्युषितं** रात्र्यन्तरितम् । **उच्छिष्टं** भुक्तोज्झितम्, **श्वस्पृष्टं** शुना स्पृष्टम्, **पतितेक्षितं** पतितादिभिरीक्षितम्, **उदक्या** रजस्वला तया स्पृष्टम्, 'उदक्या'ग्रहणं चण्डालाद्युपलक्षणार्थम्; 'अमेध्यपतितचण्डालपुल्कसरजस्वलाकुनखिकुष्ठिसंस्पृष्टान्नं वर्जयेत्' इति शङ्खस्मरणात् । 'को भुङ्क्ते ?' इति यदाघुष्य दीयते **तत्संघुष्टान्नम्** । अन्य-

संबन्ध्यन्यव्यपदेशेन यद्दीयते तत्**पर्यायान्नम्**, यथा—'ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत्। उभावेतावभोज्यान्नौ भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति। **'पर्याचान्तम्'** इति पाठे परिगतमाचान्तं गण्डूषग्रहणं यस्मिन् तत्पर्याचान्तं, तन्न भोक्तव्यम्। एतदुक्तं भवति—गण्डूषग्रहणादूर्ध्वं आचमनात्प्राक् न भोक्तव्यमिति। **'पार्श्वाचान्तम्'** इति पाठे एकस्यां पङ्क्तौ पार्श्वस्थे आचान्ते न भोक्तव्यं भस्मोदकादिविच्छेदेन विना। 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकं संबध्यते। तथा **गोघ्रातं** गवा घ्रातम्। **शकुनोच्छिष्टं** शकुनेन काकादिना भुक्तमास्वादितम्। **पदा स्पृष्टं** बुद्धिपूर्वं पादेन स्पृष्टं **वर्जयेत्** ॥ १६७–१६८ ॥

(पूज्य व्यक्ति को) तिरस्कारपूर्वक दिया गया अन्न, व्यर्थ मांस (अर्थात् देवोद्देश्य से न होकर अपने खाने के लिये पकाया मांस), केश या कीड़ा पड़ा अन्न, (स्वयं खट्टा न होने पर समय बीतने या बर्तन और समय के कारण) खट्टा अन्न, बासी, जूठा, कुत्ता से स्पृष्ट, पतित द्वारा देखा गया, रजस्वला से स्पृष्ट, 'कौन लेगा' यह कह कर दिया गया, पक्षी से जूठा किया गया तथा जान-बूझकर पैर से स्पर्श किया गया अन्न नहीं खाना चाहिये ॥ १६७-१६८ ॥

पर्युषितस्य प्रतिप्रसवमाह—

अन्नं पर्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितम्।
अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रियाः ॥ १६९ ॥

अन्नमदनीयं पर्युषितं घृतादिस्नेहसंयुक्तं चिरकालसंस्थितमपि भोज्यम्। गोधूमयवगोरसविक्रियाः मण्डकसक्तुकिलाटकूर्चिकादयः **अस्नेहा अपि** चिरकालसंस्थिता भोज्याः, यदि विकारान्तरमनापन्नाः; 'अपूपधानाकरम्भसक्तुयावकतैलपायसशाकानि शुक्तानि वर्जयेत्' (१४।३७) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ १६९ ॥

स्नेह (घृत-तैलादि) से युक्त (बना) देर से रखा वासी भी अन्न भोज्य है तथा गेहूँ, जौ और दूध से विनिर्मित भोजन स्नेह (घृतादि) से युक्त न होने पर भी भोज्य है ॥ १६९ ॥

संधिन्यनिर्दशावत्सागोपयः परिवर्जयेत्।
औष्ट्रमैकशफं स्त्रैणमारण्यकमथाविकम् ॥ १७० ॥

गौः या वृषेण संधीयते सा **संधिनी**। 'वशां वन्ध्यां विजानीयाद्वृषाक्रान्तां च संधिनीम्' इति त्रिकाण्डीस्मरणात्। या चैकां वेलामतिक्रम्य दुह्यते, या च वत्सान्तरेण संधीयते सा संधिनी। प्रसूता सत्यनतिक्रान्तदशाहा **अनिर्दशा**, मृतवत्सा **अवत्सा**, संधिनी च अनिर्दशा च अवत्सा च संधिन्यनिर्दशावत्सा-

स्ताश्च गावश्च तासां पयः क्षीरं **परिवर्जयेत्**। 'संधिनी'ग्रहणं संधिनीयमलसुवोरुपलक्षणार्थम् । यथाह गौतमः (१७।२५)—'स्यन्दिनीयमसूसंधिनीनां च' इति। स्रवत्पयःस्तनी स्यन्दिनी, यमलसूर्यमलप्रसविनी, एवमजामहिष्योश्चानिर्दशयोः पयो वर्जयेत्; 'गोमहिष्यजानामनिर्दशानाम्' (१४।३५) इति वसिष्ठस्मरणात्। पयोग्रहणात्तद्विकाराणामपि दध्यादीनां निषेधः। नहि मांसनिषेधे तद्विकाराणामनिषेधो युक्तः। विकारनिषेधे तु प्रकृतेरनिषेधो युक्तः। पयोनिषेधाच्छकृन्मूत्रादेरनिषेधः। उष्ट्राज्जातमौष्ट्रं पयोमूत्रादि। एकशफा वडवादयः, तत्प्रभवं **ऐकशफम्**। स्त्रीभवं **स्त्रैणम्**। 'स्त्री'ग्रहणमजाव्यतिरिक्तसकलद्विस्तनीनामुपलक्षणार्थम् ।—'सर्वासां द्विस्तनीनां क्षीरमभोज्यमजावर्ज्यम्' इति शङ्खस्मरणात्। अरण्ये भवा आरण्यकास्तदीय**मारण्यकं** क्षीरं माहिषव्यतिरेकेण। 'आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना' (मनु. ५।९) इति वचनात्। **अवेर्जातमाविकम्**। 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते। औष्ट्रमित्यादिविकारप्रत्ययनिर्देशात्तद्विकारमात्रस्य पयोमूत्रादेः सर्वदा निषेधः; 'नित्यमाविकमपेयमौष्ट्रमैकशफं च' (१७।२४) इति गौतमस्मरणात् ॥ १७० ॥

सन्धिनी (वृषाक्रान्त-गर्भिणी, एक समय दूध देने वाली तथा दूसरे बछड़े से दूध देने वाली), गौर तथा प्रसव के दश दिन के अन्दर वाली गाय तथा मरे हुये बछड़े वाली गाय का दूध न ग्रहण करे। ऊँटनी, एक खुर वाली (घोड़ी आदि) स्त्री, जङ्गली पशु तथा भेड़ का दूध भी त्याग करे ॥ १७० ॥

देवतार्थं हविः शिग्रुं लोहितान्व्रश्चनांस्तथा ।
अनुपाकृतमांसानि विड्जानि कवकानि च ॥ १७१ ॥

देवतार्थं बल्युपहारनिमित्तं साधितम्। **हविः** हवनार्थं सिद्धं प्राक् होमात्। **शिग्रुः** सोभाञ्जनः, **लोहितान्** वृक्षनिर्यासान्। **व्रश्चन**प्रभवान् वृक्षच्छेदनजातानलोहितानपि। यथाह मनुः—(५।६)। 'लोहितान्वृक्षनिर्यासान्व्रश्चनप्रभवांस्तथा' इति। 'लोहित'ग्रहणात् हिङ्गुकर्पूरादीनामनिषेधः। **अनुपाकृतमांसानि** यज्ञेऽहुतस्य पशोर्मांसानि, **विड्जानि** मनुष्यादिजग्धबीजपुरीषोत्पन्नानि तन्दुलीयकप्रभृतीनि च, **कवकानि** छत्राकाणि, 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते ॥ १७१ ॥

देवता के लिये बलि देने के लिये पकाया गया, शोभाञ्जन, वृक्ष की गोंद तथा वृक्ष के काटने से निकला रस, यज्ञ में हुत न किये गये पशु का मांस, विष्टा (के बीज) से उत्पन्न अन्न तथा छत्राक (कुकुरमुत्ता) का (भोजनार्थ) त्याग करे ॥ १७१ ॥

क्रव्यादपक्षिदात्यूहशुकप्रतुदटिट्टिभान् ।
सारसैकशफान्हंसान्सर्वांश्च ग्रामवासिनः ॥ १७२ ॥

क्रव्यादा आममांसादनशीलाः, **पक्षिणो** गृध्रादयः, **दात्यूह**श्चातकः, **शुकः** कीरः । चञ्च्वा प्रतुद्य भक्षयन्तीति **प्रतुदाः** श्येनादयः, **टिट्टिभ**स्तच्छब्दानुकारी, **सारसो** लक्ष्मणः[1], **एकशफा** अश्वादयः, **हंसाः** प्रसिद्धाः, **ग्रामवासिनः** पारावतप्रभृतयः, एतान्क्रव्यादादीन्वर्जयेत् ॥ १७२ ॥

(कच्चा) मांस खाने वाले पक्षियों, चातक, शुक, बाज आदि (मार कर खाने वाले) पक्षी, टिटिहरी, सारस, एक खुरवाले (घोड़े आदि) पशु, हंस तथा ग्राम में रहने वाले सभी पक्षियों का त्याग करे (अर्थात् इन्हें न खाय) ॥ १७२ ॥

कोयष्टिप्लवचक्राह्वबलाकाबकविष्किरान् ।
वृथाकृसरसंयावपायसाऽपूपशष्कुलीः ॥ १७३ ॥

कोयष्टिः क्रौञ्चः, **प्लवो** जलकुक्कुटः, **चक्राह्व**श्चक्रवाकः, **बलाकाबकौ** प्रसिद्धौ, नखैर्विकीर्य भक्षयन्तीति विष्किराश्चकोरादय एव गृह्यन्ते; लावकमयूरादीनां भक्ष्यत्वात्, ग्रामकुक्कुटस्य ग्रामवासित्वादेव निषेधाच्च । एतान्कोयष्टयादीन्वर्जयेत् । **वृथा**[2] देवताद्युद्देशमन्तरेण साधिताः कृसरसंयावपायसाऽपूपशष्कुलीर्वर्जयेत् । **कृसरं** तिलमुद्गसिद्धं ओदनः । **संयावः**[3] क्षीरगुडघृतादिकृत उत्करिकाख्यः पाकविशेषः । **पायसं** पयसा शृतमन्नम् । **अपूपो**ऽस्नेहपक्वो गोधूमविकारः । **शष्कुली** स्नेहपक्वो गोधूमविकारः । 'न पचेदन्नमात्मने' इति कृसरादीनां निषेधे सिद्धे पुनरभिधानं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १७३ ॥

क्रौञ्च, जल-कुक्कुट, चक्रवाक, बलाका, बक, नख से फोड़कर खाने वाले चकोर आदि तथा वृथा (बिना देवता के उद्देश्य के बनाये गये कृसर (तिल तथा मूंग से मिश्रित चावल), संयाव (दूध, घृत तथा गुड़ से निर्मित पदार्थ), खीर, पूड़ी और पुआ का (भोजन) त्याग करे ॥ १७३ ॥

कलविङ्कं सकाकोलं कुररं रज्जुदालकम् ।
जालपादान्खञ्जरीटानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ॥ १७४ ॥

कलविङ्को ग्रामचटकः, ग्रामनिवासित्वेन प्रतिषेधे सिद्धे सत्युभयचारित्वात्पुनर्वचनम् । **काकोलो** द्रोणकाकः[4], **कुरर** उत्क्रोशः, **रज्जुदालको** वृक्षकुट्टकः, **जालपादो** जालाकारपादाः, अजालपादा अपि हंसाः सन्तीति हंसानां पुनर्वचनम् । **खञ्जरीटः** खञ्जनः, जातितो ये **अज्ञाता मृगाः पक्षिणश्च**, एतान्कलविङ्कादीन्वर्जयेत् ॥ १७४ ॥

कलविङ्क (ग्रामचटक), काकोल (द्रोण काक), कुरर, वृक्षदालक, (काष्ठ फोड़ने वाला), जाल जैसे पैर वाले पक्षी, खञ्जन तथा जिन पक्षियों तथा पशुओं की जाति का ज्ञान न हो उन्हें न खाय ॥ १७४ ॥

चाषांश्च रक्तपादांश्च सौनं वल्लूरमेव च ।
मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्र्यहं वसेत् ॥१७५॥

चाषाः किकीदिवयः **रक्तपादाः** कादम्बप्रभृतयः, सूनिना त्यक्तं **सौनं** घातस्थानभवं मांसं भक्ष्याणामपि, **वल्लूरं** शुष्कमांसम्, **मत्स्या** मीनाः, एतांश्चाषादीन्वर्जयेत् । चकारान्नालिकाशणछत्राककुसुम्भादीन्; 'नालिकाशणछत्राककुसुम्भालाबुविड्भवान् । कुम्भीकन्दुकवृन्ताककोविदारांश्च वर्जयेत् ॥' इति तथाऽकालप्ररूढानि पुष्पाणि च फलानि च । विकारवच्च यत्किंचित्प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥' 'तथा वटप्लक्षाश्वत्थकपित्थनीपमातुलिङ्गफलानि वर्जयेत्' इति स्मरणात् । एतान्संधिनीक्षीरप्रभृतीननुक्रान्तान्**कामतो** भक्षयित्वा **त्रिरात्रमुपवसेत्** । अकामतस्त्वहोरात्रम् । 'शेषेषूपवसेदहः' (५।२०) इति मनुस्मरणात् । यत्पुनः शङ्खेनोक्तम्—'वलवलाकाहंसप्लवचक्रवाककारण्डवगृहचटककपोतपारावतपाण्डुशुकसारिकासारसटिट्टिभोलूककङ्करक्तपादचाषभासवायसकोकिलशाङ्गलिकुक्कुटहारीतभक्षणे द्वादशरात्रमनाहारः, पिबेद्गोमूत्रयावकम्' इति तद्बहुकालाभ्यासे मतिपूर्वे समस्तभक्षणे वा वेदितव्यम् ॥ १७५ ॥

चाष (नीलकण्ठ), रक्तपाद (कादम्ब आदि), घातक द्वारा व्यक्त मांस, सूखा मांस तथा मत्स्य भक्षण का त्याग करे । इन सभी का ज्ञानपूर्वक भक्षण करने पर तीन दिनों का उपवास करे ॥ १७५ ॥

पलाण्डुं विड्वराहं च छत्राकं ग्रामकुक्कुटम् ।
लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७६ ॥

पलाण्डुः स्थूलकन्दनालो लशुनानुकारी, **विड्वराहो** ग्रामसूकरः, **छत्राकं** सर्पछत्रम्, **ग्रामकुक्कुटः** प्रसिद्धः, **लशुनं** रसोनं सूक्ष्मश्वेतकन्दनालम् । **गृञ्जनं** लशुनानुकारिलोहितसूक्ष्मकन्दम्, एतानि षट् सकृत्कामतो **जग्ध्वा** भक्षयित्वा **चान्द्रायणं** वक्ष्यमाणलक्षणं **चरेत्** । ग्रामकुक्कुट-छत्राकयोः पूर्वप्रतिषेधितयोरिहाभिधानं पलाण्ड्वादिसमानप्रायश्चित्तार्थम् । मतिपूर्वं चिरतराभ्यासे तु 'छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः' इति (५।१९) मनूक्तम् । अमतिपूर्वाभ्यासे—'अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्' (५।१९) तृतीयाध्याये, वक्ष्यमाणं 'यतिचान्द्रायणं वापि' इति द्रष्टव्यम् । अमतिपूर्वाभ्यासे तु शङ्खोक्तं—'लशुनपलाण्डुगृञ्जनविड्वराहग्रामकुक्कुटकुम्भीकभक्षणे द्वादशरात्रं पयः पिबेत्' इति ॥ १७६ ॥

प्याज, विष्ठा खाने वाला सूकर (ग्रामसूकर), कुकुरमुत्ता, ग्रामकुक्कुट (मुर्गा), लसुन और गाजर का भक्षण कर चान्द्रायण व्रत का अनुष्ठान करे ॥ १७६ ॥

भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधागोधाकच्छपशल्लकाः ।
शशश्च मत्स्येष्वपि हि सिंहतुण्डकरोहिताः ॥ १७७ ॥
तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ।

सेधा श्वावित्, गोधा कृकलासानुकारिणी महती, कच्छपः कूर्मः, शल्लकः शल्की, शशः प्रसिद्धः, पञ्चनखादीनां श्वमार्जारवानरादीनां मध्ये एते सेधादयो भक्ष्याः । चकारात्खड्गोऽपि । यथाह गौतमः (१७।२७)—'पञ्चनखाः शशशल्लकश्वाविद्गोधाखड्गकच्छपाः' इति । यथाह मनुरपि (५।२८)—'श्वाविधं शल्लकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा । भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥' इति । यत्पुनर्वसिष्ठेन 'खड्गे तु विवदन्ति' (१४।४७) इत्यभक्ष्यत्वमुक्तं, तच्छ्राद्धादन्यत्र; 'खड्गमांसैर्भवेद्दत्तमक्षय्यं पितृकर्मणि' इति श्राद्धे फलश्रुतिदर्शनात् । तथा मत्स्यानां मध्ये सिंहतुण्डादयो भक्ष्याः । सिंहतुण्डः सिंहमुखः, रोहितो लोहितवर्णः, पाठीनश्चन्द्रकाख्यः, राजीवः पद्मवर्णः, सह शल्कैः शुक्त्याकारैर्वर्तत इति सशल्कः । एते च सिंहतुण्डादयो नियुक्ता एव भक्ष्याः । 'पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः । राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्चैव सर्वशः ॥' इति (५।१६) मनुस्मरणात् । 'द्विजाति'ग्रहणं शूद्रव्युदासार्थम् ॥ १७७ ॥

सेधा (श्वावित्, सेंघुवार), गोधा (गोह), कछुआ, शल्लक (साही) तथा खरगोश ये पाँच नखवाले (पाँच पशु) भक्ष्य हैं । मत्स्यों से सिंही, रोहू, पाठीन, राजीव और सशल्क (शुक्ति के आकार वाला) द्विजातियों के लिये भक्ष्य है ॥ १७७$\frac{१}{२}$ ॥

'अनर्चितं वृथामांसम्' (आ. १६७) इत्यारभ्य द्विजातिधर्मानुक्त्वेदानीं चातुर्वर्ण्यधर्मानाह—

अतः शृणुध्वं मांसस्य विधिं भक्षणवर्जने ॥ १७८ ॥

मांसस्य प्रोक्षितादेर्भक्षणे तद्व्यतिरिक्तस्य वा निषिद्धस्य वर्जने प्रोक्षिताद्व्यतिरेकेण मांसं न भक्षयामीत्येवं संकल्परूपेण विधिं सामश्रवःप्रभृतयः हे मुनयः ! शृणुध्वम् ॥ १७८ ॥

इसके बाद मांस के भक्ष्य और निषेध को सुनो ॥ १७८ ॥

तत्र भक्षणे विधिं दर्शयति—

प्राणात्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षिते द्विजकाम्यया ।
देवान्पितॄन्समभ्यर्च्य खादन्मांसं न दोषभाक् ॥ १७९ ॥

अन्नाभावेन व्याध्यभिभवेन वा मांसभक्षणमन्तरेण यदा प्राणबाधा भवति, तदा मांसं नियमेन भक्षयेत् । 'सर्वत एवात्मानं गोपायेत्' इत्यात्मरक्षाविधानात् । 'तस्मादु ह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्' इति मरणनिषेधाच्च ।

तथा श्राद्धे मांसं निमन्त्रितो नियमेन भक्षयेत्; अभक्षणे दोषश्रवणात्, 'यथा-
विधि नियुक्तस्तु यो मांसं नात्ति मानवः। स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंश-
तिम् ॥' (५।३५) इति मनुस्मरणात्। प्रोक्षणाख्यश्रौतसंस्कारसंस्कृतस्य पशो-
र्यागार्थस्याग्नीषोमीयादेर्हुतावशिष्टं मांसं **प्रोक्षितं** तद्भक्षयेत्; अभक्षणे यागानि-
ष्पत्तेः। **द्विजकाम्यया** ब्राह्मणभोजनार्थं **देवपित्रर्थं** च यत्साधितं तेन तान्
भ्यर्च्यावशिष्टं भक्षयन्न दोषभाग्भवति। एवं भृत्यभरणावशिष्टमपि; 'यज्ञार्थं
ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः। भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥'
इति (५।२२) मनुस्मरणात्। 'न दोषभाक्' इति दोषाभावमात्रं वदता अति-
थ्याद्यर्चनावशिष्टस्याभ्यनुज्ञामात्रं न प्रोक्षितादिवन्नियम इति दर्शितम्। एवम-
प्रतिषिद्धानामपि शशादीनां प्राणात्ययव्यतिरेकेणाभक्ष्यत्वावगमात् शूद्रस्यापि मांस-
प्रतिबद्धः सर्वविधिनिषेधाधिकारोऽवगम्यते ॥ १७९ ॥

(जब अन्नाभाव या व्याधि में) प्राण का संकट हो, प्रोक्षण नाम के श्रौत-संस्कार में संस्कृत यागार्थ अग्नीषोमीय आहुति से अवशिष्ट मांस तथा ब्राह्मण-भोजनार्थ देवपितृ-कार्य के निमित्त सिद्ध तथा उनसे अवशिष्ट मांस का भक्षण करने वाला दोष का भागी नहीं होता ॥ १७९ ॥

इदानीं प्रोक्षिताव्यतिरिक्तस्य वृथामांसमित्यनेन प्रतिषिद्धस्य भक्षणे निन्दार्थवादमाह—

वसेत्स नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः ।
संमितानि दुराचारो यो हन्त्यविधिना पशून् ॥ १८० ॥

अविधिना देवताद्युद्देशमन्तरेण **यः पशून्हन्ति स** तस्य **पशो**र्यावन्ति **रोमाणि** तावन्ति **दिनानि घोरे नरके वसेत्**। 'हन्ति' इत्यष्टविधोऽपि घातको गृह्यते। यथाह मनुः (५।५१) 'अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥' इति ॥ १८० ॥

जो दुराचारी विधिहीन रूप से (बिना देव, पितर के उद्देश्य से अपने लिये) पशुओं को मारता है वह जितने रोयें उस पशु के शरीर में हैं उतने दिन तक नरक में निवास करता है ॥ १८० ॥

इदानीं वर्जने विधिमाह—

सर्वान्कामानवाप्नोति हयमेधफलं तथा ।
गृहेऽपि निवसन्विप्रो मुनिर्मांसविवर्जनात् ॥ १८१ ॥

यः प्रोक्षितादिव्यतिरेकेण मया मांसं न भक्षितव्यमिति सत्यसंकल्पो भवति **स सर्वान्कामान्** तत्साधने प्रवृत्तो निर्विघ्नं **प्राप्नोति**; विशुद्धाशयत्वात्। यथाह मनुः (५।४७)—'यद्ध्यायते यत्कुरुते रतिं बध्नाति यत्र च। तदवा-

प्नोत्यविघ्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥' इति । एतच्चानुषङ्गिकं फलम् । मुख्यं फलमाह—**हयमेधफलं तथेति** । एतच्च सांवत्सरिकसंकल्पस्य; 'वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥' इति (५।५३) मनुस्मरणात् । **तथा गृहेऽपि निवसन्** ब्राह्मणादिश्चातुर्वर्णिको **मुनि**वन्माननीयो भवति; मांसत्यागात् । एतच्च न प्रतिषिद्धमांसविषयम्, नापि प्रोक्षितादिविषयम्, किंतु पारिशेष्यादतिथ्याद्यर्चनावशिष्टाभ्यनुज्ञातविषयमिति १८१

(यज्ञातिरिक्त) मांस का त्याग करने वाला ब्राह्मण सभी कामनाओं को प्राप्त करता है तथा अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त करता है । ऐसा ब्राह्मण गृह में निवास करते हुये भी मुनि (तुल्य) है ॥ १८१ ॥

टिप्पणी– मनु ने घातकों का वर्णन इस प्रकार किया है–

> 'अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रव्यविक्रयी ।
> संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः' ॥

मनु ने मांस-भक्षण तथा जीव-हत्या न करने की प्रशंसा में कहा है–

> 'यद् ध्यायते यत्कुरुते रतिं बध्नाति यत्र च ।
> तदवाप्नोत्यविघ्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन' ॥ ५/४७

तथा–

> 'वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
> मांसानि च न खादेद् यस्तयोः पुण्यफलं समम्' ॥ ५/५३

इति भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम् ।

अथ द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ८

इदानीं द्रव्यशुद्धिमाह—

सौवर्णराजताब्जानामूर्ध्वपात्रग्रहाश्मनाम् ।
शाकरज्जुमूलफलवासोविदलचर्मणाम् ॥ १८२ ॥
पात्राणां चमसानां च वारिणा शुद्धिरिष्यते ।
चरुस्रुक्स्रुवसस्नेहपात्राण्युष्णेन वारिणा ॥ १८३ ॥

सौवर्णं सुवर्णकृतम्, **राजतं** रजतकृतम्, **अब्जं** मुक्ताफलशङ्खशुक्त्यादि, **ऊर्ध्वपात्रं** यज्ञियोलूखलादि; ग्रहादिसाहचर्यात् । **ग्रहाः** षोडशिप्रभृतयः, **अश्मा** दृषदादिः, **शाकं** वास्तुकादि, **रज्जुः** बल्वजादिनिर्मिता, **मूलम्** आर्द्रकादि, **फलम्** आम्रादि, **वासो** वस्त्रम्, **विदलं** वैणवादि, **चर्म** अजादीनाम्, 'विदल-चर्मणो'र्ग्रहणं तद्विकाराणां छत्रवरत्रादीनामुपलक्षणार्थम् । **पात्राणि** प्रोक्षणीपात्रप्रभृतीनि, **चमसा** होतृचमसादयः, एतेषां सौवर्णादीनां लेपरहिता-

नामुच्छिष्टस्पर्शमात्रे **वारिणा** प्रक्षालनेन शुद्धिः, **चरुश्चरुस्थाली, स्रुक्स्रुवौ** प्रसिद्धौ, **सस्नेहानि पात्राणि** प्राशित्रहरणादीनि, एतानि च लेपरहितान्युष्णेन **वारिणा शुद्ध्यन्ति**; 'निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति । अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥' इति (५।११२) मनुस्मरणात् । अनुपस्कृतमेखातपूरितम् । सलेपानां तु—'तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च । भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥' इति (५।१११) मनूक्तं द्रष्टव्यम् । मृद्भस्मनोरेककार्यत्वाद्विकल्पः । आपस्तु समुच्चीयन्ते । काकादिमुखोपघाते तु—'कृष्णशकुनिमुखावमृष्टं पात्रं निर्लिखेत्, श्वापदमुखावमृष्टं पात्रं न प्रयुञ्जीत' (गौ. सू. १७।४.) इति द्रष्टव्यम् । एतच्च मार्जारादन्यत्र; 'मार्जारश्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः ।' इति मनुस्मरणात् ॥ १८२–१८३ ॥

सोना, चाँदी, अब्ज (मोती, शंख तथा शुक्ति) के पात्र, (उलूखल आदि) यज्ञीय पात्र, (षोडशी आदि) ग्रह (यज्ञपात्र), पत्थर, शाक, रस्सी, मूल, फल, वस्त्र, वास तथा चमड़ा (एवं इनसे निर्मित वस्तुयें), प्रोक्षणीपात्र तथा चमर की शुद्धि जल से होती है । चरुस्थाली, स्रुक् तथा स्रुवा एवं घृत आदि से संपृक्त पात्रों की शुद्धि उष्ण जल से होती है ॥ १८२-१८३ ॥

यज्ञपात्रादीनां प्रोक्षणेन शुद्धिः—

स्फ्यशूर्पाऽजिनधान्यानां मुसलोलूखलाऽनसाम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च बहूनां धान्यवाससाम् ॥ १८४ ॥

स्फ्यो वज्रो यज्ञाङ्गम्, **अनः** शकटम्, शेषं प्रसिद्धम्, एतेषामुष्णेन वारिणा शुद्धिः । पुनः 'अजिन'ग्रहणं यज्ञाङ्गाजिनप्राप्त्यर्थम् । **संहतानामु**क्तशुद्धिद्रव्यारब्धावयविनां **बहूनां धान्यानां वाससां च** । 'वासो'ग्रहणमुक्तशुद्धीनामुपलक्षणार्थम् । उक्तशुद्धीनां धान्यवासःप्रभृतीनां बहूनां च राशीकृतानां प्रोक्षणेनैव शुद्धिः । बहुत्वं च स्पृष्टापेक्षया । एतदुक्तं भवति—यदा धान्यानि वस्त्रादीनि वा राशीकृतानि तत्र चण्डालादिस्पृष्टान्यल्पानि बहूनि चास्पृष्टानि तत्र स्पृष्टानामुक्तैव शुद्धिरितरेषां **प्रोक्षण**मिति । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'वस्त्रधान्यादिराशीनामेकदेशस्य दूषणे । तावन्मात्रं समुद्धृत्य शेषं प्रोक्षणमर्हति ॥' इति । यदा पुनः स्पृष्टानां बहुत्वं अस्पृष्टानां चाल्पत्वं तदा सर्वेषामेव क्षालनम् । यथाह मनुः (५।११८)—'अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् । प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥' इति । स्पृष्टानामस्पृष्टानां च समत्वेऽपि प्रोक्षणमेव । बहूनां प्रोक्षणविधानेनाल्पानां क्षालने सिद्धे पुनरल्पानां क्षालनवचनस्य समेषु क्षालननिवृत्त्यर्थत्वात् । इयत्स्पृष्टमियदस्पृष्टमित्यविवेके तु क्षालनमेव । पाक्षिकस्यापि दोषस्य परिहर्तव्यत्वात् अनेकपुरुषोद्धार्यमाणानां तु धान्यवासःप्रभृतीनां स्पृष्टानामस्पृष्टानां च प्रोक्षणमेवेति निबन्धकृतः ॥ १८४ ॥

स्फूय (यज्ञाङ्ग), सूप, कृष्णमृगचर्म, धान्य, मूसल, ओखली और छकड़े की शुद्धि उष्ण जल से होती है । धान्य राशि और वस्त्रों की शुद्धि जल के छींटों से होती है ॥ १८४ ॥

निर्लेपानां स्पर्शमात्रदुष्टानां शुद्धिमुक्त्वेदानीं सलेपानां शुद्धिमाह—

तक्षणं दारुशृङ्गास्थ्नां गोवालैः फलसंभुवाम् ।
मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ॥ १८५ ॥

दारूणां मेषमहिषादिशृङ्गाणां करिवाराहशङ्खाद्यस्थ्नाम् । 'अस्थि'ग्रहणेन दन्तानामपि ग्रहणम् । उच्छिष्टस्नेहादिभिर्लिप्तानां मृद्भस्मोदकादिभिरनपगतलेपानाम् । मनुः (५।१२६)—'यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः । तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥' इति सामान्यतः शुद्धिविधानात् । **तक्षणं** तावन्मात्रावयवापनयनं शुद्धिः । **फलसंभुवां** बिल्वालाबुनालिकेरादिफलसंभूतानां पात्राणां **गोवालै**रुद्धर्षणाच्छुद्धिः । **यज्ञपात्राणां** स्रुक्स्रुवादीनां **यज्ञकर्मणि** प्रयुज्यमानानां दक्षिणेन हस्तेन दर्भैर्दशापवित्रेण वा यथाशास्त्रं कर्माङ्गतया **मार्जनं** कर्तव्यम् । एतच्च श्रौतमुदाहरणमन्येषामपि सौवर्णादीनां पात्राणां स्मार्तलौकिककर्मसु कृतशौचानामेवाङ्गत्वमिति दर्शयितुम् । यज्ञाङ्गानां पुनः कृतशौचानामिदं दशापवित्रादिभिर्मार्जनं संस्कारार्थमिति शेषः ॥ १८५ ॥

दारु (काष्ठ के पात्र), शृङ्ग (मेष, महिष आदि के सींग) और अस्थि (हाथी, वाराह तथा शङ्ख के अस्थियों से निर्मित पदार्थ) की शुद्धि (उनके सलेप होने पर) खुरचने से होती है । फल से बने पदार्थों (बिल्व, लौकी, नारिकेल आदि से निर्मित तुम्बी आदि) की शुद्धि गोबाल से रगड़ने से होती है । यज्ञकर्म में यज्ञपात्रों (स्रुक्, स्रुवा आदि) की शुद्धि मार्जन (पोंछने) से होती है ॥ १८५ ॥

टिप्पणी– सामान्य रूप से उच्छिष्ट और स्नेहाक्त पदार्थों की शुद्धि मृद, भस्म, उदक आदि से होती है । जैसा कि मनु ने कहा है–

> 'यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
> तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिसु' ॥ ५/१२६

अतः यहाँ जल आदि से गन्ध और लेप का नाश न होने पर तक्षणादि का विधान मानना चाहिये ।

इदानीं सलेपानामेव केषांचिल्लेपापकर्षणे विशेषहेतूनाह—

सोषरोदकगोमूत्रैः शुध्यत्याविककौशिकम् ।
सश्रीफलैरंशुपट्टं सारिष्टैः कुतपं तथा ॥ १८६ ॥

ऊषरमृत्तिकासहितेन गोमूत्रेणोदकेन वा लेपापेक्षया । **आविक**मूर्णामयम्, **कौशिकं** कोशप्रभवं तसरीपट्टादि प्रक्षालितं शुद्ध्यति । 'उदकगोमूत्रैः'

इति बहुवचनं पश्चादप्युदकप्राप्त्यर्थम्। **अंशुपट्टं** वल्कलतन्तुकृतम्, **सश्रीफलै**र्बिल्वफलसहितैः, **कुतपः** पार्वतीयच्छागरोमनिर्मितकम्बलः, **अरिष्टैः** सहितैरुदकगोमूत्रैः, **शुध्यतीत्यनुवर्तते** । एतच्चोच्छिष्टस्नेहादियोगे सति वेदितव्यम्। अल्पोपघाते तु प्रोक्षणादि; क्षालनासहत्वात्, सर्वत्र द्रव्याविनाशेनैव शुद्धेरिष्टत्वात् । तथा च देवलः—'ऊर्णाकौशेयकुतपपट्टक्षौमदुकूलजाः । अल्पशौचा भवन्त्येते शोषणप्रोक्षणादिभिः ॥' इत्यभिधायाह—'तान्येवामेध्ययुक्तानि क्षालयेच्छोधनैः स्वकैः । धान्यकल्कैस्तु फलजै रसैः क्षारानुगैरपि ॥' इति क्षौमवदेव शाणस्य समानयोनित्वात्। ऊर्णादिग्रहणं तदारब्धतूलिकादिप्राप्त्यर्थम्। अतस्तस्याल्पोपघातेनैव क्षालनं कार्यम् । अमेध्यलेपादन्यत्र—'तूलिकाद्युपधानं च पुष्परक्ताम्बरं तथा। शोषयित्वातपे किंचित्करैः संमार्जयेन्मुहुः ॥ पश्चाच्च वारिणा प्रोक्ष्य विनियुञ्जीत कर्मणि । तान्यप्यतिमलिष्टानि यथावत्परिशोधयेत् ॥' इति देवलस्मरणात्। पुष्परक्तानि कुङ्कुमकुसुम्भादिरक्तानि । 'पुष्परक्त'ग्रहणमन्यस्यापि हरिद्रादिरक्तस्य क्षालनासहस्य प्राप्त्यर्थम्, न मञ्जिष्ठादेः; तस्य क्षालनसहत्वात्। शङ्खेनाप्युक्तम्—'रागद्रव्याणि प्रोक्षितानि शुचीनि' इति ॥ १८६ ॥

ऊन के वस्त्र तथा कौशेय वस्त्र ऊषर की मिट्टी (रेह) में गोमूत्र या जल मिला कर धोने से शुद्ध होते हैं । वल्कल सूत्र से बना वस्त्र, जल-गोमूत्र युक्त श्रीफल तथा पर्वतीय बकरे के ऊन से निर्मित वस्त्र रीठी, जल तथा गोमूत्र से युक्त रीठी, से शुद्ध होता है ॥ १८६ ॥

सगौरसर्षपैः क्षौमं पुनःपाकान्महीमयम् ।
कारुहस्तः शुचिः पण्यं भैक्षं योषिन्मुखं तथा ॥ १८७ ॥

गौरसर्षपसहितैरुदकगोमूत्रैः क्षौमं क्षुमा अतसी तत्सूत्रनिर्मितं क्षौमं शुद्धयति। **पुनःपाकेन च मृन्मयं** घटादि। एतच्चोच्छिष्टस्नेहलेपे वेदितव्यम्। मनुः (५।१२३)—'मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैश्च श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः। संस्पृष्टं नैव शुद्धयेत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥' इति स्मरणात्। चण्डालाद्युपघाते तु त्याग एव। यथाह पराशरः—'चण्डालाद्यैस्तु संस्पृष्टं धान्यं वस्त्रमथापि वा । प्रक्षालनेन शुध्येत परित्यागान्महीमयम् ॥' इति। **कारवो** रजकचैलधावकसूपकाराद्यास्तेषां **हस्तः** सदा शुचिः। शुचित्वं तत्साध्ये कर्मणि । वस्त्रधावनादौ सूतकादिसंभवेऽपि। तथा च स्मृत्यन्तरम्—'कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासास्तथैव च। राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥' इति । **पण्यं** पणार्हं विक्रेयं यवव्रीह्यादि। अनेकक्रेतृजनकरपरिघट्टितमप्यप्रयतं न भवति। सूतकादिनिमित्तेन च वणिजाम् । भिक्षाणां समूहो **भैक्षं** तद्ब्रह्मचार्यादिहस्तगतं अनाचान्तस्त्रीप्रदानादिनाऽशुचिरथ्याक्रमणादिना निमित्तेनापि न दुष्यति। **तथा योषिन्मुखं** संभोगकाले शुचि। 'स्त्रियश्च रतिसंसर्गे' इति स्मरणात् ॥ १८७ ॥

क्षौमवस्त्र (क्षुमा-अतसी-तीसी उसके सूत्र से निर्मित वस्त्र) की शुद्धि, गोमूत्र और जल से युक्त पीली सरसो से होती है । मिट्टी के बर्तन की शुद्धि उसे पुनः पकाने से होती है । शिल्पी (रंगरेज, धोबी, सूपकार) का हाथ शुद्ध होता है । विक्रेय वस्तु, भिक्षा में मिला अन्न तथा स्त्री का मुख पवित्र होता है ॥ १८७ ॥

इदानीं भूशुद्धिमाह—

भूशुद्धिर्मार्जनाद्दाहात्कालाद्गोक्रमणात्तथा ।
सेकादुल्लेखनाल्लेपाद्गृहं मार्जनलेपनात् ॥ १८८ ॥

मार्जन्यां पांसुतृणादीनां प्रोत्सारणं मार्जनम् । दाहस्तृणकाष्ठाद्यैः । कालो यावता कालेन लेपादिक्षयो भवति तावान् । गोक्रमणं गवां पादपरिघट्टनम् सेकः क्षीरगोमूत्रगोमयवारिभिः प्रवर्षणं वा, उल्लेखनं तक्षणं खननं वा, लेपो गोमयादिभिः, एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा मार्जनादिभिरमेध्या दुष्टा मलिना च भूमिः शुद्ध्यति । तथा च देवलः—'यत्र प्रसूयते नारी म्रियते दह्यतेऽपि वा । चण्डालाध्युषितं यत्र यत्र विष्ठादिसंहतिः ॥ एवं कश्मलभूयिष्ठा भूरमेध्या प्रकीर्तिता । श्वसूकरखरोष्ट्रादिसंस्पृष्टा दुष्टतां व्रजेत् ॥ अङ्गारतुषकेशास्थिभस्माद्यैर्मलिना भवेत् ॥' इत्यमेध्या दुष्टा मलिनेति शोध्यभूमेस्त्रैविध्यमभिधाय शुद्धिविभागं दर्शयति—'पञ्चधा वा चतुर्धा वा भूरमेध्याऽपि शुद्ध्यति । दुष्टान्विता त्रिधा द्वेधा शुद्ध्यते मलिनैकधा ॥' इति । यत्र मनुष्या दह्यन्ते यत्र चाण्डालैरध्युषितं तत्र पञ्चभिर्दहनकालगोक्रमणसेकोल्लेखनैः । शुद्धिः यत्र मनुष्या जायन्ते यत्र च म्रियन्ते यत्र चात्यन्तं विष्ठादिसंहतिः तासां दाहवर्जितैस्तैरेव चतुर्भिः । श्वसूकरखरैश्चिरकालमध्युषितायाः गोक्रमणसेकोल्लेखनैस्त्रिभिः । उष्ट्रग्रामकुक्कुटादिभिश्चिरकालमधिवासितायाः सेकोल्लेखनाभ्यां शुद्धिः । अङ्गारतुषकेशादिभिश्चिरकालमधिवासिताया उल्लेखनेन शुद्धिः । मार्जनानुलेपने तु सर्वत्र समुच्चीयेते । एवं गृहं मार्जनलेपनाभ्यां शुद्ध्यति । गृहस्य पृथगुपादानं संमार्जनलेपनयोः प्रतिदिवसं प्राप्त्यर्थम् ॥१८८॥

भूमि की शुद्धि फाड़ देने, जलाने, समय बीतने, गाय के चलने, जल छिड़कने, खोदने, लीपने आदि से होती है । गृह की शुद्धि झाड़ू देने तथा लीपने से होती है ॥ १८८ ॥

गोघ्रातेऽन्ने तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते ।
सलिलं भस्म मृद्वाऽपि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्धये ॥ १८९ ॥

गोघ्राते गोनिःश्वासोपहतेऽन्ने अदनीयमात्रे । तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते । 'केश'ग्रहणं लोमादिप्राप्त्यर्थम् । कीटाः पिपीलिकादयः । उदकं भस्म मृद्वा यथासंभवं प्रक्षेप्तव्यं शुद्ध्यर्थम् । यत्तु गौतमेनोक्तम् (१७।८-९)—'नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नम्' इति तत्केशकीटादिभिः सह यत्पक्वं तद्विषयम् ॥१८९॥

(भोज्य) अन्न के गाय द्वारा सूँघ लिये जाने पर या उसके केश, मक्षि या कीट आदि से दूषित होने पर उसकी शुद्धि के लिये उसमें (यथासंभव) जल, भस्म या मिट्टी डालनी चाहिये ॥ १८९ ॥

त्रपुसीसकताम्राणां क्षाराम्लोदकवारिभिः ।
भस्माद्भिः कांस्यलोहानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च[2] ॥ १९० ॥

त्रपुप्रभृतीनि प्रसिद्धानि, तेषां **क्षारोदकेनाम्लोदकेन[3] वारिणा** चोपघातापेक्षया समस्तैर्व्यस्तैर्वा शुद्धिः कार्या । **कांस्यलोहानां भस्मोदकेन** । 'ताम्र'-ग्रहणाद्रीतिकावृत्तिलोहयोर्ग्रहणम्; एकयोनित्वात् । एतच्च ताम्रादीनामम्लोदकादिभिः शुद्ध्यभिधानं न नियमार्थम् । 'मलसंयोगजं तज्जं यस्य येनोपहन्यते । तस्य तच्छोधनं प्रोक्तं सामान्यं द्रव्यशुद्धिकृत् ॥' इत्यविशेषेण स्मरणात् । अतो न ताम्रादेरुच्छिष्टोदकादिलेपस्यान्येनापगमसंभवे नियमेनाम्लोदकादिर्ना[4] शुद्धिः कार्या । अत एव मनुना सामान्येनोक्तम्—(५।११४) 'ताम्रायःकांस्यरैत्यौनां[4] त्रपुणः सीसकस्य च । शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥' इति । यत्तु—'भस्मना शुद्ध्यते कांस्यं ताम्रमम्लेन शुद्ध्यति' इति, तत्ताम्रादेः शौचस्य परां काष्ठां प्रतिपादयितुं नान्यस्य निषेधाय । यदा तूपघातातिशयस्तदाम्लोदकादीनामावृत्तिः; 'गवाघ्रातानि कांस्यानि शूद्रोच्छिष्टानि यानि च । शुद्ध्यन्ति दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च ॥' (आपस्तंब.) इति स्मरणात् । (दशक्षौरा[5]नाह—'तिलमुष्ककशिग्रूणां कोकिलाक्षपलाशयोः । काकजङ्घा तथावज्ञन्चिश्चाश्वत्थवटस्य च ॥ एभिस्तु दशभिः क्षारैः शुद्धिर्भवति कांस्यके ॥') **शुद्धिः प्लावो[3] द्रवस्य** त्विति । **द्रवस्य** द्रवद्रव्यस्य घृतादेः प्रस्थप्रमाणाधिकस्य श्वकाकाद्युपहतस्य अमेध्य[6]संस्पृष्टस्य च **प्लावः** प्लावनं समानजातीयेन द्रवद्रव्येण भाण्डस्याभिपूरणं यावन्निःसरणं **शुद्धि**रित्यनुवर्तते । ततोऽल्पस्य त्यागः । बह्वल्पत्वं च देशकालाद्यपेक्षयापि वेदितव्यम् । यथाह बौधायनः—'देशं कालं तथा[1] मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत् ॥' इति । कीटाद्युपहतस्य तूत्पवनम् । यथाह मनुः (५।११५)—'द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्' इति । उत्पवनं चात्र वस्त्रान्तरिते पात्रे प्रक्षेपः । अन्यथा कीटाद्यपगमस्यासंभवात् । शूद्रभाण्डस्थितस्य तु मधूदकादेः पात्रान्तरानयनाच्छुद्धिः ।—'मधूदके पयस्तद्विकाराश्च पात्रात्पात्रान्तरानयने शुद्धाः' इति बौधायनस्मरणात् । मधुघृता[2]देर्वर्णापसदहस्तात्प्राप्तस्य पात्रान्तरानयनं पुनः पैचनं[3] च कार्यम् । यथाह शङ्खः—'अभ्यवहार्याणां घृतेनाभिघारितानां पुनः पैवन[3]मेवं स्नेहानां स्नेहवद्रसानाम्' इति ॥ १९० ॥

पीतल, सीसा और ताम्र की शुद्धि खारे या अम्ल जल से होती है । काँसे और लोहे की शुद्धि जल-मिश्रित भस्म से होती है और (घृत, तैल आदि) द्रव पदार्थ की शुद्धि उसे गिराने से होती है (अर्थात् जिस पात्र में वह द्रव पदार्थ हों उसमें ऊपर से इतना और डाले कि पात्र भरकर बाहर गिरने लगे) ॥ १९० ॥

एवं सौवर्णराजतादीनामेतत्प्रकरणप्रतिपादितानां सर्वेषामुच्छिष्टस्नेहाद्युपघाते शुद्धिमुक्त्वेदानीं तेषामेवामेध्योपहतानां शुद्धिमाह—

अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धादिकर्षणात् ।
वाक्शस्तमम्बुनिर्णिक्तमज्ञातं च सदा शुचि ॥ १९१ ॥

अमेध्याः शरीरजा मला वसाशुक्रादयः; 'वसा शुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्ण[1]-विण्नखाः । श्लेष्मा-श्रु दूषिका[2] स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥' (५।१३६) तथा—'मानुषास्थि शवं विष्ठा रेतो मूत्रार्तवं वसा । स्वेदादोऽश्रु दूषिका श्लेष्म मद्यं चामेध्यमुच्यते ॥' इति । अमेध्यादयो मला मनुदेवलादिभिः प्रतिपादिताः तैर्वसादिरक्तलिप्तममेध्याक्तं तस्य मृदा तोयेन च **शुद्धिः** कर्तव्या **गन्धापकर्षणात्**[4] । आदिग्रहणाल्लेपस्यापि ग्रहणम् । यथाह गौतमः (१।४२)—'लेपगन्धापकर्षणैः शौचममेध्यलिप्तस्य' इति । सर्वशुद्धिषु च प्रथमं मृत्तोयैरेव लेपगन्धापकर्षणं कार्यम् । यदि गन्धादि मृत्तोयैर्न गच्छति तदान्येन; 'अशक्तावन्येन मृदद्भिः पूर्वं मृदा च' (१।४३) इति गौतमस्मरणात् । वसादिग्रहणं च सर्वेषाममेध्यत्वं प्रतिपादयितुं न समानोपघाताय—'मद्यैर्मूत्रपुरीषैश्च श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥' (मनु० ५।१२३) इत्युपघाते[3] विशेषाभिधानात्—'अमेध्यत्वं चैवमेषां देहाच्चैव मलाश्च्युताः' इति वचनाद्देहच्युतानामेव न स्वस्थानावस्थितानाम् । पुरुषस्य नाभेरूर्ध्वं करव्यतिरिक्ताङ्गानाम[5]न्यामेध्यस्पर्शे स्नानम् । यथाह देवलः—'मानुषास्थि वसां विष्ठामार्तवं मूत्ररेतसी । मज्जानं शोणितं स्पृष्ट्वा परस्य स्नानमाचरेत् ॥' इति—'तान्येव स्वानि संस्पृश्य प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति' इति । तथा—'ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गमुपहन्यते । तत्र स्नानमधस्तात्तु प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति ॥' इति । कृतेऽपि यथोक्तशौचे मनसोऽपरितोषाद्यत्र शुद्धिसंदेहो भवति तद्वाक्शस्तं शुचि । शुद्धमेतदस्त्विति ब्राह्मणवचनेन शुद्धं भवतीत्यर्थः । **अम्बुनिर्णिक्तं** यत्र प्रतिपादिता शुद्धिर्नास्ति तस्य प्रक्षालनेन शुद्धिः । प्रक्षालनासहस्य प्रोक्षणेन । **अज्ञातं च सदा** यत्काकाद्युपहतमुपयुक्तं[1] न कदाचिदपि ज्ञायते तच्छुचि । तदुपयोगाददृष्टदोषो नास्तीत्यर्थः । नन्वेतद्विरुद्ध्यते[2]; 'संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥' इत्यदृष्टदोषेऽपि प्रायश्चित्तप्रतिपादनात् । नैतत्, प्रायश्चित्तस्य जग्धविषयत्वात्, दोषाभावस्य[3] चान्योपयोगिविषयत्वात् ॥ १९१ ॥

(शरीर से उत्पन्न) अशुचि पदार्थों से दूषित शरीर की शुद्धि मिट्टी तथा जल द्वारा उसके गन्ध तथा लेप के हटाने से होती है । (शुद्ध होने के बाद भी संदेह होने पर ब्राह्मण के द्वारा) शुद्ध कहे जाने पर तथा जल के छींटे से शुद्धि होती है । (शुद्धि-अशुद्धि) अज्ञात होने पर पदार्थ सदा शुचि है ॥ १९१ ॥

टिप्पणी– शरीर से निकले मलों को अमेध्य कहा गया है–

'वसा-शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट्कर्णविण्नखाः ।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः' ॥ ५/१३६

तथा—

'मानुषास्थि शवं विष्ठा रेतो मूत्रार्तवं वसा ।
स्वेदादोऽश्रु दूषिका श्लेष्म मद्यं चामेध्यमुच्यते' ॥

शुचि गोतृप्तिकृत्तोयं प्रकृतिस्थं महीगतम् ।
तथा मांसं श्वचण्डालक्रव्यादादिनिपातितम् ॥ १९२ ॥

महीगतं भूमिस्थमुदकं एकगवीतृप्तिजननसमर्थं चण्डालादिभिरस्पृष्टं प्रकृतिस्थं रूपरसगन्धस्पर्शान्तरमनापन्नं शुचि आचमनादियोग्यं भवति । 'महीगतम्' इत्यशुचिभूगतस्य शुचित्वनिषेधार्थं नत्वान्तरिक्षोदकस्य शुद्धत्वव्यावृत्त्यर्थम् । नाप्युद्धृतस्य—'उद्धृताश्चापि शुद्ध्यन्ति शुद्धैः पात्रैः समुद्धृताः । एकरात्रोषिता आपस्त्याज्याः शुद्धा अपि स्वयम् ॥' इति देवलवचनात् । तथा चण्डालादिकृते तडागादौ न दोषः; 'अन्त्यैरपि कृते कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा । तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चितं न विद्यते ॥' इति शातातपस्मरणात् । तथा मांसं श्वचण्डालक्रव्यादादिभिर्निपातितं शुचि । आदिग्रहणात्पुल्कसादेरपि ग्रहणम् । निपातितग्रहणं भक्षितस्य निराकरणार्थम् ॥ १९२ ॥

पृथ्वी पर प्रकृतिस्थ रूप से (स्वाभाविक रूप से) पड़ा एक गौ की तृप्ति लायक जल (चाण्डालादि द्वारा स्पृष्ट न होने पर) शुद्ध होता है । कुत्ता, चाण्डाल तथा मांसाहारी पक्षी द्वारा गिराया गया मांस शुद्ध होता है ॥ १९२ ॥

रश्मिरग्नी रजश्छाया गौरश्वो वसुधानिलः ।
विप्रुषो मक्षिकाः स्पर्शे वत्सः प्रस्रवने शुचिः ॥१९३॥

रश्मयः सूर्यादेः प्रकाशकद्रव्यस्य । अग्निः प्रसिद्धः । रजः अजादिसंबन्धव्यतिरेकेण । तत्र—'श्वकाकोष्ट्रखरोलूकसूकरग्राम्यपक्षिणाम् । अजाविरेणुसंस्पर्शादायुर्लक्ष्मीश्च हीयते ॥' इति दोषश्रवणात्तत्स्पर्शे संमार्जनादि कार्यम् । छाया वृक्षादेः, गौः, अश्वः, वसुधा भूमिः, अनिलो वायुः, विप्रुषोऽवश्यायबिन्दवः, मुखजानां वक्ष्यमाणत्वात् । मक्षिकाश्च, एते चण्डालादिस्पृष्टा अपि स्पर्शे शुचयः । वत्सः प्रस्रवने ऊधोगतदुग्धापकर्षणे शुचिः । 'वत्स'ग्रहणं बालस्योपलक्षणार्थम्; 'बालैरनुपरिक्रान्तं स्त्रीभिराचरितं च यत् । अविज्ञातं च यत्किंचिन्नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥' इति वचनात् ॥ १९३ ॥

किरणें, अग्नि, धूल, छाया, गाय, अश्व, पृथ्वी, वायु, वाष्प तथा मक्खी स्पर्श में पवित्र होती है । बछड़ा (का मुख) गाय के दूध पेन्हाते समय शुद्ध होता है ॥ १९३ ॥

अजाश्वयोर्मुखं मेध्यं न गोर्न नरजा मलाः ।
पन्थानश्च विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः ॥ १९४ ॥

अजाश्वयोर्मुखं मेध्यं । न गोः, न नरजा मलाः, 'नर'शब्दो लक्ष-

णया देहमभिधत्ते । तज्जा मला वसादयो मेध्या न भवन्ति । पन्थानो मार्गाः श्वचण्डालादिभिः स्पृष्टा अपि रात्रौ सोमांशुभिर्मारुतेन च शुद्ध्यन्ति । दिवा तु सूर्यांशुभिर्मारुतेन च ॥ १९४ ॥

बकरे तथा घोड़े का मुख शुद्ध होता है, गाय का नहीं । मनुष्य के शरीर से निकले मल (वसा आदि) शुद्ध नहीं होते । (कुत्ता, चाण्डालादि से स्पृष्ट) मार्ग चन्द्रमा तथा सूर्य की किरणों तथा वायु से शुद्ध होते हैं ॥ १९४ ॥

मुखजा विप्रुषो मेध्यास्तथाऽऽचमनबिन्दवः ।
श्मश्रु चास्यगतं दन्तसक्तं त्यक्त्वा ततः शुचिः ॥ १९५ ॥

मुखे जाता मुखजाः श्लेष्मविप्रुषो मेध्याः नोच्छिष्टं कुर्वन्ति अनिपतिताश्चेदङ्गे । 'न मुखविप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेदङ्गे निपतन्ति' इति गौतमवचनात् । तथा च ये आचमनतोयबिन्दवः पादौ स्पृशन्ति ते मेध्याः । श्मश्रु चास्यगतं मुखप्रविष्टमुच्छिष्टं न करोति । दन्तसक्तं चान्नादिकं स्वयमेव च्युतं त्यक्त्वा शुचिर्भवति । अच्युतं दन्तसमम् । तथा च गौतमः—'दन्तश्लिष्टं तु दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात्प्राक् च्युतेरित्येके च्युतेष्वास्राववद्विद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचि' इति । निगिरणं पुनरनेन याज्ञवल्क्योक्तेन त्यागेन विकल्प्यते । निगिरन्नेवेत्येवकारः 'चर्वणे त्वाचमेन्नित्यं भुक्त्वा ताम्बूलचर्वणम् । ओष्ठौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥' इति विष्णूक्ताचमननिषेधार्थः । 'ताम्बूल'-ग्रहणं फलाद्युपलक्षणार्थम् । यथाह शातातपः—'ताम्बूले च फले चैव भुक्ते स्नेहावशिष्टके । दन्तलग्नस्य संस्पर्शे नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥' इति ॥ १९५ ॥

मुख से निकले थूक के बिन्दु तथा आचमन के जल के बिन्दु शुद्ध होते हैं । मुह से सटे दाढ़ी-मूँछ तथा दाँत से लगे अन्न के निकल जाने पर शुद्ध होता है ॥ १९५ ॥

स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे ।
आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च ॥ १९६ ॥

स्नानपानक्षुतस्वप्नभोजनरथ्योपसर्पणवासोविपरिधानेषु कृतेष्वाचान्तः पुनराचामेत् । द्विराचामेदित्यर्थः । चकाराद्रोदनाध्ययनारम्भचौपस्यानृतोक्त्यादिषु । तथा च वसिष्ठः—'सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा रुदित्वा चाचान्तः पुनराचामेत्' इति । मनुरपि (५।१४५)—'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च ष्ठीवित्वोक्त्वानृतं वचः । पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥' इति । भोजने त्वादावपि द्विराचमनम्—'भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतोऽपि द्विराचामेत्' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । स्नानपानयोरादौ सकृत् । अध्ययने त्वारम्भे द्विः । शेषेष्वन्ते एव यथोक्तं द्विराचमनम् ॥ १९६ ॥

स्नान करके, जल पीकर, जम्हाई लेकर, शयन कर (उठने पर), भोजन कर, मार्ग में चलने पर तथा वस्त्र पहन कर आचमन कर पुनः आचमन करे अर्थात् दो बार आचमन करे ॥ १९६ ॥

टिप्पणी– टीकाकार का मत है कि 'च' शब्द से रोदन, अध्ययनारम्भ, अनृतोक्ति आदि में भी ऐसी ही विधि है । इस विषय में मनु का कथन इस प्रकार है–

> 'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च ष्ठीवित्वोक्त्वानृतं वचः ।
> पीत्वाऽऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन्' ॥ ५/१४५

वसिष्ठ का वचन भी है–

> 'सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा रुदित्वा चाचान्तः पुनराचामेत्' ।
> भोजनादि में भोजनपूर्व दो बार आचमन का विधान है ।

रथ्याकर्दमतोयानि स्पृष्टान्यन्त्यश्ववायसैः ।
मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च ॥ १९७ ॥

रथ्या मार्गमात्रम्, **कर्दमः** पङ्कः **तोयम्**उदकम्, रथ्यास्थितानि **कर्दमतोयानि अन्त्यै**श्चण्डालादिभिः **श्वभिर्वायसैश्च स्पृष्टानि मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति** शुद्धिमुपयान्ति । बहुवचनं तद्गतगोमयशर्करादिप्राप्त्यर्थम् । **पक्वेष्टकादिभिश्चितानि** प्रासादधवलगृहादीनि चण्डालादिस्पृष्टानि **मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति** । एतच्च 'प्रोक्षणं संहतानाम्' (मनु० ५।१५५) इत्युक्तप्रोक्षणनिषेधार्थम् । तृणकाष्ठपर्णादिमयानां तु प्रोक्षणमेवेति ॥ १९७ ॥

मार्ग में पड़े कीचड़ तथा जल चाण्डालादि, कुत्ता तथा कौओं से स्पृष्ट होने पर वायु से ही शुद्ध हो जाते हैं । पके ईटों से बने (गृहादि) स्थान भी वायु से शुद्ध होते हैं ॥ १९७ ॥

इति द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ।

अथ दानप्रकरणम् ९

इदानीं दानधर्मं प्रतिपादयिष्यंस्तदङ्गभूतपात्रप्रतिपादनार्थं तत्प्रशंसामाह—

तपस्तप्त्वाऽसृजद्ब्रह्मा ब्राह्मणान्वेदगुप्तये ।
तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च ॥ १९८ ॥

ब्रह्मा हिरण्यगर्भः कल्पादौ तपस्तप्त्वा ध्यानं कृत्वा कान्सृजामीति पूर्वं ब्राह्मणान्सृष्टवान् । किमर्थम्? **वेदगुप्तये** वेदरक्षणार्थम् । **पितृणां देवतानां च** तृप्त्यर्थम् । अनुष्ठानोपदेशद्वारेण **धर्मसंरक्षणार्थं च** । अतस्तेभ्यो दत्तमक्षयफलं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १९८ ॥

ब्रह्मा ने तप कर ('किसे पहले उत्पन्न करूँ' यह ध्यान कर) वेद की रक्षा, पितरों तथा देवताओं की तृप्ति एवं धर्म की रक्षा के लिये ब्राह्मणों को उत्पन्न किया ॥ १९८ ॥

सर्वस्य प्रभवो विप्राः श्रुताध्ययनशीलिनः ।
तेभ्यः क्रियापराः श्रेष्ठास्तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः ॥ १९९

सर्वस्य क्षत्रियादेर्विप्राः प्रभवः श्रेष्ठाः जात्या कर्मणा च । ब्राह्मणेष्वपि **श्रुताध्ययनशीलिनः** श्रुताध्ययनसंपन्ना उत्कृष्टाः । **तेभ्योऽपि क्रियापरा** विहितानुष्ठानशीलाः । **तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः** वक्ष्यमाणमार्गेण शमदमादियोगेनात्मतत्त्वज्ञाननिरताः, 'श्रेष्ठा' इत्यनुषज्यते ॥ १९९ ॥

सभी (क्षत्रियादि वर्णों में जाति तथा क्रम से) ब्राह्मण श्रेष्ठ है । ब्राह्मणों में भी वेद का अध्ययन करने वाले श्रेष्ठ हैं । उनसे भी श्रेष्ठ क्रियानिष्ठ हैं और उनसे भी श्रेष्ठ अध्यात्मवेत्ता (ब्राह्मण) हैं ॥ १९९ ॥

एवं जातिविद्यानुष्ठानतपसां प्रशंसामुखेनैकैकयोगेनै पात्रतामभिधायाधुना तेषां समुच्चये संपूर्णपात्रतामाह—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥ २०० ॥

केवलया विद्यया श्रुताध्ययनसंपत्त्या **नैव संपूर्णपात्रत्वम्** । नापि केवलेन तपसा शमदमादिना । 'अपि'शब्दात्केवलेनानुष्ठानेन केवलया जात्या वा नैव संपूर्णपात्रता । कथं तर्हि? **यत्र** पुरुषे **वृत्तमनुष्ठानं इमे चोभे** विद्यातपसी स्तः चशब्दाद्ब्राह्मणजातिश्च **तदेवं** मन्वादिभिः संपूर्णपात्रं **प्रकीर्तितम्** । **हि** यस्मादतः परमुत्कृष्टं पात्रं नास्ति । अत्र जातिविद्यानुष्ठानतपःसमुच्चयानामुत्तरोत्तरप्राशस्त्येन फलतारतम्यं द्रष्टव्यम् ॥ २०० ॥

न केवल विद्या से और न केवल तप से पात्रता होती है अपितु जिस पुरुष में अनुष्ठान तथा ये दोनों (विद्या तथा तप) हो वही पात्र कहा गया है ॥ २०० ॥

सत्पात्रे गवादिदानं देयम्—

गोभूतिलहिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम् ।
नापात्रे विदुषा किंचिदात्मनः श्रेय इच्छता ॥ २०१ ॥

पूर्वोक्ते पात्रे गवादिकमर्चितं शास्त्रोक्तोदकदानादीतिकर्तव्यतासहितं **देयम्** । **अपात्रे** क्षत्रियादौ ब्राह्मणे च पतितादौ **विदुषा** पात्रविशेषेण फलविशेषं जानता **श्रेयः** संपूर्णफल**मिच्छता किंचिद**ल्पमपि **न दातव्यम्** । श्रेयोग्रहणादपात्रदानेऽपि किमपि तामसं फलमस्तीति सूचितम् । यथाह कृष्णद्वैपायनः (गी०

१७।२२)—'अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवज्ञातं तत्ताम-समुदाहृतम् ॥' इति । अपात्रे न दातव्यमिति वदता विशिष्टदेशकालद्रव्यसन्निधौ पात्रस्यासन्निधाने द्रव्यस्य वा तदुद्देशेन त्यागं तस्मै प्रतिश्रवणं वा कृत्वा समर्पयेत्, नत्वपात्रे दातव्यमिति सूचितम् । तथा प्रतिश्रुतमपि पश्चात्पातकादिसंयोगे ज्ञाते न देयम्; 'प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्' इति निषेधात् ॥ २०१ ॥

गो, भूमि, तिल, स्वर्ण आदि पात्र को शास्त्रोक्त विधि से अर्चना सहित देना चाहिये । अपना क्षेम (मङ्गल) चाहने वाला विद्वान् अपात्र में कुछ भी न दे ॥ २०१ ॥

अपात्रे दातुर्निषेधमुक्त्वा प्रतिग्रहीतारं प्रत्याह—

विद्यातपोभ्यां हीनेन नतु ग्राह्यः प्रतिग्रहः ।
गृह्णन्प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च ॥ २०२ ॥

विद्यातपोभ्यां हीनेन प्रतिग्रहः सुवर्णादिर्न **ग्राह्यः** । यस्माद्विद्यादिहीनः प्रतिगृह्णन् **दातारमात्मानं चाधो** नरकं **नयति** प्रापयतीति ॥ २०२ ॥

जो ब्राह्मण विद्या और तप से हीन हो उसे प्रतिग्रह नहीं लेना चाहिये । (विद्या और तप से हीन ब्राह्मण) यदि दान लेता है तो दाता को तथा अपने को अधोगति (नरक) में ले जाता है ॥ २०२ ॥

गवादि पात्रे दातव्यमित्युक्तं तत्र विशेषमाह—

दातव्यं प्रत्यहं पात्रे निमित्तेषु विशेषतः ।
याचितेनापि दातव्यं श्रद्धापूतं स्वशक्तितः ॥ २०३ ॥

प्रतिदिवसं शक्त्यनुसारेण यथोक्तविधिना **पात्रे** गवादिकं स्वकुटुम्बाविरोधेन **दातव्यम्** । **निमित्तेषु** चन्द्रोपरागादिषु **विशेषतो**ऽधिकं यत्नेन दातव्यम् । **याचितेनापि** श्रद्धापूतमनसूयापवित्रीकृतं शक्त्या दातव्यम् । 'याचितेनापि दातव्यम्' इति वदता यथोक्तं पात्रं स्वयमेव गत्वा आहूय वा यद्दानं तन्महाफलमुक्तम् । तथा च स्मरणम्—'गत्वा यद्दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम् । सहस्रगुणमाहूय याचिते तु तदर्धकम्' इति ॥ २०३ ॥

प्रतिदिन पात्र को दान करना चाहिये । (चन्द्रग्रहण आदि) निमित्तों पर विशेष रूप से दान करना चाहिये । याचना करने पर भी (पात्र को) अपनी शक्ति अनुसार श्रद्धा से पवित्र दान करना चाहिये ॥ २०३ ॥

गवादिकं देयमित्युक्तं तत्र गोदाने विशेषमाह—

हेमशृङ्गी शफै रौप्यैः सुशीला वस्त्रसंयुता ।
सकांस्यपात्रा दातव्या क्षीरिणी गौः सदक्षिणा ॥ २०४ ॥

हेममये शृङ्गे यस्याः सा हेमशृङ्गी । शफैः खुरैः रौप्यैः राजतैः संयुता वस्त्रेण च संयुता कांस्यपात्रसहिता बहुक्षीरा[6] सुशीला गौर्यथाशक्तिदक्षिणासहिता दातव्या ॥ २०४ ॥

सीधी दूध वाली गाय को स्वर्ण की सींग वाली तथा चाँदी की खुखाती बनाकर वस्त्र से युक्त कर तथा काँसे की दोहनी एवं दक्षिणा सहित दान करना चाहिये ॥ २०४ ॥

गोदानफलमाह—

दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति वत्सरान्रोमसंमितान् ।
कपिला चेत्तारयति भूय[1]श्चासप्तमं कुलम् ॥ २०५ ॥

अस्या गोः रोमसंमितान् रोमसंख्याकान्वत्सरान्स्वर्गमाप्नोति दाता । सा यदि कपिला तदा न केवलं दातारं तारयति किंतु कुलमपि आसप्तमं सप्तममभिव्याप्य पित्रादीन्षड् आत्मानं च सप्तमम् । अप्यर्थे 'भूयः' शब्दः ॥ २०५ ॥

ऐसी गाय का दान करने वाला उतने वर्षों तक स्वर्ग प्राप्त करता है जितने रोम (उस गाय में) हैं और यदि वह गाय कपिला हो तो वह सात पीढ़ियों को तारती है ॥ २०५ ॥

उभयतोमुखीदानफलम्—

सवत्सारोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखीम्[2] ।
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति पूर्वेण विधिना ददत् ॥ २०६ ॥

सवत्सारोमतुल्यानि वत्सेन सह वर्तत इति सवत्सा तस्या रोमतुल्यानि वत्सस्य गोश्च यावन्ति रोमाणि तावत्संख्याकानि युगानि कृतत्रेतादीनि उभयतोमुखीं ददत्स्वर्गमाप्नोत्यनुभवति पूर्वेण विधिना दाता चेत् ॥ २०६ ॥

उभयतोमुखी (प्रसव कर रही) गाय का पूर्वोक्त विधि से दान करने वाला गाय और बछड़े में जितने रोम हैं उतने वर्षों तक स्वर्ग प्राप्त करता है ॥ २०६ ॥

का पुनरुभयतोमुखी कथं तावत्तद्दानं महाफलमित्यत आह—

यावद्वत्सस्य पादौ[3] द्वौ मुखं योन्यां च[4] दृश्यते ।
तावद्गौः[5] पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुञ्चति ॥ २०७ ॥

गर्भान्निर्गच्छतो वत्सस्य द्वौ पादौ मुखं च यावत्कालं योन्यां दृश्यते तावत्कालं उभयतोमुखमस्या अस्तीत्युभयतोमुखी । यावत्कालं गर्भं न मुञ्चति तावत्सा गौः पृथिवीसमा ज्ञेया । अतः फलातिशयो युक्तः ॥ २०७ ॥

जब तक बछड़े के दो पैर और मुख (गाय की) योनि में दिखाई पड़ते हैं (तब तक वह उभयतोमुखी है) और जब तक वह गर्भस्थ बछड़े को गिरा नहीं देती तब तक उसे पृथिवी समझना चाहिये ॥ २०७ ॥

सामान्यगोदाने फलम्—

यथाकथंचिद्दत्त्वा गां धेनुं वाऽधेनुमेव वा ।
अरोगामपरिक्लिष्टां दाता स्वर्गे महीयते ॥ २०८ ॥

यथाकथंचित् हेमशृङ्गाद्यभावेऽपि यथासंभवं पूर्वोक्तेन विधिना **धेनुं** दोग्ध्रीं **अधेनुं वा** अवन्ध्यां **अरोगां** रोगरहितां **अपरिक्लिष्टां** अत्यन्तादुर्बलां **गां दत्त्वा दाता स्वर्गे महीयते** पूज्यते ॥ २०८ ॥

जिस किसी प्रकार धेनु (दूध देने वाली) या अधेनु (अवन्ध्या), अरोगा तथा अत्यन्त दुर्बल जो नहीं है ऐसी गाय का दान देने वाला स्वर्ग में पूजित होता है ॥ २०८ ॥

गोदानसमान्याह—

श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्या सुरार्चनम् ।
पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥ २०९ ॥

श्रान्तस्यासनशयनादिदानेन श्रमापनयनं **श्रान्तसंवाहनम्** । **रोगिणां परिचर्या** यथाशक्त्यौषधादिदानेन । **सुरार्चनं** हरिहरहिरण्यगर्भादीनां गन्धमाल्यादिभिराराधनम् । **पादशौचं द्विजानां** समानानामधिकानां च । तेषामेवोच्छिष्टस्य **संमार्जनम्** । एतान्यनन्तरोक्तेन **गोदानेन समानि** ॥ २०९ ॥

थके का (आसन, शयनादि के दान द्वारा) श्रमापनयन, रोगी की सेवा, देवता की पूजा, द्विजों का पैर धोना तथा जूठा साफ करना– ये कर्म भी गोदान के समान (पुण्यप्रद) हैं ॥ २०९ ॥

भूदीपांश्चान्नवस्त्राम्भस्तिलसर्पिःप्रतिश्रयान् ।
नैवेशिकं स्वर्णधुर्यं दत्त्वा स्वर्गे महीयते ॥ २१० ॥

भूः फलप्रदा । **दीपा** देवायतनादिषु । **प्रतिश्रयः** प्रवासिनामाश्रयः । निवेशनार्थं गार्हस्थ्यार्थं यत्कन्या दीयते **तन्नैवेशिकम्** । **स्वर्णं** सुवर्णम् । **धुर्यो** भारसहो बलीवर्दः, शेषं प्रसिद्धम्, एतान्भूदीपादीन्दत्त्वा **स्वर्गलोके महीयते** पूज्यते । स्वर्गफलं च भूमिदानादीनां न फलान्तरव्युदासार्थम् । 'यत्किंचित्कुरुते पापं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुद्ध्यति ॥' तथा मनुः (४।२२९)—'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥' इत्यादिफलान्तरश्रवणात् । गोचर्मलक्षणं च बृहस्पतिना दर्शितम्—'सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डं निवर्तनम् । दश तान्येव गोचर्म दत्त्वा स्वर्गे महीयते ॥' इति ॥ २१० ॥

(उर्वरा) भूमि, दीपक, अन्न, वस्त्र, जल, तिल, घी, परदेशी को आश्रय, गृहस्थाश्रम के लिये कन्या, सोना और जोतने या ढोने लायक बैल का दान कर (दाता) स्वर्ग में पूजित होता है ॥ २१० ॥

गृहधान्याभयोपानच्छत्रमाल्यानुलेपनम् ।
यानं वृक्षं प्रियं शय्यां दत्त्वाऽत्यन्तं सुखी भवेत् ॥२११॥

गृहं प्रसिद्धम्, धान्यानि च शालीगोधूमादीनि, अभयं भीतत्राणम्, उपानहौ छत्रम्, माल्यं मल्लिकादेः, अनुलेपनं कुङ्कुमचन्दनादि, यानं रथादि, वृक्षं उपजीव्यमाम्रादिकम्, प्रियं यद्यस्य प्रियं धर्मादिकम्, शय्यां च दत्त्वा, अत्यन्तमतिशयेन सुखी भवति । नच हिरण्यादिवद्धस्ते दातुमशक्यत्वाद्धर्मस्य दानासंभवः । भूमिदानादावपि समानत्वात् । स्मृत्यन्तरेऽपि धर्मदानश्रवणात्—'देवतानां गुरूणां च मातापित्रोस्तथैव च । पुण्यं देयं प्रयत्नेन नापुण्यं चोदितं क्वचित् ॥' अपुण्यदाने तदेव वर्धते प्रतिग्रहीतुरपि लोभादिना प्रवृत्तस्य; 'यः पापसंबलं ज्ञात्वा प्रतिगृह्णाति दुर्मतिः । गर्हिताचरणात्तस्य पापं तावत्समाश्रयेत् ॥ समद्विगुणसाहस्रमानन्त्यं च प्रदातृषु ॥' इति स्मरणात् । इह च सर्वत्र देशकालपात्रविशेषाद्देयविशेषाद्दातृविशेषात्—'दाने फलं मया प्रोक्तं हिंसायां तद्वदेव हि' इति प्रतिग्रहीतृवृत्तिविशेषाच्च दातृ-प्रतिग्रहीत्रोः फलतारतम्यं द्रष्टव्यम् ॥ २११ ॥

गृह, धान्य, (डरे को) अभय, जूता, छाता, माला, विलेपन (कुंकुम-चन्दनादि), सवारी (रथादि), वृक्ष (आम्रादि) प्रिय वस्तु तथा शय्या का दान कर (व्यक्ति) अत्यन्त सुखी होता है ॥ २११ ॥

दानात्फलमुक्तमिदानीं दानव्यतिरेकेणापि दानफलावाप्तिहेतूनाह—

सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यतः ।
तद्ददत्समवाप्नोति ब्रह्मलोकमविच्युतम् ॥ २१२ ॥

यस्मात्सर्वधर्ममयं ब्रह्म अवबोधकत्वेन तस्मात्तद्दानं सर्वदानेभ्योऽप्यधिकं अतस्तद्ददद्ध्यापनादिद्वारेण ब्रह्मलोकमवाप्नोति । अविच्युतं च्युतिर्यथा न भवति । आ भूतसंप्लवं ब्रह्मलोकेऽवतिष्ठत इत्यर्थः । अत्र च ब्रह्मदाने परस्वत्वापादनमात्रं दानं; स्वत्वनिवृत्तेः कर्तुमशक्यत्वात् ॥ २१२ ॥

वेद सभी धर्मों से युक्त हैं, अतः उसका दान सभी दानों से बढ़कर है । इस (वेद) का दान कर अचल ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ॥ २१२ ॥

दाने फलमुक्तम्, इदानीं दानव्यतिरेकेणापि दानफलावाप्तेर्हेतुमाह—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम् ।
ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलान् ॥ २१३ ॥

यः पात्रभूतोऽपि प्राप्तं **प्रतिग्रहं** सुवर्णादिकं **नादत्ते** न स्वीकरोति, असौ यद्यत्प्राप्तं नोपादत्ते तत्तद्दानशीलानां **ये लोकास्तान्समग्रानाप्नोति** ॥२१३॥

जो (ब्राह्मण) प्रतिग्रह लेने में समर्थ (पात्र) होने पर भी प्रतिग्रह नहीं लेता वह उन लोगों को पर्याप्त रूप से प्राप्त करता है जो दानशीलों को प्राप्त होते हैं ॥ २१३ ॥

इदानीं सर्वप्रतिग्रहनिवृत्तिप्रसङ्गेऽपवादमाह—

कुशाः शाकं पयो मत्स्या गन्धाः पुष्पं दधि क्षितिः ।
मांसं शय्यासनं धानाः प्रत्याख्येयं न वारि च ॥ २१४ ॥

धानाः भृष्टा यवाः, क्षितिर्मृत्तिका, शेषं प्रसिद्धम् । एतत् कुशादिकं स्वयमुपानीतं न प्रत्याख्येयम् । चकाराद्गृहादि (मनुः ४।२५०)—'शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि । धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥' तथा—'ऐधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् । सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥' (४।२४७) इति मनुस्मरणात् ॥ २१४ ॥

कुश, शाक, दूध, मछली, सुगन्ध, पुष्प, दधि, पृथ्वी, मांस, शय्या, आसन और धान (भूजा जौ) तथा जल (स्वयं दिये जाने पर) अस्वीकार न करे ॥ २१४ ॥

टिप्पणी– इस विषय में मनु का कथन है–

'एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम्' ॥ ४/२४७

किमिति न प्रत्याख्येयमित्याह—

अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ।
अन्यत्र कुलटाषण्ढपतितेभ्यस्तथा द्विषः ॥ २१५ ॥

यस्मादयाचितमेतत्कुशाद्याहृतं दुष्कृतकारिणोऽपि संबन्धि ग्राह्यं, किमुत यथोक्तकारिणः । तस्मान्न प्रत्याख्येयम् । **अन्यत्र कुलटाषण्ढपतितेभ्यः** शत्रोश्च । कुलात्कुलमटन्तीति कुलटाः स्वैरिण्यादिकाः, षण्ढस्तृतीयाप्रकृतिः ॥

बिना माँगे (कुशादिक) दुराचारी द्वारा भी लाई गई हो तो ग्राह्य है । परन्तु कुलटा, नपुंसक, पतित एवं शत्रु से न ग्रहण करे ॥ २१५ ॥

प्रतिग्रहनिवृत्तेरपवादान्तरमाह—

देवातिथ्यर्चनकृते गुरुभृत्यार्थमेव वा ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयादात्मवृत्त्यर्थमेव च ॥ २१६ ॥

देवातिथ्यर्चनादेरावश्यकत्वात्तदर्थमनात्मकारणात् । पतिताद्यत्यन्तकुत्सितवर्जं **सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्** । **गुरवो** मातापित्रादयः, **भृत्याः** भरणीया भार्यापुत्रादयः ॥ २१६ ॥

देवता तथा अतिथि की पूजा के लिये, माता-पितादि गुरुजन तथा स्त्री-पुत्रादि आश्रितजनों तथा अपनी जीवका के लिये (पतित आदि अत्यन्त निन्दित को छोड़कर) सब स्थानों से (प्रतिग्रह) ग्रहण करे ॥ २१६ ॥

इति दानप्रकरणम् ।

अथ श्राद्धप्रकरणम् १०

इदानीं श्राद्धप्रकरणमारभ्यते। श्राद्धं नामादनीयस्य तत्स्थानीयस्य वा द्रव्यस्य प्रेतोद्देशेन श्रद्धया त्यागः। तच्च द्विविधं—पार्वणमेकोद्दिष्टं चेति। तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम्। एकपुरुषोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्दिष्टम्। पुनश्च त्रिविधं—नित्यं नैमित्तिकं काम्यं चेति। तत्र नित्यं नियतनिमित्तोपाधौ चोदितमहरहरमावस्याष्टकादिषु। अनियतनिमित्तोपाधौ चोदितं नैमित्तिकं यथा पुत्रजन्मादिषु। फलकामनोपाधौ विहितं[1] काम्यं यथा स्वर्गादिकामानां कृत्तिकादिनक्षत्रेषु, तिथिषु च। पुनश्च पञ्चविधम्—'अहरहःश्राद्धं पार्वणं वृद्धिश्राद्धमेकोद्दिष्टं सपिण्डीकरणं चे'ति। तत्राहरहःश्राद्धं—'अन्नं पितृमनुष्येभ्यः' इत्यादिनोक्तम्। तथा च मनुः (३।८२)—'कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा। पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥' इति ॥

अधुना पार्वणं वृद्धिश्राद्धं च दर्शयिष्यंस्तयोः कालानाह—

अमावास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।
द्रव्यं ब्राह्मणसंपत्तिर्विषुवत्सूर्यसंक्रमः ॥ २१७ ॥
व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।
श्राद्धं प्रति रुचिश्चैते श्राद्धकालाः प्रकीर्तिताः ॥ २१८ ॥

यत्र दिने चन्द्रमा न दृश्यते सा अमावास्या[1], तस्यामहर्द्वयव्यापिन्यामपराह्णव्यापिनी ग्राह्या; 'अपराह्णः पितॄणाम्' इति वचनात्। अपराह्णश्च पञ्चधा विभक्ते दिने चतुर्थो भागस्त्रिमुहूर्तः। अष्टकाश्चतस्रः 'हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः' (गृ.सू. २।४।१) इत्याश्वलायनोक्ताः, वृद्धिः पुत्रजन्मादिः, कृष्णपक्षोऽपरपक्षः, अयनद्वयं दक्षिणोत्तरसंज्ञकम्, द्रव्यं कुंसरमाषादिकम्, ब्राह्मणसंपत्तिर्वक्ष्यमाणा, विषुवद्द्वयं मेषतुलयोः सूर्यगमनम्, सूर्यसंक्रमः आदित्यस्य राशेः राश्यन्तरगमनम्, अयनविषुवतोः संक्रान्तित्वे सिद्धेऽपि पृथगुपादानं फलातिशयप्रतिपादनार्थम्। व्यतीपातो[2] योगविशेषः। गजच्छाया—'यदेन्दुः पितृ[3]दैवत्ये हंसश्चैव करे स्थितः। यस्यां[4] तिथिर्भवेत्सा हि गजच्छाया प्रकीर्तिता ॥' इति परिभाषिता। हस्तिच्छायेति केचित्, सेह न गृह्यते; कालप्रक्रमात्। ग्रहणं सोमसूर्ययोरुपरागः। यदा च कर्तुः श्राद्धं प्रति रुचिर्भवति तदापि। चशब्दाद्युगादिप्रभृतयः। एते श्राद्धकालाः। यद्यपि—'चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यात्' इति ग्रहणे भोजननिषेधस्तथापि भोक्तुर्दोषः, दातुरभ्युदयः ॥ २१७–१८ ॥

अमावास्या, अष्टका, वृद्धि (पुत्रजन्मादि), कृष्णपक्ष, दोनों अयन (उत्तरायन और दक्षिणायन), द्रव्य (कृसर, माषादि), ब्राह्मणसंपत्ति, विषुवत् (मेष तथा तुला राशि में सूर्य संक्रमण), सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में संक्रमण (संक्रान्ति), व्यतीपात (योग विशेष), गजच्छाया (योग विशेष), चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण तथा श्राद्ध के प्रति प्रेम ये श्राद्धकाल हैं ॥ २१७-२१८ ॥

टिप्पणी– अष्टका– हेमन्त और शिशिर ऋतुओं अर्थात् अगहन से फाल्गुन तक की कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथियों को अष्टका कहा जाता है, जैसा कि आश्वलायन गृह्यसूत्र में (२/४/१) बताया गया है –

'हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः '।

कहीं-कहीं भाद्रपद अष्टमी को भी परिगणित कर पाँच अष्टकायें कही गयी हैं, जैसा कि पद्मपुराण का वचन है–

'प्रौष्ठपद्यष्टका भूयः पितृलोके भविष्यति' ।

कहीं-कहीं तीन तिथियों का ही निर्देश है–

'अमावस्यास्तिस्रोऽष्टकास्तिस्रोऽन्वष्टकाः' ॥

विष्णुस्मृति अष्टमी के पूर्व की सप्तमी तथा पर की नवमी को अन्वष्टका कहा गया है ।

कूर्मपुराण का भी वचन है–

'अमावास्याष्टकास्तिस्रः पौषमासादिषु त्रिषु' ॥

व्यतीपात– यह योग है । यह योग निम्नलिखित स्थिति में होता है–

'श्रवणाश्विधनिष्ठार्द्रा नागदैवतमस्तके ।
यद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते' ॥

गजच्छाया–

'योगो मघा त्रयोदश्यां कुञ्जरच्छायसंज्ञितः ।
भवेन्मघायां संस्थे च शशिन्यर्के करे स्थते' ।

तथा–

'यदेन्दुः पितृदैवत्ये हंसश्चैव करे स्थितः ।
यस्यां तिथिर्भवेत्सा हि गजच्छाया प्रकीर्तिता' ॥

वहाँ अयन, विषुवत् और सूर्यसंक्रम को पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट करने का अभिप्राय यह है अयन तथा विषुव में सामान्य संक्रान्ति से फलाधिक्य है ।

अहरहःश्राद्धव्यतिरिक्तवक्ष्यमाणचतुर्विधश्राद्धेषु ब्राह्मणसंपत्तिमाह—

अग्र्यः सर्वेषु वेदेषु श्रोत्रियो ब्रह्मविद्युवा ।
वेदार्थविज्ज्येष्ठसामा त्रिमधुस्त्रिसुपर्णकः ॥ २१९ ॥

सर्वेषु वेदेषु ऋग्वेदादिषु अनन्यमनस्कतयाप्यजस्रास्खलिताध्ययनक्षम **अग्र्यः** । **श्रोत्रियः** श्रुताध्ययनसंपन्नः । वक्ष्यमाणं ब्रह्म यो वेत्ति असौ **ब्रह्मवित्** । **युवा** मध्यमवयस्कः । सर्वस्येदं विशेषणम् । मन्त्रब्राह्मणयोरर्थं वेत्तीति

वेदार्थवित्। ज्येष्ठसाम सामविशेषः, तदध्ययनाङ्गव्रतं च तद्व्रताचरणेन यस्तदधीते स **ज्येष्ठसामा**। **त्रिमधुः** ऋग्वेदैकदेशः, तद्व्रतं च तद्व्रताचरणेन तदधीते इति त्रिमधुः। **त्रिसुपर्णं** ऋग्यजुषोरेकदेशः, तद्व्रतं च तद्व्रताचरणेन यस्तदधीते स **त्रिसुपर्णकः**। 'एते ब्राह्मणाः श्राद्धसंपद' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥२१९॥

अग्र्य (सभी वेदों को सावधानी तथा निरन्तर अध्ययन करने वाला), श्रुत तथा अध्ययन युक्त, ब्रह्मवेत्ता, युवा, वेदार्थ का ज्ञाता, ज्येष्ठसाम नामक सामवेद के विशेष अंग का व्रतरूप में अध्ययन करने वाला, त्रिमधु नामक ऋग्वेद के एक अंश का अध्येता, त्रिसुपर्ण (ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का एकांश) का अध्येता (ये ब्राह्मण श्राद्ध की संपत्ति हैं) ॥ २१९ ॥

स्वस्रीयऋत्विग्जामातृयाज्यश्वशुरमातुलाः।
त्रिणाचिकेतदौहित्रशिष्यसंबन्धिबान्धवाः ॥ २२० ॥

स्वस्रीयो भागिनेयः, **ऋत्विग्**उक्तलक्षणः, **जामाता** दुहितुर्भर्ता, **त्रिणाचिकेतं** यजुर्वेदैकदेशः, तद्व्रतं च तद्व्रताचरणेन यस्तदध्यायी स त्रिणाचिकेतः। अन्यत्प्रसिद्धम्। एते च पूर्वोक्ताग्र्यश्रोत्रियाद्यभावे वेदितव्याः; 'एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः। अनुकल्पस्त्वयं प्रोक्तः सदा सद्भिरगर्हितः ॥' (मनु० ३।१४७) इत्यभिधाय मनुना स्वस्रीयादीनामभिहितत्वात् ॥ २२० ॥

बहन का लड़का (भानजा), ऋत्विक्, दामाद, यजमान, श्वसुर, मामा, त्रिणाचिकेत (यजुर्वेद का एकांश) का व्रत रूप में अध्ययन करने वाला, दौहित्र (कन्या का लड़का), शिष्य, संबन्धी, बान्धव (ये पूर्वोक्त अग्र्य आदि के अभाव में श्राद्धसंपत्ति है) ॥ २२० ॥

कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निर्ब्रह्मचारिणः।
पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसंपदः ॥ २२१ ॥

कर्मनिष्ठा विहितानुष्ठानतत्पराः, **तपोनिष्ठा**स्तपःशीलाः, सभ्यावसथ्यौ त्रेताग्नयश्च यस्य सन्ति स **पञ्चाग्निः**, पञ्चाग्निविद्याध्यायी च, **ब्रह्मचारी** उपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च, **पितृमातृपरा**स्तत्पूजापराः, चकारात् ज्ञाननिष्ठादयः। **ब्राह्मणाः** न क्षत्रियादयः। **श्राद्धसंपदः** श्राद्धेष्वक्षय्यफलसंपत्तिहेतवः २२१

कर्मनिष्ठ (विहित कार्यों के अनुष्ठान में तत्पर), तपस्या में संलग्न, जो पञ्चाग्नि का आधान करता है और पञ्चाग्नि विद्या का अध्ययन करता है, ब्रह्मचारी, पिता और माता की पूजा में तत्पर– ये ब्राह्मण श्राद्ध की संपत्ति हैं ॥ २२१ ॥

टिप्पणी– पञ्चागनियाँ इस प्रकार हैं— (१) सभ्य, (२) आवसथ्य तथा (३-५) त्रेताग्नि– (३) आहवनीय, (४) गार्हपत्य, (५) दक्षिणाग्नि ।

वर्ज्यानाह—

रोगी हीनातिरिक्ताङ्गः काणः पौनर्भवस्तथा ।
अवकीर्णी कुण्डगोलौ कुनखी श्यावदन्तकः ॥ २२२ ॥

रोगी[1] महारोगोपसृष्टः, हीनमतिरिक्तं वाऽङ्गं यस्यासौ **हीनातिरिक्ताङ्गः**, एकेनाक्ष्णा यो न पश्यति स **काणः**, एतस्मादेवान्धबधिरविद्ध[5]प्रजनन[4]खलति[6]दुश्चर्मप्रभृतयो निरस्ताः । पुनर्भूरुक्तलक्षणा, तस्यां जातः **पौनर्भवः**, **अवकीर्णी** ब्रह्मचर्य एव स्खलितब्रह्मचर्यः, **कुण्डगोलौ**—'परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ । पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥' (मनुः ३।१७४) इत्येवमुक्तलक्षणकौ, **कुनखी** कुत्सितनखः, **श्यावदन्तकः** स्वभावात्कृष्णदशनः । 'एते श्राद्धे निन्दिताः' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥ २२२ ॥

रोगी, कम या अधिक अङ्गवाला, काण, पौनर्भव (दुबारा व्याही स्त्री से उत्पन्न), स्खलित ब्रह्मचर्यवाला, कुण्ड (पति के जीवित रहते दूसरे की स्त्री से उत्पन्न पुत्र), गोलक (पति के मरने के बाद परस्त्री से उत्पन्न पुत्र), खराब नखों वाला, (प्रकृत्या) काले दाँतों वाला ॥ २२२ ॥

भृतकाध्यापकः क्लीबः कन्यादूष्यभिशस्तकः ।
मित्रध्रुक् पिशुनः सोमविक्रयी परिविन्दकः ॥ २२३ ॥

वेतनग्रहणेन योऽध्यापयति स **भृतकाध्यापकः**, वेतनदानेन च योऽधीते सोऽपि, **क्लीबो** नपुंसकः, असद्भिः सद्भिर्वा दोषैर्यः कन्यां दूषयति स **कन्यादूषी**, सताऽसता वा ब्रह्महत्यादिनाभियुक्तोऽ**भिशस्तः** । **मित्रध्रुक्** मित्रद्रोही, परदोषसंकीर्तनशीलः **पिशुनः**, **सोमविक्रयी** यज्ञे सोमस्य विक्रेता, **परिविन्दकः** परिवेत्ता, ज्येष्ठेऽकृतदारेऽकृताग्निपरिग्रहे वा यः कनीयान्दारपरिग्रहमग्निपरिग्रहं वा कुर्यात्स परिवेत्ता । ज्येष्ठस्तु परिवित्तिः । यथाह मनुः (३।१७१)—'दाराग्निहोत्रसंयोगं यः करोत्यग्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥' इति । एवं दातृ-याजकावपि—'परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते । सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥' इति (३।१७२) मनुः[3] वचनात् ॥ २२३ ॥

वेतन लेकर पढ़ाने वाला, नपुंसक, कन्या पर (झूठे या सही) दोष लगाने वाला (ब्रह्महत्यादि से सत्य या असत्य रूप से) अभिशस्त, मित्रद्रोही, परदोष का वर्णन करने वाला, सोम का विक्रेता और बड़े भाई के अविवाहित रहने पर विवाह करने वाला ॥ २२३ ॥

मातापितृगुरुत्यागी कुण्डाशी वृषलात्मजः ।
परपूर्वापतिः स्तेनः कर्मदुष्टाश्च निन्दिताः ॥ २२४ ॥

विना कारणेन मातापितृगुरून् यस्त्यजति स मातापितृगुरुत्यागी। एवं भार्यासुतत्याग्यपि; 'वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥' (मनुः ११।१०) इति समाननिर्देशात्। कुण्डस्यान्नं योऽश्नात्यसौ कुण्डाशी, एवं गोलकस्यापि; 'यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशी प्रकीर्तितः' इति वचनात्। वृषलो निर्धर्मस्तत्सुतो वृषलात्मजः, परपूर्वा पुनर्भूः, तस्याः पतिः, अदत्तादायी स्तेनः, कर्मदुष्टाः शास्त्रविरुद्धकारिणः। चकारात्कितवदेवलकप्रभृतयः। एते श्राद्धे निन्दिताः प्रतिषिद्धाः। 'अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु' (आ. २१७) इत्यादिना श्राद्धयोग्यब्राह्मणप्रतिपादनेनैव तद्व्यतिरिक्तानामयोग्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः केषांचिद्रोग्यादीनां प्रतिषेधवचनमुक्तलक्षणब्राह्मणासंभवे प्रतिषेधरहितानां प्राप्त्यर्थम् ॥ २२४ ॥

माता-पिता और गुरु का (अकारण) त्याग करने वाला, कुण्ड (श्लोक २२२ में परिभाषित) के यहाँ खाने वाला, वृषल (धर्महीन) का लड़का, पहले दूसरे को व्याही का पति, चोर और शास्त्र विरुद्ध कर्म करने वाले– ये (श्राद्ध में) निन्दित हैं ॥ २२४ ॥

एवं श्राद्धकालान्ब्राह्मणांश्चोक्त्वाऽधुना पार्वणप्रयोगमाह—

निमन्त्रयेत पूर्वेद्युर्ब्राह्मणानात्मवाञ्शुचिः।
तैश्चापि संयतैर्भाव्यं मनोवाकायकर्मभिः ॥ २२५ ॥

पूर्वोक्तान्ब्राह्मणान् 'श्राद्धे क्षणः क्रियताम्' इति पूर्वेद्युर्निमन्त्रयेत[1] प्रार्थनया क्षणमभ्युपगमयेत्। अपरेद्युर्वा; 'पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते। निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान् यथोदितान् ॥' इति (३।१८७) मनुस्मरणात्। आत्मवान् शोकोन्मादादिरहितश्चेत् दोषवान्न भवति। यद्वा,—आत्मवाञ्नियतेन्द्रियो भवेत्। शुचिः प्रयतश्च। तैरपि निमन्त्रितैर्ब्राह्मणैः। मनोवाकायव्यापारैः संयतैर्नियतैर्भवितव्यम् ॥ २२५ ॥

(श्राद्ध के) पूर्व दिन में आत्मनियन्त्रित तथा पवित्र होकर (श्राद्ध के लिये) ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे । उन (निमंत्रित ब्राह्मणों) को भी मन. वाणी और कर्म से संयत (नियतेन्द्रिय) होना चाहिये ॥ २२५ ॥

अपराह्णे समभ्यर्च्य स्वागतेना[2]गतांस्तु तान्
पवित्रपाणिराचान्तानासनेषूपवेशयेत् ॥ २२६ ॥

अपरा उक्तलक्षणे समभ्यर्च्य तान्निमन्त्रितान्ब्राह्मणानाहूय स्वागतवचनेन पूजयित्वा कृतपादधावनानाचान्तान् कुशेष्वासनेषु पवित्रपाणिः पवित्रपाणीनुपवेशयेत्। यद्यप्यत्र सामान्येन 'अपराह्णे' इत्युक्तं, तथापि कुतपे प्रारभ्य तदादि पञ्चमुहूर्तेषु परिसमापनं श्रेयस्करम्; 'अह्नो मुहूर्ता[3] विख्याता दश पञ्च च सर्वदा। तत्राष्टमो मुहूर्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः ॥ मध्याह्ने

सर्वदा यस्मान्मन्दीभवति भास्करः। तस्मादनन्तफलदस्तत्रारम्भो विशिष्यते ॥ ऊर्ध्वं मुहूर्तात्कुतपाद्यन्मुहूर्तचतुष्टयम् । मुहूर्तपञ्चकं ह्येतत्स्वधाभवनमिष्यते ॥' (मात्स्य. श्राद्ध. २२।८४-८५,८८) इति वचनात्। तथान्यदपि श्राद्धोपयोगि कुतपसंज्ञकमुक्तम्; 'मध्याह्नः खड्गपात्रं च तथा नेपालकम्बलः। रौप्यं दर्भास्तिला गावो दौहित्रश्चाष्टमः स्मृतः ॥ पापं कुत्सितमित्याहुस्तस्य संतापकारिणः। अष्टावेते यतस्तस्मात्कुतपा इति विश्रुताः ॥' (मात्स्य. २२।८६-८७) इति २२६

उन आये हुये (ब्राह्मणों) को अपराह्णकाल में स्वागतपूर्वक पूजित कर अपने हाथों को पवित्र कर उन्हें आचमन करा कर आसनों पर बैठावे ॥ २२६ ॥

युग्मान्दैवे यथाशक्ति पित्र्येऽयुग्मांस्तथैव च ।
परिस्तृते शुचौ देशे दक्षिणाप्रवणे तथा ॥ २२७ ॥

दैवे आभ्युदयिके श्राद्धे **युग्मान्** समान्ब्राह्मणानुपवेशयेत्। कथम्? **यथाशक्ति** शक्तिमनतिक्रम्य। तत्र वैश्वदेवे द्वौ द्वौ, मात्रादीनां तिसृणामेकैकस्या द्वौ द्वौ, तिसृणां वा द्वौ। एवं पित्रादीनामेकैकस्य द्वौ द्वौ, त्रयाणां वा द्वौ। एवं मातामहादीनां च वर्गत्रयेऽपि वैश्वदेवं पृथक्, तन्त्रं वा। **पित्र्ये** पार्वणश्राद्धे **अयुग्मान्** विषमानुपवेशयेदिति संबध्यते। एतच्च **परिस्तृते** सर्वतः प्रच्छादिते **शुचौ** गोमयादिनोपलिप्ते **दक्षिणाप्रवणे** दक्षिणतोऽवनते **देशे** कार्यम् ॥ २२७ ॥

दैव (आभ्युदयिक) श्राद्ध में स्वशक्त्यनुसार सम (२,४,६ इत्यादि) और पित्र्यश्राद्ध (पार्वण) में विषम (१,३,५ इत्यादि) ब्राह्मणों को चारों ओर से ढँके, (लीपकर) पवित्र किये तथा दक्षिण की ओर ढालुये स्थान पर (बैठावे) ॥ २२७ ॥

'अयुग्मान्पित्र्ये' (श्लो. २२७) इति पार्वणश्राद्धाङ्गभूते वैश्वदेवेऽप्ययुग्मप्रसङ्गे इदमारभ्यते—

द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्य उदगेकैकमेव वा ।
मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् ॥ २२८ ॥

द्वौ दैव इति। **दैवे** वैश्वदेवे **द्वौ** ब्राह्मणौ प्राङ्मुखावुपवेश्यौ। पित्र्ये अयुग्मानित्यविशेषप्रसङ्गे विशेष उच्यते—**त्रयः पित्र्ये** इति। **पित्र्ये** पित्रादिस्थाने **त्रय उदङ्मुखा** उपवेश्याः। पक्षान्तरमाह—**एकैकमेव वा**। वैश्वदेवे पित्र्ये च एकमेकमुपवेशयेत्। संभवतो विकल्पः। **मातामहानामप्येवं** श्राद्धे निमन्त्रणादि। **द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्ये उदगेकैकमेव** वेत्येव मतं पितृश्राद्धवत्कर्तव्यम्। पितृश्राद्धे मातामहश्राद्धे च वैश्वदेविकं पृथक् **तन्त्रेण वा** कर्तव्यम्। 'तन्त्र'शब्दः समुदायवाचकः। यदा तु द्वावेव ब्राह्मणौ लब्धौ तदा तु वैश्वदेवे पात्रं प्रकल्प्य उभयत्रैकैकं ब्राह्मणं नियुञ्ज्यात्। यथाह वसिष्ठः (११।३०,३१)—'यद्येकं भोजयेच्छ्राद्धे दैवं तत्र कथं भवेत्। अन्नं पात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च ॥ देवतायतने कृत्वा ततः श्राद्धं प्रवर्तयेत्। प्रास्येदन्नं तदग्नौ तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे ॥' इति ॥ २२८ ॥

वैश्वदेव में दो ब्राह्मण पूर्व दिशा की ओर मुख कर बैठावे और पितृस्थान में तीन ब्राह्मणों को उत्तराभिमुख बैठावे अथवा दोनों में एक-एक को बैठावे । मातामह में भी ऐसा ही करे अथवा वैश्वदेव पृथक् तन्त्र से करे ॥ २२८ ॥

पाणिप्रक्षालनं दत्त्वा विष्टरार्थं कुशानपि ।
आवाहयेदनुज्ञातो विश्वे देवास इत्यृचा ॥ २२९ ॥

तदनन्तरं वैश्वदेवार्थं ब्राह्मणहस्ते जलं दत्त्वा विष्टरार्थं कुशांश्च युग्मान् द्विगुणितानासने दक्षिणतो दत्त्वा 'विश्वान्देवानावाहयिष्ये' इति ब्राह्मणान् पृष्ट्वा तैः 'आवाहय' इत्यनुज्ञातो 'विश्वे देवास आगत' (ऋ. ४।८।१५) इत्यनयर्चा '[1]आगच्छंतु महाभागाः' इत्यनेन च स्मार्तेन मन्त्रेण ताना[2]वाहयेत् । एतच्च यज्ञोपवीतिना[3] प्रदक्षिणं च कार्यम्; 'अपसव्यं ततः कृत्वा पितॄणामप्रदक्षिणम्' (आ. २३२) इति पित्र्ये विशेषस्मरणात् ॥ २२९ ॥

तब (वैश्वदेव के लिये) हाथ धोने के लिये जल देकर और आसन के लिये (द्विगुणित) कुशों को देकर उनकी अनुमति से 'विश्वेदेवास आगता' (ऋ. ४/८/१५) इस ऋचा से आवाहन करे ॥ २२९ ॥

यवैरन्ववकीर्याथ भाजने सपवित्रके ।
शं नो देव्या पयः क्षिप्त्वा यवोऽसीति यवांस्तथा ॥२३०॥
या दिव्या इति मन्त्रेण हस्तेष्वर्घ्यं विनिक्षिपेत् ।

ततो वैश्वदेवार्थब्राह्मणसमीपे भूमिं प्रादक्षिण्येन यवैरन्ववकीर्य अनन्तरं तैजसादिभाजने सपवित्रके कुशयुग्मान्तर्हिते 'शं नो देवीरभिष्टय' (ऋ. ७-६।५।४) इत्यनयर्चापः क्षिप्त्वा 'यवोऽसि धान्यराजोऽसि' इत्यादिना मन्त्रेण यवान् ततो गन्धपुष्पाणि च क्षिप्त्वाऽनन्तरं अर्घ्यपात्रपवित्रान्तर्हिते ब्राह्मणहस्ते 'या दिव्या आपः पयसा' इत्यादिना मन्त्रेण 'विश्वेदेवा इदं वोऽर्घ्यं' इत्यर्घ्योदकं विनिक्षिपेत् ॥ २३० ॥–

तब वैश्वदेव के लिये ब्राह्मण के समीप जौ बिखेर कर पवित्री (कुश) से युक्त पात्र में 'शं नो देवीरभिष्टये' (७/६/५४) इस ऋचा से जल डाले और 'यवोऽसि धान्यराजोऽसि' इत्यादि मन्त्र से यव डाले और उसमें गन्ध-पुष्पादि डालकर या 'दिव्या आपः पयसा' इस मन्त्र से ब्राह्मण के हाथ में अर्घ्य डाले ॥ २३०$\frac{१}{२}$ ॥

दत्त्वोदकं गन्धमाल्यं धूपदानं सदीपकम् ॥ २३१ ॥
तथाच्छादनदानं च करशौचार्थमम्बु च ।

अथ करशौचार्थमुदकं दत्त्वा यथाक्रमं गन्धपुष्पधूपदीपदानं कुर्यात्, तथाच्छादनदानं च । गन्धादीनां स्मृत्यन्तरोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः—'चन्दनकुङ्कुमकर्पूरागरुपद्मकान्युपलेपनार्थम्' इति विष्णुनोक्तम् । पुष्पाणि च—'श्राद्धे

जात्यः प्रशस्ताः स्युर्मल्लिका श्वेतयूथिका। जलोद्भवानि सर्वाणि कुसुमानि च चम्पकम् ॥' इत्युक्तानि। वर्ज्यानि च—'उग्रगन्धीन्यगन्धीनि चैत्यवृक्षोद्भवानि च। पुष्पाणि वर्जनीयानि रक्तवर्णानि यानि च ॥', 'न कण्टकिजम्। कण्टकिजमपि शुक्लं सुगन्धि यत्तद्दद्यात्, न रक्तं दद्यात्, रक्तमपि कुङ्कुमजं जलजं च दद्यात्' (विष्णु. अ. ६६) इत्यादीनि द्रष्टव्यानि। धूपे च विशेषो विष्णुनोक्तः—'प्राण्यङ्गं सर्वं धूपार्थे न दद्यात्। घृतमधुसंयुक्तं गुग्गुलुं श्रीखण्डागरुदेवदारुसरलादि दद्यात्' इति। दीपे च विशेषः शङ्खेनोक्तः—'घृतेन दीपो दातव्यस्तिलतैलेन वा पुनः। वसामेदोद्भवं दीपं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥' इति। आच्छादनं च शुभ्रं नवमहतं सदशं दद्यादिति। एतच्च सर्वं वैश्वदेवानुष्ठानकाण्डमुदङ्मुखः कुर्यात्। पित्र्यं काण्डं दक्षिणामुखः। यथाह वृद्धशातातपः—'उदङ्मुखस्तु देवानां पितॄणां दक्षिणाभिमुखः। प्रदद्यात्पार्वणे सर्वं देवपूर्वं विधानतः ॥' इति ॥ २३१ ॥

तदनन्तर (हाथ धोने के लिये) जल देकर गन्धमाल्य और दीपक सहित धूपदान करे। तदनन्तर आच्छादन (वस्त्र) और हाथ के शौच के लिये जल दे ॥२३१$\frac{१}{२}$ ॥

अपसव्यं ततः कृत्वा पितॄणामप्रदक्षिणम् ॥ २३२ ॥
द्विगुणांस्तु कुशान्दत्त्वा ह्युशन्तस्त्वेत्यृचा पितॄन्।
आवाह्य तदनुज्ञातो जपेदायन्तु नस्ततः ॥ २३३ ॥

ततो वैश्वदेवकाण्डानन्तरम्। **अपसव्यं** यज्ञोपवीतं प्राचीनावीतं कृत्वा। अत्र तत इति वदता काण्डानुसमयो दर्शितः। **पित्रादीनां** त्रयाणामयुग्मान्कुशान्द्विगुणभुग्नान् अप्रदक्षिणं वामतो विष्टरार्थमासनेषूदकपूर्वकं दत्त्वा पुनरुदकं दद्यात्; 'अपः प्रदाय दर्भान्द्विगुणभुग्नानासनं प्रदायापः प्रदाय' (गृ. सू. ४।७; ५,६,७) इत्याश्वलायनस्मरणात्। एतच्चाद्यन्तयोरुदकदानं वैश्वदेवे पित्र्ये च प्रतिपदार्थं प्रतिपादनार्थं द्रष्टव्यम्। अथ '**पितॄन् पितामहान् प्रपितामहानावाहयिष्ये**' इति ब्राह्मणान्पृष्ट्वा 'आवाहय' इति तैरनुज्ञातः '**उशन्तस्त्वा निधीमहि**' (ऋ. ७।६।२२।२) **इत्यनयर्चा पित्रादीनावाह्य 'आयन्तु नः पितरः'** इत्यादिना **मन्त्रेणोपतिष्ठेत** ॥ २३२–२३३ ॥

तदनन्तर (वैश्वदेव के बाद) अपसव्य होकर पितरों को बाँयीं ओर से (बैठने के लिये) आसनों पर (विषम तथा) द्विगुण युग्म कुशों को देकर ब्राह्मणों की आज्ञा से 'उशन्तस्त्वा निधीमहि' (ऋग्वेद ७/६/२२/२) इत्यादि ऋचा से आवाहन कर 'आयन्तु नः पितरः' इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ २३२-२३३ ॥

(अपहता इति तिलान्विकीर्य च समन्ततः।)
यवार्थास्तु तिलैः कार्याः कुर्यादर्घ्यादि पूर्ववत् ॥२३४॥
दत्त्वार्घ्यं संस्रवांस्तेषां पात्रे कृत्वा विधानतः।

पितृभ्यः स्थानमसीति न्युब्जं पात्रं करोत्यधः ॥२३५॥

यवार्था यवसाध्यानि कार्याण्यवकिरणादीनि तिलैः कर्तव्यानि। ततोऽर्घ्यपात्रासादनाच्छादनान्तं पूर्ववत्कुर्यात्। तत्रायं विशेषः—तिलान् 'अपहता असुरा रक्षांसि' इत्यादिना मन्त्रेण ब्राह्मणान्परितोऽप्रदक्षिणमन्ववकीर्य राजतादिषु पात्रेषु त्रिष्वयुग्मकुशनिर्मितकूर्चान्तर्हितेषु 'शं नो देवीः' इति मन्त्रेणापः क्षिप्त्वा 'तिलोऽसि सोमदैवत्य' इत्यादिमन्त्रेण तिलान् गन्धपुष्पाणि च क्षिप्त्वा 'स्वधार्घ्याः' इति ब्राह्मणानां पुरतोऽर्घ्यपात्राणि स्थापयित्वा 'या दिव्या' इति मन्त्रान्ते 'पितरिदं तेऽर्घ्यं पितामहेदं तेऽर्घ्यं प्रपितामहेदं तेऽर्घ्यम्' इति ब्राह्मणानां हस्तेष्वर्घ्यं दद्यात्। 'एकैकमुभयत्र वा' इत्यस्मिन्नपि पक्षे पात्रत्रयं कार्यम्। एवमर्घ्यं दत्त्वा तेषामर्घ्याणां संस्रवान्ब्राह्मणहस्तगलितार्घोदकानि पितृपात्रे गृहीत्वा दक्षिणाग्रं कुशस्तम्बं भूमौ निधाय तस्योपरि 'पितृभ्यः स्थानमसि' इत्यनेन मन्त्रेण तत्पात्रं न्युब्जमधोमुखं कुर्यात्। तस्योपरि अर्घ्यपात्रपवित्राणि निदध्यात्। अनन्तरं गन्धपुष्पधूपदीपाच्छादनानि 'पितरयं ते गन्धः, पितरिदं ते पुष्पम्' इत्यादिना प्रयोगेण दद्यात् ॥ २३४-२३५ ॥

'अपहता असुरा रक्षांसि' इत्यादि मन्त्र से चारों ओर तिल बिखेरे । यव से होने वाले सभी कार्यों को (इस समय) तिल से करे और पूर्वोक्त विधि से अर्घ्यादि कृत्य करे । ब्राह्मणों को अर्घ्यजल देकर उसमें से गिरते हुये को पितृपात्र में लेकर उस पात्र को 'पितृभ्यः स्थानमसि' इस मन्त्र से उसका नीचे मुख करके उसके ऊपर अर्घ्य-पात्र पवित्र को रखे (तदनन्तर 'पितरः अयं ते गन्धः पितः इदं ते पुष्पं' इत्यादि कह कर गन्ध-पुष्प दे ।) ॥ २३४-२३५ ॥

अग्नौकरणमाह द्वाभ्याम्—

अग्नौ करिष्यन्नादाय पृच्छत्यन्नं घृतप्लुतम् ।
कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातो हुत्वाग्नौ पितृयज्ञवत् ॥ २३६ ॥
हुतशेषं प्रदद्यात्तु भाजनेषु समाहितः ।
यथालाभोपपन्नेषु रौप्येषु च विशेषतः ॥ २३७ ॥

अनन्तरमग्नौ करिष्यन्घृतप्लुतं घृताक्तमन्नमादाय ब्राह्मणान् पृच्छेत् 'अग्नौ करिष्ये' इति। 'घृत'ग्रहणं सूपशाकादिनिवृत्त्यर्थम्। ततस्तैः कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातः प्राचीनावीती शुद्धमन्नमुपसमाधाय मेक्षणेनादायावदानसंपदा जुहुयात् 'सोमाय पितृमते स्वधा नमः, अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः' इति पिण्डपितृयज्ञकल्पेन अग्नौ हुत्वा मेक्षणमनुप्रहृत्य हुतशेषं मृन्मयवर्जं यथालाभोपपन्नेषु विशेषतो रौप्येषु पित्रादिभाजनेषु दद्यात्, न वैश्वदेवभाजनेषु। समाहितोऽनन्यमनस्कः । अत्र यद्यप्यग्नावित्यविशेषेणोक्तं तथाप्याहिताग्नेः सर्वाधानपक्षे औपासनाग्नेरभावात् पिण्डपितृयज्ञानन्तरभाविनि पार्वणश्राद्धे विहृतदक्षिणाग्नेः'

संनिधानाद्दक्षिणाग्नौ होमः; 'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ' इत्यस्यापवाददर्शनात् । यथाह मार्कण्डेयः—'आहिताग्निस्तु जुहुयाद्दक्षिणाग्नौ समाहितः । अनाहिताग्नि-[3]स्त्वौपसथेऽग्न्यभावे द्विजेऽप्सु वा ॥' इति । अर्धाधानपक्षे त्वौपासनाग्निसद्भावादाहिताग्नेरनाहिताग्नेरिवौपासनाग्नावेवाग्नौकरणहोमः । एवमन्वष्टकादिषु त्रिष्वपि पिण्डपितृयज्ञकल्पातिदेशात् । काम्यादिषु चतुर्षु ब्राह्मणपाणावेव होमः । यथाहुर्गृह्यकाराः—'अन्वष्टक्यं च पूर्वेद्युर्मासि मास्यथ पार्वणम् । काम्यमभ्युदयेऽष्टम्यामेकोद्दिष्टमथाष्टमम् ॥ चतुर्ष्वाद्येषु साग्नीनां वह्नौ होमो विधीयते । पित्र्यब्राह्मणहस्ते स्यादुत्तरेषु चतुर्ष्वपि ॥' अस्यार्थः—हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः' (आश्व. गृ. सू. २।४।१) इत्यष्टका विहिताः । तत्र नवम्यां यत्क्रियते तदन्वष्टक्यम् । सप्तम्यां तु क्रियमाणं पूर्वेद्युः । मासि मासि कृष्णपक्षे पञ्चमीप्रभृतिषु यस्यां कस्यांचित्तिथावन्वष्टक्यातिदेशेन यद्विहितम् । अमावास्यायां पिण्डपितृयज्ञानन्तरं यद्विहितं तत्पार्वणम् । स्वर्गादिकामानां कृत्तिकादिनक्षत्रेषु यद्विहितं तत्काम्यम् । अभ्युदयेषु पुत्रोत्पत्त्यादिषु तडागारामदेवताप्रतिष्ठादिषु च यद्विहितं तदाभ्युदयिकम् । अष्टम्यां अष्टका विहिताः । एकोद्दिष्टम् । अत्रैकोद्दिष्टशब्देन सपिण्डीकरणं [6]लक्ष्यते; तत्रैकोद्दिष्टस्यापि सद्भावात्, साक्षादेकोद्दिष्टे तदभावात् । अथवा,–गृह्यभाष्यकारमते साक्षादेकोद्दिष्टेऽपि पाणिहोमस्य सद्भावात्साक्षादेकोद्दिष्टमेव । एतेषामष्टानामाद्येषु चतुर्षु साग्निकस्याग्नौ होमः । उत्तरेषु चतुर्षु पित्र्यब्राह्मणहस्ते एव । निरग्निकस्यापि प्रमीतपितृकस्य द्विजस्य पार्वणं नित्यमिति तस्यापि पाणावेव होमः; 'न निर्वपति यः श्राद्धं प्रमीतपितृको द्विजः । इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्तीयते तु सः ॥' इति वचनात् । एवं काम्याभ्युदयिकाष्टकैकोद्दिष्टेषु पाणावेव होमः—'अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्' इति (३।२१२) मनुस्मरणात् । पाणिदत्तस्य पृथग्ग्रासप्रतिषेधं उच्यते । यथाहुर्गृह्यकाराः—'अन्नं पाणितले दत्तं पृथगश्नन्त्यबुद्धयः । पितरस्तेन तृप्यन्ति शेषान्नं न लभन्ति ते ॥ यच्च पाणितले दत्तं यच्चान्यदुपकल्पितम् । एकीभावेन भोक्तव्यं पृथग्भावो न विद्यते' इति ॥ २३६–२३७ ॥

अग्नीकरण के घृत से युक्त लेकर ब्राह्मणों की आज्ञा माँगे और उनकी (करो) आज्ञा पाकर पितृयज्ञ के समान उसका अग्नि में हवन करे । हवन से बचे घृताक्त (घृत में सने) अन्न समाहित चित्त से पितृपात्र में रखे । ये पात्र अपनी संपत्ति के अनुसार बनाये गये हों । विशेष रूप से चाँदी के हों ॥ २३६-२३७ ॥

अन्ननिवेदनम्—

दत्त्वान्नं पृथिवीपात्रमिति पात्राभिमन्त्रणम् ।
कृत्वेदं विष्णुरित्यन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत् ॥ २३८ ॥

अन्नमोदनसूपपायसघृतादिकं भाजनेषु दत्त्वा 'पृथिवी ते पात्रं' इत्यादिना

मन्त्रेण पात्राभिमन्त्रणं कृत्वा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ. १।२।७।२) **इत्यनयर्चा अन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत्।** तत्र च वैश्वदेवे यज्ञोपवीती 'विष्णो हव्यं रक्ष' इति। पित्र्ये प्राचीनावीती 'विष्णो कव्यं रक्ष' इति; 'विष्णो हव्यं च कव्यं च ब्रूयाद्रक्षेति वै क्रमात्' इति मनुस्मरणात् ॥ २३८ ॥

अन्न, भात, सूप, पायस, घृत आदि को पात्र में रख कर 'पृथिवि ते पात्रं' इत्यादि मन्त्र से अभिमन्त्रित कर 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (१/२/७/२) इस मन्त्र को पढ़ते हुये अन्न में ब्राह्मण का अङ्गुष्ठ डलवाये ॥ २३८ ॥

सव्याहृतिकां गायत्रीं मधु वाता इति त्र्यृचम्।
जप्त्वा यथासुखं वाच्यं भुञ्जीरंस्तेऽपि वाग्यताः ॥ २३९ ॥

अनन्तरं 'विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमन्नं परिविष्टं परिवेक्ष्यमाणं चातृप्तेः' इति यवोदकेन दैवे निवेद्य, तथा पित्रे 'अमुकगोत्रायामुकशर्मणे इदमन्नं परिविष्टं परिवेक्ष्यमाणं चातृप्तेः' इति तिलोदकप्रदानेन पित्रे निवेद्य, एवं पितामहाय प्रपितामहाय च निवेद्यानन्तरमापोशनं दत्त्वा **पूर्वोक्ताभिर्व्याहृतिभिः सहितां गायत्रीं 'मधु वाता'** (ऋ. १।५।१८) **इति तृचं** मधु मधु मध्विति त्रिवारं **जप्त्वा 'यथासुखं जुषध्वम्' इति ब्रूयात्;** 'संकल्प्य पितृदेवेभ्यः सावित्रीं मधुमज्जपः। श्राद्धं निवेद्यापोशानं जुषप्रैषोऽथ भोजनम् ॥' तथा—'गायत्रीं त्रिः सकृद्वापि जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम्। मधु वाता इति तृचं मध्वित्येतत्त्रिकं तथा ॥' इति पारस्करादिवचनात्। **भुञ्जीरंस्तेऽपि वाग्यताः।** तेऽपि ब्राह्मणा वाग्यता मौनिनो भुञ्जीरन् ॥ २३९ ॥

व्याहृतियों सहित गायत्री तथा 'मधुवाता' तृच (१/५/१८) का जप कर आप लोग सुख से भोजन करे । वे (ब्राह्मण) वाणी से संयत (मौन) होकर भोजन करें ॥ २३९ ॥

टिप्पणी– इस विषय में मनु का कथन है–

> 'अत्युष्णं सर्वमन्नं स्यात् भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः ।
> न च द्विजातयो ब्रूयुः दात्रा पृष्टा हविर्गुणाः' ॥

कुल्लूकभट्ट का मत है कि खिलाने वाले के पूछने पर संकेत से भी ब्राह्मण अन्न के गुण को न कहे ।

अन्नमिष्टं हविष्यं च दद्यादक्रोधनोऽत्वरः।
आ तृप्तेस्तु पवित्राणि जप्त्वा पूर्वजपं तथा ॥ २४० ॥

अन्नं भक्ष्य-भोज्य-लेह्य-चोष्य-पेयात्मकं पञ्चविधं **इष्टं** यद्ब्राह्मणाय प्रेताय कर्त्रे वा रोचते। **हविष्यं** श्राद्धहविर्योग्यं व्रीहिशालियवगोधूममुद्गमाषमुन्यन्नकालशाकम-

हाशल्कैलाशुण्ठीमरीचहिङ्गुगुडशर्कराकर्पूरसैन्धवसांभरपनसनालिकेरकदलीबदरगव्यपयोदधिघृतपायसमधुमांसप्रभृति स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं वेदितव्यम् । 'हविष्यम्' इत्यनेनैवायोग्यस्य स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धस्यकोद्रवमसूरचणककुलित्थपुलाकनिष्पावराजमाषकूष्माण्ड[3]वार्ताकबृहतीद्वयोपोदकीवंशाङ्कुरपिप्पलीवचाशतपुष्पोर्षधबिडलवणमाहिषचामरक्षीरदधिघृतपायसादीनां निवृत्तिः । **अक्रोधनः** क्रोधहेतुसंभवेऽपि । **अत्वरो**ऽव्यग्रश्च । **आ तृप्तेर्दद्या**दिति संबन्धः । 'तु'शब्दाद्यथा किंचिदुच्छिष्यते तथा दद्यात्; उच्छेषणस्य दासवर्गभागधेयत्वात्, 'उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च । दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥' इति (३।२४६) मनुस्मरणात् । तथा **आ तृप्तेः पवित्राणि** पुरुषसूक्तपावमानीप्रभृतीनि **जप्त्वा** तृप्तान् ज्ञात्वा **पूर्वोक्तं जपं च** सव्याहृतिकामित्युक्तं **जपेत्** ॥ २४० ॥

प्रिय तथा हविष्यान्न को क्रोधरहित तथा शीघ्रतारहित होकर (ब्राह्मणों की) तृप्ति पर्यन्त दे और पवित्र (पुरुषसूक्त, पावमानी प्रभृति) मंत्रों का जप करे तथा (उनकी तृप्ति होने पर भी) पूर्वजप को करे ॥ २४० ॥

टिप्पणी– यहाँ इष्ट से भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, पेय जो ब्राह्मणों को रुचिकर हो उसका निर्देश है तथा 'हविष्ये' से श्राद्ध में हवियोग्य,विहित पदार्थों का अभिप्राय है ।

अन्नमादाय तृप्ताः स्थ शेषं चैवानुमान्य च ।
तदन्नं [1]विकिरेद्भूमौ दद्याच्चापः सकृत्सकृत् ॥ २४१ ॥

अनन्तरं सर्व[2]मन्नमादाय **'तृप्ताः स्थ'** इति तान्पृष्ट्वा 'तृप्ताः स्म' इति तैरुक्तः 'शेषमप्यस्ति किं क्रियताम्' इति पृष्ट्वा 'इष्टैः सहोपभुज्यताम्'इत्यभ्युपगम्य **तदन्नं** पितृस्थानब्राह्मणस्य पुरस्तादुच्छिष्टसंनिधौ दक्षिणाग्रदर्भान्तरितायां **भूमौ** तिलोदकप्रक्षेपपूर्वकं—'ये अग्निदग्धा' इत्यनयर्चा निक्षिप्य पुनस्तिलोदकं **प्रक्षिपेत्** । तदनन्तरं ब्राह्मणहस्तेषु पिण्डप्रदानम्—गण्डूषार्थं **सकृत्सकृदपो दद्यात्** ॥२४१॥

तदनन्तर अवशिष्ट अन्न को लेकर उनसे पूछे कि क्या आप तृप्त हैं? और उनका उत्तर पाकर कि 'हम तृप्त हैं' (पुनः पूछे कि इस अवशिष्ट अन्न का क्या करूँ और उनकी आज्ञा पाकर उनकी अनुमति से उस अन्न को पितृस्थानीय ब्राह्मण के सामने उच्छिष्ट अन्न के पास दक्षिणाग्रदर्भ से ढँकी भूमि पर तिलोदक गिराकर 'ये अग्निदग्धा' इस मंत्र से जल गिरा कर पुनः तिलोदक फेंके) । पुनः ब्राह्मण के हाथ में थोड़ा-थोड़ा जल दे ॥ २४१ ॥

सर्वमन्नमुपादाय सतिलं दक्षिणामुखः ।
उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डान्[3]दद्याद्वै पितृयज्ञवत् ॥ २४२ ॥

पिण्डपितृयज्ञकल्पातिदेशेन चरुश्रपणसद्भावे अग्नौकरणशिष्टचरुशेषेण सह सर्वमन्नमुपादायाग्निसंनिधौ **पिण्डान्दद्यात्** । तदभावे ब्राह्मणार्थं [4]कृतमन्नं सर्वमुपादाय **सतिलं** तिलमिश्रं **दक्षिणामुख** [1]**उच्छिष्टसंनिधौ** पिण्डपितृयज्ञकल्पेन **पिण्डान्दद्यात्** ॥ २४२ ॥

तदनन्तर सभी अन्न लेकर तिल के साथ दक्षिणाभिमुख होकर पितृयज्ञ-विधि से उच्छिष्ट के पास पिण्डदान करे ॥ २४२ ॥

अक्षय्योदकदानम्—

मातामहानामप्येवं दद्यादाचमनं ततः ।
स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च ॥ २४३ ॥

मातामहानामपि विश्वेदेवावाहनादिपिण्डप्रदानपर्यन्तं कर्मैवमेव कर्तव्यम् । अनन्तरं **ब्राह्मणानामाचमनं** दद्यात्। **स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यात्** 'स्वस्ति ब्रूत' इति ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयेत् । तैश्च 'स्वस्ति' इत्युक्ते 'अक्षय्यमस्तु इति ब्रूत' इति ब्राह्मणहस्तेषू**दकदानं कुर्यात्** । तैश्चाक्षय्यमस्त्विति वक्तव्यम् ॥ २४३ ॥

मातामहों का भी इसी प्रकार (विश्वेदेवों के आवाहन से पिण्ड-प्रदान तक) करे । तदनन्तर ब्राह्मणों को आचमन दे । फिर ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करावे। अक्षय्य हो, ऐसा कहने के लिये जल दे और अक्षय्य कहे ॥ २४३ ॥

स्वधावाचनम्—

दत्त्वा तु दक्षिणां शक्त्या स्वधाकारमुदाहरेत् ।
वाच्यतामित्यनुज्ञातः प्रकृतेभ्यः स्वधोच्यताम् ॥२४४॥

अनन्तरं यथाशक्ति हिरण्यरजतादि**दक्षिणां दत्त्वा** 'स्वधां वाचयिष्ये' इत्युक्त्वा तैर्ब्राह्मणैः **'वाच्यताम्' इत्यनुज्ञातः प्रकृतेभ्यः** पित्रादिभ्यो मातामहादिभ्यश्च **'स्वधोच्यताम्'** इति **स्वधाकारमुदाहरेत्** ॥ २४४ ॥

शक्ति के अनुसार उन्हें दक्षिणा देकर उनसे स्वधाकार कहने की आज्ञा माँगे और उनकी आज्ञा पाकर उपस्थित (पिता, मातामहादि) के लिये स्वधाकार वाचन करे ॥ २४४ ॥

ब्रूयुरस्तु स्वधेत्युक्ते भूमौ सिञ्चेत्ततो जलम् ।
विश्वे देवाश्च प्रीयन्तां विप्रैश्चोक्त इदं जपेत् ॥ २४५ ॥

ते च ब्राह्मणाः **'अस्तु स्वधा'** इति **ब्रूयुः** । तैरेवमुक्ते अनन्तरं कमण्डलुना **उदकं भूमौ सिञ्चेत्**। ततो **'विश्वे देवाः प्रीयन्ताम्'** इति ब्रूयात्, ब्राह्मणैश्च **'प्रीयन्तां** विश्वे देवा' इत्युक्ते **इद**मनन्तरोच्यमानं **जपेत्** ॥ २४५ ॥

वे भी 'स्वधा' हो ऐसा कहें । तब भूमि पर जल छिड़के । तदनन्तर 'विश्वेदेव प्रसन्न हों' ऐसा कहे और विप्रों के भी ऐसा कहने पर (आगे की प्रार्थना) का जप करे ॥ २४५ ॥

ब्राह्मणप्रार्थना—

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव[1] च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयं च नोऽस्त्विति ॥२४६॥

दातारो हिरण्यादेः **नोऽस्माकं** कुले**ऽभिवर्धन्तां** बहवो भवन्तु । **वेदाश्च वर्धन्तां** अध्ययनाध्यापनतदर्थज्ञानानुष्ठानद्वारेण । **संततिश्च** पुत्रपौत्रादिपरम्परया । **श्रद्धा च** पित्र्ये कर्मण्यास्था **नोऽस्माकं मा व्यगमत्** मा गच्छतु[1] । 'न माङ्योगे' (पा. ६।४।७४) इत्यडभावः । **देयं च** हिरण्यादि **बहु** अपर्यन्तं **अस्माकं भवत्विति** जपेदित्यर्थः ॥ २४६ ॥

हमारे (कुल में हिरण्यादि के) दाता, वेद (अध्ययन, अध्यापन, अर्थज्ञान की परम्परा) और प्रजा (संतानें) बढ़े । (पित्र्यादि कार्यों में) श्रद्धा नष्ट न होवे और दातव्य (स्वर्णादि) हमारे पास प्रचुर होवे ॥ २४६ ॥

इत्युक्त्वोक्त्वा प्रिया वाचः प्रणिपत्य विसर्जयेत् ।
वाजे वाज इति प्रीतः पितृपूर्वं विसर्जनम्[3] ॥ २४७ ॥

एवं पूर्वोक्तं प्रार्थनामन्त्रं जप्त्वा, **उक्त्वा च प्रिया वाचः** 'धन्या वयं भवच्चरणयुगलरजःपवित्रीकृतमस्मन्मन्दिरं शाकाद्यशनक्लेशमविगणय्य भवद्भिरनुगृहीता वयम्' इत्येवंरूपाः । **प्रणिपत्य** प्रदक्षिणापूर्वं नमस्कृत्य **विसर्जयेत्**) कथं विसर्जयेदित्याह—'**वाजे वाजेवत वाजिनो नः**' (ऋ· ५।४।५।८ इत्यनयर्चा **पितृपूर्वं** प्रपितामहादि विश्वेदेवान्तं दर्भान्वारम्भेण 'उत्तिष्ठत पितरः' इति **प्रीतः** सुप्रीतमना **विसर्जनं कुर्यात्**[2] ॥ २४७ ॥

इस मंत्र का जप कर तथा ब्राह्मणों से प्रिय वचन (हम आपके आगमन तथा भोजन से धन्य हुये इत्यादि) कह कर प्रणाम कर उन्हें विदा करे । 'वाजे वाजवत वाजिनो नः' । (ऋ. ५/४/५/८) इस मंत्र से पिता से आरम्भ कर (विश्वेदेव तक) विसर्जन करे ॥ २४७ ॥

यस्मिंस्तु संस्रवाः पूर्वमर्घ्यपात्रे निवेशिताः ।
पितृपात्रं तदुत्तानं कृत्वा विप्रान्विसर्जयेत् ॥ २४८ ॥

यस्मिन्नर्घ्यपात्रे पूर्वमर्घ्यदानान्ते[6] **संस्रवा** ब्राह्मणहस्तगलिताघ्योदकानि **निवेशिताः** स्थापितास्तदर्घ्यपात्रं न्युब्जं **तदुत्तानमूर्ध्वमुखं कृत्वा विप्रान्विसर्जयेत्** । एतच्चाशीर्मन्त्रजपादूर्ध्वं 'वाजे वाजे' इत्यतः प्राग्द्रष्टव्यम् ; 'कृत्वा विसर्जयेत्' इति क्त्वाप्रत्ययश्रवणात् ॥ २४८ ॥

पहले (उलटा किये गये) जिस, अर्घ्य पात्र में ब्राह्मणों के हाथ का जल इकट्ठा किया गया था उस पितृपात्र का मुख ऊपर कर ब्राह्मणों का विसर्जन करे ॥ २४८ ॥

प्रदक्षिणमनुव्रज्य भुञ्जीत पितृसेवितम् ।
ब्रह्मचारी भवेत्तां तु रजनीं ब्राह्मणैः सह ॥ २४९ ॥

अनन्तरमासीमान्तं ब्राह्मणाननुव्रज्य तैः 'गम्यताम्' इत्यनुज्ञातस्तान्प्रदक्षिणीकृत्य प्रतिनिवृत्तः पितृसेवितं श्राद्धशिष्टमिष्टैः सह भुञ्जीत । नियम एवायं, न परिसंख्या । 'मांसे तु यथारुचि' इति 'द्विजकाम्यया' (आ०१७९) इत्यत्रोक्तम् । यस्मिन्दिने श्राद्धं कृतं तत्संबन्धिनीं रात्रिं भोक्तृभिर्ब्राह्मणैः सह कर्ता ब्रह्मचारी भवेत् । तुशब्दात् पुनर्भोजनादिरहितोऽपि भवेत्; 'दन्तधावनताम्बूलं स्निग्धस्नानमभोजनम् । रत्यौषधपरान्नानि श्राद्धकृत् सप्त वर्जयेत् ॥ पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम् । दानं प्रतिग्रहं होमं श्राद्धभुक्त्वष्ट वर्जयेत् ॥' इति वचनात् ॥ २४९ ॥

फिर ब्राह्मणों को कुछ दूर तक पहुँचा कर उनकी आज्ञा से प्रदक्षिणा कर (इष्टजनों सहित) श्राद्धावशिष्ट अन्न का भोजन करे । इस रात (श्राद्ध में आहूत) ब्राह्मणों के साथ श्राद्धकर्ता ब्रह्मचारी रहे ॥ २४९ ॥

एवं पार्वणश्राद्धमुक्त्वेदानीं वृद्धिश्राद्धमाह—

एवं प्रदक्षिणावृत्को वृद्धौ नान्दीमुखान्पितॄन् ।
यजेत दधि[२]कर्कन्धुमिश्रान्पिण्डान्यवैः क्रियाः ॥ २५० ॥

वृद्धौ पुत्रजन्मादिनिमित्ते श्राद्धे **एवमु**क्तेन प्रकारेण **पितॄन्यजेत्** पूजयेत् । तत्र विशेषमाह—**प्रदक्षिणावृत्क** इति । प्रदक्षिणा आवृत् अनुष्ठानपद्धतिर्यस्यासौ **प्रदक्षिणावृत्कः**, प्रदक्षिणप्रचार इति यावत् । 'नान्दीमुखान्' इति पितॄणां विशेषणम् । अतश्चावाहनादौ **'नान्दीमुखान्पितॄनावाहयिष्ये** नान्दीमुखान्पितामहान्' इत्यादिप्रयोगो द्रष्टव्यः । कथं यजेतेत्याह—**दधिकर्कन्धुमिश्रान्** । कर्कन्धुर्बदरीफलम्, **दध्ना** बदरीफलैश्च **मिश्रान्पिण्डान्**दत्त्वा, **'यजेत'**इति संबद्ध्यते । तिलसाध्याः सर्वाः क्रिया यवैः कर्तव्याः । अत्र च ब्राह्मणसंख्या दर्शितैव 'युग्मान्दैवे यथाशक्ति' (आ० २२७) इत्यत्र । प्रदक्षिणावृत्कादिपरिगणनमन्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां विशेषधर्माणां प्रदर्शनार्थम् । यथाहाश्वलायनः—'अथाभ्युदयिके युग्मा ब्राह्मणा अमूला दर्भाः प्राङ्मुखो यज्ञोपवीती स्यात्प्रदक्षिणमुपचारो यवैस्तिलार्थो गन्धादिदानं द्विर्द्विः ऋजुदर्भानासने दद्यात् । 'यवोऽसि सोमदेवत्यो गोसवे देवनिर्मितः । प्रत्नवद्भिः प्रत्तः पुष्ट्या नान्दीमुखान्पितॄनिमाँल्लोकान्प्रीणयाहि नः स्वाहा' इति यवावपनम् । 'विश्वेदेवा इदं वोऽर्घ्यं, नान्दीमुखाः पितर इदं वोऽर्घ्यम्' इति यथालिङ्गमर्घ्यदानम् । पाणौ होमोऽग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहेति । 'मधु वाता ऋतायते' (ऋ. सं. १।६।१८) इति त्र्यृचःस्थाने 'उपास्मै गायत' (ऋ. सं. ६।७।३६) इति पञ्च मधुमतीः श्रावयेत् । 'अक्षन्नमीमदन्त' (ऋ. सं. १।६।३) इति षष्ठीम् ।

आचान्तेषु भुक्ताशयान्गोमयेनोपलिप्य प्राचीनाग्रान्दर्भान्संस्तीर्य तेषु पृषदाज्यमिश्रेण भुक्तशेषेणैकैकस्य द्वौ द्वौ पिण्डौ दद्यादित्यादि। यद्यपि 'पितॄन्यजेत' इति सामान्येनोक्तं, तथापि श्राद्धत्रयं क्रमश्च स्मृत्यन्तरादवगन्तव्यः। यथाह शातातपः—'मातुः श्राद्धं तु पूर्वं स्यात्पितॄणां तदनन्तरम्। ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम् ॥' इति ॥ २५० ॥

इसी प्रकार (पुत्रजन्मादि) वृद्धि के अवसर पर भी नान्दीमुख पितरों का पूजन करना चाहिये । दधि औंर बेर फल से मिश्रित पिण्ड देना चाहिये और (तिल के स्थान पर) यव से क्रियायें करनी चाहिये ॥ २५० ॥

एकोद्दिष्टमाह—

एकोद्दिष्टं देवहीनमेकार्घ्यैकपवित्रकम् ।
आवाहनाग्नौकरणरहितं ह्यपसव्यवत् ॥ २५१ ॥

एकोद्दिष्टं एक उद्दिष्टो यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम्। 'शेषं पूर्ववदाचरेत्' (आ० २५४) इत्युपसंहारात्। पार्वणसकलधर्मप्राप्तौ विशेषोऽभिधीयते। **देवहीनं** देवरहितं वैश्वदेवरहितं **एकार्घ्यपात्रमेकदर्भपवित्रकं च** **आवाहनाग्नौकरण**होमेन च **रहितम्**। **अपसव्यवत्** प्राचीनावीतब्रह्मसूत्रवत्। अनेनानन्तरश्लोकाभ्युदयिके यज्ञोपवीतित्वं सूचयति ॥ २५१ ॥

एकोद्दिष्ट नामक श्राद्ध बिना वैश्वदेव के होता है । इसमें एक अर्घ्य और एक पवित्री होती है । इसमें आवाहन और अग्नीकरण नहीं होता तथा अपसव्य होकर किया जाता है ॥ २५१ ॥

उपतिष्ठतामक्षय्यस्थाने विप्रविसर्जने ।
अभिरम्यतामिति वदेद्ब्रूयुस्तेऽभिरताः स्म ह ॥ २५२ ॥

किंच, यदुक्तं (आ० २४३)—'स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च' इति **तत्राक्षय्यस्थान उपतिष्ठतामिति वदेत्**। विप्रविसर्जने कर्तव्ये 'वाजे वाजे' इति जपानन्तरं 'दर्भान्वारम्भेण अभिरम्यताम्' इति ब्रूयात्। ते च '**अभिरताः स्मः' इति ब्रूयुः**। ह इति प्रसिद्धौ। शेषं पूर्ववदिति यावत्। एतच्च मध्याह्ने कर्तव्यम्, यथाह देवलः—'पूर्वाह्णे दैविकं कर्म अपराह्णे तु पैतृकम्। एकोद्दिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ॥' इति। 'भुञ्जीत पितृसेवितम्' (आ० २४९) इत्येकोद्दिष्टविशेषे निषेधो दृश्यते—'नवश्राद्धेषु यच्छिष्टं गृहे पर्युषितं च यत्। दंपत्योर्भुक्तशिष्टं च न भुञ्जीत कदाचन ॥' इति[2]। नवश्राद्धं च दर्शितम्—'प्रथमेऽह्नि तृतीयेऽह्नि पञ्चमे सप्तमे तथा। नवमैकादशे चैव तन्नवश्राद्धमुच्यते ॥' इति ॥ २५२ ॥

'अक्षय्य' हो के स्थान पर 'उपतिष्ठताम्' (मिले) कहे । विप्रविसर्जन में 'अभिरम्यताम्' कहे और वे ब्राह्मण 'अभिरताः स्मः' कहे ॥ २५२ ॥

सपिण्डीकरणमाह—

गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्यात्पात्रचतुष्टयम् ।
अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत् ॥ २५३ ॥
ये समाना इति द्वाभ्यां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।
एतत्सपिण्डीकरणमेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपि ॥ २५४ ॥

गन्धोदकतिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयं अर्घ्यसिद्ध्यर्थं पूर्वोक्तविधिना कुर्यात् । तिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयमिति वदता पितृवर्गे चत्वारो ब्राह्मणा दर्शिताः । वैश्वदेवे द्वौ स्थितावेव । अत्र प्रेतपात्रोदकं किंचिदवशेषं त्रिधा विभज्य पितृपात्रेषु सेचयेत् 'ये समानाः समनसः' इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् । शेषं विश्वेदेवावाहनादिविसर्जनान्तं पूर्ववत्पार्वणवदाचरेत् । प्रेतार्घ्यपात्रावशिष्टोदकेन प्रेतस्थानब्राह्मणहस्तेऽर्घ्यं दत्त्वा शेषमेकोद्दिष्टवत्समापयेत् । पित्र्येषु त्रिषु पार्वणवदेव । एतत्सपिण्डीकरणमनन्तरोक्तमेकोद्दिष्टं च ततः प्रागुक्तं स्त्रिया अपि मातुरपि कर्तव्यम् । एवं वदता पार्वणे मातृश्राद्धं पृथक्कर्तव्यमित्युक्तं भवति । अत्र 'प्रेत'शब्दं पितुः प्रपितामहविषयं केचिद्वर्णयन्ति; तस्य त्रिष्वन्तर्भावेन सपिण्डीकरणोत्तरकालं पिण्डदानादिनिवृत्त्युपपत्तेः । समनन्तरमृतस्य तूत्तरत्र पिण्डोदकदानानुवृत्तेरन्तर्भावो न युक्तः । अत एवाह यमः—'यः सपिण्डीकृतं प्रेतं पृथक्पिण्डे नियोजयेत् । विधिघ्नस्तेन भवति पितृहा चोपजायते ॥' इति प्रकर्षेण इतः गतो प्रेत इति चतुर्थेऽपि 'प्रेत'शब्दोपपत्तेः । 'प्रेतेभ्य एव निपृणीयात्' इति च प्रयोगदर्शनात् । अपि च—'सपिण्डीकरणं श्राद्धं देवपूर्वं नियोजयेत् । पितॄनेवाशयेत्तत्र पुनः प्रेतं न निर्दिशेत् ॥' इति सपिण्डीकरणोत्तरकालं प्रेतस्य श्राद्धादिप्रतिषेधो दृश्यते, स चानन्तरमृतस्य न संभवति; अमावास्यादौ श्राद्धविधानात् । 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' (मनुः ५।६०) इत्येतदपि वचनं चतुर्थस्य त्रिष्वन्तर्भाव एव घटते, 'चतुर्थस्य पिण्डत्रयव्यापित्वं, पञ्चमस्य पिण्डद्वयव्यापित्वं, षष्ठस्यैकपिण्डव्यापित्वं, सप्तमे निवृत्तिः' इति । पितृपात्रेष्वित्येतदपि पितृमुख्यत्वादस्मिन्नेव पक्षे घटते, नान्यथा; प्रपितामहप्रमुखत्वात् । तस्मात्पितृपात्रेषु तत्प्रेतपात्रं प्रसेचयेदिति पितुः प्रपितामहपात्रं पित्रादिपात्रेषु प्रसेचयेदिति,–तदयुक्तम् । नह्यत्र पिण्डसंयोजनमुत्तरत्र पिण्डदानादिनिवृत्तिप्रयोजकम्, अपि तु पितुः प्रेतत्वनिवृत्त्या पितृत्वप्राप्त्यर्थम् । प्रेतत्वं च क्षुत्तृष्णोपजनितात्यन्तदुःखानुभवावस्था । यथाह मार्कण्डेयः—'प्रेतलोके तु वसतिर्नृणां वर्षं प्रकीर्तिता । क्षुत्तृष्णे प्रत्यहं तत्र भवेतां भृगुनन्दन ॥' इति । पितृत्वप्राप्तिश्च वस्वादिश्राद्धदेवतासंबन्धः । प्राक्तनैकोद्दिष्टसहितेन सपिण्डीकरणेन प्रेतत्वनिवृत्त्या पितृत्वं प्राप्नोतीत्यवगम्यते—'यस्यैतानि न दत्तानि प्रेतश्राद्धानि षोडश । प्रेतत्वं सुस्थिरं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि ॥' इति ।

तथा—'चतुरो निर्वपेत्पिण्डान्पूर्वं तेषु समावपेत्। ततःप्रभृति वै प्रेतः पितृसामान्यमश्नुते ॥' इत्यादिवचनात्। 'यः सपिण्डीकृते प्रेतम्' इत्यनेनापि पृथगेकोद्दिष्टविधानेन पिण्डदाननिषेधात्पार्वणविधानेन सह पिण्डदानमवगम्यते। तच्च सांवत्सरिकपाक्षिकैकोद्दिष्टविधानेनापोद्यते। यदपि 'पुनः प्रेतं न निर्दिशेत्' इति, तदपि प्रेतशब्दं नोच्चारयेत्, अपि तु पितृशब्दमेवेत्येवमर्थम्। नच प्रकर्षगमनात्तत्रैव 'प्रेत'शब्दः। यतो विशिष्टदुःखानुभवावस्था 'प्रेत'शब्देन रूढ्याभिधीयत इत्युक्तम्। योऽपि प्रमीतमात्रे प्रेतशब्दप्रयोगः सोऽपि भूतपूर्वगत्या। 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' इति च प्रथमस्य पिण्डस्य चतुर्थव्यापित्वात्, द्वितीयस्य पञ्चमव्यापित्वात्, तृतीयस्य षष्ठव्यापित्वात्, 'सप्तमे विनिवर्तते' इत्येवमपि घटते। अपि च निर्वाप्यपिण्डान्वयेन न सापिण्ड्यं; अव्यापकत्वात्, अपि त्वेकशरीरावयवान्वयेनेत्युक्तम्। पितृशब्दश्च प्रेतत्वनिवृत्त्या श्राद्धदेवताभूयंगतेषु वर्तत इति पितृपात्रेष्वित्यविरुद्धम्। तस्मादनन्तराचार्येण पूर्वपक्षद्वारेण परमतं दर्शितमित्यर्थः। मृतपात्रोदकस्य तत्पिण्डस्य च पितृपात्रेषु तत्पिण्डेषु च संसर्जनमिति स्थितम्। आचार्यस्तु परमतमेवोपन्यस्तवान्। एतच्च पितुः सपिण्डीकरणं पितामहादिषु त्रिषु प्रमीतेषु वेदितव्यम्। पितरि प्रेते पितामहे प्रपितामहे वा जीवति सपिण्डीकरणं नास्त्येव; 'व्युत्क्रमाच्च प्रमीतानां नैव कार्या सपिण्डता' इति वचनात्। यत्तु मनुवचनं (३।२२१) 'पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः। पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥' इति, तदपि शब्दप्रयोगनियमाय न पिण्डद्वयदानार्थम्। कथम्? 'ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्। पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ॥' सोऽपि पूर्वेषामेव निर्वपेदित्यन्वयः। पक्षद्वयेऽपि कथं निर्वपेदित्याह—'पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम्' (मनुः ३।२२०-२१) इत्याद्यन्तग्रहणेन सर्वत्र पितृभ्यः, पितामहेभ्यः, प्रपितामहेभ्य इत्येवं प्रयोगः, न पुनः कदाचिदपि पितामहस्य प्रपितामहस्य वाऽऽदित्वं वृद्धप्रपितामहस्य तत्पितुर्वाऽन्तत्वम्। अतश्च पितादिशब्दानां संवन्धिवचनत्वात् ध्रियमाणेऽपि पितरि पितुः पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्य इति, पितामहे ध्रियमाणे पितामहस्य पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्य इति। अतश्च पिण्डपितृयज्ञे 'शुन्धन्तां पितरः' इत्यादिमन्त्राणामूहो न भविष्यति। यदपि विष्णुवचनं 'यस्य पिता प्रेतः स्यात्स पितृपिण्डं निधाय पितामहात्पराभ्यां द्वाभ्यां दद्यात्' इति, तस्यायमर्थः—पितामहे ध्रियमाणे प्रेते च पितरि पितुरेकं पिण्डमेकोद्दिष्टविधानेन निधाय पितुर्यः पितामहस्ततः पराभ्यां द्वाभ्यां दद्यात्। पितामहस्त्वात्मनः प्रपितामहः संप्रदानभूतः स्थित एवेति। प्रपितामहाय ततः पराभ्यां द्वाभ्यां च दद्यादिति। शब्दप्रयोगनियमस्तु पूर्वोक्त एव। एवं गोब्राह्मणादिहतस्यापि सपिण्डीकरणाभावो वेदितव्यः। यथाह कात्यायनः—'ब्राह्मणादिहते ताते पतिते संगवर्जिते। व्युत्क्रमाच्च मृते देयं येभ्य एव ददात्यसौ ॥' इति। गोब्राह्मणहतस्य पितुः सपिण्डीकरणसंभवे तमुल्लंघ्य पितामहादिभ्यः पार्वणविधानमनुपपन्नमिति सपिण्डीकरणाभावोऽवगम्यते। स्मृत्यन्तरेऽपि—'ये नराः संततिच्छिन्ना नास्ति तेषां सपिण्डता। न चैतैः सह कर्तव्यः

न्येकोद्दिष्टानि षोडश ॥' इति । मातुः सपिण्डनादौ गोत्रे विप्रतिपत्तिः; भर्तृगोत्रेण पितृगोत्रेण वा दातव्यमिति; उभयत्र वचनदर्शनात् । 'स्वगोत्राद्भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे । स्वामिगोत्रेण कर्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रिया ॥' इत्यादिभर्तृगोत्रविषयं वचनम्, 'पितृगोत्रं समुत्सृज्य न कुर्याद्भर्तृगोत्रतः । जन्मन्येव विपत्तौ च नारीणां पैतृकं कुलम् ॥' इत्यादिपितृगोत्रविषयम् । एवं विप्रतिपत्तावासुरादिविवाहेषु पुत्रिकाकरणे च पितृगोत्रमेव; तत्र तत्र विशेषवचनात् दानस्यानिवृत्तेश्च । ब्राह्मादिविवाहेषु व्रीहियववत् बृहद्रथन्तरसामवत् विकल्प एव । तत्र च—'येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न दुष्यति ॥' इति (मनुः ४।१७८) वचनात् वंशपरम्परायातसमाचरणेन व्यवस्था । एवंविधविषयव्यतिरेकेणास्य वचनस्य विषयान्तराभावात् । यत्र पुनः शास्त्रतो न व्यवस्था, नाप्याचारस्तत्र 'आत्मनस्तुष्टिरेव वा' इति वचनादात्मनस्तुष्टिरेव व्यवस्थापिका, यथा—'गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे' (आ० १४) इति । मातुः सपिण्डीकरणेऽपि विरुद्धानि वाक्यानि दृश्यन्ते, तत्र 'पितामह्यादिभिः सार्धं सपिण्डीकरणं स्मृतम्' । तथा भर्त्रापि भार्यायाः स्वमात्रादिभिः सह सपिण्डीकरणं कर्तव्यमिति पैठीनसिराह—'अपुत्रायां मृतायां तु पतिः कुर्यात्सपिण्डताम् । श्वश्र्वादिभिः सहैवास्याः सपिण्डीकरणं भवेत् ॥' इति । पत्या सह सपिण्डीकरणं यम आह—'पत्या चैकेन कर्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियाः । सा मृतापि हि तेनैक्यं गता मन्त्राहुतिव्रतैः ॥' इति । उशनसा तु मातामहेन सह सपिण्डीकरणमुक्तम्—'पितुः पितामहे यद्वत्पूर्णे संवत्सरे सुतैः । मातुर्मातामहे तद्वदेषा कार्या सपिण्डता ॥' तथा—'पिता पितामहे योज्यः पूर्णे संवत्सरे सुतैः । माता मातामहे तद्वदित्याह भगवाञ्छिवः ॥' इत्येवंविधेषु वचनेषु सत्सु अपुत्रायां भार्यायां प्रमीतायां भर्ता स्वमात्रैव सापिण्ड्यं कुर्यात् । अन्वारोहणे तु पुत्रः स्वपित्रैव मातुः सापिण्ड्यं कुर्यात् । आसुरादिविवाहोत्पन्नः पुत्रिकासुतश्च मातामहेनैव । ब्राह्मादिविवाहोत्पन्नः पित्रा मातामहेन पितामह्या वा विकल्पेन कुर्यात् । अत्रापि यदि नियतो वंशसमाचारस्तदानीं तथैव कुर्यात् । वंशसमाचारोऽप्यनियतश्चेत्तदा 'आत्मनस्तुष्टिरेव च' इति यथारुचि कुर्यात् । तत्र च येन केनापि मातुः सापिण्डयेऽपि यत्रान्वष्टकादिषु मातृश्राद्धं पृथग्विहितम्,—'अन्वष्टकासु वृद्धौ च गयायां च क्षयेऽहनि । मातुः श्राद्धं पृथक्कुर्यादन्यत्र पतिना सह ॥' इति, तत्र पितामह्यादिभिरेव पार्वणश्राद्धं कर्तव्यम्; 'अन्यत्र पतिना सह' इति पतिसापिण्ड्ये तदंशभागित्वात् । मातामहसापिण्डये तदंशभागित्वात्तेनैव सह । यथाह शातातपः—'एकमूर्तित्वमायाति सपिण्डीकरणे कृते । पत्नी पतिपितॄणां च तस्मादंशेन भागिनी ॥' इति । एवं सति मातामहेन मातुः सापिण्ड्ये मातामहश्राद्धं पितृश्राद्धवन्नित्यमेव । पत्या पितामह्या वा मातुः सापिण्ड्ये मातामहश्राद्धं न नित्यम् । कृते अभ्युदयः, अकृते न प्रत्यवाय इति निर्णयः ॥ २५३–२५४ ॥

(सपिण्डीकरण में) गन्ध, जल और तिल से युक्त चार पात्र बनावे । ये 'समानाः समनसः' इत्यादि दो मंत्रों से प्रेतपात्र का जल तीन भाग करके पितृपात्रों में डाले । शेष (विश्वेदेव के आवाहन से विसर्जन तक) पूर्ववत् (पार्वण श्राद्ध के समान) करे । यह सपिण्डीकरण है । एकोद्दिष्ट स्त्री के लिये भी होता है ॥ २५३-२५४ ॥

अर्वाक्सपिण्डीकरणं यस्य संवत्सराद्भवेत् ।
तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात्संवत्सरं द्विजे ॥ २५५ ॥

संवत्सरादर्वाक् सपिण्डीकरणं यस्य कृतं तस्य तदुद्देशेन प्रतिदिवसं प्रतिमासं वा यावत्संवत्सरं शक्त्यनुसारेणान्नमुदकुम्भसहितं ब्राह्मणाय दद्यात् । 'अर्वाक्संवत्सरात्'इति वदता सपिण्डीकरणं संवत्सरे पूर्णे प्रागेवेति दर्शितम् । यथाह्याश्वलायनः (१।३।११)—'अथ सपिण्डीकरणं संवत्सरान्ते द्वादशाहे वा' इति । कात्यायनोऽप्याह (३।३।११)—'ततः संवत्सरे पूर्णे सपिण्डीकरणं त्रिपक्षे वा यदहर्वा वृद्धिरापद्येते' इति । द्वादशाहे, त्रिपक्षे, वृद्धिप्राप्तौ, संवत्सरे वेति चत्वारः पक्षा दर्शिताः । तत्र द्वादशाहे पितुः सपिण्डीकरणं साग्निकेन कार्यम्; सपिण्डीकरणं विना पिण्डपितृयज्ञासिद्धेः, 'साग्निकस्तु यदा कर्ता प्रेतो वाऽप्यग्निमान्भवेत् । द्वादशाहे तदा कार्यं सपिण्डीकरणं पितुः ॥' इति वचनात् । निरग्निकस्तु त्रिपक्षे वृद्धिप्राप्तौ संवत्सरे वा कुर्यात् । यदा प्राक्संवत्सरात्सपिण्डीकरणं तदा षोडशश्राद्धानि कृत्वा सपिण्डीकरणं कार्यम्, उत सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वस्वकाले तानि कर्तव्यानीति संशयः; उभयथा वचनदर्शनात्, 'श्राद्धानि षोडशादत्त्वा नैव कुर्यात्सपिण्डताम् । श्राद्धानि षोडशापाद्य विदधीत सपिण्डताम् ॥' इति । षोडशश्राद्धानि च—'द्वादशाहे त्रिपक्षे च षण्मासे मासि चाब्दिके । श्राद्धानि षोडशैतानि संस्मृतानि मनीषिभिः ॥' इति दर्शितानि । तथा—'यस्यापि वत्सरादर्वाक्सपिण्डीकरणं भवेत् । मासिकं चोदकुम्भं च देयं तस्यापि वत्सरम् ॥' इति । तत्र सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वकाल एवैतानि कर्तव्यानीति प्रथमः कल्पः; अप्राप्तकालत्वेन प्रागनधिकारात् । यदपि वचनं–'षोडशश्राद्धानि कृत्वैव सपिण्डीकरणं संवत्सरात्प्रागपि कर्तव्यम्' इति, सोऽयमापत्कल्पः । यदा त्वापत्कल्पत्वेन प्राक्सपिण्डीकरणात् प्रेतश्राद्धानि करोति, तदैकोद्दिष्टविधानेन कुर्यात् । यदा तु मुख्यकल्पेन स्वकाल एव करोति तदाब्दिकं श्राद्धं यो यथा करोति पार्वणमेकोद्दिष्टं वा तथा मासिकानि कुर्यात्; 'सपिण्डीकरणादर्वाक्कुर्वन् श्राद्धानि षोडश । एकोद्दिष्टविधानेन कुर्यात्सर्वाणि तानि तु ॥ सपिण्डीकरणादूर्ध्वं यदा कुर्यात्तदा पुनः । प्रत्यब्दं यो यथा कुर्यात्तथा कुर्यात्स तान्यपि ॥' इति स्मरणात् । एतच्च प्रेतश्राद्धसहितं सपिण्डीकरणं संविभक्तधनेषु बहुषु भ्रातृषु सत्स्वप्येकेनैव कृतेनालं, न सर्वैः कर्तव्यम्; 'नवश्राद्धं सपिण्डत्वं श्राद्धान्यपि च षोडश । एकेनैव तु कार्याणि संविभक्तधनेष्वपि ॥' इति स्मरणात् । इदं च प्रेतश्राद्धसहितं सपिण्डी-

करणं असंन्यासिनां पुत्रादिभिर्नियमेन कर्तव्यम्, प्रेतत्वविमोक्षार्थत्वात् संन्यासिनां तु न कर्तव्यम् । यथाहोशनाः—'एकोद्दिष्टं न कुर्वीत यतीनां चैव सर्वदा । अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते ॥ सपिण्डीकरणं तेषां न कर्तव्यं सुतादिभिः । त्रिदण्डग्रहणादेव प्रेतत्वं नैव जायते ॥' इति । पुत्रासंनिधाने येन सगोत्रादिना दाहसंस्कारः कृतस्तेनैवादशाहान्तं तत्प्रेतकर्म कर्तव्यम्—'असगोत्रः सगोत्रो वा स्त्री दद्याद्यदि वा पुमान् । प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दशाहं समापयेत् ॥' इति स्मरणात् । शूद्राणामप्येतत्कर्तव्यममन्त्रकं द्वादशेऽह्नि—'एवं सपिण्डीकरणं मन्त्रवर्ज्यं शूद्राणां द्वादशेऽह्नि' इति विष्णुस्मरणात् । सपिण्डीकरणादूर्ध्वं सांवत्सरिकपार्वणादीनि पुत्रस्य नियमेनैव कार्याणि, अन्येषामनियतानि ॥ २५५ ॥

जिसका सपिण्डीकरण एक वर्ष से पहले ही कर दिया गया हो उसके लिये भी प्रतिदिन या प्रतिमास यथाशक्ति जलकुम्भ तथा अन्न ब्राह्मण को दे ॥ २५५ ॥

एकोद्दिष्टकालानाह—

मृतेऽहनि प्रकर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् ।
प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥ २५६ ॥

मृतेऽहनि प्रतिमासं संवत्सरं यावदेकोद्दिष्टं कार्यम् । सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवत्सरमेकोद्दिष्टमेव कर्तव्यम् । आद्यं सर्वैकोद्दिष्टप्रकृतिभूतमेकोद्दिष्टमेकादशेऽहनि । मृतदिवसापरिज्ञाने तच्छ्रवणदिवसे अमावास्यायां वा कार्यम् । 'अपरिज्ञाते मृतेऽहनि अमावास्यायां श्रवणदिवसे वा' इति स्मरणात् । अमावास्यायामिति गमनमाससंबन्धिन्यमावास्यायाम्—'प्रवासदिवसे देयं तन्मासेन्दुक्षयेऽपि वा' इति स्मरणात् । 'मृतेऽहनि' इत्यत्राहिताग्नेर्विशेषो जातूकर्ण्येनोक्तः—'ऊर्ध्वं त्रिपक्षाद्यच्छ्राद्धं मृतेऽहन्येव तद्भवेत् । अधस्तु कारयेद्दाहादाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥' इति । तत्र त्रिपक्षादर्वाग्यत्प्रेतकर्म तद्दाहदिवसादारभ्याहिताग्नेः कार्यम्, त्रिपक्षादूर्ध्वं यच्छ्राद्धं तन्मरणदिवस एवेत्यर्थः । अनाहिताग्नेस्तु सर्वं मृताहे एव । 'आद्यमेकादशेऽहनि' इत्याशौचोपलक्षणमिति केचित्; 'शुचिना कर्म कर्तव्यं' इति शुद्धेरङ्गत्वात्, 'अथाशौचापगमे' (२१।१) इति सामान्येन सर्वेषां वर्णानामुपक्रम्यैकोद्दिष्टस्य विष्णुना विहितत्वाच्च । तदयुक्तम्,—'एकादशेऽह्नि यच्छ्राद्धं तत्सामान्यमुदाहृतम् । चतुर्णामपि वर्णानां सूतकं च पृथक्पृथक् ॥' इति पैठीनसिस्मरणविरोधात्, 'आद्यं श्राद्धमशुद्धोऽपि कुर्यादेकादशेऽहनि । कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिरशुद्धः पुनरेव सः ॥' इति शङ्खवचनविरोधाच्च । सामान्योपक्रमं विष्णुवचनं दशाहाशौचविषयमपि घटते । 'प्रतिसंवत्सरं चैवम्' इति प्रतिसंवत्सरं मृतेऽहन्येकोद्दिष्टमुपदिष्टं योगीश्वरेण । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'वर्षे वर्षे तु कर्तव्या मातापित्रोस्तु सत्क्रिया । अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं च निर्वपेत् ॥' इति । यमोऽप्याह—'सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवत्सरं सुतैः । मातापित्रोः पृथक्कार्यमेकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति । व्यासस्तु पार्वणं प्रतिषेधति—'एकोद्दिष्टं परित्यज्य

पार्वणं कुरुते नरः। अकृतं तद्विजानीयात्स भवेत्पितृघातकः ॥' इति। जमदग्निस्तु पार्वणमाह—'आपाद्य च सपिण्डत्वमौरसो विधिवत्सुतः। कुर्वीत दर्शवच्छ्राद्धं मातापित्रोः क्षयेऽहनि ॥' इति। शातातपोऽप्याह—'सपिण्डीकरणं कृत्वा कुर्यात्पार्वणवत्सदा। प्रतिसंवत्सरं विद्वांश्छागलेयोदितो विधिः ॥' इति। एवं वचनविप्रतिपत्तौ दाक्षिणात्या ह्येवं व्यवस्थामाहुः—'औरसक्षेत्रजाभ्यां मातापित्रोः क्षयाहे पार्वणमेव कर्तव्यं, दत्तकादिभिरेकोद्दिष्टम्' इति; जातूकर्ण्यवचनात् 'प्रत्यब्दं पार्वणेनैव विधिना क्षेत्रजौरसौ। कुर्यातामितरे कुर्युरेकोद्दिष्टं सुता दश ॥' इति,—तदसत्; नह्यत्र क्षयाहवचनमस्ति, अपि तु प्रत्यब्दमिति। सन्ति च क्षयाहव्यतिरिक्तानि प्रत्यब्दश्राद्धान्यक्षय्यतृतीयामाघीवैशाखीप्रभृतिषु। अतो न क्षयाहविषयपार्वणैकोद्दिष्टव्यवस्थापनयाऽलम्। यत्तु पराशरवचनम्—'पितुर्गतस्य देवत्वमौरसस्य त्रिपौरुषम्। सर्वत्रानेक[1]गोत्राणामेकस्यैव मृतेऽहनि ॥ इति,—तदपि न व्यवस्थापकम्। यस्मादयमर्थः—देवत्वं गतस्य सपिण्डीकृतस्य पितुः सर्वत्रौरसेन त्रिपौरुषं पार्वणं कार्यम्, अनेकगोत्राणां भिन्नगोत्राणां मातुलादीनां क्षयेऽहनि यच्छ्राद्धं तदेकस्यैवैकोद्दिष्टमेवेति। किंच, 'सपिण्डीकरणादूर्ध्वमप्येकोद्दिष्टमेव कर्तव्यमौरसेनापि इत्युक्तं पैठीनसिना—'एकोद्दिष्टं हि कर्तव्यमौरसेन मृतेऽहनि। सपिण्डीकरणादूर्ध्वं मातापित्रोर्न पार्वणम् ॥' इति ॥ उदीच्याः पुनरेवं व्यवस्थापयन्ति—अमावास्यायां भाद्रपदकृष्णपक्षे त्वामृताहे पार्वणम्, अन्यत्र मृताहे एकोद्दिष्टमेवेति; 'अमावास्याक्षयो यस्य प्रेतपक्षेऽथवा पुनः। पार्वणं तत्र कर्तव्यं नैकोद्दिष्टं कदाचन ॥' इति स्मरणात्। तदपि नाद्रियन्ते वृद्धाः[2]। अनिश्चितमूलेनानेन वचनेन निश्चितमूलानां बहूनां क्षयाहमात्रपार्वणविषयाणां वचनानाममावास्याप्रेतपक्षमृताहविषयत्वेनातिसंकोच[3]स्यायुक्तत्वात्, सामान्यवचनानर्थक्याच्च। तत्र हि सामान्यवचनस्य विशेषवचनेनोपसंहारः, यत्र सामान्यविशेषसंबन्धज्ञानेन वचनद्वयमर्थवत्। यथा 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' इत्यनारभ्याधीतस्य विकृतिमात्रविषयस्य सप्तदशवाक्यस्य सामिधेनीलक्षणद्वारा संबन्धेनार्थवतो मित्रविन्दादिप्रकरणपठितेन साप्तदश्यवाक्येन मित्रविन्दाद्यधिकारापूर्वसंबन्धबोधनार्थवता मित्रविन्दादिप्रकरणं उपसंहारः। इह तु द्वयोर्मृताहमात्रविषयत्वान्नार्थवत्तेति। अतोऽत्र पाक्षिकैकोद्दिष्टनिवृत्तिफलकतया पार्वणनियमविधानं युक्तम्। नचैकोद्दिष्टवचनानां मातापितृक्षयाहविषयत्वेन पार्वणवचनानां च तदन्यक्षयाहविषयत्वेन व्यवस्था युक्ता; उभयत्रापि मातापितृसुतग्रहणस्य विद्यमानत्वात्—'सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवत्सरं सुतैः। मातापित्रोः पृथक्कार्यमेकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति, तथा—'आपाद्य सहपिण्डत्वमौरसो विधिवत्सुतः। कुर्वीत दर्शवच्छ्राद्धं मातापित्रोः क्षयेऽहनि ॥' इति। यदपि कैश्चिदुच्यते—मातापित्रोः क्षयाहे साग्निः पार्वणं कुर्यान्निरग्निरेकोद्दिष्ट'मिति,—'वर्षे वर्षे सुतः कुर्यात्पार्वणं योऽग्निमान्द्विजः। पित्रोरनग्निमान्धीर एकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति सुमन्तुस्मरणादिति,—तदपि सत्प्रतिपक्षत्वादुपेक्षणीयम्; बह्वग्नयस्तु ये विप्रा ये चैकाग्नय एव च। तेषां सपिण्डनादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥' इति स्मरणात्। तत्रैवं निर्णयः—संन्या

सिनां क्षयाहे सुतेन पार्वणमेव कर्तव्यम्; 'एकोद्दिष्टं यतेर्नास्ति त्रिदण्डग्रहणादिह । सपिण्डीकरणाभावात्पार्वणं तस्य सर्वदा ॥' इति प्रचेतःस्मरणात् । अमावास्याक्षयाहे प्रेतपक्षक्षयाहे च पार्वणमेव; 'अमावास्याक्षयो यस्य प्रेतपक्षेऽथवा पुनः' (लघुशंख.१७) इत्यादिवचनस्योक्तरीत्या नियमपरत्वात् । अन्यत्र क्षयाहे पार्वणैकोद्दिष्टयोर्व्रीहियवचद्विकल्प एव । तथापि वंशसमाचारव्यवस्थायां सत्यां व्यवस्थिते, असत्यामैच्छिक इत्यलमतिप्रसंगेन ॥ २५६ ॥

(एकोद्दिष्ट श्राद्ध) वर्ष-पर्यन्त प्रत्येक महीने में मृत्यु दिवस (तिथि) को करना चाहिये और (आगे इसी प्रकार) प्रतिवर्ष (मृत्यु-तिथि को) करना चाहिये । पहला एकोद्दिष्ट ग्यारहवें दिन को होता है ॥ २५६ ॥

नित्यश्राद्धव्यतिरिक्तसर्वश्राद्धशेषमिदमभिधीयते—

पिण्डांस्तु गोऽजविप्रेभ्यो दद्यादग्नौ जलेऽपि वा ।
प्रक्षिपेत्सत्सु विप्रेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेत् ॥ २५७ ॥

पूर्वदत्तानां पिण्डानां पिण्डस्य वा प्रतिपत्तिरियम्—गवे अजाय ब्राह्मणाय वा तदर्थिने पिण्डान्दद्यात् । अग्नावग.धे जलेऽपि वा प्रक्षिपेत् । किंच सत्सु विप्रेषु भोजनदेशावस्थितेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेन्नोद्वासयेत्॥२५७॥

(पूर्व प्रदत्त) पिण्डों को गाय, बकरा (उसके याचक) ब्राह्मण को दे या अग्नि या जल में फेंक दे । ब्राह्मणों के वहाँ रहने पर उनके उच्छिष्ट को झाडू न दे ॥२५७ ॥

भोज्यविशेषेण फलविशेषमाह—

हविष्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वत्सरम् ।
मात्स्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः ॥ २५८ ॥
ऐणरौरववाराहशाशैर्मांसैर्यथाक्रमम् ।
मासवृद्ध्याभितृप्यन्ति दत्तैरिह पितामहाः ॥ २५९ ॥

हविष्यं हविर्योग्यं तिलव्रीह्यादि । यथाह मनुः (३।२६७)—'तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा । दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥' इति । तदन्नं हविष्यान्नं तेन मासं पितरस्तृप्यन्तीत्यनागतेनान्वयः । पायसेन गव्यपयःसिद्धेन संवत्सरम्; 'संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च' इति (मनुः ३।२७१) स्मरणात् । मत्स्यो भक्ष्यः पाठीनादिस्तस्येदं मात्स्यम् । हरिणस्ताम्रमृगः । एणः कृष्णः; 'एणः कृष्णमृगो ज्ञेयस्ताम्रो हरिण उच्यते' इत्यायुर्वेदस्मरणात् । तस्येदं हारिणकम् । अविरुरभ्रस्तत्संबन्धि औरभ्रम् । शकुनिस्तित्तिरिस्तत्संबन्धि शाकुनम्, छागोऽजस्तदीयं छागम्, पृषच्चित्रमृगस्तन्मांसं पार्षतम् । एणः कृष्णमृगस्तत्पिशितमैणम्, रुरुः शंबरस्तत्प्रभवं

रौरवम्, वराहि आरण्यसूकरस्तज्जं **वाराहम्** । शशस्येदं **शाशम्**, एभिर्मांसैः पितृभ्यो 'दत्तैर्हविष्यान्नेन वै मासम्' इत्युक्तत्वात्तत ऊर्ध्वं यथाक्रममेकैकमासवृद्ध्या पितरस्तृप्यन्ति ॥ २५८–२५९ ॥

पितामह (पितर) हविष्यान्न से एक मास तक, पायस (खीर) से एक वर्ष तक, (पाठीनादि) मछली, हरिण (ताम्रमृग), भेड़ा, तित्तिर, बकरा, पृषत् (चित्रमृग), कृष्णमृग, रुरुमृग, वराह और खरगोश के मांस को श्राद्ध में देने से पितर क्रमशः एक-एक मास अधिक तक तृप्त रहते हैं ॥ २५८-२५९ ॥

खड्गामिषं महाशल्कं मधु मुन्यन्नमेव वा ।
लौहामिषं महाशाकं मांसं वार्ध्रीणसस्य च ॥ २६० ॥
यद्ददाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते ।
तथा वर्षात्रयोदश्यां मघासु च विशेषतः ॥ २६१ ॥

किंच, **खड्गो** गण्डकस्तस्य मांसम्, **महाशल्को** मत्स्यभेदः, **मधु** माक्षिकम् । **मुन्यन्नं** सर्वमारण्यं नीवारादि, लोहो रक्तश्छागस्तदामिषं **लौहामिषम्** । **महाशाकं** कालशाकम् । **वार्ध्रीणसो** वृद्धः श्वेतच्छागः—'त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं वृद्धं श्वेतमजापतिम् । वार्ध्रीणसं तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः श्राद्धकर्मणि ॥' इति याज्ञिकप्रसिद्धः । त्रिपिबः पिबतः कर्णौ जिह्वा च यस्य जलं स्पृशति सः, त्रिभिः पिबतीति त्रिपिबः, तस्य वार्ध्रीणसस्य मांसम् । यद्ददाति गयास्थश्च यत्किंचिच्छाकादिकमपि गयास्थो ददाति । चशब्दाद्गङ्गाद्वारादिषु च—'गङ्गाद्वारे प्रयागे च नैमिषे पुष्करेऽर्बुदे । संनिहत्यां गयायां च श्राद्धमक्षय्यतां व्रजेत् ॥', 'आनन्त्यमश्नुते' इति अनन्तफलहेतुत्वं प्राप्नोति । 'आनन्त्यमश्नुते' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । तथा वर्षात्रयोदश्यां भाद्रपदकृष्णत्रयोदश्यां विशेषतो मघायुक्तायां यत्किंचिद्दीयते तत्सर्वमानन्त्यमश्नुत इति गतेन संबन्धः ॥ अत्र यद्यपि मुन्यन्नमांसमध्वादीनि सर्ववर्णानां सामान्येन श्राद्धे योग्यानि दर्शितानि, तथापि पुलस्त्योक्ता व्यवस्थादरणीया ।—'मुन्यन्नं ब्राह्मणस्योक्तं मांसं क्षत्रियवैश्ययोः । मधुप्रदानं शूद्रस्य सर्वेषां चाविरोधि यत् ॥' इति । अस्यार्थः—मुन्यन्नं नीवारादि यच्छ्राद्धयोग्यमुक्तं तद्ब्राह्मणस्य प्रधानं समग्रफलदम्, यच्च मांसमुक्तं तत्क्षत्रियवैश्ययोः प्रधानम् । यत्क्षौद्रमुक्तं तच्छूद्रस्य । एतत्त्रितयव्यतिरिक्तं यदविरोधि यदप्रतिषिद्धं वास्तुकादि, यच्च विहितं हविष्यं कालशाकादि, तत्सर्वेषां समग्रफलदमिति ॥ २६०–२६१ ॥

जो गैड़े का मांस, महाशल्क (मत्स्य), मधु या मुनियें का अन्न (तीनी का चावल), काले बकरे का मांस, काल शाक, श्वेत वर्ण के वृद्ध बकरे का मांस देता है और गया में स्थित होकर (जो कुछ भी शाक आदि) देता है और भाद्रपद मास की कृष्ण त्रयोदशी विशेषतः मघा नक्षत्र युक्त त्रयोदशी में देता है– ये सभी अनन्त फलदायक हैं ॥ २६०-२६१ ॥

तिथिविशेषात्फलविशेषमाह—

कन्यां कन्यावेदिनश्च पशून्वै सत्सुतानपि ।
द्यूतं कृषिं वणिज्यां च द्विशफैकशफांस्तथा ॥ २६२ ॥
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रान्स्वर्णरूप्ये सकुप्यके ।
ज्ञातिश्रैष्ठ्यं सर्वकामानाप्नोति श्राद्धदः सदा ॥ २६३ ॥
प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
शस्त्रेण तु हता ये वै तेभ्यस्तत्र प्रदीयते ॥ २६४ ॥

कन्यां रूपलक्षणशीलवतीम्, **कन्यावेदिनो** जामातरो बुद्धिरूपलक्षणसंपन्नाः । **पशवः** क्षुद्रा अजादयः, **सत्सुता** सन्मार्गवर्तिनः, **द्यूतं** द्यूतविजयः, **कृषिः** कृषिफलम्, **वणिज्या** वाणिज्यलाभः, **द्विशफा** गवादयः, **एकशफा** अश्वादयः, **ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्राः** वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानजनितं तेजो ब्रह्मवर्चसं तद्वन्तः, **स्वर्णरूप्ये** हेमरजते, तद्व्यतिरिक्तं त्रपुसीसकादि **कुप्यकम्**, **ज्ञातिश्रैष्ठ्यं** जातिषूत्कृष्टत्वम्, **सर्वकामाः** काम्यन्त इति कामाः स्वर्गपुत्रपश्वादयः, एतानि कन्यादीनि चतुर्दशफलानि कृष्णपक्षप्रतिपत्प्रभृतिष्वमावास्यापर्यन्तासु चतुर्दशीवर्जितासु चतुर्दशसु तिथिषु **श्राद्धदो** यथाक्रममाप्नोति । **ये** केचन **शस्त्रहतास्तेभ्यः** कृष्णचतुर्दश्यामेकोद्दिष्टविधिना **श्राद्धं दद्यात्**, यदि ब्राह्मणादिहता न भवन्ति; 'समत्वमागतस्यापि पितुः शस्त्रहतस्य वै । एकोद्दिष्टं सुतैः कार्यं चतुर्दश्यां महालये ॥' इति स्मरणात् । समत्वमागतस्य सपिण्डीकृतस्य पितुर्महालये भाद्रपदकृष्णचतुर्दश्यां शस्त्रहतस्यैव श्राद्धं नान्यस्येति नियम्यते, न पुनः शस्त्रहतस्य चतुर्दश्यामेवेति । अतश्च क्षयाहादौ शस्त्रहतस्यापि यथाप्राप्तमेव श्राद्धम् । नच भाद्रपदकृष्णपक्ष एवायं विधिरिति मन्तव्यम्; 'प्रौष्ठपद्यामपरपक्षे मासि मासि चैवम्' इति शौनकस्मरणात् ॥ २६२–२६४ ॥

(कृष्णपक्ष की) प्रतिपदा तिथि से प्रारम्भ कर, चतुर्दशी को छोड़कर अमावस्या तक श्राद्ध करने में प्रतिपदादि प्रत्येक तिथि में श्राद्ध करने वाला क्रमशः इन फलों को प्राप्त करता है– कन्या, (बुद्धि रूप लक्षण युक्त) दामाद, पशु, सत्पुत्र, द्यूत (में जय), कृषि, वाणिज्यलाभ, दो खुर वाले गाय आदि पशु, एक खुर वाले अश्वादि पशु, ब्रह्मतेजस्वी संतान, सोना-चाँदी, ताँबा-सीसा, जाति में श्रेष्ठता और सभी कामनाओं को । चतुर्दशी में केवल उन्हीं के लिये श्राद्ध किया जाता है जो शस्त्र से मारे गये हैं ॥ २६२-२६४ ॥

नक्षत्रविशेषात्फलविशेषमाह–

स्वर्गं ह्यपत्यमोजश्च शौर्यं क्षेत्रं बलं तथा ।
पुत्रं श्रैष्ठ्यं च सौभाग्यं समृद्धिं मुख्यतां शुभम् ॥२६५॥

प्रवृत्तचक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीनपि ।
अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम् ॥ २६६ ॥
धनं [3]वेदान्भिषक्सिद्धिं कुप्यं गा अप्यजाविकम् ।
अश्वानायुश्च विधिवद्यः श्राद्धं संप्रयच्छति ॥ २६७ ॥
कृत्तिकादिभरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान् ।
आस्तिकः श्रद्दधानश्च व्यपेतमदमत्सरः ॥ २६८ ॥

कृत्तिकामादिं कृत्वा **भरण्यन्तं** प्रतिनक्षत्रं **यः श्राद्धं ददाति स** यथाक्रमं **स्वर्गादीनायुः**पर्यन्तान्**कामानवाप्नोति**, यद्यास्तिकः श्रद्दधानश्चेत् व्यपेतमदमत्सरो भवति । **आस्तिको** विश्वासवान्, **श्रद्दधान** आदरातिशययुक्तः, **व्यपेतमदमत्सरः** मदो गर्वः, मत्सर ईर्ष्या, ताभ्यां रहितः । **स्वर्गो** निरतिशयसुखम् । **अपत्यम**विशेषेण । **ओज** आत्मशक्त्यतिशयः । **शौर्यं** निर्भयत्वम् । **क्षेत्रं** फलवत् । **बलं** शारीरम्, **पुत्रो** गुणवान्, **श्रैष्ठ्यं** जातिषु, **सौभाग्यं** जनप्रियता । **समृद्धिर्**धनादेः, **मुख्यता** अग्र्यता, **शुभं** सामान्येन, **प्रवृत्तचक्रता** अप्रतिहताज्ञता, **वाणिज्यप्रभृतयो** वाणिज्यकुसीदकृषिगोरक्षाः, **अरोगित्वं** अनामययोगित्वम्, **यशः** प्रख्यातिः, **वीतशोकता** इष्टवियोगादिजनितदुःखाभावः, **परमा गतिर्**ब्रह्मलोकप्राप्तिः, **धनं** सुवर्णादि, **वेदा** ऋग्वेदादयः, **भिषक्सिद्धि**रौषधफलावाप्तिः, **कुप्यं** सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादि, **गावः** प्रसिद्धाः, **अजाश्च अवयश्च अश्वाश्च**, **आयुर्**दीर्घजीवनम् ॥ २६५–२६८ ॥

कृत्तिका नक्षत्र से प्रारम्भ कर भरणी नक्षत्र पर्यन्त (प्रत्येक नक्षत्र में) विश्वासयुक्त होकर श्रद्धापूर्वक गर्व तथा ईर्ष्या से रहित होकर जो श्राद्ध करता है वह (क्रमशः नक्षत्र क्रम से इन) फलों को प्राप्त करता है– स्वर्ग, सन्तान, आत्मशक्ति, निर्भयता शौर्य), उर्वरा भूमि, बल, पुत्र, जातियों में श्रेष्ठता, लोकप्रियता (सौभाग्य), समृद्धि, अग्र्यता, सामान्य मङ्गल, अप्रतिहताज्ञता, व्यवसाय-कृषि गोरक्षादि, अरोगता, यश, इष्टवियोगादिजन्य) शोक से मुक्ति, परमगति (ब्रह्मलोकप्राप्ति), धन, वेद, औषधिसिद्धि, कुप्य (स्वर्ण-रजत के अतिरिक्त) ताम्रादि धातुयें, गायें, बकरा, भेड़ और अश्व ॥ २६५-२६८ ॥

'मासवृद्ध्याभितृप्यन्ति दत्तैरिह पितामहाः' (आ० २५९) इत्यनेन पितॄणां श्राद्धेन तृप्तिर्भवतीत्युक्तं,–तदनुपपन्नम्; प्रातिस्विकशुभाशुभकर्मवशेन स्वर्गनरकादिगतानां मनुष्याणां पुत्रादिभिर्दत्तैरन्नपानादिभिस्तृप्त्यसंभवात् । संभवेऽपि स्वयमात्मनाप्यनीशाः कथं स्वर्गादिफलं प्रयच्छन्तीत्यत आह—

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः ।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄञ्श्राद्धेन तर्पिताः ॥ २६९ ॥

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥ २७० ॥

नह्यत्र देवदत्तादय एव श्राद्धकर्मणि संप्रदानभूताः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते किंत्वधिष्ठातृवस्वादिदेवतासहिता एव । यथा देवदत्तादिशब्दैर्न शरीरमात्रं, नाप्यात्ममात्रं, किंतु शरीरविशिष्टा आत्मान उच्यन्ते, एवमधिष्ठातृदेवतासहिता एव देवदत्तादयः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते । अतश्चाधिष्ठातृदेवता वस्वादयः पुत्रादिभिर्दत्तेनान्नपानादिना तृप्ताः सन्तस्तानपि देवदत्तादींस्तर्पयन्ति, कर्तॄंश्च पुत्रादीन्फलेन संयोजयन्ति । यथा माता गर्भपोषणायान्यदत्तेन दोहदान्नपानादिना स्वयमुपभुक्तेन तृप्ता सती स्वजठरगतमप्यपत्यं तर्पयति, दोहदान्नादिप्रदायिनश्च प्रत्युपकारफलेन संयोजयति तद्वद्वसवो रुद्रा अदितिसुताः आदित्या एव ये पितरः पितृ-पितामह-प्रपितामहशब्दवाच्याः न केवलं देवदत्तादय एव श्राद्धदेवताः श्राद्धकर्मणि संप्रदानभूताः किंतु मनुष्याणां पितॄन्देवदत्तादीन्स्वयं श्राद्धेन तर्पितास्तर्पयन्ति ज्ञानशक्त्यतिशययोगेन । किंच न केवलं पितॄंस्तर्पयन्ति अपि तु श्राद्धकारिभ्यः **आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि राज्यं च** । चकारात्तत्र तत्र शास्त्रोक्तमन्यदपि फलं स्वयं **प्रीताः पितामहा** वस्वादयः **प्रयच्छन्तीति** ॥ २६९–२७० ॥

वसु, रुद्र, और आदित्य– ये जो श्राद्धदेवता पितर हैं, ये मनुष्यों के पितृश्राद्ध से तर्पित होकर मनुष्यों के पितरों को तृप्त करते हैं और मनुष्यों के पितामह (पितर) प्रसन्न होकर उन्हें (श्राद्ध करने वाले मनुष्यों को) आयु, प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष और सुखों को प्रदान करते हैं ॥ २६९-२७० ॥

इति श्राद्धप्रकरणम् ।

अथ गणपतिकल्पप्रकरणम् ११

दृष्टादृष्टफलसाधनानि कर्माण्यभिहितान्यप्यभिधास्यन्ते च तेषां स्वरूपनिष्पत्तिः फलसाधनत्वं चाविघ्नेन भवतीत्यविघ्नार्थं कर्म विधास्यन् विघ्नस्य कारकज्ञापकहेतूनाह—

विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थं विनियोजितः ।
गणानामाधिपत्ये च रुद्रेण ब्रह्मणा तथा ॥ २७१ ॥

विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थमित्यादिनोभयविघ्नहेतुपरिज्ञानाद्विघ्नस्य प्रागभावपरिपालनायोपस्थितस्य प्रध्वंसाय वा प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवर्तन्ते; रोगस्येवोभयविधहेतुपरिज्ञानात् । **विनायको** विघ्नेश्वरः पुरुषार्थसाधनानां **कर्मणां विघ्नसिद्ध्यर्थं** स्वरूपफलसाधनत्वविघातसिद्धये **विनियोजितः** नियुक्तः **रुद्रेण ब्रह्मणा** चकाराद्विष्णुना **च गणानां** पुष्पदन्तप्रभृतीनामाधिपत्ये स्वाम्ये ॥ २७१ ॥

रुद्र, ब्रह्मा (तथा विष्णु ने) विनायक को कर्मों के विघ्न तथा सिद्धि के लिये तथा (पुष्पदन्तादि) गणों के अधिपतित्व के लिये नियुक्त किया है ॥ २७१ ॥

एवं विघ्नस्य कारकहेतुमुक्त्वा ज्ञापकहेतुप्रदर्शनार्थमाह—

तेनोपसृष्टो यस्तस्य लक्षणानि निबोधत।
स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जलं मुण्डांश्च पश्यति ॥ २७२ ॥
काषायवाससश्चैव क्रव्यादांश्चाधिरोहति।
अन्त्यजैर्गर्दभैरुष्ट्रैः सहैकत्रावतिष्ठते ॥ २७३ ॥
[1]व्रजन्नपि तथात्मानं मन्यतेऽनुगतं परैः।

तेन विनायकेनोप**सृष्टो** गृहीतो **यस्तस्य लक्षणानि** ज्ञापकानि **निबोधत** जानीध्वं हे मुनयः। पुनर्मुनीनां प्रत्यवमर्शः शान्तिप्रकरणप्रारम्भार्थः । **स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां **जलमत्यर्थमवगाहते** स्रोतसा ह्रियते निमज्जति वा । **मुण्डितशिरसः** पुरुषान्**पश्यति** । **काषायवाससो** रक्तनीलादिवस्त्रप्रावरणांश्च । **क्रव्यादा** नाम मांसाशिनः पक्षिणः गृध्रादीन्मृगांश्च व्याघ्रादी[1]नधिरोहति । तथाऽ**न्त्यजै**श्चण्डालादिभिः **गर्दभैः** खरै**रुष्ट्रैः** क्रमेलकैः **सह** परिवृतस्तिष्ठति । **व्रजन्**गच्छन्नात्मानं **परैः** शत्रुभिः पृष्ठतो धावद्भि**रनुगत**मभिभूयमानं **म[2]न्यते** ॥ २७२–२७३ ॥

उस विनायक से जो ग्रस्त होता है उसके लक्षणों को सुनो– (विनायकग्रस्त व्यक्ति) स्वप्न में जल में अत्यन्त अवगाहन करता है, मुण्डों को देखता है (मुड़ाये शिर वालों को देखता है) तथा काषायवस्त्रधारी पुरुषों को देखता है, मांसाहारी पक्षियों और पशुओं पर सवार होता है । चाण्डालों, गर्दभों और ऊँटों के साथ रहता है । चलते समय उसे लगता है कि उसका कोई पीछा कर रहा है ॥ २७२-२७३$\frac{१}{२}$ ॥

एवं स्वप्नदर्शनान्युक्त्वा प्रत्यक्षलिङ्गान्याह—

विमना विफलारम्भः संसीदत्यनिमित्ततः ॥ २७४ ॥
तेनोपसृष्टो लभते न [3]राज्यं राजनन्दनः।
कुमारी च न भर्तारमपत्यं गर्भमङ्गना ॥ २७५ ॥
आचार्यत्वं श्रोत्रियश्च न शिष्योऽध्ययनं तथा।
वणिग्लाभं न चाप्नोति कृषिं चापि कृषीवलः॥ २७६ ॥

विमना विक्षिप्तचित्तः, **विफलारम्भः** विफला आरम्भा यस्य स तथोक्तः न क्वचित्फलमाप्नोति । **संसीदत्यनिमित्ततः** विना कारणेन दीनमनस्को भवति । **राजनन्दनो** राजकुले जातः श्रुतशौर्यधैर्यादिगुणयुक्तोऽपि **राज्यं न लभते** ।

कुमारी रूपलक्षणाभिजनादिसंपन्नापीप्सितं **भर्तारम्**, **अङ्गना** गर्भिण्यप**त्यम्**, ऋतुमती **गर्भम्**, अध्ययनतदर्थज्ञाने सत्यपि **आचार्यत्वं श्रोत्रियः**, विनयाचारादियुक्तोऽपि **शिष्योऽध्ययनं श्रवणं वा**, 'न लभते' इति सर्वत्र संबध्यते । **वणिक्** वाणिज्योपजीवी तत्र कुशलोऽपि धान्यादिक्रयविक्रयादिषु **लाभम्** । **कृषीवलः** कर्षकस्तत्राभियुक्तोऽपि **कृषिफलं नाप्नोति** । एवं यो यया वृत्त्या जीवति स तत्र निष्फलारम्भश्चेत्तेनोपसृष्टो वेदितव्यः ॥२७४–२७६॥

वह उदास मन रहता है, उसका कार्य सफल नहीं होता, बिना कारण खिन्न रहता है । विनायक ग्रह से ग्रसित राजकुमार राज्य नहीं पाता, कुमारी पति नहीं प्राप्त करती, स्त्री गर्भिणी होने पर सन्तान नहीं पाती और ऋतुमती होने पर गर्भ नहीं पाती, श्रोत्रिय आचार्यत्व नहीं पाता और शिष्य अध्ययन नहीं कर पाता, व्यवसायी को लाभ नहीं प्राप्त होता तथा किसान कृषि के फल को नहीं प्राप्त करता ॥ २७४-२७६ ॥

एवं कारकज्ञापकहेतूनभिधाय विघ्नोपशान्त्यर्थं कर्मविधानमाह—

स्नपनं[1] तस्य कर्तव्यं पुण्येऽह्नि विधिपूर्वकम् ।

तस्य विनायकोपसृष्टस्याऽनागतविनायकोपसर्गपरिहारार्थिनो वा **स्नपन**मभिषेचनं **कर्तव्यम्** । **पुण्ये** स्वानुकूलनक्षत्रादियुक्ते । **अह्नि** दिवसे न रात्रौ । **विधिपूर्वकं** शास्त्रोक्तेतिकर्तव्यतासहितम् ॥

शुभ दिन तथा मुहूर्त में निम्न श्लोक में बतलायी गई विधि से उसे स्नान कराना चाहिए ॥ २७६$\frac{१}{२}$ ॥

स्नपनविधिमाह—

गौरसर्षपकल्केन साज्येनोत्सादितस्य च ॥ २७७ ॥
सर्वौषधैः सर्वगन्धैर्विलिप्तशिरसस्तथा ।
भद्रासनोपविष्टस्य स्वस्ति वाच्या द्विजाः शुभाः ॥२७८॥

गौरसर्षपकल्केन सिद्धार्थपिष्टेन **साज्येन** घृत[2]लोलीकृतेन**उत्सादितस्य**उद्वर्तिताङ्गस्य **तथा सर्वौषधैः** प्रियङ्गुनागकेसरादिभिः **सर्वगन्धै**श्चन्दनागुरुकस्तूरिकादिभि**र्विलिप्तशिरसो** वक्ष्यमाण**भद्रासनोपविष्टस्य** पुरुषस्य **द्विजा** ब्राह्मणाः **शुभाः** श्रुताध्ययनवृत्तसंपन्नाः शोभनाकृतयश्चत्वारः 'अस्य **स्वस्ति** भवन्तो ब्रुवन्तु' इति **वाच्याः** । अस्मिन्समये गृह्योक्तमार्गेण पुण्याहवाचनं कुर्यादित्यर्थः ॥ २७७–२७८ ॥

गौर सर्षप के कल्क में घृत मिलाकर उसको उबटन लगावे और उबटन से साफ कर प्रियंगु-नागकेशर आदि सुगन्धित द्रव्यों से शिर पर लेपन कर उसे स्नान कराकर भद्रासन पर बैठाकर योग्य ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करावे ॥२७७-२७८ ॥

अश्वस्थानाद्गजस्थानाद्वल्मीकात्संगमाद्ध्रदात् ।
मृत्तिकां रोचनां गन्धान्गुग्गुलं चाऽप्सु निक्षिपेत् ॥२७९॥
या आहृता ह्येकवर्णैश्चतुर्भिः कलशैर्ह्रदात् ।
चर्मण्यानडुहे रक्ते स्थाप्यं भद्रासनं ततः ॥ २८० ॥

किंच, **अश्वस्थानगजस्थानवल्मीकसरित्संगमाशोष्यह्रदे**भ्य आहृतां पञ्चविधां **मृदं गोरोचनं गन्धान्** चन्दनकुङ्कुमागुरुप्रभृतीन् **गुग्गुलं च** तास्वप्सु **विनिक्षिपेत्** । **या** आप **आहृता एकवर्णैः** समानवर्णैश्चतुर्भिः **कुम्भै**रव्रणास्फुटिताकालकैः **ह्रदा**दशोष्यात् संगमाद्वा । **ततश्चानडुहे चर्मणि रक्ते** लोहितवर्णे उत्तरलोमनि प्राचीनग्रीवे **भद्रं** मनोरमम**ासनं** श्रीपर्णीनिर्मितं **स्थाप्यम्** । तत उक्तोदकमृत्तिकागन्धादिसहितांश्चूतादिपल्लवोपशोभिताननान्स्रग्दामवेष्टितकण्ठांश्चन्दनचर्चितान्नवाहतवस्त्रविभूषितांश्चतसृषु पूर्वादिदिक्षु स्थापयित्वा शुचौ सुलिप्ते स्थण्डिले रचितपञ्चवर्णस्वस्तिके लोहितमानडुहं चर्मोत्तरलोम प्राचीनग्रीवमास्तीर्य तस्योपरि श्वेतवस्त्रप्रच्छादितमासनं स्थापयेदित्येतद्भद्रासनम् । तस्मिन्नुपविष्टस्य स्वस्तिवाच्या द्विजाः ॥ २७९–२८० ॥

घुड़शाला, गजशाला, चींटी की बाबी, (नदियों के) संगम और तालाब की मिट्टी, गोरोचन और सुगन्ध, गुग्गुलु को जल में छोड़े । यह जल एक ही रंग के चार घड़ों में तालाब से लाया गया हो । तदनन्तर रक्त वर्ण के बैल के चमड़े पर (श्रीपर्णी से निर्मित) भद्रासन (मनोरम आसन) रखे ॥ २७९-२८० ॥

सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम् ।
तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्यः पुनन्तु ते ॥ २८१ ॥

किंच, स्वस्तिवाचनानन्तरं जीवत्पतिपुत्राभिः रूपगुणशालिनीभिः सुवेषाभिः कृतमङ्गलं पूर्वदिग्देशावस्थितं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेद्गुरुः । **सहस्राक्ष**मनेकशक्तिकं **शतधारं** बहुप्रवाह**मृषिभि**र्मन्वादिभिर्यदुदकं **पावनं** पवित्रं **कृतं** उत्पादितं **तेन**ोदकेन **त्वां** विनायकोपसृष्टं विनायकोपसर्गशान्तये **अभिषिञ्चामि** । **पावमान्य**श्चैता आपस्त्वां **पुनन्तु** ॥ २८१ ॥

(स्वस्तिवाचन तथा कृतमङ्गल उस विनायकोपसृष्ट पुरुष को गुरु पूर्वदिशा में रखे घड़े के जल से इस मन्त्र से अभिषिञ्चित करे–) जो अनेक शक्तियों से संपन्न, सहस्रों धाराओं वाला तथा (मन्वादि) ऋषियों से पवित्र किया गया है उस जल से मैं तुम्हें अभिषिञ्चित कर रहा हूँ । पवित्र करने वाले ये जल तुम्हें पवित्र करें ॥ २८१ ॥

भगं ते वरुणो राजा भगं सूर्यो बृहस्पतिः ।
भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयो ददुः ॥ २८२ ॥

तदनन्तरं दक्षिणदेशावस्थितं द्वितीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् । भगं कल्याणं ते तुभ्यं वरुणो राजा भगं सूर्यो भगं बृहस्पतिः भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयश्च ददुरिति ॥ २८२ ॥

फिर दक्षिण दिशा में रखे घड़े के जल से इस मन्त्र से अभिषिक्त करे– आपको वरुण राजा ने कल्याण दिया है, आपको सूर्य और बृहस्पति ने कल्याण दिया है, आपको इन्द्र और वायु ने कल्याण दिया है तथा आपको सप्तर्षियों ने कल्याण दिया है ॥ २८२ ॥

यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि ।
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद् घ्नन्तु सर्वदा ॥ २८३ ॥

ततस्तृतीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् । ते तव केशेषु यद्दौर्भाग्यमकल्याणं सीमन्ते मूर्धनि च ललाटे कर्णयोरक्ष्णोश्च तत्सर्वमापो देव्यो घ्नन्तु उपशमयन्तु सर्वदा इति ॥ २८३ ॥

(फिर तीसरे कलश के जल से इस मन्त्र से अभिषिक्त करे–) जो आपके केशों में, सीमन्त में, जो शिर पर, जो ललाट पर, जो कानों में और जो आँखों में अकल्याण है उसे (ये) जल सदा नष्ट करें ॥ २८३ ॥

स्नातस्य सार्षपं तैलं स्रुवेणौदुम्बरेण तु ।
जुहुयान्मूर्धनि कुशान्सव्येन परिगृह्य च ॥ २८४ ॥

ततश्चतुर्थं कलशमादाय पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्मन्त्रैरभिषिञ्चेत् । 'सर्वमन्त्रैश्चतुर्थम्' इति मन्त्रलिङ्गात् । उक्तेन प्रकारेण कृताभिषेकस्य मूर्धनि सव्यपाणिगृहीतकुशान्तर्हिते सार्षपं तैलं उदुम्बरवृक्षोद्भवेन स्रुवेण वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहुयादाचार्यः ॥ २८४ ॥

फिर चतुर्थ कलश लेकर पूर्वोक्त तीनों मन्त्रों से अभिषिक्त करे । फिर बाँयें हाथ में कुशों को लेकर तथा उसके शिर पर घुमाकर उदुम्बर की लकड़ी की स्रुवा से उसके शिर पर सरसों के तेल का आचार्य हवन करे (डाले) ॥ २८४ ॥

मितश्च संमितश्चैव तथा शालकटङ्कटौ ।
कूश्माण्डो राजपुत्रश्चेत्यन्ते स्वाहासमन्वितैः ॥ २८५ ॥
नामभिर्बलिमन्त्रैश्च नमस्कारसमन्वितैः ।

मितसंमितादिभिर्विनायकस्य नामभिः स्वाहाकारान्तैः प्रणवादिभिः 'जुहुयात्' इति गतेन संबन्धः । स्वाहाकारयोगाच्चतुर्थी विभक्तिः । अतश्च ॐमिताय स्वाहा, ॐसंमिताय स्वाहा; ॐशालाय स्वाहा, ॐकटङ्कटाय स्वाहा,

ॐकूष्माण्डाय स्वाहा, ॐराजपुत्राय स्वाहेति षण्मन्त्रा भवन्ति। अनन्तरं लौकिकेऽग्नौ स्थालीपाकविधिना चरुं श्रपयित्वा एतैरेव षड्भिर्मन्त्रैस्तस्मिन्नेवाग्नौ हुत्वा तच्छेषं बलिमन्त्रैरिन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणवायुसोमेशानब्रह्मानन्तानां नामभिश्चतुर्थ्यन्तैर्नमोन्वितैस्तेभ्यो बलिं दद्यात् ॥ २८५ ॥—

मित, संमित, शाल, कटङ्कट, कूष्माण्ड और राजपुत्र— इनके नाम में स्वाहा जोड़कर आहुति दे (यथा 'मिताय स्वाहा' इत्यादि)। अनन्तर लौकिक अग्नि में चरु पकाकर इन्हीं छः मन्त्रों से उस अग्नि में हवन कर शेष का इन्द्र-अग्नि-यम-निर्ऋति-वरुण-वायु-सोम-ईशान-ब्रह्म और अनन्त को इन्हीं मन्त्रों से 'इन्द्राय नमः' इत्यादि द्वारा बलि दे ॥ २८५½ ॥

अनन्तरं किं कुर्यादित्याह—

दद्याच्चतुष्पथे शूर्पे कुशानास्तीर्य सर्वतः ॥ २८६ ॥
कृताकृतांस्तण्डुलांश्च पललौदनमेव च ।
मत्स्यान्पक्कां[2]स्तथैवामान्मांसमेतावदेव तु ॥ २८७ ॥
पुष्पं चित्रं सुगन्धं च सुरां च [3]त्रिविधामपि ।
मूलकं पूरिका[4]पूपांस्तथैवोण्डेरकस्रजः ॥ २८८ ॥
दध्यन्नं पायसं चैव [5]गुडपिष्टं समोदकम् ।
[6]एतान्सर्वान्समाहृत्य भूमौ कृत्वा ततः शिरः ॥ २८९ ॥
विनायकस्य जननीमुपतिष्ठे[7]त्ततोऽम्बिकाम् ।

कृताकृताद्युपहारद्रव्यजातं विनायकस्योपाहृत्य संनिधानात्तज्जनन्याश्च शिरसा भूमिं गत्वा—'तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो [1]दन्ती प्रचोदयात्' इत्यनेन मन्त्रेण विनायकं,—'सुभगायै विद्महे काममालिन्यै धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्' इत्यनेनाम्बिकां च नमस्कुर्यात्। तत उपहारशेषमास्तीर्णकुशे **शूर्पे निधाय चतुष्पथे निदध्यात्**—'बलिं गृह्णन्त्विमे देवा आदित्या वसवस्तथा। मरुतश्चाश्विनौ रुद्राः सुपर्णाः पन्नगा ग्रहाः ॥ असुरा यातुधानाश्च पिशाचोरगमातरः। शाकिन्यो यक्षवेताला योगिन्यः पूतनाः शिवाः ॥ जृम्भकाः सिद्धगन्धर्वा मायाविद्याधरा नराः। दिक्पाला लोकपालाश्च ये च विघ्नविनायकाः ॥ जगतां शान्तिकर्तारो ब्रह्माद्याश्च महर्षयः। मा विघ्नो मा च मे पापं मा सन्तु परिपन्थिनः ॥ सौम्या भवन्तु तृप्ताश्च भूतप्रेताः सुखावहाः ॥' इत्येतैर्मन्त्रैः ॥ **कृताकृताः** सकृदवहतास्तण्डुलाः, **[1]पललं** तिलपिष्टं तन्मिश्र ओदनः **पललौदनः**, **मत्स्याः पक्वा अपक्वाश्च**, **मांसमेतावदेव** पक्वमपक्वं च, **पुष्पं चित्रं** रक्तपीतादिनानावर्णम्। चन्दनादि सुगन्धिद्रव्यम्, **सुरा त्रिविधा** गौडी माध्वी पैष्टी च, **मूलकं** कन्दाकारो भक्ष्यविशेषः, **पूरिका** प्रसिद्धा,

अपूपोऽस्नेहपक्वो गोधूमविकारः । उण्डेरकस्रजः उण्डेरकाः[2] पिष्टादिमय्यस्ताः[1] प्रोताः स्रजः । दध्यन्नं दधिमिश्रमन्नं । पायसं पयः[1]शृतम् । गुडपिष्टं गुडमिश्रं शाल्यादिपिष्टम् । मोदकाः लड्डुकाः । अनन्तरं विनायकं तज्जननीमम्बामम्बिकां वक्ष्यमाणमन्त्रेणोपतिष्ठेत् ॥ २८६–२८९ ॥

फिर शेष बचे अंश को सूप में कुश बिछाकर चतुष्पथ पर रखे । पकाये अनपके तण्डुलों, तिलपिष्ट उससे मिश्रित ओदन, मत्स्यों, पके तथा कच्चे मांस, रङ्ग-बिरङ्गे फूल सुगन्ध, त्रिविध (गौडी, माध्वी पैष्टी) सुरा, मूल, पूड़ी, पुआ, उण्डेरक (रोट), दही मिला अन्न, खीर, गुड़ के लड्डू- इन सबको लेकर गणपति (तथा उन) की माता को प्रणाम करे ॥ २८६-८९$\frac{१}{२}$ ॥

किं कृत्वेत्याह—

दूर्वासर्षपपुष्पाणां दत्त्वार्घ्यं पूर्णमञ्जलिम् ॥ २९० ॥

सकुसुमोदकेनार्घ्यं दत्त्वा दूर्वासर्षपपुष्पाणां पूर्णमञ्जलिं दत्त्वा, 'उपतिष्ठेत्' इति गतेन संबन्धः ॥ २९० ॥

इसके पूर्व (पुष्प सहित जल का) अर्घ्य देकर दूब, सरसों और पुष्प अञ्जलि में लेकर नमस्कार करे ॥ २९० ॥

उपस्थानमन्त्रमाह—

रूपं देहि यशो[2] देहि भगं भवति[3] देहि मे ।
पुत्रान्देहि धनं देहि सर्वकामांश्च देहि मे ॥ २९१ ॥
ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।
ब्राह्मणान्भोजयेद्दद्याद्वस्त्रयुग्मं गुरोरपि ॥ २९२ ॥

वि[4]नायकोपस्थाने 'भगवन्' इत्यूहः । ततोऽभिषेकानन्तरं यजमानः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनो ब्राह्मणान्भोजयेत् । यथाशक्ति गुरवे श्रुताध्ययनवृत्तसंपन्नाय विनायकस्नपनविधिज्ञाय वस्त्रयुग्मं दद्यात् । 'अपि'शब्दाद्यथाशक्ति दक्षिणां विनायकोद्देशेन ब्राह्मणेभ्यश्च । तत्रायं प्रयोगक्रमः—चतुर्भिर्ब्राह्मणैः सार्धमुक्तलक्षणो गुरुर्मन्त्रज्ञो भद्रासनरचनानन्तरं तत्संनिधौ विनायकं तज्जननीं चोक्तमन्त्राभ्यां गन्धपुष्पादिभिः समभ्यर्च्य चरुं श्रपयित्वा भद्रासनोपविष्टस्य यजमानस्य पुण्याहवाचनं कृत्वा, चतुर्भिः कलशैरभिषिच्य, सार्षपं तैलं शिरसि हुत्वा, चरुहोमं विधायाभिषेकशालायां चतुर्दिक्षु इन्द्रादिलोकपालेभ्यो बलिं दद्यात् । यजमानस्तु स्नानानन्तरं शुक्लमाल्याम्बरधरो गुरुणा सहितो विनायकाम्बिकाभ्यामुपहारं दत्त्वा शिरसा भूमिं नत्वा कुसुमोदकेनार्घ्यं दत्त्वा दूर्वासर्षपपुष्पाञ्जलिं च दत्त्वा विनायकमम्बिकां चोपतिष्ठेत् । गुरुरुपहारशेषं शूर्पे कृत्वा चत्वरे निदध्यात् । अनन्तरं वस्त्रयुग्मं दक्षिणां ब्राह्मणेभ्यो भोजनं च दद्यादिति ॥ २९१–२९२ ॥

(फिर उपस्थान का यह मंत्र कहे–) हे देवि ! मुझे रूप दीजिये, यश दीजिये, ऐश्वर्य दीजिये, पुत्रों को दीजिये, धन दीजिये और मुझे सभी कामनाओं को दीजिये (अर्थात् मेरी सभी कामनाओं को पूर्ण कीजिये)। तदनन्तर श्वेत वस्त्रों को धारण कर श्वेत माला पहन कर तथा श्वेत (चन्दन) अनुलेपन कर ब्राह्मणों को भोजन करादे और गुरु (आचार्य) को जोड़ा वस्त्र दे ॥ २९१-२९२ ॥

इति विनायकस्नपनविधिः ।

अस्यैव विनायकस्नपनस्योक्तोपसंहारेण संयोगान्तरं दर्शयितुमाह—

एवं विनायकं पूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः ।
कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २९३ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विनायकं संपूज्य कर्मणां फलमविघ्नेनाप्नोतीत्युक्तोपसंहारः । [1]संयोगान्तरमाह—**श्रियं चोत्कृष्टतमामाप्नोतीति** । श्रीकामश्चानेनैव विधानेन विनायकं पूजयेदित्यर्थः । आदित्यादिग्रहपीडाशान्तिकामस्य लक्ष्म्यादिकामस्य च ग्रहपूजादिकल्पं विधास्यन् ग्रह[2]पूजामुपक्षिपति—**ग्रहांश्चैव विधानत** इति । ग्रहानादित्यादीन्वक्ष्यमाणेन **विधिना संपूज्य कर्मणां सिद्धिमाप्नोति श्रियं चाप्नोति** इति ॥ २९३ ॥

इस प्रकार विनायक की पूजा कर तथा ग्रहों की विधिपूर्वक पूजाकर (मनुष्य) कर्मों की सिद्धि को प्राप्त करता है तथा उत्तम लक्ष्मी को प्राप्त करता है ॥२९३ ॥

नित्यकाम्यसंयोगानाह—

आदित्यस्य सदा पूजां तिलकं स्वामिनस्तथा ।
महागणपतेश्चैव कुर्वन्सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २९४ ॥

आदित्यस्य भगवतः **सदा** प्रतिदिवसं रक्तचन्दनकुङ्कुमकुसुमादिभिः **पूजां कुर्वन्** स्कन्दस्य **महागणपतेश्च** नित्यं पूजां **कुर्वन् सिद्धिं** मोक्षमात्मज्ञानद्वारेण प्राप्नोतीति नित्यसंयोगः । आदित्यस्कन्दगणपतीनामन्यतमस्य सर्वेषां वा [3]तिलकं स्वर्णनिर्मितं रूप्यनिर्मितं वा कुर्वन् **सिद्धिमभिलषितामाप्नोति** । तथा चक्षुषी चेति काम्यसंयोगः ॥ २९४ ॥

भगवान् सूर्य, स्वामी (स्कन्द) तथा महागणपति की सदा पूजा करते हुये तथा इनके लिये (स्वर्ण या रजत का) तिलक बनवाने वाला सिद्धि (अभिलषित फल) प्राप्त करता है ॥ २९४ ॥

इति महागणपतिकल्पः ।

अथ ग्रहशान्तिप्रकरणम् १२

'एवं विनायकं पूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः । कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नो-

त्यनुत्तमाम्' (आ० २९३) इत्यनेन ग्रहपूजायाः कर्मणामविघ्नेन फलसिद्धिः श्रीश्च फलमित्युक्तम् । इदानीं फलान्तराण्याह—

श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत् ।
वृष्ट्यायुःपुष्टिकामो वा तथैवाऽभिचरन्नपि ॥ २९५ ॥

श्रीकाम इति पूर्वोक्तस्यानुवादः, **शान्तिकाम** आपदुपशान्तिकामः, सस्यादिवृद्ध्यर्थं प्रवर्षणं **वृष्टिः**, आयुरपमृत्युजयेन दीर्घकालजीवनम् । **पुष्टिर**नवद्यशरीरत्वं, एताः कामयत इति **वृष्ट्यायुःपुष्टिकामः** । एते श्रीकामादयो ग्रहयज्ञं ग्रहपूजां समाचरेयुः । तथाऽभिचरन्नपि अदृष्टोपायेन परपीडा अभिचारस्तत्कामश्च **ग्रहयज्ञं समाचरेत्** ॥ २९५ ॥

लक्ष्मी की कामना वाला, शान्ति (मङ्गल-आपत्तिशमन) की कामनावाला तथा वृष्टि, आयु एवं पुष्टि की कामनावाला तथा अभिचार (अदृष्टोपाय से परपीड़ा) करने वाला ग्रहयज्ञ का अनुष्ठान करे ॥ २९५ ॥

ग्रहानाह—

सूर्यः सोमो महीपुत्रः सोमपुत्रो बृहस्पतिः ।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहाः स्मृताः ॥ २९६ ॥

एते सूर्यादयो नव ग्रहाः ॥ २९६ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, मङ्गल (पृथ्वीपुत्र), सोमपुत्र (बुध), बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु और केतु– ये (नव) ग्रह माने गये हैं ॥ २९६ ॥

'ग्रहाः पूज्याः' इत्युक्तं, किं कृत्वेत्याह—

ताम्रकात्स्फटिकाद्रक्तचन्दनात्स्वर्णकादुभौ ।
राजतादयसः सीसात्कांस्यात्कार्या ग्रहाः क्रमात् ॥२९७॥
स्ववर्णैर्वा पटे लेख्या गन्धैर्मण्डलकेषु वा ।

सूर्यादीनां मूर्तयस्ताम्रादिभिर्यथाक्रमं कार्याः । तदलाभे **स्ववर्णैर्वर्णकैः पटे लेख्याः**, **मण्डलकेषु वा** । **गन्धैः** रक्तचन्दनादिभिर्यथावर्णं **लेख्या** इत्यन्वयः । द्विभुजत्वादिविशेषस्तु मत्स्यपुराणोक्तो द्रष्टव्यः । यथा—'पद्मासनः पद्मकरः पद्मगर्भसमद्युतिः । सप्ताश्वःसप्तरज्जुश्च द्विभुजः स्यात्सदा रविः ॥ श्वेतः श्वेताम्बरधरो दशाश्वः श्वेतभूषणः । गदापाणिर्द्विबाहुश्च कर्तव्यो वरदः शशी ॥ रक्तमाल्याम्बरधरः शक्तिशूलगदाधरः । चतुर्भुजो मेषगमो वरदः स्याद्धरासुतः ॥ पीतमाल्याम्बरधरः कर्णिकारसमद्युतिः । खड्गचर्मगदापाणिः सिंहस्थो वरदो बुधः ॥ देवदैत्यगुरू तद्वत्पीतश्वेतौ चतुर्भुजौ । दण्डिनौ वरदौ कार्यौ साक्षसूत्रकमण्डलू ॥ इन्द्रनीलद्युतिः शूली वरदो गृध्रवाहनः । त्राणबाणासनधरः

कर्तव्योऽर्कसुतः सदा ॥ करालवदनः खड्गचर्मशूली वरप्रदः । नीलैः सिंहासनस्थश्च राहुरत्र प्रशस्यते ॥ धूम्रा द्विबाहवः सर्वे गदिनो विकृताननाः । गृध्रासनगता नित्यं केतवः स्युर्वरप्रदाः ॥ सर्वे किरीटिनः कार्या ग्रहा लोकहितावहाः । स्वाङ्गुलेनोच्छ्रिताः सर्वे शतमष्टोत्तरं सदा'इति ॥ एतेषां स्थापनदेशश्च तत्रैवोक्तः— 'मध्ये तु भास्करं विद्याल्लोहितं दक्षिणेन तु । उत्तरेण गुरुं विद्याद्बुधं पूर्वोत्तरेण तु ॥ पूर्वेण भार्गवं विद्यात्सोमं दक्षिणपूर्वके । पश्चिमेन शनिं विद्याद्राहुं पश्चिमदक्षिणे ॥ पश्चिमोत्तरतः केतुं स्थाप्या वै शुक्लतण्डुलैः ॥' इति ॥ २९७ ॥–

(सूर्यादि) ग्रहों (की मूर्तियों) को क्रमशः ताम्र, स्फटिक, रक्तचन्दन, स्वर्ण से दो (बुध, बृहस्पति), चाँदी, लोहा, सीसा तथा कांस्य से बनाना चाहिये । अथवा अपने वर्ण (रंग) से वस्त्र पर बनाना चाहिये अथवा (अपने वर्ण के) गन्धों से बनानी चाहिये ॥२९७½ ॥

पूजाविधिमाह—

यथावण प्रदेयानि वासांसि कुसुमानि च ॥ २९८ ॥
गन्धाश्च बलयश्चैव धूपो देयश्च गुग्गुलुः ।
कर्तव्या मन्त्रवन्तश्च चरवः प्रतिदैवतम् ॥ २९९ ॥

यथावर्णं यस्य ग्रहस्य यो वर्णस्तद्वर्णानि **वस्त्रगन्धपुष्पाणि देयानि** । **बलयश्च धूपश्च** सर्वेभ्यो **गुग्गुलुर्देयः** । चरवश्च प्रतिदैवतमग्निप्रतिष्ठापनान्वाधानादिपूर्वकं 'चतुरश्चतुरो मुष्टीन्निर्वपति', 'अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामी'त्यादिविधिना कार्याः । अनन्तरं सुसमिद्धेऽग्नाविध्माधानाद्याघारान्तं कर्म कृत्वा आदित्याद्युद्देशेन यथाक्रमं वक्ष्यमाणमन्त्रैर्वक्ष्यमाणाः समिधो वक्ष्यमाणप्रकारेण हुत्वा **चरवो होतव्याः** ॥ २९८–२९९ ॥

(ग्रह के) वर्णानुसार वस्त्रों और पुष्पों को दे । (स्त्री को) गन्ध, बलिं, धूप और गुग्गुलु दे । प्रत्येक देवता के लिये मन्त्रों से चरु का निर्माण कर उसका हवन करे ॥ २९८-२९९ ॥

टिप्पणी– मत्स्यपुराण में विभिन्न ग्रहों के आकृतियों का वर्णन इस प्रकार है–

'पद्मासनः पद्मकरः पद्मगर्भसमद्युतिः।
सप्ताश्वःसप्तरज्जुश्च द्विभुजःस्यात् सदा रविः॥
श्वेतः श्वेताम्बरधरः दशाश्वः श्वेतभूषणः।
गदापाणिर्द्विबाहुश्च कर्तव्यो वरदः शशी॥
रक्तमाल्याम्बरधरः शक्तिशूलगदाधरः।
चतुर्भुजो मेषगमः वरदः स्याद् धरासुतः॥
पीतमाल्याम्बरधरः कर्णिकारसमद्युतिः।
खड्गचर्मगदापाणिः सिंहस्थो वरदो बुधः॥

देवदैत्यगुरु तद्वत् पीतश्वेतौ चतुर्भुजौ।
दण्डिनौ वरदौ कार्यौ साक्षसूत्रकमण्डलू॥
इन्द्रनीलद्युतिः शूली वरदो गृध्रवाहनः।
बाणबाणासनधरः कर्तव्योऽर्कसुतः सदा॥
करालवदनः खड्गचर्मशूली वरप्रदः।
नीलः सिंहासनस्थश्च राहुरत्र प्रशस्यते॥
धूम्रा द्विबाहवः सर्वे गदिनो विकृताननाः।
गृध्रासनगता नित्यं केतवः स्युर्वरप्रदाः॥
सर्वे किरीटिनः कार्यः ग्रहाः लोकहितावहाः।
स्वाङ्गुलेनोच्छ्रिताः सर्वे शतमष्टोत्तरं सदा॥' (मत्स्य ९३.१-८)

इन ग्रहों की स्थापना-क्रम इस प्रकार वर्णित है–

'मध्ये तु भास्करं विद्याल्लोहितं दक्षिणेन तु।
उत्तरेण गुरुं विद्याद् बुधं पूर्वोत्तरेण तु॥
पूर्वेण भार्गवं विद्यात् सोमं दक्षिणपूर्वके।
पश्चिमेन शनिं विद्यात् राहुं पश्चिमदक्षिणे॥
पश्चिमोत्तरतः केतुं स्थाप्या वै शुक्लतण्डुलैः' ॥

मन्त्रानाह—

आकृष्णेन इमं देवा अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्।
उद्बुध्यस्वेति च ऋचो यथासंख्यं प्रकीर्तिताः॥ ३००॥
बृहस्पते अतियदर्यस्तथैवान्नात्परिस्रुतः।
शं नो देवीस्तथा काण्डात्केतुं कृण्वन्निमांस्तथा ॥३०१॥

'आकृष्णेन रजसा वर्तमान' (ऋ. १।३।६।२) इत्यादयो नव मन्त्राः यथाक्रममादित्यादीनां वेदितव्याः॥ ३००–३०१॥

नवों ग्रहों के (वैदिक) मंत्रों के प्रतीक क्रमशः ये हैं– 'आकृष्णेन, इमं देवाः, अग्निमूर्धा दिवः ककुत्, उद्बुध्यस्व, बृहस्पते अति यदर्यः, अन्नात्, परिस्रुतः, शं नो देवीः, काण्डात् और केतुं कृण्वन्' ॥ ३००-३०१ ॥

इदानीं समिध आह—

अर्कः पलाशः खदिर अपामार्गोऽथ पिप्पलः।
उदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात्॥ ३०२॥

अर्कपलाशादयो यथाक्रमं सूर्यादीनां **समिधो** भवन्ति। ताश्चार्द्रा अभग्नाः सत्वचः प्रादेशमात्राः कर्तव्याः॥ ३०२॥

(नवों ग्रहों की) समिधायें क्रम से ये हैं– अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पिप्पल, उदुम्बर, शमी, दूर्वा और कुशायें ॥ ३०२ ॥

एकैकस्य त्वष्टशतमष्टाविंशतिरेव वा ।
होतव्या मधुसर्पिर्भ्यां दध्ना क्षीरेण वा युताः ॥ ३०३ ॥

किंच, आदित्यादीनामेकैकस्याष्टशतसंख्या अष्टाविंशतिसंख्या वा यथासंभवं मधुना सर्पिषा दध्ना क्षीरेण वा युता अक्ता अर्कादिसमिधो होतव्याः ॥ ३०३ ॥

एक-एक ग्रह के लिये आठ-आठ सौ या अट्ठाइस-अट्ठाइस समिधायें मधु और घी या दही या दूध से युक्त कर हवन करनी चाहिये ॥ ३०३ ॥

इदानीं भोजनान्याह—

गुडौदनं पायसं च हविष्यं क्षीरषाष्टिकम् ।
दध्योदनं हविश्चूर्णं मांसं चित्रान्नमेव च ॥ ३०४ ॥
दद्याद्ग्रहक्रमादेवं द्विजेभ्यो भोजनं बुधः ।
शक्तितो वा यथालाभं सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ३०५ ॥

गुडमिश्र ओदनो **गुडौदनः**, **पायसं** पायसान्नम्, **हविष्यं** मुन्यन्नादि, **क्षीरषाष्टिकं** क्षीरमिश्रः षाष्टिकौदनः, दध्ना मिश्र ओदनो **दध्योदनः**, **हविर्घृतौदनः**। **चूर्णं** तिलचूर्णमिश्र ओदनः, **मांसं** भक्ष्यमांसमिश्र ओदनः, **चित्रौदनो** नानावर्णौदनः, एतानि गुडौदनादीनि **यथाक्रम**मादित्याद्युद्देशेन **भोजनार्थं द्विजेभ्यो** ब्राह्मणेभ्यो **दद्यात्**। ब्राह्मणसंख्या यथाविभवं द्रष्टव्या। गुडौदनाद्यभावे तु **यथालाभ**मोदनादि पादप्रक्षालनादि**विधिपूर्वकं सत्कृत्य** संमानपुरःसरं **दद्यात्** ॥ ३०४–३०५ ॥

(नव) ग्रहों के क्रम से बुद्धिमान् पुरुष ब्राह्मणों को इन पदार्थों का भोजन दे— गुडौदन (गुड़ मिला भात), खीर, हविष्य (तीनी का चावल आदि), दूध मिला साठी का भात, दही-भात, हवि (घृत-भात), चूर्ण (तिलचूर्ण-मिश्रित भात), (भक्ष्य) मांस-मिश्रित भात और नाना रङ्गों का भात । अथवा अपनी शक्ति के अनुसार उपलब्ध पदार्थों का सत्कारपूर्वक विधि सहित भोजन करावे ॥ ३०४-३०५ ॥

दक्षिणामाह—

धेनुः शङ्खस्तथानड्वान्हेम वासो हयः क्रमात् ।
कृष्णा गौरायसं छाग एता वै दक्षिणाः स्मृताः ॥३०६॥

धेनुर्दोग्ध्री, **शङ्खः** प्रसिद्धः, **अनड्वान्** भारसहो बलीवर्दः, **हेम** सुवर्णम्, **वासः** पीतम्, **हयः** पाण्डुरः, **कृष्णा गौः**, **आयसं** शस्त्रादि, **छागः** प्रसिद्धः, **एता** धेन्वादयो यथाक्रममादित्याद्युद्देशेन ब्राह्मणानां **दक्षिणाः स्मृताः** उक्ता मन्वादिभिः। एतच्च संभवे सति, असंभवे तु यथालाभं शक्तितोऽन्यदेव यत्किञ्चिद्देयम् ॥ ३०६ ॥

(इन ग्रहों के लिये) क्रमशः धेनु (पयस्विनी गाय), शङ्ख, बैल, स्वर्ण, वस्त्र, घोड़ा, कृष्णा गौ, लोहा और बकरा दक्षिणा बतायी गयी है ॥ ३०६ ॥

'शान्तिकामेनाविशेषेण सर्वे ग्रहाः पूजयितव्याः' (आ० २९५) इत्युक्तं, तत्र विशेषमाह—

यश्च यस्य यदा दुःस्थः स तं यत्नेन पूजयेत् ।
ब्रह्मणैषां वरो दत्तः पूजिताः पूजयिष्यथ ॥ ३०७ ॥

यस्य पुरुषस्य **यो** ग्रहो **यदा दुःस्थो**ऽष्टमादिदुष्टस्थानस्थितः **स तं** ग्रहं तदा **यत्नेन** विशेषेण **पूजयेत्** । यस्मादेषां ग्रहाणां **ब्रह्मणा** पूर्वं **वरो दत्तः** '**पूजिताः** सन्तो यूयमिष्टप्रापणेनानिष्टनिरसनेन च पूजयितारं **पूजयिष्यथ**' इति ॥ ३०७ ॥

जिस व्यक्ति के लिये जो ग्रह बुरे (अष्टम आदि) स्थान पर हों उसकी प्रयत्नपूर्वक पूजा करे । ब्रह्मा ने इन (ग्रहों) को वर दिया है कि तुम लोग पूजित होने पर (पूजा करने वाले को अनिष्ट निवारण तथा इष्टप्रापण द्वारा) पूजित (सुखी) करोगे ॥ ३०७ ॥

अविशेषेण द्विजानधिकृत्य शान्तिकपौष्टिकादीनि कर्माण्यनुक्रान्तानि, तत्राभिषेकैर्गुणयुक्तस्य राज्ञो विशेषेणाधिकार इति दर्शयति—

ग्रहाधीना नरेन्द्राणामुच्छ्रायाः पतनानि च ।
भावाभावौ च जगतस्तस्मात्पूज्यतमा ग्रहाः ॥ ३०८ ॥
[ग्रहाणामिदमातिथ्यं कुर्यात्संवत्सरादपि ।
आरोग्यबलसंपन्नो जीवेत्स शरदः शतम् ॥]

नरेन्द्राणामभिषिक्तक्षत्रियाणां ग्रहाः पूज्यतमाः, इत्यनेनान्येषामपि पूज्या इति गम्यते । उभयत्र कारणमाह—**प्राणिनामभ्युदयविनिपाता ग्रहाधीनाः** यस्मात्तस्मादधिकारिभिः **पूज्याः** । किंच **जगतः** स्थावरजङ्गमात्मकस्य **भावाभावा**वुत्पत्तिनिरोधौ **ग्रहाधीनौ** । तत्र यद्येते पूजितास्तदा स्वकाल एवोत्पत्तिनिरोधौ भवतः, अन्यथा उत्पत्तिसमये नोत्पादः, नकाले निरोधश्च । जगदीश्वरत्वाच्च नरेन्द्राणां तद्योगक्षेमकारिणां पूज्यतमा ग्रहा इति तेषां विशेषेण शान्तिकादिष्वधिकारः । तथा च गौतमेन (११।१) '—राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्ज्यम्' इति राजानमधिकृत्य 'वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्' (गौ. ११।९) चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत्' इत्यादीन्कांश्चिद्धर्मानुक्त्वा—'यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत (गौ. ११।१०) तदधीनमपि ह्येके योगक्षेमं प्रतिजानते' इति । शान्तिकपौष्टिकाद्यनुष्ठानहेतुमभिधाय 'शान्तिकपुण्याहस्वस्त्ययनायुष्यमङ्गलसंयुक्तान्याभ्युदयिकानिविद्वेषण स्तम्भनाभिचारद्विषद्व्द्धियुक्तानि च शालाग्नौ कुर्यात्' (गौ. ११।११।१५-१७) इति शान्तिकादीनि दर्शितानि ॥ ३०८ ॥

राजाओं की उन्नति और पतन तथा संसार की उत्पत्ति तथा विनाश ग्रहों के अधीन है, इसलिये ग्रह सभी से अधिक पूज्य हैं ॥ ३०८ ॥

(ग्रहों की यह (पूर्वोक्त) पूजा जो वर्ष में एक बार भी करता है वह स्वस्थ तथा बलयुक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है ।)

इति ग्रहशान्तिप्रकरणम् ।

अथ राजधर्मप्रकरणम् १३

साधारणान्गृहस्थधर्मानुक्त्वेदानीं राज्याभिषेकादिगुणयुक्तस्य गृहस्थस्य विशेषधर्मानाह—

महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः ।
विनीतः सत्त्वसंपन्नः कुलीनः सत्यवाक्शुचिः ॥ ३०९ ॥
अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा ।
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित् ॥ ३१० ॥
स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च ।
विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः ॥ ३११ ॥

पुरुषार्थसाधनकर्मारम्भाध्यवसाय उत्साहः, महानुत्साहो यस्यासौ **महोत्साहः**, बहुदेयार्थदर्शी **स्थूललक्षः**, परकृतोपकारापकारौ न विस्मरतीति **कृतज्ञः**, तपोज्ञानादिवृद्धानां **सेवकः**, वृद्धसेवकः, विनयेन युक्तो **विनीतः**, 'विनय'शब्देनाविरुद्धः पूर्वोक्तस्नातकधर्मकलाप उच्यते—'न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं वदेत्' (आ. १३२) इत्यादिनोक्तः । **सत्त्वसंपन्नः** संपदापदोर्हर्षविषादरहितः, मातृतः पितृतश्चाभिजनवान् **कुलीनः**, **सत्यवाक्** सत्यवचनशीलः । **शुचिर्**बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः अवश्यकार्याणां कर्मणामारम्भे प्रारब्धानां च समापने यो न विलम्बतेऽसा**वदीर्घसूत्रः**, अधिगतार्थाऽविस्मरणशीलः **स्मृतिमान्**, **अक्षुद्रो**ऽसद्गुणद्वेषी, **अपरुषः** परदोषाकीर्तनशीलः, **धार्मिको** वर्णाश्रमधर्मान्वितः, न विद्यन्ते व्यसनानि यस्यासाव**व्यसनः** । व्यसनानि चाष्टादश, यथाह मनुः (७।४७–४८)—'मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् । वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥' इति तत्र च सप्त कष्टतमानि । यथाह मनुः (७।५०–५१)—'पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥' इति । **प्राज्ञो**

गम्भीरार्थावधारणक्षमः, **शूरो** निर्भयः, **रहस्यवित्** गोपनीयार्थगोपनचतुरः, **स्वरन्ध्रगोप्ता** स्वस्य सप्तसु राज्याङ्गेषु यत्परप्रवेशद्वारशैथिल्यं तत्स्वरन्ध्रं तस्य गोप्ता प्रच्छादयिता । **आन्वीक्षिक्यामात्मविद्यायां**, **दण्डनीत्याम**र्थयोगक्षेमोपयोगिन्यां, **वार्तायां** कृषिवाणिज्यपशुपालनरूपायां धनोपचयहेतुभूतायां, **त्रय्यां** ऋग्यजुःसामाख्यायां च **विनीतस्तत्तदभिज्ञैः** प्रावीण्यं नीतः । यथाह मनुः (७।४३)—'त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् । आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥' इति । **नराधिपो** 'राज्याभिषिक्तः स्यात्' इति सर्वत्र संबन्धः ॥ ३०९–३११ ॥

राजा को महान् उत्साही, बहुत अर्थ (धन) देने वाला, कृतज्ञ, वृद्धोपसेवी, विनीत, सत्त्वयुक्त (संपत्ति और आपत्ति में हर्ष-विषाद रहित), कुलीन, सत्यवादी, (बाह्यान्तर से) पवित्र, आलस्य-रहित, (ज्ञात पदार्थों का) स्मरण रखने वाला, अक्षुद्र (असद्गुणद्वेषी अर्थात् सद्गुणसंपन्न), अकठोर (परदोष का न कथन करने वाला), धार्मिक (मृगयाक्ष आदि) व्यसन से रहित, बुद्धिमान्, वीर, रहस्य के गोपन में निपुण, अपने राज्याङ्गों के छिद्रों (प्रवेश द्वारों) को छिपाने वाला तथा आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या), दण्डनीति (नय-अनय) तथा वार्ता (कृषि आदि) – इसी त्रयी विद्या में विनीत (अधिकारी विद्वानों द्वारा निपुण किया हुआ ।) होना चाहिये ॥ ३०९-३११ ॥

एवमभिषेकयुक्तस्यान्तरङ्गान्धर्मानभिधायेदानीं बहिरङ्गानाह—

स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान्मौलान्स्थिराञ्शुचीन् ।
तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः स्वयम् ॥ ३१२ ॥

महोत्साहादिगुणैर्युक्तो राजा **मन्त्रिणः कुर्वीत** । कथंभूतान्? **प्राज्ञान्** हिताहितविवेककुशलान्, **मौलान्** स्ववंशपरम्परायातान्, **स्थिरान्** महत्यपि हर्षविषादस्थाने विकाररहितान् । **शुचीन्** धर्मार्थकामभयोपधाशुद्धान्, ते च सप्ताष्टौ वा कार्याः । यथाह मनुः (७।५४)—'मौलाञ्शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् । सचिवान्सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान् ॥' इति । एवं मन्त्रिणः पूर्वं कृत्वा **तैः सार्धं राज्यं** संधिविग्रहादिलक्षणं कार्यं चिन्तयेत् समस्तैर्व्यस्तैश्च । अनन्तरं तेषामभिप्रायं ज्ञात्वा सकलशास्त्रार्थविचारकुशलेन **ब्राह्मणेन** पुरोहितेन सह कार्यं विचिन्त्य **ततः स्वय** बुद्ध्या कार्यं **चिन्तयेत्** ॥ ३१२ ॥

वह बुद्धिमान्, कुलीन (कुल-परम्परा से आगत), स्थिर (आपत्ति-हर्ष में स्थिर) पवित्र व्यक्तियों को मन्त्री बनावे । (उनके साथ राज्य के कार्यों (सन्धि-विग्रहादि) का विचार करे । तदनन्तर ब्राह्मण (पुरोहित) से विचार करे। तदनन्तर स्वयं निश्चय करे ॥ ३१२ ॥

कीदृशं पुरोहितं कुर्यादित्याह—

पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम् ।
दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा ॥ ३१३ ॥

पुरोहितं च सर्वेषु दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु पुरतो निहितं दानमानसत्कारैरात्मसंबद्धं कुर्यात् । कथंभूतम्? दैवज्ञं ग्रहोत्पाततच्छमनादेर्वेदितारम्, उदितोदितं विद्याभिजनानुष्ठानादिभिरुदितैः शास्त्रोक्तैरुदितं समृद्धम्, दण्डनीत्यामर्थशास्त्रे कुशलम्, अथर्वाङ्गिरसे च शान्त्यादिकर्मणि ॥ ३१३ ॥

वह दैवज्ञ (ग्रहों के उत्पात एवं शमन में निष्णात) विद्या-अभिजन तथा अनुष्ठान से समृद्ध तथा दण्डनीति (अर्थशास्त्र) में कुशल एवं अथर्वाङ्गिरस (शान्त एवं घोर कर्मों के प्रतिपादक) शास्त्र में निष्णात व्यक्ति को पुरोहित बनावे ॥ ३१३ ॥

श्रौतस्मार्तक्रियाहेतोर्वृणुयादेव चर्त्विजः ।
यज्ञांश्चैव प्रकुर्वीत विधिवद्भूरिदक्षिणान् ॥ ३१४ ॥

श्रौताग्निहोत्रादि-स्मार्तोपासनादिक्रियानुष्ठानसिद्ध्यर्थं ऋत्विजो वृणुयात् । यज्ञांश्च राजसूयादीन् विधिवत् यथाविधानं भूरिदक्षिणान् बहुदक्षिणानेव कुर्यात् ॥ ३१४ ॥

श्रौत (अग्निहोत्रादि) एवं स्मार्त (उपासनादि) क्रियाओं की सिद्धि के लिये वह ऋत्विजों. का वरण करे और वह (राजसूयादि) यज्ञों को विधिपूर्वक तथा पर्याप्त दक्षिणा देकर करे ॥ ३१४ ॥

भोगांश्च दद्याद्विप्रेभ्यो वसूनि विविधानि च ।
अक्षयोऽयं निधी राज्ञां यद्विप्रेषूपपादितम् ॥ ३१५ ॥

किंच, ब्राह्मणेभ्यो भोगान् सुखानि तत्साधनदानद्वारेण दद्यात् । वसूनि च सुवर्णरूप्यभूप्रभृतीनि विविधानि नानाप्रकाराणि देयानि । यस्मादेष राज्ञामक्षयो निधिः शेवधिर्यद्ब्राह्मणेभ्यो दीयते । साधारणधर्मत्वेन दानप्राप्तौ सत्यां राज्ञां दानप्राधान्यप्रतिपादनार्थं पुनर्वचनम् ॥ ३१५ ॥

वह ब्राह्मणों को (शय्या, भोजनादि) विविध भोगपदार्थों और (स्वर्ण-रजतादि) विविध धनों को दे । (राजाओं के द्वारा) जो विप्रों को दिया गया है वह उन राजाओं की अक्षय्य निधि होता है ॥ ३१५ ॥

अस्कन्नमव्यथं चैव प्रायश्चित्तैरदूषितम् ।
अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते ॥ ३१६ ॥

किंच, अग्नेः सकाशादग्निसाध्याद्भूरिदक्षिणाद्राजसूयादेरपि **विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते** । यदेतद**स्कन्नं** क्षरणरहितं, **अव्यथं** पशुहिंसारहितं, **प्रायश्चित्तैरदूषितं** प्रायश्चित्तरहितम् ॥ ३१६ ॥

अग्नि की अपेक्षा ब्राह्मण रूपी अग्नि में हवन श्रेष्ठ है, क्योंकि वह क्षरणरहित, अव्यय (पशुहिंसादि रहित) तथा प्रायश्चित्त से रहित है ॥ ३१६ ॥

'वसूनि विप्रेभ्यो दद्यात्' (आ० ३१५) इत्युक्तम्, कया परिपाट्या दद्यादित्याह—

अलब्धमीहेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत् ।
पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ३१७ ॥

अलब्धलाभाय धर्मशास्त्रानुसारेण यतेत । **यत्नेन लब्धं** तत् **परिपालयेत्** स्वयमवेक्षया रक्षेत् । **पालितं** तत्परतया रक्षितं **नीत्या** वणिक्पथादिकया वृद्धिं नयेत् । **वृद्धं** च **पात्रेषु** त्रिविधेषु धर्मार्थकामयुक्तेषु **निक्षिपेद्**द्यात् ॥ ३१७ ॥

अप्राप्त धन को धर्म से प्राप्त करने की कामना करे, जो प्राप्त है उसका प्रयत्नपूर्वक पालन (रक्षण) करे और रक्षित की नीतिपूर्वक वृद्धि करे तथा पात्रों (धर्म, काम, अर्थयुक्त कार्यों) में लगावे ॥ ३१७ ॥

पात्रे निक्षिप्य किं कुर्यादित्याह—

दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं तु कारयेत् ।
आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः ॥ ३१८ ॥

यथोक्तविधिना **भूमिं दत्त्वा** स्वत्वनिवृत्तिं कृत्वा **निबन्धं वा** एकस्य भाण्डभरकस्येयन्तो रूपकाः, एकस्य पर्णभरकस्येयन्ति पर्णानीति वा **निबन्धं कृत्वा लेख्यं कारयेत्** । किमर्थम्? **आगामिनः** एष्यन्तो ये **भद्राः** साधवो **नृपतयो** भूपास्तेषां 'अनेन दत्तम्, अनेन प्रतिगृहीतम्' इति **परिज्ञानाय** । **पार्थिवो** भूपतिः । अनेन भूपतेरेव भूमिदाने निबन्धदाने वाऽधिकारो न भोगपतेरिति दर्शितम् ॥ ३१८ ॥

राजा भूमि या निबन्ध (इस स्थान के क्षेत्रपति इसको इतना धन प्रतिमास या प्रतिवर्ष देंगे ऐसा नियम) देकर भविष्य के राजा या सभ्यों के ज्ञान के लिये उसे लेखबद्ध करावे ॥ ३१८ ॥

'लेख्यं कारयेत्' (आ० ३१८) इत्युक्तं, कथं कारयेदित्याह—

पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम् ।
अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः ॥३१९॥
प्रतिग्रहपरीमाणं दानच्छेदोपवर्णनम् ।
स्वहस्तकालसंपन्नं शासनं कारयेत्स्थिरम् ॥ ३२० ॥

कार्पासिके **पटे ताम्रपट्टे**[२] ताम्रफलके **वा आत्मनो वंश्यान्** प्रपितामहपितामहपितॄन् बहुवचनस्यार्थवत्त्वात् वंशवीर्यश्रुतादिगुणोपवर्णनपूर्वकम**भिलेख्य आत्मानं** चशब्दात् प्रतिग्रहीतारं, प्रतिग्रहपरिमाणं दानच्छेदोपवर्णनं चाभिलेख्य। प्रतिगृह्यत इति प्रतिग्रहो निबन्धस्तस्य रूपकादिपरिमाणम्। दीयत इति दानं क्षेत्रादि तस्य छेदः छिद्यतेऽनेनेति छेदः नद्या[३]घाटौ[२] निर्वर्तनं[४] तत्परिमाणं च तस्योपवर्णनं, 'अमुकनद्या दक्षिणतोऽयं ग्रामः क्षेत्रं वा, पूर्वतोऽमुकग्रामस्य', एतावन्निवर्तनमित्यादिनिवर्तनपरिमाणं च लेख्यम्। एवं आघाट[२]स्य नदीनगरवर्त्मादेः संचारित्वेन भूमेर्न्यूनाधिकभावसंभवात्तन्निवृत्त्यर्थम्, स्वहस्तेन स्वहस्तलिखितेन मतं मे अमुकनाम्नः अमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितमित्यनेन संपन्नं संयुक्तं, कालेन च द्विविधेन शकनृपातीतरूपेण संवत्सररूपेण च दानकालेन चन्द्रसूर्योपरागादिना संपन्नं स्वमुद्रया गरुडवाराहादिरूपयोपरि बहिश्चिह्नितमङ्कितं स्थिरं दृढं शासनं शिष्यन्ते भविष्यन्तो नृपतयोऽनेन 'दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम्' इति शासनं कारयेत्, महीपतिर्न भोगपतिः। संधिविग्रहादिकारिणा येन[६] केनचिल्लेख्यम्; 'संधिविग्रहकारी तु भवेद्यस्तस्य लेखकः। स्वयं राज्ञा समादिष्टः स लिखेद्राजशासनम् ॥' इति स्मरणात्। दानमात्रेणैव दानफले सिद्धे शासनकरणं भोगाभिवृद्ध्या फलातिशयार्थम् ॥ ३१९-३२० ॥

वस्त्र या ताम्रपट्ट पर ऊपर (बाहर) अपनी मुद्रा (सील) राजचिह्न लगाकर अपने पूर्वजों (प्रपितामह-पितामह-पिता) का वर्णन कर दानवस्तु की मात्रा तथा छेद (चौहद्दी) अपने हाथ से तथा इस समय (काल) यह दिया गया– यह आदेश पुष्ट करे ॥ ३१९-३२० ॥

इदानीं राज्ञो निवासस्थानमाह—

रम्यं पशव्यमाजीव्यं जाङ्गलं देशमावसेत् ।
तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये ॥ ३२१ ॥

रम्यं रमणीयं अशोकचम्पकादिभिः। **पशव्यं** पशुभ्यो हित पशुवृद्धिकरम्। **आजीव्य**मुपजीव्यं कन्दमूलपुष्पफलादिभिः। **जाङ्गलं** यद्यप्यल्पोदकतरुपर्वतो देशो जाङ्गलस्तथाप्यत्र संजल[१]तरुपर्वतो देशो 'जाङ्गल'शब्देनाभिधीयते। **तं देशमावसे**दधिवसेत्। तत्रैवंविधे देशे **जनानां कोशस्य** सुवर्णादेरात्मनश्च

रक्षणार्थं दुर्गं कुर्वीत । तच्च षड्विधम् । यथाह मनुः (७।७०)—'धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं च समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥' इति ॥ ३२१ ॥

रमणीय, पशुओं के निर्वाह योग्य, जीविका के लिये उपयुक्त वन (खाली जल वृक्षादियुक्त) स्थान में आवास करे । वहीं (आश्रित) जनों, कोश तथा अपनी रक्षा के लिये दुर्ग बनावे ॥ ३२१ ॥

तत्र तत्र च निष्णातानध्यक्षान्कुशलाञ्शुचीन् ।
प्रकुर्यादायकर्मान्तव्ययकर्मसु चोद्यतान् ॥ ३२२ ॥

किंच, तत्र तत्र धर्मार्थकामादिषु अध्यक्षान् योग्यानधिकारिणः प्रकुर्यान्नियुञ्जीत । यथाहुः—'धर्मकृत्येषु धर्मज्ञानर्थकृत्येषु पण्डितान् । स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत नीचान्निन्द्येषु कर्मसु ॥' इति । कीदृशान्? निष्णातानन्यव्यापारान् । कुशलान् तत्तद्व्यापारचतुरान् । शुचीन् चतुर्विधोपधाशुद्धान् । आयकर्मसु सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु व्ययकर्मसु सुवर्णादिदानस्थानेषु च उद्यताननलसान् । चशब्दात्प्राज्ञत्वादिगुणयुक्तान् । उक्तं च—'प्राज्ञत्वमुपधाशुद्धिरप्रमादोऽभियुक्तता । कार्येषु व्यसनाभावः स्वामिभक्तिश्च योग्यता ॥' इति ॥ ३२२ ॥

तत्तद् (धर्मार्थकामादि) कार्यों में आय और व्यय में जानकार कुशल (कार्यपारंगत) और पवित्र व्यक्तियों को नियुक्त करे, जो आयकर्म (स्वर्णादि के उत्पत्तिस्थानों) तथा व्ययकर्म (सुवर्णादि दानस्थानों) में आलस्य रहित हों ॥ ३२२ ॥

'भोगांश्च दद्याद्विप्रेभ्यो वसूनि विविधानि च' (आ० ३१५) इति सामान्येन स्वस्वदानमुक्तम्, इदानीं नृपाणां विक्रमार्जितस्य दाने फलातिशयमाह—

नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्रणार्जितम् ।
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ॥ ३२३ ॥

अस्मादुत्कृष्टतमो धर्मो नृपाणां न विद्यते यद्रणार्जितं द्रव्यं विप्रेभ्यो दीयते । यच्च प्रजाभ्योऽभयदानम् ॥ ३२३ ॥

राजाओं के लिये इससे बड़ा धर्म नहीं है कि वह युद्ध से जीते गये धन को ब्राह्मणों को दे तथा प्रजाओं को अभयदान दे ॥ ३२३ ॥

'रणार्जितं देयम्' इत्युक्तं, द्रव्यार्जनाय रणे प्रवृत्तस्य विपत्तिरपि संभवतीति न धर्मो नाप्यर्थ इति ततो निवृत्तिरेव श्रेयसीत्यत आह—

य आहवेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः ।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥ ३२४ ॥

ये भूम्याद्यर्थमाहवेषु प्रवृत्ता अपराङ्मुखा अभिमुखा वध्यन्ते मार्यन्ते

ते स्वर्गं यान्ति । योगाभ्यासरता यथा । यद्यकूटैरविषदिग्धादिभिरायुधैर्योद्धारो भवन्ति ॥ ३२४ ॥

जो भूमि के लिये युद्ध में पराङ्मुख न होकर तथा विष से बुझे अस्त्रों से नहीं लड़ते वे मारे जाने पर जैसे योगी स्वर्ग जाते हैं वैसे ही स्वर्ग जाते हैं ॥ ३२४ ॥

पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम् ।
राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम् ॥ ३२५ ॥

किंच, स्वबलेषु करितुरगरथपदातिषु **भग्नेष्वविनिवर्तिनां** परबलाभिमुखयायिनां **पदानि क्रतुतुल्यान्य**श्वमेधतुल्यानि । विपर्यये दोषमाह—**विपलायिनां** पराङ्मुखानां **हतानां राजा सुकृतमादत्ते** ॥ ३२५ ॥

अपनी सेना के भग्न हो जाने पर भी जो पीछे नहीं भागता उसके (आगे बढ़ने के प्रत्येक) पग यज्ञ (अश्वमेध यज्ञ) के तुल्य होते हैं और जो पराङ्मुख होकर मारे जाते हैं उनके पुण्य को राजा ग्रहण कर लेता है ॥ ३२५ ॥

तवाहंवादिनं क्लीवं निर्हेतिं परसंगतम् ।
न हन्याद्विनिवृत्तं च युद्धप्रेक्षणकादिकम् ॥ ३२६ ॥

अपि च, **तवाहमिति यो वदति तं क्लीवं** नपुंसकं **निर्हेतिं** निरायुधं **परसंगत**मन्येन सह युद्ध्यमानं **विनिवृत्तं** युद्धाद्विनिवृत्तं **युद्धप्रेक्षणकं** युद्धदर्शिनं । 'न हन्यात्' इति सर्वत्र संबन्धः । 'आदि'ग्रहणादश्वसारथ्यादीनां ग्रहणम् । यथाह गौतमः (१०।१७-१८)—'न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र व्यश्वसारथ्यानायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढोन्मत्तदूतगोब्राह्मणादिभ्यः' इति । शङ्खोऽप्याह—'न पानीयं पिबन्तं न भुञ्जानं नोपानहौ मुञ्चन्तं नावर्माणं सवर्मा न स्त्रियं न करेणुं न वाजिनं न सारथिनं न सूतं न दूतं न ब्राह्मणं न राजानमराजा हन्यात्' इति ॥ ३२६ ॥

'मैं आपका हूँ' ऐसा कहने वाले, हिजड़े, शस्त्रहीन, दूसरे से युद्ध कर रहे, युद्ध से विरत तथा युद्ध के दर्शक आदि को न मारे ॥ ३२६ ॥

कृतरक्षः समुत्थाय पश्येदायव्ययौ स्वयम् ।
व्यवहारांस्ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामतः ॥ ३२७ ॥

कृतरक्षः पुरस्यात्मनश्च रक्षां विधाय प्रतादिनं प्रातःकाल उत्थाय **स्वयमेवायव्ययौ पश्येत्** । **ततो व्यवहारान् दृष्ट्वा** मध्याह्नकाले **स्नात्वा कामतो** यथाकालं **भुञ्जीत** ॥ ३२७ ॥

(नगर की तथा अपमी) रक्षा करके प्रातःकाल उठकर स्वयं आय-व्यय देखे और तदनन्तर व्यवहार (वादों-मुकदमों) को देखकर स्नान कर यथेच्छ भोजन करे ॥ ३२७ ॥

हिरण्यं[2] व्यापृतानीतं भाण्डागारेषु[3] निक्षिपेत् ।
पश्येच्चारांस्ततो दूतान्प्रेषयेन्मन्त्रिसंगतः ॥ ३२८ ॥

तदनन्तरं हिरण्यं[2] व्यापृतैर्हिरण्याद्यानयननियुक्तैरानीतं स्वयमेव निरीक्ष्य भाण्डागारेषु निक्षिपेत् । ततश्चारान्स्पशान्प्रत्यागतान् पश्येत् । ये परराज्ये वृत्तान्तपरिज्ञानाय परिव्राजकतापसादिरूपेण गूढचारिणः प्रेषितास्तांश्चारान्दृष्ट्वा क्वचिन्निवेशयेत् । तदनन्तरं दूतांश्च पश्येत् । दूताश्च ये प्रकटमेव राज्यान्तरं[2] प्रति गतागतमाचरन्ति । ते च त्रिविधाः—निसृष्टार्थाः, संदिष्टार्थाः, शासनहरा[3]श्चेति । तत्र निसृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितुं क्षमाः, उक्तमात्रं ये परस्मै निवेदयन्ति ते संदिष्टार्थाः, शासनहरास्तु[3] राजलेखहारिणः, तान्पूर्वप्रेषितानागतान्मन्त्रिसंगतः पश्येत् । दृष्ट्वा तद्वार्तामाकलय्य पुनः पुनः प्रेषयेत् ॥ ३२८ ॥

(स्वर्णादि के लाने के कार्य में) नियुक्त व्यक्तियों द्वारा लाये गये स्वर्ण (धन) को भाण्डागार (खजाने) में रखे । तदनन्तर गुप्तचरों से भेंट करे और मन्त्रियों से विचार-विमर्श कर दूतों को (उनके कार्यों में) भेजे ॥ ३२८ ॥

ततः स्वैरविहारी स्यान्मन्त्रिभिर्वा समागतः ।
बलानां दर्शनं कृत्वा सेनान्या सह चिन्तयेत् ॥३२९॥

तदनन्तरमपराह्णे स्वैरं यथेष्टमेकोऽन्तःपुरविहारी स्यात् । मन्त्रिभिर्वा विश्वासिभिः कलाकुशलैः परिहासवेदिभिः परिवृतः स्त्रीभिश्च रूपयौवनवैदग्ध्यशालिनीभिः—'भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह । विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥' इति (७।२२१) मनुस्मरणात् । ततो विशिष्टैर्वस्त्रकुसुमविलेपनालंकारैरलंकृतः हस्त्यश्वरथपदातिबलानि दृष्ट्वा सेनान्या सेनापतिना सह तद्रक्षणादि देशकालोचितं चिन्तयेत् ॥ ३२९ ॥

तदनन्तर (अपराह्ण में) इच्छानुसार (अन्तःपुर में) विहार करे या मन्त्रियों से भेंट करे । (तदनन्तर) सेनाओं का निरीक्षण कर सेनाध्यक्ष के साथ विचार करे ॥ ३२९ ॥

संध्यामुपास्य शृणुयाच्चाराणां गूढभाषितम् ।
गीतनृत्यैश्च भुञ्जीत पठेत्स्वाध्यायमेव च ॥ ३३० ॥

ततः **सायंकाले संध्यामुपास्य,** सामान्येन प्राप्तस्यापि पुनर्वचनं कार्याकुलत्वादविस्मरणार्थम् । अनन्तरं ये पूर्वदृष्टाः क्वचित्स्थाने निवेशितास्तेषां **चाराणां गूढभाषित**मन्तर्वेश्मनि शस्त्रपाणिः **शृणुयात्** । उक्तं च मनुना (७।२२३)—'संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् । रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥' इति । ततो **नृत्यगीतादिभिः** कंचित्कालं क्रीडित्वा कक्षान्तरं प्रविश्य **भुञ्जीत**; 'गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीभिरन्तःपुरं सह ॥' इति (मनुः ७।२२४) स्मरणात् । ततोऽविस्मरणार्थं यथाशक्ति **स्वाध्यायं पठेत्** ॥ ३३० ॥

(सायंकालीन) संध्या की उपासना कर गुप्तचरों के रहस्यमय भाषणों को (एकान्त में) सुने । फिर कुछ काल गीत-नृत्य में बितावे और तब भोजन करे । भोजन के बाद स्वाध्याय का पठन करे ॥ ३३० ॥

संविशेत्तूर्यघोषेण प्रतिबुद्ध्येत्तथैव च ।
शास्त्राणि चिन्तयेद्बुद्ध्या सर्वकर्तव्यतास्तथा ॥ ३३१ ॥

तदनन्तरं **तूर्यशङ्खघोषेण संविशेत्**स्वप्यात् । **तथैव** तूर्यादिघोषेण **प्रतिबुध्येत्** । प्रतिबुद्ध्य च शास्त्रविद्भिर्विश्वासिभिः सह एकाकी वा पश्चिमे यामे **शास्त्राणि चिन्तयेत् सर्वकर्तव्यताश्च** सर्वकार्याणि च । एतच्च स्वस्थं प्रत्युच्यते । अस्वस्थः पुनः सर्वकार्येष्वन्यं नियोजयेत् । यथाह मनुः (७।२२५)—'एतद्वृत्तं समातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः । अस्वस्थः सर्वमेवैतन्मन्त्रिमुख्ये निवेशयेत् ॥' इति ॥ ३३१ ॥

तूर्य के शब्द से सोवे तथा उसी प्रकार (तूर्य के शब्द से) जागे । अपनी बुद्धि से शास्त्रों तथा सभी कर्तव्यों का चिन्तन करे ॥ ३३१ ॥

प्रेषयेच्च ततश्चारान्स्वेष्वन्येषु च सादरान् ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैराशीर्भिरभिनन्दितः ॥ ३३२ ॥
दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वैद्यान्दद्याद्गां काञ्चनं महीम् ।
नैवेशिकानि च ततः श्रोत्रियेभ्यो गृहाणि च ॥ ३३३ ॥

अनन्तरं तत्रस्थ एव विश्वस्तान्स्वान् **चारान्** दानमानसत्कारैः पूजितान्स्वेषु सामन्ताद्यधिकारिषु **अन्येषु च** महीपतिषु **प्रेषयेत्**तच्चिकीर्षितपरिज्ञानाय । ततः प्रातःसंध्यामुपास्याऽग्निहोत्रं हुत्वा **पुरोहितर्त्विगाचार्यादिभिराशीर्भिरभिनन्दितो ज्योतिर्विदो दृष्ट्वा** तेभ्यश्च ग्रहादिस्थितिं विदित्वा शान्तिकादीनि च **पुरोहिता**यादिश्य **वैद्यांश्च** दृष्ट्वा तेभ्यश्च स्वशरीरस्थितिं निवेद्य प्रतिविधानं **चादिश्य गां** दोग्ध्रीं **काञ्चनं महीं च नैवेशिकानि**

विवाहोपयोगीनि कन्यालंकारादीनि गृहाणि च सुधाधवलितादीनि श्रोत्रियेभ्योऽधीतवेदेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः । 'दद्यात्' इति प्रत्येकं संबध्यते ॥३३२-३३३॥

तदनन्तर दूतों को अपने (मंत्री आदि) लोगों तथा दूसरों के पास भेजे । (प्रातः सन्ध्या की उपासना करने के बाद) ऋत्विक्, पुरोहित तथा आचार्यों से (आशीर्वाद से) अभिनन्दित होवे । तदनन्तर ज्योतिषियों और वैद्यों का दर्शन कर (उनसे भेंट कर) श्रोत्रिय ब्राह्मणों को गाय, स्वर्ण, पृथ्वी, नैवेशिक (विवाह के लायक कन्याओं के अलंकार) तथा घर का दान करे ॥ ३३२-३३३ ॥

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु ।
स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता ॥ ३३४ ॥

किंच, ब्राह्मणेष्वधिक्षिपत्स्वपि क्षमी क्षमावान् । स्निग्धेषु स्नेहवत्सु मित्रादिष्वजिह्मः अवक्रः । अरिषु क्रोधनः । भृत्यवर्गेषु प्रजासु च हिताचरणेनाहितनिवर्तनेन च पितेव दयावान् । 'स्यात्' इति प्रत्येकं संबध्यते ॥ ३३४ ॥

राजा को ब्राह्मणों में क्षमाशील, स्नेहियों में सरल, शत्रुओं में क्रोधी तथा नौकरों एवं प्रजाओं में पिता के समान होना चाहिये ॥ ३३४ ॥

प्रजापालनफलमाह—

पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् ।
सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम् ॥ ३३५ ॥

यस्मान्न्यायेन शास्त्रोक्तमार्गेण प्रजाः परिपालयन् परिपालितप्रजोपहितपुण्यात् षड्भागं षष्ठं भागमादत्ते । यस्माच्च सर्वेभ्यो भूम्यादिदानेभ्यः प्रजानां परिपालनमधिकफलम् । तस्मात् 'प्रजासु यथा पिता तथैव स्यात्' इति गतेन संबन्धः ॥ ३३५ ॥

न्यायपूर्वक प्रजाओं का परिपालन करने वाला राजा प्रजाओं के पुण्य का छठा भाग प्राप्त करता है, अतः प्रजाओं का परिपालन सभी दानों से अधिक (श्रेष्ठ) है ॥ ३३५ ॥

चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ॥ ३३६ ॥

चाटाः प्रतारकाः विश्वास्य ये परधनमपहरन्ति, प्रच्छन्नापहारिणस्तस्कराः, दुर्वृत्ता ऐन्द्रजालिककितवादयः, सहो बलं सहसा बलेन कृतं साहसं महच्च तत्साहसं च महासाहसं तेन वर्तन्त इति महासाहसिकाः

प्रसह्या[2]पहारिणः, 'आदि'[1]शब्दान्मौलिककुहकदुर्वृत्तयः। एतैः **पीड्यमाना** बाध्यमानाः **प्रजा रक्षेत्**। **कार्यस्था** लेखका गणकाश्च तैः **पीड्यमाना** विशेषतो **रक्षेत्**; तेषां राजवल्लभतयातिमायावितया च दुर्निवारत्वात् ॥ ३३६ ॥

छल-कर्ताओं, चोरों, दुर्वृत्त (इन्द्रजालिकादि धूर्तों तथा दुस्साहसियों (महान् साहस को लूटने वालों) तथा विशेषकर वायस्थों से पीड़ित प्रजा की रक्षा करे ॥ ३३६ ॥

अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किंचित्किल्बिषं प्रजाः ।
तस्मात्तु नृपतेरर्धं यस्माद्गृह्णात्यसौ करान् ॥ ३३७ ॥

अरक्ष्यमाणाः प्रजाः यत्किंचित्किल्बिषं चौर्यपरदारगमनादि **कुर्वन्ति तस्मात्पापादर्धं नृपतेर्भवति । यस्मादसौ** राजा रक्षणार्थं प्रजाभ्यः **करान् गृह्णाति** ॥ ३३७ ॥

अरक्षित प्रजा जो कुछ पाप करती है उसका आधा राजा का होता है, क्योंकि राजा उनसे (रक्षा के लिये) कर ग्रहण करता है ॥ ३३७ ॥

ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम् ।
साधून्संमानयेद्राजा विपरीतांश्च[3] घातयेत् ॥ ३३८ ॥
उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान्कृत्वा विवासयेत् ।
[4]सद्दानमानसत्काराञ्श्रोत्रियान्वासयेत्सदा ॥ ३३९ ॥

राष्ट्रे **राष्ट्राधिकारेषु ये नियुक्तास्तेषां विचेष्टितं** चरितं **चारै**रुक्तलक्षणैः सम्यक् **ज्ञात्वा साधून्**सुचरितान् **संमानयेत्** दानमानसत्कारैः पूजयेत् । **विपरीतान्**दुष्टचरितान्सम्यग्विदित्वा **घातयेत्** अपराधानुसारेण । ये पुन**रु[1]त्कोचजीविनस्तान्द्रव्यरहितान्कृत्वा** स्वराष्ट्रात्**प्रवासयेत्** । **श्रोत्रियान्सद्दानमानसत्कारैः** सहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रे स्वदेशे **सदैव वासयेत्**॥३३९॥

जो राज्यकार्य में नियुक्त है उनके कार्यों को गुप्तचरों से जान कर (उन राज्यकार्य में नियुक्त व्यक्तियों में से) सदाचारियों को राजा सम्मानित करे तथा विपरीतों (असदाचारियों को अपराधानुसार) दण्ड दे । जो घूस से जीविका चलाते हों उन्हें राजा उनका धन लेकर (राज्य से) निकाल दे । श्रोत्रियों को दान, सम्मान और सत्कार से युक्त कर सदा बसावे ॥ ३३८-३३९ ॥

अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्धयेत् ।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः ॥ ३४० ॥

योऽसौ राजा स्वराष्ट्रादन्यायेन द्रव्यमादाय स्वकोशं अभिवर्धयेत् सोऽचिराच्छीघ्रमेव विगतश्रीको विनष्टलक्ष्मीको बन्धुभिः सह नाशं प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

जो राजा अभ्यासपूर्वक अपने राष्ट्र (प्रजाओं) से (धन लेकर) अपना कोष बढाता है वह अपने बन्धु-बान्धवों सहित शीघ्र ही दरिद्र होकर नष्ट हो जाता है ॥ ३४० ॥

प्रजापीडनसंतापात्समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चाऽदग्ध्वा[1] नं निवर्तते ॥ ३४१ ॥

प्रजानां तस्करादिकृतपीडनेन यः संतापस्तस्मादुद्भूतो हुताशन इव संतापकारित्वादपुण्यराशिः 'हुताशन'शब्देनोच्यते । स राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा नाशमनीत्वा न निवर्तते नोपशाम्यति ॥ ३४१ ॥

प्रजापीड़न के संताप से उत्पन्न अग्नि राजा के कुल, श्री (ऐश्वर्य) और प्राणों को बिना दग्ध किये नहीं लौटता ॥ ३४१ ॥

य एव नृपतेर्धर्मः स्वराष्ट्रपरिपालने ।
तमेव कृत्स्नमाप्नोति[2] परराष्ट्रं वशं नयन् ॥ ३४२ ॥

न्यायतः स्वराष्ट्रपरिपालने राज्ञो यो धर्मस्तं सकलं वक्ष्यमाणन्यायेन परराष्ट्रं वशं नयन् आत्मसात्कुर्वन्नाप्नोति धर्मषड्भागं च ॥ ३४२ ॥

स्वराष्ट्र के (न्यायपूर्वक) परिपालन में राजा को जो धर्म प्राप्त होता है वही धर्म दूसरे राज्य को वश में करने पर उसे प्राप्त होता है ॥ ३४२ ॥

यस्मिन्[3]देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥ ३४३ ॥

किंच, यदा परदेशो वशमुपागतस्तदा न स्वदेशाचारादिसंकरः कार्यः, किं तु यस्मिन्देशे य आचारः कुलस्थितिर्व्यवहारो वा यथैव प्रागासीत्तथैवासौ परिपालनीयो यदि शास्त्रविरुद्धो न भवति । 'यदा वशमुपागतः' इत्यनेन वशोपगमनात्प्रागनियम इति दर्शितम् । यथोक्तम् (मनुः ७।१९५)—'उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् । दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥' इति ॥ ३४३ ॥

(पर-राज्य जब) अपने वश में हो जावे तो जिस देश का जो आचार-व्यवहार और कुलमर्यादा जैसी थी उसी के अनुसार उसका परिपालन करे ॥ ३४३ ॥

मन्त्रमूलं यतो राज्यं तस्मान्मन्त्रं सुरक्षितम् ।
कुर्याद्यथाऽस्य न विदुः कर्मणामा फलोदयात् ॥३४४॥

यस्मात् 'तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यम्' (आ० ३१२) इत्याद्युक्त **मन्त्रमूलं राज्यं तस्मान्मन्त्रं** यत्नेन तथा **सुरक्षितं कुर्यात्, यथाऽस्य** राज्ञः **कर्मणां** संधिविग्रहादीनामाफलोदयात् फलनिष्पत्तेः प्रागन्ये मन्त्रं **न जानन्ति** ॥३४४॥

क्योंकि राज्य का मूल मन्त्र मन्त्रणा (गुप्त परामर्श) है, अतः उसे सुरक्षित (गुप्त) रखे, जिससे राजा के कर्मों (सन्धि-विग्रहादि) को फल से पूर्व लोग न जानें ॥ ३४४ ॥

अरिर्मित्रमुदासीनोऽनन्तरस्तत्परः परः ।
क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं सामादिभिरुपक्रमैः ॥ ३४५ ॥

किंच, **अरिः** शत्रुः, **मित्रं** सुहृत्; उभयविलक्षण **उदासीनश्च** । ते च त्रयस्त्रिविधाः सहजाः कृत्रिमाः प्राकृताश्चेति । तत्र **सहजोऽरिः** सापत्नपितृव्यतत्पुत्रादिः । **कृत्रिमोऽरिः** यस्यापकृतं येन चापकृतम् । **प्राकृतस्त्वनन्तरदेशाधिपतिः** । **सहजं मित्रं** भागिनेयपैतृष्वस्रीयमातृष्वस्रीयादि । **कृत्रिमं मित्रं** येनोपकृतं यस्य चोपकृतम् । **प्राकृतमित्रमेकान्तरितदेशाधिपतिः** । **सहजकृत्रिममित्रशत्रुलक्षणरहितौ** सहजकृत्रिमोदासीनौ । **प्राकृतोदासीनो** द्व्यन्तरितदेशाधिपतिः । अरिः पुनश्चतुर्विधः—घातव्योच्छेत्तव्यपीडनीयकर्शनीयभेदेन । तत्र **घातव्योऽनन्तरभूमिपतिर्व्यसनी हीनबलो विरक्तप्रकृतिः** । विदुर्गो मित्रहीनो दुर्बलश्चोच्छेत्तव्यः । **पीडनीयो** मन्त्रबलहीनः । प्रबलमन्त्रबलयुक्तः **कर्शनीयः**; 'निर्मूलनात्समुच्छेदं पीडनं बलनिग्रहम् । कर्शनं तु पुनः प्राहुः कोशदण्डापकर्शनात् ॥' इति । मित्रं द्विविधं—बृंहणीयं, कर्शनीयमिति । कोशबलहीनं **बृंहणीयम्** । कोशबलाधिकं **कर्शनीयम्** । 'अनन्तरस्तत्परः परः' इति प्राकृतारिमित्रोदासीनानाहः **अनन्तरः** प्राकृतोऽरिः, **तत्परः** प्राकृतं मित्रं, तस्मात्परः प्राकृत उदासीनः, शेषाः पुनः प्रसिद्धत्वान्नोक्ताः । एतद्राजमण्डलं क्रमशः पूर्वादिदिक्क्रमेण चिन्त्यं तेषां चेष्टितं ज्ञातव्यम् । ज्ञात्वा च **सामादिभिरुपायैर्वक्ष्यमाणैरनुसंधेयम्** । एवं पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतश्च त्रयस्त्रय आत्मा चैक इति त्रयोदशराजकमिदं राजमण्डलं पद्माकारम् । पार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारादयस्त्वरिमित्रोदासीनेष्वेवान्तर्भवन्ति, संज्ञाभेदमात्रं ग्रन्थान्तरे दर्शितमिति योगीश्वरेण न पृथगुक्ताः ॥ ३४५ ॥

राज्य के बाद (सीमा से सटा), उसके बाद के राज्य तथा उसके बाद के राज्य के अधिपति क्रमशः सहज शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं । इन राजमण्डलों की गतिविधि क्रमशः ज्ञातव्य है और जानकारी प्राप्त कर सामादि उपायों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३४५ ॥

'सामादिभिरुपक्रमैः' (आ० ३४५) इत्युक्तम्, इदानीं तानुपायानाह—

उपायाः साम दानं च भेदो दण्डस्तथैव च ।
सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्ध्येयुर्दण्डस्त्वगतिका गतिः ॥३४६॥

साम प्रियभाषणम्, **दानं** सुवर्णादेः **भेदो** भेदकरणं तत्सामन्तादीनां परस्परतो वैरस्योत्पादनेन, **दण्ड** उपांशु-प्रकाशाभ्यां धनापहारादिर्वधपर्यन्तोऽपकारः । एते सामादयः परिपन्थ्यादिसाधनोपायाः । एते च देशकालाद्यनुसारेण **सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्ध्येयुः** । तेषां च मध्ये **दण्डस्त्वगतिका गतिः**, उपायान्तरसंभवे सति न प्रयोक्तव्यः । एतच्च पीडनीयकर्शनीयाभिप्रायेण । यातव्योच्छेत्तव्ययोस्तु दण्ड एव मुख्यः । एते सामादयो न केवलं राज्यव्यवहारविषयाः अपि तु सकललोकव्यवहारविषयाः । यथा—'अधीष्व पुत्रकाधीष्व दास्यामि तव मोदकान्। यद्वाऽन्यस्मै प्रदास्यामि कर्णमुत्पाटयामि ते॥' इति ३४६

साम, दान, भेद और दण्ड– ये चार (शत्रु आदि के वश करने के) उपाय हैं । इनका सुविचारपूर्वक विधिवत् प्रयोग करने पर सफलता प्राप्त होती है । दण्ड तभी प्रयोग करे जब अन्य कोई उपाय काम न करे ॥ ३४६ ॥

संधिं च विग्रहं यानमासनं संश्रयं तथा ।
द्वैधीभावं गुणानेतान्यथावत्परिकल्पयेत् ॥ ३४७ ॥

किंच, **संधिर्**व्यवस्थाकरणम्, **विग्रहो**ऽपकारः, **यानं** परं प्रति यात्रा, **आसनम्**उपेक्षा, **संश्रयो** बलवदाश्रयणम्, **द्वैधीभावः** स्वबलस्य द्विधाकरणम् । **एतान्संधिप्रभृतीन्गुणान् यथावद्**देशकालशक्तिमित्रादिवशेन **कल्पयेत्** ३४७

सन्धि, विग्रह, मान (शत्रु पर चढ़ाई), आसन (उपेक्षा), संश्रय (बलवान् का आश्रय) और द्वैधीभाव (अपनी सेना को दो भागों में विभक्त करना) इन गुणों का आश्रय ले ॥ ३४७ ॥

यानकालानाह—

यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत् ।
परश्च हीन आत्मा च हृष्टवाहनपूरुषः ॥ ३४८ ॥

यदा परराष्ट्रं सस्यैर्व्रीह्यादिभि**र्गुणैश्च** समजलेन्धनतृणादिभि**रुपेतं** संपन्नं **शत्रुश्च हीनो** बलादिभिः, **आत्मा च हृष्टवाहनपूरुषः** वाहनानि हस्त्यश्वादीनि तानि च पूरुषाश्च वाहनपूरुषाः हृष्टा वाहनपूरुषा यस्य स तथोक्तः । **तदा परराष्ट्र**मात्मसात्कर्तुं **व्रजेत्** ॥ ३४८ ॥

जब शत्रु का राज्य अन्नादि से पूर्ण हो, शत्रु सेनादि से बलहीन हो तथा स्वयं प्रसन्नवाहन (अश्वादि) से युक्त हो तब चढ़ाई करे ॥ ३४८ ॥

प्राणिनामभ्युदयविनिपातानां दैवायत्तत्वाद्यदि दैवमस्ति तदा स्वयमेव परराष्ट्रादि वशीभविष्यति, अथ नास्ति कृतेऽपि पौरुषे न भविष्यति, अतो व्यर्थ एवायं यात्राप्रयास इत्यत आह—

दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता ।
तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदेहिकम् ॥ ३४९ ॥

कर्मसिद्धिः फलप्राप्तिरिष्टानिष्टलक्षणा । सा न केवलं दैवे व्यवस्थिता । अपि तु पुरुषकारेऽपि; लोके तथा दर्शनात्, चिकित्सकादिशास्त्रवैयर्थ्याच्च । अपि च पुरुषकाराभावे दैवमेव नास्तीत्याह—**तत्र दैव**मिति । यतः पूर्वदेहार्जितं पौरुषमेव दैवमुच्यते । अल्पपुरुषकारानन्तरं महाफलोदयाभिव्यक्तं **पौरुषं पौर्वदेहिकं** कर्म । तस्मात्पुरुषकाराभावे न दैवमस्तीति पुरुषकारे यत्नो विधातव्यः ॥ ३४९ ॥

कार्य की सफलता दैव और पौरुष पर स्थित है । इसमें दैव (अल्प प्रयास से भी महान् फल की प्राप्ति) पूर्व शरीर का पौरुष ही प्रकट है ॥ ३४९ ॥

इदानीं मतान्तराण्याह—

केचिद्दैवात्[२]स्वभावाद्वा कालात्पुरुषकारतः ।
संयोगे[३] केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः ॥ ३५० ॥

केचिदिष्टानिष्टलक्षणं **फलं दैवा**देवेच्छन्ति । केचित्स्वभावात्स्वयमेव भवति, न कारणमपेक्षत इति । **केचित्कालात्** । **केचित्पुरुषकारत** एवेति । इदानीं स्वमतमाह—दैवादीनां **संयोगे** समुच्चये **फलं** भवतीति **कुशलबुद्धयो** मन्वादयो मन्यन्ते ॥ ३५० ॥

कुछ लोग फल को दैव से, (कुछ) पुरुषकार (पौरुष) से और कुछ लोग काल (समय) से मानते हैं । कुछ कुशल बुद्धि वाले (इन सबके) संयोग से फल को मानते हैं ॥ ३५० ॥

एकैकस्मात्फलं न भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ ३५१ ॥

नात्र तिरोहितमस्ति ॥ ३५१ ॥

जैसे एक पहिये से रथ नहीं चल सकता वैसे ही बिना पुरुषकार के दैव सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३५१ ॥

लाभाय परराष्ट्रं गन्तव्यमित्युक्तम् । लाभश्च त्रिविधः—हिरण्यलाभो मूललाभो मित्रलाभश्चेति, तेषु मित्रलाभो ज्यायान् । ततस्तत्प्राप्त्युपाये यत्नो विधातव्यः । तत्प्राप्त्युपायश्च सत्यवचनमित्याह—

हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः ।
अतो यतेत तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहितः ॥ ३५२ ॥

यस्मात् **हिरण्यभूमित्रलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा** उत्कृष्टा तस्मात्तत्प्राप्त्यै **यतेत** यत्नं कुर्यात् सामादिभिः । **सत्यं च रक्षेत्** । **समाहितः** सावधानः । सत्यमूलत्वान्मित्रलाभस्य ॥ ३५२ ॥

सोना और भूमि की प्राप्ति से मित्र की प्राप्ति श्रेष्ठ है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये तथा (उसकी प्राप्ति के लिये) सावधानी से सत्य की रक्षा करनी चाहिये ॥ ३५२ ॥

इदानीं राज्याङ्गान्याह—

स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च ।
मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

'महोत्साह' (आ० ३०९) इत्याद्युक्तलक्षणो महीपतिः **स्वामी**, **अमात्या** मन्त्रिपुरोहितादयः, **जनो** ब्राह्मणादिप्रजाः, **दुर्गं** धन्वदुर्गादि, **कोशः** सुवर्णादिधनराशिः, **दण्डो** हस्त्यश्वरथपत्तिलक्षणं चतुरङ्गबलम् । **मित्राणि** सहजकृत्रिमप्राकृतानि, **एताः** स्वाम्याद्याः राज्यस्य **प्रकृतयो** मूलकारणानि । एवं **राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते** ॥ ३५३ ॥

स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्री, पुरोहित आदि), जन (प्रजा), दुर्ग, कोश, दण्ड (चतुरङ्गिणी सेना), मित्र (ये सात) प्रकृति (राज्य के मूल कारण) हैं, अतः राज्य सप्ताङ्ग होता है ॥ ३५३ ॥

तदवाप्य नृपो दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत् ।
धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ॥ ३५४ ॥

तदेवंविधं राज्यं **प्राप्य दुर्वृत्तेषु** वञ्चकशठधूर्तपरदारपरद्रव्यापहारिहिंसकादिषु **नृपो दण्डं पातयेत्** प्रयोजयेत् **हि** यस्माद्**धर्म** एव **दण्डरूपेण पूर्वं ब्रह्मणा निर्मितः** । तस्य च दण्ड इति यौगिकी संज्ञा—'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत्' (११।१२८) इत्यादिगौतमस्मरणात् ॥ ३५४ ॥

इस (सप्ताङ्ग) राज्य को प्राप्त कर राजा दुराचारियों (ठग, दुष्ट, धूर्त, परस्त्रीगामी, परद्रव्यहारी, हिंसक आदि) पर दण्ड गिरावे अर्थात् उन्हें दण्ड दे । पूर्वकाल में ब्रह्मा ने धर्म को ही दण्ड के रूप में निर्मित किया था ॥ ३५४ ॥

स नेतुं न्यायतोऽशक्यो लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
सत्यसंधेन शुचिना सुसहायेन धीमता ॥ ३५५ ॥

स पूर्वोक्तो दण्डो **लुब्धेन** कृपणेनाकृतबुद्धिना चञ्चलबुद्धिना **न्यायतो** न्यायानुसारेण **नेतुं** प्रयोक्तुं **शक्यो न भवति** । कीदृशेन तर्हि शक्य इत्याह—**सत्यसंधेना**प्रतारकेण । **शुचिना** जितारिषड्वर्गेण । **सुसहायेन** पूर्वोक्तसहायसहितेन । **धीमता** नयानयकुशलेन **स** दण्डो **न्यायतो** धर्मानुसारेण **नेतुं शक्यः** ॥ ३५५ ॥

वह दण्ड लोभी और चञ्चल बुद्धि वाले (राजा) द्वारा न्यायपूर्वक प्रयोग करना संभव नहीं है । उसे सत्यवादी शुचि (कामादि दोष रहित) तथा उत्तम सहायकों से युक्त (राजा) ही (न्यायपूर्वक) प्रयुक्त कर सकता है ॥ ३५५ ॥

यथाशास्त्रं प्रयुक्तः सन् सदेवासुरमानवम् ।
जगदानन्दयेत्सर्वमन्यथा तत्प्रकोपयेत् ॥ ३५६ ॥

स दण्डः शास्त्रोक्तमार्गेण प्रयुज्यमानः सन् देवासुरमानवैः सहितं इदं सर्वं जगदानन्दयेत् हर्षयेत् । **अन्यथा** शास्त्रातिक्रमेण प्रयुक्तश्चे**ज्जगत्प्रकोपयेत्** ॥ ३५६ ॥

वह दण्ड शास्त्रानुसार प्रयुक्त होने पर देवों, असुरों और मनुष्यों सहित समग्र जगत् को आनन्दित करता है और अन्यथा (शास्त्रविरुद्ध) प्रयुक्त होने पर वह (जगत् को) प्रकुपित करता है ॥ ३५६ ॥

न केवलमधर्मदण्डेन जगत्प्रकोपः, अपि तु प्रयोक्तुर्दृष्टादृष्टहानिरपीत्याह—

अधर्मदण्डनं स्वर्गकीर्तिलोकविनाशनम् ।
सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः स्वर्गकीर्तिजयावहम् ॥ ३५७ ॥

यः पुनः **शास्त्रातिक्रमेण** लोभादिना **दण्डः कृतः** स पापहेतुत्वा**त्स्वर्गं कीर्तिं लोकांश्च विनाशयति । शास्त्रोक्तमार्गेण तु कृतो** धर्महेतुत्वा**त्स्वर्गकीर्तिजयानां हेतुर्भवति** ॥ ३५७ ॥

अधर्मपूर्वक दण्डित करना स्वर्ग, कीर्ति और लोकों का विनाशक है और विधिपूर्वक (शास्त्रानुसार) दण्ड देना राजा को स्वर्ग, कीर्ति और जय को देता है ॥ ३५७ ॥

अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात् ॥३५८

अर्घ्योऽर्घार्हः आचार्यादिः । शेषः प्रसिद्धः । एते भ्रातृसुतादयोऽपि स्वधर्माच्चलिता दण्ड्याः, किमुतान्ये । यतः स्वधर्माच्चलितः अदण्ड्यो नाम राज्ञः कोऽपि नास्ति । एतच्च मातापित्रादिव्यतिरेकेण । तथा च स्मृत्यन्तरम् —'अदण्ड्यौ मातापितरौ स्नातकपुरोहितपरिव्राजकवानप्रस्थाः श्रुतशीलशौचाचारवन्तस्ते हि धर्माधिकारिणः' इति ॥ ३५८ ॥

भाइ, लड़का, अर्घपात्र (ऋत्विक्, दामाद आदि छः), श्वशुर, मामा कोई भी यदि अपने धर्म से विचलित है तो राजा के लिये अदण्ड्य नहीं है ॥ ३५८ ॥

यो दण्ड्यान्दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत् ।
इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः ॥ ३५९ ॥

किंच, यस्तु राजा दण्ड्यान् स्वधर्मचलनादिना दण्डयोग्यान् सम्यक् शास्त्रदृष्टेन मार्गेण धिग्धनदण्डादिना दण्डयति, वध्यान्वधार्हान् घातयति तेन राज्ञा भूरिदक्षिणैः क्रतुभिरिष्टं भवति । बहुदक्षिणक्रतुफलं प्राप्नोतीत्यर्थः । नच फलश्रवणाद्दण्डप्रणयनं काम्यमिति मन्तव्यम्; अकरणे प्रायश्चित्तस्मरणात् । यथाह वसिष्ठः (१९।४०-४४)—'दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्', 'त्रिरात्रं पुरोहितः', 'कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहितः', 'त्रिरात्रं राजा' इति ३५९

जो राजा दण्डनीय लोगों को विधिपूर्वक दण्ड देता है तथा मारने योग्य लोगों को मारता है उसने दक्षिणा युक्त यज्ञों का अनुष्ठान कर दिया है (अर्थात् दक्षिणा सहित यज्ञों का फल प्राप्त करता है) ॥ ३५९ ॥

'दुष्टे सम्यग्दण्डः प्रयोक्तव्यः' (आ० ३५४) इत्युक्तं, दुष्टपरिज्ञानं च व्यवहारदर्शनमन्तरेण न भवतीति तत्परिज्ञानाय व्यवहारदर्शनमहरहः स्वयं कर्तव्यमित्याह—

इति संचिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्यफलं पृथक् ।
व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् ॥ ३६० ॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण क्रतुतुल्यं फलं दण्ड्यदण्डने, स्वर्गादिनाशं चादण्ड्यदण्डने सम्यग्विचिन्त्य पृथक्पृथग्वर्णादिक्रमेण, सभ्यैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः परिवृतः, प्रतिदिनं व्यवहारान्वक्ष्यमाणमार्गेण दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थं राजा स्वयं पश्येत् ॥ ३६० ॥

इस प्रकार राजा (दण्ड्य को दण्ड देने में) यज्ञ का फल विचार कर (तथा अदण्ड्य को दण्ड देने में स्वर्ग का नाश जान कर) पृथक्-पृथक् (वर्णादि क्रम से) सभ्यों (शास्त्रज्ञ विद्वानों) से आवृत होकर प्रतिदिन स्वयं विवादों को देखे (विचार करे) ॥ ३६० ॥

कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि ।
स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥ ३६१ ॥

कुलानि ब्राह्मणादीनाम्, **जातयो** मूर्धावसिक्तप्रभृतयः, **श्रेणय**स्ताम्बूलिकादीनाम्, **गणा** [1]हेलावुकादीनाम्, **जानपदाः** कारुकादयः, एतान्**स्वधर्माच्चलिता**न्प्रच्युतान् **राजा** यथापराधं **विनीय** दण्डयित्वा **पथि** स्वधर्मे **स्थापयेत्**। 'दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत्' (आ० ३५४) इत्युक्तं, स च दण्डो द्विविधः—शारीरोऽर्थदण्डश्चेति । यथाह नारदः—'शारीरश्चार्थदण्डश्च दण्डो हि द्विविधः स्मृतः । शारीरस्ताडनादिस्तु मरणान्तः प्रकीर्तितः ॥ [2]कौकि[3]ण्यादिस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्तस्तथैव च ॥' इति । द्विविधोऽप्यपराधानुसारेणानेकधा भवति । आह स—'शारीरो दशधा प्रोक्तो ह्यर्थदण्डस्त्वनेकधा' इति ॥ ३६१ ॥

(ब्राह्मणादि के) कुलों, (क्षत्रियादि की) जातियों, (ताम्बूलिक आदि) की श्रेणियों, (हेलावुक आदि) गणों और (कारुक आदि) जानपदों को अपने धर्म से विचलित होने पर राजा दण्ड देकर उनको स्वपथ में स्थापित करे ॥ ३६१ ॥

तत्र कृ[3]ष्णलमाषसुवर्णपलादिशब्दैरर्थदण्डा वक्तव्याः, ते च प्रतिदेशं भिन्नपरिमाणार्था इत्येकरूपापराधेऽपि देशभेदेन न्यूनाधिकदण्डो मा भूदिति कृष्णलादिशब्दानां नियतपरिमाणविषयत्वं दण्डव्यवहारे दर्शयितुमाह—

जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणू रजः स्मृतम् ।
तेऽष्टौ लिक्षा तु तास्तिस्रो राजसर्षप उच्यते ॥ ३६२ ॥
गौरस्तु ते त्रयः षट् ते यवो मध्यस्तु ते त्रयः ।
कृष्णलः पञ्च ते माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ ३६३ ॥
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पञ्च वापि प्रकीर्तितम् ।

जालकान्तरप्रविष्टादित्यरश्मिस्थितं यद्रजस्तत् त्रसरेणुरित्युक्तं योगीश्वरादिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । **ते च त्रसरेणवोऽष्टौ लिक्षा** स्वेदजयूकाण्डम् । **ता लिक्षास्तिस्रो राजसर्षपो** राजिका । **ते** राजसर्षपास्**त्रयो गौरसर्षपः** सिद्धार्थः । **गौरसर्षपाः षड् यवो मध्यः** मध्यमः, न स्थूलो न सूक्ष्मः । एतेन गौरसर्षपा अपि मध्यमा इति गम्यते । तथा राजसर्षपा अपि 'मध्यम'-शब्दादेव । सर्षपादिशब्दाः न केवलमुन्मानवचनाः किंतु तदुन्मितद्रव्यवचना इति गम्यते, यथा प्रस्थपरिमिता यवाः प्रस्थ उच्यते । एवं सर्षपाद्युन्मितं द्रव्यं सर्षपादिशब्दैः । सर्षपादिशब्दानां च केवलोन्मानवचनत्वे त्रसरे[2]णूनुपसंहृत्योन्मातुमशक्यत्वात्तद्वारेण कृष्णलादिव्यवहारो न स्यात् । तत्र स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम-मध्यसर्षपाद्युन्मानभेदेन प्रतिदेशं व्यवहारभेदे

स्थिते दण्डव्यवहारे मध्य इति नियम्यते। **ते मध्यमा यवास्त्रय एकः कृष्णलः।** **ते कृष्णलाः पञ्चैको माषः** । **ते माषाः षोडशैकः सुवर्णः। ते सुवर्णाश्चत्वारः पलमिति संज्ञाः कथिता** इति । पञ्च वापि पलं प्रकीर्तितं नारदादिभिः। तत्र स्थूलैस्त्रिभिर्यवैः कृष्णलपरिकल्पनायां व्यावहारिकनिष्कस्य षोडशांशः कृष्णलो भवति । तैः पञ्चभिर्माषः । माषैः षोडशभिः सुवर्णः। स च व्यावहारिकैः पञ्चभिर्निष्कैरेकः सुवर्णो भवति। ते चत्वारः पलमिति। निष्काणां विंशतिः पलम्। यदा तु सूक्ष्मैस्त्रिभिर्यवैः कृष्णलः परिकल्प्यते तदा व्यावहारिकनिष्कस्य द्वात्रिंशत्तमो भागः कृष्णलो भवति। तस्मिन्पक्षे सुवर्णः सार्धं निष्कद्वयं भवति। पलं च दशनिष्कम्। यदा तु मध्यमयवैः कृष्णलपरिकल्पना तदा निष्कस्य विंशतितमो भागः कृष्णलः, सुवर्णश्चतुर्निष्कः, षोडशनिष्कं पलम्। एवं पञ्चसुवर्णं पलमिति। पक्षे विंशतिनिष्कं पलम्। एवमन्यदपि निष्कस्य चत्वारिंशो भागः कृष्णलः, द्विनिष्कः सुवर्णोऽष्टनिष्कं पलमित्यादिलोकव्यवहारानुसारेणास्मादेव सूत्रादूहनीयम् ॥ ३६२–३६३ ॥–

जाली में आने वाली सूर्य-किरण में पड़ा धूलिकण त्रसरेणु होता है । आठ त्रसरेणु की एक लिक्षा होती है । तीन लिक्षाओं को राजसर्षप कहा जाता है । तीन राजसर्षप का एक गौरसर्षप होता है । छः गौरसर्षप एक मध्यम यव कहलाता है । तीन मध्यम यव का एक कृष्णल होता है । पाँच कृष्णल का एक माष और सोलह माष का एक सुवर्ण होता है । चार या पाँच सुवर्ण (मिलकर) एक पल कहे जाते हैं ॥ ३६२-३६३$\frac{१}{२}$ ॥

एवं सुवर्णस्योन्मानं प्रतिपाद्येदानीं रजतस्याह[1]—

द्वे कृष्णले [३]रूप्यमाषो धरणं षोडशैव ते ॥ ३६४ ॥
शतमानं तु दशभिर्धरणैः पलमेव तु ।
निष्कं सुवर्णाश्चत्वारः

द्वे कृष्णले पूर्वोक्ते, **रूप्यमाषो** रूप्यसंबन्धी माषः । **ते रूप्यमाषाः षोडश धरणम्।** 'पुराण' इत्यस्यैव संज्ञान्तरम्; 'ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः' इति (८।१३६) मनुस्मरणात् । **दशभिर्धरणैः शतमानं पलमिति** चाभिधीयते । **पूर्वोक्ताश्चत्वारः सुवर्णा** एको राजतो **निष्को** भवति ॥ ३६४ ॥

(पूर्वोक्त) दो कृष्णल (का एक) चाँदी का माष होता है । सोलह चाँदी का माष (रूप्यमाष का) एक धरण होता है । दश धरण का एक सौ मान वाला पल होता है । (पूर्वोक्त) चार सुवर्ण का एक निष्क होता है ॥ ३६४$\frac{१}{२}$ ॥

इदानीं ताम्रस्योन्मानमाह—

कार्षिकस्ताम्रिकः पणः ॥ ३६५ ॥

पलस्य चतुर्थोऽशः कर्ष इति लोकप्रसिद्धः । कर्षेणोन्मितः **कार्षिकः** । ताम्रस्य विकारस्ताम्रिकः । कर्षसंमितस्ताम्रविकारः **पणसंज्ञो** भवति, कार्षापणसंज्ञकश्च; 'कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः' इति (८।१३६) मनुवचनात् । पञ्चसुवर्णपलपक्षे विंशतिमाषः पणो भवति । तथा सति—'माषो विंशतिमो भागः पणस्य परिकीर्तितः' इत्यादिव्यवहारः सिद्धो भवति । चतुःसुवर्णपलपक्षे तु षोडशमाषः पणो भवति । अस्मिंश्च पक्षे सुवर्ण-कार्षापण-पणशब्दानां समानार्थत्वेऽपि पण-कार्षापणशब्दौ ताम्रविषयावेव । एवं तावद्धेमरूप्यताम्राणामुन्मानमुक्तम्; दण्डव्यवहारोपयोगित्वात् । कांस्यरीतिकादीनामपि लोकव्यवहाराङ्गभूतानामेवोन्मानं द्रष्टव्यम् ॥ ३६५ ॥

एक कर्ष (पल का चतुर्थांश) के बराबर ताम्र का (सिक्का– कार्षापण) पण होता है ॥ ३६५ ॥

स्वशास्त्रपरिभाषामाह—

साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहसः ।
तदर्धं मध्यमः प्रोक्तस्तदर्धमधमः स्मृतः ॥ ३६६ ॥

पणानां सहस्रं पणसहस्रम्, तत्परिमाणमस्येति **पणसाहस्रः** । अशीत्या सह वर्तत इति **साशीतिः** । अशीत्यधिकपणसहस्रपरिमितो यो दण्डः स **'उत्तमसाहस'**संज्ञो वेदितव्यः । **तदर्धं मध्यमः** तस्य साशीतिपणसहस्रस्यार्धं चत्वारिंशदधिकपणपञ्चशतपरिमितो दण्डो **'मध्यमसाहस'**संज्ञः । **तदर्धमधमः** तस्य चत्वारिंशदधिकपञ्चशतपणस्यार्धं सप्तत्यधिकपणशतद्वयपरिमितो दण्डः **'अधमसाहस'**संज्ञः स्मृत उक्तो मन्वादिभिः । यत्तु—'पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं चैव चोत्तमः' इति (८।१३८) मनुनोक्तं तत्पक्षान्तरममतिपूर्वापराधविषयं द्रष्टव्यम् ॥ ३६६ ॥

उत्तम साहस दण्ड एक हजार अस्सी पण का होता है । मध्यम साहस दण्ड इसका आधा होता है और उसका आधा अधम साहस कहा गया है ॥ ३६६ ॥

दण्डभेदानाह—

धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा ।
योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यपराधवशादिमे ॥ ३६७ ॥

धिग्दण्डो धिग्धिगिति कुत्सनम्, **वाग्दण्डस्तु** परुषशापवचनात्मकः,

धनदण्डो धनापहारात्मकः, वधदण्डः शारीरोऽवरोधादिजीवितान्तः, एते चतुर्विधा दण्डाः व्यस्ता एकैकशः, समस्ताः द्वित्राः त्रिचतुरो वाऽपराधानुसारेण प्रयोक्तव्याः। उक्तक्रमेण पूर्वपूर्वासाध्ये उत्तर उत्तरः प्रयोक्तव्यः। यथाह मनुः (८।१२९)—'धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम्। तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥' इति ॥ ३६७ ॥

धिग्दण्ड (वाणी से धिक्कारना), वाग्दण्ड (कठोर वचन कहना), धनदण्ड (अर्थ का जुर्माना) तथा वध अपराध के अनुसार अलग-अलग या एक साथ प्रयोग करना चाहिये ॥ ३६७ ॥

दण्डव्यवस्थानिमित्तान्याह—

ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ ३६८ ॥

यथापराधं ज्ञात्वा तदनुसारेण दण्डप्रणयनं कुर्वीत। एवं देशकालवयःकर्मवित्तानि ज्ञात्वा तदनुसारेण दण्ड्येषु दण्डार्हेषु दण्डप्रणयनं कुर्यात्। तथा बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वसकृदावृत्त्यनुसारेण च। यद्यपि राजानमधिकृत्यायं राजधर्मकलाप उक्तस्तथापि वर्णान्तरस्यापि विषयमण्डलादिपरिपालनाधिकृतस्यायं धर्मो वेदितव्यः। 'राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः' (मनु. ७।१) इत्यत्र पृथङ्नृपग्रहणात्करग्रहणस्य रक्षार्थत्वात्, रक्षणस्य च दण्डप्रणयनायत्तत्वादिति ॥३६८

(अपराधी के) अपराध देश, काल, बल, आयु कर्म तथा धन की जानकारी प्राप्त कर दण्डनीयों को दण्ड दे ॥ ३६८ ॥

इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

इति श्रीपद्मनाभभट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकविज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षरायां याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रविवृतौ सदाचारः प्रथमाध्यायः ॥

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः।
धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः ॥

— अस्मिन्नध्याये प्रकरणानि —

१ उपोद्घातप्रकरणम्। २ ब्रह्मचारिप्रकरणम्।
३ विवाहप्रकरणम्। ४ जातिविवेकप्रकरणम्।
५ गृहस्थधर्मप्रकरणम्। ६ स्नातकव्रतप्रकरणम्।
७ भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम्। ८ द्रव्यशुद्धिप्रकरणम्।
९ दानधर्मप्रकरणम्। १० श्राद्धप्रकरणम्।
११ गणपतिकल्पप्रकरणम्। १२ ग्रहशान्तिप्रकरणम्।
१३ राजधर्मप्रकरणम्। एवं त्रयोदश प्रकरणानि ॥

याज्ञवल्क्यमुनिशास्त्रगतेयं विवृतिर्न कस्य विहिता विदुषः।
प्रमिताक्षरापि विपुलार्थवती परिषिञ्चति श्रवणयोरमृतम् ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

मिताक्षरासंवलिता ।

व्यवहाराध्यायः ।

साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १

अभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनं परमो धर्मः । तच्च दुष्टनिग्रहमन्तरेण न संभवति । दुष्टपरिज्ञानं च न व्यवहारदर्शनमन्तरेण संभवति । तद्व्यवहारदर्शनमहरहः कर्तव्यमित्युक्तं (आ० ३६०)—'व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्' इति । स च व्यवहारः कीदृशः, कतिविधः, कथं चेतीतिकर्तव्यताकलापो नाभिहितः, तदभिधानाय द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते—

व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥ १ ॥

व्यवहारानिति । अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं **व्यवहारः** । यथा कश्चिदिदं क्षेत्रादि मदीयमिति कथयति, अन्योऽपि तद्विरोधेन मदीयमिति । तस्यानेकविधत्वं दर्शयति बहुवचनेन । **नृप** इति न क्षत्रियमात्रस्यायं धर्मः किंतु प्रजापालनाधिकृतस्यान्यस्यापीति दर्शयति । **पश्येदिति** पूर्वोक्तस्यानुवादो धर्मविशेषविधानार्थः । **विद्वद्भिर्** वेदव्याकरणादिधर्मशास्त्राभिज्ञैः । **ब्राह्मणैर्न** क्षत्रियादिभिः । 'ब्राह्मणैः सह' इति तृतीयानिर्देशादेषामप्राधान्यम् । 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा. २।३।१९) इति स्मरणात् । अतश्चादर्शनेऽन्यथादर्शने वा राज्ञो दोषो न ब्राह्मणानाम् । यथाह मनुः (८।१२८)—'अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥' इति । कथम्? **धर्मशास्त्रानुसारेण**, नार्थशास्त्रानुसारेण । देशादिसमयधर्मस्यापि धर्मशास्त्राविरुद्धस्य धर्मशास्त्रविषयत्वान्न पृथगुपादानम् । तथा च वक्ष्यति (व्य० १८६)—'निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् । सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥' इति **क्रोधलोभविवर्जित** इति । 'धर्मशास्त्रानुसारेण' इति सिद्धे 'क्रोधलोभविवर्जितः' इति वचनमादरार्थम् । क्रोधोऽमर्षः, लोभो लिप्सातिशयः ॥ १ ॥

राजा क्रोध और लोभ से विरहित होकर विद्वान् ब्राह्मणों के साथ धर्मशास्त्रानुसार व्यवहारों (विवादों) को देखे अर्थात् उन पर विचार करे ॥ १ ॥

सभ्यांश्चाह—

श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥ २ ॥

किंच, **श्रुताध्ययनसंपन्नाः** श्रुतेन मीमांसाव्याकरणादिश्रवणेन अध्ययनेन च वेदाध्ययनेन संपन्नाः, **धर्मज्ञाः** धर्मशास्त्रज्ञाः, **सत्यवादिनः** सत्यवचनशीलाः, **रिपौ मित्रे च ये समाः** रागद्वेषादिरहिताः, एवंभूताः **सभासदः** सभायां संसदि यथा सीदन्त्युपविशन्ति तथा दानमानसत्कारैः **राज्ञा कर्तव्याः** । यद्यपि 'श्रुताध्ययनसंपन्नाः' इत्यविशेषेणोक्तं, तथापि ब्राह्मणा एव । यथाह कात्यायनः—'स तु सभ्यैः स्थिरैर्युक्तः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विजोत्तमैः । धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः ॥' इति । ते च त्रयः कर्तव्याः; बहुवचनस्यार्थवत्त्वात् 'यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः' इति (८।११) मनुस्मरणाच्च । बृहस्पतिस्तु सप्त पञ्च त्रयो वा सभासदो भवन्तीत्याह—'लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा । यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥' (१।११) इति । नच 'ब्राह्मणैः सह' इति पूर्वश्लोकोक्तानां ब्राह्मणानां 'श्रुताध्ययनसंपन्नाः' इत्यादि विशेषणमिति मन्तव्यम्; तृतीयाप्रथमान्तनिर्दिष्टानां विशेषणविशेष्यभावासंभवात्, 'विद्वद्भिः' इत्यनेन पुनरुक्तिप्रसङ्गाच्च । तथा च कात्यायनेन ब्राह्मणानां सभासदां च स्पष्टं भेदो दर्शितः—'सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः । ससभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः ॥' इति । तत्र ब्राह्मणा अनियुक्ताः, सभासदस्तु नियुक्ता इति भेदः । अत एवोक्तम्—'नियुक्तो वाऽनियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति' इति । तत्र नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजाऽन्यथा करोति तदाऽसौ निवारणीयः, अन्यथा दोषः । उक्तं च कात्यायनेन—'अन्यायेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः । तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः स तैर्नृपः ॥' इति । अनियुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽनभिधाने वा दोषो नतु राज्ञोऽनिवारणे—'सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥' इति (८।१३) मनुस्मरणात् 'रिपौ मित्रे च' इति चकाराल्लोकरञ्जनार्थं कतिपयैर्वणिग्भिरप्यधिष्ठितं सदः कर्तव्यम् । यथाह कात्यायनः—'कुलशीलवयोवृत्तवित्तवद्भिरमत्सरैः । वणिग्भिः स्यात्कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम् ॥' इति ॥ २ ॥

राजा को श्रुत (मीमांसा-व्याकरणादि) तथा अध्ययन (वेदाध्ययन) से युक्त, धर्मशास्त्र के ज्ञाता, सत्यवादी पुरुषों को सभासद बनाना चाहिये, जो शत्रु और मित्र में (व्यवहार के निर्णय में) समान हों ॥ २ ॥

'व्यवहारान्नृपः पश्येत्' (व्य० १) इत्युक्तं, तत्रानुकल्पमाह—

अपश्यता कार्यवशाद्व्यवहारान्नृपेण तु ।
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित् ॥ ३ ॥

कार्यान्तरैर्व्याकुलतया **व्यवहारानपश्यता नृपेण** पूर्वोक्तैः **सभ्यैः सह** सर्वधर्मवित् सर्वान्धर्मशास्त्रोक्तान्सामयिकांश्च धर्मान्वेत्ति विचारयतीति **सर्वधर्मवित् ब्राह्मणो** न क्षत्रियादिर्**नियोक्तव्यो** व्यवहारदर्शने । तं च कात्यायनोक्तगुणविशिष्टं कुर्यात् । यथाह—'दान्तं कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेगकरं स्थिरम् । परत्र भीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोधवर्जितम् ॥' इति । एवंभूतब्राह्मणासंभवे क्षत्रियं वैश्यं वा नियुञ्जीत, न शूद्रम् । यथाह कात्यायनः—'ब्राह्मणो यत्र न स्यात्तु क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥' इति । नारदेन स्वयमेव मुख्यो दर्शितः—'धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमात् ॥' इति । प्राड्विवाकमते स्थितो न स्वमते स्थितः, राजा चारचक्षुषा परसैन्यं पश्यतीतिवत् । तस्य चेयं यौगिकी संज्ञा । अर्थिप्रत्यर्थिनौ पृच्छतीति प्राट्, तयोर्वचनं विरुद्धमविरुद्धं च सभ्यैः सह विविनक्ति विवेचयति चेति विवाकः, प्राट् चासौ विवाकश्च प्राड्विवाकः । उक्तं च—'विवादानुगतं पृष्ट्वा ससभ्यस्तत्प्रयत्नतः । विचारयति येनासौ प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥' इति ॥ ३ ॥

कार्य (की व्यस्तता या अस्वस्थता) वश व्यवहारों (वादों) को न देख सकने पर राजा सभ्यों (सभासदों) के साथ सभी धर्मों को जानने वाले ब्राह्मण को (व्यवहार देखने के लिये) नियुक्त करे ॥ ३ ॥

प्राड्विवाकादयः सभ्या यदि रागादिना स्मृत्यपेतं व्यवहारं विचारयन्ति तदा राज्ञा किं कर्तव्यमित्यत आह—

रागाल्लोभाद्भयाद्वाऽपि स्मृत्यपेतादिकारिणः ।
सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम् ॥ ४ ॥

अपि च, पूर्वोक्ताः **सभ्या** रजसो निरङ्कुशत्वेन तदभिभूता **रागात्**स्नेहातिशयाल्**लोभा**ल्लिप्सातिशयाद्**भया**त्संत्रासात्**स्मृत्यपेतं** स्मृतिविरुद्धं, 'आदि'शब्दादाचारापेतं कुर्वन्तः **पृथक्पृथग्**एकैकशो **विवादा**द्विवादपराजयनिमित्ताद्दमा**द्द्विगुणं दमं दण्ड्याः**, न पुनर्विवादास्पदीभूताद्द्रव्यात् । तथा सति स्त्रीसंग्रहणादिषु दण्डाभावप्रसङ्गः । रागलोभभयानामुपादानं रागादिष्वेव द्विगुणो दमो नाज्ञानमोहादिष्विति नियमार्थम् ॥ नच 'राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्' (११।१) इति गौतमवचनान्न ब्राह्मणा दण्ड्या इति मन्तव्यम्; तस्य प्रशंसार्थत्वात् ॥ यत्तु 'षड्भिः परिहार्यो राज्ञाऽवध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्च' (गौ. ८,१२-१३) इति, तदपि 'स एष बहुश्रुतो भवति लोकवेदवेदाङ्गविद्वाकोवाक्ये-

तिहासपुराणकुशलस्तदपेक्षस्तद्वृत्तिश्चाष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतस्त्रिषु कर्मस्वभिरतः षट्सु वा सामयाचारिकेष्वभिविनीत' (गौ. ८।४-११) इति, प्रतिपादितबहुश्रुतत्रिषयं; न ब्राह्मणमात्रविषयम् ॥ ४ ॥

राग (स्नेह), लोभ या भय के वश व्यवहार में स्मृति (धर्मशास्त्र) आदि के विरुद्ध आचरण करने वालों को उस विवाद में पराजय का जितना दण्ड हो उसका दुगुना दण्ड पृथक्-पृथक् (सभी ऐसा आचरण करने वाले) सभासदों से लेना चाहिये ॥ ४ ॥

व्यवहारविषयमाह—

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः ।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत् ॥ ५ ॥

धर्मशास्त्र[1]**समाचारविरुद्धेन मार्गेण परैराधर्षितोऽभिभूतो यद्राज्ञे** प्राड्विवाकाय वा **आवेदयति** विज्ञापयति **चेद्**यदि, तदावेद्यमानं व्यवहारपदं प्रतिज्ञोत्तरसंशयहेतुपरामर्शप्रमाणनिर्णयप्रयोजनात्मको व्यवहारस्तस्य पदं विषयः । तस्य चेदं सामान्यलक्षणम् । स च द्विविधः—शङ्काभियोगस्तत्त्वाभियोगश्चेति । यथाह नारदः (१।२७)—'अभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्त्वाभियोगतः । शङ्काऽसतां तु संसर्गात्तत्त्वं होढाभिदर्शनात् ॥' इति । होढा लोप्त्रं, लिङ्ग[2]मिति यावत् । तेन दर्शनं, साक्षाद्वा दर्शनं होढाभिदर्शनं तस्मात् । तत्त्वाभियोगोऽपि द्विविधः—प्रतिषेधात्मको विध्यात्मकश्चेति । यथा—'मत्तो हिरण्यादिकं गृहीत्वा न प्रयच्छति', 'क्षेत्रादिकं ममायमपहरति' इति च । उक्तं च कात्यायनेन—'न्याय्यं स्वं नेच्छते कर्तुमन्याय्यं वा करोति यः' इति । स पुनश्चाष्टादशधा भिद्यते । यथाह मनुः (८।४-७)—'तेषामाद्य[3]मृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः । संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ वेतन[4]स्यैव चाऽऽदानं संविदश्च व्यतिक्रमः । क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ सीमा[5]विवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके । स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ [6]स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च [illegible] दशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥' इति ॥ एतान्यपि साध्यभेदेन पुनर्बहुत्वं गतानि । यथाह नारदः (१।२०)—'एषामेव प्रभेदोऽन्यः शतमष्टोत्तरं भवेत् । क्रियाभेदान्मनुष्याणां शतशाखो निगद्यते ॥' इति ॥ 'आवेदयति चेद्राज्ञे' इत्यनेन स्वयमेवागत्यावेदयति, न राजप्रेरितस्तत्पुरुषप्रेरितो वेति दर्शयति । यथाह मनुः (८।४३)—'नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा वाप्यस्य पूरुषः । नच प्रापितमन्येन ग्रसेतार्थं कथंचन ॥' इति ॥ परैरिति परेण पराभ्यां परैरित्येकस्यैकेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा व्यवहारो भवतीति दर्शयति ॥ यत्पुनः—'एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च । अनादेयो भवेद्वादो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥' इति नारद(कात्यायन?)वचनं, तद्भिन्नसा-

व्यद्वयविषयम् । 'आवेदयति चेद्राज्ञे' इत्यनेनैव राज्ञा पृष्टो विनीतवेष आवेदयेत् । आवेदितं च युक्तं चेन्मुद्रादिना प्रत्यर्थ्याह्वानमक[2]ल्पादीनां चानाह्वानमित्याद्यर्थसिद्धमिति नोक्तम् । स्मृत्यन्तरे तु स्पष्टार्थमुक्तम् । यथा 'काले कार्यार्थिनं पृच्छे[1]द्व्रणन्तं पुरतः स्थितम् । किं कार्यं का च ते पीडा मा भैषीर्ब्रूहि मानव ॥ केन कस्मिन्कदा कस्मात्पृच्छेदेवं सभागतम् । एवं पृष्टः स यद्ब्रूयात्स सभ्यैर्[2]ब्राह्मणैः सह ॥ विमृश्य कार्यं न्याय्यं चेदाह्वानार्थमतः परम् । मुद्रां वा निक्षिपेत्तस्मिन्पुरुषं वा समादिशेत् ॥ [3]अकल्पबालस्थविरविषमस्थक्रियाकुलान् । [4]कार्यातिपातिव्यसनिनृपकार्योत्सवाकुलान् । मत्तोन्[5]मत्तप्रमत्तार्तान्भृत्यान्नाह्वानयेन्नृपः ॥ न हीनपक्षां युवतिं कुले जातां प्रसूतिकाम् । सर्ववर्णोत्तमां कन्यां ता [6]ज्ञातिप्रभुकाः स्मृताः ॥ तदधीनकुटुम्बिन्यः स्वैरिण्यो गणिकाश्च याः । नि[7]ष्कुला याश्च पतितास्तासामाह्वानमिष्यते ॥ [8]कालं देशं च विज्ञाय कार्याणां च बलाबले । अकल्पादीनपि शनैर्यानैराह्वानयेन्नृपः ॥ ज्ञात्वा[9]भियोगं येऽपि स्युर्वने प्रव्रजितादयः । तानप्याह्वानयेद्राजा गुरुकार्येष्वकोपयन् ॥' इति । [10]आसेधव्यवस्थाप्यर्थसिद्धैव नारदेनोक्ता (१।४७-५३)—'वक्तव्येऽर्थे ह्यतिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः । आसेधयेद्[11]विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम् ॥ [12]स्थानासेधः कालकृतः प्रवासात्कर्मणस्तथा । चतुर्विधः स्यादासेधो नासिद्धस्तं विलङ्घयेत् ॥ आसेधकाल [13]आसिद्ध आसेधं योऽतिवर्तते । स [14]विनेयोऽन्य[15]थाकुर्वन्नासे[16]द्धा दण्डभाग्भवेत् ॥ [17]नदीसन्तारकान्तारदुर्देशोपप्लवादिषु । आसिद्धस्तं परासेधमुत्क्रामन्नापराध्नुयात् ॥ निर्वे[1]ष्टुकामो रोगार्तो यि[2]यक्षुर्व्यसने स्थितः । अभि[3]युक्तस्तथाऽन्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥ गवां प्रचारे गोपालाः सस्यावापे कृषीवलाः । शिल्पिनश्चापि [4]तत्कालमायुधीयाश्च वि[5]ग्रहे ॥' इति । आसेधो राजाज्ञयाऽवरोधः । [6]अकल्पादयः पुत्रादिकमन्यं वा सुहृदं प्रेषयेयुः, नच ते परार्थवादिनः; 'यो न भ्राता नच पिता न पुत्रो न नियो[7]गकृत् । परार्थवादी दण्ड्यः स्याद्व्यवहारेषु वि[8]ब्रुवन् ॥' (२।२३) इति नारदवचनात् ॥ ५ ॥

दूसरों द्वारा स्मृति (धर्मशास्त्र) तथा आचार के विरुद्ध धर्षित होने पर पीड़ित व्यक्ति राजा से निवेदन करे तो वह व्यवहार (वाद) का विषय होता है ॥ ५ ॥

प्रत्यर्थिनि मुद्रालेख्यपुरुषाणामन्यतमेनानीते किं कुर्यादित्यत आह—

प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना ।
समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम् ॥ ६ ॥

अर्थ्यते इत्यर्थः साध्यः, सोऽस्यास्तीत्यर्थी; तत्प्रतिपक्षः **प्रत्यर्थी**, तस्याग्रतः पुरतो **लेख्यं** लेखनीयम् । **यथा** येन प्रकारेण पूर्वमावेदनकाले **आवेदितं** तथा, न पुनरन्यथा; अन्यथावादित्वेन व्यवहारस्य भङ्गप्रसङ्गात् ।—'अन्यवादी क्रि[9]याद्वेषी नोप[10]स्थाता निरुत्तरः । [3]आहूतः प्रपलायी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥'

(नारदः २।३३) इति । आवेदनकाल एवार्तिवचनस्य लिखितत्वात्पुनर्लेखनमनर्थकमित्यत आह—**समामासे**त्यादि । संवत्सरमासपक्षतिथिवारादिना—**अर्थिप्रत्यर्थिनामब्राह्मणजात्यादिचिह्नितम्** । 'आदि'शब्देन द्रव्यतत्संख्यास्थानवेला[1]क्षमालिङ्गादीनि गृह्यन्ते ॥ यथोक्तम्—'अर्थवद्[2]धर्मसंयुक्तं परिपूर्णमनाकुलम् । साध्यवद्वाचकपदं प्रकृतार्थानुबन्धि च ॥ प्रसिद्धमविरुद्धं च निश्चितं [3]साधनेक्षमम् । संक्षिप्तं निखिला[4]र्थं च देशकालाविरोधि च । वर्षर्तुमासपक्षाहोवेलादेशप्रदेशवत् । स्थानावसथसाध्याख्याजात्याकारवयोयुतम् ॥ साध्यप्रमाणसंख्यावदात्मप्रत्यर्थिनामवत् । परात्मपूर्वजानेकराजनामभिरङ्कितम् ॥ क्षमालिङ्गात्मपीडावत्कथिताहर्तृदायकम् । यदावेदयते राज्ञे तद्भाषेत्यभिधीयते ॥' इति । भाषा 'प्रतिज्ञा' 'पक्ष' इति नार्थान्तरम् । आवेदनसमये कार्यमात्रं लिखितं प्रत्यर्थिनोऽग्रतः समामासादिविशिष्टं लिख्यत इति विशेषः । संवत्सरविशेषणं यद्यपि सर्वव्यवहारेषु नोपयुज्यते, तथाप्याधिप्रतिग्रहक्रयेषु निर्णयार्थमुपयुज्यते; [1]'आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा' इति वचनात् । अर्थव्यवहारोऽपि एकस्मिन्संवत्सरे यत्संख्याकं यद्द्रव्यं यतो येन, गृहीतं प्रत्यर्पितं च पुनरन्यस्मिन्वत्सरे तद्द्रव्यं तत्संख्याकं ततस्तेन गृहीतं, याच्यमानो यदि ब्रूयात्सत्यं गृहीतं प्रत्यर्पितं चेति । वत्सरान्तरे गृहीतं प्रत्यर्पितं नास्मिन्वत्सरे इत्युपयुज्यते । एवं मासाद्यपि योज्यम् । देशस्थानादयः पुनः स्थावरेष्वेवोपयुज्यन्ते—'देशश्चैव तथा स्थानं संनिवेशस्तथैव च । जातिः संज्ञाऽधिवासश्च प्रमाणं क्षेत्रनाम च ॥ पितृ[2]पैतामहं चैव पूर्वराजानुकीर्तनम् । स्थावरेषु विवादेषु दशैतानि निवेशयेत् ॥ इति [3]स्मरणात् । **देशो** मध्यदेशादिः । **स्थानं** वाराणस्यादि । **संनिवेशः** तत्रैव पूर्वापरदिग्विभागपरिच्छिन्नः सम्यङ्निविष्टो गृहक्षेत्रादिः । **जातिः** अर्थिप्रत्यर्थिनोर्ब्राह्मणत्वादिः । **संज्ञा** च देवदत्तादिः । **अधिवासः** समीपदेशनिवासी जनः । **प्रमाणं** निवर्तनादि भूपरिमाणम् । **क्षेत्रनाम** शालिक्षेत्रं क्रमुकक्षेत्रं [4]कृष्णभूमः पाण्डुभूमः इति । पितुः पितामहस्य च नामार्थिप्रत्यर्थिनोः पूर्वेषां त्रयाणाम् । राज्ञां नामकीर्तनं चेति । समामासादीनां यस्मिन् व्यवहारे यावदुपयुज्यते तत्र तावल्लेखनीयमिति तात्पर्यार्थः ॥ एवं पक्षलक्षणे स्थिते पक्षलक्षणरहितानां पक्षवदवभासमानानां पक्षाभासत्वं सिद्धमेवेति योगीश्वरेण न पृथक्पक्षाभासा उक्ताः । अन्यैस्तु विस्पष्टार्थ[5]मुक्ताः ।—'अप्रसिद्धं नि[6]राबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् । असाध्यं वा विरुद्धं वा पक्षाभासं विवर्जयेत् ॥' इति । **अप्रसिद्धं** 'मदीयं शशविषाणं गृहीत्वा न प्रयच्छति' इत्यादि । **निराबाधं** अस्मद्गृहदीपप्रकाशेनायं स्वगृहे व्यवहरतीत्यादि । **निरर्थं** अभिधेयरहितं कचटतपगजडदबेत्यादि । **निष्प्रयोजनं** यथा—अयं देवदत्तोऽस्मद्गृहसंनिधौ सुस्वरमधीत इत्यादि । **असाध्यं** यथा—अहं देवदत्तेन सभ्रूभङ्गमुपहसित इत्यादि । एतत्साधनासंभवादसाध्यम् । अल्पकालत्वान्न साक्षिसंभवो लिखितं दूरतोऽल्पत्वान्न दिव्य-

मिति । विरुद्धं यथाहं मूकेन शप्त इत्यादि । पुरराष्ट्रादिविरुद्धं[7] वा[8]—'राज्ञा विवर्जितो यश्च यश्च पौरविरोधकृत् । राष्ट्रस्य वा समस्तस्य प्रकृतीनां[9] तथैव च ॥ अन्ये वा ये पुरग्राममहाजनविरोधकाः । अनादेयास्तु ते सर्वे व्यवहाराः प्रकीर्तिताः ॥' इति ॥ यत्तु[1]—'अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो न सिद्ध्यति' इति, तत्र[2] यद्यनेकवस्तुसंकीर्ण इत्युच्यते, तदा न दोषः; मदीयमनेन हिरण्यं वासो रूपकादि वाऽपहृतमित्येवंविधस्यादुष्टत्वात् । ऋणादानादिपदसंकरे पक्षाभास इति चेत्तदपि न । मदीया रूपका अनेन वृद्ध्या गृहीताः सुवर्णं चास्य हस्ते निक्षिप्तम्, मदीयं क्षेत्रमयमपहरतीत्यादीनां पक्षत्वमिष्यत एव । किंतु क्रियाभेदात्क्रमेण व्यवहारो न युगपदित्येतावत् ॥ यथाह कात्यायनः—'बहुप्रतिज्ञं[3] यत्कार्यं व्यवहारे सुनिश्चितम् । कामं तदपि गृह्णीयाद्राजा तत्त्वबुभुत्सया ॥' इति । तस्मादनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो युगपन्न सिद्ध्यतीति तस्यार्थः । अर्थिग्रहणात्पुत्रपित्रादिग्रहणं तेषामेकार्थत्वात् । नियुक्तस्यापि नियोगेनैव तदेकार्थत्वाक्षेपात् ॥—'अर्थिना संनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रहितोऽपि वा । यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ ॥' इति स्मरणात् नियुक्तजयपराजयौ मूलस्वामिनोरेव । एतच्च[4] भूमौ फलके वा पाण्डुलेखेन[5] लिखित्वा आवापोद्धारेण[6] विशोधितं पश्चात्पत्रे निवेशयेत् ।—'पूर्वपक्षं स्वभावोक्तं[7] प्राड्विवाकोऽभिलेखयेत् । पाण्डुलेखेन फलके ततः पत्रे विशोधितम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । शोधनं च यावदुत्तरदर्शनं कर्तव्यं नातः परम् । अनवस्थाप्रसङ्गात् । अतएव नारदेनोक्तम्—'शोधयेत्पूर्ववादं तु यावन्नोत्तरदर्शनम् । अवष्टब्धस्योत्तरेण[8] निवृत्तं शोधनं भवेत् ॥' इति । पूर्वपक्षमशोधयित्वैव यदोत्तरं दापयन्ति सभ्यास्तदा 'रागाल्लोभात्' इत्युक्तदण्डेन सभ्यान्दण्डयित्वा पुनः प्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारः प्रवर्तनीयो राज्ञेति ॥ ६ ॥

जैसा अर्थी (वादी) ने आवेदन किया है वैसा प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) के सामने लिखे । (उस लेख पर) वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदि लिखे ॥ ६ ॥

एवं शोधितपत्रारूढे पूर्वपक्षे किं कर्तव्यमित्यत आह—

श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ ।

श्रुतो भाषार्थो येन प्रत्यर्थिनाऽसौ श्रुतार्थः, तस्योत्तरं पूर्वपक्षादुत्तरत्र[9] भवतीत्युत्तरं लेख्यं लेखनीयम् । पूर्वावेदकस्यार्थिनः संनिधौ समीपे उत्तरं च यत्पूर्वोक्तस्य निराकरणं तदुच्यते । यथाह—'पक्षस्य व्यापकं सारमसंदिग्धमनाकुलम् । अव्याख्यागम्यमित्येतदुत्तरं तद्विदो विदुः ॥' इति । पक्षस्य व्यापकं निराकरणसमर्थम् । सारं न्याय्यं न्यायादनपेतम् । असंदिग्धं संदेहरहितम् । अनाकुलं पूर्वापराविरुद्धम् । अव्याख्यागम्यं अप्रसिद्धपदप्रयोगेण दुःश्लिष्ट[10]विभक्तिसमासाध्याहाराभिधानेन[1] वा अन्यदेशभाषाभिधानेन[2] वा यद् व्याख्येयार्थं न भवति तत्सदुत्तरम् ॥ तच्च चतुर्विधम्—संप्रतिपत्तिः, मिथ्या, प्रत्यवस्कन्दनं[3], पूर्व-

न्यायश्चेति । यथाह कात्यायनः—'सत्यं मिथ्योत्तरं चैव प्रत्यवस्कन्दनं तथा । पूर्वन्यायविधिश्चैवमुत्तरं स्याच्चतुर्विधम् ॥' इति । तत्र सत्योत्तरं यथा—'रूपकशतं मह्यं धारयति' इत्युक्ते 'सत्यं धारयामि' इति । यथाह—'साध्यस्य सत्यवचनं प्रतिपत्तिरुदाहृता[4]' इति । मिथ्योत्तरं तु नाहं धारयामीति । तथा च कात्यायनः—'अभियुक्तोऽभियोगस्य यदि कुर्यादपह्नवम् । मिथ्या तत्तु विजानीयादुत्तरं व्यवहारतः ॥' इति ॥ तच्च मिथ्योत्तरं चतुर्विधम्—'मिथ्यैतन्नाभिजानामि तदा तत्र न संनिधिः । अजातश्चास्मि तत्काल इति मिथ्या चतुर्विधम् ॥' इति । प्रत्यवस्कन्दनं नाम 'सत्यं गृहीतं प्रतिदत्तं प्रतिग्रहेण लब्धम्' इति वा । यथाह नारदः—'अर्थिना लिखितो[5] योऽर्थः प्रत्यर्थी यदि तं तथा-।-प्रपद्य कारणं ब्रूयात्प्रत्यवस्कन्दनं स्मृतम् ॥' इति । प्राङ्न्यायोत्तरं तु यत्राभियुक्त एवं ब्रूयात् 'अस्मिन्नर्थेऽनेनाहमभियुक्तस्तत्र चायं व्यवहारमार्गेण पराजितः' इति । उक्तं च कात्यायनेन—'आचारेणावसन्नो[6]ऽपि पुनर्लेखयते यदि । सोऽभिधेयो जितः पूर्वं प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते ॥' इति । एवमुत्तरलक्षणे स्थिते उत्तरलक्षणरहितानामुत्तरवदवभासमानानामुत्तराभासत्वमर्थसिद्धम् । स्पष्टीकृतं च स्मृत्यन्तरे—'संदिग्धमन्यत्प्रकृतादत्यल्पमतिभूरि च । पक्षैकदेशव्याप्यन्यत्तथा नैवोत्तरं भवेत् ॥ यद्व्यस्तपदमव्यापि निगूढार्थं तथाकुलम् । व्याख्यागम्यमसारं च नोत्तरं स्वार्थसिद्धये ॥' इति । तत्र संदिग्धं—'सुवर्णशतमनेन गृहीत'मित्युक्ते 'सत्यं गृहीतं सुवर्णशतं माषशतं वे'ति । प्रकृतादन्यद्यथा—'सुवर्णशताभियोगे पणशतं धारयामी'ति । अत्यल्पं—'सुवर्णशताभियोगे पञ्चाशतं[7] धारयामी'ति । अतिभूरि—'सुवर्णशताभियोगे द्विशतं धारयामीति । पक्षैकदेशव्यापि—'हिरण्यवस्त्राद्यभियोगे हिरण्यं गृहीतं नान्यदि[8]'ति । व्यस्तपदं[9]—ऋणादानाभियोगे पदान्तरेणोत्तरम्, यथा 'सुवर्णशताभियोगे अनेनाहं ताडितः' इति । अव्यापि—देशस्थानादिविशेषणाव्यापि यथा–'मध्यदेशे[10] वाराणस्यां पूर्वस्यां दिशि क्षेत्रमनेनापहृत'मिति पूर्वपक्षे लिखिते, 'क्षेत्रमपहृतमि'ति । निगूढार्थं यथा—'सुवर्णशताभियोगे किमहमेवास्य धारयामी'त्यत्र ध्वनिना[11] प्राड्विवाकः सभ्यो वा अर्थी वा अन्यस्मै धारयतीति सूचयतीति निगूढार्थम् । आकुलं पूर्वापरविरुद्धं यथा—'सुवर्णशताभियोगे कृते, सत्यं गृहीतं न धारयामी'ति । व्याख्यागम्यं—दुःश्लिष्टविभक्तिसमाससाध्याहाराभिधानेन व्याख्यागम्यम्, अदेशभाषाभिधानेन वा । यथा—'सुवर्णशतविषये पितृऋणाभियोगे, 'गृहीतशतवचनात् सुवर्णानां पितुर्न जानामी'ति । अत्र गृहीतशतस्य पितुर्वचनात् 'सुवर्णानां शतं गृहीतमि'ति न जानामीति । असारं—न्यायविरुद्धं, यथा 'सुवर्णशतमनेन वृद्ध्या गृहीतं वृद्धिरेव दत्ता न मूल'मित्यभियोगे, 'सत्यं वृद्धिर्दत्ता न मूलं गृहीत'मिति । उत्तरमित्येकवचननिर्देशादुत्तराणां संकरो निरस्तः । यथाह कात्यायनः—'पक्षैकदेशे यत्सत्यमेकदेशे च कारणम् । मिथ्या चैवैकदेशे च संकरात्तदनुत्तरम् ॥' इति । अनुत्तरत्वे च कारणं तेनैवोक्तम्—'न चैकस्मिन्विवादे तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोः । न चार्थसिद्धिरुभयोर्न चैकत्र क्रियाद्वयम् ॥' इति । मिथ्याकारणोत्तरयोः संकरे अर्थिप्रत्यर्थिनोर्द्वयोरपि क्रिया

प्राप्नोति—'मिथ्या[1] क्रिया पूर्ववादे कारणे[2] प्रतिवादिनि' इति स्मरणात् । तदुभयमेकस्मिन्व्यवहारे विरुद्धम् । यथा—'सुवर्णं रूपकशतं चानेन गृहीत'मित्यभियोगे, 'सुवर्णं न गृहीतं, रूपकशतं गृहीतं प्रतिदत्तं चे'ति । कारणप्राङ्न्यायसंकरे[3] तु प्रत्यर्थिन एव क्रियाद्वयम्—'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ[4] तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्' इति । तथा 'सुवर्णं गृहीतं प्रतिदत्तं,—रूपके[1] व्यवहारमार्गेण पराजितः' इति । अत्र[5] च प्राङ्न्याये जयपत्रेण वा प्राङ्न्यायदर्शिभिर्वा भावयितव्यम्[6], कारणोक्तौ[2] तु साक्षिलेख्यादिभिर्भावयितव्यमिति[7] विरोधः । एवमुत्तरत्रयसंकरेऽपि[8] द्रष्टव्यम् । यथा—'अनेन सुवर्णं रूपकशतं वस्त्राणि च गृहीतानी'त्यभियोगे, 'सत्यं सुवर्णं गृहीतं प्रतिदत्तं[3] रूपकशतं न गृहीतं, वस्त्रविषये तु पूर्वन्यायेन पराजितः' इति । एवं चतुः[9]संकरेऽपि । एतेषां चानुत्तरत्वं यौगपद्येन तस्य तस्यांशस्य तेन तेन विनाऽसिद्धेः क्रमेणोत्तरत्वमेव[10] । क्रमश्चार्थिनः[11] प्रत्यर्थिनः सभ्यानां चेच्छया भवति । यत्र[12] पुनरुभयोः[13] संकरे तत्र यस्य प्रभूतार्थविषयत्वं तत्क्रियोपादानेन[14] पूर्वं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः, पश्चादल्पविषयोत्तरोपादानेन च व्यवहारो द्रष्टव्यः । यत्र[15] तु संप्रतिपत्तेरुत्तरान्तरस्य च संकरस्तत्रोत्तरान्तरोपादानेन व्यवहारो द्रष्टव्यः । संप्रतिपत्तौ क्रियाभावात् ॥ यथा हारीतेन—'मिथ्योत्तरं कारणं च स्यातामेकत्र चेदुभे । सत्यं चापि सहान्येन तत्र ग्राह्यं किमुत्तरम् ॥' इत्युक्त्वोक्तम्—'यत्प्रभूतार्थविषयं[1] यत्र वा स्यात्क्रियाफलम् । उत्तरं तत्र तज्ज्ञेयमसंकीर्णमतोऽन्यथा ॥' संकीर्णं भवतीति शेषः । शेषापेक्षया ऐच्छिकक्रमं[2] भवतीत्यर्थः । तत्र प्रभूतार्थं यथा—'अनेन सुवर्णं रूपकशतं वस्त्राणि च गृहीतानी'त्यभियोगे, 'सत्यम्, सुवर्णं रूपकशतं च न गृहीतं, वस्त्राणि तु गृहीतानि प्रतिदत्तानि चे'ति । अत्र मिथ्योत्तरस्य प्रभूतविषयत्वादर्थिनः क्रियामादाय प्रथमं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः पश्चाद्वस्त्रविषयो व्यवहारः । एवं मिथ्याप्राङ्न्यायसंकरे कारणप्राङ्न्यायसंकरे च योजनीयम् । तथा तस्मिन्नेवाभियोगे, 'सत्यं सुवर्णं रूपकशतं च गृहीतं प्रति दास्यामि, वस्त्राणि तु न गृहीतानि, गृहीतानि प्रतिदत्तानी'ति वा वस्त्रविषये पूर्वं पराजित इति चोत्तरे संप्रतिपत्तेर्भूरिविषयत्वेऽपि तत्र क्रियाभावान्मिथ्याद्युत्तरक्रियामादाय व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः । यत्र[2] तु मिथ्याकारणोत्तरयोः कृत्स्नपक्षव्यापित्वं यथा—श्वग्राहिकतया[3] कश्चिद्वदति[4] 'इयं गौर्मदीया अमुकस्मिन्काले नष्टा, अद्यास्य गृहे दृष्टे'ति । अन्यस्तु[5] 'मिथ्यैतत्, प्रदर्शितकालात्पूर्वमेवास्मद्गृहे[3] स्थिता मम गृहे जाता वे'ति वदति । इदं तावत्पक्षनिराकरणसमर्थत्वान्नानुत्तरम् । नापि मिथ्यैव; कारणोपन्यासात् । नापि कारणम्; एकदेशस्याप्यभ्युपगमाभावात् । तस्मात्संकारणं[6] मिथ्योत्तरमिदम् ।—अत्र च प्रतिवादिनः क्रिया, 'कारणे प्रतिवादिनि' इति वचनात् ॥ ननु[7] 'मिथ्या क्रिया पूर्ववादे' इति पूर्ववादिनः कस्मात्क्रिया न भवति ? तस्य शुद्धमिथ्याविषयत्वात् । 'कारणे प्रतिवादिनी'त्येतदपि कस्माच्छुद्धकारणविषयं न भवति । नैतत्; सर्वस्यापि कारणोत्तरस्य मिथ्यासहचरितरूपत्वाच्छुद्धकारणोत्तरस्याभावात् ॥ प्रसिद्धकारणोत्तरे[8] प्रतिज्ञातार्थैकदेशस्याप्यभ्युपगमेनैकदेशस्य मिथ्यात्वम्—यथा 'सत्यं रूपकशतं गृहीतं न धारयामि, प्रतिदत्तत्वा-

दि'ति । प्रकृतोदाहरणे तु प्रतिज्ञातार्थैकदेशस्याप्यभ्युपगमो नास्तीति विशेषः ॥ एतच्च हारीतेन स्पष्टमुक्तम्—'मिथ्याकारणयोर्वापि ग्राह्यं कारणमुत्तरम्' इति । यत्र मिथ्याप्राङ्न्याययोः पक्षव्यापित्वं यथा—'रूपकशतं धारयती'त्यभियोगे, 'मिथ्यैतदस्मिन्नर्थे पूर्वमयं पराजितः' इति । अत्रापि प्रतिवादिन एव क्रिया; 'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्' इति वचनात्, शुद्धस्य प्राङ्न्यायस्याभावादनुत्तरत्वप्रसङ्गात्, संप्रतिपत्तेरपि साध्यत्वेनोपदिष्टस्य पक्षस्य सिद्धत्वोपन्यासेन साध्यत्वनिराकरणादेवोत्तरत्वम् । यदा तु कारणप्राङ्न्यायसंकरः यथा—'शतमनेन गृहीत'मित्यभियुक्तः प्रतिवदति 'सत्यं गृहीतं प्रतिदत्तं चेत्यस्मिन्नेवार्थे प्राङ्न्यायेनायं पराजितः' इति । तत्र प्रतिवादिनो यथारुचीति न क्वचिद्वादिप्रतिवादिनोरेकस्मिन्व्यवहारे क्रियाद्वयप्रसङ्ग इति निर्णयः ॥ ६ ॥—

(वादी के वाद को सुनने के बाद प्रतिवादी द्वारा) सुने गये (विषय-अभियोग) का उत्तर पहले के आवेदक (वादी) के सामने लिखना चाहिये ॥ ६१/२ ॥

एवमुत्तरे पत्रे निवेशिते साध्यसिद्धेः साधनायत्तत्वात्साधननिर्देशं कः कुर्यादित्यपेक्षित आह—

ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम् ॥ ७ ॥

तत उत्तरानन्तरम्, **अर्थी** साध्यवान् **सद्य** एवानन्तरमेव **प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेत्** । प्रतिज्ञातः साध्यः स चासावर्थश्चेति प्रतिज्ञातार्थः तस्य साधनं साध्यतेऽनेनेति साधनं प्रमाणम् । अत्र 'सद्यो लेखयेत्' इति वदतोत्तराभिधाने कालविलम्बनमप्यङ्गीकृतमिति गम्यते । तच्चोत्तरत्र विवेचयिष्यते । अर्थी प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेदिति वदता यस्य साध्यमस्ति स प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेदित्युक्तं, अतश्च प्राङ्न्यायोत्तरे प्राङ्न्यायस्यैव साध्यत्वात्प्रत्यर्थ्येवार्थी जात इति स एव साधनं लेखयेत् । कारणोत्तरेऽपि कारणस्यैव साध्यत्वात्कारणवाद्येवार्थीति स एव लेखयेत् । मिथ्योत्तरे तु पूर्ववाद्येवार्थी स एव साधनं निर्दिशेत् । ततोऽर्थी लेखयेदिति वदता अर्थ्येव लेखयेन्नान्य इत्युक्तम् । अतश्च संप्रतिपत्त्युत्तरे साध्याभावेन भाषोत्तरवादिनोर्द्वयोरप्यर्थित्वाभावात्साधननिर्देश एव नास्तीति तावतैव व्यवहारः परिसमाप्यत इति गम्यते । एतदेव हारीतेन स्पष्टमुक्तम्—'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम् । मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत् ॥' इति ॥ ७ ॥

(प्रतिवादी का उत्तर सुनने के बाद) वादी तुरन्त प्रतिज्ञात अर्थ (लगाये गये अभियोग) का साधन (प्रमाण) लिखावे ॥ ७ ॥

ततः किमित्यत आह—

तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा ।

तस्य साधनस्य प्रमाणस्य वक्ष्यमाणलिखितसाक्ष्यादिलक्षणस्य **सिद्धौ** निर्वृत्तौ

सिद्धिं साध्यस्य जयलक्षणां **प्राप्नोति** । **अतोऽस्मात्**प्रकारा**दन्यथा** प्रकारान्तरेण साधनासिद्धौ विपरीतं साध्यस्यासिद्धिं पराजयलक्षणमाप्नोतीति संबन्धः ॥

उस (साधन) की सिद्धि होने पर वह (वादी) सिद्धि (विजय) प्राप्त करता है और इसके विपरीत (अर्थात् प्रमाण सिद्ध न होने पर) विपरीत होता है (वह हार जाता है) ॥ ७$\frac{१}{२}$ ॥

एवं व्यवहाररूपमभिधायोपसंहरति—

चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः ॥ ८ ॥

'व्यवहारान्नृपः पश्येत्' (व्य० १) इत्युक्तो **व्यवहारः** सोऽयमित्थं **चतुष्पाच्चतुरंश**कल्पनया **विवादेषु** ऋणादानादि**षूपदर्शितो** वर्णितः । तत्र 'प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं' इति भाषापादः प्रथमः । 'श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यम्' इत्युत्तरपादो द्वितीयः । ततः 'अर्थी लेखयेत्सद्यः' इति क्रियापादस्तृतीयः । 'तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति' इति साध्यसिद्धिपादश्चतुर्थः । यथोक्तम्—'परस्परं मनुष्याणां स्वार्थविप्रतिपत्तिषु । वाक्यन्यायाद्व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः ॥ भाषोत्तरक्रियासाध्यसिद्धिभिः क्रमवृत्तिभिः । आक्षिप्त[1]चतुरंशस्तु चतुष्पादभि[2]धीयते ॥' इति । संप्रतिपत्त्युत्तरे तु साधनानिर्देशाद्भाषार्थस्यासाध्यत्वाच्च न साध्यसिद्धिल[3]क्षणः पादोऽस्तीति द्विपात्त्वमेव । उत्तराभिधानानन्तरं सभ्यानामर्थिप्रत्यर्थिनोः कस्य क्रिया स्यादिति परामर्शलक्षणस्य प्रत्या[4]कलितस्य योगीश्वरेण व्यवहारपादत्वेनानभिधानाद् व्यवहर्तृसंबन्धाभावाच्च न व्यवहारपादत्वमिति स्थितम् ॥ ८ ॥

विवादों में यह चतुष्पाद व्यवहार बताया गया है ॥ ८ ॥

इति [१]साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ।

---

[२]असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २

एवं सर्वव्यवहारोपयोगिनीं व्यवहारमातृकामभिधायाधुना क्वचिद्व्यवहारविशेषे कंचिद्विशेषं दर्शयितुमाह—

अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत् ।

[5]अभियुज्यत इति **अभियोगो**ऽपराधः तमभियोग**मनिस्तीर्या**परिहृत्य **एन**मभियोक्तारं **न प्रत्यभियोजयेत्** अपराधेन न संयोजयेत् । **यद्यपि** [6]प्रत्यवस्कन्दनं प्रत्यभियोगरूपं तथापि स्वापराधपरिहारात्मकत्वान्नास्य प्रतिषेधविषयत्वम् । अतः स्वाभियोगानुपमर्दनरूपस्य प्रत्यभियोगस्यायं निषेधः । इदं प्रत्यर्थिनमधिकृत्योक्तम् ॥—

अभियोग (अपराध) का निस्तारण किये बिना अभियोक्ता को अभियुक्त न बनावे ॥ ८$\frac{१}{२}$ ॥

अथ अर्थिनं प्रत्याह—

अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतिं नयेत् ॥ ९ ॥

अभियुक्तं च नान्येनेति । अन्येनाभियुक्तमनिस्तीर्णाभियोगमन्योऽर्थी नाभियोजयेत् । किंच, उक्तमावेदनसमये यदुक्तं तद्विप्रकृतिं विरुद्धभावं न **नयेत्** न प्रापयेत् । एतदुक्तं भवति—यद्वस्तु येन रूपेणावेदनसमये निवेदितं तद्वस्तु [7]तथैव भाषाकालेऽपि लेखनीयं, नान्यथेति ॥ ननु 'प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना' (व्य० ६) इत्यत्रैवेदमुक्तं, किमर्थं पुनरुच्यते '**नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्**' इति ? उच्यते,—'यथाऽऽवेदितमर्थिना' (व्य० ६) इत्यनेनाऽऽवेदनसमये यद्वस्तु निवेदितं तदेव भाषासमयेऽपि तथैव लेखनीयम् । [8]एकस्मिन्नपि [9]पदे न वस्त्वन्तरमित्युक्तम् । यथा—'अनेन रूपकशतं वृद्धया गृहीतम्' इत्यावेदनसमये प्रतिपाद्य प्रत्यर्थिसंनिधौ भाषासमये 'वस्त्रशतं वृद्ध्या गृहीतम्' इति न वक्तव्यम् । तथा सति [1]पदान्तरागमनेऽपि वस्त्वन्तरगमनाद्धीनवादी दण्ड्यः स्यादिति । 'नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्' इत्यनेनैकवस्तुत्वेऽपि पदान्तरगमनं निषिद्ध्यते । यथा 'रूपकशतं वृद्धया गृहीत्वाऽयं न प्रयच्छति' इत्यावेदनकालेऽभिधाय भाषाकाले 'रूपकशतं बलादपहृतवान्' इति वदतीति । तत्र वस्त्वन्तरगमनं निषिद्धम्, इह तु पदान्तरगमनं निषिद्ध्यत इति न पौनरुक्त्यम् । एतदेव स्पष्टीकृतं नारदेन—'पूर्वपादं परित्यज्य योऽन्यमालम्बते पुनः । [2]पदसंक्रमणाज्ज्ञेयो हीनवादी स वै नरः ॥' इति । हीनवादी दण्ड्यो भवति, न प्रकृतादर्थाद्धीयते । अतः प्रत्यर्थिनोऽर्थिनश्च प्रमादपरिहारार्थमेवायम् 'अभियोगमनिस्तीर्य' इत्याद्युपदेशो न प्रकृतार्थ[3]सिद्ध्यसिद्धिविषयः । अत एव वक्ष्यति (व्य० १९) 'छलं निरस्य [4]भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः' इति । [5]एतच्चार्थव्यवहारे द्रष्टव्यम् । [6]मन्युकृते तु व्यवहारे प्रमादाभिधाने प्रकृतादपि व्यवहाराद्धीयत एव । यथाह नारदः—'सर्वेष्वर्थविवादेषु वाक्छले नावसीदति । परस्त्रीभूम्यृणादाने शास्योऽप्यर्थान्न हीयते ॥' इति । अस्यार्थः—सर्वेष्वर्थविवादेषु न मन्युकृतेषु वाक्छले प्रमादाभिधानेऽपि नावसीदति न पराजीयते । न प्रकृतादर्थाद्धीयत इत्यर्थः । अत्रोदाहरणं परस्त्रीत्यादि । परस्त्रीभूम्यृणादाने प्रमादाभिधानेन दण्ड्योऽपि यथा प्रकृतादर्थान्न हीयते, एवं सर्वेष्वर्थविवादेष्विति । [7]अर्थविवादग्रहणान्मन्युकृतविवादेषु प्रमादाभिधाने प्रकृतादप्यर्थाद्धीयत इति गम्यते । यथा—'अहमनेन शिरसि पादेन ताडित' इत्यावेदनसमयेऽभिधाय भाषाकाले 'पादेन हस्ते ताडित' इति वदन्न[8] केवलं दण्ड्यः । पराजीयते च ॥ ९ ॥

किसी दूसरे द्वारा जिस पर अभियोग लगाया गया हो उस पर अभियोग न करे तथा जो बात (अभियोग लगाते समय) कही गयी हो उसे (लिखते समय) न बदले ॥ ९ ॥

'अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्' (व्य० ९) इत्यस्यापवादमाह—

कुर्यात्प्रत्यभियोगं च कलहे साहसेषु च ।

कलहे वाग्दण्डपारुष्यात्मके **साहसेषु** विषशस्त्रादिनिमित्तप्राणव्यापादनादिषु **प्रत्यभियोग**संभवे स्वाभियोगमनिस्तीर्याप्यभियोक्तारं प्रत्यभियोजयेत् । नन्वत्रापि पूर्वपक्षानुपमर्दनरूपत्वेनानुत्तरत्वात्प्रत्यभियोगस्य प्रतिज्ञान्तरत्वे युगपद्व्यवहारासंभवः समानः । सत्यम् । नात्र युगपद्व्यवहाराय प्रत्यभियोगोपदेशः, अपि तु न्यूनदण्डप्राप्तये अधिकदण्डनिवृत्तये वा । तथा हि—'अनेनाहं ताडितः शप्तो वा' इत्यभियोगे, 'पूर्वमहमनेन ताडितः शप्तो वा' इति प्रत्यभियोगे [४]दण्डाल्पत्वम् । यथाह नारदः (१।१९) 'पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् । पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो[२] गुरुः ॥' इति । यदा पुनर्द्वयोर्युगपत्ताडनादिप्रवृत्तिस्तत्राधिकदण्डनिवृत्तिः—'[३]पारुष्ये साहसे वापि युगपत्संप्रवृत्तयोः । विशेषश्चेन्न लभ्येत विनयः स्यात्समस्तयोः ॥' इति । [१]एवं युगपद्व्यवहारप्रवृत्त्यसंभवेऽपि कलहादौ प्रत्यभियोगोऽर्थवान्नृणादानादिषु तु निरर्थक एव ॥

किन्तु कलह (वाक्-पारुष्य) और साहस (विष-शस्त्रादि से प्राणहरणादि) में प्रत्यभियोग (उलटा अभियोग) भी लगाया जा सकता है ॥९½ ॥

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्विधिमुक्त्वा ससभ्यस्य सभापतेः कर्तव्यमाह—

उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः समर्थः कार्यनिर्णये ॥ १० ॥

उभयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः सर्वेषु विवादेषु निर्णयस्य कार्यं **कार्यनिर्णयः** । आहिताग्न्यादिषु पाठात्कार्यशब्दस्य पूर्वनिपातः । निर्णयस्य च यत्कार्यं साधितधनदानं दण्डदानं च तस्मिन्समर्थः **प्रतिभूः** प्रतिभवति तत्कार्यं तद्वद्भवतीति **प्रतिभूर्ग्राह्यः** ससभ्येन सभापतिना । तस्यासंभवेऽर्थिप्रत्यर्थिनो रक्षणे पुरुषा नियोक्तव्याः । तेभ्यश्च ताभ्यां प्रतिदिनं वेतनं देयम् । यथाह कात्यायनः—'अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनः । स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्भृत्याय वेतनम् ॥' इति ॥ १० ॥

दोनों कार्यों के निर्णय में समर्थ (उपयुक्त) जमानतदार भी लेना चाहिये ॥१० ॥

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्निर्णयकार्ये ससभ्येन सभापतिना प्रतिभूर्ग्राह्य इत्युक्तम्, किं तन्निर्णयकार्यं यस्मिन्प्रतिभूर्गृह्यत इत्यपेक्षित आह—

निह्नवे भावितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम् ।
मिथ्याभियोगी द्विगुणमभियोगाद्धनं वहेत् ॥ ११ ॥

अर्थिना निवेदितस्याभियोगस्य प्रत्यर्थिना**ऽपह्नवे** कृते यदाऽर्थिना साक्ष्यादिभि**र्भावितो**ऽङ्गीकारितः प्रत्यर्थी तदा **दद्याद्धनं** प्रकृतमर्थिने **राज्ञे च तत्सम**मपलापदण्डम् । अर्थी यदा भावयितुं न शक्नोति तदा स एव **मिथ्याभियोगी**

जात इत्य**भियोगाद्**भियुक्तधना**द्द्विगुणं** धनं[7] **दद्यात्** राज्ञे। प्राङ्न्याये प्रत्यवस्कन्दने चेदमेव योजनीयम्। तत्र[8]ार्थ्येवाऽपह्नववादी[9] प्रत्यर्थिना भावितो[10] राज्ञे प्रकृतधनसमं दण्डं दद्यात् । अथ प्रत्यर्थी प्राङ्न्यायं कारणं वा भावयितुं न शक्नोति तदा स एव मिथ्या[11]भियोगीति राज्ञे द्विगुणं धनं दद्यात्। अर्थिने च प्रकृतं धनम्। संप्रतिपत्त्युत्तरे तु दण्डाभाव एव । एतच्च[1] ऋणादानविषयमेव। पदा[2]न्तरेषु तत्र तत्र दण्डाभिधानाद्धन[3]व्यवहारेष्वस्यासंभवाच्च न सर्वविषयत्वम्। 'राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः' (व्य० ४२) इत्यस्य ऋणादानविषयत्वेऽपि तत्रैव विशेषं वक्ष्यामः। यद्वा,–एतदेव सर्वव्यवहारविषयत्वेनापि योजनीयम्। कथम्? अभियोगस्य निह्नवेऽभियुक्तेन कृते यद्यभियोक्ता साक्ष्यादिभिर्भावितोऽभियुक्तस्तदा तत्समं[4] तत्र तत्र प्रतिपदोक्तमेव। चशब्दोऽवधारणे। धनं दण्डं दद्याद्राज्ञ इत्यनुवादः[5]। अथाभियोक्ता अभियोगं भावयितुं न शक्नोति तदा मिथ्याभियोगीति प्रतिपदोक्तं धनं दण्डं द्विगुणं दद्यादिति विधीयते। अत्रापि प्राङ्न्याये प्रत्यवस्कन्दने च पूर्ववदेव योजनीयम् ॥ ११ ॥

(अर्थी द्वारा लगाये गये अभियोग के धन को (प्रत्यर्थी द्वारा) छिपाये जाने की स्थिति में अभियुक्त धन को (साक्ष्यादि द्वारा प्रत्यर्थी को) स्वीकार कराये जाने पर अर्थात् सिद्ध हो जाने पर (प्रत्यर्थी छिपाने के अपराध में) उस धन के बराबर धन राजा को (दण्डस्वरूप) दे (तथा अभियोग में सिद्ध हुये धन को अभियोक्ता को दे)। मिथ्या अभियोग लगाने वाला उस धन के दूना धन (दण्डस्वरूप) वहन करे अर्थात् दे ॥ ११ ॥

ततः 'अर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इति वदतोत्तरपादलेखने कालप्रतीक्षणं दर्शितं तत्रापवादमाह—

साहसस्तेयपारुष्यगोभिशापात्यये स्त्रियाम्।
विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥ १२ ॥

साहसं विषशस्त्रादिनिमित्तं प्राणव्यापादनादि, **स्तेयं** चौर्यम्, **पारुष्यं** वाग्दण्डपारुष्यं वक्ष्यमाणलक्षणम्, **गौ**र्दोग्ध्री, **अभिशापः** पातकाभियोगः, **अत्ययः** प्राण[6]धनातिपातस्तस्मिन्, द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचनम्। **स्त्रियां** कुलस्त्रियां दास्यां च कुलस्त्रियां चारित्रविवादे, दास्यां स्वत्वविवादे, **विवादयेत्** उत्तरं दापयेत्, **सद्य एव,** न कालप्रतीक्षणं कुर्यात्। **अन्यत्र** विवादान्तरेषु, **काल**[7] उत्तरदानकालः, **इच्छया**ऽर्थिप्रत्यर्थिसभ्यसभापतीनां **स्मृत** उक्तः ॥ १२ ॥

साहस (विष-शस्त्रादि से प्राणहरण), चोरी, गाली, गाय, अभिशाप (पाप का अभियोग) और स्त्री (कुलस्त्री तथा दासी – कुलस्त्री के चरित्र-विषयक तथा दासी के स्वत्व-विषयक) विषयक विवादों को तुरन्त निर्णय करे और विषयों में इच्छानुसार (वादी, प्रतिवादी तथा सभ्य, सभापति की सुविधा के अनुसार) समय लगावे ॥ १२ ॥

दुष्टलक्षणमाह—

देशाद्देशान्तरं याति सृक्किणी परिलेढि च ।
ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैवर्ण्यमेति च ॥ १३ ॥
परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो विरुद्धं बहु भाषते ।
वाक्चक्षुः पूजयति नो तथौष्ठौ निर्भुजत्यपि ॥ १४ ॥
स्वभावाद्विकृतिं गच्छेन्मनोवाक्कायकर्मभिः ।
अभि[2]योगेऽर्थे[3] साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः ॥ १५ ॥

मनोवाक्कायकर्मभिर्यः स्वभावादेव न भयादिनिमित्ता**द्विकृतिं** विकारं **याति** गच्छति असावभियोगे **साक्ष्ये वा[2] दुष्टः परिकीर्तितः** । तां विकृतिं विभज्य दर्शयति—**देशाद्देशान्तरं याति** न क्वचिदवतिष्ठते । **सृक्किणी** ओष्ठ[3]पर्यन्तौ **परिलेढि** जिह्वाग्रेण स्पर्शयति घट्टयतीति कर्मणो विकृतिः । **अस्य ललाटं स्विद्यते** स्वेदबिन्द्वङ्कितं भवति, **मुखं च वैवर्ण्यं** विवर्णत्वं पाण्डुत्वं कृष्णत्वं वा **एति** गच्छतीति कायस्य विकृतिः । **परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यः** परिशुष्यत्सगद्गदं स्खलद्व्यत्यस्तं वाक्यं यस्य स तथोक्तः । **विरुद्धं** पूर्वापरविरुद्धं **बहु च भाषत** इति वाचोविकृतिः । परोक्तां **वाचं** प्रतिवचनदानेन **न पूजयति, चक्षुर्वा** प्रतिवीक्षणेन **न पूजयतीति** मनसो विकृतेर्लिङ्गम् । **तथा[4] ओष्ठौ निर्भुजति** वक्रयतीत्यपि कायस्य विकृतिः । एतच्च दोषसंभावनामात्रमुच्यते, न दोषनिश्चयाय; स्वाभाविकनैमित्तिकविकारयोर्विवेक[5]स्य दुर्ज्ञेयत्वात् । अथ कश्चिन्निपुणमतिर्विवेकं प्रतिपद्येत तथापि न पराजयनिमित्तं कार्यं भवति । नहि मरिष्यतो लिङ्गदर्शनेन मृतकार्यं कुर्वन्ति । एवमस्य पराजयो भविष्यतीति लिङ्गा[6]दवगतेऽपि न पराजयनिमित्तकार्यप्रसङ्गः ॥ १३–१५ ॥

अभियोग और साक्षो में दुष्ट (अविश्वसनीय) वह होता है जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, ओठ के निचले हिस्से तक जीभ से चाटता है, जिसके ललाट से पसीना होता है, मुख विवर्ण हो जाता है, गद्‌गद और स्खलित (उलटा) बोलता है, बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें कहता है और दूसरे की कही बात का उत्तर नहीं देता, आँख नहीं मिलाता और ओठों को टेढा करता है। ये मन, वाणी और कर्म की विकृतियाँ जिसमें स्वाभाव से हों (भयादि से नहीं) वही साक्ष्य और अभियोग में दुष्ट है ॥ १३-१५ ॥

टिप्पणी— टीकाकार का मत है कि इनसे केवल दोष की संभावना हो सकती है दोष का निश्चय नहीं, क्योंकि स्वाभाविक और नैमित्तिक विकारों का निश्चय दुर्ज्ञेय है।

संदिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः साधयेद्यश्च निष्पतेत् ।
न चाहूतो वदेत्किंचिद्धीनो दण्ड्यश्च स स्मृतः ॥१६॥

किंच, **संदिग्धमर्थं**मधमर्णेनानङ्गीकृतमेत्र **यः स्वतन्त्रः** साधननिरपेक्षः **साधयत्या**सेधादिना **स हीनो दण्ड्यश्च** भवति । **यश्च** स्वयं संप्रतिपन्नं साधनेन वा साधितं याच्यमानो **निष्पतेत्** पलायेत, **यश्चा**भियुक्तो राज्ञा **चाहूतः सदसि न किंचिद्वदति** 'सोऽपि हीनो दण्ड्यश्च स्मृतः' इति संबध्यते । 'अभियोगे च साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः' इति प्रस्तुतत्वाद्धीनपरिज्ञानमात्रमेव मा भूदिति 'दण्ड्य'ग्रहणम् । दण्ड्यस्य चापि 'शास्योऽप्यर्थान्न हीयत' इत्यर्थादहीनत्वदर्शनादत्र तन्मा भूदिति 'हीन'ग्रहणम् ॥ १६ ॥

जो व्यक्ति संदिग्ध (अर्थात् लेने वाले के स्वीकार न करने पर भी) धन को स्वतंत्रतापूर्वक (अपनी इच्छानुसार) ग्रहण कर लेता है और जो (स्वयं द्वारा स्वीकृत या प्रमाणों द्वारा सिद्ध) धन को माँगने पर भाग जाता है, जो (राजा द्वारा) बुलाये जाने पर न बोले- ये हीन (पराजित) हैं और दण्डनीय हैं ॥ १६ ॥

अथ यत्र द्वावपि युगपद्धर्माधिकरणं प्राप्तौ भाषावादिनौ । तद्यथा—कश्चित्प्रतिग्रहेण क्षेत्रं लब्ध्वा कंचित्कालमुपभुज्य कार्यवशात्सकुटुम्बो देशान्तरं गतः । अन्योऽपि तदेव क्षेत्रं प्रतिग्रहेण लब्ध्वा कंचित्कालमुपभुज्य देशान्तरं गतः । ततो द्वावपि युगपदागत्य 'मदीयमिदं क्षेत्रं मदीयमिदं क्षेत्रम्' इति परस्परं विवदमानौ धर्माधिकरणं प्राप्तौ तत्र कस्य क्रियेत्याकाङ्क्षित आह—

साक्षिषूभयतः सत्सु साक्षिणः पूर्ववादिनः ।
पूर्वपक्षेऽधरीभूते भवन्त्युत्तरवादिनः ॥ १७ ॥

उभयतः उभयोरपि वादिनोः **साक्षिषु** संभवत्सु[1] साक्षिणः **पूर्ववादिनः** 'पूर्वस्मिन्काले मया प्रतिग्रहीतमुपभुक्तं च' इति यो वदत्यसौ पूर्ववादी, न पुनर्यः पूर्वं निवेदयति तस्य साक्षिणः प्रष्टव्याः । यदा त्वन्य एवं वदति 'सत्यमनेन पूर्वं प्रतिगृहीतमुपभुक्तं च किंतु राज्ञेदमेव क्षेत्रमस्मादेव क्रयेण लब्ध्वा मह्यं दत्तम्' इति, 'अनेन वा प्रतिग्रहेण लब्ध्वा मह्यं दत्तम्' इति तत्र पूर्वपक्षोऽसाध्यतयाऽधरीभूतस्तस्मिन्[1]**पूर्वपक्षेऽधरीभूते उत्तर**कालं प्रतिगृहीतमुपभुक्तं चेति **वादिनः** साक्षिणः प्रष्टव्या **भवन्ति** ॥ इदमेव व्याख्यानं युक्ततरम् । मिथ्योत्तरे पूर्ववादिनः साक्षिणो भवन्ति ॥ प्राङ्न्यायकारणोक्तौ पूर्वपक्षेऽधरीभूते उत्तरवादिनः साक्षिणो भवन्तीति व्याख्यानमयुक्तम् । अस्यार्थस्य '[2]ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इत्यनेनैवोक्तत्वात्पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । पूर्वव्याख्यानमेव स्पष्टीकृतं नारदेन—'मिथ्या[3] क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि । [4]प्राङ्न्यायविधिसिद्धौ तु जयपत्रं क्रिया भवेत् ॥' इत्युक्त्वा—'द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु । पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः ॥' इति वदता । एतस्य च पूर्वव्यवहारविलक्षणत्वाद्भेदेनोपन्यासः ॥ १७ ॥

यदि दोनों पक्षों से साक्षी हों तो प्रथम पक्ष के साक्षी से पूछना चाहिये। पूर्वपक्ष के (सिद्ध न कर सकने के कारण) अस्वीकृत हो जाने पर उत्तरपक्ष के साक्षियों को सुने ॥ १७ ॥

सपणश्चेद्विवादः स्यात्तत्र हीनं तु दापयेत् ।
दण्डं च स्वपणं चैव धनिने धनमेव च ॥ १८ ॥

अपि च, यदि विवादो व्यवहारः सपणः—[7]पणनं पणः, तेन सह वर्तेत इति सपणः, स्यात्तदा तत्र तस्मिन्सपणे व्यवहारे हीनं पराजितं [8]पूर्वोक्तं दण्डं स्वकृतं पणं [9]राज्ञे, अर्थिने च विवादास्पदीभूतं धनं दापयेद्राजा । यत्र पुनरेकः कोपावेशवशात् 'यद्यहमत्र पराजितो भवामि तदा पणशतं दास्यामि' इति प्रतिजानीते, अन्यस्तु न किंचित्प्रतिजानीते [10]तत्रापि व्यवहारः प्रवर्तते । तस्मिंश्च प्रवृत्ते पणप्रतिज्ञावादी यदि हीयते तदा स एव सपणं दण्डं दाप्यः । अन्यस्तु पराजितो दण्डं दाप्यः, न पणम्; '[3]स्वपणं च' इति विशेषोपादानात् । यत्र त्वेकः शतम्, अन्यस्तु पञ्चाशतं प्रतिजानीते तत्रापि पराजये स्वकृतमेव पणं दाप्यौ । 'सपणश्चेद्विवादः स्यात्' इति वदता पणरहितोऽपि विवादो दर्शित इति ॥ १८ ॥

यदि पण (शर्त-बाजी) लगाकर विवाद हो तो धन हारने वाले से (जीतने वाले को) दिलावे और बाजी (राजा को) दिलावे। (यदि एक ने शर्त लगायी है) तो बाजी लगाने वाले के हारने पर पण राजा को देय होगा और धन जीतने वाले को दिलाया जायेगा ॥ १८ ॥

छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः ।
भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः ॥ १९ ॥

किंच, छलं प्रमादाभिहितं निरस्य परित्यज्य भूतेन वस्तुतत्त्वानुसारेण व्यवहारान्नयेदन्तं नृपः । यस्माद्भूतमपि वस्तुतत्त्वमपि अनुपन्यस्तम[1]नभिहितं हीयते हानिमुपगच्छति व्य[2]वहारतो व्यवहारेण साक्ष्यादिभिः । तस्माद्भूतानुसरणं कर्तव्यम् । यथार्थिप्रत्यर्थिनौ सत्यमेव वदतस्तथा ससभ्येन सभापतिना यतितव्यं सामादिभिरुपायैः । तथासति साक्ष्यादिनैरपेक्ष्येणैव निर्णयो भवति ॥ अथ सर्वथापि भूतानुसरणं न शक्यते कर्तुं, तथा सति साक्ष्यादिभिर्निर्णयः कार्य इत्यनुकल्पः । यथोक्तम्—'[3]भूतच्छलानुसारित्वाद्द्विगतिः समुदाहृतः । भूतं तत्त्वा[2]र्थसंयुक्तं प्रमादाभिहितं छलम् ॥' इति । तत्र भूतानुसारी व्यवहारो मुख्यः, छलानुसारी त्वनुकल्पः । साक्षिलेख्यादिभिर्व्यवहारनिर्णये कदाचिद्वस्त्वनुसरणं भवति, कदाचिन्न भवति; साक्ष्यादीनां [4]व्यभिचारस्यापि संभवात् ॥ १९ ॥

छल (प्रमाद या कपट से कही बात) को हटाकर राजा यथार्थ बात से निर्णय करे। (क्योंकि) यथार्थ बात भी यदि न कही जाय तो पराजित होना पड़ता है ॥ १९ ॥

'भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः' (व्य० १९) इत्यत्रोदाहरणमाह—

नि[3]ह्नुते लिखितं नैकमेकदेशे विभावितः ।
दाप्यः सर्वं[4] नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः ॥ २० ॥

नैकमनेकं सुवर्णरजतवस्त्रादि लिखितमभियुक्त[5]मर्थिना प्रत्यर्थी यदि सर्वमेव निह्नुतेऽपजानीते तदार्थिनैकदेशे[6] हिरण्ये साक्ष्यादिभिः प्रत्यर्थी भावितोऽङ्गीकारितः सर्वं रजताद्यर्थं पूर्वलिखितं दाप्योऽर्थिने नृपेण । न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः 'पूर्वं भाषाकाले अनिवेदितः पश्चादर्थिना पूर्वं मया विस्मृतः' इति निवेद्यमानो न ग्राह्यो नादर्तव्यो नृपेण । एतच्च न केवलं वाचनिकम्[7]। एकदेशे प्रत्यार्थिनो मिथ्यावादित्वनिश्चयादेकदेशान्तरेऽपि मिथ्यावादित्वसंभवात् । अर्थिनश्चैकदेशे सत्यवादित्वनिश्चयादेकदेशान्तरेऽपि सत्यवादित्वसंभवात् । एवं तर्का[8]परनामसंभावनाप्रत्ययानुगृहीतादस्मादेव योगीश्वरवचनात्सर्वं दापनीयं नृपेणेति निर्णयः। एवं च तर्कवाक्यानुसारेण निर्णये क्रियमाणे वस्तुनोऽन्यथात्वेऽपि व्यवहारदर्शिनां न दोषः। तथा च गौतमः (११।२३,२४)–'न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायस्तेनाभ्युह्य यथास्थानं गमयेत्' इत्युक्त्वा, 'तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यौ' (११।३२) इत्युपसंहरति । न चैकदेशभावितोऽनुपादेयवचनः प्रत्यर्थीत्येतावदिह गम्यते ।— 'एकदेशविभावितो नृपेण सर्वं दाप्यः' इति वचनात् ॥ यत्तु[1] कात्यायनेनोक्तम्— 'अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत्संसाधयेद्धनी । साक्षिभिस्तावदेवासौ लभते साधितं धनम् ॥' इति, तत्पुत्रादि[1]देयपित्र्यृणविषयम् । तत्र हि बहूनर्थानभियुक्तः पुत्रादिर्न जानामीति[2] प्रतिवदन्निह्नववादी न[3] भवतीत्येकदेशविभावितोऽपि न क्वचिदसत्यवादीति 'निह्नुते लिखितं नैकम्' (व्य० १९) इति शास्त्रं तत्र न प्रवर्तते। निह्नवाभावादपेक्षिततर्काभावाच्च ।—'अनेकार्थाभियोगेऽपि' इति कात्यायनवचनं तु सामान्यविषयं, विशेष[4]शास्त्रस्य विषयं निह्नवोत्तरं परिहृत्याऽज्ञानोत्तरे प्रवर्तते ॥ ननु 'ऋणादिषु विवादेषु स्थिर[5]प्रायेषु निश्चितम् । ऊने वाऽप्यधिके वार्थे प्रोक्ते साध्यं न सिद्ध्यति ॥' इति वदता कात्यायनेनानेकार्थाभियोगे साक्षिभिरेकदेशे भाविते वा भाविते साध्यं सर्वमेव न सिद्ध्यतीत्युक्तम् । तथासत्येकदेशे भाविते अभावितैकदेशसिद्धिः कुतस्त्या ? उच्यते,–लिखितसर्वार्थसाधनतयोपन्यस्तैः साक्षिभिरेकदेशाभिधानेऽधिकाभिधाने वा कृत्स्नमेव साध्यं न सिद्ध्यतीति तस्यार्थः । तत्रापि निश्चितं न सिद्ध्यतीति वचनात्पूर्ववत्संशय एवेति प्रमाणान्तरस्यावसरोऽस्त्येव; 'छलं निरस्य' इति नियमात् । साह[6]सादौ तु सकलसाध्यसाधनतयो[3]द्दिष्टैः साक्षिभिरेकदेशेऽपि साधिते कृत्स्नसाध्यसिद्धिर्भवत्येव; तावतैव साहसादेः सिद्धत्वात्, कात्यायनवचनाच्च—'साध्या[7]र्थांशेऽपि गदिते साक्षिभिः सकलं भवेत् । स्त्रीसंगे साहसे चौर्ये यत्साध्यं परिकीर्तितम् ॥' इति ॥ २० ॥

अर्थी (वादी) द्वारा लिखाई गयी (अनेक सुवर्ण-रजतादि) वस्तुओं में प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) यदि अनेक का लेना स्वीकार नहीं करता और एक भी वस्तु का लेना (साक्षी आदि से) स्वीकार करा लिया जाता है (अर्थात् एक भी वस्तु का लेना सिद्ध हो जाता है) तो राजा द्वारा सभी वस्तुयें दिलायी जावें। अर्थी भी उन वस्तुओं को न ले जिसके लिये उनसे (पूर्व में) निवेदन नहीं किया है ॥ २० ॥

ननु 'निह्नुते लिखितं नैकम्' (व्य० २०) इतीय स्मृतिस्तथा 'अनेकार्थाभियोगेऽपि' इतीयमपि स्मृतिरेव तत्रानयोः स्मृत्योः परस्परविरोधे सतीतरेतरबाधनादप्रामाण्यं कस्मान्न भवति, विषयव्यवस्था किमित्याश्रीयत इत्यत आह—

[4]स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।

यत्र स्मृत्योः प[5]रस्परतो **विरोधस्तत्र** विरोधपरिहाराय विषयव्यवस्थापनादावुत्सर्गापवादादिलक्षणो **न्यायो बलवान्** समर्थः। स च न्यायः कुतः प्रत्येतव्य इत्यत आह—**व्यवहारत** इति । व्यवहाराद्वृद्धव्यवहारादन्वयव्यतिरेकलक्षणादवगम्यते। अतश्च प्रकृतोदाहरणेऽपि विषयव्यवस्थैव युक्ता । एवमन्यत्रापि विषयव्यवस्थाविकल्पादि यथासंभवं योज्यम् ॥

दो स्मृतियों में विरोध होने पर व्यवहार (प्राचीन व्यवहार) से किया निर्णय बलवान् होता है ॥ २०$\frac{१}{२}$ ॥

एवं सर्वत्र च प्रसङ्गेऽपवादमाह—

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥ २१ ॥

'धर्मशास्त्रानुसारेण' इत्यनेनैवौ[1]शनसाद्यर्थशास्त्रस्य निरस्तत्वात् धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव राजनीतिलक्षणमर्थशास्त्रमिह विवक्षितम् । [2]अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रस्मृत्योर्विरोधे **अर्थशास्त्राद्धर्मशास्त्रं बलवदिति स्थिति**र्मर्यादा । यद्यपि [3]समानकर्तृकतया अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रयोः स्वरूपगतो विशेषो नास्ति तथापि प्रमेयस्य धर्मस्य प्राधान्यादर्थस्य चाप्राधान्याद्धर्मशास्त्रं बलवदित्यभिप्रायः । धर्मस्य च प्राधान्यं [4]शास्त्रादौ दर्शितम्। तस्माद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्विरोधेऽर्थशास्त्रस्य बाध एव न विषयव्यवस्था, नापि विकल्पः। किमत्रोदाहरणम्? [5]न तावत्—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । [1]प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृ[6]च्छति ॥' (मनुः ८।३५०-५१) तथा—'आततायिनमायान्तमपि वेदान्त[3]गं रणे। जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्।' इत्याद्यर्थशास्त्रम्, 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्[7]याकामतो द्विजम्। कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥' (मनुः ११।८९) इत्यादि धर्मशास्त्रं, तयोर्विरोधे धर्मशास्त्रं बलवदिति युक्तम् ॥ अनयोरेकविषयत्वासंभवेन विरोधाभावान्न बलाबलचिन्ताऽवतरति। तथा हि—'शास्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते' (मनुः ८।३४८) इत्युपक्रम्य—

'आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे। स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण [३]न दण्डभाक् ॥' (मनुः ८।३४९) इत्यात्मरक्षणे दक्षिणादीनां यज्ञोपकरणानां च रक्षणे युद्धे च स्त्रीब्राह्मणहिंसायां च—'आततायिनमकूटशस्त्रेण घ्नन् दण्डभाक्' इत्युक्त्वा तस्यार्थवादार्थमिदमुच्यते 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यादि। गुर्वादीनत्यन्तावध्यानप्याततायिनो हन्यात्किमुतान्यानिति। 'वा'शब्दश्रवणात् 'अपि वेदान्तपारगम्' इत्यत्र 'अपि'शब्दश्रवणाच्च गुर्वादीनां वध्यत्वप्रतीतिः; 'नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणवधात्' इति सुमन्तुवचनाच्च, 'आचार्यं च प्रवक्तारं मातरं पितरं गुरुम्। न हिंस्याद्ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥' इति (४।१६२) मनुवचनाच्च। आचार्यादीनामाततायिनां हिंसाप्रतिषेधेनेदं वचनमर्थवन्नान्यथा; हिंसामात्रप्रतिषेधस्य [१]सामान्यशास्त्रेणैव सिद्धत्वात्। 'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इत्येतदपि ब्राह्मणादिव्यतिरिक्तविषयमेव। यतः 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥' यथा—'उद्यतासिविषाग्निश्च शापोद्यतकरस्तथा। [३]आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि॥ भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः। एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः॥ इति सामान्येनाततायिनो दर्शिताः। अतश्च ब्राह्मणादय आततायिनश्च आत्मादित्राणार्थं हिंसानभिसंधिना निवार्यमाणाः प्रमादाद्यदि विपद्येरंस्तत्र लघु प्रायश्चित्तं राजदण्डाभावश्चेति निश्चयः। तस्मादन्यदिहोदाहरणं वक्तव्यम्। तदुच्यते,—'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः। अतो यतेत तत्प्राप्तौ' (आ० ३५१) इत्यर्थशास्त्रम्।—'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' (व्य०१) इति धर्मशास्त्रम्। तयोः क्वचिद्विषये विरोधो[५] भवति। यथा—'चतुष्पाद्व्यवहारे प्रवर्तमाने एकस्य जयेऽवधार्यमाणे मित्रलब्धिर्भवति, न धर्मशास्त्रमनुसृतं भवति। अन्यस्य जयेऽवधार्यमाणे धर्मशास्त्रमनुसृतं भवति, मित्रलब्धिर्विपरीता, तत्रार्थशास्त्राद्धर्मशास्त्रं बलवत्। अत एव 'धर्मार्थसंनिपाते अर्थग्राहिण एतदेव' इति प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वं दर्शितमापस्तम्बेन। एतदेवेति द्वादशवार्षिकं प्रायश्चित्तं परामृश्यते॥ २१॥

(किन्तु सार्वकालिक) व्यवस्था यह है कि अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् होता है॥ २१॥

'ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इत्युक्तं, किं तत्साधनमित्यपेक्षित आह—

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्।
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते॥ २२॥

प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणम्। तच्च द्विविधं—मानुषं दैविकं चेति। तत्र [२]मानुषं प्रमाणं त्रिविधं—लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति। कीर्तितं मह-

र्भिः। तत्र लिखितं द्विविधं–शासनं चीरकं चेति। शासनमुक्तलक्षणम्। चीरकं तु वक्ष्यमाण[1]लक्षणम्। भुक्तिरुपभोगः। साक्षिणो वक्ष्यमाणस्वरूप[2]प्रकाराः। ननु लिखितस्य साक्षिणां च शब्दा[3]भिव्यक्तिद्वारेण शब्देऽन्तर्भावाद्युक्तं प्रामाण्यम्। भुक्तेस्तु कथं प्रामाण्यम्? उच्यते—भुक्तिरपि कैश्चिद्विशेषणै[4]र्युक्ता स्वत्वहेतुभूतक्रयादिकमव्यभिचारादनुमापयन्त्यनुपपद्यमाना वा कल्पयन्तीत्यनुमाने[5]ऽर्थापत्तौ[6] चान्तर्भवतीति प्रमाणमेव। एषां लिखितादीनां त्रयाणामन्यतमस्याप्यभावे दिव्यानां वक्ष्यमाणस्वरूपभेदानामन्यतमं जातिदेशकालद्रव्याद्यपेक्षया प्रमाणमुच्यते। मानुषाभाव एव दिव्यस्य प्रामाण्यमस्मादेव वचनादवगम्यते; दिव्यस्य स्वरूपप्रामाण्ययोरागमगम्यत्वात्। अतश्च यत्र परस्परविवादेन युगपद्धर्माधिकारिणं प्राप्तयोरेको मानुषीं क्रियामपरस्तु दैवीमवलम्बते तत्र मानुष्येव ग्राह्या। यथाह कात्यायनः—'यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयात्तु दैविकीम्। मानुषीं तत्र गृह्णीयान्नतु दैवीं क्रियां नृपः॥' इति। यत्रापि प्रधानै[7]कदेशसाधनं मानुषं संभवति तत्रापि न दैवमाश्रयणीयम्। यथा 'रूपकशतमनया वृद्ध्या गृहीत्वाऽयं न प्रयच्छती'त्यभियोगा[8]पह्नवे—'ग्रहणे साक्षिणः सन्ति नो संख्यायां वृद्धिविशेषे वा, अतो दिव्येन भावयामी'त्युक्ते तत्रैकदेशविभावितन्यायेनापि संख्या[9]वृद्धिविशेषसिद्धेर्न दिव्यस्यावकाशः। उक्तं च कात्यायनेन—'यद्येकदेशव्याप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी। सा ग्राह्या ननु पूर्णापि[1] दैविकी वदतां[2] नृणाम्॥' इति। यत्तु—'गूढसाहसिकानां तु प्राप्तं दिव्यैः परीक्षणम्' इति, तदपि मानुषासंभवकृतनियमार्थम्। यदपि नारदेनोक्तम्—'अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे। न्यासस्यापह्नवे चैव दिव्या संभवति क्रिया॥' इति, तदपि मानुषा[10]संभव एव। तस्मान्मानुषाभाव एव दिव्येन निर्णय इत्यौत्सर्गिकम्। अस्य चापवादो दृश्यते—'प्रक्रान्ते साहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके। बलोद्भूतेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्यमेव च॥' इति। तथा लेख्यादीनामपि क्वचिन्नियमो दृश्यते। यथा—'पूग[1]श्रेणीगणादीनां या स्थितिः परिकीर्तिता। तस्यास्तु साधनं लेख्यं न दिव्यं न च साक्षिणः॥' तथा—'द्वारमार्गक्रिया[2]भोगजलवाहादिषु क्रिया। भुक्तिरेव तु गुर्वी स्यान्न दिव्यं न च साक्षिणः॥' तथा—'दत्ता[3]दत्तेऽथ भृत्यानां स्वामिनां निर्णये सति। विक्रया[4]दानसंबन्धे क्रीत्वा धनमनिच्छति॥ द्यूते समा[5]ह्वये चैव विवादे समुपस्थिते। साक्षिणः साधनं प्रोक्तं न दिव्यं न च लेख्यकम्॥' इति॥ २२॥

(किसी भी वाद के) लिखित, उपभोग और साक्षी– ये तीन प्रमाण हैं। इनमें किसी के न होने पर दिव्य प्रमाणों में कोई प्रमाण होता है॥ २२॥

उभयत्र प्रमाणसद्भावे प्रमाणगतबलाबलविवेके चासति पूर्वापरयोः कार्ययोः कस्य बलीयस्त्वमित्यत आह—

[1]सर्वेष्वर्थविवादेषु बलवत्युत्तरा क्रिया ।

ऋणादिषु **सर्वेष्वर्थविवादेषु उत्तरा क्रिया**—क्रियत इति क्रिया कार्यं[2] **बलवती** । उत्तरकार्ये साधिते तद्वादी विजयी भवति, पूर्वकार्ये सिद्धेऽपि तद्वादी पराजीयते । तद्यथा—कश्चिद्ग्रहणेन धारणं साधयति कश्चित्प्रतिदानेनाधारणम्, तत्र ग्रहणप्रतिपादनयोः प्रमाणसिद्धयोः प्रतिदानं बलवदिति प्रतिदानवादी जयी[3] भवति । तथा पूर्वं द्विकं[4] शतं गृहीत्वा कालान्तरे त्रिकं शतमङ्गीकृतवान्, तत्रोभयत्र प्रमाणसद्भावेऽपि त्रिकशतग्रहणं बलवत् । पश्चाद्भावित्वात्पूर्वाबाधेनानुत्पत्तेः । उक्तं च—'पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सेत्स्यति' इति ॥

सभी प्रकार के अर्थ (धन) के विवादों में उत्तर क्रिया (बाद के कार्य) प्रबल होते हैं ॥ २२$\frac{१}{२}$ ॥

अस्यापवादमाह—

आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा ॥ २३ ॥

आध्यादिषु त्रिषु **पूर्वमेव** कार्यं **बलवत्** । तद्यथा—एकमेव क्षेत्रमन्यस्याऽऽधिं कृत्वा किमपि गृहीत्वा पुनरन्यस्याप्याधाय किमपि गृह्णाति; तत्र पूर्वस्यैव तद्भवति, नोत्तरस्य । एवं **प्रतिग्रहे क्रये** च ॥ नन्वाहितस्य तदानीमस्वत्वात्पुनराधानमेव न संभवति । एवं दत्तस्य क्रीतस्य च दानक्रयौ नोपपद्येते तस्मादिदं वचनमनर्थकम् । उच्यते—[4]अस्वत्वेऽपि यदि मोहात्कश्चिल्लोभाद्वा पुनराधानादिकं करोति तत्र पूर्वं बलवदिति न्यायमूलमेवेदं वचनमित्यचोद्यम् ॥ २३ ॥

किन्तु आधि (बंधन) दान और क्रय में पूर्व कार्य (पहले का अधिकार-पत्र) प्रबल होता है ॥ २३ ॥

भुक्तेः कैश्चिद्विशेषणै[1]र्युक्तायाः प्रामाण्यं दर्शयिष्यन् कस्याश्चिद्भुक्तेः कार्यान्तरमाह—

पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ।
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ २४ ॥

परेणासंबद्धेन[1] **भुज्यमानां** भुवं **धनं** वा [2]पश्यतः अब्रुवतः 'मदीयेयं भूः न त्वया भोक्तव्या' इत्यप्रतिषेधयतः तस्या **भूमेर्विंशतिवार्षिकी** [3]अप्रतिरवं विंशतिवर्षोपभोगनिमित्ता **हानिर्भवति** । **धनस्य तु** हस्त्यश्वादे**र्दशवार्षिकी हानिः** । नन्वेतदनुपपन्नम्, ह्यप्रतिषेधात्स्वत्वमपगच्छति । अप्रतिषिद्धस्य[2] दानविक्रयादिवत्स्वत्वनिवृत्तिहेतुत्वस्य लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात् । नापि विंशतिवर्षोपभोगात्स्वत्वम्[4]; उपभोगस्य स्वत्वे [5]प्रमाणत्वात्, [6]प्रमाणस्य च प्रमेयप्रत्यनुत्पादक-

त्वात्, रिक्थक्रयादिषु स्वत्वकारकहेतुष्वपाठाच्च । तथा हि—'स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं, क्षत्रियस्य वर्जितम्, निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः' (गौ. २।१०, ३९-४२) इत्यष्टावेव स्वत्वकारकहेतून् गौतमः पठति न भोगम् । न चेदमेव वचनं विंशतिवर्षोपभोगस्य स्वत्वापत्तिहेतुत्वं प्रतिपादयतीति युक्तम् । स्वत्वस्य स्वत्वहेतूनां च लोकप्रसिद्धत्वेन शास्त्रैकसमधिगम्यत्वाभावात् । एतच्च विभागप्रकरणे निपुणतरमुपपादयिष्यते । गौतमवचनं तु नियमार्थम् ॥ अपि च 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि । चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥' इत्येतदनागमोपभोगस्य स्वत्वहेतुत्वे विरुद्ध्यते । नच 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्येतत्परोक्षभोगविषयम्, 'पश्यतोऽब्रुवत' इति प्रत्यक्षभोगविषयमिति युक्तं वक्तुम् । 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्यविशेषाभिधानात्, 'नोपभोगे बलं कार्यमाहर्त्रा तत्सुतेन वा । पशुस्त्रीपुरुषादीनामिति धर्मो व्यवस्थितः ॥' इति कात्यायनवचनाच्च । समक्षभोगे च हानिकारणाभावेन हानेरसंभवात् । न चैतन्मन्तव्यम्—आधिप्रतिग्रहक्रयेषु पूर्वस्याः क्रियायाः प्राबल्यादपवादेन भूविषये विंशतिवर्षोपभोगयुक्तायाः, धनविषये दशवर्षोपभोगयुक्तायाः, उत्तरस्याः क्रियायाः प्राबल्यमनेनोच्यत इति । यतस्तेषूत्तरैव क्रिया तत्त्वतो नोपपद्यते, स्वमेव ह्याधेयं देयं विक्रेयं च भवति । न चाहितस्य दत्तस्य विक्रीतस्य वा स्वत्वमस्ति । अस्वत्वदाने प्रतिग्रहे च दण्डः स्मर्यते—'अदेयं यश्च गृह्णाति यश्चादेयं प्रयच्छति । उभौ तौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ चोत्तमसाहसम् ॥' इति । तथाऽऽध्यादीनां त्रयाणामपवादत्वेऽस्य श्लोकस्याधिसीमादीनामुत्तरश्लोकेऽपवादो नोपपद्यते । तस्माद्भूम्यादीनां हानिरनुपपन्नैव; नापि व्यवहारहानिः, यतः—'उपेक्षां कुर्वतस्तस्य तूष्णींभूतस्य तिष्ठतः । काले विपन्ने पूर्वोक्ते व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥' इति नारदेनोपेक्षालिङ्गाभावकृता व्यवहारहानिरुक्ता, नतु वस्त्वभावकृता । तथा मनुनापि (८।१४८)—'अजडश्चेदपौगण्डो विषयश्चास्य भुज्यते । भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्धनमर्हति ॥' इति व्यवहारतो भङ्गो दर्शितो न वस्तुतः । व्यवहारभङ्गश्चैव—भोक्ता किल वदति 'अजडोऽयमपौगण्डोऽबालोऽयमस्य संनिधौ विंशतिवर्षाण्यप्रतिरवं मया भुक्तं, तत्र बहवः साक्षिणः सन्ति; यद्यस्य स्वमन्यायेन मया भुज्यते तदायं किमित्येतावन्तं कालमुदास्ते' इति, तत्र चायं निरुत्तरो भवतीति । एवं निरुत्तरस्यापि वास्तवो व्यवहारो भवत्येव । 'छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः' (व्य० १९) इति नियमात् ॥ अथ मतम् । यद्यपि न वस्तुहानिर्नापि व्यवहारहानिस्तथापि पश्यतोऽप्रतिषेधतो व्यवहारहानिशङ्का भवतीति तन्निवृत्तये तूष्णीं न स्थातव्यमित्युपदिश्यत इति । तच्च न,—स्मार्तकालाया भुक्तेर्हानिशङ्काकारणत्वाभावात्, तूष्णीं न स्थातव्यमित्येतावन्मात्राभिधित्सायां विंशतिग्रहणमविवक्षितं स्यात् । अथोच्यते—विंशतिग्रहणमूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणार्थम् । यथाह कात्यायनः—'शक्तस्य संनिधावर्थो यस्य लेख्येन भुज्यते । विंशतिवर्षाण्यतिक्रान्तं तत्पत्रं दोषवर्जितम् ॥' इति, तदपि न,—आध्यादिष्वपि विंशतेरूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणस्य समत्वेनाधिसीमेत्याद्यपवादासंभवात् । यथाह कात्यायनः—'अथ विंशतिवर्षाणि

उभयत्र प्रमाणसद्भावे प्रमाणगतबलाबलविवेके चासति पूर्वापरयोः कार्ययोः कस्य बलीयस्त्वमित्यत आह—

[1]सर्वेष्वर्थविवादेषु बलवत्युत्तरा क्रिया ।

ऋणादिषु **सर्वेष्वर्थविवादेषु उत्तरा क्रिया**—क्रियत इति क्रिया कार्यं **बलवती** । उत्तरकार्ये साधिते तद्वादी विजयी भवति, पूर्वकार्ये सिद्धेऽपि तद्वादी पराजीयते । तद्यथा—कश्चिद्ग्रहणेन धारणं साधयति कश्चित्प्रतिदानेनाधारणम्, तत्र ग्रहणप्रतिपादनयोः प्रमाणसिद्धयोः प्रतिदानं बलवदिति प्रतिदानवादी [2]जयी भवति । तथा पूर्वं [7]द्विकं शतं गृहीत्वा कालान्तरे त्रिकं शतमङ्गीकृतवान्, तत्रोभयत्र प्रमाणसद्भावेऽपि त्रिकशतग्रहणं बलवत् । पश्चाद्भावित्वात्पूर्वाबाधेनानुत्पत्तेः । उक्तं च—'पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सेत्स्यति' इति ॥

सभी प्रकार के अर्थ (धन) के विवादों में उत्तर क्रिया (बाद के कार्य) प्रबल होते हैं ॥ २२$\frac{१}{२}$ ॥

अस्यापवादमाह—

आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा ॥ २३ ॥

आध्यादिषु त्रिषु **पूर्वमेव** कार्यं **बलवत्** । तद्यथा—एकमेव क्षेत्रमन्यस्याऽऽधिं कृत्वा किमपि गृहीत्वा पुनरन्यस्याप्याधाय किमपि गृह्णाति; तत्र पूर्वस्यैव तद्भवति, नोत्तरस्य । एवं **प्रतिग्रहे क्रये** च ॥ नन्वाहितस्य तदानीमस्वत्वात्पुनराधानमेव न संभवति । एवं दत्तस्य क्रीतस्य च दानक्रयौ नोपपद्येते तस्मादिदं वचनमनर्थकम् । उच्यते—[8]अस्वत्वेऽपि यदि मोहात्कश्चिल्लोभाद्वा पुनराधानादिकं करोति तत्र पूर्वं बलवदिति न्याय्यमूलमेवेदं वचनमित्यचोद्यम् ॥ २३ ॥

किन्तु आधि (बंधन) दान और क्रय में पूर्व कार्य (पहले का अधिकार-पत्र) प्रबल होता है ॥ २३ ॥

भुक्तेः कैश्चिद्[1]विशेषणैर्युक्तायाः प्रामाण्यं दर्शयिष्यन् कस्याश्चिद्भुक्तेः कार्यान्तरमाह—

पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ।
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ २४ ॥

परेणासंबद्धेन **भुज्यमानां** भुवं **धनं** वा [2]पश्यतः अब्रुवतः 'मदीयेयं भूः न त्वया भोक्तव्या' इत्यप्रतिषेधयतः तस्या **भूमेर्विंशतिवार्षिकी** [3]अप्रतिरवं विंशतिवर्षोपभोगनिमित्ता **हानिर्भवति** । **धनस्य तु** हस्त्यश्वादेर्**दशवार्षिकी हानिः** । नन्वेतदनुपपन्नम्, नह्यप्रतिषेधात्स्वत्वमपगच्छति । अप्रतिषि[3]द्धस्य दानविक्रयादिवत्स्वत्वनिवृत्तिहेतुत्वस्य लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात् । नापि विंशतिवर्षोपभोगात्[4]स्वत्वम्; उपभोगस्य स्वत्वे [5]प्रमाणत्वात्, [6]प्रमाणस्य च प्रमेयप्रत्यनुत्पादक-

त्वात्, रिक्थक्रयादिषु स्वत्वकारकहेतुष्वपाठाच्च । तथा हि—'[7]स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं, क्षत्रियस्य वर्जि[3]तम्, निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः' (गौ. २।१०, ३९-४२) इत्यष्टावेव स्वत्वकारकहेतून् गौतमः पठति न भोगम् । [4]नैचेदमेव वचनं विंशतिवर्षोपभोगस्य स्वत्वापत्तिहेतुत्वं प्रतिपादयतीति युक्तम् । स्वत्वस्य स्वत्वहेतूनां च लोकप्रसिद्धत्वेन शास्त्रैकसमधिगम्यत्वाभावात् । एतच्च विभागप्रकरणे निपुणतरमुपपादयिष्यते । गौतमवचनं तु नियमार्थम् ॥

अपि च 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि । चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥' इत्येतदनागमोपभोगस्य स्वत्वहेतुत्वे विरुद्ध्यते । नच 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्येतत्परोक्षभोगविषयम्, 'पश्यतोऽब्रुवत' इति प्रत्यक्षभोगविषयमिति युक्तं वक्तुम् । 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्यविशेषाभिधानात्, 'नोपभोगे बलं कार्यमाहर्त्रा तत्सुतेन वा । पशुस्त्रीपुरुषादीनामिति धर्मो व्यवस्थितः ॥' इति कात्यायनवचनाच्च । समक्षभोगे च हानिकारणाभावेन हानेरसंभवात् । न चैतन्मन्तव्यम्—आधिप्रतिग्रहक्रयेषु पूर्वस्याः क्रियायाः प्राबल्यादपवादेन भूविषये विंशतिवर्षोपभोगयुक्तायाः, धनविषये दशवर्षोपभोगयुक्तायाः, [5]उत्तरस्याः क्रियायाः प्राबल्यमनेनोच्यत इति । यतस्तेषू[8]त्तरैव क्रिया तत्त्वतो नोपपद्यते, [6]स्वमेव ह्याधेयं देयं विक्रेयं च भवति । न चाहितस्य दत्तस्य विक्रीतस्य वा स्वत्वमस्ति । [1]अस्वत्वदाने प्रतिग्रहे च दण्डः स्मर्यते—'अदेयं यश्च गृह्णाति यश्चादेयं प्रयच्छति । उभौ तौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ चोत्तमसाहसम् ॥' इति । तथाऽऽध्यादीनां त्रयाणामपवादत्वेऽस्य श्लोकस्याधिसीमादीनामुत्तरश्लोकेऽ[1]पवादो नोपपद्यते । तस्माद्भूम्यादीनां [2]हानिरनुपपन्नैव; नापि व्यवहारहानिः, यतः—'उपेक्षां कुर्वतस्त[3]स्य तूष्णींभूतस्य तिष्ठतः । काले विपन्ने पूर्वोक्ते व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥' इति नारदेनोपे[4]क्षालिङ्गाभावकृता व्यवहारहानिरुक्ता, नतु वस्त्वभावकृता । तथा मनुनापि (८।१४८)—'अजडश्चेदपौगण्डो वि[5]षय[3]श्चास्य भुज्यते । भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्धनमर्हति ॥' इति व्यवहारतो भङ्गो दर्शितो न वस्तुतः । व्यवहारभङ्गश्चैव—भोक्ता किल वदति 'अजडोऽयमपौगण्डोऽबालोऽयमस्य संनिधौ विंशतिवर्षाण्यप्रतिरवं मया भुक्तं, तत्र बहवः साक्षिणः सन्ति; यद्यस्य स्वमन्यायेन मया भुज्यते तदायं किमित्येतावन्तं कालमुदास्ते' इति, तत्र चायं निरुत्तरो भवतीति । एवं निरुत्तरस्यापि वास्तवो व्यवहारो भवत्येव । 'छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः' (व्य० १९) इति नियमात् ॥ [6]अथ मतम् । यद्यपि न वस्तुहानिर्नापि व्यवहारहानिस्तथापि पश्यतोऽप्रतिषेधतो व्यवहारहानिशङ्का भवतीति तन्निवृत्तये तूष्णीं न स्थातव्यमित्युपदिश्यत इति । तच्च न,–[7]स्मार्तकालाया भुक्तेर्हानिशङ्काकारणत्वाभावात्, तूष्णीं न स्थातव्यमित्येतावन्मात्राभिधित्सायां विंशतिग्रहणमविवक्षितं स्यात् । अथोच्यते–विंशतिग्रहणमूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणार्थम् । यथाह कात्यायनः—'शक्तस्य संनिधावर्थो यस्य लेख्येन भुज्यते । विंशतिवर्षाण्यतिक्रान्तं तत्पत्रं दोषवर्जितम् ॥' इति, तदपि न,—आध्यादिष्वपि विंशतेरूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणस्य [3]समत्वेनाधिसीमेत्याद्यपवादासंभवात् । यथाह कात्यायनः—'अथ विंशतिवर्षाणि

आधिर्भुक्तः सुनिश्चितः । तेन लेख्येन तत्सिद्धिर्लेख्यदोषविवर्जिता ॥' तथा—'सीमाविवादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते । तस्य दोषाः प्रवक्तव्या यावद्वर्षाणि विंशतिः ॥' इति । एतेन 'धनस्य दशवार्षिकी' इत्येतदपि प्रत्युक्तम् । तस्मादस्य श्लोकस्य सत्योऽर्थो वक्तव्यः । उच्यते—भूमेर्धनस्य च फलहानिरिह विवक्षिता, न वस्तुहानिर्नापि व्यवहारहानिः । तथा हि—निराक्रोशं विंशतिवर्षोपभोगादूर्ध्वं यद्यपि स्वामी न्यायतः क्षेत्रं लभते, तथापि फलानुसरणं न लभते; अप्रतिषेधलक्षणास्वापराधादस्माच्च वचनात् । परोक्षभोगे तु विंशतेरूर्ध्वमपि फलानुसरणं लभत एव; 'पश्यतः' इति वचनात् । प्रत्यक्षभोगे च साक्रोशे; 'अब्रुवतः' इति वचनात् । विंशतेः प्राक् प्रत्यक्षे निराक्रोशे च लभते; विंशतिग्रहणात् । ननु तदुत्पन्नस्यापि फलस्य स्वत्वात्तद्धानिरनुपपन्नैव । बाढम्, तस्य स्वरूपाविनाशेन तथैवावस्थाने यथा—तदुत्पन्नपूगपनसवृक्षादीनां यत्पुनस्तदुत्पन्नमुपभोगान्नष्टं तत्र स्वरूपनाशादेव स्वत्वनाशः । 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि । चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥' इत्यनेन वचनेन निष्क्रयरूपेण गणयित्वा चौरवत्तत्समं द्रव्यदानं प्राप्तं, 'हानिर्विंशतिवार्षिकी' इत्यनेनापोह्यते । राजदण्डः पुनरस्त्येव विंशतेरूर्ध्वमपि, अनागमोपभोगादपवादाभावाच्च । तस्मात्स्वाम्युपेक्षालक्षणस्वापराधादस्माच्च वचनाद्विंशतेरूर्ध्वं फलं नष्टं न लभत इति स्थितम् । एतेन 'धनस्य दशवार्षिकी' इत्येतदपि व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

(वास्तविक स्वामी के) देखने और न बोलने (प्रतिवाद न करने) पर दूसरे द्वारा कब्जा की गई जमीन पर बीस वर्षों में (वास्तविक स्वामी के स्वामित्व की) हानि हो जाती है और धन (हाथी, घोड़ा, रत्न आदि) का दश वर्षों तक (बिना प्रतिवाद के) उपभोग करने पर स्वामित्व की हानि हो जाती है ॥ २४ ॥

अस्यापवादमाह—

आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनैर्विना ।
तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि ॥ २५ ॥

आधिश्च सीमा च उपनिक्षेपश्च आधिसीमोपनिक्षेपाः । जडश्च बालश्च जडबालौ, तयोर्धने **जडबालधने**, आधिसीमोपनिक्षेपाश्च जडबालधने च आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनानि **तैर्विना** । उपनिक्षेपो नाम रूपकसंख्याप्रदर्शनेन रक्षणार्थं परस्य हस्ते निहितं द्रव्यम् । यथाह नारदः—'स्वं द्रव्यं यत्र विस्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः । निक्षेपो नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः ॥' इति । उपनिधानमुपनिधिः । आध्यादिषु पश्यतोऽब्रुवतोऽपि भूमेर्विंशतेरूर्ध्वं धनस्य च दशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वमप्युपचयहानिर्न भवति; पुरुषापराधस्य तथाविधस्याभावात्, उपेक्षाकारणस्य तत्र तत्र संभवात् । तथा हि—आधेराधित्वोपाधिक एव भोग इत्युपेक्षायामपि न पुरुषापराधः । सीम्नश्चिरकृततुषाङ्गारादिचिह्नैः सुसाध्यत्वादुपेक्षा संभवति; उपनिक्षेपोपनिध्योर्भुक्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, प्रतिषेधातिक्रमोपभोगे च सोदयफललाभादुपेक्षोपपत्तिः । जडबालयोर्जडत्वाद्बालत्वादुपेक्षा

युक्तैव; राज्ञो बहुकार्यव्याकुलत्वात्, स्त्रीणामज्ञानादप्रागल्भ्याच्च । श्रोत्रियस्याध्ययनाध्यापनतदर्थविचारानुष्ठानव्याकुलत्वादुपेक्षा युक्तैव । तस्मादाध्यादिषु सर्वत्रोपेक्षाकारणसंभवात्समक्षभोगे निराक्रोशे च न कदाचिदपि फलहानिः ॥२५॥

आधि (बन्धक), सीमा, उपनिक्षेप (विश्वासपूर्वक किसी के पास रखना) तथा मूर्ख एवं बालक का धन, उपनिधि (वह निक्षेप जो बिना रूप और संख्या को दिखाये रक्षा के लिये गुप्त रूप में रखा जाय), राजधन, स्त्री का धन तथा श्रोत्रिय का धन भी स्वामी के अधिकार से विरहित नहीं होता ॥ २५ ॥

टिप्पणी— उपनिक्षेप तथा उपनिधि में भेद इस प्रकार है– उपनिक्षेप वह है जहाँ स्वरूप तथा संख्या को दिखाकर रखा जाय तथा उपनिधि वह है जहाँ स्वरूप तथा संख्या को बिना प्रदर्शित करके रखने को दिया जाय।

आध्यादिषु दण्डविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

आध्यादीनां विहर्तारं धनिने दापयेद्धनम् ।
दण्डं च तत्समं राज्ञे शक्त्यपेक्षमथापि वा ॥ २६ ॥

य आध्यादीनां श्रोत्रियद्रव्यपर्यन्तानां चिरकालोपभोगबलेनापहर्ता तं विवादास्पदीभूतं धनं स्वामिने दापयेदित्यनुवादः । दण्डं च तत्समं विवादास्पदीभूतद्रव्यसमं राज्ञे दापयेदिति विधिः[1] । यद्यपि गृहक्षेत्रादिषु तत्समो दण्डो न संभवति तथापि—'मर्यादायाः प्रभेदे च सीमातिक्रमणे तथा' (व्य० १५५) इत्यादिर्वक्ष्यमाणो दण्डो द्रष्टव्यः । अथ तत्समदण्डेनापहर्तुर्दमनं न भवति बहुधनत्वेन, तदा शक्त्यपेक्षं धनं दापयेत् । यावता तस्य दर्पोपशमो भवति तावद्दापयेत् । 'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत्' (गौ० ११।२८) इति दण्डग्रहणस्य दमनार्थत्वात् । यस्य तु तत्सममपि द्रव्यं नास्ति, सोऽपि यावता पीड्यते तावद्दाप्यः । यस्य पुनः किमपि धनं नास्ति असौ धिग्दण्डादिना दमनीयः । तथा च मनुः (८।१२९)—'धिग्दण्डं[2] प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥' इति । वधदण्डोऽपि शारीरो ब्राह्मणव्यतिरिक्तानां[3] दशधा[4] दर्शितः । तथाह मनुः (८।१२५)—'दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् । त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो[5] ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥' इति । एतेषां यन्निमित्तापराधस्तत्रैवोपस्थादौ निग्रहः कार्य इति द्रष्टव्यम् । कर्म वां कारयितव्यो बन्धनागारं वा प्रवेशयितव्यः । यथोक्तं कात्यायनेन—'धनदानासहं बुद्ध्वा स्वाधीनं कर्म कारयेत् । अशक्तौ बन्धनागारं प्रवेश्यो ब्राह्मणादृते ॥' इति । ब्राह्मणस्य पुनर्द्रव्याभावे कर्मवियोगादीनि प्रयोज्यानि ।

यथाह गौतमः (१२।४७)—‘[६]कर्मवियोगविख्यापननिर्वासनाङ्ककरणान्यवृत्तौ ।’ इति । नारदेनापि (१४।८)—‘[७]वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने । [८]तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः ॥ अविशेषेण सर्वेषामेष दण्डविधिः स्मृतः ॥’ इत्युक्त्वोक्तम्—‘वधादृते ब्राह्मणस्य, न वधं ब्राह्मणोऽर्हति ॥’ इति ।—शिरसो मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात् । ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च ॥’ (नारदः १४।९) इति ॥ अङ्कने च व्यवस्था दर्शिता (९।२३७)—‘गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये तु श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥’ इति । यत्तु—‘चक्षुर्निरोधो ब्राह्मणस्य’ (२।२७।१७) इत्यापस्तम्बवचनं, ब्राह्मणस्य पुरान्निर्वासनसमये वस्त्रादिना चक्षुर्निरोधः कर्तव्य इति तस्यार्थः, न तु चक्षुरुद्धरणम्; ‘अक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्’ (मनुः ८।१२३) ‘न शारीरो ब्राह्मणे दण्डः’ (गौतमः १२।४६) इत्यादिमनुगौतमादिवचनविरोधादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ २६ ॥

आधि (बंधक) आदि के चुराने वाले से धन को धन के स्वामी को दिलावे तथा उसके बराबर अथवा (अपहरणकर्ता की) शक्ति के अनुसार दण्ड राजा को दिलवाये ॥ २६ ॥

स्वत्वाव्यभिचारत्वेन भोगस्य स्वत्वे प्रामाण्यमुक्तम् । भोगमात्रस्य स्वत्वव्यभिचारित्वात्कीदृशो भोगः प्रमाणमित्यत आह—

आग[१]मोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात् ।

स्वत्वहेतुः प्रतिग्रहक्रयादिः **आगमः** । स भोगाद**प्यधिको** बलीयान्; स्वत्वबोधने भोगस्यागमसापेक्षत्वात् । यथाह नारदः (१।८५)—‘आगमेन वि[२]शुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम् । अविशुद्धागमो भोगः प्रामाण्यं नैव गच्छति ॥’ इति । नच भोगमात्रात्स्वत्वागमः; परकीयस्याप्यपहारादिनोपभोगसंभवात् । अतएव—‘भोगं के[३]वलतो यस्तु कीर्तयेन्नागमं क्वचित् । भोगच्छलापदेशेन विज्ञेयः स तु तस्करः ॥’ (नारदः १।८।६) इति स्मर्यते । अतश्च सागमो दीर्घकालो निरन्तरो निराक्रोशः प्रत्यर्थिप्रत्यक्षश्चेति पञ्चविशेषणयुक्तो भोगः प्रमाणमित्युक्तं भवति । तथा च स्मर्यते—‘[४]सागमो दीर्घकालश्चाविच्छेदोऽपैरवोज्झितः । प्रत्यर्थिसंनिधानश्च परिभोगोऽपि पञ्चधा ॥’ इति । क्वचिच्चागमननिरपेक्षस्यापि भोगस्य प्रामाण्यमित्याह—**विना पूर्वक्रमागतादिति** । **पूर्वेषां** पित्रादीनां त्रयाणां **क्रमः** पूर्वक्रमः, तेनागतो यो भोगस्तस्माद्**विना** । आगमोऽभ्यधिक इति संबन्धः । [५]स पुनरागमादभ्यधिकः आगमनिरपेक्षः । प्रमाणमित्यर्थः । तत्राप्यागमोऽज्ञातनिरपेक्षो न सत्तानिरपेक्षः । सत्ता तु तेनै[६]वावगम्यत इति बोद्धव्यम् । ‘विना पूर्वक्रमागतात्’ इत्येतच्च [७]स्मार्तकालप्रदर्शनार्थम् । ‘आगमोऽभ्यधिको भोगात्’ इति च स्मार्तकालविषयम् । अतश्च स्मरणयोग्ये काले योग्यानुपलब्ध्या आगमाभावनिश्चयसंभवादागमज्ञानसापेक्षस्यैव भोगस्य प्रामाण्यम् । अ[८]स्मार्ते तु काले योग्[९]यानुपलब्ध्यभावेनागमाभावनिश्चयासंभवादागमज्ञाननिरपेक्ष एव संततो भोगः

प्रमाणम् । एतदेव स्पष्टीकृतं कात्यायनेन—'स्मार्तकाले क्रिया भूमेः सागमा भुक्तिरिष्यते । अस्मार्तेऽनुगमाभावात्क्रमात्त्रिपुरुषागता ॥' इति । स्मार्तश्च कालो वर्षशतपर्यन्तः; 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेः । अनुगमाभावादिति योग्यानुपलब्ध्यभावेनागमाभावनिश्चयासंभवादित्यर्थः । अतश्च वर्षशताधिको भोगः संततोऽप्रतिरवः प्रत्यक्षश्चागमाभावे वाऽनिश्चितेऽव्यभिचारादाक्षिप्तागमः स्वत्वं गमयति । अस्मार्तेऽपि कालेऽनागमस्मृतिपरम्परायां सत्यां न भोगः प्रमाणम् । अत एव 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि । चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥' इत्युक्तम् । नच 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्येकवचननिर्देशात् 'बहून्यब्दशतान्यपि' इति 'अपि'शब्दप्रयोगात्प्रथमस्यैव पुरुषस्य निरागमे चिरकालोपभोगेऽपि दण्डविधानमिति मन्तव्यम् । द्वितीये तृतीये वा पुरुषे निरागमस्य भोगस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चैतदिष्यते—'आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु सागमा' (नारदः २।८७) इति नारदस्मरणात् । तस्मात्सर्वत्र निरागमोपभोगे 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्येतद्द्रष्टव्यम् । यदपि 'अन्यायेनापि यद्भुक्तं पित्रा पूर्वतरैस्त्रिभिः । न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम् ॥' इति, तदपि पित्रा सह पूर्वतरैस्त्रिभिरिति योज्यम् । तत्रापि 'क्रमात्त्रिपुरुषागत'मित्यस्मार्तकालोपभोगलक्षणम् । त्रिपुरुषविवक्षायामेकवर्षाभ्यन्तरेऽपि पुरुषत्रयातिक्रमसंभवात्, द्वितीये वर्षे निरागमस्य भागस्य प्रामाण्यप्रसंगः । तथा सति 'स्मार्तकाले क्रिया भूमेः सागमा भुक्तिरिष्यते' इति स्मृतिविरोधः, 'अन्यायेनापि यद्भुक्तम्' इत्येतच्चान्यायेनापि भुक्तमपहर्तुं न शक्यं, किं पुनरन्यायानिश्चये इति व्याख्येयम्; 'अपि'शब्दश्रवणात् । यच्चोक्तं हारीतेन—'यद्विनाऽऽगममत्यन्तं भुक्तं पूर्वैस्त्रिभिर्भवेत् । न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम् ॥' इति, तत्राप्यत्यन्तमागमं विनेति । अत्यन्तमुपलभ्यमानमानमागमं विनेति व्याख्येयं, न पुनरागमस्वरूपं विनेति । आगमस्वरूपाभावे भोगशतेनापि न स्वत्वं भवतीत्युक्तम् । 'क्रमात्त्रिपुरुषागतमि'त्येतदुक्तार्थम् । ननु स्मरणयोग्ये काले भोगस्यागमसापेक्षस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् । तथा हि—यद्यागमः प्रमाणान्तरेणावगतस्तदा तेनैव स्वत्वावगमान्न भोगस्य स्वत्वे आगमे वा प्रामाण्यम् । अथ प्रमाणान्तरेणागमो नावगतः कथं तद्विशिष्टो भोगः प्रमाणम्? उच्यते,—प्रमाणान्तरेणावगतागमसहित एव निरन्तरो भोगः कालान्तरे स्वत्वं गमयति । अवगतोऽप्यागमो भोगरहितो न कालान्तरे स्वत्वं गमयितुमलम् । मध्ये दानविक्रयादिना स्वत्वापगमसंभवादिति सर्वमनवद्यम् ॥२६॥—

बिना पूर्व की तीन पीढी (प्रपितामह, पितामह और पिता) के क्रम के भोग से आगम (लेख) बलवान् होता है ॥२६$\frac{१}{२}$ ॥

आगमसापेक्षो भोगः प्रमाणमित्युक्तम्, आगमस्तर्हि भोगनिरपेक्ष एव प्रमाणमित्यत आह—

आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो ॥ २७ ॥

यस्मिन्नागमे स्वल्पापि भुक्तिर्भोगो नास्ति तस्मिन्नागमे बलं संपूर्णं नैवास्ति । अयमभिसंधिः—स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनं च दानम्; परस्वत्वापादनं च परो यदि स्वीकरोति तदा संपद्यते, नान्यथा । स्वीकारश्च त्रिविधः—मानसः, वाचिकः, कायिकश्चेति । तत्र मानसो ममेदमिति संकल्परूपः । वाचिकस्तु ममेदमित्याद्यभिव्याहारोल्लेखी सविकल्पकः प्रत्ययः । कायिकः पुनरुपादानाभिमर्शनादिरूपोऽनेकविधः । तत्र च नियमः स्मर्यते—'दद्यात्कृष्णाजिनं पृष्ठे गां पुच्छे करिणं करे । केसरेषु तथैवाश्वं दासीं शिरसि दापयेत् ॥' इति । आश्वलायनोऽप्याह—'अनुमन्त्रयेत प्राण्यभिमृशेदप्राणि कन्यां च' इति । तत्र हिरण्यवस्त्राद्युदकदानानन्तरमेवोपादानादिसंभवात् त्रिविधोऽपि स्वीकारः संपद्यते । क्षेत्रादौ पुनः फलोपभोगव्यतिरेकेण कायिकस्वीकारासंभवात्स्वल्पेनाप्युपभोगेन भवितव्यम्; अन्यथा दानक्रयादेः संपूर्णता न भवतीति फलोपभोगलक्षणकायिकस्वीकारविकल आगमो दुर्बलो भवति तत्सहितादागमात् । एतच्च द्वयोः पूर्वापरकालापरिज्ञाने । पूर्वापरकालपरिज्ञाने तु विगुणोऽपि पूर्वकालागम एव बलीयानिति । अथवा—'लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधम्' इत्युक्तं एतेषां समवाये कुत्र यस्य वा प्राबल्यमित्यत्रेदमुपतिष्ठते—'आगमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात् । आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो ॥' इति । अयमर्थः—आद्ये पुरुषे साक्षिभिर्भावित आगमो भोगादप्यधिको बलवान् । पूर्वक्रमागताद्भोगाद्विना । स पुनः पूर्वक्रमागतो भोगश्चतुर्थे पुरुषे लिखितेन भावितादागमाद्बलवान् । मध्यमे तु भोगरहितादागमात्स्तोकभोगसहितोऽप्यागमो बलवानिति । एतदेव नारदेन स्पष्टीकृतम्—'आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु सागमा । कारणं भुक्तिरेवैका संतता या चिरन्तनी ॥' इति ॥ २७ ॥

किन्तु जहाँ थोड़ा भी भोग (कब्जा) नहीं है वहाँ आगम में भी कोई बल नहीं होता ॥ २७ ॥

टिप्पणी—तीन पीढ़ी का क्रम वहीं मान्य है जहाँ तीन पीढ़ियाँ मर चुकी हों। तीनों पीढ़ियों के जीवित रहने पर उन्हें एक ही पीढ़ी माना जाता है और उस उपभोग के पूर्वक्रमागत नहीं होगा। इस विषय में बृहस्पति का कथन मन्तव्य है–

'पिता पितामहो यस्य जीवेच्च प्रपितामहः।
त्रयाणां जीवतां भोगो विज्ञेयस्त्वेकपौरुषः' ॥

'पश्यतोऽब्रुवत' (व्य० २४) इत्यत्र विंशतिवर्षोपभोगादूर्ध्वं भूमेर्धनस्यापि दशवर्षोपभोगादूर्ध्वं फलानुसरणं न भवतीत्युक्तम्, तत्र फलानुसरणवद्दण्डानुसरणमपि न भविष्यतीत्याशङ्क्य पुरुषव्यवस्थया प्रामाण्यव्यवस्थया च दण्डव्यवस्थां दर्शयितुमाह—

आगमस्तु कृतो येन सोऽभियुक्तस्तमुद्धरेत् ।
न तत्सुतस्तत्सुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी ॥ २८ ॥

येन पुरुषेण भूम्यादेरागमः स्वीकारः कृतः स पुरुषः 'कुतस्ते क्षेत्रादिकम्' इत्यभियुक्तस्तमागमं प्रतिग्रहादिकं लिखितादिभिरुद्धरेत् भावयेत् । अनेन चाद्यस्य पुरुषस्यागममनुद्धरतो दण्ड इत्युक्तं भवति । तत्सुतो द्वितीयोऽभियुक्तो नागममुद्धरेत्, किंतु अविच्छिन्नाऽप्रतिरव-समक्ष-भोगम् । अनेन चागममनुद्धरतो द्वितीयस्य न दण्डोऽपि तु विशिष्टं भोगमनुद्धरतो दण्ड इति प्रतिपादितम् । तत्सुतस्तृतीयो नागमं नापि विशिष्टं भोगमुद्धरेत्, अपि तु क्रमागतं भोगमात्रम् । अनेनापि तृतीयस्य क्रमायातभोगानुद्धरणे दण्डो नागमानुद्धरणे न विशिष्टभोगानुद्धरणे चेत्यभिहितम् । तत्र तयोर्द्वितीयतृतीययोर्भुक्तिरेव गरीयसी । तत्रापि द्वितीये गुरुस्तृतीये गरीयसीति विवेक्तव्यम् । त्रिष्वप्यागमानुद्धरणेऽर्थहानिः समानैव, दण्डे तु विशेष इति तात्पर्यार्थः । उक्तं च हारीतेन—'आगमस्तु कृतो येन स दण्ड्यस्तमनुद्धरन् । न तत्सुतस्तत्सुतो वा भोग्यहानिस्तयोरपि ॥' इति ॥ २८ ॥

जिस व्यक्ति ने आगम (भूम्यादि को स्वीकार करके उसके पक्ष में लेखादि प्राप्त) किया है वह अभियोग चलने पर उसे उद्धृत करे। उसका पुत्र या पौत्र उसे प्रस्तुत न करे, क्योंकि उनके विषय में भोग (कब्जा ही) श्रेष्ठ (प्रमाण) है ॥ २८ ।।

अस्मार्तकालोपभोगस्यागमज्ञाननिरपेक्षस्य प्रामाण्यमुक्तं 'विना पूर्वक्रमागतात्' (व्य० २७) इत्यत्र, तस्यापवादमाह—

योऽभियुक्तः परेतः स्यात्तस्य रिक्थी तमुद्धरेत् ।
न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता ॥ २९ ॥

यदा पुनराहर्त्रादिरभियुक्तोऽकृतव्यवहारनिर्णय एव परेतः स्यात् परलोकं गतो भवेत्तदा तस्य रिक्थी पुत्रादिस्तमागममुद्धरेत् । यस्मात्तत्र तस्मिन्व्यवहारे भुक्तिरागमरहिता साक्ष्यादिभिः साधितापि न प्रमाणम्; पूर्वाभियोगेन भोगस्य सापवादत्वात् । नारदेनाप्युक्तम् (१।९३)—'तथारूढविवादस्य प्रेतस्य व्यवहारिणः । पुत्रेण सोऽर्थः संशोध्यो न तं भोगो निवर्तयेत् ॥' इति ॥ २९ ॥

जो व्यक्ति अभियुक्त होने पर अर्थात् अभियोग चलने के पश्चात् मर जाय तो उसका जो धन प्राप्त करे वह उसे (लेख को) प्रस्तुत करे। उस स्थिति में आगम के बिना भोग प्रमाण नहीं है ॥ २९ ॥

अनिर्णीतव्यवहारे व्यवहर्तरि प्रेते व्यवहारो न निवर्तेत इति स्थितम् । निर्णीतेऽपि व्यवहारे, स्थिते च व्यवहर्तरि, व्यवहारः क्वचित्प्रवर्तते क्वचिन्न प्रवर्तेत इति व्यवस्थासिद्धये व्यवहारदर्शिनां बलाबलमाह—

नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च ।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम् ॥ ३० ॥

नृपेण राज्ञा **अधिकृताः**[२] व्यवहारदर्शने नियुक्ताः—'राज्ञा सभासदः कार्याः' (व्य० २) इत्यादिनोक्ताः **पूगाः** समूहाः, भिन्नजातीनां भिन्नवृत्तीनां एकस्थाननिवासिनां,–यथा ग्रामनगरादयः, **श्रेणयो** नानाजातीनामेकजातीनामप्येककर्मोपजीविनां संघाताः,–यथा हेडावुकादीनां[३] ताम्बूलिककुविन्द[४]चर्मकारादीनां च, **कुलानि** ज्ञातिसंबन्धिबन्धूनां समूहाः, एतेषां नृपाधिकृतादीनां चतुर्णां पूर्वं पूर्वं यद्यत्पूर्वं पठितं तत्तद्गुरु बलवज्ज्ञेयं वेदितव्यम्। **नृणां** व्यवहर्तॄणां, **व्यवहारविधौ** व्यवहारदर्शनकार्ये। एतदुक्तं भवति—नृपाधिकृतैर्निर्णीते व्यवहारे पराजितस्य यद्यप्यसंतोषः कुदृष्टिबुद्ध्या भवति, तथापि न पूगादिषु पुनर्व्यवहारो भवति। एवं पूगनिर्णीतेऽपि न श्रेण्यादिगमनम्। तथा श्रेणिनिर्णीते कुलगमनं न भवति। कुलनिर्णीते तु श्रेण्यादिगमनं भवति। श्रेणिनिर्णीते पूगादिगमनम्। पूगनिर्णीते नृपाधिकृतगमनं भवतीति। नारदेन पुनर्नृपाधिकृतैर्निर्णीतेऽपि व्यवहारे नृपगमनं भवतीत्युक्तम्—'कुलानि श्रेणयश्चैव गणा[५]श्चाधिकृता नृपाः[३]। प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेषामुत्तरोत्तरम्' इति। तत्र च नृपगमने सोत्तर[४]सभ्येन राज्ञा पूर्वैः सभ्यैः सपण[१]व्यवहारे निर्णीयमाने यद्यसौ कुदृष्टवादी पराजितस्तदाऽसौ दण्ड्यः। अथासौ जयति तदाऽधिकृताः सभ्या दण्ड्याः॥ ३० ॥

मनुष्यों के व्यवहार-दर्शन के लिये राजा द्वारा नियुक्त पूग (समूह), श्रेणी (नाना जातियों, एक जाति या एक जाति के कर्म को करने वालों का वर्ग) तथा कुल (संबन्धीजन का समूह)- इन चारों में क्रमशः पूर्व-पूर्व को श्रेष्ठ मानना चाहिये ॥ ३० ॥

दुर्बलैर्व्यवहारदर्शिभिर्दृष्टो व्यवहारः परावर्तते, प्रबलदृष्टस्तु न निवर्तेत इत्युक्तम्; इदानीं प्रबलदृष्टोऽपि व्यवहारः कश्चिन्निवर्तेत इत्याह—

बलोपाधि[१]विनिर्वृत्तान्व्यवहारान्निवर्तयेत्।
स्त्रीनक्तमन्तरागारबहिःशत्रुकृतांस्तथा ॥ ३१ ॥

बलेन बलात्कारेण **उपाधिना**[२] भयादिना **विनिर्वृत्तान्**निष्पन्नान्**व्यवहारान्निवर्तयेत्**। तथा **स्त्रीभिः**, **नक्तं** रात्रावस्त्रीभिरपि, **अन्तरागारे** गृहाभ्यन्तरे, **बहिर्ग्रामादिभ्यः**, **शत्रुभिश्च कृतान्** व्यवहारान् **'निवर्तयेत्'** इति संबन्धः॥ ३१ ॥

बलपूर्वक एवं उपाधि (भयादि) द्वारा निष्पन्न व्यवहारों तथा स्त्री के साथ रात्रि में, घर में तथा ग्राम के बाहर किये गये व्यवहारों को लौटा दे अर्थात् अप्रमाण माने ॥ ३१ ॥

असिद्धव्यवहारिण आह—

मत्तोन्मत्तार्तव्यसनिबालभीतादियोजितः।
असंबद्धकृत[३]श्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ ३२ ॥

अपि च, **मत्तो** मदनीयद्रव्येण, **उन्मत्त** उन्मादेन पञ्चविधेन वातपित्तश्लेष्मसंनिपातग्रहसंभवेनोपसृष्टः, **आर्तो** व्याध्यादिना, **व्यसन**मिष्टवियोगो[४]ऽनिष्टप्राप्तिजनितं दुःखं, तद्वान्व्यसनी; बालो व्यवहारायोग्यः, **भीतो**ऽरातिभ्यः, 'आदि'ग्रहणात्पुरराष्ट्रादिविरुद्धः ।—'पुरराष्ट्रविरुद्धश्च यश्च राज्ञा विसर्जितः । अनादेयो भवेद्वादो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥' इति मनुस्मरणात् । **एतैर्योजितः** कृतो व्यवहारो न सिद्ध्यति । **अनियु[२]क्तासंबद्धकृतोऽपि व्यवहारो न सिद्ध्यती**ति संबन्धः । यत्तु स्मरणम्—'गुरोः शिष्ये पितुः पुत्रे दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः । विरोधे तु मिथस्तेषां व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥' इति, तदपि गुरुशिष्यादीनामात्यन्तिकव्यवहारप्रतिषेधपरं न भवति; तेषामपि कथंचिद्व्यवहारस्येष्टत्वात् । तथा हि—'शिष्यादिशिष्टि[३]रवधेन शक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्यां, अन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यः' (२।४२।४) इति गौतमस्मरणात् । 'नोत्तमाङ्गे कथंचन' (८।३००) इति मनुस्मरणाच्च । यदि गुरुः कोपावेशवशान्महता दण्डेनोत्तमाङ्गे ताडयति, तदा स्मृतिव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः शिष्यो यदि राज्ञे निवेदयति, तदा भवत्येव व्यवहारपदम् ॥ तथा—'भूर्या पितामहोपात्ता' (व्य०१२१) इत्यादिवचनात्पितामहोपात्ते भूम्यादौ पितापुत्रयोः स्वाम्ये समाने, यदि पिता विक्रयादिना पितामहोपात्तं भूम्यादि नाशयति तदा पुत्रो यदि धर्माधि[५]करणं प्रवेशयति तदा पितापुत्रयोरपि भवत्येव व्यवहारः ॥ यथा—'दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ सं[१]प्रतिरोधके । गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता नाकामो दातुमर्हति ॥' इति स्मरणात्, दुर्भिक्षादिव्यतिरेकेण यदि स्त्रीधनं भर्ता व्ययीकृत्य विद्यमानधनोऽपि याच्यमानो न ददाति तदा दम्पत्योरपीष्यत एव व्यवहारः । तथा भ[२]क्तदासस्य स्वामिना सह व्य[१]वहारं वक्ष्यति । गर्भदासस्यापि, गर्भदासादीनधिकृत्य—'यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोचयेत्प्राणसंशयात् । दासत्वात्स विमुच्येत पुत्रभागं लभेत च ॥' इति नारदोक्तत्वात्, तदमोचने पुत्रभागादाने च स्वामिना सह व्यवहारः केन वार्यते ? तस्माद्दृष्टादृष्टयोः श्रेयस्करो न भवति गुर्वादिभिर्व्यवहार इति प्रथमं शिष्यादयो निवारणीयाः राज्ञा ससभ्येनेति 'गुरोः शिष्ये' इत्यादिश्लोकस्य तात्पर्यार्थः । अत्यन्तनिर्बन्धे तु शिष्यादीनामप्युक्तरीत्या प्रवर्तनीयो व्यवहारः । यदपि—'एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च । अनादेयो भवेद्वादो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥' इति नारदवचनम्, तत्रैकस्यापि—'गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः' । (व्य०१८७) तथा—'एकं घ्नतां बहूनां च' (व्य० २२१) इत्यादिस्मरणादेकार्थैर्बहुभिः सार्धं व्यवहार इष्यत एवेति भिन्नार्थैर्बहुभिरेकस्य युगपद्व्यवहारो न भवतीति द्रष्टव्यम् । स्त्रीणामित्यपि गोपशौण्डिकादिस्त्रीणां स्वातन्त्र्याद्व्यवहारो भवत्येवेति, तदन्यासां कुलस्त्रीणां पतिषु जीवत्सु तत्पारतन्त्र्यादनादेयो व्यवहार इति व्याख्येयम् । 'प्रेष्यजनस्य च' इत्येतदपि प्रेष्यजनस्य स्वामिपारतन्त्र्यात्स्वार्थव्यवहारेऽपि स्वाम्यनुज्ञयैव व्यवहारो नान्यथेति व्या[३]ख्येयम् ॥ ३२ ॥

मत्त (नशा की अवस्था वाला), उन्मत्त (पागल), रोगी, आर्त (दुःखी-रोगी), व्यसनी (इष्ट-वियोग व अनिष्ट-प्राप्ति से दुःखी), बालक, भयभीत पर चलाया गया व्यवहार एवं असंबद्ध व्यक्ति पर चलाया गया व्यवहार (दावा) सिद्ध नहीं होता ॥ ३२ ॥

परावर्त्यं व्यवहारमुक्त्वा इदानीं परावर्त्यं द्रव्यमाह—

प्रनष्टाधिगतं देयं नृपेण धनिने धनम् ।
विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३३ ॥

प्रनष्टं हिरण्यादि शौल्किकस्थानपालादिभिरधिगतं राज्ञे समर्पितं यत्तद्राज्ञा **धनिने दातव्यम्** । यदि धनी रूपसंख्यादिभिर्लिङ्गैर्भावयति । यदि न भावयति तदा तत्समं दण्ड्यः; असत्यवादित्वात् । अधिगमस्य स्वत्वनिमित्तत्वात्स्वत्वे प्राप्ते तत्परावृत्तिरनेनोक्ता । अत्र च कालावधिं वक्ष्यति (व्य० १७३)—'शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् । अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत परतो नृपः ॥' इति । मनुना पुनः संवत्सरत्रयमवधित्वेन निर्दिष्टम् (८।३०)–'प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेत् ॥' इति । तत्र वर्षत्रयपर्यन्तमवश्यं रक्षणीयम् । तत्र यदि संवत्सरादर्वाक् स्वाम्यागच्छेत्तदा कृत्स्नमेव दद्यात् । यदा पुनः संवत्सरादूर्ध्वमागच्छति, तदा किंचिद्भागं रक्षणमूल्यं गृहीत्वा शेषं स्वामिने दद्यात्, यथाह—'आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः । दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥' (मनु० ८।३०) इति । तत्र प्रथमे वर्षे कृत्स्नमेव दद्यात्, द्वितीये द्वादशं भागं, तृतीये दशमं, चतुर्थादिषु षष्ठं भागं गृहीत्वा शेषं दद्यात् । राजभागस्य चतुर्थोऽंशोऽधिगन्त्रे दातव्यः । स्वाम्यनागमे तु कृत्स्नस्य धनस्य चतुर्थमंशमधिगन्त्रे दत्त्वा शेषं राजा गृह्णीयात् । तथाह गौतमः (१०।३६-३८)—'प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम् । ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थोऽंशो राज्ञः शेषम्' इत्यत्र संवत्सरमित्येकवचनमविवक्षितम् । 'राजा त्र्यब्दं निधापयेत्' इति स्मरणात् 'हरेत परतो नृपः' इत्येतदपि स्वामिन्यनागते त्र्यब्दादूर्ध्वं व्ययीकरणाभ्यनुज्ञानपरम् । ततः परमागते तु स्वामिनि व्ययीभूतेऽपि द्रव्ये राजा स्वांशमवतार्य तत्समं दद्यात् । एतच्च हिरण्यादिविषयम् । गवादिविषये वक्ष्यति (व्य० १७४)—'पणानेकशफे दद्यात्' इत्यादिना ॥३३॥

नष्ट हुआ धन जो स्थान के रक्षकादि द्वारा प्राप्त हुआ है वह उसके स्वामी को राजा दे। वह धनी यदि चिह्नों द्वारा उसे अपना प्रमाणित न कर सके तो उसके बराबर दण्ड का पात्र होता है ॥ ३३ ॥

रथ्याशुल्कशालादिनिपतितस्य सुवर्णादेर्नष्टस्याधिगमे विधिमुक्त्वा अधुना भूमौ निरनिखातस्य सुवर्णादेर्निधिशब्दवाच्यस्याधिगमे विधिमाह—

राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद्द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ।
विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ ३४ ॥

इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत् ।
अनिवेदितविज्ञातो दाप्यस्तं दण्डमेव च ॥ ३५ ॥

उक्तलक्षणं **निधिं**[1] **राजा लब्ध्वा अर्धं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा** शेषं कोशे निवेशयेत् । **ब्राह्मणस्तु विद्वान्** श्रुताध्ययनसंपन्नः सदाचारो यदि निधिं लभेत तदा **सर्वमेव गृह्णीयात्, यस्मादसौ सर्वस्य** जगतः **प्रभुः** । **इतरेण** तु राजविद्वद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तेन अविद्वद्ब्राह्मणक्षत्रियादिना **निधौ लब्धे राजा षष्ठांशम**धिगन्त्रे दत्त्वा शेषं निधिं **स्वयमाहरेत्**। यथाह वसिष्ठः—'अप्रज्ञायमानं वित्तं योऽधिगच्छेद्राजा तद्धरेत्, अधिगन्त्रे षष्ठमंशं, प्रदद्यात्' इति। गौतमोऽपि (१०।३३।५)—'निध्यधिगमो राजधनं भवति, न ब्राह्मणस्याभिरूपस्य, अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठमंशं लभेतेत्येके' इति। अनिवेदित इति कर्तरि निष्ठा । अनिवेदितश्चासौ विज्ञातश्च राज्ञेऽप्य**निवेदितविज्ञातः**, यः कश्चिन्निधिं लब्ध्वा राज्ञे न निवेदितवान् विज्ञातश्च राज्ञा स सर्वं **निधिं दाप्यो दण्डं** च शक्त्यपेक्षया । अथ निधेरपि स्वाम्यागत्य रूपकसंख्यादिभिः स्वत्वं भावयति तदा तस्मै राजा निधिं दत्त्वा षष्ठं द्वादशं वांऽशं स्वयमाहरेत् । यथाह मनुः (८।३५)—'ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः । तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥' इति । अंशविकल्पस्तु वर्णकालाद्यपेक्षया वेदितव्यः ॥ ३४–३५ ॥

राजा ऐसा धन प्राप्त कर आधा ब्राह्मण को दे (और शेष आधा राजकोष में रखे) और यदि विद्वान् ब्राह्मण ऐसी निधि प्राप्त करे तो संपूर्ण ले लेवे, क्योंकि वह संपूर्ण जगत् का स्वामी है। इनके अतिरिक्त अन्य के द्वारा ऐसी निधि प्राप्त करने पर राजा षष्ठांश लाने या प्राप्त करने वाले को देवे (और शेष राजकोष में रखे)। यदि कोई ऐसी निधि प्राप्त कर न बतावे और राजा को ज्ञात हो जाय तो राजा संपूर्ण निधि ले ले और उसकी शक्ति के अनुसार दण्ड दे ॥ ३४-३५ ॥

चौरहृत प्रत्याह—

देयं चौरहृतं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु ।
अददद्धि समाप्नोति किल्बिषं यस्य तस्य तत् ॥ ३६ ॥

चौरैर्हृतं द्रव्यं चौरेभ्यो विजित्य **जानपदाय** स्वदेशनिवासिने यस्य तत् **द्रव्यं** तस्मै **राज्ञा** दातव्यम् । **हि** यस्मात् **अददत्** अप्रयच्छन् **यस्य** तदपहृतं द्रव्यं **तस्य किल्बिषमाप्नोति** । **तस्य** चौरस्य च । यथाह मनुः (८।४०)—'दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् । राजा तदुपयुञ्जान[1]श्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥' इति । यदि चौरहस्तादादाय स्वयमुपभुङ्क्ते तदा चौरस्य किल्बिषमाप्नोति। अथ चौरहृतमुपेक्षते तदा जानपदस्य किल्बिषम्। अथ चौरहृताहरणाय यतमानोऽपि न शक्नुयादाहर्तुं तदा तावद्धनं स्वको[1]शाद्दद्यात् । यथाह गौतमः—(१०।४६) 'चौरहृतमवजित्य यथास्थानं गमयेत्कोशाद्वा दद्यात्' इति । कृष्णद्वैपायनोऽपि—'प्रत्याहर्तुं न शक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि । स्वकोशात्तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीक्षिता ॥' इति ॥ ३६ ॥

चोरों द्वारा चुराई गई राशि को (चोरों से छीनकर) राजा अपने देश के व्यक्ति को (जिसका धन चुराया गया है उसे) दे। उसे धन न देने पर राजा को जिसका धन चुराया गया है उसका और चुराने वाले चोर का पाप लगता है ॥ ३६ ॥

इत्यसाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ।

अथ ऋणादानप्रकरणम् ३

साधारणासाधारणरूपां व्यवहारमातृकामभिधायाधुनाष्टादशानां व्यवहारपदानामाद्यमृणादानपदं दर्शयति—'अशीतिभागो वृद्धिः स्यात्' इत्यादिना, 'मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने' (व्य० ६४) इत्येवमन्तेन । तच्च ऋणादानं सप्तविधम्—ईदृशमृणं देयं, ईदृशमदेयं, अनेनाधिकारिणा देयं, अस्मिन् समये देयं, अनेन प्रकारेण देयम्, इत्यधमर्णे पञ्चविधम् । उत्तमर्णे दानविधिः, आदानविधिश्चेति द्विविधमिति । एतच्च नारदेन स्पष्टीकृतम् (१।१।४)—'ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत् । दानग्रहणधर्माभ्यामृणादानमिति स्मृतम् ॥' इति । तत्र प्रथममुत्तमर्णस्य दानविधिमाह, तत्पूर्वकत्वादितरेषाम्—

अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके ।
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुष्पञ्चकमन्यथा ॥ ३७ ॥

मासि मासि प्रतिमासं बन्धकं विश्वासार्थं यदाधीयते, आधिरिति यावत् । बन्धकेन सह वर्तत इति सबन्धकः प्रयोगः, तस्मिन्सबन्धके प्रयोगे प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य **अशीतितमो भागो वृद्धि**र्धर्म्या भवति । **अन्यथा** बन्धकरहिते प्रयोगे **वर्णानां** ब्राह्मणादीनां **क्रमेण द्वित्रिचतुष्पञ्चकं शतं** धर्म्यं **भवति** । ब्राह्मणेऽधमर्णे द्विकं शतं, क्षत्रिये त्रिकं, वैश्ये चतुष्कं, शूद्रे पञ्चकम् । मासि मासीत्येव द्वौ वा त्रयो वा चत्वारो वा पञ्च वा द्वित्रिचतुःपञ्चाः, अस्मिन् शते वृद्धिर्दीयते इति द्वित्रिचतुःपञ्चकं शतम् । 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' (पा. ५।१।२२) इत्यनुवृत्तौ 'तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते' (पा. ५।१।४७) इति कन् । (वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः प्रतिमासं तु कालिका । इच्छाकृता कारिता स्यात्कायिका कायकर्मणा ॥) इयं च वृद्धिर्मासि मासि गृह्यत इति कालिका । इयमेव वृद्धिर्दिवसगणनया विभज्य प्रतिदिवसं गृह्यमाणा कायिका भवति । तथा च नारदेन (१।१०२,४)—'कायिका कालिका चैव कारिता च तथा परा । चक्रवृद्धिश्च शास्त्रेषु तस्य वृद्धिश्चतुर्विधा ॥' इत्युक्त्वोक्तम्—'कायाविरोधिनी शश्वत्पणपादादिकायिका । प्रतिमासं स्रवन्ती या वृद्धिः सा कालिका मता ॥ वृद्धिः सा कारिता याऽधमर्णिकेन स्वयं कृता । वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुदाहृता ॥' (१।१०३-४) इति ॥ ३७ ॥

बन्धक रखे जाने पर प्रत्येक मास में उसका अस्सीवां भाग व्याज होता है। अन्य स्थिति में (बन्धक न होने पर) वर्ण-क्रम (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रम) से दो, तीन, चार और पाँच प्रतिशत वृद्धि होती है ॥ ३७ ॥

ग्रहीतृविशेषेण वृद्धेः प्रकारान्तरमाह—

कान्तारगास्तु दशकं सामुद्रा विंशकं शतम् ।

कान्तारमरण्यं तत्र गच्छन्तीति कान्तारगाः । ये वृद्धया धनं गृहीत्वाधिकलाभार्थमतिगहनं प्राणधनविनाशशङ्कास्थानं प्रविशन्ति ते दशकं शतं दद्युः । ये च समुद्रगास्ते[1] विंशकं[2] शतम् । मासि मासीत्येव । एतदुक्तं भवति—कान्तारगेभ्यो दशकं शतं, सामुद्रेभ्यश्च विंशकं[2] शतं, उत्तमर्ण आदद्यात्; मूलविनाशस्यापि शङ्कितत्वादिति ॥–

जो (सूद पर धन लेकर अधिक कमाने के लिये) जंगल में चले जाँय उनसे दश प्रतिशत, जो समुद्र में चले जाँय उनसे बीस प्रतिशत व्याज ले ॥३७$\frac{१}{२}$ ॥

इदानीं कारितां वृद्धिमाह—

दद्युर्वा स्वकृतां वृद्धिं सर्वे सर्वासु जातिषु ॥ ३८ ॥

सर्वे वा ब्राह्मणादयोऽधमर्णाः अबन्धके सबन्धके वा स्वकृतां स्वाभ्युपगतां वृद्धिं सर्वासु जातिषु दद्युः । क्वचिदकृतापि वृद्धिर्भवति; यथाह नारदः (१।१०८)—'न वृद्धिः प्रीतिदत्तानां स्यादनाकारिता क्वचित् । अनकारितमप्यूर्ध्वं वत्सरार्धाद्विवर्धते ॥' इति । यस्तु याचितकं गृहीत्वा, देशान्तरं गतस्तं प्रति कात्यायनेनोक्तम्—'यो याचितकमादाय तमदत्त्वा दिशं व्रजेत् । ऊर्ध्वं संवत्सरात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात् ॥' इति । यश्च याचितकमादाय याचितोऽप्यदत्त्वा देशान्तरं व्रजति[3] तं प्रति तेनैवोक्तम्—'कृतोद्धारमदत्त्वा यो याचितस्तु दिशं व्रजेत् । ऊर्ध्वं मासत्रयात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात् ॥' इति । यः पुनः स्वदेशे स्थित एव याचितो याचितकं न ददाति तं याचित[1]कालादारभ्या[2]कारितां वृद्धिं दापयेद्राजा । यथाह—'स्वदेशेऽपि स्थितो यस्तु न दद्याद्याचितः क्वचित् । तं ततोऽकारितां वृद्धिमनिच्छन्तं च दापयेत् ॥' इति । अनाकारितवृद्धेरपवादो नारदेनोक्तः—'पण्यमूल्यं भृतिर्न्यासो दण्डो यश्च प्रकल्पितः । वृथादानाक्षि[1]कपणा वर्धन्ते नाविवक्षिताः ॥' इति । अविवक्षिता अनाकारिता इति ॥ ३८ ॥

अथवा सभी जातियों के लोगों को स्वीकृत की गई व्याज दे ॥ ३८ ॥

अधुना द्रव्य[3]विशेषेण वृद्धिविशेषमाह—

सन्ततिस्तु पशुस्त्रीणां

पशुस्त्रीणां सन्ततिरेव वृद्धिः । पशूनां स्त्रीणां पोषणासमर्थस्य तत्पुष्टिसन्ततिकामस्य प्रयोगः संभवति । ग्रहणं च क्षीरपरिचर्यार्थिनः ॥

पशु और स्त्री की वृद्धि (व्याज) उसकी सन्तान है ॥ ३८$\frac{१}{४}$ ॥

अधुना प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य वृद्धिग्रहणमन्तरेणापि चिरकालावस्थितस्य कस्य द्रव्यस्य कियती परा वृद्धिरित्यपेक्षित आह—

रसस्याष्टगुणा परा ।
वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा परा ॥ ३९ ॥

रसस्य तैलघृतादेर्वृद्धिग्रहणमन्तरेण चिरकालावस्थितस्य स्वकृतया वृद्धया वर्धमानस्य **अष्टगुणा** वृद्धिः **परा**, नातः परं वर्धते । तथा **वस्त्रधान्यहिरण्यानां** यथासंख्यं **चतुर्गुणा त्रिगुणा द्विगुणा** च वृद्धिः **परा** । वसिष्ठेन तु रसस्य त्रैगुण्यमुक्तम् (२।४४।७) 'द्विगुणं हिरण्यं त्रिगुणं धान्यं । धान्येनैव रसा व्याख्याताः पुष्पमूलफलानि च । तुलाधृतमष्टगुणम्' इति । मनुना तु धान्यस्य पुष्पमूलफलादीनां च पञ्चगुणत्वमुक्तम्—'धान्ये शदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम्' इति । शदः क्षेत्रफलं पुष्पमूलफलादि, लवो मेषोर्णाचमरीकेशादिः, वाह्यो बलीवर्दतुरगादिः । धान्यशदलववाह्यविषया वृद्धिः पञ्चगुणत्वं नातिक्रामतीति । तत्राधमर्णयोग्यतावशेन दुर्भिक्षादिकालवशेन च व्यवस्था द्रष्टव्या । एतच्च सकृत्प्रयोगे सकृदाहरणे च वेदितव्यम् । पुरुषान्तरसंक्रमणेन प्रयोगान्तरकरणे तस्मिन्नेव वा पुरुषे अनेकशः रेकसेकाभ्यां प्रयोगान्तरकरणे सुवर्णादिकं द्वैगुण्यात्यतिक्रम्य पूर्ववद्वर्धते । सकृत्प्रयोगेऽपि प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वा वृद्ध्याहरणेऽधमर्णदेयस्य द्वैगुण्यासंभवात्पूर्वाहृतवृद्ध्या सह द्वैगुण्यमतिक्रम्य वर्धत एव । यथाह मनुः (८।१५१)—'कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहिता ।' इति । सकृदाहृतेत्यपि पाठोऽस्ति । उपचयार्थं प्रयुक्तं द्रव्यं कुसीदं, तस्य वृद्धिः कुसीदवृद्धिः, सा द्वैगुण्यं नात्येति नातिक्रामति । यदि सकृदाहिता सकृत्प्रयुक्ता । पुरुषान्तरसंक्रमणादिना प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यमत्येति । सकृदाहृतेति पाठे तु शनैःशनैः प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वाऽधमर्णादाहृता द्वैगुण्यमत्येतीति व्याख्येयम् । तथा गौतमेनाप्युक्तम् (१२।३१)—'चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य' इति । 'प्रयोगस्य' इत्येकवचननिर्देशात्प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यातिक्रमोऽभिप्रेतः । 'चिरस्थान' इति निर्देशात् शनैःशनैर्वृद्धिग्रहणे द्वैगुण्यातिक्रमो दर्शितः ॥ ३९ ॥

रस (तेल-घृत) आदि की वृद्धि स्वीकृत वृद्धि से अधिकतम अठगुनी हो सकती है। वस्त्र, धान्य और स्वर्ण की अधिकतम वृद्धि क्रमशः चौगुनी, तिगुनी या दुगुनी हो सकती है ॥ ३९ ॥

ऋणप्रयोगधर्मा उक्ताः; सांप्रतं प्रयुक्तस्य धनस्य ग्रहणधर्मा उच्यन्ते—

प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्यो नृपतेर्भवेत् ।
साध्यमानो नृपं गच्छन्दण्ड्यो दाप्यश्च तद्धनम् ॥४०॥

प्रपन्नमभ्युपगतमधमर्णेन **धनं** साक्ष्यादिभिर्भावितं वा **साधयन्** प्रत्याहरन् धर्मादिभिरुपायैरुत्तमर्णो **नृपतेर्वाच्यो** निवारणीयो **न भवति** ॥ धर्मा-

दयश्चोपाया मनुना दर्शिताः (मनुः ८।४९)—'धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च। प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥' इति। धर्मेण प्रीतियुक्तेन सत्यवचनेन, व्यवहारेण साक्षिलेख्याद्युपायेन, छलेन उत्सवादिव्याजेन भूषणादिग्रहणेन, अचरितेन अभोजनेन, पञ्चमेनोपायेन बलेन निगडबन्धनादिना, उपचयार्थं प्रयुक्तं द्रव्यमेतैरुपायैरात्मसात्कुर्यादिति। 'प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्य' इति वदन् अप्रतिपन्नं साधयन् राज्ञा निवारणीय इति दर्शयति। एतदेव स्पष्टीकृतं कात्यायनेन—'पीडयेद्यो धनी कश्चिदृणिकं न्यायवादिनम्। तस्मादर्थात्स हीयेत तत्समं चाप्नुयाद्दमम् ॥' इति। यस्तु धर्मादिभिरुपायैः प्रपन्नमर्थं साध्यमानो याच्यमानो नृपं गच्छेद्राजानमभिगम्य साधयन्तमभियुङ्क्ते स दण्ड्यो भवति, शक्त्यनुसारेण धनिने तद्धनं दाप्यश्च। राज्ञा दापने च प्रकारा दर्शिताः—'राजा तु स्वामिने विप्रं सान्त्वेनैव प्रदापयेत्। देशाचारेण चान्यांस्तु दुष्टान्संपीड्य दापयेत् ॥ रिक्थिनं सुहृदं वापि छलेनैव प्रदापयेत् ॥' इति। 'साध्यमानो नृपं गच्छन्' इत्येतत् 'स्मृत्याचारव्यपेतेन' इत्यस्य प्रत्युदाहरणं बोद्धव्यम् ॥४०॥

दिये गये धन को धर्मपूर्वक लेने वाले की शिकायत राजा से नहीं करनी चाहिये। यदि उस धन को लेने का प्रयास करने पर ऋणग्रहीता राजा के समीप जाता है तो राजा उससे ऋणदाता का धन दिलावे और उसे (ऋणग्रहीता को) दण्ड दे ॥ ४० ॥

वहुषूत्तमर्णिकेषु युगपत्प्राप्तेष्वेकोऽधमर्णिकः केन क्रमेण दाप्यो राज्ञेत्यपेक्षित आह—

गृहीतानुक्रमाद्दाप्यो धनिनामधमर्णिकः।
दत्त्वा तु ब्राह्मणायैव नृपतेस्तदनन्तरम् ॥ ४१ ॥

समानजातीयेषु धनिषु येनैव क्रमेण धनं गृहीतं तेनैव क्रमेणाधमर्णिको राज्ञा दाप्यः। भिन्नजातीयेषु तु ब्राह्मणादिक्रमेण ॥ ४१ ॥

(समान जाति के ऋणदाताओं के होने पर) जिस क्रम से ऋणग्रहीता ऋण लिया है धनियों को उसी क्रम से ऋण दिलावे और भिन्न जातीय ऋणदाताओं के होने पर पहले ब्राह्मण का धन दिलाकर तदनन्तर क्षत्रिय आदि का दिलावे ॥ ४१ ॥

यदा पुनरुत्तमर्णो दुर्बलः प्रतिपन्नमर्थं धर्मादिभिरुपायैः साधयितुमशक्नुवन्राज्ञा साधितार्थो भवति तदाऽधमर्णस्य दण्डमुत्तमर्णस्य च भृतिदानमाह—

राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधिताद्दशकं शतम्।
पञ्चकं च शतं दाप्यः प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिकः ॥ ४२ ॥

अधमर्णिको राज्ञा प्रतिपन्नार्थात्साधिताद्दशकं शतं दाप्यः। प्रति-

पन्नस्य साधितार्थस्य दशममंशं राजाऽधमर्णिकाद्दण्डरूपेण गृह्णीयादित्यर्थः। **उत्त-मर्णस्तु प्राप्तार्थः पञ्चकं शतं** भृतिरूपेण **दाप्यः**। साधितार्थस्य विंशतितमं भागमुत्तमर्णाद्राजा भृत्यर्थं गृह्णीयादित्यर्थः। अप्रतिपन्नार्थसाधने तु दण्डविभागो दर्शितः—'निह्नवे भावितो दद्यात्' (व्य० ५) इत्यादिना ॥ ४२ ॥

और यदि राजा ऋणी से धन वसूल कर धनी को दिलावे तो ऋणी से वास्तविक धन से दश प्रतिशत और पाने वाले से पाँच प्रतिशत धन वसूल करे ॥ ४२ ॥

सधनमधमर्णिकं प्रत्युक्तम्, अधुना निर्धनमधमार्णिकं प्रत्याह—

हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत् ।
ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैर्दाप्यो यथोदयम् ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणादिजातिरुत्तमर्णो **हीनजातिं** क्षत्रियादिजातिं **परिक्षीणं** निर्धनमृणार्थं ऋणनिवृत्त्यर्थं **कर्म** स्वजात्यनुरूपं **कारयेत्** तत्कुटुम्बाविरोधेन। **ब्राह्मणस्तु पुनः परिक्षीणो** निर्धनः **शनैः**शनैः **यथोदयं** यथासंभवमृणं **दाप्यः**। अत्र च 'हीनजाति'ग्रहणं समानजातेरप्युपलक्षणम्। अतश्च समानजातिमपि परिक्षीणं यथोचितं कर्म कारयेत्। 'ब्राह्मण'ग्रहणं च श्रेयोजातेरुपलक्षणम्। अतश्च क्षत्रियादिरपि [2]परिक्षीणो वैश्यादेः शनैःशनैर्दाप्यो यथोदयम्। एतदेव मनुना स्पष्टीकृतम् (८।१७७)—'कर्मणापि समं कुर्या[3]द्धनिकेनाधमर्णिकः। समोऽपकृष्टजातिश्च दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः॥' इति। उत्तमर्णेन समं निवृत्तोत्तमर्णाधमर्णव्यपदेशमात्मानमधमर्णः कर्मणा कुर्यादित्यर्थः ॥ ४३ ॥

(धनी व्यक्ति अपने से) निम्न जाति के ऋणी से यदि वह धन लौटाने में असमर्थ है तो ऋण के लिये उससे (उसकी जाति के अनुरूप) कर्म करावे। यदि (ऋणी) ब्राह्मण लौटाने में असमर्थ हो तो जैसे-जैसे उसके पास धन हो धीरे-धीरे उससे धन (वापस) ले ॥ ४३ ॥

मध्यस्थस्थापितं न वर्धते—

दीयमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं यः स्वकं धनम् ।
मध्यस्थ[3]स्थापितं [4]चेत्स्याद्वर्धते न ततः परम् ॥ ४४ ॥

किंच, उपचयार्थं प्रयुक्तं [1]धनं अधमर्णेन **दीयमान**मुत्तमर्णो वृद्धिलोभाद्यदि **न गृह्णाति** तदाऽधमर्णेन **मध्य**महस्ते **स्थापितं यदि स्या**त्तदा **ततः** स्थापनादूर्ध्वं **न वर्धते**। अथ स्थापितमपि याच्यमानो न ददाति ततः पूर्ववद्वर्धत एव ॥ ४४ ॥

यदि ऋणी द्वारा लौटाये जाने पर धनी सूद के (लिये) प्रयुक्त अपने धन को न ले तो ऋणी उसे मध्यस्थ के पास स्थापित कर दे और उसके बाद उसमें वृद्धि नहीं होती ॥ ४४ ॥

इदानीं देयमृणं यदा येन च देयं तदाह—

अविभक्तैः कुटुम्बार्थे यदृणं तु कृतं भवेत् ।
दद्युस्तद्रिक्थिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि ॥ ४५ ॥

अविभक्तैर्बहुभिः कुटुम्बार्थमेकैकेन वा यदृणं कृतं तदृणं कुटुम्बी दद्यात् । तस्मिन्प्रेते प्रोषिते वा तद्रिक्थिनः सर्वे दद्युः ॥ ४५ ॥

परिवार के निमित्त यदि सम्मिलित परिवार के व्यक्तियों द्वारा या एक-एक व्यक्ति द्वारा कोई ऋण लिया गया है तो उसे कुटुम्ब (परिवार) का (मुखिया) व्यक्ति दे और उसके मरने या बाहर चले जाने पर उसके उत्तराधिकारी को देवे ॥ ४५ ॥

येन देयमित्यत्र प्रत्युदाहरणमाह—

न योषित्पतिपुत्राभ्यां न पुत्रेण कृतं पिता ।
दद्यादृते कुटुम्बार्थान्न पतिः स्त्रीकृतं तथा ॥ ४६ ॥

पत्या कृतमृणं योषिद्भार्या नैव दद्यात् । पुत्रेण कृतं योषिन्माता न दद्यात् । तथा पुत्रेण कृतं पिता न दद्यात् । तथा भार्याकृतं पतिर्न दद्यात् । 'कुटुम्बार्थादृते' इति सर्वशेषः । अतश्च कुटुम्बार्थं येन केनापि कृतं तत् कुटुम्बिना देयम् । तदभावे तद्दायहरैर्देयमित्युक्तमेव ॥ ४६ ॥

जो ऋण, कुटुम्ब के लिये नहीं लिया गया है ऐसे पति और पुत्र द्वारा लिये ऋण को स्त्री न लौटावे और पुत्र द्वारा लिये ऋण को पिता न लौटावे अर्थात् उसे लौटाने की उसकी बाध्यता नहीं है। पति स्त्री द्वारा लिये गये ऐसे ऋण को न दे ॥ ४६ ॥

'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इति वक्ष्यति तस्य पुरस्तादपवादमाह—

सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम् ।
वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्न पैतृकम् ॥ ४७ ॥

सुरापानेन यत्कृतमृणं कामकृतं स्त्रीव्यसनैनिमित्तं द्यूते पराजयनिमित्तं दण्डशुल्कयोरवशिष्टं वृथादानं धूर्तबन्दिमल्लादिभ्यो यत्प्रतिज्ञातम्—'धूर्ते बन्दिनि मल्ले च कुवैद्ये कितवे शठे । चाटचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलम् ॥' इति स्मरणात् । एतदृणं पित्रा कृतं पुत्रादिः शौण्डिकादिभ्यो न दद्यात् । अत्र 'दण्डशुल्कावशिष्टक'मित्यवशिष्टग्रहणात्सर्वं दातव्यमिति न मन्तव्यम् ।—'दण्डं वा दण्डशेषं वा शुल्कं तच्छेषमेव वा । न दातव्यं तु पुत्रेण यच्च न व्यावहारिकम् ॥' इत्यौशनसस्मरणात् । गौतमेनाप्युक्तम्—'मद्यशुल्कद्यूतदण्डा न पुत्रानधिभवेयुः' इति । न पुत्रस्योपरि भवन्तीत्यर्थः । अनेनादेयमृणमुक्तम् ॥ ४७ ॥

सुरापान के लिये लिया गया ऋण, स्त्री-व्यसन (वेश्यादि) के लिये लिया गया ऋण, जुए के लिये लिया गया ऋण, दण्ड और कर का अवशिष्ट मात्र (यदि पूरा अवशिष्ट हो तो वह भी), (धूर्त, चारण, मल्ल आदि को प्रतिज्ञात) वृथा दान – इन पैतृक ऋणों, दण्ड और शुल्क तथा दानों को पुत्र न दे ॥ ४७ ॥

'न पतिः स्त्रीकृतं तथा' (व्य० ४६) इत्यस्यापवादमाह—

गोपशौण्डिकशैलूषरजकव्याधयोषिताम् ।
ऋणं दद्यात्पतिस्तेषां यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया ॥ ४८ ॥

गोपो गोपालः, **शौण्डिकः** सुराकारः, **शैलूषो** नटः, **रजको** वस्त्राणां रञ्जकः, **व्याधो** मृगयुः, एतेषां **योषिद्भिर्यदृणं** कृतं तत्तत्**पतिभिर्देयम्** । **यस्मात्तेषां वृत्तिर्जीवनं तदाश्रया** योषिदधीना । 'यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया' इति हेतुव्यपदेशादन्येऽपि ये योषिदधीनजीवनास्तेऽपि योषित्कृतमृणं दद्युरिति गम्यते ॥ ४८ ॥

गोप (ग्वाले), मद्य बनाने वाले, नट, धोबी और व्याध (बहेलिया) की स्त्रियों के लिये ऋण को उनका पति दे, क्योंकि उनकी वृत्ति (जीविका) उनकी स्त्रियों के अधीन है ॥ ४८ ॥

'पतिकृतं भार्या न दद्यात्' (व्य० ४६) इत्यस्यापवादमाह—

प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम् ।
स्वयंकृतं वा यदृणं नान्यत्स्त्री दातुमर्हति ॥ ४९ ॥

मुमूर्षुणा प्रवत्स्यता वा पत्या **नियुक्तया** ऋणदाने **यत्प्रतिपन्नं** तत्पतिकृतमृणं देयम् । यच्च **पत्या सह भार्यया ऋणं** कृतं तदपि भर्त्रभावे भार्यया अपुत्रया देयम् । यच्च स्वयंकृतं ऋणं तदपि देयम् । ननु 'प्रतिपन्नादि त्रयं. स्त्रिया देयम्' इति न वक्तव्यम्; संदेहाभावात् । उच्यते—'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ॥' इति वचनान्निर्धनत्वेन प्रतिपन्नादिष्वदानाशङ्कायामिदमुच्यते—'प्रतिपन्नं स्त्रिया देय'मित्यादि । न चानेन वचनेन स्त्र्यादीनां निर्धनत्वमभिधीयते; पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपादनपरत्वात् । एतच्च विभागप्रकरणे स्पष्टीकरिष्यते । 'नान्यत्स्त्री दातुमर्हति' इत्येतत्तर्हि न वक्तव्यम्; विधानेनैवान्यत्र प्रतिषेधसिद्धेः । उच्यते—'प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम्' इत्येतयोरपवादार्थमुच्यते । अन्यत्सुराकामादिवचनोपात्तं प्रतिपन्नमपि पत्या सह कृतमपि **न देयमिति** ॥ ४९ ॥

मरणासन्न या प्रवास में जाते समय पति द्वारा लिया गया या पति के साथ लिया गया या स्वयं लिया गया ऋण (पुत्र के न होने पर) स्त्री दे, अन्य ऋण को न दे ॥ ४९ ॥

पुनरपि यदृणं दातव्यं, येन च दातव्यं, यत्र च काले दातव्य, तत्त्रयमाह—

पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा ।
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम् ॥ ५० ॥

पिता यदि दातव्यमृणमदत्त्वा **प्रेतः**, **दूरदेशं गतः**, अचिकित्सनीयव्याध्याद्यभिभूतो वा तदा तत्कृतमृणमाख्यापनेऽवश्यं देयम्, पुत्रेण पौत्रेण वा पितृधनाभावेऽपि पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च, तत्र क्रमोऽप्ययमेव—पित्रभावे पुत्रः, पुत्राभावे पौत्र इति । पुत्रेण पौत्रेण वा **निह्नवे** कृते अर्थिना **साक्ष्यादिभिर्भावितमृणं देयं पुत्रपौत्रै**रित्यन्वयः। अत्र 'पितरि प्रोषिते' इत्येतावदुक्तम्, कालविशेषस्तु नारदेनोक्तो द्रष्टव्यः—'नार्वाक्संवत्सराद्विंशात्पितरि प्रोषिते सुतः । ऋणं दद्यात्पितृव्ये वा ज्येष्ठे भ्रातर्यथापि वा ॥' इति । प्रेतेऽप्यप्राप्तव्यवहारकालो न दद्यात्, प्राप्तव्यवहारकालस्तु दद्यात् । स च कालस्तेनैव दर्शितः—'गर्भस्थः सदृशो ज्ञेय अष्टमाद्वत्सराच्छिशुः । बाल आ षोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चेति शब्द्यते ॥ परतो व्यवहारज्ञः स्वतन्त्रः पितरावृते ॥' इति । यद्यपि पितृमरणादूर्ध्वं बालोऽपि स्वतन्त्रो जातस्तथापि नर्णभाग्भवति । यथाह—'अप्राप्तव्यवहारश्चेत्स्वतन्त्रोऽपि हि नर्णभाक् । स्वातन्त्र्यं हि स्मृतं ज्येष्ठे ज्यैष्ठ्यं गुणवयःकृतम् ॥' इति । तथा आसेधाह्वाननिषेधश्च दृश्यते—'अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखो व्रती । विषमस्थाश्च नासेध्या न चैतानाह्वयेन्नृपः ॥' इति । तस्मात् 'अतः पुत्रेण जातेन स्वार्थमुत्सृज्य यत्नतः । ऋणात्पिता मोचनीयो यथा नो नरकं व्रजेत ॥' इति । पुत्रेण व्यवहारज्ञतया जातेन निष्पन्नेनेति व्याख्येयम् । श्राद्धे तु बालस्याप्यधिकारः—'न ब्रह्माभिव्याहारयेदन्यत्र स्वधानिनयनात्' इति गौतमस्मरणात् । 'पुत्रपौत्रै'रिति बहुवचननिर्देशाद्बहवः पुत्रा यदि विभक्ताः स्वांशानुरूपेण ऋणं दद्युः । अविभक्ताश्चेत्संभूयसमुत्थानेन गुणप्रधानभावेन वर्तमानानां प्रधानभूत एव वा दद्यादिति गम्यते । यथाह नारदः (१।१४)—'अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा ऋणं दद्युर्यथांशतः । अविभक्ता विभक्ता वा यस्तावद्वहते धुरम् ॥' इति । अत्र च यद्यपि 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देय'मित्यविशेषेणोक्तं, तथापि पुत्रेण यथा पिता सवृद्धिकं ददाति तथैव देयम् । पौत्रेण तु समं मूलमेव दातव्यं, न वृद्धिरिति विशेषोऽवगन्तव्यः । 'ऋणमात्मीयवत्पित्र्यं देयं पुत्रैर्विभावितम् । पैतामहं समं देयमदेयं तत्सुतस्य तु ॥' इति बृहस्पतिवचनात्। अत्र 'विभावित'मित्यविशेषोपादानात्साक्षिविभावितमित्यत्र साक्षिग्रहणं प्रमाणोपलक्षणम् । समं यावद्गृहीतं तावदेव देयं, न वृद्धिः । तत्सुतस्य प्रपौत्रस्यादेयमगृहीतधनस्य । एतच्चोत्तरश्लोके स्पष्टीक्रियते ॥ ५० ॥

पिता के परदेश में जाने पर, मर जाने पर या व्यसन (विपत्ति – असाध्य रोगादि से ग्रस्त) होने पर पुत्र-पौत्र आदि ऋण लौटावें । यदि वे ऋण को छिपावें तो साक्षियों द्वारा प्रामाणित होने पर दे ॥ ५० ॥

ऋणापाकरणे ऋणी तत्पुत्रः पौत्र इति त्रयः कर्तारो दर्शितास्तेषां च समवाये क्रमोऽपि दर्शितः। इदानीं कर्त्रन्तरसमवाये च क्रममाह—

रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च।
पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य रिक्थिनः॥ ५१॥

अन्यदीयं द्रव्यमन्यस्य क्रयादिव्यतिरेकेण यत्स्वीयं भवति तद्रिक्थम्। विभागात् रिक्थं गृह्णातीति **रिक्थग्राहः, स ऋणं दाप्यः**। एतदुक्तं भवति—'यो यदीयं द्रव्यं रिक्थरूपेण गृह्णाति स तत्कृतमृणं दाप्यो न चौरादिरिति। योषितं भार्यां गृह्णातीति **योषिद्ग्राहः, स तथैवर्णं दाप्यः**। यो यदीयां योषितं गृह्णाति स तत्कृतमृणं दाप्यः। योषितोऽविभाज्यद्रव्यत्वेन रिक्थव्यपदेशानर्हत्वाद्भेदेन निर्देशः। **पुत्रश्चानन्याश्रितद्रव्य ऋणं दाप्यः**, अन्यमाश्रितमन्याश्रितं, अन्याश्रितं मातृपितृसंबन्धि द्रव्यं यस्यासावन्याश्रितद्रव्यः, न अन्याश्रितद्रव्यो**ऽनन्याश्रितद्रव्यः, पुत्रहीनस्य रिक्थिनः ऋणं दाप्य** इति संबन्धः। एतेषां समवाये क्रमश्च पाठक्रम एव। 'रिक्थग्राह ऋणं दाप्यः, तदभावे योषिद्ग्राहः, तदभावे पुत्र इति। नन्वेतेषां समवाय एव नोपपद्यते; 'न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः' इति पुत्रे सत्यन्यस्य रिक्थग्रहणासंभवात्। योषिद्ग्राहोऽपि नोपपद्यते: (मनुः ५।१६२)—'न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते' इति स्मरणात्। तथा तदृणं पुत्रो दाप्य इत्यप्ययुक्तम्; 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इत्युक्तत्वात्। 'अनन्याश्रितद्रव्य' इति विशेषणमप्यनर्थकम्; पुत्रे सति द्रव्यस्यान्याश्रयणासंभवात्, संभवे च रिक्थग्राह इत्यनेनैव गतार्थत्वात्। 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इत्येतदपि न वक्तव्यम्। पुत्रे सत्यपि 'रिक्थग्राह ऋणं दाप्यः' इति स्थितम्। असति पुत्रे रिक्थग्राहः सुतरां दाप्य इति सिद्धमेवेति। अत्रोच्यते—पुत्रे सत्यप्यन्यो रिक्थग्राही संभवति; क्लीबान्धबधिरादीनां पुत्रत्वेऽपि रिक्थहरत्वाभावात्। तथा च क्लीबादीननुक्रम्य 'भर्तव्याः स्युर्निरंशकाः' (व्य० १४०) इति वक्ष्यति। तथा 'सवर्णापुत्रोऽप्यन्यायवृत्तिर्न लभेतैकेषाम्' इति गौतमस्मरणात्। अतश्च क्लीबादिषु पुत्रेषु सत्सु अन्यायवृत्ते च सवर्णापुत्रे सति रिक्थग्राही पितृव्यतत्पुत्रादिः। योषिद्ग्राहो यद्यपि शास्त्रविरोधेन न संभवति तथाप्यतिक्रान्तनिषेधः पूर्वपतिकृतर्णापाकरणाधिकारी भवत्येव। योषिद्ग्राहो यश्चतसृणां स्वैरिणीनामन्तिमां गृह्णाति, यश्च पुनर्भुवां तिसृणां प्रथमाम्, यथाह नारदः—'परपूर्वाः स्त्रियस्त्वन्याः सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम्। पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा॥ कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता। पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनःसंस्कारकर्मणा॥ देशधर्मानवेक्ष्य स्त्री गुरुभिर्या प्रदीयते। उत्पन्नसाहसाऽन्यस्मै सा द्वितीया प्रकीर्तिता॥' उत्पन्नसाहसा उत्पन्नव्यभिचारा।—'असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते। सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता॥ स्त्री प्रसूताऽप्रसूता वा पत्यावेव तु जीवति। कामात्समाश्रयेदन्यं प्रथमा स्वैरिणी तु सा॥ कौमारं पतिमुत्सृज्य या

त्वन्यं पुरुषं श्रिता । पुनः पत्युर्गृहं यायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥ मृते भर्तरि तु प्राप्तान्देवरादीनपास्य या । उपगच्छेत्परं कामात्सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥ प्राप्ता देशाद्धनक्रीता क्षुत्पिपासातुरा च या । तवाहमित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता ॥ अन्तिमा स्वैरिणीनां या प्रथमा च पुनर्भुवाम् । ऋणं तयोः पतिकृतं दद्याद्यस्ता उपाश्रितः ॥' इति । तथाऽन्योऽपि योषिद्ग्राह ऋणापाकरणेऽधिकारी तेनैव दर्शितः—'या तु सप्रधनैव स्त्री सापत्या वाऽन्यमाश्रयेत् । सोऽस्या दद्यादृणं भर्तुरुत्सृजेद्वा तथैव ताम् ॥' प्रकृष्टेन धनेन सह वर्तत इति सप्रधना, बहुधनेति यावत् । तथा 'अधनस्य ह्यपुत्रस्य मृतस्योपैति यः स्त्रियम् । ऋणं वोढुः स भजते सैव चास्य धनं स्मृतम् ॥' इति पुत्रस्य पुनर्वचनं क्रमार्थम् । 'अनन्याश्रितद्रव्य' इति बहुषु पुत्रेषु रिक्थाभावेऽप्यंशग्रहणयोग्यस्यैवर्णापाकरणेऽधिकारो नायोग्यस्यान्धादेरित्येवमर्थम् । 'पुत्रहीनस्य रिक्थिन' इत्येतदपि पुत्रपौत्रहीनस्य प्रपौत्रादयो यदि रिक्थं गृह्णन्ति तदा ऋणं दाप्याः, नान्यथेत्येवमर्थम् । पुत्रपौत्रौ च रिक्थग्रहणाभावेऽपि दाप्यावित्युक्तम्, यथाह नारदः (१।४)—'क्रमादव्याहतं प्राप्तं पुत्रैर्यन्नर्णमुद्धृतम् । दद्युः पैतामहं पौत्रास्तच्चतुर्थान्निवर्तते ॥' इति सर्वं निरवद्यम् ॥ यद्वा,—योषिद्ग्राहाभावे पुत्रो दाप्य इत्युक्तम् । पुत्राभावे योषिद्ग्राहो दाप्य इत्युच्यते । 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इति 'रिक्थ'शब्देन योषिदेवोच्यते । 'सैव चास्य धनं स्मृतम्' इति स्मरणात्, 'यो यस्य हरते दारान्स तस्य हरते धनम्' इति च ॥ ननु योषिद्ग्राहाभावे पुत्रो ऋणं दाप्यः, पुत्राभावे योषिद्ग्राह इति परस्परविरुद्धम् । उभयसद्भावे न कश्चिद्दाप्य इति । नैष दोषः; अन्तिमस्वैरिणीग्राहिणः प्रथमपुनर्भूग्राहिणः सप्रधनस्त्रीहारिणश्चाभावे पुत्रो दाप्यः; पुत्राभावे तु निर्धननिरपत्ययोषिद्ग्राही दाप्य इति । एतदेवोक्तं नारदेन(१।२३)—'धनस्त्रीहारिपुत्राणामृणभाग्यो धनं हरेत् । पुत्रोऽसतोः स्त्रीधनिनोः स्त्रीहारी धनिपुत्रयोः' ॥ इति । धनस्त्रीहारिपुत्राणां समवाये यो धनं हरेत्स ऋणभाक् पुत्रोऽसतोः स्त्रीधनिनोः, स्त्री च धनं च स्त्रीधने, ते विद्येते ययोस्तौ स्त्रीधनिनौ, तयोः स्त्रीधनिनोरसतोः पुत्र एव ऋणभाक् भवति । धनिपुत्रयोरसतोः स्त्रीहार्येवर्णभाक् । स्त्रीहार्यभावे पुत्र ऋणभाक्, पुत्राभावे स्त्रीहारीति विरोधाभासपरिहारः पूर्ववत् । 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इत्यस्यान्या व्याख्या—एते धनस्त्रीहारिपुत्रा ऋणं कस्य दाप्या इत्यपेक्षायां उत्तमर्णस्य दाप्याः, तदभावे तत्पुत्रादेः; पुत्राद्यभावे कस्य दाप्या इत्यपेक्षायामिदमुपतिष्ठते–'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इति । पुत्राद्यन्वयहीनस्योत्तमर्णस्य यो रिक्थी रिक्थग्रहणयोग्यः सपिण्डादिस्तस्य रिक्थिनो दाप्याः । तथा च नारदेन (१।११२) 'ब्राह्मणस्य तु यद्देयं सान्वयस्य च नास्ति चेत् । निर्वपेत्तत्सकुल्येषु तदभावेऽस्य बन्धुषु ॥' इत्यभिहितम्—'यदा तु न सकुल्याः स्युर्न च संबन्धिबान्धवाः । तदा दद्याद्द्विजेभ्यस्तु तेष्वसत्स्वप्सु निक्षिपेत् ॥' नारदः (१।११३) इति ॥५१॥

धन (उत्तराधिकार-प्राप्त धन) को लेने वाला ऋण लौटावे, स्त्री लेने वाला ऋण लौटावे। जिसका धन एकमात्र पुत्र पाया है वह पुत्र पिता के ऋण को लौटावे। पुत्रहीन ऋणी का ऋण धन का हिस्सा पाने वाले लौटावे ॥ ५१ ॥

अधुना पुरुषविशेषे ऋणग्रहणं प्रतिषेधयन्प्रसङ्गादन्यदपि प्रतिषेधति—

भ्रातॄणामथ दम्पत्योः पितुः पुत्रस्य चैव हि ।
प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यमविभक्ते न तु स्मृतम् ॥ ५२ ॥

[1]प्रतिभुवो भावः **प्रातिभाव्यं**, **भ्रातॄणां दम्पत्योः पितापुत्रयोश्चाविभक्ते द्रव्ये** द्रव्यविभागात्प्राक्प्रातिभाव्यमृणं **साक्ष्यं च न स्मृतं** मन्वादिभिः । अपि तु प्रतिषिद्धं; साधारणधनत्वात् । प्रातिभाव्यसाक्षित्वयोः पक्षे [1]द्रव्यावसानत्वात्, ऋणस्य चावश्यप्रतिदेयत्वात् । एतच्च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण, परस्परानुमत्या त्व[2]विभक्तानामपि प्रातिभाव्यादि भवत्येव । विभागादूर्ध्वं तु परस्परानुमतिव्यतिरेकेणापि भवति ॥ ननु दम्पत्योर्विभागात्प्राक्प्रातिभाव्यादिप्रतिषेधो न युज्यते; तयोर्विभागाभावेन विशेषणानर्थक्यात् । विभागाभावश्चापस्तम्बेन दर्शितः (आप० ध० २।१४-१६)—'[1]जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इति । सत्यम्; श्रौतस्मार्ताग्निसाध्येषु कर्मसु तत्फलेषु च विभागाभावो न पुनः सर्वकर्मसु द्रव्येषु वा । तथा हि—'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इत्युक्त्वा किमिति न विद्यते इत्यपेक्षायां हेतुमुक्तवान्—'पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु', 'तथा पुण्यफलेषु च' (आप० ध० २।१४,१७-१८) इति । हि यस्मात्पाणिग्रहणादारभ्य कर्मसु सहत्वं श्रूयते—'जायापती अग्निमादधीयाताम्' इति, तस्मादाधाने सहाधिकारादाधानसिद्धाग्निसाध्यकर्मसु सहाधिकारः । तथा 'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ' (आ० ९७) इत्यादिस्मरणाद्विवाहसिद्धाग्निसाध्येषु कर्मसु सहाधिकार एव । अतश्चोभयविधाग्निनिरपेक्षेषु कर्मसु पूर्तेषु जायापत्योः पृथगेवाधिकारः संपद्यते । तथा पुण्यानां फलेषु स्वर्गादिषु जायापत्योः सहत्वं श्रूयते—'दिवि ज्योतिरजरमारभेताम्' इत्यादि । येषु पुण्यकर्मसु सहाधिकारस्तेषां फलेषु सहत्वमिति बोद्धव्यं, न पुनः पूर्तानां भर्त्रनुज्ञयानुष्ठितानां फलेष्वपि ॥ ननु द्रव्यस्वामित्वेऽपि सहत्वमुक्तम्; 'द्रव्यपरिग्रहेषु च' 'नहि भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्ति' (आप० ध० २।१४।१८-२०) इति । सत्यम्; द्रव्यस्वामित्वं पत्न्या दर्शितमनेन, न पुनर्विभागाभावः । यस्मात् 'द्रव्यपरिग्रहेषु च' इत्युक्त्वा तत्र कारणमुक्तम्—'भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिकेऽवश्यकर्तव्ये दानेऽतिथिभोजनभिक्षाप्रदानादौ हि यस्मान्न स्तेयमुपदिशन्ति मन्वादयस्तस्माद्भार्याया अपि द्रव्यस्वामित्वमस्ति, अन्यथा स्तेयं स्यात्' इति । तस्माद्भर्तुरिच्छया भार्याया अपि द्रव्यविभागो भवत्येव, न स्वेच्छया । यथा वक्ष्यति (व्य० ११५)—'यदि कुर्यात्समानंशान्पत्न्यः कार्याः समांशिकाः' इति ॥ ५२ ॥

भाइयों, पति-पत्नी और पुत्र का बटवारा न होने पर परस्पर प्रतिभूः (जामिन), ऋण और साक्ष्य का विधान स्मृतियों में नहीं है। अर्थात् वे सम्मिलित परिवार में परस्पर ऋण आदि नहीं ले सकते ॥ ५२ ॥

टिप्पणी– इसीलिये नारद का वचन है–

'साक्षित्वं प्रातिभाव्यं वा दानं ग्रहणमेव च।
विभक्ताः भ्रातरः कुर्युः नाविभक्ताः परस्परम्' ॥

अधुना प्रातिभाव्यं निरूपयितुमाह—

दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते।
आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि ॥ ५३ ॥

प्रातिभाव्यं नाम विश्वासार्थं पुरुषान्तरेण सह समयः, तच्च विषयभेदात्त्रिधा भिद्यते। यथा **दर्शने** 'दर्शनापेक्षायां एनं दर्शयिष्यामी'ति। **प्रत्यये** विश्वासे, 'मम प्रत्ययेनास्य धनं प्रयच्छ, नायं त्वां वञ्चयिष्यते, यतोऽमुकस्य पुत्रोऽयं, उर्वराप्रायभूरस्य[1] ग्रामवरो[2]ऽस्ती'ति। **दाने** 'यद्ययं न ददाति तदानीमहमेव दास्यामी'ति। 'प्रातिभाव्यं विधीयत' इति प्रत्येकं संबध्यते[3]। आद्यौ तु दर्शनप्रत्ययप्रतिभुवौ वितथे अन्यथाभावे अदर्शने विश्वासव्यभिचारे च दाप्यौ राज्ञा प्रस्तुतं धनमुत्तमर्णस्य। इतरस्य दानप्रतिभुवः सुता अपि दाप्याः॥ वितथ[1] इत्येव शाठ्येन निर्धनत्वेन वाऽधमर्णेऽप्रतिकुर्वति 'इतरस्य[2] सुता अपि' (१।११९) इति वदता पूर्वयोः[3] सुता न दाप्या इत्युक्तम्। 'सुता' इति वदता न पौत्रा दाप्या इति दर्शितम्॥ ५३ ॥

प्रातिभाव्य (जमानतदार – वह अन्य व्यक्ति जो शर्त या विश्वास दिलाता है), दर्शन (आवश्यकता पड़ने पर उपस्थित करने या दिखाने), प्रत्यय (विश्वास कि यह देने लायक है) और दान (न देने पर स्वयं देना) के कार्य में प्रातिभाव्य (जामिन) होता है। प्रथम दो (दर्शन और प्रत्यय) के असत्य होने पर राजा उनसे धन दिलावे और तीसरे के असत्य होने पर उसके पुत्रों से भी धन दिलावे ॥ ५३ ॥

एतदेव स्पष्टीकर्तुमाह—

दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोऽपि वा।
न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्दद्युर्दानाय यः[1] स्थितः ॥ ५४ ॥

यदा तु **दर्शनप्रतिभूः** प्रात्ययिको वा प्रतिभूर्दैवं[2] गतस्तदा तयोः **पुत्राः** प्रातिभाव्यायातं पैतृकमृणं **न दद्युः**। **यस्तु दानाय स्थितः** प्रतिभूर्दैवं[2] गतस्तस्य पुत्रा दद्युः, न पौत्राः। ते च मूलमेव दद्युर्न वृद्धिम्। 'ऋणं पैतामहं पौत्रः प्रातिभाव्यागतं सुतः। समं दद्यात्तत्सुतौ तु न दाप्याविति निश्चयः॥' इति व्यासवचनात्। प्रातिभाव्यव्यतिरिक्तं पैतामहमृणं पौत्रः समं यावद्गृहीतं तावदेव दद्यान्न वृद्धिम्। तथा तत्सुतोऽपि प्रातिभाव्यागतं पित्र्यमृणं सममेव दद्यात्। तयोः पौत्रपुत्रयोः सुतौ प्रपौत्र[3]-पौत्रावप्रातिभाव्यायातं प्रातिभाव्यायातं च ऋणं यथाक्रममगृहीतधनौ न दाप्याविति। यदपि स्मरणम्—'खादको वित्त-

हीनः स्याल्लग्नको वित्तवान्यदि । मूलं तस्य भवेद्देयं न वृद्धिं दातुमर्हति ॥' इति,— तदपि लग्नकः प्रतिभूः, खादकोऽधमर्णः, लग्नको यदि वित्तवान्मृतस्तदा तस्य पुत्रेण मूलमेव दातव्यं न वृद्धिरिति व्याख्येयम् । यत्र दर्शनप्रतिभूः प्रत्ययप्रतिभूर्वा बन्धकं पर्याप्तं गृहीत्वा प्रतिभूर्जातस्तत्र तत्पुत्रा अपि तस्मादेव बन्धकात् प्रातिभाव्यायातमृणं दद्युरेव । यथाह कात्यायनः—'गृहीत्वा बन्धकं यत्र दर्शनेऽस्य स्थितो भवेत् । विना पित्रा धनात्तस्माद्दाप्यः स्यात्तदृणं सुतः ॥' इति । 'दर्शन'ग्रहणं प्रत्ययस्योपलक्षणम् । विना पित्रा पितरि प्रेते दूरदेशं गते वेति ॥५४॥

जहाँ दर्शन और प्रत्यय का प्रतिभू मर जाय वहाँ उसके पुत्र उस ऋण को न लौटावे, परन्तु जो देने के लिये प्रतिभू हो उसके पुत्र उस ऋण को दे ॥ ५४ ॥

यस्मिन्ननेकप्रतिभूसंभवस्तत्र कथं दाप्यस्तत्राह—

बहवः स्युर्यदि स्वांशैर्दद्युः प्रतिभुवो धनम् ।
एकच्छायाश्रितेष्वेषु धनिकस्य यथारुचि ॥ ५५ ॥

यद्येकस्मिन्प्रयोगे द्वौ बहवो वा प्रतिभुवः स्युस्तदृणं संविभज्य स्वांशेन दद्युः । एकच्छायाश्रितेषु प्रतिभूषु एकस्याधमर्णस्य छाया सादृश्यं तामाश्रिता एकच्छायाश्रिताः । अधमर्णो यथा कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थितस्तथा दानप्रतिभुवोऽपि प्रत्येकं कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थिताः । एवं दर्शने प्रत्यये च । तेष्वेकच्छायाश्रितेषु प्रतिभूषु सत्सु धनिकस्योत्तमर्णस्य यथारुचि यथाकामम् । अतश्च धनिको वित्ताद्यपेक्षायां स्वार्थं यं प्रार्थयते स एव कृत्स्नं दाप्यः, नांशतः । एकच्छायाश्रितेषु यदि कश्चिद्देशान्तरं गतस्तत्पुत्रश्च संनिहितस्तदा धनिकेच्छया स सर्वं दाप्यः । मृते तु कस्मिंश्चित्तत्सुतः स्वपित्रंशमवृद्धिकं दाप्यः । यथाह कात्यायनः— 'एकच्छायाप्रविष्टानां दाप्यो यस्तत्र दृश्यते । प्रोषिते तत्सुतः सर्वं पित्रंशं तु मृते समम् ॥' इति ॥ ५५ ॥

यदि दानप्रतिभू के बहुत पुत्र हों तो अपने-अपने हिस्से के अनुसार धन दे । यदि सभी पूरा देने को उद्यत हों तो धनी अपनी रुचि के अनुसार किसी से ले. ॥ ५५ ॥

प्रातिभाव्ये ऋणदानविधिमुक्त्वा प्रतिभूदत्तस्य प्रतिक्रियाविधिमाह—

प्रतिभूर्दापितो यत्तु प्रकाशं धनिनो धनम् ।
द्विगुणं प्रतिदातव्यमृणिकैस्तस्य तद्भवेत् ॥ ५६ ॥

यद्द्रव्यं प्रतिभूस्तत्पुत्रो वा धनिकेनोपपीडितः प्रकाशं सर्वजनसमक्षं राज्ञा धनिनो दापितो न पुनर्द्वैगुण्यलोभेन स्वयमुपेत्य दत्तम् । यथाह नारदः (१।१२१) 'यं चार्थं प्रतिभूर्दद्याद्धनिकेनोपपीडितः । ऋणिकस्तं प्रतिभुवे द्विगुणं प्रतिदापयेत् ॥' इति । ऋणिकैरधमर्णैस्तस्य प्रतिभुवस्तद्द्रव्यं द्विगुणं प्रतिदातव्यं

स्यात्। तच्च कालविशेषमनपेक्ष्य सद्य एव द्विगुणं दातव्यम्; वचनारम्भसामर्थ्यात्। एतच्च हिरण्यविषयम्॥ ननु [1]इदं प्रतिभूरिति वचनं द्वैगुण्यमात्रं प्रतिपादयति, तच्च पूर्वोक्तकालकलाक्रमाबाधेनाप्युपपद्यते। यथा जातेष्टिविधानं शुचित्वाबाधेन। अपि च सद्यः सवृद्धिकदानपक्षे पशुस्त्रीणां सद्यः संतत्यभावान्मूलदानमेव प्राप्नोतीति,-तदसत्; '[11]वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा परा' (व्य० ३९) इत्यनेनैव कालकलाक्रमेण द्वैगुण्यादिसिद्धेः द्वैगुण्यमात्रविधाने चेदं वचनमनर्थकं स्यात्। पशुस्त्रीणां तु कालक्रमपक्षेऽपि संतत्यभावे स्वरूपदानमेव। यदा प्रतिभूरपि द्रव्यदानानन्तरं कियतापि कालेनाधमर्णेन संघटते तदा संतति[12]रपि संभवत्येव। यद्वा पूर्वसिद्धसंतत्या सह पशुस्त्रियो दास्यन्तीति न किंचिदेतत्। अथ प्रातिभाव्यं प्रीति[13]कृतम्, अतश्च प्रतिभुवा दत्तं प्रीतिदत्तमेव। नच प्रीतिदत्तस्य याचनात्प्राग्वृद्धिरस्ति; यथाह (नारदः १।१०९)—'प्रीतिदत्तं तु यत्किंचिद्वर्धते न त्वयाचितम्। याच्यमानमदत्तं चेद्वर्धते पञ्चकं शतम्॥' इति। अतश्चास्य प्रीतिदत्तस्यायाचितस्यापि दानदिवसादारभ्य यावद्द्विगुणं कालक्रमेण वृद्धिरित्यनेन वचनेनोच्यत इति, तदप्यसत्,-अस्यार्थस्यास्माद्वचनादप्रतीतेः 'द्विगुणं प्रतिदातव्यम्' इत्येतावदिह प्रतीयते। तस्मात्कालक्रममनपेक्ष्यैव द्विगुणं प्रतिदातव्यं वचनारम्भसामर्थ्यादिति सुष्ठूक्तम्॥ ५६॥

जिस प्रतिभू से राजा ने ऋणदाता का ऋण सबके सामने दिलाया है उसके ऋण लेने वाला दूना देवे ॥ ५६ ॥

प्रतिभूदत्तस्य सर्वत्र द्वैगुण्ये प्राप्तेऽपवादमाह—

संततिः स्त्रीपशुष्वेव धान्यं त्रिगुणमेव च।
वस्त्रं चतुर्गुणं प्रोक्तं रसश्चाष्टगुणस्तथा॥ ५७॥

हिरण्यद्वैगुण्यवत्कालानादरेणैव स्त्रीपश्वादयः प्रतिपादितवृद्ध्या दाप्याः। श्लोकस्तु व्याख्यात एव। यस्य द्रव्यस्य यावती वृद्धिः पराकाष्ठोक्ता तद्द्रव्यं प्रतिभूदत्तं खादकेन तया वृद्ध्या सह कालविशेषमनपेक्ष्यैव सद्यो दातव्यमिति तात्पर्यार्थः। यदा तु दर्शनप्रतिभूः संप्रतिपन्ने काले अधमर्णं दर्शयितुमसमर्थस्तदा [1]तदन्वेषणाय तस्य पक्षत्रयं दातव्यम्। तत्र यदि तं दर्शयति तदा मोक्तव्योऽन्यथा प्रस्तुतं धनं दाप्यः; 'नष्टस्यान्वेषणार्थं तु दाप्यं पक्षत्रयं परम्। यद्यसौ दर्शयेत्तत्र मोक्तव्यः प्रतिभूर्भवेत्॥ काले व्यतीते प्रतिभूर्यदि तं नैव दर्शयेत्। निबन्धं [3]दापयेत्तं तु प्रेते चैष विधिः स्मृतः॥' इति कात्यायनवचनात्। [2]लग्नके विशेषनिषेधश्च तेनैवोक्तः—'न स्वामी न च वै शत्रुः स्वामिनाऽधिकृतस्तथा। निरुद्धो दण्डितश्चैव संदिग्धश्चैव न क्वचित्॥ नैव रिक्थी न मित्रं च न चैवात्यन्तवासिनः। राजकार्यनियुक्ताश्च ये च प्रव्रजिता नराः॥ न शक्तो धनिने दातुं दण्डं राज्ञे च तत्समम्। जीवन्वापि पिता यस्य तथैवेच्छाप्रवर्तकः॥ नाविज्ञाय ग्रहीतव्यः प्रतिभूः स्वक्रियां प्रति॥' इति। संदिग्धोऽभिशस्तः। अत्यन्तवासिनो नैष्ठिकब्रह्मचारिणः॥ इति प्रतिभूविधिः॥ ५७॥

धनप्रयोगे द्वौ विश्वासहेतू—प्रतिभूराधिश्च । यथाह नारदः (१।११९)—'विश्रम्भहेतू द्वावत्र प्रतिभूराधिरेव च' इति । तत्र प्रतिभूर्निरूपितः, इदानीमाधिर्निरूप्यते । आधिर्नाम गृहीतस्य द्रव्यस्योपरि विश्वासार्थमधमर्णेनोत्तमर्णेऽधिक्रियते, आधीयत इत्याधिः । स च द्विविधः—कृतकालोऽकृतकालश्च । पुनश्चैकैकशो द्विविधः—गोप्यो भोग्यश्च । यथाह नारदः (१।१२४-२५)—'अधिक्रियत इत्याधिः स विज्ञेयो द्विलक्षणः । कृतकालोऽपनेयश्च यावद्देयोद्यतस्तथा ॥ स पुनर्द्विविधः प्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव च ॥' इति । कृते काले आधानकाल एवामुष्मिन्काले दीपोत्सवादौ 'मयायमधमर्णिको मोक्तव्योऽन्यथा तवैवाधिर्भविष्यती'त्येवं निश्चिते काले उपनेय आत्मसमीपं नेतव्यः, मोचनीय इत्यर्थः । देयं दानम् । देयमनतिक्रम्य यावद्देयम् । उद्यतः नियतः, स्थापित इत्यर्थः । यावद्देयमुद्यतो यावद्देयोद्यतः, गृहीतधनप्रत्यर्पणावधिरनिरूपितकाल इत्यर्थः । गोप्यो रक्षणीयः ॥ ५७ ॥

प्रतिभू के स्त्री और पशु दिलाने की स्थिति में तो बच्चे सहित स्त्री और पशु दे। धान्य होने पर तीन गुना, वस्त्र होने पर चौगुना और रस (तेल-घृतादि) होने पर आठ गुना दिलावे ॥ ५७ ॥

एवं चतुर्विधस्याधेर्विशेषमाह—

आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते ।
काले कालकृतो नश्येत्फलभोग्यो न नश्यति ॥ ५८ ॥

प्रयुक्ते **धने** स्वकृतया वृद्ध्या कालक्रमेण **द्विगुणीभूते यद्याधिर**धमर्णेन द्रव्यदानेन **न मोक्ष्यते तदा नश्यति** । अधमर्णस्य धनं प्रयोक्तुः स्वं भवति । **कालकृतः** कृतकालः, आहिताग्न्यादिषु पाठात् कालशब्दस्य पूर्वनिपातः। स तु **काले** निरूपिते प्राप्ते **नश्येत्** द्वैगुण्यात्प्रागूर्ध्वं वा । **फलभोग्यः** फलं भोग्यं यस्यासौ फलभोग्यः,—क्षेत्रारामादिः, स कदाचिदपि **न नश्यति** । कृतकालस्य गोप्यस्य भोग्यस्य च तत्कालातिक्रमे नाश उक्तः—'काले कालकृतो नश्ये'दिति । अकृतकालस्य भोग्यस्य नाशाभाव उक्तः—'फलभोग्यो न नश्यती'ति । पारिशेष्यादाधिः प्रणश्येदित्येतदकृतकालगोप्याधिविषयमवतिष्ठते । द्वैगुण्यातिक्रमेण निरूपितकालातिक्रमेण च विनाशे चतुर्दशदिवसप्रतीक्षणं कर्तव्यं; बृहस्पतिवचनात् (११।२७-२८) 'हिरण्ये द्विगुणीभूते पूर्णे काले कृतावधेः । बन्धकस्य धनी स्वामी द्विसप्ताहं प्रतीक्ष्य च ॥ तदन्तरा धनं दत्त्वा ऋणी बन्धकमाप्नुयात् ॥' इति ॥ नन्वाधिः प्रणश्येदित्यनुपपन्नम् । अधमर्णस्य स्वत्वनिवृत्तिहेतोर्दानविक्रयादेरभावात् । धनिनश्च स्वत्वहेतोः प्रतिग्रहक्रयादेरभावात् मनुवचनविरोधाच्च । (८।१४३)—'न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः' इति । कालेन संरोधः कालसंरोधश्चिरकालमवस्थानं तस्मात्कालसंरोधाच्चिरकालावस्थानादाधेर्न निसर्गोऽस्ति, नान्यत्राधीकरणमस्ति, नच विक्रयः । एवामाधीकरणविक्रयप्रतिषेधाद्धनिनः स्वत्वाभावोऽवगम्यत इति । उच्यते—आधीकरणमेव लोके सोपाधिकस्वत्वनिवृत्तिहेतुः । आधिस्वीका-

रश्च सोपाधिकस्वत्वापत्तिहेतुः प्रसिद्धः । तत्र धनद्वैगुण्ये निरूपितकाले[2]प्राप्तौ च द्रव्यदानस्यात्यन्तानिवृत्तेरनेन वचनेनाधमर्णस्यात्यन्तिकी स्वत्वनिवृत्तिः उत्तमर्णस्य चात्यन्तिकं स्वत्वं भवति । नच मनुवचनविरोधः । यतः मनुः (८।१४३)—'नत्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्' इति । भोग्याधिं प्रस्तुत्येदमुच्यते—'न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः' इति । भोग्यस्याधेश्चिरं[3]कालावस्थानेऽप्याधीकरणविक्रयनिषेधेन धनिनः स्वत्वं नास्तीति । इहाप्युक्तं 'फलभोग्यो न नश्यती'ति । गोप्याधौ तु पृथगारब्धं मनुना (८।१४४)—'न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्' इति । इहापि वक्ष्यते—गोप्याधिभोगे नो वृद्धिरिति । आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे इति तु गोप्याधिं प्रत्युच्यत इति सर्वमविरुद्धम् ॥ ५८ ॥

यदि धन बढ़कर (व्याज सहित) दो गुना हो जाता है तो आधि (बन्धक) नष्ट हो जाता है (अर्थात् लौटाने लायक नहीं रहता) जिसका समय निर्दिष्ट है वह उस समय के बीत जाने पर नष्ट हो जाता है। किन्तु जिस वस्तु का फल ऋणदाता को सतत मिलता रहे; जैसे खेत आदि, वह नष्ट नहीं होता ॥ ५८ ॥

गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः सोपकारे च हापिते ।
नष्टो देयो विनष्टश्च दैवराजकृताहते ॥ ५९ ॥

किंच, **गोप्याधेस्ताम्रकटाहादेरुपभोगेन वृद्धिर्भवति** । अल्पेऽप्युपभोगे महत्यपि वृद्धिर्हातव्या; समयातिक्रमात् । तथा **सोपकारे** [1]उपकारकारिणि बलीवर्दताम्रकटाहादौ भोग्याधौ सवृद्धिके **हापिते** हानिं व्यवहाराक्षमत्वं गमिते नो वृद्धिः इति संबन्धः । **नष्टो** विकृतिं गतः ताम्रकटाहादिश्छिद्रभेदनादिना पूर्ववत्कृत्वा **देयः** । तत्र **गोप्याधिर्नष्टश्चेत्पूर्ववत्कृत्वा देयः** । उपभुक्तोऽपि चेद्वृद्धिरपि हातव्या । भोग्याधिर्यदि [1]नष्टस्तदा पूर्ववत्कृत्वा देयः । वृद्धिसद्भावे वृद्धिरपि हातव्या । **विनष्ट** आत्यन्तिकं नाशं प्राप्तः, सोऽपि देयो मूल्यादिद्वारेण । तद्दाने सवृद्धिकं मूल्यं लभते धनी । यदा न ददाति तदा मूलनाशः; 'विनष्टे मूलनाशः स्याद्दैवराजकृतादृते' (१।१२६) इति नारदवचनात् । **दैवराजकृतादृते**—दैवमग्न्युदकदेशोपप्लवादि । दैवकृताद्विनाशाद्विना, तथा स्वापराधरहिताद्राजकृतात् । दैवराजकृते तु विनाशे सवृद्धिकं मूल्यं दातव्यमधमर्णेनाऽऽध्यन्तरं वा । यथाह—'स्रोतसापहृते क्षेत्रे राज्ञा चैवापहारिते । आधिरन्योऽथ कर्तव्यो देयं वा धनिने धनम् ॥' इति । तत्र 'स्रोतसापहृत' इति दैवकृतोपलक्षणम् ॥ ५९ ॥

गोप्य आदि (बन्धक) के उपभोग करने पर व्याज न दे और उपकारक आधि (बैल आदि) की हानि पर भी वृद्धि न दे, दैव या राजोपद्रव के बिना ही आधि के नष्ट हो जाने या खो जाने पर आधि के समान वस्तु को दे ॥ ५९ ॥

आधेः स्वीकरणात्सिद्धी रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम् ।
यातश्चेदन्य आधेयो धनभाग्वा धनी भवेत् ॥ ६० ॥

अपि च, आधेर्भोग्यस्य गोप्यस्य च **स्वीकरणादुपभोगादाधिग्रहणसिद्धिर्भवति**, न साक्षिलेख्यमात्रेण नाप्युद्देशमात्रेण । यथाह नारदः (१।१३८)— 'आधिस्तु द्विविधः प्रोक्तो जङ्गमः स्थावरस्तथा । सिद्धिरस्योभयस्यापि भोगो यद्यस्ति नान्यथा ॥' इति । अस्य च फलं—'आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा' (व्य० २३) इति । या स्वीकारान्ता क्रिया सा पूर्वा बलवती, स्वीकाररहिता तु पूर्वापि न बलवतीति । स चाधिः प्रयत्नेन **रक्ष्यमाणोऽपि** कालवशेन यद्य**सारताम**विकृत एव सवृद्धिकमूल्यद्रव्यापर्याप्ततां **गतस्तदाधिरन्यः कर्तव्यः, धनिने धनं वा देयम्** । 'रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम्' इति वदता आधिः प्रयत्नेन रक्षणीयो **धनिने**ति ज्ञापितम् ॥ ६० ॥

आधि (योग्य और गोप्य) की सिद्धि स्वीकार करने से होती है । यदि (सावधानीपूर्वक) रक्षा की जाती हुई आधि (धन और उसकी सूद की तुलना में) असारता (न्यूनता या व्यर्थता) को प्राप्त हो तो दूसरी आधि रखनी चाहिये या धनी का धन लौटा देना चाहिये ॥ ६० ॥

'आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे' (व्य० ५८) इत्यस्यापवादमाह—

चरित्रबन्धककृतं स वृद्ध्या दापयेद्धनम् ।
सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिदापयेत् ॥ ६१ ॥

चरित्रं शोभनाचरितं, चरित्रेण बन्धकं **चरित्रबन्धकं**, तेन यद्द्रव्यमात्मसा**त्कृतं पराधीनं वा कृतम्** । एतदुक्तं भवति—धनिनः स्वच्छाशयत्वेन बहुमूल्यमपि द्रव्यमाधीकृत्याधमर्णेनाल्पमेव द्रव्यमात्मसात्कृतम्, यदि वाधमर्णस्य स्वच्छाशयत्वेनाल्पमूल्यमाधिं गृहीत्वा बहुद्रव्यमेव धनिनाधमर्णाधीनं कृतमिति । तद्धनं **स नृपो वृद्धया** सह **दापयेत्** । अयमाशयः—एवं च बन्धकं द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये न नश्यति, किंतु द्रव्यमेव द्विगुणं दातव्यमिति । तथा **सत्यंकारकृतं** । करणं कारः । भावे घञ् । सत्यस्य कारः सत्यंकारः—'कारे सत्यागदस्य' (पा. ६।३।७०) इति मुम् । सत्यंकारेण कृतं सत्यंकारकृतम् । अयमभिसन्धिः—यदा बन्धकार्पणसमय एवेत्थं परिभाषितं 'द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये मया द्विगुणं द्रव्यमेव दातव्यं नाधिनाशः' इति, तदा तद्द्विगुणं दापयेदिति । अन्योऽर्थः । चरित्रमेव बन्धकं चरित्रबन्धकं । 'चरित्र'शब्देन गङ्गास्नानाग्निहोत्रादिजनितमपूर्वमुच्यते । यत्र तदेवाधीकृत्य यद्द्रव्यमात्मसात्कृतं तत्र तदेव द्विगुणीभूतं दातव्यम्, नाधिनाश इति । आधिप्रसङ्गादन्यदुच्यते—**सत्यंकारकृत**मिति । क्रयविक्रयादिव्यवस्थानिर्वाहाय यदङ्गुलीयकादि परहस्ते कृतं तद्व्यवस्थातिक्रमे **द्विगुणं दातव्यम्** । तत्रापि येनाङ्गुलीयकाद्यर्पितं स एव चेद्व्यवस्थातिवर्ती तेन तदेव दातव्यम् । इतरश्चेद्व्यवस्थातिवर्ती तदा तदेवाङ्गुलीयकादि द्विगुणं प्रतिदापयेदिति ॥ ६१ ॥

चरित्रबन्धक (सदाचार के कारण कम मूल्य की वस्तु बन्धक रखकर अधिक धन देना या अधिक मूल्य की वस्तु देकर कम धन लेना) होने पर सूद के साथ धन दिलावे। सत्यकार होने पर (यह शर्त होने पर कि द्रव्य के दूना होने पर भी बन्धक का नाश नहीं होगा अपितु वह धन लौटाकर बन्ध वापस लिया जायेगा) दूने द्रव्य को दिलावे ॥ ६१ ॥

उपस्थितस्य मोक्तव्य आधिः स्तेनोऽन्यथा भवेत् ।
प्रयोजकेऽसति धनं कुले न्यस्याधिमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

किंच, धनदानेनाधिमोक्षणायोपस्थितस्याधिर्मोक्तव्यो धनिना, न वृद्धिलोभेन स्थापयितव्यः, अन्यथा अमोक्षणे स्तेनश्चौरवद्दण्ड्यः[४] भवेत्। असंनिहिते पुनः प्रयोक्तरि कुले तदाप्तहस्ते सवृद्धिकं धनं विधायाधमर्णकः स्वीयं बन्धकं गृह्णीयात् ॥ ६२ ॥

ऋणी के (आधि छुड़ाने आने पर) आधि लौटा देनी चाहिये, अन्यथा बन्धक रखने वाला चोर होता है (और चोरवत् दण्ड्य होता है)। बन्धक रखने वाले के अनुपस्थित रहने पर बन्धक रखने वाला देय धन को कुल में समर्पित कर आधि प्राप्त करे ॥ ६२ ॥

अथ प्रयोक्ताऽप्यसंनिहितस्तदाप्ताश्च धनस्य ग्रहीतारो न सन्ति, यदि वा असंनिहिते प्रयोक्तर्याधिविक्रयेण धनदित्साऽधमर्णस्य तत्र किं कर्तव्यमित्यपेक्षित आह—

तत्कालकृतमूल्यो वा तत्र तिष्ठेदवृद्धिकः ।

तस्मिन्काले यत्तस्याधेर्मूल्यं तत्परिकल्प्य[५] तत्रैव धनिनि तमाधिं वृद्धिरहितं स्थापयेन्न तत ऊर्ध्वं[६] विवर्धते। यावद्धनी धनं गृहीत्वा तमाधिं मुञ्चति, यावद्वा तन्मूल्यद्रव्यमृणे[७] प्रवेशयति[८] ॥

अथवा उस समय का मूल्य निश्चित कर उसे वहीं रहने दे, उसके बाद उसकी वृद्धि नहीं होगी ॥ ६२$\frac{१}{२}$ ॥

यदा तु द्विगुणीभूतेऽपि धने द्विगुणं धनमेव ग्रहीतव्यं, न त्वाधिनाश इति विचारितमृणग्रहणकाल एव तदा द्विगुणीभूते द्रव्ये असंनिहिते चाऽधमर्णे धनिना किं कर्तव्यमित्यत आह—

विना धारणकाद्वापि विक्रीणीत ससाक्षिकम् ॥ ६३ ॥

धारणकादधमर्णाद्विना अधमर्णेऽसंनिहिते साक्षिभिस्तदाप्तैश्च सह तमाधिं विक्रीय तद्धनं गृह्णीयाद्धनी। 'वा'शब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः। यदर्णग्रहणकाले द्विगुणीभूतेऽपि धने धनमेव ग्रहीतव्यं, न त्वाधिनाश इति न विचारितं, तदा 'आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे' (व्य० ५८) इत्याधिनाशः। विचारिते[४] त्वयं पक्ष इति ॥ ६३ ॥

(यदि धन के दूना होने पर भी ऋणी उपस्थित न हो और आधिनाश का समय नहीं है वहाँ भी ऋणी के उपस्थित न होने पर) बिना ऋणी के उपस्थित हुये भी धनी साक्षियों की उपस्थिति में उस आधि को बेच दे (और अपना वृद्धि सहित ऋण वसूल कर ले) ॥ ६३ ॥

भोग्याधौ विशेषमाह—

यदा तु द्विगुणीभूतमृणमाधौ तदा खलु ।
मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने ॥ ६४ ॥

यदा प्रयुक्तं **धनं** स्वकृतया वृद्ध्या **द्विगुणीभूतं** तदाधौ कृते तदुत्पन्ने आध्युत्पन्ने **द्रव्ये द्विगुणे** धनिनः **प्रविष्टे** धनिनाऽऽधिर्मोक्तव्यः । यदि वादावेवाधौ दत्ते 'द्विगुणीभूते द्रव्ये त्वयाधिर्मोक्तव्यः' इति, परिभाषया कारणान्तरेण वा भोगाभावेन यदा द्विगुणीभूतमृणं तदा, आधौ भोगार्थं धनिनि **प्रविष्टे तदुत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे** सत्याधिर्मोक्तव्यः । अधिकोपभोगे तदपि देयम् । सर्वथा सवृद्धिकमूलर्णापाकरणार्थाध्युपभोगविषयमिदं वचनम् । तमेनं क्षयाधिमाचक्षते लौकिकाः । यत्र तु वृद्ध्यर्थं एवाध्युपभोग इति परिभाषा, तत्र द्वैगुण्यातिक्रमेऽपि यावन्मूलदानं तावदुपभुङ्क्त एवाधिम् । एतदेव स्पष्टीकृतं बृहस्पतिना (११।३३-४)—'ऋणी बन्धमवाप्नुयात् । फलभोग्यं पूर्णकालं दत्त्वा द्रव्यं तु सामकम् ॥ यदि प्रकर्षितं तत्स्यात्तदा न धनभाग्धनी । ऋणी च न लभेद्बन्धं परस्परमतं विना ॥' इति । अस्यार्थः—फलं भोग्यं यस्यासौ फलभोग्यः बन्धक आधिः । स च द्विविधः—सवृद्धिकमूलापाकरणार्थो वृद्धिमात्रापाकरणार्थश्च । तत्र च सवृद्धिमूलापाकरणार्थं बन्धं पूर्णकालं पूर्णः कालो यस्यासौ पूर्णकालस्तमाप्नुयादृणी । यदा सवृद्धिकं मूलं फलद्वारेण धनिनः प्रविष्टं तदा बन्धमाप्नुयादित्यर्थः । वृद्धिमात्रापाकरणार्थं तु बन्धकं सामकं दत्त्वाप्नुयादृणी । समं मूलं, सममेव सामकम् ॥ अस्यापवादमाह—यदि प्रकर्षितं तत्स्यात् । तत् बन्धकं प्रकर्षितमतिशयितं वृद्धेरप्यधिकफलं यदि स्यात् 'तदा न धनभाग्धनी' सामकं न लभेत् धनी । मूलमदत्त्वैव ऋणी बन्धमवाप्नुयादिति यावत् । अथ त्वप्रकर्षितं तद्बन्धकं वृद्धयेऽप्यपर्याप्तं, तदा सामकं दत्त्वापि बन्धं न लभेताधमर्णः । वृद्धिशेषमपि दत्त्वैव लभेतेत्यर्थः । पुनरुभयत्रापवादमाह—'परस्परमतं विना' उत्तमर्णाधमर्णयोः परस्परानुमत्यभावे 'यदि प्रकर्षितम्' इत्याद्युक्तम्, परस्परानुमतौ तूत्कृष्टमपि बन्धकं यावन्मूलदानं तावदुपभुङ्क्ते धनी, निकृष्टमपि मूलमात्रदाने नैवाधमर्णो लभत इति ॥ ६४ ॥

(भोग्य आधि की स्थिति में) यदि धन के दूना होने पर आधि रखी जाय तो (आधि से) दूना धन धनी द्वारा वसूल कर लिये जाने पर आधि छोड़ देनी चाहिये। यदि आधि आरम्भ में ही रखी गयी हो और दैव या राजा के उपाधि के कारण

धन दूना होने की स्थिति तक उपभोग न हुआ (और शर्त रही हो कि धन दूना होने पर आधि छोड़ दी जायेगी वहाँ) आधि से दूना धन वसूल कर आधि छोड़नी चाहिये ॥ ६४ ॥

इति ऋणादानप्रकरणम् ।

अथ उपनिधिप्रकरणम् ४

उपनिधिं प्रत्याह—

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते ।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ ६५ ॥

निक्षे[1]पद्रव्यस्याधारभूतं द्रव्यान्तरं वासनं करण्डादि, तत्स्थं **वासनस्थं** यद्द्रव्यं रूपसंख्यादिविशेष**मनाख्याय** अकथयित्वा मुद्रित**मन्यस्य हस्ते** रक्षणार्थं विस्रम्भा**दर्प्यते** स्थाप्यते **तद्द्रव्यमौपनिधिक**मुच्यते। यथाह नारदः—'असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते । तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः ॥' इति । **प्रतिदेयं तथैव तत्** । यस्मिन्स्थापितं तेन यथैव पूर्वंमुद्रादिचिह्नितमर्पितं तथैव स्थापकाय प्रतिदेयं प्रत्यर्पणीयम् ॥ ६५ ॥

जब किसी पात्र (भाण्डादि) में रखकर (और बिना रूप-संख्यादि को) बताये किसी दूसरे के हाथ में द्रव्य रखा जाय तो वह निक्षेप उपनिधि कहा जाता है और उसको उसी रूप में वापस करना होता है ॥ ६५ ॥

'प्रतिदेयम्' (व्य० ६५) इत्यस्यापवादमाह—

न दाप्योऽपहृतं तं[2] तु राजदैविकतस्करैः ।

तमुपनिधिं राज्ञा दैवेनोदकादिना तस्करैर्वाऽपहृतं नष्टं **न दाप्योऽसौ** यस्मिन्नुपनिहितम् । धनिन एव तद्द्रव्यं नष्टं यदि जिह्मकारितं न भवति । यथाह नारदः (१।९)—'ग्रहीतुः सह योऽर्थेन नष्टो नष्टः स दायिनः । दैवराजकृते [3]तद्वन्न चेत्तज्जिह्मकारितम् ॥' इतिं ॥—

यह वह उपनिधि राजा या दैव (जल-प्रवाहादि) तथा तस्करों से चुरा लिया जाय तो लौटाना नहीं होता ॥ ६५$\frac{१}{२}$ ॥

अस्यापवादमाह—

भ्रेषश्चेन्मार्गितेऽदत्ते दाप्यो दण्डं च तत्समम् ॥ ६६ ॥

स्वामिना **मार्गिते** याचिते यदि न ददाति तदा तदुत्तरकालं यद्यपि राजादिभि**र्भ्रेषो** नाशः संजातस्तथापि तद्द्रव्यं मूल्यकल्पनया धनिने ग्रहीता **दाप्यो** राज्ञे च **तत्समं दण्डम्** ॥ ६६ ॥

यदि माँगने पर न लौटाया गया हो और उसके बाद (राज, दैव, तस्कर आदि) से नष्ट हो गया हो तो उसको (अर्थात् उसके समान मूल्य को) लौटाना होता है और राजा को उसके बराबर दण्ड देना पड़ता है ॥ ६६ ॥

भोक्तारं प्रति दण्डमाह—

आजीवन्स्वेच्छया दण्ड्यो दाप्यस्तं चापि सोदयम् ।

यः स्वेच्छया स्वाम्यननुज्ञयोपनिहितं द्रव्यमाजीवेन्नुपभुङ्क्ते व्यवहरति वा प्रयोगादिना लाभार्थमसावुपभोगानुसारेण लाभानुसारेण च दण्ड्यः, तं चोपनिधिं सोदयमुपभोगे सवृद्धिकं व्यवहारे सलाभं धनिने दाप्यः[3] । वृद्धिप्रमाणं च कात्यायनेनोक्तम्—'निक्षेपं वृद्धिशेषं च क्रयं विक्रयमेव च । याच्यमानो न चेद्दद्याद्वर्धते पञ्चकं शतम् ॥' इति । एतच्च भक्षिते द्रष्टव्यम् । उपेक्षाज्ञाननष्टे तु तेनैव विशेषो दर्शितः—'भक्षितं सोदयं दाप्यः समं दाप्य उपेक्षितम् । किंचिच्न्यूनं प्रदाप्यः स्याद्द्रव्यमज्ञाननाशितम् ॥' इति । 'किंचिन्न्यूनम्' इति चतुर्थांशहीनम् ॥

यदि उस उपनिधि से कोई स्वेच्छा से जीविका चलावे अर्थात् उपभोग या व्यवहार करे तो जितनी उससे वृद्धि किया है उसके साथ लौटाना पड़ेगा ॥ ६६$\frac{१}{२}$ ॥

उपनिधेर्धर्मान्याचितादिष्वतिदिशति—

याचितान्वाहितन्यासनिक्षेपादिष्वयं विधिः ॥ ६७ ॥

विवाहाद्युत्सवेषु वस्त्रालंकारादि याचित्वाऽऽनीतं याचितम् । यदेकस्य हस्ते निहितं द्रव्यं तेनाप्यनु पश्चादन्यहस्ते स्वामिने देहीति निहितं तदन्वाहितम् । न्यासो नाम गृहस्वामिनेऽदर्शयित्वा तत्परोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रक्षेपो गृहस्वामिने समर्पणीयमिति । समक्षं तु समर्पणं निक्षेपः । 'आदि'शब्देन सुवर्णकारादिहस्ते कटकादिनिर्माणाय न्यस्तस्य सुवर्णादेः, प्रतिन्यासस्य च परस्परप्रयोजनापेक्षया[2] 'त्वयेदं मदीयं रक्षणीयं, मयेदं त्वदीयं रक्ष्यते' इति न्यस्तस्य ग्रहणम् । यदाह नारदः (२।१४)—'एष एव विधिर्दृष्टो याचितान्वाहितादिषु । शिल्पिषूपनिधौ न्यासे प्रतिन्यासे तथैव च ॥' इति । एतेषु[1] याचितान्वाहितादिष्वयं विधिः उपनिधेर्यः प्रतिदानादिविधिः स एव वेदितव्यः ॥ ६७ ॥

जो विधि उपनिधि में है वही याचित (माँग कर ली गई), वाहित (फिर दूसरे के यहाँ रख दी गई), न्यास (गृहस्वामी को बिना दिखाये परिवार के किसी दूसरे व्यक्ति को गृहस्वामी को दे देना— यह कर रखी वस्तु) तथा निक्षेप (गृहस्वामी के सामने देना) में भी है ॥ ६७ ॥

इति उपनिधिप्रकरणम् ।

अथ साक्षिप्रकरणम् ५

‘प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्’ (व्य० २२) इत्युक्तं, तत्र भुक्तिर्निरूपिता; सांप्रतं साक्षिस्वरूपं निरूप्यते । साक्षी च साक्षाद्दर्शनाच्छ्रवणाच्च भवति । यथाह मनुः (८।७४)—‘समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति’ इति । स च द्विविधः—कृतोऽकृतश्चेति । साक्षित्वेन निरूपितः कृतः । अनिरूपितोऽकृतः । तत्र कृतः पञ्चविधोऽकृतश्च षड्विध इत्येकादशविधः । यथाह नारदः (१।१७८)—‘एकादशविधः साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः । कृतः पञ्चविधो ज्ञेयः षड्विधोऽकृत उच्यते ॥’ इति । तेषां च भेदस्तेनैव दर्शितः—‘लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च । गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः स्मृतः ॥’ (नारदः १।१४०) इति । लिखितादीनां च स्वरूपं कात्यायनेनोक्तम्—‘अर्थिना स्वयमानीतो यो लेख्ये संनिवेश्यते । स साक्षी लिखितो नाम स्मारितः पत्रकादृते ॥’ इति । ‘स्मारितः पत्रकादृत’ इत्यस्य विवरणं तेनैव कृतम्—‘यस्तु कार्यप्रसिद्ध्यर्थं दृष्ट्वा कार्यं पुनः पुनः । स्मार्यते ह्यर्थिना साक्षी स स्मारित इहोच्यते ॥’ इति । यस्तु यदृच्छयागतः साक्षी क्रियते स यदृच्छाभिज्ञः । अनयोः पत्रानारूढत्वेऽपि भेदस्तेनैव दर्शितः—‘प्रयोजनार्थमानीतः प्रसङ्गादागतश्च यः । द्वौ साक्षिणौ त्वलिखितौ पूर्वपक्षस्य साधकौ ॥’ इति, तथा—‘अर्थिना स्वार्थसिद्ध्यर्थं प्रत्यर्थिवचनं स्फुटम् । यः श्राव्यते स्थितो गूढो गूढसाक्षी स उच्यते ॥’ इति, तथा—‘साक्षिणामपि यः साक्ष्यमुपर्युपरि भाषते । श्रवणाच्छ्रावणाद्वापि स साक्ष्युत्तरसंज्ञितः ॥’ इति । षड्विधस्याप्यकृतस्य भेदो नारदेन दर्शितः (१।१५१)—‘ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् । कार्येष्वधिकृतो यः स्यादर्थिना प्रहितश्च यः ॥ कुल्याः कुलविवादेषु विज्ञेयास्तेऽपि साक्षिणः ॥’ इति । ‘प्राड्विवाक’ग्रहणं लेखकसभ्योपलक्षणार्थम्; ‘लेखकः प्राड्विवाकश्च सभ्याश्चैवानुपूर्वशः । नृपे पश्यति तत्कार्यं साक्षिणः समुदाहृताः ॥’ इति ॥

तेऽपि साक्षिणः कीदृशाः, कियन्तश्च भवन्तीत्यत आह—

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥ ६८ ॥
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः ।
यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥ ६९ ॥

तपस्विनः तपःशीलाः, **दानशीला** दाननिरताः, **कुलीना** महाकुलप्रसूताः, **सत्यवादिनः** सत्यवदनशीलाः, **धर्मप्रधाना** न त्वार्थकामप्रधानाः, **ऋजवो**ऽकुटिलाः, **पुत्रवन्तो** विद्यमानपुत्राः, **धनान्विता** बहुसुवर्णादिधन-

युक्ताः, **श्रौतस्मार्तक्रियापराः** नित्यनैमित्तिकानुष्ठानरताः, एवंभूताः पुरुषा**स्त्र्यवराः साक्षिणो भवन्ति** । त्रयः अवरा न्यूना येषां ते त्र्यवराः त्रिभ्योऽर्वाक् न भवन्ति । परतस्तु यथाकामं भवन्तीत्यर्थः । जातिमनतिक्रम्य **यथाजाति** । जातयो मूर्धावसिक्ताद्याः अनुलोमजाः प्रतिलोमजाश्च । तत्र मूर्धावसिक्तानां मूर्धावसिक्ताः साक्षिणो भवन्ति । एवमम्बष्ठादिष्वपि द्रष्टव्यम् । वर्णमनतिक्रम्य **यथावर्णम्** । वर्णा ब्राह्मणादयः । तत्र ब्राह्मणानां ब्राह्मणा एवोक्तलक्षणा उक्तसंख्याकाः साक्षिणो भवन्ति । एवं क्षत्रियादिष्वपि द्रष्टव्यम् । तथा स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रिय एव कुर्युः । यथाह मनुः (८।६८)—'स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युः' इति । सजातिसवर्णासंभवे **सर्वे** मूर्धावसिक्तादयो ब्राह्मणादयश्च **सर्वेषु** मूर्धावसिक्तादिषु ब्राह्मणादिषु च यथासंभवं साक्षिणो भवन्ति । उक्तलक्षणानां साक्षिणामसंभवे प्रतिषेधरहितानामन्येषामपि साक्षित्वप्रतिपादनादर्थमसाक्षिणो वक्तव्याः । ते च पञ्चविधा नारदेन दर्शिताः—'असाक्ष्यपि हि शास्त्रेषु दृष्टः पञ्चविधो बुधैः । वचनाद्दोषतो भेदात्स्वयमुक्तिर्मृतान्तरः ॥' इति । के पुनर्वचनात् असाक्षिण इत्यत आह—'श्रोत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रव्रजितादयः । असाक्षिणस्ते वचनान्नात्र हेतुरुदाहृतः ॥' (१।१५८) इति । तापसा वानप्रस्थाः । 'आदि'शब्देन पित्रा विवदमानादीनां ग्रहणम् । यथाह शङ्खः—'पित्रा विवदमानगुरुकुलवासिपरिव्राजकवानप्रस्थनिर्ग्रन्था असाक्षिणः' इति । दोषादसाक्षिणो दर्शिताः—'स्तेनाः साहसिकाश्चण्डाः कितवा वञ्चकास्तथा । असाक्षिणस्ते दुष्टत्वात्तेषु सत्यं न विद्यते ॥' (नारदः १।१५९) इति । चण्डाः कोपनाः, कितवा द्यूतकृतः । भेदादसाक्षिणां च स्वरूपं तेनैव दर्शितम्—'साक्षिणां लिखितानां च निर्दिष्टानां च वादिनाम् । तेषामेकोऽन्यथावादी भेदात्सर्वे न साक्षिणः ॥' इति । तथा स्वयमुक्तिस्वरूपं चोक्तम्—'स्वयमुक्तिरनिर्दिष्टः स्वयमेवैत्य यो वदेत् । सूचीत्युक्तः स शास्त्रेषु न स साक्षित्वमर्हति ॥' (१।१६१) इति । मृतान्तरस्यापि लक्षणमुक्तम्—'योऽर्थः श्रावयितव्यः स्यात्तस्मिन्नसति चार्थिनि । क्व तद्वदतु साक्षित्वमित्यसाक्षी मृतान्तरः ॥' (१।१६२) इति । येनार्थिना प्रत्यर्थिना वा साक्षिणां योऽर्थः श्रावयितव्यो भवेत् 'यूयमत्रार्थे साक्षिणः' इति तस्मिन्नर्थिनि प्रत्यर्थिनि वा असति मृतेऽर्थे चानिवेदिते, साक्षी क्व कस्मिन्नर्थे कस्य वा कृते साक्ष्यं वदत्विति मृतान्तरः साक्षी न भवति । यत्र तु मुमूर्षुणा स्वस्थेन वा पित्रा पुत्रादयः श्राविता 'अस्मिन्नर्थेऽमी साक्षिणः' इति तत्र मृतान्तरोऽपि साक्षी । यथाह नारदः (१।९६)—'मृतान्तरोऽर्थिनि प्रेते मुमूर्षुश्रावितादृते' । तथा—'श्रावितोऽनातुरेणापि यस्त्वर्थो धर्मसंहितः । मृतेऽपि तत्र साक्षी स्यात्षट्सु चान्वाहितादिषु ॥' इति ॥६८–६९॥

तपस्वी, दानशील, कुलीन, सत्यवक्ता, धर्मप्रधान, सरलस्वभाव, पुत्रवान्, धनयुक्त तथा श्रौतस्मार्त क्रिया में रत कम से कम तीन साक्षी होते हैं। ये जाति तथा वर्ण के अनुसार अथवा सभी जाति और वर्ण के लिये होते हैं ॥ ६८-६९ ॥

तानेतानसाक्षिणो दर्शयति—

स्त्रीबालवृद्धकितवमत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः ।
रङ्गावतारिपाखण्डिकूटकृद्विकलेन्द्रियाः ॥ ७० ॥
पतिताप्तार्थसंबन्धिसहायरिपुतस्कराः ।
साहसी दृष्टदोषश्च निर्धूताद्यास्त्वसाक्षिणः ॥ ७१ ॥

स्त्री प्रसिद्धा, **बालो**ऽप्राप्तव्यवहारः, **वृद्धो**ऽशीतिकावरः, 'वृद्ध'ग्रहणं वचननिषिद्धानामन्येषामपि श्रोत्रियादीनामुपलक्षणार्थम्; **कितवो**ऽक्षदेवी, **मत्तः** पानादिना, **उन्मत्तो** ग्रहाविष्टः, **अभिशस्तो**ऽभियुक्तो ब्रह्महत्यादिना, **रङ्गावतारी** चारणः। **पाखण्डिनो** निर्ग्रन्थप्रभृतयः । **कूटकृत्** कपटलेख्यादिकारी । **विकलेन्द्रियः** श्रोत्रादिरहितः, **पतितो** ब्रह्महादिः, **आप्तः** सुहृत्, **अर्थसंबन्धी** विप्रतिपद्यमानार्थसंबन्धी, **सहाय** एककार्यः, **रिपुः** शत्रुः, **तस्करः** स्तेनः, **साहसी** बलावष्टम्भकारी । **दृष्टदोषो** दृष्टविरुद्धवचनः, **निर्धूतो** बन्धुभिस्त्यक्तः, 'आद्य'शब्दादन्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां दोषादसाक्षिणां भेदादसाक्षिणां स्वयमुक्तेर्मृतान्तरस्य च ग्रहणम् । **एते स्त्रीबालादयः साक्षिणो न भवन्ति** ॥ ७०–७१ ॥

स्त्री, बालक, वृद्ध (८० वर्ष से ऊपर आयु का), जुवारी, मत्त (मद्यप), उन्मत्त (पागल), अभिशप्त (ब्रह्महत्यादि का दोषी), रङ्गावतारी (चारण), पाखण्डी, कपट लेख लिखने वाला, विकलेन्द्रिय (अन्धा, बहरा आदि), पतित (ब्रह्महत्यारा आदि), मित्र, धन देने वाला, सहायक, शत्रु, चोर, साहसी (बलपूर्वक अपहरण करने वाला), प्रत्यक्ष असत्य बोलने वाला, परिवार द्वारा परित्यक्त आदि साक्षी नहीं होते हैं ॥ ७०-७१ ॥

'त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः' (व्य० ६९) इत्यस्यापवादमाह—

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् ।

ज्ञानपूर्वकं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठायी **धर्मवित्** स **एकोऽप्युभयानुमतश्चेत्साक्षी भवति** । 'अपि'शब्दबलाद्द्वावपि । यद्यपि 'श्रौतस्मार्तक्रियापराः' (व्य०६९) इति त्र्यवराणामपि धर्मवित्त्वं समानं, तथापि तेषामुभयानुमत्यभावेऽपि साक्षित्वं भवति । एकस्य द्वयोर्वोभयानुमत्यैव साक्षित्वं भवतीत्येवमर्थंवत् 'त्र्यवर'ग्रहणम् ॥—

दोनों पक्षों के स्वीकार करने पर धर्मज्ञ एक व्यक्ति भी साक्षी होता है ॥७१$\frac{१}{२}$॥

'तपस्विनो दानशीलाः' (व्य० ६८) इत्यस्यापवादमाह—

सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे ॥ ७२ ॥

संग्रहणादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि **तेषु सर्वे** वचननिषिद्धास्तपःप्रभृतिगुणरहिताश्च **साक्षिणो भवन्ति**। दोषादसाक्षिणो भेदादसाक्षिणः स्वयमुक्तिश्चात्रापि साक्षिणो न भवन्ति; सत्याभावादिति हेतोरत्रापि विद्यमानत्वात् ।—'मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम् । पारुष्यमुभयं चेति साहसं स्याच्चतुर्विधम् ॥' (नारदः १४।१) इति वचनाद्यद्यपि स्त्रीसंग्रहणचौर्यपारुष्याणां साहसत्वं तथापि तेषां स्वबलावष्टम्भेन जनसमक्षं क्रियमाणानां साहसत्वम् । रहसि क्रियमाणानां तु 'संग्रहणादि'शब्दवाच्यत्वमिति तेषां साहसात्पृथगुपादानम् ॥ ७२ ॥

किन्तु एकान्त स्थान (संग्रहण) में की गई चोरी, कठोर वचन तथा साहस (हठपूर्वक किये गये) कार्य में सभी साक्षी हो सकते हैं ॥ ७२ ॥

साक्षिश्रावणमाह—

साक्षिणः श्रावयेद्वादिप्रतिवादिसमीपगान् ।

अर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ साक्षिणः समवेतान् 'नासमवेताः पृष्टाः प्रब्रूयुः' (१३।५) इति गौतमवचनात्, वक्ष्यमाणं **श्रावयेत्** । तत्रापि कात्यायनेन विशेषो दर्शितः—'सभान्तः साक्षिणः सर्वानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ । प्राड्विवाको नियुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् । देवब्राह्मणसांनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् । उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥' (मनुः ८।७९,८७) 'आहूय साक्षिणः पृच्छेन्नियम्य शपथैर्भृशम् । समस्तान्विदिताचारान्विज्ञातार्थान्पृथक्पृथक् ॥' (नारदः १।१९८) इति । तथा ब्राह्मणादिषु श्रावणे मनुना नियमो दर्शितः (८।११३)—'सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥' इति । ब्राह्मणमन्यथा ब्रुवतः[1] सत्यं ते नश्यतीति शापयेत् । क्षत्रियं वाहनायुधानि तव विफलानीति, गोबीजकाञ्चनादीनि तव विफलानि भविष्यन्तीति वैश्यम्, शूद्रमन्यथा ब्रुवतस्तव सर्वाणि पातकानि भविष्यन्तीति शापयेत् । अत्र चापवादस्तेनैव दर्शितः (८।१०२)—'गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् । प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान्शूद्रवदाचरेत् ॥' इति । 'विप्र'ग्रहणं क्षत्रियवैश्ययोरुपलक्षणार्थम् । कुशीलवा गायकाः । प्रतिवादिना साक्षिदूषणे दत्ते प्रत्यक्षयोग्यदूषणेषु बाल्यादिषु तथैव निर्णयः । अयोग्येषु तु तद्वचनाल्लोकतश्च निर्णयो न साक्ष्यन्तरेणेति नानवस्था । यदि साक्षिदोषमुद्भाव्य साधयितुं न शक्नोति प्रतिवादी, तदाऽसौ दोषा[2]नुसारेण दण्ड्यः । अथ साधयति, तदा न साक्षिणः । यथाह—'असाधयन्[3]दमं दाप्यो दूषणं साक्षिणां स्फुटम् । भाविते साक्षिणो वर्ज्याः साक्षिधर्मनिराकृताः ॥' इति । उद्दिष्टेषु च सर्वेषु साक्षिषु दुष्टेष्वर्थी यदा क्रिया-

न्तरनिरपेक्षस्तदा पराजितो भवति; 'जितः स विनयं दाप्यः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा। यदि वादी निराकाङ्क्षः साक्षिसत्ये व्यवस्थितः ॥' इति स्मरणात् । साकाङ्क्षश्चेत्क्रियान्तरमवलम्बेतेत्यभिप्रायः ॥—

वादी और प्रतिवादी के समीप स्थित साक्षियों को इस प्रकार सुनावे ॥७२$\frac{१}{२}$॥

कथं श्रावयेदित्यत आह—

ये[४] पातककृतां लोका महापातकिनां तथा ॥ ७३ ॥
अग्निदानां च ये लोका ये च स्त्रीबालघातिनाम् ।
स तान्सर्वानवाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ७४ ॥
सुकृतं यत्त्वया किंचिज्जन्मान्तरशतैः कृतम् ।
तत्सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे मृषा ॥ ७५ ॥

'पातकोपपातकमहापातककारिणामग्निदानां स्त्रीबालघातिनां च ये लोकास्तान्सर्वानसावाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदति । तथा[६] जन्मान्तरशतैर्यत्सुकृतं कृतं, तत्सर्वं तस्य भवति, य[७]स्तेऽनृतवदनेन पराजितो भवति' इति, 'इति श्रावयेत्' इति संबन्धः । एतच्च शूद्रविषयं द्रष्टव्यम्; 'शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः' (मनुः ८।१२३) इति शूद्रे सर्वपातकश्रा[१]वणस्य विहितत्वात् । गोरक्षकादिद्विजातिवि[३]षयं च; 'गोरक्षकान्वाणिजिकान्' (मनुः ८।१०२) इत्युक्तत्वात् । अ[३]न्यानेकजन्मार्जितसुकृतसंक्रमणस्य महापातकादिफलप्राप्तेश्चानृतवचनमात्रेणानुपपत्तेः, साक्षिसंत्रासार्थमिदमुच्यते । यथाह नारदः (१।२००)—'पुराणैर्धर्मवचनैः सत्यमाहात्म्यकीर्तनैः । अनृतस्यापवादैश्च भृशमुत्त्रासयेदिमान् ॥' इति ॥ ७३–७५ ॥

जो साक्षी असत्य बोलता है वह पाप करने वाले के लोक हैं, जो महापाप करने वालों के लोक (स्थान) हैं, आग लगाने वालों के जो लोक हैं और स्त्री तथा बालकों की हत्या करने वालों के लोक हैं उन सबको प्राप्त करता है। तुमने जो सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरों में पुण्य अर्जित किया है वह उसका समझो जिसे तुम असत्य (झूठ) पराजित कर रहे हो ॥ ७३-७५ ॥

यदा तु श्राविताः साक्षिणः कथंचिन्न ब्रूयुस्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

अब्रुवन्हि नरः साक्ष्यमृणं सदशबन्धकम् ।
राज्ञा सर्वं प्रदाप्यः स्यात्षट्[६]चत्वारिंशकेऽहनि ॥ ७६ ॥

यः साक्ष्यमङ्गीकृत्य श्रावितः सन् कथंचिन्न वदति स राज्ञा सर्वं सवृ-

द्धिकमृणं धनिने दाप्यः, **सदशबन्धकं** दशमांशसहितम् । दशमांशश्च राज्ञो भवति; 'राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधिताद्दशकं शतम्' (व्य० ४२) इत्युक्तत्वात् । एतच्च **षट्चत्वारिंशकेऽहनि** प्राप्ते वेदितव्यम् । ततोऽर्वागवदन्न दाप्यः, इदं च व्याध्याद्युपप्लवरहितस्य । यथाह मनुः (८।१०७)—'त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः । तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वशः ॥' इति । 'अगद' इति राजदैवोपप्लवविरहोपलक्षणम् ॥ ७६ ॥

जो व्यक्ति साक्ष्य स्वीकार कर किसी प्रकार न बोले उससे राजा सूद सहित सभी धन ऋण देने वाले को दिलावे और उसका दशमांश दण्ड के रूप में वसूले। ये सभी धन राजा छियालिसवें दिन दिलावे ॥ ७६ ॥

यस्तु जानन्नपि साक्ष्यमेव नाङ्गीकरोति दौरात्म्यात्तं प्रत्याह—

न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः ।
स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥ ७७ ॥

यः पुनर्नराधमो विप्रतिपन्नमर्थं विशेषतो **जानन्नपि साक्ष्यं न ददाति** नाङ्गीकरोति **स कूटसाक्षिणां तुल्यः पापैः दण्डेन च** । कूटसाक्षिणां च दण्डं वक्ष्यति । कूटसाक्षिणश्च दण्डयित्वा पुनर्व्यवहारः प्रवर्तनीयः । कृतोऽपि वा, कौटसाक्ष्ये विदिते निवर्तनीयः । यथाह मनुः (८।११७)—'यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥' इति ॥ ७७ ॥

जो नीच मनुष्य जानते हुये भी साक्ष्य नहीं देता है वह कूटसाक्षियों के पाप का भागी होता है और उन्हीं के तुल्य उसे दण्ड देना चाहिये ॥ ७७ ॥

साक्षिविप्रतिपत्तौ कथं निर्णय इत्यत आह—

द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा ।
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः ॥ ७८ ॥

साक्षिणां **द्वैधे** विप्रतिपत्तौ **बहूनां वचनं** ग्राह्यम् । **समेषु** समसंख्येषु द्वैधे ये **गुणिन**स्तेषां **वचनं** प्रमाणम् । यदा पुनर्गुणिनां विप्रतिपत्तिस्तदा **ये गुणवत्तमाः** श्रुताध्ययनतदर्थानुष्ठानधनपुत्रादिगुणसंपन्नास्तेषां **वचनं ग्राह्यम्** । यत्र तु गुणिनः कतिपये, इतरे च बहवस्तत्रापि गुणिनामेव वचनं ग्राह्यम्; 'उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्' (व्य० ७२) इति गुणातिशयस्य मुख्यत्वात् । यत्तु 'भेदादसाक्षिणः' (व्य० ६८।६९) इत्युक्तं, तत्सर्वसाम्येनागृह्यमाणविशेषविषयम् ॥ ७८ ॥

साक्षियों के वचनों में द्वैध (मतभेद) होने पर बहुतों (अधिक) के साक्ष्य को ग्रहण करना चाहिये, बराबर साक्ष्य होने पर गुणियों के साक्ष्य को अङ्गीकार करना चाहिये और गुणियों के साक्ष्य में भी द्वैध होने पर जो सर्वोत्तम गुणी हैं उनके साक्ष्य को ग्रहण करना चाहिये ॥ ७८ ॥

साक्षिभिश्च कथमुक्ते जयः कथं वा पराजय इत्यत आह—

यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत् ।
अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः ॥ ७९ ॥

यस्य वादिनः प्रतिज्ञां द्रव्यजातिसंख्यादिविशिष्टां साक्षिणः सत्यां वदन्ति सत्यमेवं जानीमो वयमिति स जयी भवति । यस्य पुनर्वादिनः प्रतिज्ञामन्यथा वैपरीत्येन मिथ्यैतदिति वदन्ति तस्य पराजयो ध्रुवो निश्चितः[1] । यत्र तु प्रतिज्ञातार्थस्य विस्मरणादिना भावाभावौ साक्षिणो न प्रतिपादयन्ति, तत्र प्रमाणान्तरेण निर्णयः कार्यः । नच राज्ञा साक्षिणः पुनः पुनः प्रष्टव्याः । स्वभावोक्तमेव वचनं ग्राह्यम् । यथाह—'स्वभावोक्तं वचस्तेषां ग्राह्यं यद्दोषवर्जितम् । उक्ते तु साक्षिणो राज्ञा न प्रष्टव्याः पुनः पुनः ॥' इति ॥ ७९ ॥

जिसकी प्रतिज्ञा (पक्ष) को साक्षी सत्य कहें वह विजयी होता है और जिसकी प्रतिज्ञा को वे असत्य कहें वह पराजित होता है ॥ ७९ ॥

'अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः' (व्य० ७९) इत्यस्यापवादमाह—

उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः ।
द्विगुणा वाऽन्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः ॥८०॥

पूर्वोक्तलक्षणैः **साक्षिभिः साक्ष्ये** स्वाभिप्राये[2] प्रतिज्ञातार्थवैपरीत्येनाभिहिते **यद्यन्ये** पूर्वेभ्यो **गुणवत्तमाः द्विगुणा वा अन्यथा** प्रतिज्ञातार्थाननुगुण्येन साक्ष्यं **ब्रूयुस्**तदा **पूर्वे साक्षिणः कूटा** मिथ्या[3]वादिनो **भवेयुः** । नन्वेतदनुपपन्नम्; अर्थिप्रत्यर्थिसभ्यसभापतिभिः परीक्षितैः प्रमाणभूतैः साक्षिभिर्निगदिते प्रमाणान्तरान्वेषणेऽनवस्थादोषप्रसङ्गात्—'निर्णिक्ते व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत् । लिखितं साक्षिणो वापि पूर्वमावेदितं न चेत् ॥', 'यथा पक्वेषु धान्येषु निष्फलाः प्रावृषो गुणाः । निर्णिक्तव्यवहाराणां प्रमाणमफलं तथा ॥' (मा० १।६३-६२) इति नारदवचनाच्च । उच्यते,—यदाऽर्थी प्रतिज्ञातार्थस्यान्तरात्मसाक्षित्वेनानाविष्कृतदोषाणामपि साक्षिणां वचनमर्थविसंवादित्वेनाप्रमाणं मन्यमानः साक्षिष्वपि दोषं कल्पयति तदा प्रमाणान्तरान्वेषणं केन वार्यते ? उक्तं च—'यस्य च दुष्टं[1] करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः' इति ॥ यथा चक्षुरादिकरणदोषानध्यवसायेऽप्यर्थविसंवादात्तज्जनितस्य ज्ञानस्या[2]प्रामाण्येन करणदोषकल्पना

तथेहापि; साक्षिपरीक्षातिरेकेण वाक्यपरीक्षोपदेशाच्च।—'साक्षिभिर्भाषितं वाक्यं सह सभ्यैः परीक्षयेत्' इति। कात्यायनेनाप्युक्तम्—'यदा शुद्धा क्रिया न्यायात्तदा तद्वाक्यशोधनम्। शुद्धाच्च वाक्याद्यः शुद्धः स शुद्धोऽर्थ इति स्थितिः॥' इति। क्रिया साक्षिलक्षणा, 'नार्थसंबन्धिनो नाप्ताः' (मनुः ८।६४) इति न्यायाद्यदा शुद्धा तदा तद्वाक्यशोधनं साक्षिवाक्यशोधनं कर्तव्यम्; वाक्यशुद्धिश्च सत्यार्थप्रतिपादनेन; 'सत्येन शुध्यते वाक्यम्' इति स्मरणात्। एवं शुद्धायाः क्रियायाः शुद्धवाक्याच्च यः शुद्धोऽवगतोऽर्थः स शुद्धस्तथाभूत इति स्थितिरीदृशी मर्यादा न्यायविदाम्। कारणदोषबाधकप्रत्ययाभावे सत्यवितथ एवार्थ इत्यर्थः। ननु स्वयमर्थिना प्रमाणीकृतान्साक्षिणोऽतिक्रम्य कथं क्रियान्तरं प्रमाणीक्रियते? नैष दोषः; यतः—'क्रियां बलवतीं मुक्त्वा दुर्बलां योऽवलम्बते। स जयेऽवधृते सभ्यैः पुनस्तां नाप्नुयात्क्रियाम्॥' इति कात्यायनेन जयावधारणोत्तरकालं क्रियान्तरपरिग्रहनिषेधाज्जयावधारणात्प्राक् क्रियान्तरपरिग्रहो दर्शितः। नारदेनापि (मा० १।६२)—'निर्णिक्ते व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत्' इति वदता जयावधारणोत्तरकालमेव प्रमाणान्तरं निषिद्धं न प्रागपि। तस्मादुक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्येऽपरितुष्यता क्रियान्तरमङ्गीकर्तव्यमिति स्थितम्। एवं स्थिते यद्यभिहितवचनेभ्यः साक्षिभ्यो गुणवत्तमा द्विगुणा वा पूर्वनिर्दिष्टा असन्निहिताः साक्षिणः सन्ति तदा त एव प्रमाणीकर्तव्याः; 'स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्' इत्यस्य सर्वव्यवहारशेषत्वात्, 'निर्णिक्ते व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत्। लिखितं साक्षिणो वापि पूर्वमावेदितं न चेत्॥' (मा० १।६२) इति नारदवचनाच्च। पूर्वनिर्दिष्टानामसंभवे त्वनिर्दिष्टा अपि तथाविधाः साक्षिण एव ग्राह्या न दिव्यम्; 'संभवे साक्षिणां प्राज्ञो वर्जयेद्दैविकीं क्रियाम्' इति स्मरणात्। तेषामसंभवे दिव्यं प्रमाणीकर्तव्यम्। अतःपरमपरितुष्यताप्यर्थिना न प्रमाणान्तरमन्वेषणीयमवचनादिति परिसमापनीयो व्यवहारः। यत्र तु प्रत्यर्थिनः स्वप्रत्ययविसंवादित्वेन साक्षिवचनस्याप्रामाण्यं मन्यमानस्य साक्षिषु दोषारोपणेनापरितोषस्तत्र प्रत्यर्थिनः क्रियोपन्यासावसराभावात्सप्ताहावधिकदैविकराजिकव्यसनोद्भवेन साक्षिपरीक्षणं कर्तव्यम्। तत्र च दोषावधारणे साक्षिणो विवादास्पदीभूतमृणं दाप्याः सारानुसारेण दण्डनीयाश्च। अथ दोषानवधारणं, तदा प्रत्यर्थिना तावता संतोष्टव्यम्। यथाह मनुः (८।१०८)—'यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः। रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः॥' इति। एतच्च 'यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत्' इत्यस्य अपरितुष्यत्प्रत्यर्थिविषयेऽपवादो द्रष्टव्यः। केचित्तु 'उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये' (व्य० ८०) इत्येतद्वचनमर्थिना निर्दिष्टेषु साक्षिष्वर्थ्यनुकूलमभिहितवत्सु यदि प्रत्यर्थी गुणवत्तमान्द्विगुणान्वाऽन्यान्साक्षिणः पूर्वोक्तविपरीतं संवादयति तदा पूर्ववादिनः साक्षिणः कूटा इति व्याचक्षते,—तदसत्; प्रत्यर्थिनः क्रियानुपपत्तेः। तथा हि—अर्थी नाम साध्यस्यार्थस्य निर्देष्टा, तत्प्रतिपक्षस्तदभाववादी प्रत्यर्थी, तत्राभावस्य भात्रसिद्धिसापेक्षसिद्धित्वाद्भावस्य चाभावसिद्धिनिरपेक्षसिद्धित्वाद्भाव-

स्यैव साध्यत्वं युक्तम्; अभावस्य[3] स्वरूपेण साक्ष्यादिप्रमेयत्वाभावात्। अतश्चार्थिन एव क्रिया युक्ता । अपि चोत्तरानुसारेण सर्वत्रैव क्रिया नियता स्मर्यते; 'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्। मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत् ॥' इति। न चैकस्मिन्व्यवहारे द्वयोः क्रिया; 'नचैकस्मिन्विवादे तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोः' इति स्मरणात् । तस्मात्प्रतिवादिनः साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वाऽन्यथा ब्रूयुरित्यनुपपन्नम् ॥ अथ मतम्—यत्र द्वावपि भावप्रतिज्ञावादिनौ 'मदीयमिदं दायादप्राप्तं मदीयमिदं दायादप्राप्त'मिति प्रतिज्ञावादिनोः पूर्वापरकालविभागानाकलितमेव वदतस्तत्र द्वयोः साक्षिषु सत्सु कस्य साक्षिणो ग्राह्या इत्याकाङ्क्षायां—'द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु। पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः ॥' इति वचनेन यः पूर्वं निवेदयति, तस्य साक्षिणो ग्राह्या इति स्थिते, तस्यापवादः–'उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये' इति । अतश्च पूर्वोक्तयोर्वादिनोः समसंख्येषु समगुणेषु साक्षिषु सत्सु पूर्ववादिन एव साक्षिणः प्रष्टव्याः। यदा तु उत्तरवादिनः साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वा तदा प्रतिवादिनः साक्षिणः प्रष्टव्याः। एवं च नाभावस्य साध्यता; उभयोरपि भाववादित्वात्, चतुर्विधोत्तरविलक्षणत्वाच्च प्रकृतोदाहरणे न क्रियाव्यवस्था। एकस्मिन्व्यवहारे तु यथैकस्यार्थिनः क्रियाद्वयं परमते तथा वादिप्रतिवादिनोः क्रियाद्वयेऽप्यविरोध इति । तदर्थ्या[6]चार्यो नानुमन्यते—'उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये' इत्यपिशब्दादर्थात्प्रकरणाद्वाऽस्यार्थस्यानवगमादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ ८० ॥

साक्षियों द्वारा साक्ष्य कह देने पर यदि दूसरे श्रेष्ठ गुण वाले या (पहले के साक्षियों के) दुगुने व्यक्ति उनके साक्ष्य के उलटा कहें तो पहले के साक्षी कूटसाक्षी होते हैं ॥ ८० ॥

कूटसाक्षिणो दर्शितास्तेषां दण्डमाह—

पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा ।
विवादाद्द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः ॥ ८१ ॥

यो धनदानादिना कूटान्साक्षिणः करोति स कूटकृत्, साक्षिणश्च ये तथा कूटास्ते विवादान्नाम विवादपराजयात्पराजये यो दण्डस्तत्र तत्रोक्तस्तं दण्डं द्विगुणं पृथक्पृथगेकैकशो दण्डनीयाः। ब्राह्मणस्तु विवास्यो राष्ट्राद्विवास्यः, [2]न दण्डनीयः। एतच्च लोभादिकारणविशेषापरिज्ञाने अनभ्यासे च [3]वेदितव्यम्। लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽभ्यासे च मनुनोक्तम् (८।१२०–२१)—'लोभात्सहस्रं दण्ड्यः स्यान्मोहात्पूर्वं तु साहसम्। भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्र्या[2]त्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्। अज्ञानाद्द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥' इति। तत्र लोभोऽर्थलिप्सा, मोहो विपर्ययज्ञानम्, भयं संत्रासः, मैत्री स्नेहातिशयः, कामः स्त्रीव्यतिकराभिलाषः, क्रोधोऽमर्षः।

अज्ञानमस्फुटज्ञानम्, बालिश्यं ज्ञानानुत्पादः । सहस्रादिषु ताम्रिकाः पणा गृह्यन्ते । तथा (मनुः ८।१२३)—'कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः । प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥' इति, एतच्चाभ्यासविषयम्; कुर्वाणानिति[३] वर्तमाननिर्देशात् । त्रीन्वर्णान्क्षत्रियादीन् पूर्वोक्तं दण्डं दण्डयित्वा प्रवासयेन्मारयेत् । अर्थशास्त्रे 'प्रवास'शब्दस्य मारणे प्रयोगात्, अस्य चार्थशास्त्ररूपत्वात् । तत्रापि प्रवासनमोष्ठच्छेदनं जिह्वाच्छेदनं प्राणवियोजनं च कौटसाक्ष्यविषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणं तु दण्डयित्वा विवासयेत् स्वराष्ट्रान्निष्कासयेत् । यद्वा,—वाससो विगतो विवासाः । विवाससं करोतीति णिचि कृते 'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य' इति टिलोपे रूपम् । विवासयेत् नग्नीकुर्यादित्यर्थः । अथवा वसत्यस्मिन्निति वासो गृहम् । विवासयेत् भग्नगृहं कुर्यादित्यर्थः । ब्राह्मणस्यापि लोभादिकारणविशेषापरिज्ञानेऽनभ्यासे च तत्र तत्रोक्तो दण्ड एव । अभ्यासे त्वर्थदण्डो विवासनं च । तत्रापि जातिद्रव्यानुबन्धाद्यपेक्षया विवासनं नग्नीकरणं गृहभङ्गो देशान्निर्वासनं चेति व्यवस्था द्रष्टव्या । लोभादिकारणविशेषापरिज्ञानेऽनभ्यासे चाल्पविषये कौटसाक्ष्ये ब्राह्मणस्यापि क्षत्रियादिवदर्थदण्ड एव । महाविषये तु देशान्निर्वासनमेव । अत्राप्यभ्यासे सर्वेषामेव मनूक्तं द्रष्टव्यम् । नच ब्राह्मणस्यार्थदण्डो नास्तीति मन्तव्यम् । अर्थदण्डाभावे शारीरदण्डे च निषिद्धे स्वल्पेऽप्यपराधे नग्नीकरणगृहभङ्गाङ्ककरणविप्रवासनं दण्डाभावो वा प्रसज्येत; 'चतुर्णामपि वर्णानां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् । शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥' इति स्मरणाच्च । तथा (मनुः ८।३७८)—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन्' इति स्मरणात् । यत्तु शङ्खवचनम्—'त्रयाणां वर्णानां धनापहारवधबन्धक्रिया विवासनाङ्ककरणं ब्राह्मणस्य' इति, तत्र धनापहारः सर्वस्वापहारो विवक्षितः वधसाहचर्यात्; 'शारीरस्त्ववरोधादिर्जीवितान्तः[१] प्रकीर्तितः । काकिण्या[२]दिस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्तस्तथैव च ॥'(नारदः परि०५४) इति वधसर्वस्वहरणयोः सहपाठात् । यदप्युक्तम्—'राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम्' इति, तत्प्रथमकृतसाहसविषयं; न सर्वविषयम् । शारीरस्तु ब्राह्मणस्य न कदाचिद्भवति । 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्' (मनुः ८।३८०) इति सामान्येन मनुस्मरणात् । तथा मनुः (८।३८१)—'न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि । तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥' इति ॥ ८१ ॥

जो (धन-दानादि के द्वारा) साक्षियों को नियुक्त करे वह कूटकृत् होता है । ऐसा कूटकृत् तथा कूटसाक्षी– ये दोनों विवाद के धन से दुगुना दण्ड पाते हैं, यदि इनमें कोई ब्राह्मण है तो उसे राज्य से निकाल दे ॥ ८१ ॥

जानतः साक्ष्यानङ्गीकारे आह—

यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो निह्नुते तत्तमोवृतः ।
स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ ८२ ॥

अपि च, यस्तु साक्षित्वमङ्गीकृत्यान्यैः साक्षिभिः सह **साक्ष्यं श्रावितः** [3]सन्निगदनकाले **तमोवृतो** रागाद्याक्रान्तचित्तस्तत्**साक्ष्यमन्येभ्यः** साक्षिभ्यो **निह्नुते**—'नाहमत्र साक्षी भवामि' इति, स विवादपराजये यो दण्डस्तं **दण्डमष्टगुणं दाप्यः** । **ब्राह्मणं** पुनरष्टगुणद्रव्यदण्डदानासमर्थं **विवासयेत्** । विवासनं च नग्नीकरणगृहभङ्गदेशनिर्वासनलक्षणं विषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । इतरेषां त्वष्टगुण[1]द्रव्यदण्डदानासंभवे स्वजात्युचितकर्मकरणनिगडबन्धनकारागृहप्रवेशादि द्रष्टव्यम् । एतच्च पूर्वश्लोकेऽप्यनुसर्तव्यम् । यदा सर्वे साक्ष्यं निह्नुवते तदा सर्वे समानदोषाः । यदा तु साक्ष्यमुक्त्वा पुनरन्यथा वदन्ति, तदा[4]नुबन्धाद्यपेक्षया दण्ड्याः । यथाह कात्यायनः—'उक्त्वाऽन्यथा ब्रुवाणाश्च दण्ड्याः स्युर्वाक्छलान्विताः' इति । न चान्येनोक्ताः साक्षिणोऽन्येन रहस्यनुसर्तव्याः । यथाह नारदः (१।१६५)—'न परेण समुद्दिष्टमुपेयात्साक्षिणं रहः । भेदयेन्नैव चान्येन [2]हीयेतैवं समाचरन् ॥' इति ॥ ८२ ॥

जो साक्षी (साक्षी होना स्वीकार करके) साक्ष्य (शपथ) सुनाये जाने पर रागादि के वशीभूत होकर अन्य साक्षियों से छिपाता है अर्थात् यह कहे कि 'मैं साक्षी नहीं हूँ' उसे (विवाद के हारने पर जो दण्ड हो उसका) आठगुना दण्ड लिया जाय और यदि ब्राह्मण हो तो देश से निकाल दिया जाय ॥ ८२ ॥

साक्षिणामवचनमसत्यवचनं च सर्वत्र प्रतिषिद्धं, तदपवादार्थमाह—

वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्य[3]नृतं वदेत् ।

यत्र वर्णिनां शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां सत्यवचनेन **वधः** संभाव्यते **तत्र** [5]**साक्ष्यनृतं वदेत्** सत्यं न वदेत् । अनेन च सत्यवचनप्रतिषेधेन साक्षिणः पूर्वप्रतिषिद्धमसत्यवचनमवचनं चाभ्यनुज्ञायते । यत्र शङ्काभियोगादौ सत्यवचने वर्णिनो वधोऽनृतवचने न कस्यापि वधस्तत्रानृतवचनमभ्यनुज्ञायते । यत्र तु सत्यवचनेऽर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरस्य वधोऽसत्यवचने चान्यतरस्य वधस्तत्र तूष्णींभावाभ्यनुज्ञा राजा यद्यनुमन्यते । अथ राजा कथमप्यकथने न मुञ्चति तदा भेदादसाक्षित्वं कर्तव्यम् । तस्याप्यसंभवे सत्यमेव वदितव्यम् । अस[1]त्यवचने वर्णिवधदोषोऽसत्यवचनदोषश्च । सत्यवचने तु वर्णिवधदोष एव, तत्र च यथाशास्त्रं प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् ॥–

जहाँ (सत्य साक्षी से) चारों वर्णों में से किसी का वध होता है वहाँ साक्षी अनृत बोले ॥८२$\frac{१}{२}$ ॥

तर्ह्यसत्यवचने तूष्णींभावे च शास्त्राभ्यनुज्ञानात्प्रत्यवायाभाव इत्यत आह—

तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥ ८३ ॥

तत्पावनाय अनृतवचनावचननिमित्तप्रत्यवायपरिहाराय **सारस्वतश्चरुर्द्विजैरेकैकशो निर्वाप्यः** कर्तव्यः । सरस्वती देवता अस्येति सारस्वतः । अनवस्रावितान्तरूष्मपक्वौदने 'चरु'शब्दः प्रसिद्धः । इहायमभिसन्धिः—'साक्षिणामनृतवचनमवचनं च यन्निषिद्धं तदिहाभ्यनुज्ञातम् । यत्तु—'नानृतं वदेत् । अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी' (मनुः ८।१३) इति सामान्येनानृतवचनमवचनं च प्रतिषिद्धं तदतिक्रमनिमित्तमिदं प्रायश्चित्तम् । नच मन्तव्यं साक्षिणामनृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानेऽपि साधारणानृतवचनावचनप्रतिषेधातिक्रमनिमित्तकप्रत्यवायस्य तादवस्थ्यादभ्यनुज्ञावचनमनर्थकमिति । यतः साक्ष्यनृतवचनावचनयोर्भूयान्प्रत्यवायः साधारणानृतवचनावचनयोरल्पीयानित्यर्थवदभ्यनुज्ञावचनम् । यद्यपि भूयसः प्रत्यवायस्य निवृत्त्या आनुषङ्गिकस्याल्पीयसः प्रत्यवायस्य निवृत्तिरन्यत्र तथापीहाभ्यनुज्ञावचनात्प्रायश्चित्तविधानाच्च भूयसो निवृत्त्याल्पीयानप्यानुषङ्गिकोऽपि प्रत्यवायो न निवर्तत इति गम्यते । एतदेवान्यत्र प्रश्नेषु वर्णिवधाशङ्कायां पान्थादीनामनृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानं वेदितव्यम् । नच तत्र प्रायश्चित्तमस्ति; प्रतिषेधान्तराभावात् । निमित्तान्तरेण कालान्तरेऽर्थतत्त्वावगमेऽपि साक्षिणामन्येषां च दण्डाभावोऽस्मादेव वचनादवगम्यत इति ॥ ८३ ॥

उसकी शुद्धि के लिये द्विज सारस्वत चरु का निर्वपण करे ॥ ८३ ॥

इति साक्षिप्रकरणम् ।

अथ लेख्यप्रकरणम् ६

भुक्तिसाक्षिणौ निरूपितौ, सांप्रतं लेख्यं निरूप्यते । तत्र लेख्यं द्विविधम्—शासनं जानपदं चेति । शासनं निरूपितम् । जानपदमभिधीयते । तच्च द्विविधम्—स्वहस्तकृतमन्यकृतं चेति । तत्र स्वहस्तकृतमसाक्षिकं, अन्यकृतं ससाक्षिकम् अनयोश्च देशाचारानुसारेण प्रामाण्यम् । यथाह नारदः (१।१३५)—'लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्ताऽन्यकृतं तथा । असाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः ॥' इति । तत्रान्यकृतमाह—

यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरुच्या तु परस्परम् ।
लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन्धनिकपूर्वकम् ॥ ८४ ॥

धनिकाधमर्णयोर्योऽर्थो हिरण्यादिः **परस्परं स्वरुच्या** 'इयता कालेनैतावद्देयम्', 'इयती च प्रतिमासं वृद्धिः' इति **निष्णातो** व्यवस्थितः **तस्मिन्नर्थे** कालान्तरे विप्रतिपत्तौ वस्तुतत्त्वनिर्णयार्थं **लेख्यं साक्षिमद्**ुक्तलक्षणसाक्षियुक्तं **धनिकपूर्वकं** धनिकः पूर्वो यस्मिंस्तद्धनिकपूर्वकम् । धनिकनामलेखनपूर्वक-

मिति यावत्। **कार्यं कर्तव्यम्**। उक्तलक्षणाः साक्षिणो वा कर्तव्याः; 'कर्ता तु यत्कृतं कार्यं सिद्ध्यर्थं तस्य साक्षिणः। प्रवर्तन्ते विवादेषु स्वकृतं वाऽथ लेख्यकम्॥' इति स्मरणात्॥ ८४॥

यदि कोई अर्थ (विषय) (धनी और ऋणी के मध्य) अपनी इच्छा के अनुसार तय हुई है (कि सूद की दर क्या है, कब लौटेगा इत्यादि) तो साक्षियों के सामने उसे लिख देना चाहिये और धनी (ऋणदाता) का नामोल्लेख होना चाहिये॥८४॥

समामासतदर्धाहर्नामजातिस्वगोत्रकैः।
सब्रह्मचारिकात्मीयपितृनामादिचिह्नितम्॥ ८५॥

अपि च, **समा** संवत्सरः, **मास**श्चैत्रादिः, **तदर्धं** पक्षः—शुक्लः कृष्णो वा, **अह**स्तिथिः प्रतिपदादिः, **नाम** धनिकर्णिकयोः, **जाति**र्ब्राह्मणत्वादिः, **स्वगोत्रं** वासिष्ठादिगोत्रम्, एतैः समादिभिश्चिह्नितम्, तथा **सब्रह्मचारिकं** बह्वृचादिशाखाप्रयुक्तं गुणनाम बह्वृचः कठ इति। **आत्मीयपितृनाम** धनिकर्णिकपितृनाम, 'आदि'ग्रहणाद्द्रव्यजातिसंख्याचारादेर्ग्रहणम्। 'एतैश्च चिह्नितं लेख्यं कार्यम्' इति गतेन संबन्धः॥ ८५॥

वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम, जाति और गोत्र का नामोल्लेख होना चाहिये। (कठ, तित्तिर, माध्यन्दिन, बह्वृच आदि) वेद तथा शाखा, धनी और ऋणी का पितृनाम इत्यादि का उल्लेख होना चाहिये॥ ८५॥

समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत्।
मतं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम्॥ ८६॥

किंच, धनिकाधमर्णयोर्योऽर्थः स्वरुच्या व्यवस्थितस्तस्मिन्नर्थे **समाप्ते** लिखिते **ऋणी** अधमर्णो नामात्मीयं स्वहस्तेनास्मिँल्लेख्ये यदुपरि लेखितं तन्ममामुकपुत्रस्य मतं अभिप्रेतमिति **निवेशयेत्** पत्रे विलिखेत्॥ ८६॥

सब विषय लिखे जाने के बाद ऋणी अन्त में अपना नाम अपने हाथ से लिखे और यह भी लिखे कि 'इसमें जो लिखा है वह अमुक व्यक्ति के पुत्र मुझको सम्मत है'॥ ८६॥

साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम्।
अत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति ते समाः॥ ८७॥

तथा, तस्मिँल्लेख्ये ये **साक्षिणो** लिखितास्तेऽप्यात्मीयपितृनामलेखनपूर्वकं अस्मिन्नर्थेऽयममुको देवदत्तः **साक्षी इति स्वहस्तेनै**कैकशो **लिखेयुः**।

ते च समाः संख्यातो गुणतश्च कर्तव्याः । यद्यधमर्णः साक्षी वा लिपिज्ञो नं भवति तदाधमर्णोऽन्येन साक्षी च साक्ष्यन्तरेण सर्वसाक्षिसंनिधौ स्वमतं लेखयेत् । यथाह नारदः—'अलिपिज्ञ ऋणी यः स्यात्स्वमतं तु स लेखयेत् । साक्षी वा साक्षिणाऽन्येन सर्वसाक्षिसमीपतः ॥' इति ॥ ८७ ॥

साक्षी भी अपने हाथ से अपने पिता के नामोल्लेख के साथ यह लिखें कि 'यहाँ मैं अमुक व्यक्ति साक्षी हूँ' । ते साक्षी संख्या और गुण में सम हों ॥ ८७ ॥

उभयाभ्यर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना ।
लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत् ॥ ८८ ॥

अपि च, ततो लेखक उभाभ्यां धनिकाधमर्णिकाभ्यां प्रार्थितेन मयाऽमुकेन देवदत्तेन विष्णुमित्रसूनुना एतल्लेख्यं लिखितमित्यन्ते लिखेत् ८८

और उसके बाद अन्त में लेखक लिखे– दोनों के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर अमुक का पुत्र मुझ अमुक व्यक्ति ने इसे लिखा है ॥ ८८ ॥

सांप्रतं स्वकृतं लेख्यमाह—

विनापि साक्षिभिर्लेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत् ।
तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यं बलोपधिकृतादृते ॥ ८९ ॥

यल्लेख्यं स्वहस्तेन लिखितमधमर्णेन तत्साक्षिभिर्विनापि प्रमाणं स्मृतं मन्वादिभिः । बलोपधिकृतादृते बलेन बलात्कारेण उपधिना छललोभक्रोधभयमदादिलक्षणेन यत्कृतं तस्माद्विना । नारदोऽप्याह (१।१३७)—'मत्ताभियुक्तस्त्रीबालबलात्कारकृतं च यत् । तदप्रमाणं लिखितं भयोपधिकृतं तथा ॥' इति । तच्चैतत्स्वहस्तकृतं परहस्तकृतं च यल्लेख्यं देशाचारानुसारेण सबन्धकव्यवहारेऽबन्धकव्यवहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिप्यक्षरापरिलोपेन च लेख्यमित्येतावत् न पुनः साधुशब्दैरेव, प्रातिस्विकदेशभाषयापि लेखनीयम् । यथाह नारदः (१।१३६)—'देशाचाराविरुद्धं यद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम् । तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यमविलुप्तक्रमाक्षरम् ॥' इति । विधानं विधिः, आधेर्विधिराधिविधिराधीकरणं तस्य लक्षणं गोप्याधिभोग्याधिकालकृतमित्यादि तद्व्यक्तं विस्पष्टं यस्मिंस्तद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम् । अविलुप्तक्रमाक्षरम् । अर्थानां क्रमः क्रमश्चाक्षराणि च क्रमाक्षराणि अविलुप्तानि क्रमाक्षराणि यस्मिंस्तदविलुप्तक्रमाक्षरं । तदेवंभूतं लेख्यं प्रमाणम् । राजशासनवन्न साधुशब्दनियमोऽत्रेत्यभिप्रायः ॥ ८९ ॥

जो लेख अपने हाथ से लिखा है यदि वह बलपूर्वक या उपधि (छल, भय, लोभ, क्रोध, मदादि) से न लिखा हो तो साक्षियों के बिना भी प्रमाण माना गया है ॥ ८९ ॥

लेख्यप्रसङ्गेन लेख्यारूढमप्यृणं त्रिभिरेव देयमित्याह—

ऋणं लेख्यकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु ।

यथा साक्ष्यादिकृतमृणं त्रिभिरेव देयं, तथा लेख्यकृतमप्याहर्तृ[1]तत्पुत्रतत्पुत्रैस्त्रिभिरेव देयं, न चतुर्थादिभिरिति नियम्यते। ननु 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इत्यविशेषेण ऋणमात्रं त्रिभिरेव देयमिति नियतमेव। बाढम्। अस्यैवोत्सर्गस्य पत्रारूढर्णविषये स्मृत्यन्तरप्रभवामपवादशङ्कामपनेतुमिदं वचनमारब्धम्। तथा हि—पत्रलक्षणमभिधाय कात्यायनेनाभिहितम्—'एवं कालमतिक्रान्तं पितॄणां दाप्यते ऋणम्' इति। इत्थं पत्रारूढमृणमतिक्रान्तकालमपि पितॄणां[2] संबन्धि दाप्यते। अत्र 'पितॄणाम्' इति बहुवचननिर्देशात्कालमतिक्रान्तमिति वचनाच्चतुर्थादिर्दाप्य इति प्रतीयते। तथा हारीतेनापि—'लेख्यं यस्य भवेद्धस्ते लाभं तस्य विनिर्दिशेत्' इति। अत्रापि यस्य हस्ते लेख्य (पत्र) मस्ति तस्यर्णलाभः इति सामान्येन चतुर्थादिभ्योऽप्यृणलाभोऽस्तीति प्रतीयते। अतश्चैतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमेतद्वचनमित्युक्तम्। वचनद्वयं च योगीश्वरवचनानुसारेण योजनीयम् ॥—

अस्यापवादमाह—

आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते ॥ ९० ॥

सबन्धकेऽपि [3]पत्रारूढं ऋणं त्रिभिरेव देयमिति नियमादृणापाकरणानधिकारेर्णाँ[4]ध्याहरणेऽप्यनधिकारप्राप्ताविदमुच्यते। यावच्चतुर्थेन पञ्चमेन वा ऋणं न दीयते तावदेवाधिर्भुज्यत इति वदता सबन्धकर्णापाकरणे चतुर्थादेरप्यधिकारो दर्शितः। नन्वेतदप्युक्तमेव 'फलभोग्यो न नश्यति' (व्य० ५८) इति। सत्यम्। तदप्येतस्मिन्नसत्यपवादवचने पुरुषत्रयविषयमेव स्यादिति सर्वमनवद्यम् ॥ ९० ॥

लिखा गया ऋण तीन पीढ़ी तक ही देय होता है और आधि (बन्धक) का तभी तक उपभोग होता है जब तक कि वह ऋण न लौटा दिया जाय ॥ ९० ॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमेवानुसरति—

देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा ।
भिन्ने दग्धेऽथवा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयेत् ॥ ९१ ॥

व्यवहाराक्षमे पत्रे पत्रान्तरं कुर्यादिति विधीयते। व्यवहाराक्षमत्वं चात्यन्तव्यवहितदेशान्तरस्थे पत्रे दुर्लेख्ये दुष्टानि संदिह्यमानानि अवाचकानि वा लेख्यानि लिप्यक्षराणि पदानि वा यस्मिंस्तत् दुर्लेख्यं तस्मिन्दुर्लेख्ये, नष्टे कालवशेन, उन्मृष्टे मषीदौर्बल्यादिना मृदितलिप्यक्षरे, हृते तस्करादिभिः, भिन्ने विदलिते, दग्धे अग्निना प्रज्वलिते, छिन्ने द्विधाभूते सति पैत्रं द्विर्भवति। एतच्चार्थिप्रत्यर्थिनोः परस्परानुमतौ सत्याम्। विमत्यां तु व्यवहारप्राप्तौ देशान्तरस्थपत्रानयना[3]-

याध्यापेक्षया कालो दातव्यः । [४]दुर्गदेशावस्थिते नष्टे वा पत्रे साक्षिभिरेव व्यवहारनिर्णयः कार्यः । यथाह नारदः (१।१४२)—'लेख्ये देशान्तरन्यस्ते शीर्णे दुर्लिखिते हृते । सतस्तत्कालकरणमसतो [५]द्रष्टृदर्शनम् ॥' इति । सतो विद्यमानस्य पत्रस्य देशान्तरस्थस्यानयनाय कालकरणं कालावधिर्दातव्यः । असतः पुनरविद्यमानस्य पत्रस्य पूर्वं ये द्रष्टारः साक्षिणस्तैर्दर्शनं [६]व्यवहारपरिसमापनं कार्यम् । यदा तु साक्षिणो न सन्ति तदा दिव्येन निर्णयः कार्यः—'अलेख्यसाक्षिके दैवीं व्यवहारे विनिर्दिशेत्' इति स्मरणात् । एतच्च जानपदं व्यवस्थापत्रम् । राजकीयमपि व्यवस्थापत्रमीदृशमेव भवति । इयांस्तु विशेषः—'राज्ञः स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिह्नितं तथा । राजकीयं स्मृतं लेख्यं सर्वेष्वर्थेषु साक्षिमत् ॥' इति । तथान्यदपि राजकीयं जयपत्रकं वृद्धवसिष्ठेनोक्तम्—'यथोपन्यस्तसाध्यार्थसंयुक्तं सोत्तरक्रियम् । सावधारणकं चैव जयपत्रकमिष्यते ॥ प्राड्विवाकादिहस्ताङ्कं मुद्रितं राजमुद्रया । सिद्धेऽर्थे वादिने दद्याज्जयिने जयपत्रकम् ॥' इति । तथा सभासदोऽपि मतं मेऽमुकपुत्रस्येति स्वहस्तं दद्युः ।—'सभासदश्च ये तत्र स्मृतिशास्त्रविदः स्थिताः । यथालेख्यविधौ तद्वत्स्वहस्तं दद्युरेव ते ॥' इति स्मरणात् । सभासदां च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण न व्यवहारो निःशल्यो भवति । यथाह नारदः—'यत्र सभ्यो जनः सर्वः साध्वेतदिति मन्यते । स निःशल्यो विवादः स्यात्सशल्यस्त्वन्यथा भवेत् ॥' इति । एतच्चतुष्पाद्व्यवहार एव ।—'साधयेत्साध्यमर्थं यच्चतुष्पादान्वितं च यत् । राजमुद्रान्वितं चैव जयपत्रकमिष्यते ॥' (कात्यायनः ?) इति स्मरणात् । यत्र तु हीनता । यथा—'अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः । आहूतप्रपलायी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥' (नारदः मा० २।३३) इति । तत्र न जयपत्रकमस्ति, अपि तु हीनपत्रकमेव । तच्च कालान्तरे दण्डप्राप्त्यर्थं, जयपत्रं तु प्राङ्न्यायविधिसिद्ध्यर्थमिति विशेषः[२] ॥ ९१ ॥

लेख के देशान्तर में होने पर, पढ़ने योग्य न रहने पर, खो जाने पर, मिट जाने पर, चुरा लिये जाने पर, जीर्ण हो जाने पर, जल जाने पर अथवा फट जाने पर दूसरा लेख लिखाया जाय ॥ ९१ ॥

लेख्यसंदेहे निर्णयनिमित्तान्याह—

[१]संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः ।
युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः ॥ ९२ ॥

'शुद्धमशुद्धं वा' इति संदिग्धस्य लेख्यस्य शुद्धिः स्वहस्तलिखितादिभिः स्यात् । स्वहस्तेन लिखितं यल्लेख्यान्तरं तेन शुद्धिः । यदि सदृशान्यक्षराणि भवन्ति तदा शुद्धिः स्यादित्यर्थः । 'आदि'शब्दात् साक्षिलेखकस्वहस्तलिखितान्तरसंवादाच्छुद्धिरिति । युक्त्या प्राप्तिर्युक्तिप्राप्तिः, देशकालपुरुषाणां द्रव्येण सह संबन्धः प्राप्तिः । 'अस्मिन्देशेऽस्मिन्कालेऽस्य पुरुषस्येदं द्रव्यं घटते' इति

युक्तिप्राप्तिः, **क्रिया** तत्साक्ष्युपन्यासः, **चिह्नम**साधारणं श्रीकारादि, '**संबन्धो**ऽर्थिप्रत्यर्थिनोः पूर्वमपि परस्परविश्वासेन दानग्रहणादिसंबन्धः, **आगमो**ऽस्यैतावतोऽर्थस्य संभावितः प्राप्त्युपायः, एते एव **हेतवः** । एभिर्हेतुभिः संदिग्धलेख्यस्य शुद्धिः स्यात्' इत्यन्वयः । यदा तु लेख्यसंदेहे निर्णयो न जायते तदा साक्षिभिर्निर्णयः कार्यः । यथाह कात्यायनः—'दूषिते पत्रके वादी तदारूढांस्तु निर्दिशेत्' इति । साक्षिसंभवविषयमिदं वचनम् । साक्ष्यसंभवविषयं तु हारीतवचनम्—'न मयैतत्कृतं पत्रं कूटमेतेन कारितम् । अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णयः ॥' इति ॥ ९२ ॥

संदिग्ध लेख की शुद्धि अपने हाथ से लिखे, दूसरे लेख से युक्ति-प्राप्ति (देश, काल और व्यक्तियों का द्रव्य से संबन्ध), क्रिया (उसके साक्षी का विधान), चिह्न (जो असामान्य चिह्न है), संबन्ध (धनी और ऋणी का पारस्परिक संबन्ध) और आगम (द्रव्य-प्राप्ति का उपाय) हेतुओं से होती है ॥ ९२ ॥

एवं शोधिते पत्रे ऋणे च दातव्ये प्राप्ते यदा कृत्स्नमेव ऋणं दातुमसमर्थस्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्दत्त्वा दत्त्वर्णिको धनम् ।
धनी वोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम् ॥ ९३ ॥

यदाऽधमर्णिकः सकलमृणं दातुमसमर्थस्तदा शक्त्यनुसारेण दत्त्वा पूर्वकृतस्य **लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत्** 'एतावन्मया दत्तम्' इति । **उत्तमर्णो वा उपगतं** प्राप्तं धनं तस्यैव लेख्यस्य **पृष्ठे दद्या**दभिलिखेत्—'एतावन्मया लब्धम्' इति । कथम्? **स्वहस्तपरिचिह्नितं** स्वहस्तलिखिताक्षरचिह्नितम् । यद्वा,—**उपगतं** प्रवेशपत्रं स्वहस्तलिखितचिह्नितमधमर्णायोत्तमर्णो **दद्यात्** ॥ ९३ ॥

ऋण धन को लौटा-लौटा कर लेख के पीछे लिख दिया करे, धनी भी धन प्राप्त कर अपने हाथ से चिह्नित (हस्ताक्षर युक्त) प्राप्तिपत्र दे ॥ ९३ ॥

ऋणे तु कृत्स्ने दत्ते लेख्यं किं कर्तव्यमित्यत आह—

दत्त्वर्णं पाटयेल्लेख्यं शुद्ध्यै वाऽन्यत्तु कारयेत् ।

क्रमेण सकृदेव वा कृत्स्नमृणं **दत्त्वा** पूर्वकृतं **लेख्यं पाटयेत्** । यदा तु दुर्गदेशावस्थितं लेख्यं नष्टं वा तदा **शुद्ध्यै** अधमर्णत्वनिवृत्त्यर्थमन्यल्लेख्यं **कारये**दुत्तमर्णेनाधमर्णः । पूर्वोक्तक्रमेणोत्तमर्णो विशुद्धिपत्रमधमर्णाय दद्यादित्यर्थः ॥—

ऋण लौटा कर लेख को काट दे (या यदि लेख अन्यत्र हो या नष्ट हो गया है तो ऋणत्व-निवृत्तिसूचक) अन्य लेख लिखा दे ॥ ९३½ ॥

ससाक्षिके ऋणे कृत्स्ने दातव्ये किं कर्तव्यमित्यत आह—

साक्षिमच्च भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकम् ॥ ९४ ॥

यत्तु ससाक्षिकमृणं तत्पूर्वसाक्षिसमक्षमेव दद्यात् ॥ ९४ ॥

जो ऋण साक्षियों के सामने लिया गया हो उन्हें साक्षियों के सामने लौटाना चाहिये ॥ ९४ ॥

इति लेख्यप्रकरणम् ।

अथ दिव्यप्रकरणम् ७

लिखितसाक्षिभुक्तिलक्षणं त्रिविधं मानुषं प्रमाणमुक्तम् । अथावसरप्राप्तं दिव्यं प्रमाणमभिधास्यन् 'तुलाग्न्याप' इत्यादिभि[१]राद्यैः पञ्चभिः श्लोकैर्दिव्यमातृकां कथयति । तत्र तावद्दिव्यान्युपदिशति—

तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये ।

तुलादीनि कोशान्तानि पञ्च दिव्यानीह धर्मशास्त्रे विशुद्धये संदिग्धस्यार्थस्य संदेह[२]निवृत्तये दातव्यानीति ॥—

तुला, अग्नि, जल, विष और कोष में विशुद्धि (संदेह-निवृत्ति) के लिये पाँच दिव्य प्रयोग किये जाते हैं ॥ ९४½ ॥

नन्व[३]न्यत्रान्यान्यपि तण्डुलादीनि दिव्यानि सन्ति—'[१]घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशस्तथैव च । तण्डुलाश्चैव दिव्यानि सप्तमस्तप्तमाषकः ॥' इति पितामहस्मरणात् । अतः कथमेतावन्त्येवेत्यत आह—

महाभियोगेष्वेतानि

एतानि [२]महाभियोगेष्वेव नान्यत्रेति नियम्यते न पुनरिमान्येव दिव्यानीति । महत्त्वावधिं च वक्ष्यति । नन्वल्पाभियोगेऽपि कोशे[३] इष्यते; 'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इति स्मरणात् । सत्यम् । कोशस्य तुलादिषु पाठो न महाभियोगेष्वेवेति नियमार्थः, किंतु सावष्टम्भाभियोगेऽपि प्राप्त्यर्थः । अन्यथा शङ्काभियोगे एव स्यात्; 'अवष्टम्भाभियुक्तानां घटादीनि विनिर्दिशेत् । तण्डुलाश्चैव कोशश्च शङ्कास्वेव न संशयः ॥' इति स्मरणात् ॥

महाभियोगेषु शङ्कितेषु सावष्टम्भेषु चाविशेषेण प्राप्तावपवादमाह—

शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ॥ ९५ ॥

एतानि तुलादीन्यभियोक्तरि शीर्ष[४]कस्थेऽभियुक्तस्य भवन्ति । शीर्षकं

शिरो व्यवहारस्य चतुर्थः पादो जयपराजयलक्षणस्तेन च दण्डो लक्ष्यते, तत्र तिष्ठतीति शीर्षकस्थः तत्प्रयुक्तदण्डभागित्यर्थः ॥ ९५ ॥

इनका प्रयोग महाभियोगों में होता है और तभी होता है जब अभियोक्ता (वादी) भी शीर्षकस्थ (जय-पराजय का भागी) हो ॥ ९५ ॥

'ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इति भावप्रतिज्ञावादिन एव 'क्रियेति व्यवस्था दर्शिता तदपवादार्थमाह—

रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः ।

रुच्याभियोक्त्रभियुक्तयोः परस्परसंप्रतिपत्त्याऽन्य**तरो**ऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा दिव्यं **कुर्यात्**। इतरोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा **शिरः** शारीरमर्थदण्डं वा **वर्तयेद**ङ्गीकुर्यात्। अयमभिसन्धिः—न मानुषप्रमाणवद्दिव्यं प्रमाणं भावैकगोचरं अपि तु भावाभावावविशेषेण गोचरयति । अतश्च मिथ्योत्तरे प्रत्यवस्कन्दने प्राङ्न्याये वाऽर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरस्येच्छया दिव्यं भवतीति ॥—

अथवा (अभियोक्ता और अभियुक्त की) रुचि के अनुसार दोनों में किसी के लिये भी किया जाता है अथवा वे दोनों ही जय-पराजय स्वीकार करें ॥९५$\frac{1}{2}$ ॥

अल्पाभियोगे महाभियोगे शङ्कासावष्टम्भयोरप्यविशेषेण कोशो भवतीत्युक्तं, तुलादीनि विषान्तानि तु महाभियोगेष्वेव सावष्टम्भेष्वेवेति च नियमो दर्शितः। तत्रावष्टम्भाभियोगेष्वेवेत्यस्यापवादमाह—

विनापि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहेऽथ पातके ॥ ९६ ॥

राजद्रोहाभिशङ्कायां ब्रह्महत्यादि**पातक**ाभिशङ्कायां च शिरःस्थायिना **विनापि** तुलादीनि **कुर्यात्** महाचौर्याभिशङ्कायां च। यथाह—'राजभिः शङ्कितानां च निर्दिष्टानां च दस्युभिः। आत्मशुद्धिपराणां च दिव्यं देयं शिरो विना ॥' इति। तण्डुलाः पुनरल्पचौर्यशङ्कायामेव।—'चौर्ये तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चयः' इति पितामहस्मरणात्। तप्तमाषस्तु महाचौर्याभिशङ्कायामेव; 'चौर्यशङ्काभियुक्तानां तप्तमाषो विधीयते' इति स्मरणात् । अन्ये पुनः शपथा अल्पार्थविषयाः; 'सत्यं वाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च । देवतापितृपादांश्च दत्तानि सुकृतानि च ॥ स्पृशेच्छिरांसि पुत्राणां दाराणां सुहृदां तथा। अभियोगेषु सर्वेषु कोशपानमथापि वा ॥ इत्येते शपथाः प्रोक्ता मनुना स्वल्पकारणे ॥' इति नारदस्मरणात् ॥ यद्यपि मानुषप्रमाणानिर्णेयस्य निर्णायकं यत्तद्दिव्यमिति लोकप्रसिद्ध्या शपथानामपि दिव्यत्वं तथापि कालान्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन समनन्तरनिर्णयनिमित्तेभ्यो घटादिभ्यो दिव्येभ्यो भेदत्वव्यपदेशो ब्राह्मणपरिव्राजकवत्। कोशस्य तु शपथत्वेऽपि घटादिषु पाठो महाभियोगविषयत्वेनावष्टम्भाभियोगविषयत्वेन च घटादिसाम्यान्नतु समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन । तण्डुलानां तप्तमाषस्य च समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेऽप्यल्पविषयत्वेन

शङ्काविषयत्वेन च घटादिवैलक्षण्यात्तेष्वपाठ इति संतोष्टव्यम्। एतानि च दिव्यानि शपथाश्च यथासंभवमृणादिषु विवादेषु प्रयोक्तव्यानि। यत्तु—पितामहवचनम् 'स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्' इति, तदपि लिखितसामन्तादिसद्भावे दिव्यानि परिवर्जयेदिति व्याख्येयम्। ननु विवादान्तरेष्वपि प्रमाणान्तरसंभवे दिव्यानामनवकाश एव। सत्यम्। ऋणादिषु विवादेषु उक्तलक्षणसाक्ष्युपन्यासेऽर्थिना कृतेऽपि प्रत्यर्थी यदि दण्डाभ्युपगमावष्टम्भेन दिव्यमवलम्बते तदा दिव्यमपि भवति। साक्षिणामाशयदोषसंभवाद्दिव्यस्य च निर्दोषत्वेन वस्तुतत्त्वविषयत्वात्तल्लक्षणत्वाच्च धर्मस्य। यथाह नारदः—'तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिणि। दैवसाध्ये पौरुषेयीं न लेख्यं वा प्रयोजयेत्॥' इति। स्थावरेषु च विवादेषु प्रत्यर्थिना दण्डावष्टम्भेन दिव्यावलम्बने कृतेऽपि सामन्तादिदृष्टप्रमाणसद्भावे न दिव्यं ग्राह्यमिति विकल्पनिराकरणार्थं 'स्थावरेषु विवादेषु' इत्यादिपितामहवचनं नात्यन्तिकदिव्यनिराकरणार्थम्; लिखितसामन्ताद्यभावे स्थावरविवादेष्वनिर्णयप्रसङ्गात्॥ ९६॥

राजद्रोह और ब्रह्महत्यादि पातक में बिना जय-पराजय के भी इसे प्रयुक्त किया जाय॥ ९६॥

दिव्ये साधारणविधिः—

सचैलं स्नातमाहूय सूर्योदय उपोषितम्।
कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपब्राह्मणसंनिधौ॥ ९७॥

किंच, पूर्वेद्युरुपोषितमुदिते सूर्ये सचैलं स्नातं दिव्यग्राहिणमाहूय नृपस्य सभ्यानां च ब्राह्मणानां संनिधौ सर्वाणि दिव्यानि कारयेत्प्राड्विवाकः—'त्रिरात्रोपोषिताय स्युरेकरात्रोषिताय वा। नित्यं दिव्यानि देयानि शुचये चार्द्रवाससे॥' इत्युपवासविकल्पः पितामहेनोक्तो बलवदबलवन्महाकार्याल्पकार्यविषयत्वेन व्यवस्थितो द्रष्टव्यः। उपवासनियमश्च कारयितुः प्राड्विवाकस्यापि—'दिव्येषु सर्वकार्याणि प्राड्विवाकः समाचरेत्। अध्वरेषु यथाध्वर्युः सोपवासो नृपाज्ञया॥' इति पितामहवचनात्॥ अत्र यद्यपि सूर्योदय इत्यविशेषेणोक्तं, तथापि शिष्टसमाचाराह्नानुवासरे दिव्यानि देयानि। तत्रापि—'पूर्वाह्णेऽग्निपरीक्षा स्यात्पूर्वाह्णे च घटो भवेत्। मध्याह्ने तु जलं देयं धर्मतत्त्वमभीप्सताम्॥ दिवसस्य तु पूर्वाह्णे कोशशुद्धिर्विधीयते। रात्रौ तु पश्चिमे यामे विषं देयं सुशीतलम्॥' इति पितामहोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः॥ अनुक्तकालविशेषाणां तण्डुलतप्तमाषप्रभृतीनां पूर्वाह्ण एव प्रदानम्; 'पूर्वाह्णे सर्वदिव्यानां प्रदानं परिकीर्तितम्' इति सामान्येन नारदस्मरणात्। अहनि त्रिधा विभक्ते पूर्वो भागः पूर्वाह्णः, मध्यमो मध्याह्नः, उत्तरोऽपराह्णः। तथापरोऽपि कालविशेषो विधिप्रतिषेधमुखेन दर्शितः। विधिमुखस्तावत्—'अग्नेः शिशिरहेमन्तौ वर्षाश्चैव

प्रकीर्तिताः । शरद्ग्रीष्मेषु सलिलं हेमन्ते शिशिरे विषम् ॥ चैत्रो मार्गशिरश्चैव वैशाखश्च तथैव च । एते साधारणा मासा दिव्यानामविरोधिनः ॥ कोशस्तु सर्वदा देयस्तुला स्यात्सार्वकालिकी ॥' इति । 'कोश'ग्रहणं सर्वशपथानामुपलक्षणम् । तण्डुलानां पुनर्विशेषानभिधानात्सार्वकालिकत्वम् । प्रतिषेधमुखोऽपि—'न शीते तोयशुद्धिः स्यान्नोष्णकालेऽग्निशोधनम् । न प्रावृषि विषं दद्यात्प्रवाते न तुलां तथा ॥ नापराह्णे न सन्ध्यायां न मध्याह्ने कदाचन ॥' इति । 'न शीते तोयशुद्धिः स्या'दित्यत्र 'शीत'शब्देन हेमन्त-शिशिर-वर्षाणां ग्रहणम् । 'नोष्णकालेऽग्निशोधन'मित्यत्र 'उष्णकाल'शब्देन ग्रीष्मशरदोः विधानलब्धस्यापि पुनर्निषेध आदरार्थः; प्रयोजनं तु वक्ष्यते ॥ ९७ ॥

(दिव्य साक्ष्य वा शपथ लेने वालों को) पहले दिन उपवास रखकर दूसरे दिन प्रातः सवस्त्र स्नान कराकर बुलावे तथा राजा एवं ब्राह्मण के सामने सभी दिव्यों को करावे ॥ ९७ ॥

अधिकारिव्यवस्थामाह—

तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम् ।
अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा ॥ ९८ ॥

स्त्री स्त्रीमात्रं जातिवयोवस्थाविशेषानादरेण, **बाल** आ षोडशाद्वर्षाज्जातिविशेषानादरेण, **वृद्धो**ऽशीतिकावरः, **अन्धो** नेत्रविकलः, **पङ्गुः** पादविकलः, **ब्राह्मणो** जातिमात्रम्, **रोगी** व्याधितः, एतेषां शोधनार्थं **तुलैवेति** नियम्यते । **अग्निः** फालस्तप्तमाषश्च क्षत्रियस्य । **जलमेव** वैश्यस्य । 'वा'शब्दोऽवधारणे । **विषस्य यवा** उक्तपरिमाणाः **सप्तैव शूद्रस्य** शोधनार्थं **भवन्ति** । ब्राह्मणस्य तुलाविधानात् 'शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा' इति विषविधानादग्निर्जलं वेति क्षत्रियवैश्यविषयमुक्तम् । एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन—'ब्राह्मणस्य धटो देयः क्षत्रियस्य हुताशनः । वैश्यस्य सलिलं प्रोक्तं विषं शूद्रस्य दापयेत् ॥' इति । यत्तु स्त्र्यादीनां दिव्याभावस्मरणम्, 'सव्रतानां भृशार्तानां व्याधितानां तपस्विनाम् । स्त्रीणां च न भवेद्दिव्यं यदि धर्मस्त्वपेक्षितः ॥' इति, तत् 'रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात्' (व्य० ९६) इति विकल्पनिवृत्त्यर्थम् । एतदुक्तं भवति—'अवष्टम्भाभियोगेषु स्त्र्यादीनामभियोक्तृत्वेऽभियोज्यानामेव दिव्यं, एतेषामभियोज्यत्वेऽप्यभियोक्तॄणामेव दिव्यम् । परस्पराभियोगे तु विकल्प एव । तत्रापि तुलैवेति कात्यायनवचनेन नियम्यते । तथा महापातकादिशङ्काभियोगे स्त्र्यादीनां तुलैवेति एतच्च वचनं सर्वदिव्यसाधारणेषु मार्गशिरश्चैत्रवैशाखेषु स्त्र्यादीनां सर्वदिव्यसमवधाने नियामकतयार्थवत् । नच सर्वकालं स्त्रीणां तुलैवेति; 'स्त्रीणां तु न विषं प्रोक्तं न चापि सलिलं स्मृतम् । धटकोशादिभिस्तासामन्तस्तत्त्वं विचारयेत् ॥' इति विषसलिलव्यतिरिक्तधटकोशाग्न्यादिभिः शुद्धिविधानात् । एवं बालादिष्वपि

योजनीयम् । तथा ब्राह्मणादीनामपि न सार्वकालिकस्तुलादिनियमः; 'सर्वेषामेव वर्णानां कोशशुद्धिर्विधीयते । सर्वाण्येतानि सर्वेषां ब्राह्मणस्य विषं विना ॥' इति पितामहस्मरणात् । तस्मात्साधारणे काले बहुदिव्यसमवधाने तुलादिनियमार्थमेवेदं वचनम् । कालान्तरे तु तत्तत्कालविहितं सर्वेषाम् । तथा हि—वर्षास्वग्निरेव सर्वेषाम् । हेमन्तशिशिरयोस्तु क्षत्रियादित्रयाणामग्निविषयोर्विकल्पः । ब्राह्मणस्य त्वग्निरेव न कदाचिद्विषम्; 'ब्राह्मणस्य विषं विना' इति प्रतिषेधात् । ग्रीष्मशरदोस्तु सलिलमेव । येषां तु व्याधिविशेषेणाग्न्यादिनिषेधः—'कुष्ठिनां वर्जयेदग्निं सलिलं श्वासकासिनाम् । पित्तश्लेष्मवतां नित्यं विषं तु परिवर्जयेत् ॥' इति तेषामग्न्यादिकालेऽपि साधारणं तुलैव दिव्यं भवति ॥ तथा 'तोयमग्निर्विषं चैव दातव्यं बलिनां नृणाम्' इति वचनाद्दुर्बलानामपि सर्वथा विधिप्रतिषेधादृतुकालानतिक्रमेण जातिवयोवस्थाश्रितानि दिव्यानि देयानि ॥ ९८ ॥

स्त्री, बालक, वृद्ध, अन्धा, लंगड़ा, ब्राह्मण एवं रोगी के लिये तुला, क्षत्रिय के लिये अग्नि, वैश्य के लिये जल और शूद्र के लिये सात यव के बराबर विष का दिव्य करावे ॥ ९८ ॥

'महाभियोगेष्वेतानि' (व्य० ९५) इत्युक्तं, तत्राभियोगस्य यदपेक्षं महत्त्वं तदिदानीमाह—

नासहस्राद्धरेत्फालं न विषं न तुलां तथा ।

पणसहस्रादर्वाक् फालं विषं तुलां वा न कारयेत् । मध्यवर्ति जलमपि । यथोक्तम्—'तुलादीनि विषान्तानि गुरुष्वर्थेषु दापयेत्' इति । अत्र कोशस्याग्रहणं 'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इत्यल्पाभियोगेऽपि तस्य स्मरणात् । एतानि चत्वारि दिव्यानि पणसहस्रादूर्ध्वमेव भवन्ति नार्वागित्यर्थः ॥ नन्वर्वागप्यग्न्यादीनि पितामहेन दर्शितानि—'सहस्रे तु धटं दद्यात्सहस्रार्धे तथायसम् । अर्धस्यार्धे तु सलिलं तस्यार्धे तु विषं स्मृतम् ॥' इति सत्यम् ।–तत्रेत्थं व्यवस्था यद्द्रव्यापहारे पातित्यं भवति तद्विषयं पितामहवचनं, इतरद्रव्यविषयं योगीश्वरवचनमिति । एतच्च वचनद्वयं स्तेयसाहसविषयम्, अपह्नवे तु विशेषो दर्शितः कात्यायनेन—'दत्तस्यापह्नवो यत्र प्रमाणं तत्र कल्पयेत् । स्तेयसाहसयोर्दिव्यं स्वल्पेऽप्यर्थे प्रदापयेत् ॥ सर्वद्रव्यप्रमाणं तु ज्ञात्वा हेम प्रकल्पयेत् । हेमप्रमाणयुक्तं तु तदा दिव्यं नियोजयेत् ॥ ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानां शतनाशे विषं स्मृतम् । अशीतेस्तु विनाशे वै दद्याच्चैव हुताशनम् ॥ षष्ट्या नाशे जलं देयं चत्वारिंशति वै धटम् । विंशद्दशविनाशे तु कोशपानं विधीयते ॥ पञ्चाधिकस्य वा नाशे ततोऽर्धार्धस्य तण्डुलाः । ततोऽर्धार्धविनाशे हि स्पृशेत्पुत्रादिमस्तकान् ॥ ततोऽर्धार्धविनाशे तु लौकिक्यश्च क्रियाः स्मृताः । एवं विचारयन्राजा धर्मार्थाभ्यां न

हीयते ॥' इति । 'ज्ञात्वा संख्या सुवर्णानाम्' इत्यत्र 'सुवर्ण'शब्दः 'षोडश माषाः सुवर्णः' (आ० ३६३) इत्युक्तपरिमाणवचनः । 'नाश'शब्दश्चात्रापह्नववचनः । 'नासहस्राद्धरेत्फालम्' इत्यत्र तु ताम्रिकपणसहस्रं बोद्धव्यम् ॥—

ननु नृपद्रोहे महापातके चैतानि दिव्यान्युक्तानि, तत्कथं 'नासहस्राद्धरेत्फालम्' (व्य० ९९) इत्यत्राह—

नृपार्थेष्वभिशापे च वहेयुः शुचयः सदा ॥ ९९ ॥

नृप[2]द्रोहेषु महापातकाभियोगे च सदा द्रव्यसंख्यामनपेक्ष्यैवैतानि दिव्यानि वहेयुः कुर्युरुपवासादिना शुचयः सन्तः । तथा देशविशेषोऽपि नारदेनोक्तः—'सभाराजकुलद्वारदेवायतनचत्वरे । निधेयो निश्चलः पूज्यो धूपमाल्यानुलेपनैः ॥' इति । निधेयो घटः । व्यवस्था च कात्यायनेनोक्ता—'इन्द्रस्थानेऽभिशस्तानां महापातकिनां नृणाम् । नृपद्रोहे प्रवृत्तानां राजद्वारे प्रयोजयेत् ॥ प्रातिलोम्यप्रसूतानां दिव्यं देयं चतुष्पथे । [3]अतोऽन्येषु सभामध्ये दिव्यं देयं विदुर्बुधाः ॥ अस्पृश्याधमदासानां म्लेच्छा[4]नां पापकारिणाम् । प्रातिलोम्यप्रसूतानां निश्चयो न तु राजनि । तत्प्रसिद्धानि दिव्यानि संशये तेषु [5]निर्दिशेत् ॥' इति ॥ ९९ ॥

सहस्र पण से कम के बाद में तप्त फाल, विष या तुला का दिव्य न करावे। राजद्रोह तथा महापातक में ये सभी दिव्य सदा पवित्रता के साथ करे ॥ ९९ ॥

इति दिव्यमातृका ॥

एवं सर्वदिव्योपयोगिनीं दिव्यमातृकामभिधायेदानीं घटादिदिव्यानां प्रयोगमाह—

तुलाधारणविद्वद्भिरभियुक्तस्तुलाश्रितः ।
प्रतिमानसमीभूतो रे[6]खां कृत्वाऽवतारितः ॥ १०० ॥
'त्वं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता ।
तत्सत्यं वद कल्याणि! संशयान्मां विमो[7]चय ॥१०१॥
यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय ।
शुद्धश्चेद्गमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत्' ॥ १०२ ॥

तुलाया धारणं तोलनं ये **विदन्ति** सुवर्णकारप्रभृतयस्तैः **प्रतिमानेन** मृदादिना **समीभूतः** समीकृतस्तुलामाश्रितोऽधिरूढोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा दिव्यकारी **रेखां कृत्वा** येन संनिवेशेन प्रतिमानसमीकरणदशायां शिक्यतलेऽवस्थितस्तस्मिन्पाण्डुलेखे[2]नाङ्कयित्वाऽ**वतारितस्तुलामभिमन्त्रयेत्** प्रार्थयेतानेन मन्त्रेण—हे **तुले! त्वं सत्यस्य स्थानमसि, पुरा** आदिसृष्टौ **देवैर्हिरण्यगर्भप्रभृतिभिर्विनिर्मितो**त्पादिता । तत्तस्मात्**सत्यं** संदिग्धस्यार्थस्य स्वरूपं **वद**-

दर्शय; कल्याणि शोभने। अस्मात्संशयान्मां विमोचय। हे मातः! यद्यहं पापकृदसत्यवाद्यस्मि ततो मां त्वमधो नय। अथ शुद्धः सत्यवाद्यस्मि ततो मामूर्ध्वं गमयेति ॥ प्राड्विवाकस्य तुलाभिमन्त्रणमन्त्राः स्मृत्यन्तरोक्ताः, अयं तु दिव्यकारिणः । जयपराजयलक्षणं तु मन्त्रलिङ्गा[1]देवावगम्यत इति न पृथगुक्तम् ॥ घटनिर्माणं पुनरारोहणाद्यर्थसिद्धमेव पितामहनारदादिभिः स्पष्टीकृतम्। तद्यथा—'छित्त्वा तु यज्ञियं वृक्षं यूपवन्मन्त्रपूर्वकम्। प्रणम्य लोकपालेभ्यस्तुला कार्या मनीषिभिः ॥ मन्त्रः सौम्यो वानस्पत्यश्छेदने जप्य एव च। चतुरस्रा तुला कार्या दृढा ऋज्वी तथैव च। कटकानि च देयानि त्रिषु स्थानेषु चार्थवत्। चतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ चोपरि तत्समौ ॥ अन्तरं तु तयोर्हस्तौ भवेदध्यर्धमेव वा। हस्तद्वयं निखेयं तु पादयोरुभयोरपि। तोरणे च तथा कार्ये पार्श्वयोरुभयोरपि। घटादुच्चतरे स्यातां नित्यं दशभिरङ्गुलैः ॥ अवलम्बौ च कर्तव्यौ तोरणाभ्यामधोमुखौ। मृन्मयौ सूत्रसंबद्धौ घटमस्तकचुम्बिनौ ॥ प्राङ्मुखो निश्चलः कार्यः शुचौ देशे घटस्तथा। शिक्यद्वयं समासज्य पार्श्वयोरुभयोरपि ॥ प्राङ्मुखान्कल्पयेद्दर्भाञ्शिक्ययोरुभयोरपि। पश्चिमे तोलयेत्कर्तॄनन्यस्मिन्मृत्तिकां शुभाम् ॥ पिटकं[2] पूरयेत्तस्मिन्निष्टकाग्रावपांसुभिः। अत्र च मृत्तिकेष्टकाग्रावपांसूनां विकल्पः। 'परीक्षका नियोक्तव्यास्तुलामानविशारदाः ॥ वणिजो हेम[3]कारश्च कांस्यकारास्तथैव च। कार्यः परीक्षकैर्नित्यमवलम्बसमो घटः ॥ उदकं च प्रदातव्यं घटस्योपरि पण्डितैः। यस्मिन्न प्लवते तोयं स विज्ञेयः समो घटः ॥ तोलयित्वा नरं पूर्वं पश्चात्तमवतार्य तु। घटं तु कारयेन्नित्यं पताकाध्वजशोभितम् ॥ तत आवाहयेद्देवान्विधिनानेन मन्त्रवित्। वादित्रतूर्यघोषैश्च गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥ प्राङ्मुखः[4] प्राञ्जलिर्भूत्वा प्राड्विवाकस्ततो वदेत्। एह्येहि भगवन्धर्म अस्मिन्दिव्ये समाविश ॥ सहितो लोकपालैश्च वस्वादित्यमरुद्गणैः। आवाह्य तु घटे धर्मं पश्चादङ्गानि विन्यसेत् ॥ इन्द्रं पूर्वे तु संस्थाप्य प्रेतेशं दक्षिणे तथा। वरुणं पश्चिमे भागे कुबेरं चोत्तरे तथा ॥ अग्न्यादिलोकपालांश्च कोणभागेषु विन्यसेत्। इन्द्रः पीतो यमः श्यामो वरुणः स्फटिकप्रभः ॥ कुबेरस्तु सुवर्णाभो वह्निश्चापि सुवर्णभः। तथैव निर्ऋतिः श्यामो वायुर्धूम्रः प्रशस्यते ॥ ईशानस्तु भवेद्रक्त एवं ध्यायेत्क्रमादिमान्। इन्द्रस्य दक्षिणे पार्श्वे वसूनाराधयेद्बुधः ॥ धरो ध्रुवस्तथा सोम आपश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ देवेशेशानयोर्मध्य आदित्यानां[5] तथा गणम्। धाताऽर्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशुर्भगस्तथा ॥ इन्द्रो विवस्वान्पूषा च पर्जन्यो दशमः स्मृतः। ततस्त्वष्टा ततो विष्णुरजघन्यो जघन्यजः ॥ इत्येते द्वादशादित्या नामभिः परिकीर्तिताः। अग्नेः[6] पश्चिमभागे तु रुद्राणामयनं विदुः ॥ वीरभद्रश्च शम्भुश्च गिरिशश्च महायशाः। अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः ॥ भुवनाधीश्वरश्चैव कपाली च विशांपतिः। स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रास्त्वेकादश स्मृताः ॥ प्रेतेशरक्षोमध्ये तु मातृस्थानं प्रकल्पयेत्। ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥ वाराही चैव

माहेन्द्री चामुण्डा गणसंयुता । निर्ऋतेरुत्तरे भागे गणेशायतनं विदुः ॥ वरुणस्योत्तरे भागे मरुतां स्थानमुच्यते । पवनः स्पर्शनो वायुरनिलो मारुतस्तथा ॥ प्राणः प्राणेशजीवौ च मरुतोऽष्टौ प्रकीर्तिताः । घटस्योत्तरभागे तु दुर्गामावाहयेद्बुधः ॥ एतासां देवतानां तु स्वनाम्ना पूजनं विदुः । भूषावसानं धर्माय दत्त्वा चार्घ्यादिकं क्रमात् ॥ अर्घ्यादिपश्चादङ्गानां भूषान्तमुपकल्पयेत् । गन्धादिकां नैवेद्यान्तां परिचर्यां प्रकल्पयेत् ॥' इति । अत्र च तुलां पताकाध्वजालंकृतां विधाय तस्यां 'एह्येही'ति मन्त्रेण धर्ममावाह्य 'धर्मायार्घ्यं कल्पयामि नमः' इत्यादिना प्रयोगेणार्घ्यपाद्याचमनीयमधुपर्काचमनीयस्नानवस्त्रयज्ञोपवीताचमनीयमुकुटकटकादिभूषान्तं दत्त्वा इन्द्रादीनां दुर्गान्तानां प्रणवाद्यैः स्वनामभिश्चतुर्थ्यन्तैर्नमोन्तैरर्घ्यादिभूषान्तं पदार्थानुसमयेन दत्त्वा धर्माय गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यादि दत्त्वा इन्द्रादीनां गन्धादीनि पूर्ववद्दद्यात् । गन्धपुष्पाणि च घटपूजायां रक्तानि कार्याणि । यथाह नारदः—'रक्तैर्गन्धैश्च माल्यैश्च दध्यपूपाक्षतादिभिः । अर्चयेत्तु घटं पूर्वं ततः शिष्टांस्तु पूजयेत् ॥' इति । इन्द्रादीनां तु विशेषानभिधानाद्यथालाभं रक्तैरन्यैर्वा पूजनमिति पूजाक्रमः ॥ एतच्च सर्वं प्राड्विवाकः कुर्यात् । यथोक्तम्—'प्राड्विवाकस्ततो विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः । श्रुतवृत्तोपसंपन्नः शान्तचित्तो विमत्सरः ॥ सत्यसंधः शुचिर्दक्षः सर्वप्राणिहिते रतः । उपोषितः शुद्धवासाः कृतदन्तानुधावनः ॥ सर्वासां देवतानां च पूजां कुर्याद्यथाविधि ॥' तथा । ऋत्विग्भिश्चतुर्भिश्चतसृषु दिक्षु लौकिकाग्नौ होमः कार्यः । यथाह—'चतुर्दिक्षु तथा होमः कर्तव्यो वेदपारगैः । आज्येन हविषा चैव समिद्भिर्होमसाधनैः ॥ सावित्र्या प्रणवेनाथ स्वाहान्तेनैव होमयेत् ॥' प्रणवादिकां गायत्रीमुच्चार्य पुनः स्वाहाकारान्तं प्रणवमुच्चार्य समिदाज्यचरून्प्रत्येकमष्टोत्तरशतं जुहुयादित्यर्थः । एवं हवनान्तां देवपूजां विधायानन्तरमभियुक्तमर्थं वक्ष्यमाणमन्त्रसहितं पत्रे लिखित्वा तत्पत्रं शोध्य शिरोगतं कुर्यात् । यथाह—'यदर्थमभियुक्तः स्याल्लिखित्वा तं तु पत्रके । मन्त्रेणानेन सहितं तत्कार्यं तु शिरोगतम् ॥' मन्त्रश्चायम्—'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च । अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥' इति । एतच्च धर्मावाहनादि शिरसि पत्रारोपणान्तमनुष्ठानकाण्डं सर्वदिव्यसाधारणम् । यथोक्तम्—'इमं मन्त्रविधिं कृत्स्नं सर्वदिव्येषु योजयेत् । आवाहनं च देवानां तथैव परिकल्पयेत् ॥' इति । अनन्तरं प्राड्विवाको घटमामन्त्रयेत्; 'घटमामन्त्रयेच्चैव विधिनानेन शास्त्रवित्' इति स्मरणात् । मन्त्राश्च दर्शिताः—'त्वं घट ! ब्रह्मणा सृष्टः परीक्षार्थं दुरात्मनाम् । धकाराद्धर्ममूर्तिस्त्वं टकारात्कुटिलं नरम् ॥ धृतो भावयसे यस्माद्घटस्तेनाभिधीयते । त्वं वेत्सि सर्वजन्तूनां पापानि सुकृतानि च ॥ त्वमेव देव ! जानीषे न विदुर्यानि मानवाः । व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुषः शुद्धिमिच्छति ॥ तदेनं संशयादस्माद्धर्मतस्त्रातुमर्हसि ॥' इति । शोध्यस्तु 'त्वं तुले' इत्यादिना पूर्वोक्तेन मन्त्रेण तुलामामन्त्रयेत् । अनन्तरं प्राड्विवाकः शिरोगतपत्रकं शोध्य यथास्थानं निवेश्य च घटमारोपयति;

'पुनरारोपयेत्तस्मिञ्छिरोवस्थितपत्रकम्' इति स्मरणात्। आरोपितं च विनाडीपञ्चकं यावत्तथैवावस्थापयेत्। तत्कालपरीक्षां च ज्योतिःशास्त्राभिज्ञः कुर्यात्; 'ज्योतिर्विद्ब्राह्मणः श्रेष्ठः कुर्यात्कालपरीक्षणम्। विनाड्यः पञ्च विज्ञेयाः परीक्षाकालकोविदैः ॥' इति स्मरणात्। दशगुर्वक्षरोच्चारणकालः प्राणः। षट्प्राणा विनाडी। उक्तं च—'दशगुरुवर्णैः प्राणः षट् प्राणाः स्याद्विनाडिका तासाम्। षष्ट्या घटी घटीनां षष्ट्याहःखाग्निभिर्दिनैर्मासः ॥' इति। तस्मिंश्च काले शुद्ध्यशुद्धिपरीक्षणार्थं शुचयः पुरुषा राज्ञा नियोक्तव्याः। ते च शुद्ध्यशुद्धी कथयन्ति। यथोक्तं पितामहेन—'साक्षिणो ब्राह्मणाः श्रेष्ठा यथादृष्टार्थवादिनः। ज्ञानिनः शुचयोऽलुब्धा नियोक्तव्या नृपेण तु ॥ शंसन्ति साक्षिणः श्रेष्ठाः शुद्ध्यशुद्धी नृपे तदा ॥' इति। शुद्ध्यशुद्धिनिर्णयकारणं चोक्तम् (नारदः १।२८३)—'तुलितो यदि वर्धेत स शुद्धः स्यान्न संशयः। समो वा हीयमानो वा न स शुद्धो भवेन्नरः ॥' इति। यत्तु पितामहवचनम्—'अल्पदोषः समो ज्ञेयो बहुदोषस्तु हीयते' इति, तत्र यद्यप्यभियुक्तस्यार्थस्याल्पत्वं बहुत्वं च न दिव्येनावधारयितुं शक्यते तथापि सकृदमतिपूर्वत्वेनाल्पत्वमसकृन्मतिपूर्वत्वेन च महत्त्वमिति दण्डप्रायश्चित्ताल्पत्वमहत्त्वमवधार्यते। यदा चानुपलक्ष्यमाणदृष्टकारण एव कक्षादीनां छेदो भङ्गो वा भवति तदाप्यशुद्धिरेव—(नारदः १।२८४) 'कक्षच्छेदे तुलाभङ्गे धटकर्कटयोस्तथा। रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे च तथैवाशुद्धिमादिशेत् ॥' इति स्मरणात्। कक्षं शिक्यतलम्। कर्कटौ तुलान्तयोः शिक्याधारावीषद्वक्रावायसकीलकौ कर्कटशृङ्गसंनिभौ। अक्षः पादस्तम्भयोरुपरि निविष्टस्तुलाधारपट्टः। यदा तु दृश्यमानकारणक एषां भङ्गस्तदा पुनरारोपयेत्; 'शिक्यादिच्छेदभङ्गेषु पुनरारोपयेन्नरम्' इति स्मरणात्। ततश्च—'ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्दक्षिणाभिश्च तोषयेत्। एवं कारयिता राजा भुक्त्वा भोगान्मनोरमान् ॥ महतीं कीर्तिमाप्नोति ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥' यदा तूक्तलक्षणं धटं तथैव स्थापयितुमिच्छति तदा वायसाद्युपघातनिरासार्थं कपाटादिसहितां शालां कुर्यात्; 'विशालामुन्नतां शुभ्रां धटशालां तु कारयेत्। यत्रस्था नोपहन्येत श्वभिश्चण्डालवायसैः ॥ तत्रैव लोकपालादीन्सर्वान्दिक्षु निवेशयेत्। त्रिसन्ध्यं पूजयेदेतान्गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥ कपाटबीजसंयुक्तां परिचारकरक्षिताम्। मृत्पानीयाग्निसंयुक्तामशून्यां कारयेन्नृपः ॥' इति स्मरणात्। बीजानि यवव्रीह्यादीनि ॥ १००–१०२ ॥

तौल में निपुण व्यक्तियों द्वारा अभियुक्त को तुला पर चढ़ावे और उसके वजन के तुल्य (मिट्टी आदि) वस्तु हो उसके बराबर रेखा बनाकर उसे तुला से उतारे। उसके बाद दिव्य करने वाला तुला से इस प्रकार प्रार्थना करे— 'हे तुले! तुम सत्य का स्थान हो। पूर्वकाल में देवताओं ने तुम्हारा निर्माण किया है। हे कल्याणि! अतः तुम सत्य बोलो। मुझे संदेह से मुक्त करो। हे मातः! यदि मैं पापी हूँ तो नीचे ले जाओ और यदि शुद्ध हूँ तो ऊपर ले जाओ ॥ १००-१०२ ॥

इति घटविधिः ॥

इदानीं क्रमप्राप्तमग्निदिव्यमाह—

करौ विमृदितव्रीहेर्लक्षयित्वा ततो न्यसेत् ।
सप्ताश्वत्थस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण वेष्टयेत् ॥ १०३ ॥

दिव्यमातृकोक्तसाधारणधर्मेषु सत्सु तुलाविधानोक्तधर्मावाहनादिशिरःपत्रारोपणान्ते च विध्यन्ते सत्ययमग्निविधौ विशेषः । विमृदितव्रीहेर्विमृदिता विघर्षिता व्रीहयः कराभ्यां येनासौ विमृदितव्रीहिस्तस्य करौ लक्षयित्वा तिलकालकव्रणकिणादिस्थानेष्वलक्तकरसादिनाऽङ्कयित्वा । यथाह नारदः (१।३०१)—'हस्तक्षतेषु सर्वेषु कुर्याद्धंसपदानि तु' इति । अनन्तरं सप्ताश्वत्थस्य पर्णानि हस्तयोरञ्जलीकृतयोर्न्यसेत्—'पत्रैरञ्जलिमापूर्य आश्वत्थैः सप्तभिः समैः' इति स्मरणात् । तानि च हस्तसहितानि सूत्रेण तावद्वेष्टयेत् । यावन्त्यश्वत्थपर्णानि सप्तकृत्वो वेष्टयेदित्यर्थः । सूत्राणि च सप्त शुक्लानि भवन्ति—'वेष्टयीत सितैर्हस्तौ सप्तभिः सूत्रतन्तुभिः' इति नारदवचनात् । तथा सप्त शमीपत्राणि सप्तैव दूर्वापत्राणि चाक्षतांश्च दध्यक्तानक्षतांश्चाश्वत्थपत्राणामुपरि विन्यसेत्; 'सप्त पिप्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथाक्षतान् । दूर्वायाः सप्त पत्राणि दध्यक्तांश्चाक्षतान्न्यसेत् ॥' इति स्मरणात् । तथा कुसुमानि च विन्यसेत्; 'सप्त पिप्पलपत्राणि अक्षतान्सुमनो दधि । हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र सूत्रेणावेष्टनं तथा ॥' इति पितामहवचनात् । सुमनसः पुष्पाणि । यदपि स्मरणम्—'अयस्तप्तं तु पाणिभ्यामर्कपत्रैस्तु सप्तभिः अन्तर्हितं हरन् शुद्धस्त्वदग्धः सप्तमे पदे ॥' इति, तदप्यश्वत्थपत्राभावेऽर्कपत्रविषयं वेदितव्यम्; अश्वत्थपत्राणां पितामहप्रशंसावचनेन मुख्यत्वावगमात्—'पिप्पलाज्जायते वह्निः पिप्पलो वृक्षराट् स्मृतः । अतस्तस्य तु पत्राणि हस्तयोर्विन्यसेद्बुधः ॥' इति ॥ १०३ ॥

अग्नि का दिव्य करने वाले के दोनों हाथों में व्रीहि मलवा कर और (तिल, व्रणचिह्न आदि स्थानों में) अलक्तक का चिह्न लगाकर पीपल के सात पत्तों को सात सूतों से वेष्टित करे ॥ १०३ ॥

कर्तुरग्न्यभिमन्त्रणमाह—

त्वमग्ने! सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक! ।
साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे! मम ॥ १०४ ॥

हे अग्ने! त्वं सर्वभूतानां जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानामन्तः शरीराभ्यन्तरे चरसि उपयुक्तान्नपानादीनां पाचकत्वेन वर्तसे । पावक शुद्धिहेतो! कवे क्रान्तदर्शिन्! साक्षिवत् पुण्यपापेभ्यः सत्यं ब्रूहि । 'पुण्यपापेभ्यः' इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । पुण्यपापान्यवेक्ष्य सत्यं ब्रूहि दर्शयेत्यर्थः । अयःपिण्डे त्रिभि-

स्तापैः संतप्ते संदंशेन पुरत आनीते कर्ता पश्चिममण्डले प्राङ्मुखस्तिष्ठन् अनेन मन्त्रेणाग्निं अभिमन्त्रयेत्। यथाह नारदः (१।२८८-८९)—'अग्निवर्णमयःपिण्डं सस्फुलिङ्गं सुरञ्जितम् । तापे तृतीये संताप्य ब्रूयात्सत्यपुरस्कृतम् ॥' इति । अस्यार्थः—लोहशुद्ध्यर्थं सुतप्तं लोहपिण्डमुदके निक्षिप्य पुनः संताप्योदके निक्षिप्य तृतीये तापे संताप्य संदंशेन गृहीत्वा पुरत आनीते सत्यपुरस्कृतं सत्यशब्दयुक्तं 'त्वमग्ने सर्वभूतानाम्'इत्यादिमन्त्रं कर्ता ब्रूयादिति ॥ प्राड्विवाकस्तु मण्डलभूभागादक्षिणप्रदेशे लौकिकमग्निमुपसमाधाय 'अग्नये पावकाय स्वाहा' इत्याज्येनाष्टोत्तरशतवारं जुहुयात् ; 'शान्त्यर्थं जुहुयादग्नौ घृतमष्टोत्तरं शतम्' इति स्मरणात्। हुत्वा च तस्मिन्नग्नावयःपिण्डं प्रक्षिप्य तस्मिंस्ताप्यमाने धर्मावाहनादिहवनान्तं पूर्वोक्तं विधिं विधाय तृतीये तापे वर्तमाने अयःपिण्डस्थमग्निमेभिर्मन्त्रैरभिमन्त्रयेत्—'त्वमग्ने ! वेदाश्चत्वारस्त्वं च यज्ञेषु हूयसे । त्वं मुखं सर्वदेवानां त्वं मुखं ब्रह्मवादिनाम् ॥ जठरस्थो हि भूतानां ततो वेत्सि शुभाशुभम् । पापं पुनासि वै यस्मात्तस्मात्पावक ! उच्यसे । पापेषु दर्शयात्मानमर्चिष्मान्भव पावक ! । अथवा शुद्धभावेषु शीतो भव हुताशन ! ॥ त्वमग्ने ! सर्वदेवानामन्तश्चरसि साक्षिवत् । त्वमेव देव ! जानीषे न विदुर्यानि मानुषाः ॥ व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुषः शुद्धिमिच्छति । तदेनं संशयादस्माद्धर्मतस्त्रातुमर्हसि ॥' इति ॥ १०४ ॥

(पुनः अग्नि का दिव्य करने वाला अग्नि से इस प्रकार प्रार्थना करे–) हे अग्नि ! आप सभी प्राणियों के भीतर संचार करते हैं। हे पावक ! (शोधक = पवित्र करने वाले) कवि (सर्वज्ञ)! पुण्य और पाप के साक्षी रूप में सत्य को कहे ॥ १०४ ॥

तस्येत्युक्तवतो लौहं पञ्चाशत्पलिकं समम् ।
अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि ॥ १०५ ॥

अपि च, तस्य कर्तुरित्युक्तवतः 'त्वमग्ने सर्वभूतानामि'त्यादिभिर्मन्त्रैरभिमन्त्रणं कृतवतो लौहं लोहविकारं पिण्डं पञ्चाशत्पलिकं पञ्चाशत्पलसंमितं सममस्त्ररहितम् । सर्वतश्च समं वृत्तं श्लक्ष्णं तथाऽष्टाङ्गुलायामम्; 'अस्त्रहीनं समं कृत्वा अष्टाङ्गुलमयोमयम् । पिण्डं तु तापयेदग्नौ पञ्चाशत्पलिकं समम् ॥' इति पितामहस्मरणात् । अग्निवर्णमग्निसदृशमुभयोर्हस्तयोरश्वत्थपत्रदधिदूर्वाद्यन्तारतयोर्न्यसेन्निक्षिपेत्प्राड्विवाकः ॥ १०५ ॥

उसके ऐसा कहने पर उसके दोनों हाथों पर पचास पल के बराबर अग्निवर्ण का (लाल जलता हुआ) लौहपिण्ड दोनों हाथों पर रखे ॥ १०५ ॥

ततः किं कुर्यादित्यत आह—

स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्व्रजेत् ।

स पुरुषस्तं तप्तलोहपिण्डं अञ्जलिना गृहीत्वा सप्त मण्डलानि शनै-

व्रजेत् । एवकारेण मण्डलेष्वेव पदन्यासं मण्डलानतिक्रमणं च दर्शयति । यथाह पितामहः—'न मण्डलमतिक्रामेन्नाप्यर्वाक्स्थापयेत्पदम्' इति ॥—

वह उस लौहपिण्ड को लेकर सात मण्डलों पर चले ॥ १०५$\frac{१}{२}$ ॥

सप्तैव मण्डलानि शनैर्व्रजेदित्युक्तं, तत्रैकैकं मण्डलं किंप्रमाणकं मण्डलयोरन्तरं च कियत्प्रमाणकमित्यत आह—

षोडशा[3]ङ्गुलकं ज्ञेयं मण्डलं तावदन्तरम् ॥ १०६ ॥

षोडश अङ्गुलानि यस्य तत् षोडशाङ्गुलकम् । षोडशाङ्गुलप्रमाणं मण्डलं बोद्धव्यम् । मण्डलयोरन्तरं मध्यं च तावदेव षोडशाङ्गुलकमेव ।—सप्त मण्डलानि व्रजेदिति वदता प्रथममवस्थानमण्डलमेकमुक्तम् । अतश्चाष्टमण्डलानि षोडशाङ्गुलकानि मण्डलानामन्तराणि मध्यानीत्यर्थः । मण्डलान्तराणि तु सप्त तावत्प्रमाणानि ॥ एतदेव नारदेन परिसंख्या[1]योक्तम् (१।२७५,७६)—'द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम् । अष्टभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम् । चत्वारिंशत्समधिकं भूमेरङ्गुलमानतः ॥' इति । अयमर्थः—अवस्थानमण्डलात्षोडशाङ्गुलान्मण्डलान्तरमन्यन्मण्डलम् । द्वितीयाद्येकमेकं द्वात्रिंशदङ्गुलं सान्तरालं, तदेवमवस्थानमण्डलं षोडशाङ्गुलम् । गन्तव्यानि च सप्त मण्डलानि सान्तरालानि द्वात्रिंशदङ्गुलानि । एवमष्टाभिर्मण्डलैश्चत्वारिंदशधिकं शतद्वयं भूमेरङ्गुलमानतोऽङ्गुलमानमिति सार्वविभक्तिकस्तसिः । अस्मिंस्तु पक्षेऽवस्थानमण्डलं षोडशाङ्गुलं विधाय द्वा[2]त्रिंशदङ्गुलप्रमाणानां सप्तानां सान्तरालमण्डलभूभागानामेकमेकं भूभागं द्विधा विभज्यान्तरालभूभागान्षोडशाङ्गुलप्रमाणान्विहाय मण्डलभूभागेषु द्विषोडशाङ्गुलप्रमाणेषु गन्तृपदप्रमाणानि सप्त मण्डलानि कार्याणि । यथा तेनैवोक्तम् (नारदः १।२९९)—'मण्डलस्य प्रमाणं तु कुर्यात्तत्पदसंमितम्' इति । यत्तु पितामहेनोक्तम्—'[1]कारयेन्मण्डलान्यष्टौ पुरस्तान्नवमं तथा । आग्नेयं मण्डलं चाद्यं द्वितीयं वारुणं स्मृतम् ॥ तृतीयं वायुदैवत्यं चतुर्थं यमदैवतम् । पञ्चमं त्विन्द्रदैवत्यं षष्ठं कौबेरमुच्यते ॥ सप्तमं सोमदैवत्यं सावित्रं त्वष्टमं तथा । नवमं सर्वदैवत्यमिति दिव्यविदो विदुः ॥ द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम् । अष्टाभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम् ॥ षट्पञ्चाशत्समधिकं भूमेस्तु परिकल्पना । कर्तुः पदसमं कार्यं मण्डलं तु प्रमाणतः ॥ मण्डले मण्डले देयाः कुशाः शास्त्रप्रचोदिताः ॥' इति ।—तत्र[3] नवमं सर्वदैवत्यमपरिमिताङ्गुलप्रमाणं मण्डलं विहायाष्टाभिर्मण्डलैरष्टाभिश्चान्तरालैः प्रत्येकं षोडशाङ्गुलप्रमाणैरङ्गुलानां षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयं संपद्यते । तत्रापि गन्तव्यानि सप्तैव मण्डलानि । यतः प्रथमे तिष्ठति नवमे क्षिपतीति न विरुद्ध्यते । अङ्गुलप्रमाणं च—'तिर्यग्यवोदराण्यष्टावूर्ध्वा वा व्रीहयस्त्रयः । प्रमाणमङ्गुलस्योक्तं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुला ॥ हस्तो वितस्तिद्वितयं दण्डो हस्तचतुष्टयम् । तत्सहस्रद्वयं क्रोशो योजनं तच्चतुष्टयम् ॥' इति बोद्धव्यम् ॥ १०६ ॥

एक मण्डल सोलह अङ्गुल का होता है और दो मण्डलों के मध्य इतना ही अन्तर होता है ॥ १०६ ॥

सप्त मण्डलानि गत्वा किं कर्तव्यमित्यत आह—

मुक्त्वाग्निं मृदितव्रीहिरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात् ।

अष्टमे मण्डले स्थित्वा नवमे मण्डलेऽग्नितप्तमयःपिण्डं त्यक्त्वा व्रीहीन् कराभ्यां मर्दयित्वाऽदग्धहस्तश्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् । दग्धहस्तश्चेदशुद्ध इत्यर्थसिद्धम् । यस्तु संत्रासात्प्रस्खलन्हस्ताभ्यामन्यत्र दह्यते तथाप्यशुद्धो न भवति । यथाह कात्यायनः—'प्रस्खलन्नभिशस्तश्चेत्स्थानादन्यत्र दह्यते । अदग्धं तं विदुर्देवास्तस्य भूयोऽपि दापयेत् ॥' इति ॥—

तदनन्तर अग्नि को छोड़कर व्रीहि को हाथों पर मले। यदि न जला हो तो शुद्धि को प्राप्त करता है ॥ १०६$\frac{१}{२}$ ॥

अन्तरा पतिते पिण्डे संदेहे वा पुनर्हरेत् ॥ १०७ ॥

यदा गच्छतोऽन्तराष्टममण्डलादर्वागेव पिण्डः पतति दग्धादग्धत्वे वा संशयस्तदा पुनर्हरेत् इत्यर्थप्राप्तमुक्तम्। तत्र चायमनुष्ठानक्रमः—पूर्वेद्युर्भूशुद्धिं विधायापरेद्युर्मण्डलानि यथाशास्त्रं निर्माय मण्डलाधिदेवताश्च मन्त्रैस्तत्र तत्र संपूज्याग्निमुपसमाधाय शान्तिहोमं निर्वर्त्याग्नावयःपिण्डं निधाय धर्मावाहनादिसर्वदेवतापूजां हवनान्तां निर्वर्त्य उपोषितस्य स्नातस्यार्द्रवाससः पश्चिमे मण्डले तिष्ठतो व्रीहिमर्दनादिकरसंस्कारं विधाय प्रतिज्ञापत्रं समन्त्रकं कर्तुः शिरसि बद्ध्वा प्राड्विवाकस्तृतीये तापेऽग्निमभिमन्त्र्य तप्तमयःपिण्डं संदंशेन गृहीत्वा कर्त्रभिमन्त्रितं तस्याञ्जलौ निदध्यात्। सोऽपि मण्डलानि सप्त गत्वा नवमे मण्डले प्रक्षिप्यादग्धः शुद्धो भवतीति ॥ १०७ ॥

लौहपिण्ड के बीच में गिर जाने पर या संदेह होने पर दुबारा पिण्ड लेकर चले ॥ १०७ ॥

इत्यग्निविधिः ॥

संप्रत्युदकविधिमाह—

सत्येन माऽभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिशाप्य कम् ।
नाभिदघ्नोदकस्थस्य गृहीत्वोरू जलं विशेत् ॥ १०८ ॥

हे वरुण ! 'सत्येन मामभिरक्ष त्वम्' इत्यनेन मन्त्रेण कमुदकमभिशाप्याभिमन्त्र्य नाभिदघ्नोदकस्थस्य नाभिप्रमाणोदकस्थितस्य पुरुषस्योरू गृहीत्वा शोध्यो जलं प्रविशेत् जले निमज्जेत्। एतच्च वरुणपूजायां सत्याम्;

'गन्धमाल्यैः सुरभिभिर्मधुक्षीरघृतादिभिः । वरुणाय प्रकुर्वीत पूजामादौ समाहितः ॥' इति नारदस्मरणात् । तथा साधारणधर्मेषु धर्मावाहनादिसकलदेवतापूजाहोमसमन्त्रकप्रतिज्ञापत्रशिरोनिवेशनान्तेषु सत्सु च । तथा[2]—'तोय ! त्वं प्राणिनां प्राणः सृष्टेराद्यं तु निर्मितम् । शुद्धेश्च कारणं प्रोक्तं द्रव्याणां देहिनां तथा ॥ अतस्त्वं दर्शयात्मानं शुभाशुभपरीक्षणे ॥' इति प्राड्विवाकेनोदकाभिमन्त्रणे कृते शोध्यः 'सत्येन[3] माऽभिरक्ष त्वं वरुण !' इति[4] जलं प्रार्थयेत् । उदकस्थानानि च नारदेनोक्तानि (१।३०५)—'नदीषु तनुवेगासु सागरेषु वहेषु च । ह्रदेषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च' इति । तथा पितामहेनापि—'स्थिरतोये निमज्जेत[1] न ग्राहिणि न चाल्पके । तृणशैवालरहिते जलौकामत्स्यवर्जिते ॥ देवखातेषु यत्तोयं तस्मिन्कुर्याद्विशोधनम् । आहार्यं वर्जयेन्नित्यं शीघ्रगासु नदीषु च ॥ आविशेत्सलिले नित्यमूर्मिपङ्कविवर्जिते ॥' इति । आहार्यं तडागादिभ्य आहृतं ताम्रकटाहादिक्षिप्तं जलम् । नाभिप्रमाणोदकस्थश्च यज्ञियवृक्षोद्भवां[1] धर्मस्थूणाम[2]वष्टभ्य प्राङ्मुखस्तिष्ठेत्; 'उदके प्राङ्मुखस्तिष्ठेद्धर्मस्थूणां प्रगृह्य च ।' इति स्मरणात् ॥ १०८ ॥

'हे वरुण ! आप सत्य से मेरी रक्षा करें' इस वचन से जल को अभिमन्त्रित कर नाभि तक जल में खड़े व्यक्ति की कमर पकड़कर जल में प्रवेश करे ॥ १०८ ॥

ततः किं कर्तव्यमित्यत आह—

समकालमिषुं मुक्त[3]मानीयान्यो जवी नरः ।
गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥ १०९ ॥

निमज्जनसमकालं गते तस्मिन् जविन्येकस्मिन्पुरुषे अन्यो जवी शरपातस्थानस्थितः पूर्वमुक्तमिषुमानीय जले निमग्नाङ्गं यदि पश्यति तदा[5] स शुद्धो भवति । एतदुक्तं भवति—त्रिषु[3] शरेषु मुक्तेष्वेको वेगवान्मध्यमशरपातस्थानं गत्वा तमादाय तत्रैव तिष्ठति । अन्यस्तु पुरुषो वेगवान् शरमोक्षस्थाने तोरणमूले तिष्ठति । एवं स्थितयो[4]स्तृतीयस्यां करतालिकायां शोध्यो निमज्जति । तत्समकालमेव तोरणमूलस्थितोऽपि द्रुततरं मध्यशरपातस्थानं गच्छति । शरग्राही च तस्मिन्प्राप्ते द्रुततरं तोरणमूलं प्राप्यान्तर्जलगतं यदि न पश्यति तदा शुद्धो भवतीति । एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन—'गन्तुश्चापि च कर्तुश्च समं गमनमज्जनम् । गच्छेत्तोरणमूलात्तु लक्ष्यस्थानं जवी नरः ॥ तस्मिन्गते द्वितीयोऽपि वेगादादाय सायकम् । गच्छेत्तोरणमूलं तु यतः स पुरुषो गतः ॥ आगतस्तु शरग्राही न पश्यति यदा जले । अन्तर्जलगतं सम्यक्तदा शुद्धं विनिर्दिशेत् ॥' इति । जविनोश्च पुरुषयोर्निर्धारणं कृतं नारदेन—'पञ्चाशतो धावकानां यौ स्यातामधिकौ जवे । तौ च तत्र नियोक्तव्यौ शरानयनकारणात् ॥' इति । तोरणं च निमज्जनसमीपस्थाने समे शोध्यकर्णप्रमाणोच्छ्रितं कार्यम्;

'गत्वा तु तज्जलस्थानं तटे तोरणमुच्छ्रितम् । कुर्वीत कर्णमात्रं तु भूमिभागे समे शुचौ ॥' इति नारदस्मरणात् । शरत्रयं वैणवं च धनुर्मङ्गलद्रव्यैः श्वेतपुष्पादिभिः प्रथमं संपूजयेत्; 'शरान्संपूजयेत्पूर्वं वैणवं च धनुस्तथा । मङ्गलैर्धूपपुष्पैश्च ततः कर्म समाचरेत् ॥' इति पितामहवचनात् । धनुषः प्रमाणं लक्ष्यस्थानं च नारदेनोक्तम्—'क्रूरं धनुः सप्तशतं मध्यमं षट्शतं स्मृतम् । मन्दं पञ्चशतं ज्ञेयमेष ज्ञेयो धनुर्विधिः ॥ मध्यमेन तु चापेन प्रक्षिपेच्च शरत्रयम् । हस्तानां तु शते सार्धे लक्ष्यं कृत्वा विचक्षणः ॥ न्यूनाधिके तु दोषः स्यात्क्षिपतः सायकांस्तथा ॥' इति । अङ्गुलानां सप्ताधिकं शतं सप्तशतं क्रूरं धनुः । एवं षट्शतं पञ्चशतं च । एवं चैकादशाङ्गुलाधिकं हस्तचतुष्टयं क्रूरस्य धनुषः प्रमाणम्, मध्यमस्य दशाङ्गुलाधिकम्, मन्दस्य नवाङ्गुलाधिकमित्युक्तं भवति । शराश्चानायसाग्रा वैणवाः कार्याः; 'शरांश्चानाय साग्रांस्तु प्रकुर्वीत विशुद्धये । वेणुकाण्डमयांश्चैव क्षेप्ता तु सुदृढं क्षिपेत् ॥' इति स्मरणात् । क्षेप्ता क्षत्रियस्तद्वृत्तिर्वा ब्राह्मणः सोपवासो नियोक्तव्यः । यथाह—'क्षेप्ता च क्षत्रियः प्रोक्तस्तद्वृत्तिर्ब्राह्मणोऽपि वा । अक्रूरहृदयः शान्तः सोपवासस्ततः क्षिपेत् ॥' इति । त्रिषु मुक्तेषु मध्यमः शरो ग्राह्यः; तेषां च प्रेषितानां च शराणां शास्त्रचोदनात् । मध्यमस्तु शरो ग्राह्यः पुरुषेण बलीयसा ॥' इति वचनात् । तत्रापि पतनस्थानादानेतव्यः; न सर्पणस्थानात्, 'शरस्य पतनं ग्राह्यं सर्पणं तु विवर्जयेत् । सर्पन्सर्पञ्छरो यायाद्दूराद्दूरतरं यतः ॥' इति वचनात् । वाते च प्रवायति विषमादिदेशे च शरमोक्षो न कर्तव्यः; 'इषुं न प्रक्षिपेद्विद्वान्मारुते चातिवायति । विषमे भूप्रदेशे च वृक्षस्थानसमाकुले ॥ तृणगुल्मलतावल्लीपङ्कपाषाणसंयुते ॥' इति पितामहवचनात् । निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयादिति वदता उन्मज्जिताङ्गस्याशुद्धिर्दर्शिता । स्थानान्तरगमने चाशुद्धिः पितामहेनोक्ता; 'अन्यथा न विशुद्धिः स्यादेकाङ्गस्यापि दर्शनात् ॥' इति 'स्थानाद्वाऽन्यत्र गमनाद्यस्मिन्पूर्वं निवेशितः ॥' इति । एकाङ्गस्यापि दर्शनादिति च कर्णाद्यभिप्रायेण । 'शिरोमात्रं तु दृश्येत न कर्णौ नापि नासिका । अप्सु प्रवेशने यस्य शुद्धं तमपि निर्दिशेत् ॥' इति विशेषाभिधानात् । अयमत्र प्रयोगक्रमः—'उक्तलक्षणजलाशयसंनिधावुक्तलक्षणं तोरणं विधाय उक्तप्रमाणे देशे लक्ष्यं निधाय तोरणसंनिधौ सशरं धनुः संपूज्य जलाशये वरुणमावाह्य पूजयित्वा तत्तीरे धर्मादींश्च देवान्हवनान्तमिष्ट्वा शोध्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रमाबध्य प्राड्विवाको जलमभिमन्त्रयते—'तोय ! त्वं प्राणिनां प्राणः' इत्यादिना मन्त्रेण । अथ शोध्यः—'सत्येन' इत्यादिना मन्त्रेण जलमभिमन्त्र्य गृहीतस्थूणस्य नाभिमात्रोदकावस्थितस्य बलीयसः पुरुषस्य समीपमुपसर्पति । अथ शरेषु त्रिषु मुक्तेषु मध्यमशरपातस्थाने मध्यमं शरं गृहीत्वा जविन्येकस्मिन्पुरुषे स्थिते अन्यस्मिंश्च तोरणमूले स्थिते प्राड्विवाकेन तालत्रये दत्ते युगपद्गमनमज्जनमथ शरानयनमिति ॥ १०९ ॥

उसके डुबकी लगाने के साथ ही छोड़े गये बाण को लेने के लिये एक तीव्र गति वाला व्यक्ति जाय। यदि बाण को ले आने के समय तक वह डुबकी लगाये रहे तो वह शुद्ध होता है ॥ १०९ ॥

इत्युदकविधिः ॥

इदानीं विषविधानमाह—

त्वं विष! ब्रह्मणः पुत्रः सत्यधर्मे व्यवस्थितः।
त्रायस्वास्मादभीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम् ॥ ११० ॥
एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम्।
यस्य वेगैर्विना जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥ १११ ॥

'त्वं विष'इत्यादिमन्त्रेण विषमभिमन्त्र्य कर्ता विषं हिमशैलजं शृङ्गभवं भक्षयेत्। तच्च भक्षितं सत् यस्य विषं वेगैर्विना जीर्यति स शुद्धो भवति। विषवेगो नाम धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिः। 'धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिर्विषवेग इति स्मृतः' इति वचनात्। धातवश्च त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणीति सप्त। एवं च सप्तैव विषवेगा भवन्ति। तेषां च लक्षणानि पृथगेव विषतन्त्रे कथितानि— 'वेगो रोमाञ्चमाद्यो रचयति विषजः स्वेदवक्त्रोपशोषौ तस्योर्ध्वंस्तत्परौ द्वौ वपुषि जनयतो वर्णभेदप्रवेपौ। यो वेगः पञ्चमोऽसौ नयति विवशतां कण्ठभङ्गं च हिक्कां षष्ठो निःश्वासमोहौ वितरति च मृतिं सप्तमो भक्षकस्य ॥' इति। अत्र च महादेवस्य पूजा कर्तव्या। यथाह नारदः—'दद्याद्विषं सोपवासो देवब्राह्मणसंनिधौ। धूपोपहारमन्त्रैश्च पूजयित्वा महेश्वरम् ॥' इति प्राड्विवाकः कृतोपवासो महादेवं पूजयित्वा तस्य पुरतो विषं व्यवस्थाप्य धर्मादिपूजां हवनान्तां विधाय प्रतिज्ञापत्रं शोध्यस्य शिरसि निधाय विषमभिमन्त्रयते—'त्वं विष! ब्रह्मणा सृष्टं परीक्षार्थं दुरात्मनाम्। पापानां दर्शयात्मानं शुद्धानाममृतं भव ॥ मृत्युमूर्ते विष! त्वं हि ब्रह्मणा परिनिर्मितम्। त्रायस्वैनं नरं पापात्सत्येनास्यामृतं भव ॥' इति। एवमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखावस्थिताय दद्यात्; 'द्विजानां संनिधावेव दक्षिणाभिमुखे स्थिते। उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा विषं दद्यात्समाहितः ॥' इति नारदवचनात्। विषं च वत्सनाभादि ग्राह्यम्; 'शृङ्गिणो वत्सनाभस्य हिमजस्य विषस्य वा ॥' इति पितामहवचनात्। वर्ज्यानि च तेनैवोक्तानि—'चारितानि च जीर्णानि कृत्रिमाणि तथैव च। भूमिजानि च सर्वाणि विषाणि परिवर्जयेत् ॥' इति। तथा नारदेनापि (१।३२१)—'भ्रष्टं च चारितं चैव धूपितं मिश्रितं तथा। कालकूटमलाबुं च विषं यत्नेन वर्जयेत् ॥' इति। कालश्च नारदेनोक्तः (१।३१९)—'तोलयित्वेप्सितं काले देयं तद्धि हिमागमे। नापराह्णे न मध्याह्ने न संध्यायां तु धर्मवित् ॥' इति। कालान्तरे तूक्तप्रमाणादल्पं देयम्; 'वर्षे चतुर्यवा मात्रा ग्रीष्मे पञ्चयवा स्मृता। हेमन्ते सा सप्तयवा शरद्यल्पा ततोऽपि हि ॥' इति स्मरणात्। अल्पेति षड्यवेत्यर्थः। 'हेमन्त'ग्रहणेन शिशिरस्यापि

ग्रहणम्। 'हेमन्तशिशिरयोः समासेन' इति श्रुतेः। वसन्तस्य च सर्वदिव्यसाधारणत्वात्तत्रापि सप्त यवा विषं च घृतप्लुतं देयं; नारदवचनात्। 'विषस्य पलषड्भागाद्भागो विंशतिमस्तु यः। तमष्टभागहीनं तु शोध्ये दद्याद्घृतप्लुतम्॥' (नारदः १।३२३) इति। पलं चात्र चतुःसुवर्णकम्। तस्य षष्ठो भागो दश माषाः दश यवाश्च भवन्ति। 'त्रियवं त्वेककृष्णलम्। पञ्चकृष्णलको माषः' इत्येको माषः पञ्चदश यवा भवन्ति। एवं दशानां माषाणां यवाः सार्धशतं भवन्ति। पूर्वे च दश यवा इति षष्ट्यधिकं शतं यवाः पलस्य षष्ठो भागस्तस्माद्विंशतितमो भागोऽष्टौ यवास्तस्याष्टभाग एकयवः, तेन हीनं विंशतितमं भागं सप्तयवं घृतप्लुतं दद्यात्। घृतं च विषात्त्रिंशद्गुणं ग्राह्यम्; 'पूर्वाह्णे शीतले देशे विषं देयं तु देहिनाम्। घृते नियोजितं श्लक्ष्णं पिष्टं त्रिंशद्गुणान्वितम्॥' इति कात्यायनवचनात्। त्रिंशद्गुणेन घृतेनान्वितं विषम्। शोध्यश्च कुहकादिभ्यो रक्षणीयः; 'त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा पुरुषैः स्वैरधिष्ठितम्। कुहकादिभयाद्राजा रक्षयेद्दिव्यकारिणम्॥ ओषधीर्मन्त्रयोगांश्च मणीनथ विषापहान्। कर्तुः शरीरसंस्थांस्तु गूढोत्पन्नान्परीक्षयेत्॥' इति पितामहस्मरणात्। तथा विषमपि रक्षणीयम्—'शार्ङ्गं हैमवतं शस्तं गन्धवर्णरसान्वितम्। अकृत्रिममसंमूढममन्त्रोपहतं च यत्॥' (१।३२२) इति नारदस्मरणात्। तथा विषे पीते यावत्करतालिकाशतपञ्चकं तावत्प्रतीक्षणीयोऽनन्तरं चिकित्सनीयः। यथाह नारदः—'पञ्चतालशतं कालं निर्विकारो यदा भवेत्। तदा भवति संशुद्धस्ततः कुर्याच्चिकित्सितम्॥' इति। पितामहेन तु दिनान्तोऽवधिरुक्तोऽल्पमात्राविषयः—'भक्षिते तु यदा स्वस्थो मूर्च्छाच्छर्दिविवर्जितः। निर्विकारो दिनस्यान्ते शुद्धं तमपि निर्दिशेत्॥' इति। अत्र च प्राड्विवाकः सोपवासो महादेवं संपूज्य तत्पुरतो विषं स्थापयित्वा धर्मादीनिष्ट्वा शोध्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रं निधाय विषमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखस्थिताय विषं प्रयच्छति। स च शोध्यो विषमभिमन्त्र्य भक्षयतीति क्रमः॥११०–१११॥

हे विष! तुम ब्रह्मा के पुत्र तथा सत्य धर्म में स्थित हो। इस अभिशाप से मेरी रक्षा करो और सत्य के द्वारा मेरे लिये अमृत बनो। इस प्रकार कह कर हिमालय पर उत्पन्न शृङ्ग के विष को खा जाय। जो व्यक्ति विष को बिना उसका वेग (प्रभाव) प्रकट हुये ही पचा जाय वह शुद्ध होता है ॥ ११०-१११ ॥

इति विषविधानम्॥

अथ कोशविधिमाह—

देवानुग्रान्समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत्।
संस्राव्य पाययेत्तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम्॥ ११२॥

उग्रान्देवान्दुर्गादित्यादीन् समभ्यर्च्य गन्धपुष्पादिभिः पूजयित्वा संस्नाप्य तत्स्नानोदकमाहरेत्। आहृत्य च 'तोय! त्वं प्राणिनां प्राणः' इत्यादिना

तत्तोयं प्राड्विवाकः **संस्नाप्य** शोध्येन च तत्तोयं पात्रान्तरे कृत्वा 'सत्येन माभिरक्ष त्वं वरुण!' इत्यनेनाभिमन्त्रितं **पाययेत्प्रसृतित्रयम्**। एतच्च साधारणधर्मेषु धर्मावाहनादिसकलदेवतापूजाहोमसमन्त्रकप्रतिज्ञापत्रशिरोनिवेशनान्तेषु सत्सु। अत्र च स्नाप्यदेवतानियमः कार्यनियमोऽधिकारिनियमश्च पितामहादिभिरुक्तः—'भक्तो यो यस्य देवस्य पाययेत्तस्य तज्जलम्। समभावे तु देवानामादित्यस्य च पाययेत् ॥ दुर्गायाः पाययेच्चौरान्ये च शस्त्रोपजीविनः। भास्करस्य तु यत्तोयं ब्राह्मणं तत्र पाययेत् ॥ दुर्गायाः स्नापयेच्छूलमादित्यस्य तु मण्डलम्। अन्येषामपि देवानां स्नापयेदायुधानि तु ॥' इति देवतानियमः। 'विस्रम्भे सर्वशङ्कासु संधिकार्ये तथैव च। एषु कोशः प्रदातव्यो नित्यं चित्तविशुद्धये ॥' इति कार्यनियमः। 'पूर्वाह्णे सोपवासस्य स्नातस्यार्द्रपटस्य च। सशूकस्याव्यसनिनः कोशपानं विधीयते ॥' (नारदः १।३२८) सशूक आस्तिकः। 'मद्यपस्त्रीव्यसनिनां कितवानां तथैव च। कोशः प्राज्ञैर्न दातव्यो ये च नास्तिकवृत्तयः ॥ महापराधे निर्धर्मे कृतघ्ने क्लीबकुत्सिते। नास्तिकव्रात्यदाशेषु कोशपानं विवर्जयेत् ॥' इति। महापराधो महापातककी, निर्धर्मो वर्णाश्रमधर्मरहितः पाखण्डी, कुत्सितः प्रतिलोमजः। दाशाः कैवर्ताः, इत्यधिकारिनियमः। तथा गोमयेन मण्डलं कृत्वा तत्र शोध्यमादित्याभिमुखं स्थापयित्वा पाययेदिति नारदवचनादवगन्तव्यम्। यथाह—'तमाहूयाभिशस्तं तु मण्डलाभ्यन्तरे स्थितम्। आदित्याभिमुखं कृत्वा पाययेत्प्रसृतित्रयम् ॥' इति ॥ ११२ ॥

(दुर्गा, आदित्य इत्यादि) उग्र देवों की पूजा कर उनके स्नानोदक को लावे। उसे दूसरे पात्र में रखकर तीन अञ्जलि (दिव्य करने वाले को) पिलावे ॥ ११२ ॥

ननु तुलादिषु विषान्तेषु समनन्तरमेव शुद्ध्यशुद्धिभावना, कोशे तु कथमित्यत आह—

अर्वाक् चतुर्दशादह्नो यस्य नो राजदैविकम्।
व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यान्न संशयः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशादह्नः पूर्वं यस्य राजिकं राजनिमित्तं **दैविकं** देवप्रभवं **व्यसनं** दुःखं **घोरं** महत् **नो** नैव **जायते** अल्पस्य देहिनामपरिहार्यत्वात्स **शुद्धो** वेदितव्यः। ऊर्ध्वं पुनरवधेर्न दोषः। यथाह नारदः (१।३३१)—'ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहाद्वैकृतं तु महद्भवेत्। नाभियोज्यः स विदुषा कृतकालव्यतिक्रमात् ॥' इत्यर्थसिद्धमेवोक्तम्। 'अर्वाक् चतुर्दशादह्नः' इत्येतन्महाभियोगविषयम्; 'महाभियोगेष्वेतानि' इति प्रस्तुत्याभिधानात्। अवध्यन्तराणि पितामहेनोक्तान्यल्पविषयाणि; 'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इति स्मरणात्। तानि च—'त्रिरात्रात्सप्तरात्राद्वा द्वादशाहाद्द्विसप्तकात्। वैकृतं यस्य दृश्येत पापकृत्स उदाहृतः ॥' इति। महाभियोगोक्तद्रव्यादर्वाचीनं द्रव्यं त्रिधा विभज्य त्रिरात्राद्यपि पक्षत्रयं व्यवस्थापनीयम् ॥ ११३ ॥

(इस दिव्य को करने वाले) जिस व्यक्ति पर चौदह दिनों तक राजकृत या दैवकृत घोर विपत्ति नहीं पड़ती वह निस्संदेह शुद्ध है ॥ ११३ ॥

इति कोशविधिः ॥

तुलादीनि कोशान्तानि पञ्च महादिव्यानि यथोद्देशं योगीश्वरेण व्याख्यातानि । स्मृत्यन्तरे स्वल्पाभियोगविषयाण्यन्यान्यपि दिव्यानि कथितानि । यथाह पितामहः—'तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणनोदितम् । चौरे तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चयः ॥ तण्डुलान्कारयेच्छुक्लाञ्छालेर्नान्यस्य कस्यचित् । मृन्मये भाजने कृत्वा आदित्यस्याग्रतः शुचिः ॥ स्नानोदकेन संसिक्तान्रात्रौ तत्रैव वासयेत् । प्राङ्मुखोपोषितं स्नातं शिरोरोपितपत्रकम् ॥ तण्डुलान्भक्षयित्वा तु पत्रे निष्ठीवयेत्ततः । पिप्पलस्य तु नान्यस्य अभावे भूर्ज एव तु ॥ लोहितं दृश्यते यस्य हनुस्तालु च शीर्यते । गात्रं च कम्पते यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेत् ॥' इति । शिरोरोपितपत्रकं तण्डुलान्भक्षयित्वा निष्ठीवयेत्प्राड्विवाकः ॥ भक्षयित्वेति च ण्यन्तात्सिन्चि रूपम् । सर्वदिव्यसाधारणं च धर्मावाहनादि पूर्ववदिहापि कर्तव्यम् ॥

इति तण्डुलविधिः ॥

तप्तमाषविधिः पितामहेनोक्तः । तथा हि—'सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं वा षोडशाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलखातं तु मृन्मयं वाऽथ मण्डलम् ॥' वर्तुलमित्यर्थः । 'पूरयेद्घृततैलाभ्यां विंशत्या तु पलैस्तु तत् । सुवर्णमाषकं तस्मिन्सुतप्ते निक्षिपेत्ततः ॥ अङ्गुष्ठाङ्गुलियोगेन उद्धरेत्तप्तमाषकम् । कराग्रं यो न धुनुयाद्विस्फोटो वा न जायते । शुद्धो भवति धर्मेण निर्विकारकराङ्गुलिः ॥' इति । 'उद्धरेत्'इति वचनात्पात्रादुत्क्षेपणमात्रं, नै बहिः प्रक्षेपणमादरणीयम् ॥

अपरः कल्पः—'सौवर्णे राजते ताम्रे आयसे मृन्मयेऽपि वा । गव्यं घृतमुपादाय तदग्नौ तापयेच्छुचिः ॥ सौवर्णीं राजतीं ताम्रीमायसीं वा सुशोधिताम् । सलिलेन सकृद्धौतां प्रक्षिपेत्ताम्र मुद्रिकाम् ॥' (नारदः १।३३४) 'भ्रमद्वीचितरङ्गाढ्ये ह्यनखस्पर्शगोचरे । परीक्षेतार्द्रपर्णेन चुँरुकारं सुघोषकम् ॥ ततश्चानेन मन्त्रेण सकृत्तदभिमन्त्रयेत् ॥ परं पवित्रममृतं घृत त्वं यज्ञकर्मसु । दह पावक! पापं त्वं हिमशीतं शुचौ भव ॥ उपोषितं ततः स्नातमार्द्रवाससमागतम् । ग्राहयेन्मुद्रिकां तां तु घृतमध्यगतां तथा ॥ प्रदेशिनीं च तस्याथ परीक्षेयुः परीक्षकाः । यस्य विस्फोटका न स्युः शुद्धोऽसावन्यथाऽशुचिः ॥' इति । अत्रापि धर्मावाहनाद्यनुसंधातव्यम् ॥ घृतानुमन्त्रणं प्राड्विवाकस्य । 'त्वमग्ने! सर्वभूतानाम्' इति शोध्यस्याप्यभिमन्त्रणमन्त्रः । 'प्रदेशिनीं परीक्षेयुः' इति वचनात् प्रदेशिन्यैव मुद्रिकोद्धरणम् ॥

इति तप्तमाषकविधिः ॥

धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥ धर्माधर्माख्यदिव्यविधिश्च पितामहेनोक्तः । तथाच—'अधुना संप्रवक्ष्यामि धर्माधर्मपरीक्षणम् । हन्तॄणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां नृणाम् ॥' इति । हन्तॄणामिति साहसाभियोगेषु, याचमानानामिति अर्थाभियोगेषु, प्रायश्चित्तार्थिनामिति पातकाभियोगेषु; 'राजतं कारयेद्धर्ममधर्मं सीसकायसम्' इति प्रतिमाविधानं सीसकं वा आयसं वेति ॥ पक्षान्तरमाह—'लिखेद्भूर्जे पटे वापि धर्माधर्मौ सितासितौ । अभ्युक्ष्य पञ्चगव्येन गन्धमाल्यैः समर्चयेत् ॥ सितपुष्पस्तु धर्मः स्यादधर्मोऽसितपुष्पधृक् । एवंविधायोपलिख्य पिण्डयोस्तौ निधापयेत् ॥ गोमयेन मृदा वापि पिण्डौ कार्यौ समंततः । मृद्भाण्डकेऽनुपहते स्थाप्यौ चानुपलक्षितौ ॥ उपलिप्ते शुचौ देशे देवब्राह्मणसंनिधौ । आवाहयेत्ततो देवाँल्लोकपालांश्च पूर्ववत् ॥ धर्मावाहनपूर्वं तु प्रतिज्ञापत्रकं लिखेत् ॥' ततः—'यदि पापविमुक्तोऽहं धर्मस्त्वायातु मे करे । अशुद्धश्चेन्मम करे पापं आयातु धर्मतः ॥' इति ॥ अभिशस्तोऽभिमन्त्रयते—'अभियुक्तस्तयोश्चैकं प्रगृह्णीताविलम्बितः । धर्मे गृहीते शुद्धः स्यादधर्मे तु स हीयते ॥ एवं समासतः प्रोक्तं धर्माधर्मपरीक्षणम् ॥' इति ॥

इति धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥

अन्ये च शपथा द्रव्याल्पत्वमहत्त्वविषया जातिविशेषविषयाश्च मन्वादिभिरुक्ताः । ते यथा—'निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पादलम्भनम् । त्रिकादर्वाक्तु पुण्यं स्यात्कोशपानमतः परम् ॥' (मनुः ८।११३) 'सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥' (मनुः ८।११३) इत्यादयः । अत्र च शुद्धिविभावना मनुनोक्ता (८।११५)—'न चाऽऽर्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः' इति । आर्तिरपि 'यस्य नो राजदैविकं व्यसनं जायते घोरम्' इत्युक्तैव । कालनियमश्च एकरात्रमारभ्य त्रिरात्रपर्यन्तं त्रिरात्रमारभ्य पञ्चरात्रपर्यन्तम् । एकरात्रप्रभृतित्वं कार्यलाघवगौरवपर्यालोचनया द्रष्टव्यम् ॥ एवं दिव्यैर्जयपराजयावधारणे दण्डविशेषोऽपि दर्शितः कात्यायने—'शतार्धं दापयेच्छुद्धमशुद्धो दण्डभाग्भवेत्' इति । तं दण्डमाह—'विषे तोये हुताशे च तुलाकोशे च तण्डुले । तप्तमाषकदिव्ये च क्रमाद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ सहस्रं षट्शतं चैव तथा पञ्चशतानि च । चतुस्त्रिद्व्येकमेवं च हीनं हीनेषु कल्पयेत् ॥' इति ॥ 'निह्नवे भावितो दद्याद्' इत्युक्तदण्डेनायं दिव्यनिबन्धनो दण्डः समुच्चीयते ॥

इति दिव्यप्रकरणम् ॥

अथ दायविभागप्रकरणम् ८

प्रमाणं मानुषं दैवमिति भेदेन वर्णितम्।
अधुना वर्ण्यते दायविभागो योगमूर्तिना ॥

तत्र 'दाय'शब्देन यद्धनं स्वामिसंबन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते। स च द्विविधः–अप्रतिबन्धः, सप्रतिबन्धश्च । तत्र पुत्राणां पौत्राणां च पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च पितृधनं पितामहधनं च स्वं भवतीत्यप्रतिबन्धो दायः । पितृव्यभ्रात्रादीनां तु पुत्राभावे स्वाम्यभावे च स्वं भवतीति सप्रतिबन्धो दायः । एवं तत्पुत्रादिष्वप्यूहनीयः । विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं नारदेन—'विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य तनयैर्यत्र कल्प्यते। दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः (ना०१३।१)॥' इति। पित्र्यस्येति स्वत्वनिमित्तसंबन्धोपलक्षणम्। 'तनयैः'इत्यपि प्रत्यासन्नोपलक्षणम्। इदमिह निरूपणीयम्,–कस्मिन्काले कस्य कथं कैश्च विभागः कर्तव्य इति। तत्र कस्मिन्काले कथं कैश्चेति तत्र तत्र श्लोकव्याख्यान एव वक्ष्यते। कस्य विभाग इत्येतावदिह चिन्त्यते। किं विभागात्स्वत्वमुत स्वस्य सतो विभाग इति। तत्र स्वत्वमेव तावन्निरूप्यते–किं शास्त्रैकसमधिगम्यं स्वत्वमुत प्रमाणान्तरसमधिगम्यमिति । तत्र शास्त्रैकसमधिगम्यमिति तावद्युक्तं; गौतमवचनात्—'स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं क्षत्रियस्य विजितं निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः ॥' (गौ०१०।३९-४२) इति। प्रमाणान्तरगम्ये स्वत्वे नेदं वचनमर्थवत्स्यात्। तथा स्तेनातिदेशे मनुः (८।३४०)—'योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम्। याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥' इति। अदत्तादायिनः सकाशाद्याजनादिद्वारेणापि द्रव्यमर्जयतां दण्डविधानमनुपपन्नं स्यात्स्वत्वस्य लौकिकत्वे। अपि च, लौकिकं चेत्स्वत्वं मम स्वमनेनापहृतमिति न ब्रूयात्;अपहर्तुरेव स्वत्वात्। अन्यथाऽन्यस्य स्वं तेनापहृतमिति नापहर्तुः स्वम्। एवं तर्हि सुवर्णरजतादिस्वरूपवदस्य वा स्वमन्यस्य वा स्वमिति संशयो न स्यात्। तस्माच्छास्त्रैकसमधिगम्यं स्वत्वमिति। अत्रोच्यते—'लौकिकमेव स्वत्वं लौकिकार्थक्रियासाधनत्वात् व्रीह्यादिवत्। आहवनीयादीनां हि शास्त्रगम्यानां न लौकिकक्रियासाधनत्वमस्ति ॥ नन्वाहवनीयादीनामपि पाकादिसाधनत्वमस्त्येव। नैतत्,–नहि तत्राहवनीयादिरूपेण पाकादिसाधनत्वम्। किं तर्हि? प्रत्यक्षादिपरिदृश्यमानाग्न्यादिरूपेण। इह तु सुवर्णादिरूपेण न क्रयादिसाधनत्वमपि तु स्वत्वेनैव। नहि यस्य यत्स्वं न भवति तत्तस्य क्रयाद्यर्थक्रियां साधयति ॥ अपि च,–प्रत्यन्तवासिनामप्यदृष्टशास्त्रव्यवहाराणां स्वत्वव्यवहारो दृश्यते; क्रयविक्रयादिदर्शनात्। किंच,–नियतोपायकं स्वत्वं लोकसिद्धमेवेति न्यायविदो मन्यन्ते। तथा हि—लिप्सासूत्रे तृतीये वर्णके द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न स्यात्। स्वत्वस्यालौकिकत्वादिति पूर्वपक्षासंभवमाशङ्क्य द्रव्यार्जनस्य प्रतिग्रहादिना स्वत्वसाधनत्वं लोकसिद्धमिति पूर्वपक्षः समर्थितो गुरुणा—ननु च द्रव्यार्जनस्य क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न भवतीति याग एव

न संवर्तेत। प्रलपितमिदं केनापि 'अर्जनं स्वत्वं नापादयतीति विप्रतिषिद्धम्' इति वदता। तथा सिद्धान्तेऽपि स्वत्वस्य लौकिकत्वमङ्गीकृत्यैव विचारप्रयोजनमुक्तम्, अतो 'नियमातिक्रमः पुरुषस्य न क्रतोः' इति। अस्य चार्थ एवं विवृतः—यदा द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वं तदा नियमार्जितेनैव द्रव्येण क्रतुसिद्धिर्न नियमातिक्रमार्जितेन द्रव्येण न क्रतुसिद्धिरिति न पुरुषस्य नियमातिक्रमदोषः पूर्वपक्षे। राद्धान्ते त्वर्जननियमस्य पुरुषार्थत्वात्तदतिक्रमेणार्जितेनापि द्रव्येण क्रतुसिद्धिर्भवति, पुरुषस्यैव नियमातिक्रमदोष इति नियमातिक्रमार्जितस्यापि स्वत्वमङ्गीकृतम् ,—अन्यथा क्रतुसिद्ध्यभावात्, न चैतावता चौर्यादिप्राप्तस्यापि स्वत्वं स्यादिति मन्तव्यम्। लोके तत्र स्वत्वप्रसिद्ध्यभावात्, व्यवहारविसंवादाच्च एवं प्रतिग्रहाद्युपायके स्वत्वे लौकिके स्थिते—'ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादय उपायाः, क्षत्रियस्य विजितादयः, वैश्यस्य कृष्यादयः, शूद्रस्य शुश्रूषादयः' इत्यदृष्टार्था नियमाः। रिक्थादयस्तु सर्वसाधारणाः—'स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु' (गौ० १०।३९) इत्युक्ताः। तत्राप्रतिवन्धो दायो रिक्थम्। क्रयः प्रसिद्धः। संविभागः सप्रतिवन्धो दायः। परिग्रहोऽनन्यपूर्वस्य जलतृणकाष्ठादेः स्वीकारः। अधिगमो निध्यादेः प्राप्तिः। एतेषु निमित्तेषु सत्सु स्वामी भवति। ज्ञातेषु ज्ञायते स्वामी। 'ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम्' (गौ० १०।४०) इति ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादिना यल्लब्धं तदधिकमसाधारणम्। 'क्षत्रियस्य विजितम्' (गौ० १०।४१) इत्यत्राधिकमित्यनुवर्तते। क्षत्रियस्य विजयदण्डादिलब्धमसाधारणम्। 'निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः'(गौ०१०।४२) इत्यत्राप्यधिकमित्यनुवर्तते। वैश्यस्य कृषिगोरक्षादिलब्धं निर्विष्टं तदसाधारणम्। शूद्रस्य द्विजशुश्रूषादिना भृतिरूपेण यल्लब्धं तदसाधारणम्। एवमनुलोमजानां प्रतिलोमजानां च लोकप्रसिद्धेषु स्वत्वहेतुषु यद्यदसाधारणमुक्तं 'सूतानामश्वसारथ्यम्' इत्यादि तत्तत्सर्वं निर्विष्टशब्देनोच्यते सर्वस्यापि भृतिरूपत्वात् ॥ 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' (तृ० ना० २१४) इति त्रिकाण्डीस्मरणात्। तत्तदसाधारणं वेदितव्यम्। यदपि 'पत्नी दुहितरश्चैव' (-व्य० १३५) इत्यादिस्मरणं गर्हितेनासत्प्रतिग्रहवाणिज्यादिना लब्धस्य स्वत्वमेव नास्तीति तत्पुत्राणां तदविभाज्यमेव। यदा तु लौकिकं स्वत्वं तदाऽसत्प्रतिग्रहादिलब्धस्यापि स्वत्वात्तत्पुत्राणां तद्विभाज्यमेव। 'तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति' इति प्रायश्चित्तमर्जयितुरेव, तत्पुत्रादीनां तु दायत्वेन स्वत्वमिति न तेषां दोषसंबन्धः; 'सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः। प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥' इति (१०।११५) मनुस्मरणात् ॥

इदानीमिदं संदिह्यते—'किं विभागात्स्वमुत स्वस्य सतो विभाग इति। तत्र विभागात्स्वमिति तावद्युक्तम्; जातपुत्रस्याधानविधानात्। यदि जन्मनैव स्वत्वं स्यात्तदोत्पन्नस्य पुत्रस्यापि तत्स्वं साधारणमिति द्रव्यसाध्येष्वाधानादिषु पितुरनधिकारः स्यात्। तथा विभागात्प्राक् पितृप्रसादलब्धस्य विभागप्रतिषेधो नोपपद्यते; सर्वानुमत्या दत्तत्वाद्विभागप्राप्त्यभावात्। यथाह—'शौर्यभार्याधने चोभे यच्च विद्याधनं भवेत्। त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः ॥' (ना० १३।६) इति ॥

तथा 'भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन्मृतेऽपि तत् । सा यथाकाममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावराद्दते ॥' इति प्रीतिदानवचनं च नोपपद्यते, जन्मनैव स्वत्वे । नच 'स्थावराद्दते यद्दत्तम्' इति संवन्धो युक्तः; व्यवहितयोजनाप्रसङ्गात् । यदपि—'मणिमुक्ताप्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः । स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः ॥' तथा—'पितृप्रसादाद्भुज्यन्ते वस्त्राण्याभरणानि च । स्थावरं तु न भुज्येत प्रसादे सति पैतृके ॥' इति स्थावरस्य प्रसाददानप्रतिषेधवचनं, तत्पितामहोपात्तस्थावरविषयम् । अतीते पितामहे तद्धनं पित्रापुत्रयोः साधारणमपि मणिमुक्तादि पितुरेव, स्थावरं तु साधारणमित्यस्मादेव वचनादवगम्यते । तस्मान्न जन्मना स्वत्वं किंतु स्वामिनाशाद्विभागाद्वा स्वत्वम् । अत एव पितुरूर्ध्वं विभागात्प्राग्द्रव्यस्वत्वस्य प्रहीणत्वादन्येन गृह्यमाणं न निवार्येत इति चोद्यस्यानवकाशः । तथैकपुत्रस्यापि पितृप्रयाणादेव पुत्रस्य स्वमिति न विभागमपेक्षत इति । अत्रोच्यते—लोकप्रसिद्धमेव स्वत्वमित्युक्तम् । लोके च पुत्रादीनां जन्मनैव स्वत्वं प्रसिद्धतरं नापह्नवमर्हति । 'विभाग'शब्दश्च बहुस्वामिकधनविषयो लोकप्रसिद्धः, नान्यदीयविषयो न प्रहीणविषयः; तथा 'उत्पत्त्यैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्याः' इति गौतमवचनाच्च । 'मणिमुक्ताप्रवालानाम्', इत्यादिवचनं च जन्मना स्वत्वपक्ष एवोपपद्यते । नच पितामहोपात्तस्थावरविषयमिति[1] युक्तम्; 'न पिता न पितामहः' इति वचनात् । पितामहस्य[1] हि स्वार्जितमपि पुत्रे पौत्रे च सत्यदेयमिति वचनं जन्मना स्वत्वं गमयति । तथा परमते मणिमुक्ताप्रवाल[2]वस्त्राभरणादीनां पैतामहानामपि पितुरेव स्वत्वं; वचनात्, एवमस्मन्मतेऽपि पित्रार्जितानामप्येतेषां[2] पितुर्दानाधिकारः, वचनादित्यविशेषः ॥ यत्तु[1] 'भर्त्रा प्रीतेन' इत्यादिविष्णुवचनं स्थावरस्य प्रीतिदानज्ञापनं. तत्स्वोपार्जितस्यापि पुत्राद्यभ्यनुज्ञयैवेति व्याख्येयम्; पूर्वोक्तैर्मणिमुक्तादिवचनैः स्थावरव्यतिरिक्तस्यैव प्रीतिदानयोग्यत्वनिश्चयात् ॥ यदप्यर्थसाध्येषु वैदिकेषु कर्मस्वनधिकार इति, तत्र तद्विधानबलादेवाधिकारो गम्यते । तस्मात्पैतृके पैतामहे च द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वम्, तथापि पितुरावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानकुटुम्बभरणापद्विमोक्षादिषु च स्थावरव्यतिरिक्तद्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितम् । स्थावरे तु स्वार्जिते पित्रादिप्राप्ते च पुत्रादिपारतन्त्र्यमेव; 'स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपि स्वयमर्जितम् । असंभूय सुतान्सर्वान्न दानं न च विक्रयः ॥ ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः । वृत्तिं च तेऽभिकाङ्क्षन्ति न दानं न च विक्रयः ॥' इत्यादिस्मरणात् । अस्यापवादः—'एकोऽपि स्थावरे कुर्याद्दानाधमनविक्रयम् । आपत्काले कुटुम्बार्थे धर्मार्थे च विशेषतः ॥' इति । अस्यार्थः—अप्राप्तव्यवहारेषु पुत्रेषु पौत्रेषु वाऽनुज्ञानादावसमर्थेषु भ्रातृषु वा तथाविधेष्वविभक्तेष्वपि सकलकुटुम्बव्यापिन्यामापदि तत्पोषणे वाऽवश्यं कर्तव्येषु च पितृश्राद्धादिषु स्थावरस्य दानाधमनविक्रयमेकोऽपि समर्थः कुर्यादिति । यत्तु वचनम्—'विभक्ता वाऽविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः । एको ह्यनीशः सर्वत्र

दानाधमनविक्रये ॥' इति, तदप्यविभक्तेषु द्रव्यस्य मध्यस्थत्वादेकस्यानीश्वरत्वात्[१] सर्वाभ्यनुज्ञाऽवश्यं कार्या। विभक्तेषु तूत्तरकालं विभक्ताविभक्तसंशयव्युदासेन व्यवहारसौकर्याय सर्वाभ्यनुज्ञा न पुनरेकस्यानीश्वरत्वेन; अतो विभक्तानुमतिव्यतिरेकेणापि व्यवहारः सिद्ध्यत्येवेति व्याख्येयम् । यदपि—'स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च । हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी ॥' इति, तत्रापि[२] ग्रामानुमतिः; 'प्रतिग्रहप्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषतः' (व्य० १७६) इति स्मरणात् व्यवहारप्रकाशनार्थमेवापेक्ष्यते, न पुनर्ग्रामानुमत्या विना व्यवहारासिद्धिः । सामन्तानुमतिस्तु सीमाविप्रतिपत्तिनिरासाय । ज्ञातिदायादानुमतेस्तु प्रयोजन मुक्तमेव 'हिरण्योदकदानेन' इति; 'स्थावरे विक्रयो नास्ति कुर्यादाधिमनुज्ञया' इति स्थावरस्य विक्रयप्रतिषेधात्, 'भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति । उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतौ स्वर्गगामिनौ ॥' इति दानप्रशंसादर्शनाच्च । विक्रयेऽपि कर्तव्ये सहिरण्यमुदकं दत्त्वा दानरूपेण स्थावरविक्रयं कुर्यादित्यर्थः । पैतृके पैतामहे च धने जन्मनैव स्वत्वेऽपि विशेषं 'भूर्या पितामहोपात्ता' (व्य० १२१) इत्यत्र वक्ष्यामः ॥ इदानीं यस्मिन्काले येन च यथा विभागः कर्तव्यस्तद्दर्शयन्नाह—

विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान् ।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः ॥११४॥

यदा विभागं पिता चिकीर्षति तदा **इच्छया विभजेत्** पुत्रानात्मनः सकाशात् पुत्रं पुत्रौ पुत्रान् । इच्छाया निरङ्कुशत्वादनियमप्राप्तौ नियमार्थमाह—**ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेनेति** । ज्येष्ठं श्रेष्ठभागेन, मध्यमं मध्यभागेन, कनिष्ठं कनिष्ठभागेन, 'विभजेत्' इत्यनुवर्तते । श्रेष्ठादिविभागश्च मनुनोक्तः (९।११२)—'ज्येष्ठस्य[३] विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् । ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥' इति । 'वा'शब्दो वक्ष्यमाणपक्षापेक्षः[४] । **सर्वे वा स्युः समांशिन** इति । सर्वे वा ज्येष्ठादयः समांशभाजः कर्तव्याः । अयं च विषमो विभागः स्वार्जितद्रव्यविषयः । पितृक्रमायाते तु समस्वाम्यस्य वक्ष्यमाणत्वान्नेच्छया[५] विषमो विभागो युक्तः । **विभागं चेत्पिता कुर्यादिति** । यदा पितुर्विभागेच्छा स तावदेकः कालः । अपरोऽपि जीवत्यपि[६] पितरि द्रव्यनिःस्पृहे निवृत्तरमणे मातरि च निवृत्तरजस्कायां, पितुरनिच्छायामपि पुत्रेच्छयैव विभागो भवति । यथोक्तं नारदेन (१३।३)—'अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा विभजेयुर्धनं समम्' इति पित्रोरूर्ध्वं विभागं प्रतिपाद्य—'मातुर्निवृत्ते[७] रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च । निवृत्ते चापि रमणे पितर्युपरतस्पृहे ॥' इति दर्शितः । अत्र 'पुत्रा धनं समं विभजेयुः' इत्यनुषज्यते । गौतमेनापि—'ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं विभजेरन्' (२८।१) इत्युक्त्वा 'निवृत्ते चापि रजसि' (गौ० २८।२) इति द्वितीयः कालो दर्शितः ।

'जीवति चेच्छति' (गौ० २८।२) इति तृतीयः कालो दर्शितः। तथा सरजस्कायामपि मातर्यनिच्छत्यपि पितर्यधर्मवर्तिनि दीर्घरोगग्रस्ते च पुत्राणामिच्छया भवति विभागः। यथाह शङ्खः—'अकामे पितरि रिक्थविभागो वृद्धे विपरीतचेतसि रोगिणि च' इति ॥ ११४ ॥

यदि (संपत्ति का) विभाग पिंता करे तो वह अपनी इच्छानुसार करे। ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठ भाग (मझले को मंध्यम और छोटे को छोटा भाग) देकर विभाजन करे अथवा सभी को बराबर हिस्सा दे ॥ ११४ ॥

पितुरिच्छया विभागो द्विधा दर्शितः–समो विषमश्च; तत्र समविभागे विशेषमाह—

यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः।
न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा ॥ ११५ ॥

यदा स्वेच्छया पिता सर्वानेव सुतान् समविभागिनः करोति तदा पत्न्यश्च पुत्रसमांशभाजः कर्तव्याः, यासां पत्नीनां भर्त्रा श्वशुरेण वा स्त्रीधनं न दत्तम्। दत्ते तु स्त्रीधने अर्धांशं वक्ष्यति (व्य० १४८)—'दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत्' इति ॥ यदा तु श्रेष्ठभागादिना ज्येष्ठादीन् विभजति तदा पत्न्यः श्रेष्ठादिभागान्न लभन्ते, किंतूद्धृतोद्धारात्समुदायात्समानेवांशाँल्लभन्ते स्वोद्धारं च ॥ यथाहापस्तम्बः (ध० २।१४।९)—'परीभाण्डं च गृहेऽलंकारो भार्यायाः' इति ॥ ११५ ॥

यदि पिता पुत्रों में समान हिस्सा करे तो उन पत्नियों को समान भाग दे जिनके श्वशुर या पति द्वारा स्त्री-धन नहीं मिला है ॥ ११५ ॥

'ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः' (व्य० ११४) इति पक्षद्वयेऽप्यपवादमाह—

शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद्दत्त्वा पृथक्क्रिया।

स्वयमेव द्रव्यार्जनसमर्थस्य पितृद्रव्यमनीहमानस्यानिच्छतोऽपि यत्किंचिदसारमपि दत्त्वा पृथक्क्रिया विभागः कर्तव्यः पित्रा। तत्पुत्रादीनां दायजिघृक्षा मा भूदिति ॥—

यदि पुत्र (अर्थार्जन में) समर्थ है और अपना भाग नहीं लेना चाहता तो (पिता) उसे कुछ हिस्सा देकर विभाग करे ॥ ११५$\frac{१}{२}$ ॥

'ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन' (व्य० ११४) इति न्यूनाधिकविभागो दर्शितः। तत्र शास्त्रोक्तोद्धारादिविषमविभागव्यतिरेकेणान्यथा विषमविभागनिषेधार्थमाह—

न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः ॥ ११६ ॥

न्यूनाधिकविभागेन विभक्तानां पुत्राणामसौ न्यूनाधिकविभागो यदि

धर्म्यः [1]शास्त्रोक्तो भवति तदाऽसौ **पितृकृतः** कृत एव न निवर्तेत इति मन्वादिभिः **स्मृतः** । अन्यथा तु पितृकृतोऽपि निवर्तेत इत्यभिप्रायः । यथाह नारदः (१३।६)—'व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः । अन्यथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः ॥' इति ॥ ११६ ॥

यदि पिता द्वारा किया गया न्यूनाधिक विभाग धर्मशास्त्रानुसार है तो वह अपरिवर्तनीय होता है ॥ ११६ ॥

टिप्पणी— यह सामान्य नियम पुत्र के अर्थार्जन में समर्थ और पैतृक दाय में कामना न करने पर ही लागू होता है। पिता के कुपित होकर न देने इत्यादि कारणों पर यह मान्य नहीं है। इसीलिये नारद (१३/६) का वचन है—

'व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः।
अन्यथा शास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः' ॥

अपरार्क का इस विषय में मन्तव्य इस प्रकार है—

'यः पुत्रो धनार्जनतया पितृधनं नेच्छति यो वा धनार्जनसमर्थोऽपि शठतया धनस्यार्जनरक्षणानुकूलां चेष्टां न कुरुते तस्मै किञ्चिदसारं दत्वा पित्रा पृथक् क्रिया कार्या'।

इदानीं विभागस्य कालान्तरं कर्त्रन्तरं प्रकारनियममाह—

[1]विभजेरन्सुताः पित्रोरूर्ध्वं[2] रिक्थमृणं समम् ।

पित्रोर्मातापित्रोरूर्ध्वं [3]प्रयाणादिति कालो दर्शितः । **सुता** इति कर्तारो दर्शिताः । **समम्**इति प्रकारनियमः । सममेवेति **रिक्थमृणं च विभजेरन्** । ननु[2]—'ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च' (मनुः ९।१०४) इत्युपक्रम्य (मनुः ९।१०५) —'ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः । शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥' इत्युक्त्वोक्तम् (मनुः ९।११२)—'ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् । [4]ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥' इति । सर्वस्माद्[5]द्रव्यसमुदायाद्विंशतितमो भागः सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं तज्ज्येष्ठाय दातव्यम्; तदर्धं चत्वारिंशत्तमो भागो मध्यमं च द्रव्यं मध्यमाय दातव्यम्; तुरीयमशीतितमो भागो हीनं द्रव्यं च कनिष्ठाय दातव्यमिति मातापित्रोरूर्ध्वं विभजतामुद्धाराविभागो मनुना दर्शितः । तथा (मनुः ९।११६।११७)—'उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना । एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ॥ अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥' इति । ज्येष्ठस्य द्वौ भागौ, तदनन्तरजातस्य सार्धं एको भागः ततोऽनुजानामेकैको विभाग इत्युद्धारव्यतिरेकेणापि विषमो विभागो [6]दर्शितः पित्रोरूर्ध्वं विभजताम् । जीवद्विभागे च स्वयमेव विषमो विभागो दर्शितः—'ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन' (व्य० ११४) इति । अतः सर्वस्मिन्नपि काले विषमो विभागोऽस्तीति [7]कथं सममेव विभजेरन्निति नियम्यते ॥ अत्रोच्यते—सत्यम्, अयं

विषमो विभागः शास्त्रदृष्टस्तथापि लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयः; 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु' (आ० १५६) इति निषेधात्। यथा 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' (आ० १०९) इति विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्। यथा वा—'मैत्रावरुणीं गां वशामनुबन्ध्यामालभेत' इति गवालम्भनविधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्। उक्तं च—'यथा नियोगधर्मो नो नानुबन्ध्यावधोऽपि वा। तथोद्धारविभागोऽपि नैव संप्रति वर्तते ॥' इति। (नियोगमनतिक्रम्य यथानियोगं, नियोगाधीनो यो धर्मो 'देवराच्च सुतोत्पत्ति'रित्यादिः स नो भवति) आपस्तम्बोऽपि (आ० ध० २।१४।१)—'जीवन्पुत्रेभ्यो दायं विभजेत्समम्' इति समतामुक्त्वा—'ज्येष्ठो दायाद इत्येके' (आ० ध० २।१४।५) इति 'कृत्स्नधन'ग्रहणं ज्येष्ठस्यैकीयमतेनोपन्यस्य 'देशविशेषे सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य रथः पितुः परीभाण्डं च गृहेऽलंकारो भार्याया ज्ञातिधनं चेत्येके' (ध० २।१४।६–९) इत्येकीयमतेनैवमुद्धारविभागं दर्शयित्वा 'तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्' (आ०ध० २।१४।१०) इति निराकृतवान्। तं च शास्त्रविप्रतिषेधं स्वयमेव दर्शयति स्म 'मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते' (ध० २।१४।११) इति। तस्माद्विषमो विभागः शास्त्रदृष्टोऽपि लोकविरोधाच्छ्रुतिविरोधाच्च नानुष्ठेय इति सममेव विभजेरन्निति नियम्यते ॥—

माता और पिता की मृत्यु के बाद सभी पुत्र पिता की संपत्ति एवं ऋण का बराबर-बराबर विभाग कर ले ॥ ११६$\frac{१}{२}$ ॥

मातापित्रोर्धनं सुता विभजेरन्नित्युक्तं, तत्र मातृधनेऽपवादमाह—

मातुर्दुहितरः शेषमृणात्

मातुर्धनं दुहितरो विभजेरन्। **ऋणाच्छेषं** मातृकृतर्णापाकरणावशिष्टम्। अतश्चर्णसमं न्यूनं वा मातृधनं सुता विभजेरन्नित्यस्य विषयः। एतदुक्तं भवति —मातृकृतमृणं पुत्रैरेवापाकरणीयं, न दुहितृभिः। ऋणावशिष्टं तु धनं दुहितरो गृह्णीयुरिति। युक्तं चैतत्—'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः' (मनुः ३।४९) इति स्त्र्यवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात् स्त्रीधनं दुहितृगामि, पितृधनं पुत्रगामि; पित्रवयवानां पुत्रेषु बाहुल्यादिति। तत्र च गौतमेन विशेषो दर्शितः (२८।२४)—'स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च' इति। अस्यार्थः—प्रत्ताऽप्रत्तासमवायेऽप्रत्तानामेव स्त्रीधनम्। प्रत्तासु च प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठितानां चैवेति। अप्रतिष्ठिता निर्धनाः ॥—

दुहित्रभावे मातृधनमृणावशिष्टं को गृह्णीयादित्यत आह—

ताभ्य ऋतेऽन्वयः ॥ ११७ ॥

ताभ्यो दुहितृभ्यो **विना** दुहितॄणामभावे **अन्वयः** पुत्रादिर्गृह्णीयात्।

एतच्च—'विभजेरन्सुताः पित्रोरूर्ध्वम्' (व्य० ११७) इत्यनेनैव सिद्धं स्पष्टार्थमुक्तम् ॥ ११७ ॥

माता का धन माता का ऋण चुकाने के बाद पुत्रियाँ बाँट ले।
और पुत्रियों के न होने पर पुत्र ले ॥ ११७ ॥

अविभाज्यमाह—

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत्स्वयमर्जितम् ।
मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत् ॥ ११८ ॥
क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमप्युद्धरेत्तु यः ।
दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥ ११९ ॥

मातापित्रोर्द्रव्याविनाशेन यत्स्वयमर्जितं, मैत्रं मित्रसकाशाद्यल्लब्धं, औद्वाहिकं विवाहलब्धं दायादानां भ्रातॄणां तन्न भवेत् । क्रमात्पितृक्रमादायातं यत्किञ्चिद्द्रव्यं अन्यैर्हृतमसामर्थ्यादिना पित्रादिभिरनुद्धृतं यः पुत्राणां मध्य इतराभ्यनुज्ञयोद्धरति तद्दायादेभ्यो भ्रात्रादिभ्यो न दद्यात्, उद्धर्तैव गृह्णीयात् । तत्र क्षेत्रे तुरीयांशमुद्धर्ता लभते, शेषं तु सर्वेषां सममेव । यथाह शङ्खः—'पूर्वं नष्टां तु यो भूमिमेकश्चेदुद्धरेत्क्रमात् । यथाभागं लभन्तेऽन्ये दत्त्वांशं तु तुरीयकम् ॥' इति । क्रमादभ्यागतमिति शेषः । तथा विद्यया वेदाध्ययनेनाध्यापनेन वेदार्थव्याख्यानेन वा यल्लब्धं तदपि दायादेभ्यो न दद्यात्, अर्जक एव गृह्णीयात् । अत्र च 'पितृद्रव्याविरोधेन यत्किञ्चित्स्वयमर्जितम् ॥' इति सर्वत्र शेषः । अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रमर्जितं पितृद्रव्याविरोधेन यदौद्वाहिकं, पितृद्रव्याविरोधेन यत्क्रमादायातमुद्धृतं, पितृद्रव्याविरोधेन विद्यया यल्लब्धमिति प्रत्येकमभिसंबध्यते । तथा च पितृद्रव्याविरोधेन प्रत्युपकारेण यन्मैत्रम्, आसुरादिविवाहेषु यल्लब्धम्, तथा पितृद्रव्यव्ययेन यत्क्रमायातमुद्धृतं तथा पितृद्रव्यव्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्धम्, तत्सर्वं सर्वैर्भ्रातृभिः पित्रा च विभजनीयम् । तथा 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्यविरोधेन प्रतिग्रहलब्धमपि विभजनीयम् । अस्य च सर्वशेषत्वाभावे मैत्रमौद्वाहिकमित्यादिनारब्धव्यम् । अथ पितृद्रव्यविरोधेनापि यन्मैत्रादिलब्धं तस्याविभाज्यत्वाय मैत्रादिवचनमर्थवदित्युच्यते । तथा सति समाचारविरोधः, विद्यालब्धे नारदवचनविरोधश्च ।—'कुटुम्बं बिभृयाद्भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः । भागं विद्याधनात्तस्मात्स लभेताश्रुतोऽपि सन् ॥' (नारदः १३।१०) इति । तथा विद्याधनस्याविभाज्यस्य लक्षणमुक्तं कात्यायनेन—'परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्तान्यतस्तु या । तया लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥' इति । तथा 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्यस्य भिन्नवाक्यत्वे प्रतिग्रहलब्धस्याविभाज्यत्वमाचारविरुद्धमापद्येत । एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना (९।२०८)—'अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।

दायादेभ्यो न तद्द्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥' इति श्रमेण सेवायुद्धादिना। ननु पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रादिलब्धं द्रव्यं तदविभाज्यमिति न वक्तव्यम्; विभागप्राप्त्यभावात्। यद्येन लब्धं तत्तस्यैव, नान्यस्येति प्रसिद्धतरम्। प्राप्तिपूर्वकश्च [2]प्रतिषेधः। अत्र कश्चिदित्थं प्राप्तिमाह—'यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति। भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः ॥' (मनुः ९।२०४) इति। ज्येष्ठो वा कनिष्ठो वा मध्यमो वा पितरि प्रेते अप्रेते वा यवीयसां वर्षीयसां चेति व्याख्यानेन पितरि सत्यसति च मैत्रादीनां विभाज्यत्वं प्राप्तं प्रतिषिध्यत इति,—तदसत्; नह्यत्र प्राप्तस्य प्रतिषेधः, किंतु सिद्धस्यैवानुवादोऽयम्। लोकसिद्धस्यैवानुवादकान्येव प्रायेणास्मिन्प्रकरणे वचनानि। अथवा 'समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वे तत्र समांशिनः।' इति प्राप्तस्यापवाद इति संतुष्यतु भवान्। अतश्च 'यत्किंचित्पितरि प्रेते' इत्यस्मिन्वचने ज्येष्ठादिपदाविवक्षया प्राप्तिरिति व्यामोहमात्रम्। अतो मैत्रादिवचनैः पितुः प्रागूर्ध्वं [3]वाविभाज्यत्वेनोक्तस्य 'यत्किंचित्पितरि प्रेते' इ[4]त्यपवाद इति व्याख्येयम्। तथाऽन्यदप्यविभाज्यमुक्तं मनुना (९।२१९)—'वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः। योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥' इति। धृतानामेव वस्त्राणामविभाज्यत्वं, यद्येन धृतं तत्तस्यैव। पि[5]तृधृतवस्त्राणि तु पितुरूर्ध्वं विभजतां श्राद्धभोक्त्रे दातव्यानि। यथाह बृहस्पतिः—'वस्त्रालंकारशय्यादि पितुर्यद्वाहनादिकम्। गन्धमाल्यैः समभ्यर्च्य श्राद्धभोक्त्रे समर्पयेत् ॥' इति। अभिनवानि तु वस्त्राणि विभाज्यान्येव। पत्रं वाहनमश्वशिबिकादि, तदपि यद्येनारूढं तत्तस्यैव। पित्र्यं तु वस्त्रवदेव, अश्वादीनां बहुत्वे तु तद्विक्रयोपजीविनां विभाज्यत्वमेव। वैषम्येणाविभाज्यत्वे ज्येष्ठस्य (मनुः ९।११९)—'अजाविकं सै[6]कशफं न जातु विषमं भजेत्। अजाविकं सैकशफं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥' इति मनुस्मरणात्। अलंकारोऽपि यो येन धृतः स तस्यैव। अधृतः साधारणो विभाज्य एव। (मनुः ९।२००)—'पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत्। न तं भजेरन्दायादा भजमानाः [7]पतन्ति ते ॥' इति। 'अलंकारो धृतो भवेत्' इति [8]विशेषेणोपादानादधृतानां विभाज्यत्वं गम्यते। कृतान्नं तण्डुलमोदकादि तदप्यविभाज्यं यथासंभवं भोक्तव्यम्। उदकं उदकाधारः कूपादि, तच्च विषमं मूल्यद्वारेण न विभाज्यं पर्यायेणोपभोक्तव्यम्। स्त्रियश्च दास्यो विषमाः न मूल्यद्वारेण विभाज्याः, पर्यायेण कर्म कारयितव्याः। अवरुद्धास्तु पित्रा स्वैरिण्याद्याः समा अपि पुत्रैर्न विभाज्याः। 'स्त्रीषु च संयुक्तास्वविभागः' (२८।४६) इति गौतमस्मरणात्। योगश्च क्षेमश्च योगक्षेमम्। 'योग'शब्देनालब्धलाभकारणं श्रौतस्मार्ताग्निसाध्यं इष्टं कर्म लक्ष्यते। 'क्षेम'शब्देन लब्धपरिरक्षणहेतुभूतं बहिर्वेदिदानतडागारामनिर्माणादि पूर्तं कर्म लक्ष्यते। तदुभयं पैतृकमपि पितृद्रव्यविरोधार्जितमप्यविभाज्यम्। यथाह लौगाक्षिः—'क्षेमं पूर्तं योगमिष्टमित्याहुस्तत्त्वदर्शिनः। अविभाज्ये च ते प्रोक्ते शयनासनमेव च ॥' इति। 'योगक्षेम'शब्देन योगक्षेमकारिणो राजमन्त्रिपुरोहितादय उच्यन्ते—इति केचित्। छत्रचामरशस्त्रोपानत्प्रभृ-

तय इत्यन्ये। प्रचारो गृहारामादिषु प्रवेशनिर्गममार्गः सोऽप्यविभाज्यः। यत्तूशनसा क्षेत्रस्याविभाज्यत्वमुक्तम्—'अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि। याज्यं क्षेत्रं च पत्रं च कृतान्नमुदकं स्त्रियः॥' इति, तद्ब्राह्मणोत्पन्नक्षत्रियादिपुत्रविषयम्। 'न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै। यद्यप्येषां पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत्॥' इति स्मरणात्। याज्यं याजनकर्मलब्धम्। पितृप्रसादलब्धस्याविभाज्यत्वं वक्ष्यते। नियमातिक्रमार्जितस्याविभाज्यत्वमनन्तरमेव न्यरासि। पितृद्रव्यविरोधेन यदर्जितं तद्विभजनीयमिति स्थितं, तत्रार्जकस्य भागद्वयं; वसिष्ठवचनात्—'येन चैषां स्वयमुपार्जितं स्यात्स द्व्यंशमेव लभेत' (१७।५१) इति॥ ११८–११९॥

माता और पिता के द्रव्य का बिना विनियोग के जो धन स्वयं कमाया गया धन, मित्र से मिला धन और विवाह में मिले धन में भाइयों का हिस्सा नहीं होता। पितृ परम्परा से प्राप्त धन जो किसी अन्य ने हरण कर लिया हो, वह भी केवल उसे छुड़ाने वाले का होता है। उसे दायादों को न दे और स्वयं की विद्या से अर्जित धन को भी दायादों को न दे ॥ ११८-११९ ॥

अस्यापवादमाह—

सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः।

अविभक्तानां भ्रातॄणां [2]सामान्यस्यार्थस्य कृषिवाणिज्यादिना संभूय समुत्थाने सम्यग्वर्धने केनचित्कृते सम एव विभागो नार्जयितुरं[3]शद्वयम्॥—

विभाजन से पूर्व भाइयों के एक में रहने पर साधारण धन में कृषि-वाणिज्यादि के द्वारा हुई वृद्धि में सभी भाइयों का समान भाग होता है ॥ ११९$\frac{१}{२}$ ॥

पित्र्ये द्रव्ये पुत्राणां विभागो दर्शितः, इदानीं पैतामहे पौत्राणां विभागे विशेषमाह—

अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना॥ १२०॥

यद्यपि पैतामहे द्रव्ये पौत्राणां जन्मना स्वत्वं पुत्रैरविशिष्टं, तथापि तेषां पितृद्वारेणैव पैतामहे द्रव्ये विभागकल्पना, न स्वरूपापेक्षया। एतदुक्तं भवति—यदाऽविभक्ता भ्रातरः पुत्रानुत्पाद्य दिवं गतास्तदैकस्य द्वौ पुत्रौ, अन्यस्य त्रयोऽपरस्य चत्वार इति पुत्राणां वैषम्ये तत्र द्वावेकं स्वपित्र्यमंशं लभेते, अन्ये त्रयोऽप्येकमंशं पित्र्यं, चत्वारोऽप्येकमेवांशं पित्र्यं लभन्त इति। तथा केषुचित्पुत्रेषु ध्रियमाणेषु केषुचित्पुत्रानुत्पाद्य विनष्टेष्वप्ययमेव न्यायः। ध्रियमाणाः स्वानंशानेव लभन्ते, नष्टानामपि पुत्राः पित्र्यानेवांशाँल्लभन्त इति वाचनिकी व्यवस्था॥ १२०॥

पितामह के धन में पिता के भाग के अनुसार ही पौत्र के भाग का निर्धारण होता है ॥ १२० ॥

अधुना विभक्ते पितर्यविद्यमानभ्रातृके वा पौत्रस्य पैतामहे द्रव्ये विभागो नास्ति। अम्रियमाणे पितरि 'पितृतो भागकल्पना' (व्य० १२०) इत्युक्तत्वात्। भवतु वा स्वार्जितवत्पितुरिच्छयैवेत्याशङ्कित आह—

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा ।
तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥ १२१ ॥

भूः शालिक्षेत्रादिका । निबन्ध एकस्य पर्णभरकस्येयन्ति पर्णानि, तथा एकस्य क्रमुकफलभरकस्येयन्ति क्रमुकफलानीत्याद्युक्तलक्षणः । द्रव्यं सुवर्णरजतादि यत्पितामहेन प्रतिग्रहविजयादिना लब्धं तत्र पितुः पुत्रस्य च स्वाम्यं लोकप्रसिद्धमिति कृत्वा विभागोऽस्ति । हि यस्मात्तत्सदृशं समानम्, तस्मान्न पितुरिच्छयैव विभागो नापि पितुर्भागद्वयम् । अतश्च 'पितृतो भागकल्पना' (व्य० १२०) इत्येतत्स्वाम्ये समेऽपि वाचनिकम् । 'विभागं चेत्पिता कुर्यात्' (व्य० ११४) इत्येतत्स्वार्जितविषयम् । तथा—'द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता' (नारदः १३।१२) इत्येतदपि स्वार्जितविषयम् । 'जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वितः' इत्येतदपि पारतन्त्र्यं मातापित्रर्जितद्रव्यविषयम् । तथा—'अनीशास्ते हि जीवतोः' इत्येतदपि । तथा सरजस्कायां मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति । तथाऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकारः, पित्रर्जिते न तु निषेधाधिकारः; तत्परतन्त्रत्वात् । अनुमतिस्तु कर्तव्या । तथा हि—पैतृके पैतामहे च स्वाम्यं यद्यपि जन्मनैव, तथापि पैतृके पितृपरतन्त्रत्वात् पितुश्चार्जकत्वेन प्राधान्यात् पित्रा विनियुज्यमाने स्वार्जिते द्रव्ये पुत्रेणानुमतिः कर्तव्या । पैतामहे तु द्वयोः स्वाम्यमविशिष्टमिति निषेधाधिकारोऽप्यस्तीति विशेषः । मनुरपि (९।२०९) 'पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥' इति । यत्पितामहार्जितं केनाप्यपहृतं पितामहेनानुद्धृतं यदि पितोद्धरति तत्स्वार्जितमिव पुत्रैः सार्धमकामः स्वयं न विभजेदिति वदन् पितामहार्जितमकामोऽपि पुत्रेच्छया पुत्रैः सह विभजेदिति दर्शयति ॥ १२१ ॥

जो भूमि पितामह द्वारा अर्जित है और जो निबन्ध (कर, चुंगी) तथा द्रव्य (हिरण्यरजतादि) पितामह द्वारा अर्जित है उसमें भी पिता के समान अर्थात् अंशानुसार पौत्र का भाग होगा ॥ १२१ ॥

विभागोत्तरकालमुत्पन्नस्य पुत्रस्य कथं विभागकल्पनेत्यत आह—

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् ।

विभक्तेषु पुत्रेषु पश्चात्**सवर्णायां** भार्यायामुत्पन्नो **विभागभाक्** । विभज्यत इति विभागः । पित्रोर्विभागस्तं भजतीति विभागभाक्; पित्रोरूर्ध्वं तयोरंशं लभत इत्यर्थः । मातृभागं चासत्यां दुहितरि, 'मातुर्दुहितरः शेषम्' (व्य० ११७) इत्युक्तत्वात् । असवर्णायामुत्पन्नस्तु स्वांशमेव पित्र्याल्लभते, मातृकं तु सर्वमेव । एतदेव मनुनोक्तम् (९।२१६)—'ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्' इति । पित्रोरिदं पित्र्यमिति व्याख्येयम्; 'अनीशः पूर्वजः पित्रोर्भ्रातुर्भागे विभक्तजः' इति स्मरणात् । विभक्तयोर्मातापित्रोर्विभागे विभागात्पूर्वमुत्पन्नो न स्वामी, विभक्तजश्च भ्रातुर्भागे न स्वामीत्यर्थः । तथा विभागोत्तरकालं पित्रा यत्किंचिदर्जितं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव; 'पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम् । विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः ॥' इति स्मरणात् । ये च विभक्ताः पित्रा सह संसृष्टाः पितुरूर्ध्वं तैः सार्धं विभक्तजो विभजेत् । यथाह मनुः (९।२१६)—'संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह' इति ॥—

पुत्रों में संपत्ति का विभाग होने के बाद यदि सवर्णा स्त्री में पुत्र हो तो वह भी अपने भाग का अधिकारी होता है ॥१२१$\frac{१}{२}$ ॥

पितुरूर्ध्वं पुत्रेषु विभक्तेषु पश्चादुत्पन्नस्य कथं विभागकल्पनेत्यत आह—

दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात् ॥ १२२ ॥

तस्य पितरि प्रेते भ्रातृविभागसमयेऽस्पष्टगर्भायां मातरि भ्रातृविभागोत्तरकालमुत्पन्नस्यापि विभागः । तद्विभागः कुत इत्यत आह । **दृश्या**द्भ्रातृभिर्गृहीताद्धनात् । कीदृशात्? **आयव्ययविशोधितात्** । **आयः** प्रतिदिवसं प्रतिमासं प्रत्यब्दं वा यदुत्पद्यते, **व्ययः** पितृकृतर्णापाकरणं, ताभ्यामायव्ययाभ्यां यच्छोधितं तत्तस्मादुद्धृत्य तद्भागो दातव्यः स्यात् । एतदुक्तं भवति—प्रातिस्विकेषु भागेषु तदुत्थमायं प्रवेश्य पितृकृतं चर्णमपनीयावशिष्टेभ्यः स्वेभ्यः स्वेभ्यो भागेभ्यः किंचित्किंचिदुद्धृत्य विभक्तजस्य भागः स्वभागसमः कर्तव्य इति । एतच्च विभागसमयेऽप्रजस्य भ्रातुर्भार्यायामस्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वमुत्पन्नस्यापि वेदितव्यम् । स्पष्टगर्भायां तु प्रसवं प्रतीक्ष्य विभागः कर्तव्यः । यथाह वसिष्ठः (१७।४१)—'अथ भ्रातॄणां दायविभागो याश्चानपत्याः स्त्रियस्तासामापुत्रलाभात्' इति । गृहीतगर्भाणामाप्रसवात्प्रतीक्षणमिति योजनीयम् ॥ १२२ ॥

पिता की मृत्यु के बाद भाइयों के विभाजन के समय यदि माता के गर्भ का ज्ञान हो तो भी उस पुत्र के उत्पन्न होने पर आय (पिता से प्राप्त मूल धन तथा उस पर प्राप्ति) तथा व्यय (पिता द्वारा लिये ऋण) से शुद्ध (बची) राशि पर उस पुत्र का भाग होगा ॥ १२२ ॥

विभक्तजः पित्र्यं मातृकं च सर्वं धनं गृह्णातीत्युक्तं, तत्र यदि विभक्तः पिता माता वा विभक्ताय पुत्राय स्नेहवशादाभरणादिकं प्रयच्छति, तदा विभक्तजेन दानप्रतिषेधो न कर्तव्यः; नापि दत्तं प्रत्याहर्तव्यमित्याह—

पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

मातापितृभ्यां विभक्ताभ्यां पूर्वं विभक्तस्य पुत्रस्य यद्दत्तमलंकारादि, तत्तस्यैव[1] पुत्रस्य, न विभक्तजस्य स्वं भवति। न्यायसाम्याद्विभागात्प्रागपि यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव। तथा असति विभक्तजे विभक्तयोः पित्रोरंशं तदूर्ध्वं विभजतां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव, नान्यस्येति वेदितव्यम् ॥—

माता-पिता जिस पुत्र को (धर्मतः) जो धन दे दें वह उसका होता है ॥१२२$\frac{१}{२}$ ॥

जीवद्विभागे स्वपुत्रसमांशित्वं पत्नीनाम[1]ुक्तं, 'यदि कुर्यात्समानंशान्' (व्य० ११५) इत्यादिना। पितुरूर्ध्वं विभागेऽपि पत्नीनां[2] स्वपुत्रसमांशित्वं दर्शयितुमाह—

पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत् ॥ १२३ ॥

पितुरूर्ध्वं पितुः प्रयाणाद[3]ूर्ध्वं **विभजतां मातापि** स्वपुत्रांशसममंशं **हरेत्**,-यदि स्त्रीधनं न दत्तम्; दत्ते त्वर्धांशहारिणीति वक्ष्यते[4] ॥ १२३ ॥

पिता की मृत्यु के अनन्तर (पुत्रों में) विभाजन होने पर माता भी (यदि स्त्री-धन नहीं मिला है तो) समान अंश की अधिकारिणी होती है ॥ १२३ ॥

पितरि प्रेते यद्यसंस्कृता भ्रातरः सन्ति, तदा तत्संस्कारे कोऽधिक्रियत इत्यत आह—

असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ।

पितुरूर्ध्वं विभजद्भिर्भ्रातृभिरसंस्कृता भ्रातरः समुदायद्रव्येण **संस्कर्तव्याः** ॥—

पिता की मृत्यु के बाद (भाइयों में विभाजन होने पर) संस्कृत भाई असंस्कृत भाइयों का संस्कार करावे। १२३$\frac{१}{२}$ ॥

असंस्कृतासु भगिनीषु विशेषमाह—

भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्त्वांशं तु तुरीयकम् ॥ १२४ ॥

अस्यार्थः—भगिन्यश्चासंस्कृताः संस्कर्तव्या[5] भ्रातृभिः। किं कृत्वा? निजादंशाच्चतुर्थमंशं दत्त्वा । अनेन दुहितरोऽपि पितुरूर्ध्वमंशभागिन्य इति गम्यते। तत्र 'निजादंशात्' इति प्रत्येकं परिकल्पितादंशादुद्धृत्य चतुर्थांशो दातव्य इत्[6]येवमर्थो न भवति, किंतु यज्जातीया कन्या, तज्जातीयपुत्रभागाच्चतुर्थांशभागिनी

सा कर्तव्या । एतदुक्तं भवति—यदि ब्राह्मणी सा कन्या तदा ब्राह्मणीपुत्रस्य यावानंशो भवति, तस्य चतुर्थांशस्तस्या भवति । तद्यथा—यदि कस्यचिद्ब्राह्मणस्यैका पत्नी पुत्रश्चैकः कन्या चैका, तत्र पित्र्यं सर्वमेव द्रव्यं द्विधा विभज्य तत्रैकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयमंशं कन्यायै दत्त्वा शेषं पुत्रो गृह्णीयात्; यदा तु द्वौ पुत्रौ एका च कन्या, तदा पितृधनं सर्वं त्रिधा विभज्य एकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयमंशं कन्यायै दत्त्वा शेषं द्वौ पुत्रौ विभज्य गृह्णीतः; अथ त्वेकः पुत्रो द्वे कन्ये, तदा पित्र्यं धनं त्रिधा विभज्य एकं भागं चतुर्धा विभज्य तत्र द्वौ भागौ द्वाभ्यां कन्याभ्यां दत्त्वाऽवशिष्टं सर्वं पुत्रो गृह्णातीत्येवं समानजातीयेषु समविषमेषु भ्रातृषु भगिनीषु च योजनीयम् । यदा तु ब्राह्मणीपुत्र एकः क्षत्रियाकन्या चैका, तत्र पितृधनं सप्तधा विभज्य क्षत्रियापुत्रभागांस्त्रींश्चतुर्धा विभज्य तुरीयांशं क्षत्रियाकन्यायै दत्त्वा शेषं ब्राह्मणीपुत्रो गृह्णाति । यदा तु द्वौ ब्राह्मणीपुत्रौ क्षत्रियाकन्या चैका, तत्र पित्र्यं धनमेकादशधा विभज्य तेषु त्रीनंशान् क्षत्रियापुत्रभागांश्चतुर्धा विभज्य चतुर्थमंशं क्षत्रियाकन्यायै दत्त्वा शेषं सर्वं ब्राह्मणीपुत्रा विभज्य गृह्णीतः ॥ एवं जातिवैषम्ये भ्रातॄणां भगिनीनां च संख्यायाः साम्ये वैषम्ये च सर्वत्रोहनीयम् । न च 'निजादंशाद्दत्त्वांशं तु तुरीयक'मिति तुरीयांशाविवक्षया संस्कारमात्रोपयोगि द्रव्यं दत्त्वेति व्याख्यानं युक्तम् । मनुवचनविरोधात् (९।११८)—'स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् । स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥' इति । अस्यार्थः—ब्राह्मणादयो भ्रातरो ब्राह्मणीप्रभृतिभ्यो भगिनीभ्यः स्वेभ्यः स्वजातिविहितेभ्योंऽशेभ्यः 'चतुरोंऽशान्हरेद्विप्र' (मनुः ९।१५३) इत्यादिवक्ष्यमाणेभ्यः स्वात्स्वादंशादात्मीयादात्मीयाद्भागाच्चतुर्थं चतुर्थं भागं दद्युः । न चात्रात्मीयभागादुद्धृत्य चतुर्थांशो देय इत्युच्यते, किंतु स्वजातिविहितादेकस्मादेकस्मादंशात्पृथक्पृथगेकस्याप्येकस्यै कन्यायै चतुर्थोंऽशो देय इति जातिवैषम्ये संख्यावैषम्ये च विभागक्लृप्तिरुक्तैव । 'पतिताः स्युरदित्सव' इत्यकरणे प्रत्यवायश्रवणादवश्यदातव्यता प्रतीयते । अत्रापि चतुर्थभागवचनमविवक्षितं संस्कारमात्रोपयोगिद्रव्यदानमेव विवक्षितमिति चेन्न । स्मृतिद्वयेऽपि चतुर्थांशदानाविवक्षायां प्रमाणाभावाददाने प्रत्यवायश्रवणाच्चेति । यदपि कैश्चिदुच्यते—अंशदानविवक्षायां बहुभ्रातृकायाः बहुधनत्वं, बहुभगिनीकस्य च निर्धनता प्राप्नोतीति, तदुक्तरीत्या परिहृतमेव । नह्यत्रात्मीयाद्भागादुद्धृत्य चतुर्थांशस्य दानमुच्यते येन तथा स्यात्; अतोऽसहायमेधातिथिप्रभृतीनां व्याख्यानमेव चतुरस्रं, न भारुचेः । तस्मात्पितुरूर्ध्वं कन्याप्यंशभागिनी पूर्वं चेद्यत्किंचित्पिता ददाति, तदेव लभते; विशेषवचनाभावादिति सर्वमनवद्यम् ॥ १२४ ॥

और यदि बहनों का विवाह नहीं हुआ है तो सभी भाई अपने अंश से चौथाई देकर विवाह करावे ॥ १२४ ॥

एवं 'विभागं चेत्पिता कुर्यात्' (व्य० ११४) इत्यादिना प्रबन्धेन समानजातीयानां भ्रातॄणां परस्परं पित्रा च सह विभागक्लृप्तिरुक्ता; अधुना भिन्नजातीयानां विभागमाह—

चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः ।
क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागा विड्जास्तु द्व्येकभागिनः ॥ १२५ ॥

'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' (आ० १७) इति ब्राह्मणस्य चतस्रः, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे, शूद्रस्यैकेति भार्या दर्शिताः । तत्र ब्राह्मणात्मजा ब्राह्मणोत्पन्ना वर्णशः—'वर्ण'शब्देन ब्राह्मणादिवर्णाः स्त्रिय उच्यन्ते । 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा० ५।४।४३) इत्यधिकरणकारकादेकवचनाद्वीप्सायां शस् । अतश्च वर्णे वर्णे ब्राह्मणोत्पन्नाः यथाक्रमं चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्भवेयुः । एतदुक्तं भवति— ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्ना एकैकशश्चतुरश्चतुरो भागाँल्लभन्ते । तेनैव क्षत्रियायामुत्पन्नाः प्रत्येकं त्रींस्त्रीन् वैश्यायां द्वौ द्वौ शूद्रायामेकमेकमिति । **क्षत्रजाः** क्षत्रियेणोत्पन्नाः, 'वर्णशः' इत्यनुवर्तते; यथाक्रमं; **त्रिद्व्येकभागाः** । क्षत्रियेण क्षत्रियायामुत्पन्नाः प्रत्येकं त्रींस्त्रीन्, वैश्यायां द्वौ द्वौ, शूद्रायामेकमेकम् । **विड्जाः** वैश्येनोत्पन्नाः । अत्रापि 'वर्णश' इत्यनुवर्तते, यथाक्रमं **द्व्येकभागिनः** । वैश्येन वैश्यायामुत्पन्नाः प्रत्येकं द्वौ द्वौ भागौ लभन्ते । शूद्रायामेकमेकम् । 'शूद्रस्यैकैव भार्या' इति भिन्नजातीयपुत्राभावात्तत्पुत्राणां पूर्वोक्त एव विभागः; यद्यपि 'चतुस्त्रिद्व्येकभागा' इत्यविशेषेणोक्तं, तथापि प्रतिग्रहप्राप्तभूव्यतिरिक्तविषयमिदं द्रष्टव्यम् । यतः स्मरन्ति—'न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै । यद्यप्येषा पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥' इति । प्रतिग्रहग्रहणात्क्रयादिना लब्धा भूः क्षत्रियादिसुतानामपि भवत्येव । शूद्रापुत्रस्य विशेषप्रतिषेधाच्च । 'शूद्र्यां द्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति' इति । यदि क्रयादिप्राप्ता भूः क्षत्रियादिसुतानां न भवेत्तदा शूद्रापुत्रस्य विशेषप्रतिषेधो नोपपद्यते । यत्पुनः (मनुः९।१५५)—'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् । यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥' इति, तदपि जीवता पित्रा यदि शूद्रापुत्राय किमपि प्रदत्तं स्यात्तद्विषयम् । यदा तु प्रसाददानं नास्ति, तदैकांशभागित्यविरुद्धम् ॥१२५॥

ब्राह्मण की (विभिन्न वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्र क्रमशः) चार, तीन, दो और एक भाग के अधिकारी होते हैं। क्षत्रिय की तीन, दो और एक भाग के अधिकारी होते हैं तथा वैश्य के दो और एक भाग के अधिकारी होते हैं ॥ १२५ ॥

टिप्पणी– ब्राह्मणादि वर्णों को अपने से नीचे के वर्णों में ही विवाह का अधिकार है, अतः ऐसी पत्नियों से उत्पन्न संतानों के विभागों का यहाँ विवरण है।

अथ सर्वविभागशेषे किंचिदुच्यते—

अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्ते यत्तु दृश्यते ।
तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः ॥ १२६ ॥

परस्परापहृतं समुदायद्रव्यं विभागकाले चाज्ञातं विभक्ते पितृधने यद्दृश्यते, तत्समैरंशैर्विभजेरन्नित्येवं स्थितिः शास्त्रमर्यादा। अत्र 'समैरंशैः' इति वदतोद्धारविभागो निषिद्धः । विभजेरन्निति वदता येन दृश्यते तेनैव न ग्राह्यमिति दर्शितम्। एवं च वचनस्यार्थवत्त्वान्न समुदायद्रव्यापहारे दोषाभावपरत्वम्। ननु मनुना ज्येष्ठस्यैव समुदायद्रव्यापहारे दोषो दर्शितो न कनीयसाम् (मनुः ९।२१३) 'यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातॄन्यवीयसः । सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥' इति वचनात् । नैतत्; यतः संभावितस्वातन्त्र्यस्य पितृस्थानीयस्य ज्येष्ठस्यापि दोषं वदता ज्येष्ठपरतन्त्राणां कनीयसां पुत्रस्थानीयानां दण्डापूपिकन्यायेन सुतरां दोषो दर्शित एव । तथा चाविशेषेणैव दोषः श्रूयते। गौतमः—'यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते चैनं स यदि चैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयत' इति । यो भागिनं भागार्हं भागान्नुदते भागादपाकरोति भागं तस्मै न प्रयच्छति, स भागान्नुन्न एनं नोत्तारं चयते नाशयति दोषिणं करोति; यदि तं न नाशयति, तदा तस्य पुत्रं पौत्रं वा नाशयतीति, ज्येष्ठविशेषमन्तरेणैव साधारणद्रव्यापहारिणो दोषः श्रुतः । अथ साधारणं द्रव्यमात्मनोऽपि स्वं भवतीति स्वत्वबुद्ध्या गृह्यमाणं न दोषमावहतीति मतम्। तदसत्, स्वबुद्ध्या गृहीतेऽप्यवर्जनीयतया परस्वमपि गृहीतमेवेति निषेधानुप्रवेशाद्दोषमावहत्येव । यथा मौद्गे चरौ विपन्ने सदृशतया माषेषु गृह्यमाणेषु 'अयज्ञिया वै माषाः' इति निषेधो न प्रविशति, मुद्गावयवबुद्ध्या गृह्यमाणत्वादिति पूर्वपक्षिणोक्ते मुद्गावयवेषु गृह्यमाणेष्ववर्जनीयतया माषावयवा अपि गृह्यन्त एवेति निषेधः प्रविशत्येवेति राद्धान्तिनोक्तम् । तस्माद्वचनतो न्यायतश्च साधारणद्रव्यापहारे दोषोऽस्त्येवेति सिद्धम् ॥ १२६ ॥

विभाग के बाद यदि कुछ धन आपस में छिपाकर रखा दिखाई पड़े तो सभी भाई उसे समान भाग से बाँट ले। यह नियम है ॥ १२६ ॥

द्व्यामुष्यायणस्य भागविशेषं दर्शयंस्तस्य स्वरूपमाह—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ १२७ ॥

'अपुत्रां गुर्वनुज्ञातः' (आ० ६८) इत्याद्युक्तविधिना अपुत्रेण देवरादिना परक्षेत्रे परभार्यायां गुरुनियोगेनोत्पादितः पुत्रः उभयोर्बीजिक्षेत्रिणोरसौ रिक्थी रिक्थहारी पिण्डदाता च धर्मत इति । अस्यार्थः—यदाऽसौ नियुक्तो देवरादिः स्वयमप्यपुत्रोऽपुत्रस्य क्षेत्रे स्वपरपुत्रार्थं प्रवृत्तो यं जनयति, स

द्विपितृको ह्यामुष्यायणो द्वयोरपि रिक्थहारी पिण्डदाता च । यदा तु नियुक्तः पुत्रवान् केवलं क्षेत्रिणः पुत्रार्थं प्रयतते, तदा तदुत्पन्नः क्षेत्रिण एव पुत्रो भवति, न बीजिनः । स च न नियमेन बीजिनो रिक्थहारी पिण्डदो वेति । यथोक्तं मनुना (९।५३)—'क्रियाभ्युपगमात्क्षेत्रं बीजार्थं यत्प्रदीयते । तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥' इति । क्रियाभ्युपगमादिति अत्रोत्पन्नमपत्यमावयोरुभयोरपि भवत्विति संविदङ्गीकरणाद्यत्क्षेत्रं क्षेत्रस्वामिना बीजावपनार्थं बीजिने दीयते तत्र तस्मिन्क्षेत्रे उत्पन्नस्यापत्यस्य बीजिक्षेत्रिणौ भागिनौ स्वामिनौ दृष्टौ महर्षिभिः । तथा (मनुः ९।५२)—'फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा । प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्बलीयसी ॥' इति । फलं त्वनभिसंधायेति । अत्रोत्पन्नमपत्यमावयोरुभयोरस्त्वित्येवमनभिसंधाय परक्षेत्रे यदपत्यमुत्पाद्यते तदपत्यं क्षेत्रिण एव । यतो बीजाद्योनिर्बलीयसी; गवाश्वादिषु तथा दर्शनात् । अत्रापि नियोगो वाग्दत्ताविषय एव; इतरस्य नियोगस्य मनुना निषिद्धत्वात् (९।५९,६०)—'देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रियां सम्यङ्नियुक्तया । प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥' इत्येवं नियोगमुपन्यस्य मनुः स्वयमेव निषेधति (९।६४,६८)—'नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् । न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं गर्हन्ते तं हि साधवः ॥' इति ॥ नच विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति मन्तव्यम्; नियोक्तॄणां निन्दाश्रवणात्, स्त्रीधर्मेषु व्यभिचारस्य बहुदोषश्रवणात्, संयमस्य प्रशस्तत्वाच्च । यथाह मनुरेव (५।१५७)—'कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥' इति जीवनार्थं पुरुषान्तराश्रयणं प्रतिषिद्ध्य (मनुः ५।१५८।१६१)—'आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी । यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ अनेकानि सहस्राणि कौमारब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता । स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते ॥' इति पुत्रार्थमपि पुरुषान्तराश्रयणं निषेधति । तस्माद्विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति न युक्तम् ॥ एवं विवाहसंस्कृतानियोगे प्रतिषिद्धे कस्तर्हि धर्म्यो नियोग इत्यत आह (मनुः ९।६९।७०)—'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् । मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥' इति ।

यस्मै वाग्दत्ता कन्या स प्रतिग्रहमन्तरेणैव तस्याः पतिरित्यस्मादेव वचनादवगम्यते । तस्मिन्प्रेते देवरस्तस्य ज्येष्ठः कनिष्ठो वा निजः सोदरो विन्देत परिणयेत् । यथाविधि यथाशास्त्रमधिगम्य परिणीय अनेन विधानेन घृताभ्यङ्गवाङ्नियमादिना शुक्लवस्त्रां शुचिव्रतां मनोवाक्कायसंयतां मिथो रहस्यागर्भग्रहणात्प्रत्यृत्वेकवारं गच्छेत् । अयं च विवाहो वाचनिको घृताभ्यङ्गादिनियमवत्, नियुक्ताभिगमनाङ्गमिति न देवरस्य; भार्यात्वमापादयति । अतस्तदुत्पन्नमपत्यं क्षेत्रस्वामिन एव भवति, न देवरस्य संविदा तूभयोरपि ॥ १२७ ॥

पुत्रहीन व्यक्ति (देवर इत्यादि) द्वारा दूसरे की स्त्री में नियोग द्वारा उत्पादित पुत्र दोनों की संपत्ति का अधिकारी और पिण्डदाता होता है ॥ १२७ ॥

समानासमानजातीयानां पुत्राणां विभागक्लृप्तिरुक्ता, अधुना मुख्यगौणपुत्राणां दायग्रहणव्यवस्थां दर्शयिष्यंस्तेषां स्वरूपं तावदाह—

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः ।
क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा ॥ १२८ ॥

उरसो जात औरसः पुत्रः, स च धर्मपत्नीजः—सवर्णा धर्मविवाहोढा धर्मपत्नी, तस्यां जात औरसः पुत्रो मुख्यः । तत्समः पुत्रिकासुतः तत्सम औरससमः, पुत्रिकायाः सुतः पुत्रिकासुतः । अत एवौरससमः । यथाह वसिष्ठः—'अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् । अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥' इति । अथवा पुत्रिकैव सुतः पुत्रिकासुतः; सोऽप्यौरससम एव पित्रवयवानामल्पत्वात्, मात्रवयवानां बाहुल्याच्च; यथाह वसिष्ठः (१७।१५)—'तृतीयः पुत्रिकैव' इति । तृतीयः पुत्रः पुत्रिकैवेत्यर्थः । द्व्यामुष्यायणस्तु जनकस्यौरसादपकृष्टः; अन्यक्षेत्रोत्पन्नत्वात् । 'क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा । इतरेण सपिण्डेन देवरेण वोत्पन्नः पुत्रः क्षेत्रजः ॥ १२८ ॥

धर्मपत्नी (सवर्णा स्त्री, जिसका ब्राह्मादि धर्मविवाहों से विवाह हुआ है) से उत्पन्न पुत्र औरस होता है । उसी के समान पुत्रिका (भाई-विहीन कन्या, जिसका पुत्रिका के रूप में प्रदान हुआ है) का पुत्र होता है । क्षेत्र (पत्नी) में सगोत्र या अन्य (देवर आदि सपिण्ड) से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज होता है ॥ १२८ ॥

गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः ।
कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः ॥ १२९ ॥

गूढजः पुत्रो भर्तृगृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो हीनाधिकजातीयपुरुषजत्वपरिहारेण पुरुषविशेषजत्वनिश्चयाभावेऽपि सवर्णजत्वनिश्चये सति बोद्धव्यः । कानीनस्तु कन्यकायामुत्पन्नः पूर्ववत्सवर्णात्स मातामहस्य पुत्रः । यद्यनूढा सा भवेत्तथा पितृगृह एव संस्थिता, अथोढा तदा वोढुरेव पुत्रः । यथाह मनुः-

(९।१७२)—'पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः । तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥' इति ॥ १२९ ॥

घर में (निम्न जाति के पुरुष से) प्रच्छन्न रूप से उत्पन्न पुत्र गूढ़ज माना गया है। यदि कन्यावस्था में अविवाहित होने पर पितृगृह में पुत्र हो (सवर्ण से) तो वह कानीन होता है और मातामह का होता है (यदि कन्या विवाहिता है और पितृगृह में पुत्र को जन्म देती है तो वह पति का होगा– ऐसा मनु का तात्पर्य है) ॥ १२९ ॥

अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः ।
दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥ १३० ॥

पौनर्भवस्तु पुत्रोऽक्षतायां क्षतायां वा पुनर्भर्त्रा सवर्णादुत्पन्नः । **माता भर्त्रनुज्ञया** प्रोषिते प्रेते वा भर्तरि पित्रा वोभाभ्यां वा सवर्णाय **यस्मै दीयते, स तस्य दत्तकः पुत्रः** । यथाह मनुः (९।१६८)—'माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥' इति । आपद्ग्रहणादनापदि न देयः; दातुरयं प्रतिषेधः । तथा एकपुत्रो न देयः । 'न त्वेवैकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा' (१५।३) इति वसिष्ठस्मरणात् । तथाऽनेकपुत्रसद्भावेऽपि ज्येष्ठो न देयः । 'ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः' (मनुः ९।१०६)—इति तस्यैव पुत्रकार्यकरणे मुख्यत्वात् । पुत्रप्रतिग्रहप्रकारश्च 'पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्बन्धूनाहूय राजनि चावेद्य निवेशनमध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वा अदूरबान्धवं बन्धुसंनिकृष्ट एव प्रतिगृह्णीयात्' इति वसिष्ठेनोक्तः । 'अदूरबान्धवम्' इत्यत्यन्तदेशभाषाविप्रकृष्टस्य प्रतिषेधः । एवं क्रीतस्वयंदत्तकृत्रिमेष्वपि योजनीयम्; समानन्यायत्वात् ॥ १३० ॥

अक्षत योनि (बिना किसी पुरुष के संपर्क वाली) या क्षत (पूर्व में पुरुष के संपर्क वाली) स्त्री में (दूसरे विवाहेतर) पुरुष से उत्पन्न पुत्र पौनर्भव होता है। जिसे माता या पिता दे दें वह दत्तक होता है ॥ १३० ॥

क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः कृत्रिमः स्यात्स्वयंकृतः ।
दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो गर्भे विन्नः सहोढजः ॥ १३१ ॥

क्रीतस्तु पुत्रस्ताभ्यां मातापितृभ्यां मात्रा पित्रा वा **विक्रीतः** पूर्ववत्, तथैकं पुत्रं ज्येष्ठं च वर्जयित्वा आपदि सवर्ण इत्येव । यत्तु मनुनोक्तम् (९।१७४)– 'क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् । स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥' इति, तद्गुणैः सदृशोऽसदृशो वेति व्याख्येयं, न जात्या; 'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु' (व्य०१३३) इत्युपसंहारात् । **कृत्रिमः स्यात्स्वयंकृतः** । कृत्रिमस्तु पुत्रः स्वयं पुत्रार्थिना धनक्षेत्रप्रदर्शनादिप्रलोभनैः पुत्रीकृतो मातापितृविहीनः

तत्सद्भावे तत्परतन्त्रत्वात्। **दत्तात्मा तु** पुत्रो यो मातापितृविहीनस्ताभ्यां त्यक्तो वा तवाहं पुत्रो भवामीति स्वयंदत्तत्वमुपगतः। **सहोढजस्तु गर्भे स्थितो** गर्भिण्यां परिणीतायां यः परिणीतः स वोढुः पुत्रः ॥ १३१ ॥

उनके द्वारा (माता-पिता या उनमें से किसी के द्वारा) विक्रय किया गया पुत्र क्रीत होता है। (स्वयं पुत्र माता-पिता से विहीन) स्वयं पुत्र बना लिया गया स्वयंकृत पुत्र होता है और जो पुत्र स्वयं स्वयं को किसी का पुत्र बना ले वह दत्तात्मा पुत्र होता है। जो विवाह के समय ही गर्भ में रहा हो वह सहोढज पुत्र होता है ॥ १३१ ॥

उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः ।

अपविद्धो मातापितृभ्यामुत्सृष्टो **यो गृह्यते,** स ग्रहीतुः पुत्रः सर्वत्र सवर्ण इत्येव ॥—

माता-पिता द्वारा त्यक्त होने पर जो पुत्र स्वीकार किया जाता है वह अपविद्ध पुत्र होता है ॥ १३१$\frac{1}{2}$ ॥

एवं मुख्यामुख्यपुत्राननुक्रम्यैतेषां दायग्रहणे क्रममाह—

पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः ॥ १३२ ॥

एतेषां पूर्वोक्तानां पुत्राणां द्वादशानां **पूर्वस्य पूर्वस्याभावे उत्तर उत्तरः श्राद्धदोंऽशहरो** धनहरो वेदितव्यः। औरसपौत्रिकेयसमवाये औरसस्यैव धनग्रहणे प्राप्ते मनुरपवादमाह (९।१३४)—'पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते। समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥' इति। तथा अन्येषामपि पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सत्यप्युत्तरेषां पुत्राणां चतुर्थांशभागित्वमुक्तं वसिष्ठेन। 'तस्मिंश्चेत्प्रतिगृहीते औरस उत्पद्येन चतुर्थभागभागी स्याद्दत्तकः' (१५।९) इति। 'दत्तक'ग्रहणं क्रीतकृत्रिमादीनां प्रदर्शनार्थम्; पुत्रीकरणाविशेषात्। तथा च कात्यायनः—'उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः सुताः। सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभाजनाः ॥' इति। सवर्णा दत्तकक्षेत्रजादयस्ते सत्यौरसे चतुर्थांशहराः। असवर्णाः कानीनगूढोत्पन्नसहोढजपौनर्भवास्ते त्वौरसे सति न चतुर्थांशहराः, किंतु ग्रासाच्छादनभाजनाः। यदपि विष्णुवचनम्—'अप्रशस्तास्तु कानीनगूढोत्पन्नसहोढजाः। पौनर्भवश्च नैवैते पिण्डरिक्थांशभागिनः ॥' इति, तदप्यौरसे सति चतुर्थांशनिषेधपरमेव; औरसाद्यभावे तु कानीनादीनामपि सकलपित्र्यधनग्रहणमस्त्येव। 'पूर्वाभावे परः परः' इति वचनात्॥ यदपि मनुवचनम् (९।१६३)—'एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः। शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥' इति, तदपि दत्तकादीनामौरसप्रतिकूलत्वे निर्गुणत्वे च वेदितव्यम्। तत्र क्षेत्रजस्य विशेषो दर्शितस्तेनैव (मनुः ९।१६४)—'षष्ठं तु

क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात्। औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥' इति प्रतिकूलत्वनिर्गुणत्वसमुच्चये षष्ठमंशम्, एकतरसद्भावे पञ्चममिति विवेक्तव्यम् ॥ यदपि मनुना पुत्राणां षट्कद्वयमुपन्यस्य पूर्वषट्कस्य दायादबान्धवत्वमुक्तम्, उत्तरषट्कस्यादायादबान्धवत्वमुक्तम् (मनुः ९।१५९।१६०)—'औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा। स्व दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥' इति, तदपि स्वपितृसपिण्डसमानोदकानां संनिहितरिक्थहरान्तराभावे पूर्वषट्कस्य तद्रिक्थहरत्वम्, उत्तरषट्कस्य तु तन्नास्ति। बान्धवत्वं पुनः समानगोत्रत्वेन सपिण्डत्वेन चोदकप्रदानादिकार्यकरत्वं वर्गद्वयस्यापि सममेवेति व्याख्येयम् ॥ (मनुः ९।१४२)—'गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्रिमः सुतः। गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥' इत्यत्र 'दत्रिम'ग्रहणस्य पुत्रप्रतिनिधिप्रदर्शनार्थत्वात। पितृधनहारित्वं तु पूर्वस्य पूर्वस्याभावे सर्वेषामविशिष्टम्। (मनुः ९।१८५)—'न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः।' इत्यौरसव्यतिरिक्तानां पुत्रप्रतिनिधीनां सर्वेषां रिक्थहारित्वप्रतिपादनपरत्वात्। औरसस्य तु (मनुः ९।१३६)—'एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः।' इत्यनेनैव रिक्थभाक्त्वस्योक्तत्वात्। 'दायाद'शब्दस्य 'दायादानपि दापयेत्' इत्यादौ पुत्रव्यतिरिक्तरिक्थभाग्विषयत्वेन प्रसिद्धत्वाच्च। वासिष्ठादिषु वर्गद्वयेऽपि कस्यचिद्व्यत्ययेन पाठो गुणवदगुणवद्विषयो वेदितव्यः। गौतमीये तु 'पौत्रिके'ऽस्य दशमत्वेन पाठो विजातीयविषयः। तस्मात्स्थितमेतत्पूर्वपूर्वाभावे परः परोंऽशभागिति ॥ यत्तु (९।१८२)—'भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत्। सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥' इति, तदपि भ्रातृपुत्रस्य पुत्रीकरणसंभवेऽन्येषां पुत्रीकरणनिषेधार्थम्, न पुनः पुत्रत्वप्रतिपादनाय। 'तत्सुता गोत्रजा बन्धुः—' (व्य० १३५) इत्यनेन विरोधात् ॥ १३२ ॥

इन पुत्रों में पूर्व-पूर्व के अभाव में बाद वाले पिण्ड देने वाले तथा संपत्ति के भागीदार होते हैं ॥ १३२ ॥

इदानीमुक्तोपसंहारव्याजेन तत्रैव नियममाह—

सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः।

समानजातीयेष्वेव पुत्रेषु अयं 'पूर्वाभावे परः पर' इत्युक्तो **विधिः,** न भिन्नजातीयेषु। तत्र च कानीनगूढोत्पन्नसहोढजपौनर्भवाणां सवर्णत्वं जनकद्वारेण, न स्वरूपेण; तेषां वर्णजातिलक्षणाभावस्योक्तत्वात्। तथानुलोमजानां मूर्धावसिक्तादीनामौरसेष्वन्तर्भावात्तेषामप्यभावे क्षेत्रजादीनां दायहरत्वं बोद्धव्यम्। शूद्रापुत्रस्त्वौरसोऽपि कृत्स्नं भागमन्याभावेऽपि न लभते। यथाह मनुः (९।१५४)—'यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत्। नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रा-

पुत्राय धर्मतः ॥' इति । यदि सत्पुत्रो विद्यमानद्विजातिपुत्रो यद्यपुत्रोऽविद्यमानद्विजातिपुत्रो वा स्यात्तस्मिन्मृते क्षेत्रजादिर्वाऽन्यो वा सपिण्डः शूद्रापुत्राय तद्धनाद्दशमांशादधिकं न दद्यादित्यस्मादेव क्षत्रियावैश्यापुत्रयोः सवर्णापुत्राभावे सकलधनग्रहणं गम्यते ॥

मैंने सजातीय (समान जाति के) पुत्रों में यह (पूर्व और पर की) विधि कही है ॥१३२$\frac{१}{२}$॥

अधुना शूद्रधनविभागे विशेषमाह—

जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोंऽशहरो भवेत् ॥ १३३ ॥
मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिकम् ।
अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितॄणां सुतादृते ॥ १३४ ॥

शूद्रेण दास्यामुत्पन्नः पुत्रः कामतः पितुरिच्छया भाग लभते । पितुरूर्ध्वं तु यदि परिणीतापुत्राः सन्ति तदा ते भ्रातरस्त दासीपुत्रं अर्धभागिनं कुर्युः, स्वभागादर्धं दद्युरित्यर्थः । अथ परिणीतापुत्रा न सन्ति तदा कृत्स्नं धनं दासीपुत्रो गृह्णीयात् यदि परिणीतादुहितरस्तत्पुत्रा वा न सन्ति । तत्सद्भावे त्वर्धभागिक एव दासीपुत्रः । अत्र च 'शूद्र'ग्रहणाद्द्विजातिना दास्यामुत्पन्नः पितुरिच्छयाऽप्यंशं न लभते नाप्यर्धं, दुहितर एव कृत्स्नम् । किंत्वनुकूलश्चेज्जीवनमात्रं लभते ॥ १३३–१३४ ॥

शूद्र द्वारा दासी में भी उत्पन्न पुत्र पिता की इच्छा से संपत्ति का भागीदार होता है । पिता के मर जाने पर (परिणीता से उत्पन्न पुत्र, जो दासीपुत्र के) भाई उसे आधा भाग दे । यदि कन्यायें और उनके पुत्र न हों तो सभी संपत्ति वह पाता है (कन्याओं तथा उनके पुत्र होने पर आधा प्राप्त करेगा) ॥१३३-१३४॥

मुख्यगौणसुता दायं गृह्णन्तीति निरूपितम्, तेषामभावे सर्वेषां दायादक्रम उच्यते—

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।
तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः ॥ १३५ ॥
एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥ १३६ ॥

पूर्वोक्ता द्वादशपुत्रा यस्य न सन्ति असावपुत्रः, तस्यापुत्रस्य स्वर्यातस्य परलोकं गतस्य धनभाक् धनग्राही एषां पत्न्यादीनामनुक्रान्तानां मध्ये पूर्वस्य पूर्वस्याभाव उत्तर उत्तरो धनभागिति संबन्धः । सर्वेषु मूर्धावसिक्तादिषु अनुलो-

मजेषु सूतादिषु प्रतिलोमजेषु वर्णेषु च ब्राह्मणादिषु अयं दायग्रहणविधिर्दायग्रहणक्रमो वेदितव्यः। तत्र प्रथमं पत्नी धनभाक्। पत्नी विवाहसंस्कृता 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (अ० ४।१.३३) इति स्मरणात्। एकवचनं च जात्यभिप्रायेण। ताश्च बह्वयश्चेत्सजातीया विजातीयाश्च तदा यथांशं विभज्य धनं गृह्णन्ति। वृद्धमनुरपि पत्न्याः समग्रधनसंबन्धं वक्ति—'अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च ॥' इति। वृद्धविष्णुरपि—'अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि' इति। कात्यायनोऽपि—'पत्नी पत्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा ॥' इति। तथा 'अपुत्रस्याथ कुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा। तदभावे पिता माता भ्रातापुत्राश्च कीर्तिताः ॥' इति। बृहस्पतिरपि (बृह. २५।४८)—'कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिषु। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी ॥' एतद्विरुद्धानीव वाक्यानि लक्ष्यन्ते (ना० १३।२५–२६)—'भ्रातॄणामप्रजाः प्रेयात्कश्चिच्चेत्प्रव्रजेत वा। विभजेरन्धनं तस्य शेषास्ते स्त्रीधनं विना ॥ भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्। रक्षन्ति शय्यां भर्तुश्चेदाच्छिद्युरितरासु तु ॥' इति पत्नीसद्भावेऽपि भ्रातॄणां धनग्रहणं पत्नीनां च भरणमात्रं नारदेनोक्तम्। मनुना तु (९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इत्यपुत्रस्य धनं पितुर्भ्रातुर्वेति दर्शितम्। तथा (मनुः ९।२१७)—'अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्। मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥' इति मातुः पितामह्याश्च धनसंबन्धो दर्शितः। शङ्खेनापि—'स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नी' इति भ्रातॄणां पित्रोर्ज्येष्ठायाश्च पत्न्याः क्रमेण धनसंबन्धो दर्शितः। कात्यायनेनापि—'विभक्ते संस्थिते द्रव्यं पुत्राभावे पिता हरेत्। भ्राता वा जननी वाऽथ माता वा तत्पितुः क्रमात् ॥' इत्येवमादीनां विरुद्धार्थानां वाक्यानां धारेश्वरेण व्यवस्था दर्शिता—'पत्नी गृह्णीयात्' इत्येतद्वचनजातं विभक्तभ्रातृस्त्रीविषयम्। सा च यदि नियोगार्थिनी भवति। कुत एतत् नियोगसव्यपेक्षायाः पत्न्या धनग्रहणं न स्वतन्त्रायां इति। 'पिता हरेदपुत्रस्य' (मनुः ९।१८५) इत्यादिवचनात्तत्र व्यवस्थाकारणं वक्तव्यम्। नान्यद्व्यवस्थाकारणमस्ति इति गौतमवचनाच्च (२९।५।६) 'पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन् स्त्री वाऽनपत्यस्य बीजं लिप्सेत' इति। अस्यार्थः—पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा अनपत्यस्य रिक्थं भजेरन्स्त्री वा रिक्थं भजेत् यदि बीजं लिप्सेतेति। मनुरपि (९।१४६)—'धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव वा। सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥' इति। अनेनैतद्दर्शयति विभक्तधनेऽपि भ्रातर्युपरतेऽपत्यद्वारेणैव पत्न्या धनसंबन्धो नान्यथेति। तथाऽविभक्तधनेऽपि (मनुः ९।१२०)—'कनीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि। समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥' इति। तथा वसिष्ठोऽपि (१७।४८) 'रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः' इति रिक्थलोभान्नियोगं प्रतिषेधयन्

नियोगद्वारक एव पत्न्याः धनसंबन्धो नान्यथेति दर्शयति। नियोगाभावेऽपि पत्न्या भरणमात्रमेव नारदवचनात् 'भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' इति। योगीश्वरेणापि किल वक्ष्यते (व्य० १४२)—'अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः। निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च॥' इति। अपि च, द्विजातिधनस्य यथार्थत्वात्स्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकाराद्धनग्रहणमयुक्तम्। यथा च केनापि स्मृतम्—'यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नं तत्रानधिकृतास्तु ये। अरिक्थभाजस्ते सर्वे ग्रासाच्छादनभाजनाः॥ यज्ञार्थं विहितं वित्तं तस्मात्तद्विनियोजयेत्। स्थानेषु धर्मजुष्टेषु न स्त्रीमूर्खविधर्मिषु॥' इति,—तदनुपपन्नम्; 'पत्नी दुहितरः' (व्य० १३५) इत्यत्र नियोगस्याप्रतीतेरप्रस्तुतत्वाच्च। अपि चेदमत्र वक्तव्यम्,—पत्न्याः धनग्रहणे नियोगो वा निमित्तं तदुत्पन्नमपत्यं वा। तत्र नियोगस्यैव निमित्तत्वे अनुत्पादितपुत्राया अपि धनसंबन्धः प्राप्नोति। उत्पन्नस्य च पुत्रस्य धनसंबन्धो न प्राप्नोति। अथ तदपत्यस्यैव निमित्तत्वं, तथा सति पुत्रस्यैव धनसंबन्धात्पत्नीति नारब्धव्यम्॥

अथ स्त्रीणां पतिद्वारको धनसंबन्धः पुत्रद्वारको वा नान्यथेति मतम्,—तदप्यसत्; (मनुः ९।१९४)—'अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥' इत्यादिविरोधात्। किंच; सर्वथा पुत्राभावे 'पत्नी दुहितरः' इत्यारब्धम्। तत्र नियुक्ताया धनसंबन्धं वदता क्षेत्रजस्यैव धनसंबन्धं उक्तो भवति। स च प्रागेवाभिहित इति 'अपुत्रप्रकरणे पत्नी'ति नारब्धव्यम्। अथ पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री वाऽनपत्यस्य बीजं लिप्सेत' (गौ० २९।५) इति गौतमवचनान्नियुक्ताया धनसंबन्ध इति। तदप्यसत्,—नहि यदि बीजं लिप्सेत तदाऽनपत्यस्य स्त्री धनं गृह्णीयादित्ययमर्थोऽस्मात्प्रतीयते। किंतु 'अनपत्यस्य धनं पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा भजेरन्स्त्री वा सा स्त्री बीजं वा लिप्सेत संयता वा भवेत्' इति तस्या धर्मान्तरोपदेशः; 'वा'शब्दस्य पक्षान्तरवचनत्वेन यथार्थाप्रतीतेः। अपि च संयताया एव धनग्रहणं युक्तं, न नियुक्तायाः स्मृतिलोकनिन्दितायाः। 'अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च॥' इति संयताया एव धनग्रहणमुक्तम्॥

तथा नियोगश्च निन्दितो मनुना (९।६४)—'नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥' इत्यादिना। यत्तु वसिष्ठवचनम् (१७।६५) 'रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः' इति, तदविभक्ते संसृष्टिनि वा भर्तरि प्रेते तस्या धनसंबन्धो नास्तीति स्वापत्यस्य धनसंबन्धार्थं नियोगो न कर्तव्य इति व्याख्येयम्। यदपि नारदवचनम् (१३।२६)—'भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' इति, तदपि 'संसृष्टानां तु यो भागस्तेषामेव स इष्यते' इति संसृष्टानां प्रस्तुतत्वात्तत्स्त्रीणामनपत्यानां भरणमात्रप्रतिपादनपरम्। नच 'भ्रातृणामप्रजाः प्रेयात्' (ना० १३।२४) इत्येतस्य संसृष्टिविषयत्वे 'संसृष्टानां तु यो भाग' (ना० १३।२४) इत्यनेन पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्।

यतः पूर्वोक्तविवरणेन स्त्रीधनस्याविभाज्यत्वं तत्स्त्रीणां च भरणमात्रं विधीयते। यदपि 'अपुत्रा योषितश्चैषाम्' (व्य० १४०) इत्यादिवचनं, तत् क्लीबादिस्त्रीविषयमिति [4]वक्ष्यते। यत्तु 'द्विजातिधनस्य यज्ञार्थत्वात्स्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकाराद्धनग्रहणमयुक्त'मिति,–तदसत्; सर्वस्य द्रव्यजातस्य यज्ञार्थत्वे दानहोमाद्यसिद्धेः। अथ यज्ञशब्दस्य धर्मोपलक्षणत्वाद्दानहोमादीनामपि धर्मत्वात्तदर्थत्वमविरुद्धमिति मतम्। एवं तर्ह्यर्थकामयोर्धनसाध्ययोरसिद्धिरेव स्यात्। तथा सति 'धर्मार्थकामान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत्' (आ० ११५)। तथा 'न पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णानफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः' (गौ० ९।२४)। तथा 'न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया' (मनुः २।९६) इत्यादियाज्ञवल्क्यगौतममनुवचनविरोधः। अपि च धनस्य यज्ञार्थत्वे 'हिरण्यं धार्यम्' इति हिरण्यसाधारणस्य क्रत्वर्थतानिराकरणेन पुरुषार्थत्वमुक्तं तत्प्रत्युद्धृतं स्यात्। किंच यज्ञशब्दस्य धर्मोपलक्षणपरत्वे स्त्रीणामपि पूर्तधर्माधिकाराद्धनग्रहणं युक्ततरम्। यत्तु पारतन्त्र्यवचनं 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनुः ९।३) इत्यादि तदस्तु पारतन्त्र्यं, धनस्वीकारे तु को विरोधः॥ कथं तर्हि 'यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नम्' इत्यादिवचनम्? उच्यते—'यज्ञार्थमेवार्जितं यद्धनं तद्यज्ञ एव नियोक्तव्यं पुत्रादिभिरपी'त्येवं परं तत्।—'यज्ञार्थं लब्धमददद्भासः काकोऽपि वा भवेत्' (आ० १२७) इति दोषश्रवणस्य पुत्रादिष्व[1]प्यविशेषात्। यदपि कात्यायनेनोक्तम्—'अ[3]दायिकं राजगामि योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकम्। अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत्॥' इति। अ[3]दायिकं दायादरहितं यद्धनं तद्राजगामि राज्ञो भवति, योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकमपास्य, तत्स्त्रीणामशनाच्छादनोपयुक्तं और्ध्वदेहिकं धनिनः श्राद्धाद्युपयुक्तं चापरस्य परिहृत्य राजगामि भवतीति संबन्धः। अस्यापवादे[3] उत्तरार्धे। श्रोत्रियद्रव्यं च योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकमपास्य 'श्रोत्रियायोपपादये'दिति, तदप्यवरुद्धस्त्रीविषयम्; योषिद्ग्रहणात्। नारदवचनं च (१३।५२)—'अन्यत्र ब्राह्मणात्किंतु राजा धर्मपरायणः। तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः॥' इत्यवरुद्धस्त्रीविषयमेव। स्त्रीशब्दग्रहणात्। इह तु 'पत्नी'शब्दादूढायाः संयताया धनग्रहणमविरुद्धम्। तस्माद्विभक्तासंसृष्टिन्यपुत्रे स्वर्याते पत्नी धनं प्रथमं गृह्णातीत्ययमर्थः सिद्धो भवति। विभागस्योक्तत्वात्संसृष्टिनां तु वक्ष्यमाणत्वात्। एतेनाल्पधनविषयत्वं श्रीकरादिभिरुक्तं निरस्तं वेदितव्यम्। तथा ह्यौरसेषु पुत्रेषु सत्स्वपि जीवद्विभागे अजीवद्विभागे च पत्न्याः पुत्रसमांशग्रहणमुक्तम् (व्य० ११५)—'यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः' इति। तथा—'पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत्' इति च, तथासत्यपुत्रस्य स्वर्यातस्य धनं पत्नी भरणादतिरिक्तं न लभत इति व्यामोहमात्रम्। [4]अथ 'पत्न्यः कार्याः समांशिका' (व्य० ११५) इत्यत्र 'माताप्यंशं समं हरेत्' (व्य० १२३) इत्यत्र च जीवनोपयुक्तमेव [6]धनं स्त्री हरतीति मतं,—तदसत्; 'अंश'शब्दस्य 'सम'शब्दस्य चानर्थक्यप्रसङ्गात्। स्यान्मतम्—बहुधने जीवनोपयुक्तं धनं गृह्णाति अल्पे तु पुत्रांशसमांशं गृह्णातीति। तच्च न विधिवैषम्यप्रसङ्गात्। तथा हि 'पत्न्यः कार्याः समांशिकाः' 'माताप्यंशं समं

हरेत्' इति च वहुधने जीवनमात्रोपयुक्तं वाक्यान्तरमपेक्ष्य प्रतिपादयति, अल्पधने तु पुत्रांशसममंशं प्रतिपादयतीति । यथा चातुर्मास्येषु 'द्वयोः प्रणयन्ति' इत्यत्र पूर्वपक्षिणा सौमिकप्रणयनातिदेशे हेतुत्वेन प्राप्ताया उत्तरवेद्या 'न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपकिरन्ति 'न शुनासीरीये' इत्युत्तरवेदिप्रतिषेधे दर्शिते राद्धान्तैकदेशिना 'न सौमिकप्रणयनातिदेशप्राप्ताया उत्तरवेद्याः प्रथमोत्तमयोः पर्वणोरयं प्रतिषेधः किंतूपात्रे वपन्तीति प्राकरणिकेन वचनेन प्राप्ताया उत्तरवेद्याः प्रतिषेधोऽयमित्यभिहिते पुनः पूर्वपक्षिणा 'उपात्र वपन्ति'इति प्रथमोत्तमयोः पर्वणोः प्रतिषेधमपेक्ष्य पाक्षिकीमुत्तरवेदिं प्रापयति । मध्यमयोस्तु निरपेक्षमेव नित्यवदुत्तरवेदिं प्रापयति' (जै० ७।३।२३-२५) इति विधिवैषम्यं दर्शितम् । राद्धान्तेऽपि विधिवैषम्यभयात्प्रथमोत्तमयोः पर्वणोरुत्तरवेदिप्रतिषेधो नित्यानुवादो 'द्वयोः प्रणन्ति'इयत्याद्यर्थवादपर्यालोचनया 'उपात्र वपन्ति' इति मध्यमयोरेव वरुणप्रघाससाकमेधपर्वणोरुत्तरवेदिं विधत्त इति दार्शितम् । यदपि मतम् (मनुः ९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इति मनुस्मरणात्, तथा—स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नी' इति शङ्खस्मरणाच्च अपुत्रस्य धनं भ्रातृगामीति प्राप्तं, 'भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' (ना० १३।२६) इत्यादिवचनाच्च भरणोपयुक्तं धनं पत्नी लभत इत्यपि स्थितम् । एवं स्थिते वहुधने अपुत्रे स्वर्याते भरणोपयुक्तं पत्नी गृह्णाति, शेषं च भ्रातरः । यदा तु पत्नीभरणमात्रोपयुक्तमेव द्रव्यमस्ति ततो न्यूनं वा तदा किं पत्न्येव गृह्णात्युत भ्रातरोऽपीति विरोधे पूर्वबलीयस्त्वज्ञापनार्थं 'पत्नी दुहितर' इत्यारब्धमिति, तदप्यत्र भगवानाचार्यो न मृष्यति । यतः (मनुः ९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इति विकल्पस्मरणान्नेदं क्रमपरं वचनम्, अपि तु धनग्रहणेऽधिकारप्रदर्शनमात्रपरम् । तच्चासत्यपि पत्न्यादिगणे घटत इति व्याचचक्षे । शङ्खवचनमपि संसृष्टभ्रातृविषयमिति । अपि चाल्पविषयत्वमस्माद्वचनात्प्रकरणाद्वा नावगम्यते । 'धनभागुत्तरोत्तरः' (व्य० १३६) इत्यस्य च 'पत्नी दुहितर' इति विषयद्वये वाक्यान्तरमपेक्ष्याल्पधनविषयत्वम्, पित्रादिषु तु धनमात्रविषयत्वमिति पूर्वोक्तं विधिवैषम्यं तदवस्थमेवेति यत्किंचिदेतत् । यत्तु हारीतवचनम्—विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा । आयुषः क्षपणार्थं तु दातव्यं जीवनं तदा ॥' इति,—तदपि शङ्कितव्यभिचारायाः सकलधनग्रहणनिषेधपरम् । अस्मादेव वचनादनाशङ्कितव्यभिचारायाः सकलधनग्रहणं गम्यते । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं शङ्खेन 'ज्येष्ठा वा पत्नी' इति । ज्येष्ठा गुणज्येष्ठा अनाशङ्कितव्यभिचारा, सा सकलं धनं गृहीत्वाऽन्यां कर्कशामपि मातृवत्पालयतीति सर्वमनवद्यम् । तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यासंसृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम् ।

तदभावे दुहितरः । 'दुहितर' इति बहुवचनं समानजातीयानामसमानजातीयानां च समविषमांशप्राप्त्यर्थम् । तथा च कात्यायनः—'पत्नी भर्तुर्धनहरी

या स्यादव्यभिचारिणी । तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा ॥' इति । बृहस्पतिरपि (२५।५५-५६)—'भर्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता । अङ्गादङ्गात्संभवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम् ॥ तस्मात्पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः ॥' इति । तत्र चोढानूढासमवायेऽनूढैव गृह्णाति । 'तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा' इति विशेषस्मरणात् । तथा प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितानां समवाये अप्रतिष्ठितैव[1] तदभावे प्रतिष्ठिता; 'स्त्रीधनं[2] दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च' (गौ. २९।६) इति गौतमवचनस्य पितृधनेऽपि समानत्वात् । न चैतत्पुत्रिकाविषयमिति मन्तव्यम् । 'तत्समः पुत्रिकासुतः' इति पुत्रिकायास्तत्सुतस्य चौरससमत्वेन पुत्रप्रकरणेऽभिधानात् । 'च'शब्दाद्दुहित्रभावे दौहित्रो धनभाक् । यथाह विष्णुः—'अपुत्रपौत्रसंताने दौहित्रा धनमाप्नुयुः । पूर्वेषां तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रिका मताः ॥' इति । मनुरपि (९।१३६)—'अकृता[3] वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् । पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥' इति ॥

तदभावे पितरौ[4] मातापितरौ धनभाजौ । यद्यपि युगपदधिकरणवचनतायां द्वन्द्वस्मरणात् तदपवादत्वादेकशेषस्य धनग्रहणे पित्रोः क्रमो न प्रतीयते, तथापि विग्रहवाक्ये 'मातृ'शब्दस्य पूर्वनिपातादेकशेषाभावपक्षे च मातापितराविति 'मातृ'शब्दस्य पूर्वं श्रवणात् पाठक्रमादेवार्थक्रमावगमाद्धनसंबन्धेऽपि क्रमापेक्षायां, प्रतीतक्रमानुरोधेनैव प्रथमं माता धनभाक्, तदभावे पितेति गम्यते । किंच पिता पुत्रान्तरेष्वपि साधारणः; माता तु न साधारणीति प्रत्यासत्त्यतिशयात् 'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' (मनुः ९।१८७) इति वचनान्मातुरेव प्रथमं धनग्रहणं युक्तम् । नच सपिण्डेष्वेव प्रत्यासत्तिर्नियामिका, अपि तु समानोदकादिष्वप्यविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिकेत्यस्मादेव वचनादवगम्यत इति । मातापित्रोर्मातुरेव प्रत्यासत्त्यतिशयाद्धनग्रहणं युक्ततरम् । तदभावे पिता[1] धनभाक् ।

पित्रभावे भ्रातरो[2] धनभाजः । तथा च (मनुः ९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इति । यत्पुनर्धारेश्वरेणोक्तम् (९।२१७)—'अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥' इति मनुवचनाज्जीवत्यपि पितरि मातरि वृत्तायां पितुर्माता पितामही धनं हरेन्न पिता । यतः पितृगृहीतं धनं विजातीयेष्वपि पुत्रेषु गच्छति, पितामहीगृहीतं तु सजातीयेष्वेव गच्छतीति पितामह्येव गृह्णातीति । एतदप्याचार्यो[3] नानुमन्यते । विजातीयपुत्राणामपि धनग्रहणस्योक्तत्वात्, 'चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युः' (व्य० १२५) इत्यादिनेति । यत्पुनः (मनुः ९।१८९)—'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः' इति मनुस्मरणं तन्नृपाभिप्रायं, नंतु पुत्राभिप्रायम् । भ्रातृष्वपि[4] सोदराः प्रथमं गृह्णीयुः भिन्नोदराणां मात्रा विप्रकर्षात् । 'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' (मनुः ९।१८७) इति स्मरणात् ।

सोदराणामभावे भिन्नोदरा धनभाजः, भ्रातृणामप्यभावे तत्पुत्राः पितृक्रमेण

धनभाजः । भ्रातृभ्रातृपुत्रसमवाये भ्रातृपुत्राणामनधिकारः; भ्रात्रभावे 'भ्रातृपुत्राणामधिकारवचनात्; यदा त्वपुत्रे भ्रातरि स्वर्याते तद्भ्रातॄणामविशेषेण धनसंवन्धे जाते भ्रातृधनविभागात्प्रागेव यदि कश्चिद्भ्राता मृतस्तदा तत्पुत्राणां पितृतोऽधिकारे प्राप्ते तेषां भ्रातॄणां च विभज्य धनग्रहणे 'पितृतो भागकल्पना' (व्य० १२०) इति युक्तम् ॥

भ्रातृपुत्राणामप्यभावे गोत्रजा धनभाजः । गोत्रजाः पितामही सपिण्डाः समानोदकाश्च । तत्र पितामही प्रथमं धनभाक् । 'मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता धनं हरेत' (मनुः ९।२१७)—इति मात्रनन्तरं पितामह्या धनग्रहणे प्राप्ते पित्रादीनां भ्रातृसुतपर्यन्तानां वद्धक्रमत्वेन मध्येऽनुप्रवेशाभावात्, 'पितुर्माता धनं हरेत्' इत्यस्य वचनस्य धनग्रहणाधिकारप्राप्तिमात्रपरत्वादुत्कर्षे तत्सुतानन्तरं पितामही गृह्णातीत्यविरोधः ॥ पितामह्याश्चाभावे समानगोत्रजाः [1]सपिण्डाः पितामहादयो धनभाजः; भिन्नगोत्राणां सपिण्डानां 'वन्धु'शब्देन ग्रहणात् । तत्र च पितृसन्तानाभावे पितामही पितामहः पितृव्यास्तत्पुत्राश्च क्रमेण धनभाजः । पितामहसन्तानाभावे प्रपितामही प्रपितामहस्तत्पुत्रास्तत्सूनवश्चेत्येवमा[2]सप्तमात्समानगोत्राणां सपिण्डानां धनग्रहणं वेदितव्यम् । तेषामभावे समानोदकानां धनसंवन्धः । ते च सपिण्डानामुपरि सप्त वेदितव्याः । जन्मनामज्ञानावधिका वा । यथाऽऽह वृहन्मनुः—'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते । समानोदकभावस्तु निवर्तताचतुर्दशात् ॥ जन्मनाम्नोः स्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ॥' इति ।

गोत्रजाभावे वन्धवो धनभाजः । बन्धवश्च त्रिविधाः—आत्मवन्धवः, पितृ[3]वन्धवः, मातृवन्धवश्चेति । यथोक्तम्—'आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुः सुताः । आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्मवान्धवाः ॥ पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः । पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृवान्धवाः ॥ मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्मातृष्वसुः सुताः । मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः ॥' इति ॥ तत्र चान्तरङ्गत्वात्प्रथममात्मवन्धवो धनभाजस्तदभावे पितृवन्धवस्तदभावे मातृवन्धव इति क्रमो वेदि[4]तव्यः । बन्धूनामभावे आचार्यः, तदभावे शिष्यः—'पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः, तदभावे आचार्यः, आचार्याभावेऽन्तेवासी' इत्यापस्तम्वस्मरणात् ॥

शिष्याभावे सब्रह्मचारी धनभाक् । येन सहैकस्मादाचार्यादुपनयनाध्ययनतदर्थज्ञानप्राप्तिः, स सब्रह्मचारी । तदभावे ब्राह्मणद्रव्यं यः कश्चित् श्रोत्रियो गृह्णीयात् । 'श्रोत्रिया ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन्' (२५।४१) इति गौतमस्मरणात् । तदभावे ब्राह्मणमात्रम् । यथाऽऽह मनुः (९।१८८)—'सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः । त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥' इति । न कदाचिदपि ब्राह्मणद्रव्यं राजा गृह्णीयात्; 'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः' (९।१८९) इति मनुवचनात् । नारदेनाप्युक्तम्—'ब्राह्मणार्थस्य

तन्नाशे दायादश्चेन्न कश्चन । ब्राह्मणायैव दातव्यमेनस्वी स्यान्नृपोऽन्यथा ॥' इति ॥ क्षत्रियादिधनं सब्रह्मचारिपर्यन्तानामभावे राजा हरेत् । न ब्राह्मणः । यथाऽऽह मनुः (९।१८९)—'इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृप' इति[1] ॥ १३५–१३६ ॥

(जिस व्यक्ति के पूर्वोक्त बारह पुत्रों में से कोई भी न हो उस) दिवंगत व्यक्ति के पुत्र नहीं होने पर पत्नी, पुत्रियाँ, माता-पिता, भाई, भाइयों के पुत्र, गोत्र में उत्पन्न, बन्धु, शिष्य और ब्रह्मचारी में पूर्व-पूर्व के अभाव में बाद के क्रम से उसकी संपत्ति के अधिकारी होते हैं। यह नियम सभी वर्णों के लिये है ॥ १३५-१३६ ॥

पुत्राः पौत्राश्च दायं गृह्णन्ति तदभावे पत्न्यादय इत्युक्तं, इदानीं तदुभयापवादमाह—

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः ।
क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः ॥ १३७ ॥

वानप्रस्थस्य यतेर्ब्रह्मचारिणश्च क्रमेण प्रतिलोमक्रमेण**आचार्यः, सच्छिष्यः, धर्मभ्रात्रेकतीर्थी च, रिक्थस्य** धनस्य **भागिनः** । ब्रह्मचारी नैष्ठिकः । उपकुर्वाणस्य तु धनं मात्रादय एव गृह्णन्ति । नैष्ठिकस्य तु धनं तदपवादत्वेनाचार्यो गृह्णातीत्युच्यते । यतेस्तु धनं सच्छिष्यो गृह्णाति । सच्छिष्यः पुनरध्यात्मशास्त्रश्रवणधारणतदर्थानुष्ठानक्षमः; दुर्वृत्तस्याचार्यादेरपि भागानर्हत्वात् । वानप्रस्थस्य धनं धर्मभ्रात्रेकतीर्थी गृह्णाति । **धर्मभ्राता** प्रतिपन्नो भ्राता, **एकतीर्थी** एकाश्रमी, धर्मभ्राता चासावेकतीर्थी च धर्मभ्रात्रेकतीर्थी । एतेषामाचार्यादीनामभावे पुत्रादिषु सत्स्वप्येकतीर्थ्येव गृह्णाति । ननु 'अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः' इति वसिष्ठस्मरणादाश्रमान्तरगतानां रिक्थसंबन्ध एव नास्ति कुतस्तद्विभागः ? नच नैष्ठिकस्य स्वार्जितधनसंबन्धो[1] युक्तः; प्रतिग्रहादिनिषेधात् । 'अनिचयो भिक्षुः' (३।७) इति गौतमस्मरणात् । भिक्षोरपि न स्वार्जित[2]धनसंबन्धसंभवः । उच्यते—वानप्रस्थस्य तावत्—'अह्नो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा । अर्थस्य निचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत् ॥' (प्राय० ४७) इति वचनाद्धनसंबन्धोऽस्त्येव । यतेरपि—'कौपीनाच्छादनार्थं वा[3] वासोऽपि बिभृयात्तथा । योगसंभारभेदांश्च गृह्णीयात्पादुके तथा ॥ इत्यादिवचनाद्वस्त्रपुस्तकसंबन्धोऽस्त्येव; नैष्ठिकस्यापि शरीरयात्रार्थं वस्त्रादिसंबन्धोऽस्त्येवेति तद्विभागकथनं युक्तमेवं १३७

वानप्रस्थ, यति तथा ब्रह्मचारी की संपत्ति के अधिकारी (उलटे क्रम से) आचार्य सच्छिष्य तथा एकतीर्थी (एकाश्रमी) धर्मभ्राता होता है ॥ १३७ ॥

इदानीं स्वर्यातस्य पुत्रस्य पत्न्यादयो धनभाज इत्युक्तस्यापवादमाह—

संसृष्टिनस्तु संसृष्टी

विभक्तं धनं पुनर्मिश्रीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति **संसृष्टी**; संसृष्टत्वं च न येन केनापि, किंतु पित्रा भ्रात्रा पितृव्येण वा; यथाऽऽह बृहस्पतिः (२५।७२)—'विभक्तो[1] यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संस्थितः। पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते ॥' इति। तस्य **संसृष्टिनो** मृतस्यांशं विभागं विभागकाले अविज्ञातगर्भायां भार्यायां पश्चादुत्पन्नस्य पुत्रस्य संसृष्टी दद्यात्। पुत्राभावे संसृष्ट्येवापहरेद्गृह्णीयात्, न पत्न्यादिः ॥

संसृष्टी (पहले विभक्त पर बाद में धन मिलाकर रहने वाले) व्यक्तियों की संपत्ति संसृष्टी ले ॥ १३७$\frac{१}{४}$ ॥

'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी' इत्यस्यापवादमाह—

सोदरस्य तु सोदरः।
दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च ॥ १३८ ॥

संसृष्टिनः संसृष्टीत्यनुवर्तते। अतश्च सोदरस्य संसृष्टिनो[2] मृतस्यांशं सोदरः संसृष्टी अनुजातस्य सुतस्य दद्यात्; तदभावे अपहरेदिति[3] पूर्ववत् संबन्धः। एवं च सोदरासोदरसंसर्गे सोदरसंसृष्टिनो धनं सोदर एव संसृष्टी गृह्णाति न भिन्नोदरः संसृष्ट्यपीति पूर्वोक्तस्यापवादः ॥ १३८ ॥

सोदर संसृष्टी का धन सोदर संसृष्टी ले। यदि सोदर संसृष्टी के मरने के बाद उसका पुत्र उत्पन्न हो तो संपत्ति ले।. मृतक संसृष्टी की संतान न होने पर संसृष्टी उसी की संपत्ति ले ॥ १३८ ॥

इदानीं संसृष्टिन्यपुत्रे स्वर्याते संसृष्टिनो भिन्नोदरस्य[4], सोदरस्य चासंसृष्टिनः सद्भावे, कस्य धनग्रहणमिति विवक्षायां द्वयोर्विभज्य ग्रहणे कारणमाह—

अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यो धनं हरेत्।
असंसृष्ट्यपि वाऽऽदद्यात्[5]संसृष्टो नान्यमातृजः[6] ॥ १३९ ॥

अन्योदर्यः सापत्नो भ्राता **संसृष्टी धनं हरेत्**, न पुनरन्योदर्यो धनं हरेदसंसृष्टी। अनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यामन्योदर्यस्य संसृष्टित्वं धनग्रहणे कारण[7]मुक्तं भवति। असंसृष्टीत्येतदुत्तरेणापि संबध्यते। **अतश्चासंसृष्ट्यपि** संसृष्टिनो **धनमाददीत**। कोऽसावित्यत आह—संसृष्ट इति। **संसृष्टः** एकोदरसंसृष्टः। सोदर इति यावत्। अनेनासंसृष्टस्यापि सोदरस्य धनग्रहणे सोदरत्वं कारणमुक्तं, 'संसृष्ट' इत्युत्तरेणापि संबध्यते। तत्र च संसृष्टः संसृष्टीत्यर्थः।

नान्यमातृजः। अत्र 'एव'शब्दाध्याहारेण व्याख्यानं कार्यम्, संसृष्ट्यप्यन्यमातृज एव संसृष्टिनो धनं नाददीतेति एवं चासंसृष्ट्यपि वाऽऽदद्यादित्यपिशब्दश्रवणात् 'संसृष्टो नान्यमातृज एव' इत्यवधारणनिषे[1]धाच्चासंसृष्टसोदरस्य संसृष्टे[2]भिन्नोदरस्य च विभज्य ग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तं भवति। द्वयोरपि धनग्रहणकारणस्यैकैकस्य सद्भावात्। एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना (९।२१०)—'वि[3]भक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि' इति संसृष्टिविभागं प्रक्रम्य 'येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः। म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते॥ सोदर्या विभजेयुस्तं समेत्य सहिताः समम्। भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः॥ (९।२११।२१२) इति वदता। येषां भ्रातॄणां संसृष्टिनां मध्ये ज्येष्ठः कनिष्ठो मध्यमो वांशप्रदानतोंऽशप्रदाने। सार्वविभक्तिकस्तसिः। विभागकाल इति यावत्। हीयेत स्वांशात् भ्रश्येत आश्रमान्तरपरिग्रहेण ब्रह्महत्यादिना वा म्रियेत वा तस्य भागो न लुप्यते। अतः पृथगुद्धरणीयो न संसृष्टिन एव गृह्णीयुरित्यर्थः। तस्योद्धृतस्य विनियोगमाह—सोदर्या विभजेयुस्तमिति। तमुद्धृतं भागं सोदर्याः सहोदरा असंसृष्टा अपि समेत्य देशान्तरंगता अपि समागम्य सहिताः संभूय समं न न्यूनाधिकभावेन; ये च भ्रातरो भिन्नोदराः संसृष्टाः, ते च सनाभयो भगिन्यश्च समं विभजेयुः। समं विभज्य गृह्णीयुरिति तस्यार्थः॥ १३९॥

यदि दूसरे उदर से उत्पन्न (सौतेला भाई) संसृष्टी हो तो धन ले, यदि सौतेला भाई संसृष्टी न हो तो धन न ले। यदि एक ही माता से उत्पन्न भाई हो तो असंसृष्टी होने पर भी धन पाता है। मृतक व्यक्ति के सगे भाइयों में भी धन का विभाग होवे ॥ १३९ ॥

पुत्रपत्न्यादिसंसृष्टिनां यद्दायग्रहणमुक्तं, तस्यापवादमाह—

क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पङ्गुरुन्मत्तको जडः।
अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्त[6]व्याः स्युर्निरंशकाः १४०

क्लीवस्तृतीया प्रकृतिः। पतितो ब्रह्महादिः, तज्जः पतितोत्पन्नः, पङ्गुः पादविकलः, उन्मत्तकः वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकसांनिपातिकग्रहावेशलक्षणैरुन्मादैरभिभूतः, जडो विकलान्तःकरणः, हिताहितावधारणाऽक्षम इति यावत्। अन्धो नेत्रेन्द्रियविकलः, अचिकित्स्यरोगोऽप्रतिसमाधेयर्यक्ष्मादिरोगग्रस्तः, 'आद्य'शब्देनाश्रमान्तरगतपितृद्वेष्युपपातकिबधिरमूकनिरिन्द्रियाणां ग्रहणम्। यथाऽऽह वसिष्ठः (१७।५२)—'अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः' इति। नारदोऽपि (१३।२१)—'पितृद्विट् पतितः षण्ढो यश्च स्यादौपपातिकैः[1]। औरसा अपि नैतेंऽशं लभेरन्क्षेत्रजाः कुतः॥' इति। मनुरपि (९।२०१)—'अनंशौ क्लीवपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा। उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः॥' इति। निरिन्द्रियो

निर्गतमिन्द्रियं यस्माद्व्याध्यादिना स निरिन्द्रियः। एते क्लीबादयोऽनंशाः रिक्थभाजो न भवन्ति। केवलमशनाच्छादनदानेन पोषणीया भवेयुः। अभरणे तु पतितत्वदोषः। 'सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा। ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥' (९।२०२)—इति मनुस्मरणात्। अत्यन्तं यावज्जीवमित्यर्थः। एतेषां विभागात्प्रागेव दोषप्राप्तावनंशत्वमुपपन्नं न पुनर्विभक्तस्य। विभागोत्तरकालमप्यौषधादिना दोषनिर्हरणे भागप्राप्तिरस्त्येव।—'विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक्' (व्य० १२२) इत्यस्य समानन्यायत्वात्। पतितादिषु तु पुंल्लिङ्गत्वमविवक्षितम्। अतश्च पत्नीदुहितृमात्रादीनामप्युक्तदोषदुष्टानामनंशित्वं वेदितव्यम् ॥ १४० ॥

नपुंसक, पतित, पतित से उत्पन्न पुत्र, पङ्गु, पागल, जड (मूर्ख -- हिताहित जानने में असमर्थ), अन्धा, न ठीक होने वाले रोग से ग्रस्त – इनका संपत्ति में अधिकार नहीं होता। केवल वे भरण-पोषण के अधिकारी हैं ॥ १४० ॥

क्लीबादीनामनंशित्वात्तत्पुत्राणामप्यनंशित्वे प्राप्ते इदमाह—

औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां निर्दोषा भागहारिणः।

एतेषां क्लीबादीनामौरसाः क्षेत्रजा वा पुत्रा निर्दोषा अंशग्रहणविरोधिक्लैब्यादिदोषरहिता भागहारिणोंऽशग्राहिणो भवन्ति। तत्र क्लीबस्य क्षेत्रजः पुत्रः संभवत्यन्येषामौरसा अपि। 'औरस-क्षेत्रज'योर्ग्रहणमितरपुत्रव्युदासार्थम् ॥

इन (पूर्वोक्त भरण-पोषण के अधिकारियों) के यदि औरस या क्षेत्रज पुत्र निर्दोष (पहले को दोषों से विरहित) हैं तो संपत्ति के अंश का भागीदार होते हैं ॥ १४०$\frac{१}{२}$ ॥

क्लीबादिदुहितॄणां विशेषमाह—

सुताश्चैषां प्रभर्तव्या यावद्वै भर्तृसात्कृताः ॥ १४१ ॥

एषां क्लीबादीनां सुता दुहितरो यावद्विवाहसंस्कृता भवन्ति, तावद्भरणीयाः 'च'शब्दात्संस्कार्याश्च ॥ १४१ ॥

यदि इन (पूर्वोक्त नपुंसकादि) की कन्याएँ हों तो उनका भी जब तक वे पतिगृह में न चली जाय भरण-पोषण (और विवाह-संस्कार) करना चाहिये ॥ १४१ ॥

क्लीबादिपत्नीनां विशेषमाह—

अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः।
निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च ॥ १४२ ॥

एषां क्लीबादीनामपुत्राः पत्न्यः साधुवृत्तयः सदाचाराश्चेद्भर्तव्या

भरणीयाः; **व्यभिचारिण्यस्तु निर्वास्याः । प्रतिकूलास्तथैव च** निर्वास्या भवन्ति, भरणीयाश्चाव्यभिचारिण्यश्चेत् । न पुनः प्रातिकूल्यमात्रेण भरणमपि न कर्तव्यम् ॥ १४२ ॥

इन क्लीबादि की अपुत्र स्त्रियाँ भी सदाचारिणी होने पर भरण-पोषण की अधिकारिणी हैं। यदि व्यभिचारिणी तथा प्रतिकूल आचरण करने वाली हैं तो उन्हें निकाल देना चाहिये ॥ १४२ ॥

'विभजेरन्सुताः पित्रोः' (व्य० ११७) इत्यत्र स्त्रीपुंधनविभागं संक्षेपेणाभिधाय पुरुषधनविभागो विस्तरेणाभिहितः, इदानीं स्त्रीधनविभागं विस्तरेणाभिधास्यंस्तत्स्वरूपं तावदाह—

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ।
आधिवेदनिकाद्यं[2] च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ १४३ ॥

पित्रा मात्रा पत्या भ्रात्रा च यद्दत्तं, यच्च विवाहकालेऽग्नावधिकृत्य मातुलादिभिर्दत्तम्, **आधिवेदनिकं** अधिवेदननिमित्तं 'अधिविन्नस्त्रियै दद्यात्' (व्य० १४८) इति वक्ष्यमाणं । **'आद्य'**शब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमप्राप्तमेतत्**स्त्रीधनं** मन्वादिभिरुक्तम् । 'स्त्रीधन'शब्दश्च यौगिको न पारिभाषिकः। योगसंभवे परिभाषाया अयुक्तत्वात् । यत्पुनर्मनुनोक्तम् (९।१९४)—'अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि । भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥' इति स्त्रीधनस्य षड्विधत्वं, तन्न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय ॥ अध्यग्न्यादिस्वरूपं च कात्यायनेनाभिहितम्—'विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ । तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात् । अध्यावहनिकं नाम स्त्रीधनं तदुदाहृतम् ॥ प्रीत्या दत्तं तु यत्किंचिच्छ्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा । पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते । ऊढया कन्यया वाऽपि पत्युः पितृगृहेऽपि वा । भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥' इति ॥ १४३ ॥

पिता, माता, पति और भाई द्वारा दिया गया धन, विवाह के समय अग्नि के समीप प्राप्त धन तथा दूसरा विवाह करते समय (प्रथम पत्नी के परितोषार्थ उसे) दिया गया धन इत्यादि स्त्रीधन कहे गये हैं ॥ १४३ ॥

बन्धुदत्तं तथा शुल्क[1]मन्वाधेयकमेव च ।

किंच **बन्धुभिः** कन्याया मातृबन्धुभिः पितृबन्धुभिश्च **यद्दत्तम्, शुल्कं** यद्गृहीत्वा कन्या दीयते । **अन्वाधेयकं** परिणयनादनु पश्चादाहितं दत्तम् । उक्तं च कात्यायनेन—'विवाहात्परतो यच्च लब्धं भर्तृकुलात्स्त्रिया । अन्वाधेयं तु तद्द्रव्यं लब्धं पितृकुलात्तथा ॥' इति स्त्रीधनं परिकीर्तितमिति गतेन संबन्धः ॥

स्त्री के माता-पिता के बन्धुओं द्वारा दिया गया धन, परिणय के शुल्क के रूप में दिया गया धन, विवाह के बाद पति तथा पितृकुल से प्राप्त धन भी स्त्री-धन होता है ॥ १४३½ ॥

एवं स्त्रीधनमुक्तं, तद्विभागमाह—

अतीतायामप्रजसि बान्धवास्तदवाप्नुयुः ॥ १४४ ॥

तत्पूर्वोक्तं स्त्रीधनमप्रजसि अनपत्यायां दुहितृदौहित्रीदौहित्रपुत्रपौत्ररहितायां स्त्रियामतीतायां बान्धवा भर्त्रादयो वक्ष्यमाणा गृह्णन्ति ॥ १४४ ॥

और ऐसी स्त्रीधन वाली स्त्री के बिना संतान के मर जाने पर उसके बन्धु (पति आदि) उस स्त्रीधन को प्राप्त करते हैं ॥ १४४ ॥

सामान्येन बान्धवा धनग्रहणाधिकारिणो दर्शिताः । इदानीं विवाहभेदेनाधिकारिभेदमाह—

अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि ।
दुहितॄणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत् ॥ १४५ ॥

अप्रजसः स्त्रियाः पूर्वोक्तायाः ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्येषु **चतुर्षु** विवाहेषु भार्यात्वं प्राप्ताया अतीतायाः पूर्वोक्तं **धनं** प्रथमं **भर्तुर्भवति** । तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां सपिण्डानां भवति । **शेषेष्वा**सुरगान्धर्वराक्षसपैशाचेषु विवाहेषु **तद**प्रजस्त्रीधनं **पितृगामि** । माता च पिता च पितरौ तौ गच्छतीति पितृगामि । एकशेषनिर्दिष्टाया अपि मातुः प्रथमं धनग्रहणं पूर्वमेवोक्तम् । तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां धनग्रहणम् । **सर्वेष्वेव** विवाहेषु **प्रसूता**पत्यवती **चेद्दुहितॄणां तद्धनं भवति** । अत्र 'दुहितृ'शब्देन दुहितृदुहितर उच्यन्ते । साक्षाद्दुहितॄणां 'मातुर्दुहितरः शेषम्' (व्य० ११७) इत्यत्रोक्तत्वात् । अतश्च मातृधनं मातरि वृत्तायां प्रथमं दुहितरो गृह्णन्ति, तत्र चोढानूढासमवायेऽनूढैव गृह्णाति, तदभावे च परिणीता; तत्रापि प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठिता गृह्णाति, तदभावे प्रतिष्ठिता; यथाह गौतमः (२९।६)—'स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च' इति । तत्र 'च'शब्दात्प्रतिष्ठितानां च । अप्रतिष्ठिता अनपत्या निर्धना वा । एतच्च शुल्कव्यतिरेकेण । शुल्कं तु सोदर्याणामेव; 'भगिनीशुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः' (२९।६) इति गौतमवचनात् । सर्वासां दुहितॄणामभावे दुहितृदुहितरो गृह्णन्ति; 'दुहितॄणां प्रसूता चेत्' इत्यस्माद्वचनात् । तासां भिन्नमातृकाणां विषमाणां समवाये मातृद्वारेण भागकल्पना; 'प्रतिमातृ वा स्ववर्गेण भागविशेषः' (२९।५) इति गौतमस्मरणात् ॥ दुहितृदौहित्रीणां समवाये दौहित्रीणां किंचिदेव दातव्यम्; यथाह मनुः (९।१९३)—'यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथाऽर्हतः । मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥' इति ॥ दौहित्रीणामप्यभावे दौहित्रा धनहारिणः; यथाह नारदः—(१३।२) 'मातुर्दुहितरोऽभावे

दुहितॄणां तदन्वयः' इति। तच्छब्देन संनिहितदुहितृपरामर्शात् ॥ दौहित्राणाम-
भावे पुत्रा गृह्णन्ति। 'ताभ्य ऋतेऽन्वय' (व्य० ११७) इत्युक्तत्वात्। मनुरपि
दुहितॄणां पुत्राणां च मातृधनसंबन्धं दर्शयति (९।१९२)—'जनन्यां संस्थि-
तायां तु सर्वे सहोदराः। समं भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥' इति।
मातृकं रिक्थं सर्वे सहोदराः समं भजेरन्, सनाभयो भगिन्यश्च समं भजेरन्निति
संबन्धः; न पुनः सहोदरा भगिन्यश्च संभूय भजेरन्निति इतरेतरयोगस्य द्वन्द्वैक-
शेषाभावादप्रतीतेः। विभाग[2]कर्तृत्वान्वयेनापि 'च'शब्दोपपत्तेः; यथा देवदत्तः कृषिं
कुर्याद्यज्ञदत्तश्चेति। 'सम'ग्रहणमुद्धारविभागनिवृत्त्यर्थम्। 'सोदर'ग्रहणं भिन्नोदर-
निवृत्त्यर्थम्। अनपत्यहीनजातिस्त्रीधनं तु भिन्नोदराप्युत्तमजातीयसपत्नीदुहिता
गृह्णाति, तदभावे तदपत्यम्; यथाऽऽह मनुः (९।१९८)—'स्त्रियास्तु यद्भ-
वेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन। ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥' इति।
'ब्राह्मणी'ग्रहणमुत्तमजात्युपलक्षणम्। अतश्चानपत्यवैश्याधनं क्षत्रियाकन्या
गृह्णाति। पुत्राणामभावे पौत्राः पितामहीधनहारिणः। 'रिक्थभाज ऋणं प्रति-
कुर्युः' (२९।७) इति गौतमस्मरणात्, 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इति
पौत्राणामपि पितामह्यृणापाकरणेऽधिकारात्। पौत्राणामप्यभावे पूर्वोक्ता भर्त्रादयो
बान्धवा धनहारिणः ॥ १४५ ॥

ब्राह्मादि चार प्रकार के विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य) से विवाहित उस स्त्री के अनपत्य मरने पर उसका धन पति को मिलता है। शेष विवाहों के होने पर वह धन स्त्री के पिता को जाता है। परन्तु इन सभी विवाहों में उस स्त्री की पुत्रियाँ हों तो वह धन उनको मिलता है ॥ १४५ ॥

स्त्रीधनप्रसङ्गेन वाग्दत्ताविषयं किंचिदाह—

दत्त्वा कन्यां हरन्दण्ड्यो व्ययं द[2]द्याच्च सोदयम्।

कन्यां वाचा दत्त्वाऽपहरन् द्रव्यानुबन्धाद्यनुसारेण राज्ञा **दण्डनीयः।** एतच्चापहरणकारणाभावे; सति तु कारणे 'दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' (आ० ६५) इत्यपहाराभ्यनुज्ञानान्न दण्ड्यः। यच्च वाग्दाननिमित्तं वरेण स्वसंबन्धिनां कन्यासंबन्धिनां चोपचारार्थं धनं **व्ययीकृतं**, तत्सर्वं **सोदयं** सवृद्धिकं कन्यादाता वराय **दद्यात्** ॥—

कन्या का दान (वाग्दान) देकर पुनः न देने वाले (अर्थात् जिसे वाग्दान दिया गया है उससे विवाह न करने वाले) से दण्ड और सूद के साथ व्यय (जो उस विवाह के संबन्ध में वरपक्ष ने किया है) दिलावे ॥ १४५$\frac{1}{2}$ ॥

अथ कथंचिद्वाग्दत्ता संस्कारात्प्राङ् म्रियेत[3], तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

मृतायां द[4]त्तमादद्यात् परिशोध्योभयव्ययम् ॥ १४६ ॥

यदि वाग्दत्ता **मृता** तदा यत्पूर्वमङ्गुलीयकादि **शुल्कं** वरेण **दत्तं, तद्वर आददीत** परिशोध्योभयव्ययम् । **उभयोरा**त्मनः कन्यादातुश्च यो **व्ययः,** तं **परिशोध्य** विगमय्यावशिष्टमाददीत । यत्तु कन्यायै मातामहादिभिर्दत्तं शिरोभूषणादिकं वा क्रमायातं, तत्सहोदरा भ्रातरो गृह्णीयुः; 'रिक्थं मृतायाः कन्याया गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे मातुस्तदभावे पितुः' इति बौधायनस्मरणात् ॥ १४६ ॥

यदि वाग्दत्ता कन्या विवाह से पूर्व मर जाय तो वर ने जो शुल्क आदि दिया है वह दोनों पक्ष का व्यय काट कर ले ले ॥ १४६ ॥

मृतप्रजास्त्रीधनं भर्तृगामीत्युक्तम्, इदानीं जीवन्त्याः सप्रजाया अपि स्त्रिया धनग्रहणे क्वचिद्भर्तुरभ्यनुज्ञामाह—

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके ।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥ १४७ ॥

दुर्भिक्षे कुटुम्बभरणार्थं, **धर्मकार्ये** अवश्यकर्तव्ये, **व्याधौ च संप्रतिरोधके,** बन्दिग्रहणनिग्रहादौ, द्रव्यान्तररहितः **स्त्रीधनं** गृह्णन्**भर्ता न** पुन**र्दातुमर्हति;** प्रकारान्तरेणापहरन्दद्यात् । भर्तृव्यतिरेकेण जीवन्त्याः स्त्रिया धनं केनापि दायादेन न ग्रहीतव्यम्; 'जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः । ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥' (मनुः ८।२९) इति दण्डविधानात् । तथा–'पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् । न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥' (मनुः ९।२००) इति दोषश्रवणाच्च ॥ १४७ ॥

दुर्भिक्ष में, धर्मकार्य में, रोग में और बन्दी होने पर (जेल जाने पर) पति जो स्त्रीधन ले ले वह पुनः स्त्री को लौटाने का भागी नहीं होता ॥ १४७ ॥

आधिवेदनिकं स्त्रीधनमुक्तं, तदाह—

अधिविन्नस्त्रियै दद्यादाधिवेदनिकं समम् ।
न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत् ॥ १४८ ॥

यस्या उपरि विवाहः साऽधिविन्ना, सा चासौ स्त्री च; तस्यै **अधिविन्नस्त्रियै, आधिवेदनिक**मधिवेदननिमित्तं **धनं समं** यावदधिवेदनाथ व्ययीकृतं ताव**द्दद्यात्। यस्यै** भर्त्रा श्वशुरेण वा **स्त्रीधनं न दत्तम्; दत्ते** पुनः स्त्रीधने आधिवेदनिकद्रव्य**स्यार्धं दद्यात्** । 'अर्ध'शब्दश्चात्र समविभागवचनो न भवति, अतश्च यावता तत्पूर्वदत्तमाधिवेदनिकसमं भवति तावद्देयमित्यर्थः १४८

पति यदि पहली स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से विवाह करता है तो दूसरे विवाह में जितना धन व्यय हुआ है उतना पहली स्त्री को दे। यदि पहली स्त्री को स्त्रीधन मिला हो तो दूसरे विवाह में व्यय हुए धन का आधा ही दे ॥ १४८ ॥

एवं विभागमुक्त्वा इदानीं तत्संदेहे निर्णयहेतूनाह—

विभागनिह्नवे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेखितैः ।
विभागभावना ज्ञेया[4] गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः ॥ १४९ ॥

विभागस्य निह्नवे अपलापे **ज्ञाति**[3]**भिः** पितृबन्धुभिर्मातृबन्धुभिः मातुलादिभिः **साक्षिभिः** पूर्वोक्तलक्षणैर्लेख्येन च विभागपत्रेण **विभागभावना** विभागनिर्णयो ज्ञातव्यः । तथा **यौतकैः** पृथक्कृतैर्गृहक्षेत्रैश्च । पृथक्कृष्यादिकार्यप्रवर्तनं पृथक्पञ्चमहायज्ञादिधर्मानुष्ठानं च । नारदेन विभागलिङ्गमुक्तम् (१३।३७, ३९)—इति । 'विभागधर्मसंदेहे[6] दायादानां विनिर्णयः । ज्ञातिभिर्भागलेख्येन पृथक्कार्यप्रवर्तनात् ॥ भ्रातॄणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तते । विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक् पृथक् ॥' तथाऽपराण्यपि विभागलिङ्गानि [7]'तेनैवोक्तानि—'साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानं ग्रहणमेव च । विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः कथंचन ॥' (ना० १३।४२, ४३) इति ॥ १४९ ॥

विभाग (हिस्सा) को छिपाने अर्थात् अस्वीकार करने पर जाति के लोगों, साक्षियों, लेख और अलग किये क्षेत्र और गृह से विभाग जानना चाहिये अर्थात् इनसे विभाग का निर्णय करना चाहिये ॥ १४९ ॥

इति दायविभागप्रकरणम् ।

अथ सीमाविवादप्रकरणम् ९

अधुना सीमाविवादनिर्णय उच्यते—

सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य सामन्ताः स्थविरादयः ।
गोपाः सीमाकृषाणां ये सर्वे च वनगोचराः ॥ १५० ॥
नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः ।
सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम् ॥ १५१ ॥

ग्रामद्वयसंबन्धिनः **क्षेत्रस्य सीम्नो विवादे** तथैकग्रामान्तर्वर्तिक्षेत्रमर्यादाविवादे च **सामन्तादयः स्थलाङ्गारादिभिः** पूर्वक्तैः सीमालक्षणैरुपलक्षितां चिह्नितां **सीमां नयेयुर्निश्चिनुयुः** । सीमा क्षेत्रादिमर्यादा; सा चतुर्विधा—जनपदसीमा, ग्रामसीमा, क्षेत्रसीमा, गृहसीमा चेति । सा च यथासंभवं पञ्चलक्षणा । तदुक्तं नारदेन—'ध्वजिनी मत्स्यिनी चैव नैधानी भयवर्जिता । राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता ॥' इति ॥ ध्वजिनी वृक्षादिलक्षिता; वृक्षादीनां प्रकाशकत्वेन ध्वजतुल्यत्वात् । मत्स्यिनी सलिलवती; 'मत्स्य'शब्दस्य स्वाधारजललक्षकत्वात् । नैधानी निखाततुषाङ्गारादिमती; तेषां निखातत्वेन निधानतुल्यत्वात् । भयवर्जिता अर्थिप्रत्यर्थिपरस्परसंप्रतिपत्तिनिर्मिता । राजशास-

ननीता ज्ञातृचिह्नाभावे राजेच्छया निर्मिता । एवंभूतायां षोढा विवादः संभवति । यथाऽऽह कात्यायनः—'आधिक्यं न्यूनता चांशे अस्तिनास्तित्वमेव च । अभोगभुक्तिः सीमा च षड् भूवादस्य हेतवः ॥' इति ॥ तथा हि—'ममात्र पञ्चनिवर्तनाया भूमेरधिका भूरस्ति' इति केनचिदुक्ते पञ्चनिवर्तनैव नाधिकेत्याधिक्ये विवादः । 'पञ्चनिवर्तना मदीया भूमिः' इत्युक्ते न ततो न्यूनैवेति न्यूनतायाम् । 'पञ्चनिवर्तनो ममांश' इत्युक्ते अंश एव नास्तीत्यस्तिनास्तित्वविवादः संभवति । 'मदीया भूः प्रागविद्यमानभोगैव भुज्यते' इत्युक्ते न संतता चिरंतन्येव मे 'भुक्ति'रित्यभोगभुक्तौ विवादः । इयं मर्यादेयं वेति सीमाविवाद इति षट्प्रकार एव विवादः संभवति । षट्प्रकारेऽपि भूविवादे श्रुत्यर्थाभ्यां सीमाया अपि निर्णीयमानत्वात्सीमानिर्णयप्रकरणे तस्यान्तर्भावः । समन्ताद्भवाः **सामन्ताः** । चतसृषु दिक्ष्वनन्तरग्रामादयस्ते च प्रतिसीमं व्यवस्थिताः; 'ग्रामो ग्रामस्य सामन्तः क्षेत्रं क्षेत्रस्य कीर्तितम् । गृहं गृहस्य निर्दिष्टं समन्तात्परिरभ्य हि ॥' इति कात्यायनवचनात् । 'ग्रामादि'शब्देन तत्स्थाः पुरुषा लक्ष्यन्ते । ग्रामः पलायित इति यथा । 'सामन्त'ग्रहणं च तत्संसक्ताद्युपलक्षणार्थम् । उक्तं च कात्यायनेन—'संसक्तकास्तु सामन्तास्तत्संसक्तास्तथोत्तराः । संसक्तसक्तसंसक्ताः पद्माकाराः प्रकीर्तिताः ॥' इति ॥ **स्थविरा** वृद्धाः । 'आदि'ग्रहणेन मौलोद्धृतयोर्ग्रहणम् । वृद्धादिलक्षणं च तेनैवोक्तम्—'निष्पद्यमानं यैर्दृष्टं तत्कार्यं तद्गुणान्वितैः । वृद्धा वा यदि वाऽवृद्धास्ते तु वृद्धाः प्रकीर्तिताः ॥ ये तत्र पूर्वं सामन्ताः पश्चाद्देशान्तरं गताः । तन्मूलत्वात्तु ते मौला ऋषिभिः परिकीर्तिताः ॥ उपश्रवणसंभोगकार्याख्यानोपचिह्निताः । उद्धरन्ति पुनर्यस्मादुद्धृतास्ते ततः स्मृताः ॥' इति ॥ गोपा गोचारकाः । सीमाकृषाणाः सीमासंनिहितक्षेत्रकर्षकाः । सर्वे च वनगोचरा वनचारिणो व्याधादयः । ते च मनुनोक्ताः (८।२६०)—'व्याधाञ्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखातकान् । व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनगोचरान् ॥' इति ॥ स्थलमुन्नतो भूप्रदेशः, अङ्गारोऽग्नेरुच्छिष्टम्, तुषा धान्यत्वचः, द्रुमा न्यग्रोधादयः, सेतुर्जलप्रवाहबन्धः, चैत्यं पाषाणादिबन्धः, आदिशब्देन वेणुवालुकादीनां ग्रहणम्, एतानि च प्रकाशाप्रकाशभेदेन द्विप्रकाराणि । यथाऽऽह मनुः (८।२४६-२४८) 'सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् । शाल्मलीशालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्शमीवल्लीस्थलानि च । शरान्कुब्जकगुल्मांश्च यथा सीमा न नश्यति ॥ तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च । सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥' इति प्रकाशरूपाणि । (मनुः ८।२४९-२५२)—'उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् । सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्म कपालिकाः । करीषमिष्टकाङ्गारशर्करावालुकास्तथा ॥ यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् । तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ॥' इति प्रच्छन्नलिङ्गानि ॥ एतैः प्रकाशाप्रकाश-

रूपैर्लिङ्गैः सामन्तादिप्रदर्शितैः सीमां प्रति विवदमानयोः सीमानिर्णयं कुर्याद्राजा ॥ १५०–१५१ ॥

खेत (अथवा दो गाँवों के) सीमा-विवाद में सामन्त (चारों ओर के गाँवों के लोग), वृद्ध व्यक्ति, गोप, सीमा के किसान, सभी वनचारी (व्याधादि), उन्नत भूमि, राख, धान की भूसी, (वट आदि) वृक्ष, पुल, वल्मीक, गड्ढा, हड्डियों अथवा पत्थर आदि से पूर्व में निर्दिष्ट सीमा को निश्चित करे। अथवा ये व्यक्ति इन वस्तुओं से सीमा को निर्धारित करे ॥ १५०-१५१ ॥

यदा पुनश्चिह्नानि न सन्ति, विद्यमानानि वा लिङ्गालिङ्गतया संदिग्धानि, तदा निर्णयोपायमाह—

सामन्ता वा समग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि वा ।
रक्तस्रग्वसनाः सीमां नयेयुः क्षितिधारिणः ॥ १५२ ॥

सामन्ताः पूर्वोक्तलक्षणाः, **समग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि** वेत्येवं समसंख्याः प्रत्यासन्नग्रामीणाः । **रक्तस्रग्विणो रक्ताम्बरधराः भूम्यारोपितक्षितिखण्डाः सीमानं नयेयुः** प्रदर्शयेयुः । 'सामन्ता वा' इति विकल्पाभिधानं स्मृत्यन्तरोक्तसाक्ष्यभिप्रायम् । यथाऽऽह मनुः (८।२५३)— 'साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णये' इति ॥ तत्र च साक्षिणां निर्णेतृत्वं मुख्यम्; तदभावे सामन्तानाम् । तदुक्तम् (मनुः ८।२५८)—'साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्राम्याः सीमान्तवासिनः । सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसंनिधौ ॥' इति; तदभावे तत्सक्तादीनां निर्णेतृत्वम् । यथाऽऽह कात्यायनः—'स्वार्थसिद्धौ प्रदुष्टेषु सामन्तेष्वर्थगौरवात् । तत्संसक्तैस्तु कर्तव्य उद्धारो नात्र संशयः ॥ संसक्तसक्तदोषे तु तत्संसक्ताः प्रकीर्तिताः । कर्तव्या न प्रदुष्टास्तु राज्ञा धर्मं विजानता ॥' इति । सामन्ताद्यभावे मौलादयो ग्राह्याः; 'तेषामभावे सामन्तमौलवृद्धोद्धृतादयः । स्थावरे षट्प्रकारेऽपि कार्या नात्र विचारणा ॥' इति कात्यायनेन क्रमविधानात् । एते च सामन्तादयः संख्यागुणातिरेकेण संभवन्ति । 'सामन्ताः साधनं पूर्वं निर्दोषाः स्युर्गुणान्विताः । द्विगुणास्तूत्तरा ज्ञेयास्ततोऽन्ये त्रिगुणा मताः ॥' इति स्मरणात् ॥ ते च साक्षिणः सामन्तादयश्च स्वैः स्वैः शपथैः शापिताः सन्तः सीमां नयेयुः; (मनुः ८।२५६)—'शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः । सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समंजसम् ॥' इति स्मरणात् । नयेयुरिति बहुवचनं द्वयोर्निरासार्थं नैकस्य । 'एकश्चेदुन्नयेत्सीमां सोपवासः समुन्नयेत् । रक्तमाल्याम्बरधरो भूमिमादाय मूर्धनि ॥' (ना० ११।१०।९) इति नारदेनैकस्याभ्यनुज्ञानात् ॥ योऽयं—'नैकः समुन्नयेत्सीमां नरः प्रत्ययवानपि । गुरुत्वादस्य कार्यस्य क्रियैषा बहुषु स्थिता ॥' इत्येकस्य निषेधः स उभयानुमतधर्मविद्व्यतिरिक्तविषय इत्यविरोधः ॥ स्थलादिचिह्नाभावेऽपि साक्षिसामन्ता-

दीनां सीमाज्ञाने उपायविशेषो नारदेनोक्तः—'निम्नगापहृतोत्सृष्टनष्टचिह्नासु भूमिषु । तत्प्रदेशानुमानाच्च प्रमाणाद्भोगदर्शनात् ॥' (ना. ११।६) इति । निम्नगाया नद्या अपहृतेनापहरणेनोत्सृष्टानि स्वस्थानात्प्रच्युतानि नष्टानि वा लिङ्गानि यासु मर्यादाभूमिषु तत्र तत्प्रदेशानुमानादुत्सृष्टनष्टचिह्नानां प्राचीनप्रदेशानुमानात् ग्रामादारभ्य सहस्रदण्डपरिमितं क्षेत्रमस्य ग्रामस्य पश्चिमे भागे इत्येवंविधात्प्रमाणाद्वा प्रत्यर्थिसमक्षमविप्रतिपन्नाया अस्मार्तकालोपलक्षितभुक्तेर्वा निश्चिनुयुः ॥ बृहस्पतिना चात्र विशेषो दर्शितः—'आगमं च प्रमाणं च भोगं कालं च नाम च । भूभागलक्षणं चैव ये विदुस्तेऽत्र साक्षिणः ॥' इति । एते च साक्षिसामन्तादयः शपथैः श्राविताः सन्तः कुलादिसमक्षं राज्ञा प्रष्टव्याः । यथाह मनुः (८।२५४) —'ग्रामेयककुलानां तु समक्षं सीम्नि साक्षिणः । प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥' इति । ते च पृष्टाः साक्ष्यादयः समस्ता ऐकमत्येन सीम्नि निर्णयं ब्रूयुः । तैर्निर्णीतां सीमां तत्प्रदर्शितसकललिङ्गयुक्तां साक्ष्यादिनामान्वितां चाविस्मरणार्थं पत्रे समारोपयेत् । उक्तं च मनुना (८।२६१)—'ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निर्णयम् । निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥' इति.। एतेषां साक्षिसामन्तप्रभृतीनां सीमाचङ्क्रमणदिनादारभ्य यावत्त्रिपक्षं राजदैविकव्यसनाव्यसनं चेन्नोत्पद्यते तदा तत्प्रदर्शनात्सीमानिर्णयः । अयं च राजदैविकव्यसनावधिः कात्यायनेनोक्तः—'सीमाचङ्क्रमणे कोशे पादस्पर्शे तथैव च । त्रिपक्षपक्षसप्ताहं दैवराजिकमिष्यते ॥' इति ॥ १५२ ॥

(यदि कोई चिह्न अवशिष्ट न हो तो) सामन्त, आस-पास के गावों के चार, आठ, दश की सम संख्या के लोग शिर पर मिट्टी का ढेला रखकर लाल माला और वस्त्र पहन कर सीमा का निर्धारण करे ॥ १५२ ॥

यदा त्वमीषामुक्तसाक्ष्यवचसां त्रिपक्षाभ्यन्तरे रोगादि दृश्यते, अथवा प्रतिवादिनिर्दिष्टाभ्यधिकसंख्यागुणसाक्ष्यन्तरविरुद्धवचनता तदा ते मृषाभाषितयां दण्डनीयास्तदाह—

अनृते तु पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ।

अनृते मिथ्यावदने निमित्तभूते सति सर्वे सामन्ताः प्रत्येकं मध्यमसाहसेन चत्वारिंशदधिकेन पणपञ्चशतेन दण्डनीयाः । सामन्तविषयता चास्य साक्षिमौलादीनां स्मृत्यन्तरे दण्डान्तरविधानादवगम्यते । यथाऽऽह मनुः (८।२५७)—'यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः । विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥' इति ॥ नारदोऽपि (११।७)—'अथ चेदनृतं ब्रूयुः सामन्ताः सीमनिर्णये । सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥' इति सामन्तानां मध्यमसाहसं दण्डमभिधाय—'शेषाश्चेदनृतं ब्रूयुर्नियुक्ता भूमिकर्मणि । प्रत्येकं तु जघन्यास्ते विनेयाः पूर्वसाहसम् ॥' इति, तत्संसक्तादिषु प्रथमं साहसमुक्तवान् । मौलादीनामपि तमेव दण्डमाह—'मौलवृद्धादयस्त्वन्ये

दण्डगत्या पृथक् पृथक्। विनेयाः प्रथमेनैव साहसेनानृते स्थिताः ॥' (ना० ११।८) इति। 'आदि'शब्देन गोपशाकुनिकव्याधवनगोचराणां ग्रहणम्। यद्यपि शाकुनिकादीनां पापरतत्वाल्लिङ्गप्रदर्शन एवोपयोगो न साक्षात्सीमानिर्णये तथाऽपि लिङ्गदर्शन एव मृषाभाषित्वसंभवाद्दण्डविधानमुपपद्यत एव। 'अनृते तु पृथक् दण्ड्या' इत्येतद्दण्डविधानमज्ञानविषयम्; 'बहूनां तु गृहीतानां न सर्वे निर्णयं यदि। कुर्युर्भयाद्वा लोभाद्वा दण्ड्यास्तूत्तमसाहसम् ॥' इति ज्ञानविषये साक्ष्यादीनां कात्यायनेन दण्डान्तरविधानात्। तथा साक्षिवचनभेदेऽप्ययमेव दण्डस्तेनैवोक्तः —'कीर्तिते यदि भेदः स्याद्दण्ड्यास्तूत्तमसाहसम्' इति। एवमज्ञानादिनानृतवदने साक्ष्यादीन्दण्डयित्वा पुनः सीमाविचारः प्रवर्तयितव्यः। 'अज्ञानोक्तौ दण्डयित्वा पुनः सीमां विचारयेत्' इत्युक्त्वा 'त्यक्त्वा दुष्टांस्तु सामन्तानन्यान्मौलादिभिः सह। संमिश्र्य कारयेत्सीमामेवं धर्मविदो विदुः ॥' इति निर्णयप्रकारस्तेनैवोक्तः ॥–

इन सामन्तादि के असत्य बोलने पर राजा उन्हें मध्यम साहस (चालीस पण से अधिक तथा पाँच सौ पण से कम) का दण्ड दे ॥ १५२$\frac{१}{२}$ ॥

यदा पुनः सामन्तप्रभृतयो ज्ञातारश्चिह्नानि च न सन्ति, तदा कथं निर्णय इत्यत आह—

अभावे ज्ञातृचिह्नानां राजा सीम्नः प्रवर्तिता[३] ॥ १५३ ॥

ज्ञातॄणां सामन्तादीनां लिङ्गादीनां च वृक्षादीनामभावे राजैव सीम्नः प्रवर्तिता प्रवर्तयिता। अन्तर्भावितोऽत्र ण्यर्थः। ग्रामद्वयमध्यवर्तिनीं विवादास्पदीभूतां भुवं समं प्रविभज्य 'अस्येयं भूरस्येयम्' इत्युभयोः समर्प्य तन्मध्ये सीमालिङ्गानि कुर्यात्। यदा तस्यां भूमावन्यतरस्योपकारातिशयो दृश्यते, तदा तस्यैव ग्रामस्य सकला भूः समर्पणीया। यथाऽऽह मनुः (८।२६५)—'सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्। प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥' इति ॥ १५३ ॥

सीमा के जानने वाले और चिह्नों के अभाव में राजा ही सीमा-निर्णायक होता है ॥ १५३ ॥

असत्यामप्यतद्भावाशङ्कायामस्याः स्मृतेर्न्यायमूलतां दर्शयितुमतिदेशमाह—

आरामायतनग्रामनिपानोद्यानवेश्मसु।
एष एव विधिर्ज्ञेयो वर्षाम्बुप्रवहादिषु[१] ॥ १५४ ॥

आरामः पुष्पफलोपचयहेतुर्भूभागः, **आयतनं** निवेशनं पैलालकूटाद्यर्थं विभक्तो भूप्रदेशः, **ग्रामः** प्रसिद्धः, 'ग्राम'ग्रहणं च नगराद्युपलक्षणार्थम्, **निपानं** पानीयस्थानं वापीकूपप्रभृतिकम्, **उद्यानं** क्रीडार्था भूमिः, **वेश्म** गृहम्, एतेष्वारामादिष्वयमेव सामन्तसाक्ष्यादिलक्षणो **विधिर्ज्ञातव्यः**। तथा प्रवर्षणोद्भूतजलप्रवाहेषु अनयोर्गृहयोर्मध्येन जलौघः प्रवहति अनयोर्वत्येवंप्रकारे

विवादे 'आदि'ग्रहणात्प्रासादादिष्वपि प्राचीन एव विधिर्वेदितव्यः । तथा च कात्यायनः—'क्षेत्रकूपतडागानां केदारारामयोरपि । गृहप्रासादावसथनृपदेवगृहेषु च ॥' इति ॥ १५४ ॥

बाग, मकान, ग्राम, पानी का स्थान, उद्यान, घर– इनमें भी (सीमा-निर्धारण की) यही विधि है। वर्षा के जल-प्रवाह आदि में भी यही विधि है ॥ १५४ ॥

सीमानिर्णयमुक्त्वा तत्प्रसङ्गेन मर्यादाप्रभेदनादौ दण्डमाह—

मर्यादायाः प्रभेदे च सीमातिक्रमणे तथा ।
क्षेत्रस्य हरणे दण्डा अधमोत्तममध्यमाः ॥ १५५ ॥

अनेकक्षेत्रव्यवच्छेदिका साधारणा भूर्मर्यादा, तस्याः प्रकर्षेण भेदने सीमातिक्रमणे सीमामतिलङ्घ्य कर्षणे क्षेत्रस्य च भयादिप्रदर्शनेन हरणे यथाक्रमेण अधमोत्तममध्यमसाहसा दण्डा वेदितव्याः । 'क्षेत्र'ग्रहणं चात्र गृहारामाद्युपलक्षणार्थम् । यदा पुनः स्वीयभ्रान्त्या क्षेत्रादिकमपहरति, तदा द्विशतो दमो वेदितव्यः । यथाऽऽह मनुः (८।२६४)—'गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् । शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतो दमः ॥' इति । अपह्रियमाणक्षेत्रादिभूयस्त्वपर्यालोचनया कदाचिदुत्तमोऽपि दण्डः प्रयोक्तव्यः । अत एवाह—'वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने । तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः ॥' इति ॥ १५५ ॥

मर्यादा (सीमा, पेड़) को तोड़ने, सीमा को पार करने और खेत के हरण कर लेने पर क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ १५५ ॥

यः पुनः परक्षेत्रे सेतुकूपादिकं प्रार्थनयार्थदानेन वा लब्धानुज्ञो निर्मातुमिच्छति तन्निषेधतः क्षेत्रस्वामिन एव दण्ड इत्याह—

न निषेध्योऽल्पबाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः ।
परभूमिं हरन्कूपः स्वल्पक्षेत्रो बहूदकः ॥ १५६ ॥

परकीयां भूमिमपहरन्नाशयन्नपि सेतुर्जलप्रवाहबन्धः क्षेत्रस्वामिना न प्रतिषेध्यः स चेदीषत्पीडाकरो बहूपकारकश्च भवति । कूपश्चाल्पक्षेत्रव्यापित्वेनाल्पबाधो बहूदकत्वेन कल्याणकारकश्चेतो बहूदको नैव निवारणीयः । 'कूप'ग्रहणं च वापीपुष्करिण्याद्युपलक्षणार्थम् । यदा पुनरसौ सर्वक्षेत्रवर्तितया बहुबाधो नद्यादिसमीपक्षेत्रवर्तितया वाऽल्पोपकारकस्तदासौ निषेध्य इत्यर्थादुक्तं भवति । सेतोश्च द्वैविध्यमुक्तं नारदेन (१५।१८)—'सेतुश्च द्विविधो ज्ञेयः खेयो बन्ध्यस्तथैव च । तोयप्रवर्तनात्खेयो बन्ध्यः स्यात्तन्निवर्तनात् ॥' इति । यदा त्वन्यनिर्मितं सेतुं भेदनादिना नष्टं स्वयं संस्करोति तदा पूर्वस्वामिनं तद्वंश्यं नृपं वा पृष्ट्वैव संस्कुर्यात् । यथाऽऽह नारदः (११।२०-२१)—'पूर्व-

प्रवृत्तमुत्सन्नमपृष्ट्वा स्वामिनं तु यः। सेतुं प्रवर्तयेत्कश्चिन्न स तत्फलभाग्भवेत् ॥ मृते तु स्वामिनि पुनस्तद्वंश्ये वाऽपि मानवे। राजानमामन्त्र्य ततः कुर्यात्सेतुप्रवर्तनम् ॥' इति ॥ १५६ ॥

थोड़ी बाधा होने पर (अल्प भूमि जाने पर) कल्याणकारी सेतु का निर्माण न रोके। दूसरे की भूमि लेकर कूप-निर्माण होने पर भूमि तो कम लगती है परन्तु जल अधिक प्राप्त होता है ॥ १५६ ॥

क्षेत्रस्वामिनं प्रत्युपदिष्टम्, इदानीं सेतोः प्रवर्तयितारं प्रत्याह—

स्वामिने योऽनिवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रवर्तयेत् ।
उत्पन्ने स्वामिनो भोगस्तदभावे महीपतेः ॥ १५७ ॥

क्षेत्रस्वामिनमनभ्युपगम्य तदभावे राजानं वा यः परक्षेत्रे सेतुं प्रवर्तयत्यसौ फलभाङ् न भवति, अपि तु तदुत्पन्ने फले क्षेत्रस्वामिनो भोगस्तदभावे राज्ञः। तस्मात्प्रार्थनया अर्थदानेन वा क्षेत्रस्वामिनं तदभावे राजानं वाऽनुज्ञाप्यैव परक्षेत्रे सेतुः प्रवर्तनीय इति तात्पर्यार्थः ॥ १५७ ॥

जो खेत के स्वामी को बिना सूचित किये (बिना आज्ञा के ही) उसके खेत में सेतु, (जल-प्रवाह का बाँध) बनाता है ऐसे सेतु के बनने पर खेत का स्वामी ही उसके उपभोग का अधिकारी होता है। उसके न होने पर राजा का अधिकार होता है ॥ १५७ ॥

क्षेत्रस्वामिना सेतुर्न प्रतिषेध्य इत्युक्तम्, इदानीं तस्यैव प्रसक्तानुप्रसक्त्या क्वचिद्विध्यन्तरमाह—

फालाहतमपि क्षेत्रं न कुर्याद्यो न कारयेत् ।
स प्रदाप्यः कृष्टफलं क्षेत्रमन्येन कारयेत् ॥ १५८ ॥

यः पुनः क्षेत्रस्वामिपार्श्वे 'अहमिदं क्षेत्रं कृषामि' इत्यङ्गीकृत्य पश्चादुत्सृजति, न चान्येन कर्षयति, तच्च क्षेत्रं यद्यपि फालाहतं ईषद्धलेन विदारितं न सम्यग्बीजावापार्हं तथाऽपि तस्याकृष्टस्य फलं यावत्तत्रोत्पत्त्यर्हं सामन्तादिकल्पितं तावदसौ कर्षको दापनीयः। तच्च क्षेत्रं पूर्वकर्षकादाच्छिद्यान्येन कारयेत् ॥ १५८ ॥

(जो खेत के स्वामी से खेत लेकर) एक बार जोतकर पुनः न तो जोतता है, न दूसरे से जुतवाता है उसे उस जोत का फल देकर खेत को दूसरों को खेती करने के लिये दे ॥ १५८ ॥

इति सीमाविवादप्रकरणम्।

अथ स्वामिपालविवादप्रकरणम् १०

व्यवहारपदानां परस्परहेतुहेतुमद्भावाभावात् 'तेषामाद्यमृणादानम्' इत्यादि-पाठक्रमो न विवक्षित इति व्युत्क्रमेण स्वामिपालविवादोऽभिधीयते—

माषानष्टौ तु महिषी सस्यघातस्य कारिणी।
दण्डनीया तदर्धं तु गौस्तदर्धमजाविकम् ॥ १५९ ॥

परसस्यविनाशकारिणी महिषी अष्टौ माषान्दण्डनीया। गौस्तदर्धं चतुरो माषान्। अजा मेषाश्च माषद्वयं दण्डनीयाः। महिष्यादीनां धनसंबन्धभावात्तत्स्वामी पुरुषो लक्ष्यते। माषश्चात्र ताम्रिकपणस्य विंशतितमो भागः। 'माषो विंशतिमो भागः पणस्य परिकीर्तितः' इति नारदस्मरणात्। एतच्चाज्ञानविषयम्; ज्ञानपूर्वे तु 'पणस्य पादौ द्वौ गां तु द्विगुणं महिषीं तथा। तथाऽजाविकवत्सानां पादो दण्डः प्रकीर्तितः ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम्। यत्पुनर्नारदेनोक्तम् (११।३१)—'माषं गां दापयेद्दण्डं द्वौ माषौ महिषीं तथा। तथाऽजाऽविकवत्सानां दण्डः स्यादर्धमाषिकः ॥' इति तत्पुनःप्ररोहयोग्यमूलावशेषभक्षणविषयम् ॥ १५९ ॥

यदि भैंस से खेत की फसल का नुकसान हुआ है तो भैंस के स्वामी से आठ माषा दण्ड ले। गाय के चरने पर उसका आधा अर्थात् चार माष दण्ड ले और बकरा, भेड़ के चरने पर उसका आधा अर्थात् दो माष दण्ड ले ॥ १५९ ॥

अपराधातिशयेन क्वचिद्दण्डद्वैगुण्यमाह—

भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्ताद्द्विगुणो दमः।

यदि पशवः परक्षेत्रे सस्यं भक्षयित्वा तत्रैवानिवारिताः शेरते तदा यथोक्ताद्दण्डाद्द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः। सवत्सानां पुनर्भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्तदण्डाच्चतुर्गुणो दण्डो वेदितव्यः। 'वसतां द्विगुणः प्रोक्तः सवत्सानां चतुर्गुणः' इति वचनात् ॥

पशु के खेत चरकर खेत में ही बैठने पर इसका दूना दण्ड होता है ॥१५९$\frac{१}{२}$ ॥

क्षेत्रान्तरे पश्वन्तरे वातिदेशमाह—

सममेषां विवीतेऽपि खरोष्ट्रं महिषीसमम् ॥ १६० ॥

विवीतः प्रचुरतृणकाष्ठो रक्ष्यमाणः परिगृहीतो भूप्रदेशः, तदुपघातेऽपीतरक्षेत्रदण्डेन समं दण्डमेषां महिष्यादीनां विद्यात्। खरश्च उष्ट्रश्च खरोष्ट्रं तन्महिषीसमम्। महिषी यत्र यादृशेन दण्डेन दण्ड्यते तत्र तादृशेनैव दण्डेन खरोष्ट्रमपि प्रत्येकं दण्डनीयम्। सस्योपरोधकत्वेन खरोष्ट्रयोः प्रत्येकं महिषीतुल्यत्वाद्दण्डस्य चापराधानुसारित्वात्खरोष्ट्रमिति समाहारो न विवक्षितः ॥ १६० ॥

बाड़े में प्रवेश करने पर भी पूर्ववत् दण्ड दे। गधे और ऊँट का दण्ड भैंस के समान है ॥ १६० ॥

परसस्यविनाशे गोस्वामिनो दण्ड उक्तः, इदानीं क्षेत्रस्वामिने फलमप्यसौ दापनीय इत्याह—

[1]यावत्सस्यं विनश्येत्तु तावत्स्यात्क्षेत्रिणः फलम् ।
[2]गोपस्ताड्यश्च गोमी तु पूर्वोक्तं दण्डमर्हति ॥ १६१ ॥

'सस्य'ग्रहणं क्षेत्रोपचयोपलक्षणार्थम् । यस्मिन्क्षेत्रे **यावत्**पलालधान्यादिकं **गवादिभिर्विनाशितं तावत्क्षेत्रफलं** 'एतावति क्षेत्रे एतावद्भवति' इति सामन्तैः परिकल्पितं तत्क्षेत्रस्वामिने **गोमी दापनीयः** । **गोपस्तु ताडनीय एव**, न फलं दापनीयः । गोपस्य च ताडनं **पूर्वोक्तधनदण्डसहित**मेव पालदोषेण सस्यनाशे द्रष्टव्यम् । 'या नष्टा पालदोषेण गौस्तु सस्यानि नाशयेत् । न तत्र गोमिनां दण्डः पालस्तं दण्डमर्हति ॥' इति वचनात् ॥ गोमी पुनः स्वापराधेन सस्यनाशे पूर्वोक्तं दण्डमेवार्हति, न ताडनम् । फलदानं पुनः सर्वत्र गो[3]स्वामिन एव; तत्फलपुष्टमहिष्यादिक्षीरेणोपभोगद्वारेण तत्क्षेत्रफलभागित्वात् । गवादिभक्षितावशिष्टं पलालादिकं गोमिनैव ग्रहीतव्यम् । मध्यस्थकल्[4]पितमूल्यदानेन क्रीतप्रायत्वात् । अत एव नारदः—गोभिस्तु भक्षितं सस्यं यो नरः प्रतियाचते । सामन्तानुमतं देयं धान्यं यत्तत्र वापितम् ॥ पलालं [5]गोमिने देयं धान्यं वै कर्षकस्य तु ॥' इति ॥ १६१ ॥

(गाय इत्यादि के चरने-बैठने इत्यादि से) जितना अन्न नष्ट हो उतना (गाँव के सभ्यों द्वारा गाय के स्वामी से) खेत के स्वामी को दिलावाना चाहिये। चरवाहों को पीटना चाहिये। गोमी (गाय के स्वामी) को पूर्वोक्त दण्ड देना चाहिये ॥ १६१ ॥

क्षेत्रविशेषे अपवादमाह—

पथि ग्रामविवीतान्ते क्षेत्रे दोषो न विद्यते ।
अकामतः कामचारे चौरवद्दण्डमर्हति ॥ १६२ ॥

पथि मार्गसमीपवर्तिनि **क्षेत्रे** ग्रामविवीतसमीपवर्तिनि च **क्षेत्रे अकामतो** गोभिर्भक्षिते गोपगोमिनोर्द्वयोरप्य**दोषः**। दोषाभावप्रतिपादनं च दण्डाभावार्थं विनष्टसस्यमूल्यदानप्रतिषेधार्थं च। **कामचारे** कामतश्चारणे **चौरवत्** चौरस्य यादृशो दण्डस्तादृशं **दण्डमर्हति** । एतच्चानावृतक्षेत्रविषयम्; 'तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि। न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥' ८।२३८)—इति दण्डाभावस्यानावृतक्षेत्रविषयत्वेन मनुनोक्तत्वात् । आवृते पुनर्मार्गादिक्षेत्रेऽपि दोषोऽस्त्येव। वृतिकरणं च तेनैवोक्तम्। 'वृतिं च तत्र कुर्वीत यामुष्ट्रो नावलोकयेत्। छिद्रं निवारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥' (मनुः ८।२३९) इति ॥ १६२ ॥

मार्ग तथा ग्राम के समीपवर्ती खेत में (पशुओं के बाड़े से सटे खेत में) विना चाहे पशुओं के द्वारा चरे जाने पर कोई दोष नहीं होता । जान-बूझकर इनमें चराने वाला चोर के समान दण्डनीय होता है ॥ १६२ ॥

पशुविशेषेऽपि दण्डाभावमाह—

महोक्षोत्सृष्टपशवः सू[1]तिकागन्तुकादयः ।
पालो येषां न[2] ते मोच्या दै[3]वराजपरिप्लुताः ॥ १६३ ॥

महांश्चासावुक्षा च **महोक्षो** वृषः सेक्ता । **उत्सृष्टपशवः** वृषोत्सर्गादिविधानेन देवतोद्देशेन वा त्यक्ताः । **सूतिका** प्रसूता अनिर्दशाहा, **आगन्तुकः** स्वयूथात्परिभ्रष्टो देशान्तरादागतः । एते **मोच्याः** परसस्यभक्षणेऽपि न दण्ड्याः । **येषां च पालो न विद्यते तेऽपि दैवराजपरिप्लुताः** दैवराजोपहताः सस्यविनाशकारिणो न दण्ड्याः । आदिशब्दग्रहणाद्धस्त्यश्वादयो गृह्यन्ते । ते चोशनसोक्ताः—'अदण्ड्या हस्तिनो ह्यश्वाः प्रजापाला हि ते स्मृताः । अदण्ड्यौ काणकुब्जौ च ये शश्वत्कृतलक्षणाः ॥ अदण्ड्यागन्तुकी गौश्च सूतिका वाऽभिसारिणी । अदण्ड्याश्चोत्सवे गावः श्राद्धकाले तथैव च ॥' इति । अत्रोत्सृष्टपशूनामस्वामिकत्वेन दण्ड्यत्वासंभवात् दृष्टान्तार्थमुपादानम् । यथोत्सृष्टपशवो न दण्ड्या एवं महोक्षादय इति ॥ १६३ ॥

साड़, (वृषोत्सर्गादिविधान से या देवता के उद्देश्य से) छोड़े गये पशु, दश दिन के अन्दर व्याई गाय और अपने समुदाय से भटके पशु को छोड़ देना चाहिये (दण्ड के लिये नहीं पकड़ना चाहिये)। जिसका कोई स्वामी न हो तथा जो (पशु) देव या राजा द्वारा पीड़ित हों (ऐसे पशुओं को खेत चरने पर भी) छोड़ देना चाहिये ॥ १६३ ॥

गोस्वामिन उक्तम्, इदानीं गोपं प्रत्युपदिश्यते—

यथार्पितान्पशून्गोपः सायं प्रत्यर्पयेत्तथा ।
प्रमादमृतनष्टांश्च प्रदाप्यः कृतवेतनः ॥ १६४ ॥

गोस्वामिना प्रातःकाले **यथा** गणयित्वा **समर्पिताः** पशवस्तथैव **सायंकाले** गोपो गोस्वामिने पशून् विगणय्य **प्रत्यर्पयेत्** । **प्रमादेन** स्वापराधेन **मृतान्नष्टांश्च** पशून् **कृतवेतनः** कल्पितवेतनो गोपः स्वामिने दाप्यः । वेतनकल्पना च नारदेनोक्ता (६।१०)—'गवां शताद्वत्सतरी धेनुः स्याद्द्विशतामृतिः । प्रतिसंवत्सरं गोपे संदोहश्चाष्टमेऽहनि ॥' इति । प्रमादनाशश्च मनुना स्पष्टीकृतः (८।२३२)—'नष्टं जग्धं च कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् । हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥' इति ॥ प्रसह्य चौरैरपहृतं न दाप्यः । यथाऽऽह मनुः (८।२३३)—'विक्रम्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति । यदि देशे च

काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥' इति । दैवमृतानां पुनः कर्णादि प्रदर्शनीयम् । 'कर्णौ चर्म च वालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् । पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयन् ॥' (८।२३४) इति मनुस्मरणात् ॥ १६४ ॥

गोप (चरवाहे) को जैसा (जितनी संख्या और स्वरूप) के पशु प्रातःकाल गोस्वामी चराने के लिये दे चरवाहा उसी रूप में सायंकाल लौटावे। चरवाहों के प्रमाद से मरे या खोये हुये पशुओं का मूल्य चरवाहा वेतन में से लौटावे ॥ १६४ ॥

पालदोषविनाशे तु पाले दण्डो विधीयते ।
अर्धत्रयोदशपणः स्वामिनो द्रव्यमेव च ॥ १६५ ॥

किंच, पालदोषेणैव पशुविनाशे अर्धाधिकत्रयोदशपणं दण्डं पालो दाप्यः। स्वामिनश्च द्रव्यं विनष्टपशुमूल्यं मध्यस्थकल्पितम्। दण्डपरिमाणार्थः श्लोकः, अन्यत्पूर्वोक्तमेव ॥ १६५ ॥

चरवाहे के दोष से पशुओं के विनाश होने पर चरवाहे से साढ़े तेरह पण दण्ड स्वामी को दिलावे ॥ १६५ ॥

गोप्रसङ्गात् गोप्रचारमाह—

ग्राम्येच्छया गोप्रचारो भूमिराजवशेन वा ।
द्विजस्तृणैधःपुष्पाणि सर्वतः सर्वदा हरेत् ॥ १६६ ॥

ग्राम्येच्छया ग्राम्यजनेच्छया भूम्यल्पत्वमहत्त्वापेक्षया राजेच्छया वा गोप्रचारः कर्तव्यः। गवादीनां प्रचारणार्थं कियानपि भूभागोऽकृष्टः परिकल्पनीय इत्यर्थः। द्विजस्तृणेन्धनाद्यभावे गवाग्निदेवतार्थं तृणकाष्ठकुसुमानि सर्वतः स्ववदनिवारित आहरेत्। फलानि त्वपवृतादेव। 'गोऽग्न्यर्थं तृणमेधांसि वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम्' (गौ. १२।२८) इति गौतमस्मरणात्। एतच्च परिगृहीतविषयम्। अपरिगृहीते तु द्विजव्यतिरिक्तस्यापि परिग्रहादेव स्वत्वसिद्धेः। यथा तेनैवोक्तम्—'स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु' (गौ. १३।३९) इति। यत्पुनरुक्तम्—'तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम्। अनापृच्छन्हि गृह्णानो हस्तच्छेदनमर्हति ॥' इति, तद्द्विजव्यतिरिक्तविषयमनापद्विषयं वा गवादिव्यतिरिक्तविषयं वेति ॥ १६६ ॥

ग्राम के लोगों की इच्छा से, भूमि (की अल्पत्व-महत्त्व) की अपेक्षा से या राजेच्छा से गोचर भूमि को छोड़ना चाहिये। ब्राह्मण तृण, इंधन और पुष्प सभी स्थानों से सदा (बिना बाधा के) ले ॥ १६६ ॥

इदमपरं गवादीनां स्थानासनसौकर्यार्थमुच्यते—

धनुःशतं परीणाहो ग्रामे क्षेत्रान्तरं भवेत् ।
द्वे शते खर्वटस्य स्यान्नगरस्य चतुःशतम् ॥ १६७ ॥

ग्रामक्षेत्रयोरन्तरं धनुःशतपरिमितं परीणाहः सर्वतोदिशमनुप्तसस्यं कार्यम्। खर्वटस्य प्रचुरकण्टकसन्तानस्य ग्रामस्य द्वे शते परिणाहः। नगरस्य बहुजनसंकीर्णस्य धनुषां चतुःशतपरिमितमन्तरं कार्यम् ॥ १६७ ॥

ग्राम के चारों ओर एक सौ धनुष का क्षेत्र (खाली) छोड़े। खर्वट (प्रचुर कण्टक वाले गाँव) के चारों ओर दो सौ धनुष क्षेत्र छोड़े और नगर के चारों ओर चार सौ धनुष क्षेत्र छोड़े ॥ १६७ ॥

इति स्वामिपालविवादप्रकरणम्।

अथास्वामिविक्रयप्रकरणम् ११

संप्रत्यस्वामिविक्रयाख्यं व्यवहारपदमुपक्रमते। तस्य च लक्षणं नारदेनोक्तम् (७।१)—'निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा। विक्रीयतेऽसमक्षं यत्स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः ॥' इति, तत्किमित्याह—

स्वं लभेतान्यविक्रीतं क्रेतुर्दोषोऽप्रकाशिते।
हीनाद्रहो हीनमूल्ये वेलाहीने च तस्करः ॥ १६८ ॥

स्वमात्मसंबन्धि द्रव्यं अन्यविक्रीतमस्वामिविक्रीतं यदि पश्यति, तदा लभेत गृह्णीयात्; अस्वामिविक्रयस्य स्वत्वहेतुत्वाभावात्। 'विक्रीत'ग्रहणं दत्ताहितयोरुपलक्षणार्थम्; अस्वामिविक्रीतत्वेन तुल्यत्वात्। अत एवोक्तम्—'अस्वामिविक्रयं दानमाधिं च विनिवर्तयेत्' इति। क्रेतुः पुनरप्रकाशिते गोपिते क्रये दोषो भवति। तथा हीनात्तत्तद्द्रव्यागमोपायहीनाद्रहसि चैकान्ते संभाव्यद्रव्यादपि हीनमूल्येनाल्पतरेण च मूल्येन क्रये वेलाहीने वेलया हीनो वेलाहीनः, क्रयो रात्र्यादौ कृतस्तत्र च क्रेता तस्करो भवति। तस्करवद्दण्डभाग्भवतीत्यर्थः। यथोक्तम् (ना० ७।२।३-५)—'द्रव्यमस्वामिविक्रीतं प्राप्य स्वामी तदाप्नुयात्। प्रकाशं क्रयतः शुद्धिः क्रेतुः स्तेयं रहःक्रयात् ॥' इति ॥ १६८ ॥

अपनी वस्तु को (किसी के पास) अन्य (अनधिकारी) द्वारा बेची गयी देखे तो ले ले। अप्रकाशित (चोरी से) खरीदने में खरीदने वाले का दोष होता है। हीन व्यक्ति (अस्वामी) से एकान्त में, कम मूल्य में और असमय (रात्रि आदि में) क्रय करने वाला तस्कर होता है ॥ १६८ ॥

स्वाम्यभियुक्तेन क्रेत्रा किं कर्तव्यमित्यत आह—

नष्टापहृतमासाद्य हर्तारं ग्राहयेन्नरम्।
देशकालातिपत्तौ च गृहीत्वा स्वयमर्पयेत् ॥ १६९ ॥

नष्टमपहृतं वाऽन्यदीयं क्रयादिना प्राप्य हर्तारं विक्रेतारं नरं ग्राहयेत्

चौरोद्धरणकादिभिः आत्मविशुद्ध्यर्थं राजदण्डाप्राप्त्यर्थं च। अथाविदितदेशान्तरं गतः कालान्तरे वा विपन्नस्तदा मूलसमाहरणाशक्तेर्विक्रेतारमदर्शयित्वैव स्वयमेव तद्धनं नाष्टिकस्य समर्पयेत्। तावतैवासौ शुद्धो भवतीति श्रीकराचार्येण व्याख्यातं,—तदिदमनुपपन्नम्; 'विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः' (व्य० १७०) इत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। अतोऽन्यथा व्याख्यायते नष्टापहृतमिति। नाष्टिकं प्रत्ययमुपदेशः। नष्टमपहृतं वाऽऽत्मीयद्रव्यमासाद्य क्रेतृहस्तस्थं ज्ञात्वा तं हर्तारं क्रेतारं स्थानपालादिभिर्ग्राहयेत्। **देशकालातिपत्तौ** देशकालातिक्रमे स्थानपालाद्यसंनिधाने तद्विज्ञापनकालात्प्राक् पलायनाशङ्कायां **स्वयमेव गृहीत्वा** तेभ्यः [1]**समर्पयेत्** ॥ १६९ ॥

अपनी खोयी या चोरी गयी वस्तु को देखकर हर्ता (क्रेता) को (राजाधिकारियों से) पकड़वाये। (उनके पकड़वाने में राजाधिकारियों की अनुपस्थिति के कारण) देश और काल की बाधा पड़ने (अर्थात् किसी दूसरे स्थान पर भाग जाने या देर होने की आशंका) पर स्वयं पकड़ कर (दण्डाधिकारी) को दे दे ॥ १६९ ॥

ग्राहिते हर्तरि किं कर्तव्यमित्यत आह—

विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः स्वामी द्रव्यं नृपो दमम्।
क्रेता मूल्यमवाप्नोति तस्माद्यस्तस्य विक्रयी ॥ १७० ॥

यद्यसौ गृहीतः क्रेता 'न मयेदमपहृतम्, अन्यसकाशात्क्रीतम्' इति वक्ति, तदा तस्य क्रेतु**र्विक्रेतुर्दर्शनमात्रेण शुद्धिर्भवति**। न पुनरसावभियोज्यः, किंतु तत्प्रदर्शितेन विक्रेत्रा सह नाष्टिकस्य विवादः; यथाऽऽह बृहस्पतिः—'मूले समाहृते क्रेता नाभियोज्यः कथंचन। मूलेन सह वादस्तु नाष्टिकस्य विधीयते ॥' इति ॥ तस्मिन् विवादे यद्यस्वामिविक्रयनिश्चयो भवति, तदा तस्य नष्टापहृतस्य गवादिद्रव्यस्य यो विक्रयी विक्रेता तस्य सकाशात्**स्वामी** नाष्टिकः स्वीयं **द्रव्यमवाप्नोति; नृपश्चापराधानुरूपं दण्डं, क्रेता च मूल्यमवाप्नोति**। अथासौ देशान्तरगतस्तदा योजनसंख्यया आनयनार्थं कालो देयः; 'प्रकाशं वा क्रयं कुर्यान्मूलं वापि समर्पयेत्। मूलानयनकालश्च देयस्तत्राध्वसंख्यया ॥' इति स्मरणात् ॥ अथाविज्ञातदेशतया मूलमाहर्तुं न शक्नोति, तदा क्रयं शोधयित्वैव शुद्धो भवति; 'असमाहार्यमूलस्तु क्रयमेव विशोधयेत्' इति वचनात् ॥ यदा पुनः साक्ष्यादिभिर्दिव्येन वा क्रयं न शोधयति मूलं च न प्रदर्शयति, तदा स एव दण्डभाग्भवति ॥ इति; 'अनुपस्थापयन्मूलं क्रयं वाऽप्यविशोधयन्। यथाऽभियोगं धनिने धनं दाप्यो दमं च सः' ॥ इति मनुस्मरणात् ॥ १७० ॥

ऐसी वस्तु का विक्रय करने वाला यदि वस्तु को उसे विक्रय करने वाले को दिखा दे तो उसकी शुद्धि हो जाती है। स्वामी अपनी वस्तु पा जाता है और राजा उससे दण्ड दे और जिसने बेचा है उससे क्रेता अपना मूल्य प्राप्त कर लेता है ॥ १७० ॥

'स्वं लभेतान्यविक्रीतम्' (व्य० १६८) इत्युक्तं, तल्लिप्सुना किं कर्तव्यमित्यत आह—

आगमेनोपभोगेन नष्टं भाव्यमतोऽन्यथा ।
पञ्चबन्धो दमस्तस्य[2] राज्ञे तेनाविभाविते ॥ १७१ ॥

आगमेन रिक्थक्रयादिना **उपभोगेन** च 'मदीयमिदं द्रव्यं तच्चैवं नष्टमपहृतं वा' इत्यपि[3] **भाव्यं** साधनीयं तत्स्वामिना । **अतोऽन्यथा तेन** स्वामिना **अविभाविते** पञ्चबन्धो नष्टद्रव्यस्य **पञ्चमांशो दमो** नाष्टिकेन **राज्ञे देयः** । अत्र चायं क्रमः—पूर्वस्वामी नष्टमात्मीयं साधयेत्, ततः क्रेता चौर्यपरिहारार्थं मूल्यलाभाय च विक्रेतारमानयेत्, अथानेतुं न शक्नोति तदात्मदोषपरिहाराय क्रयं सार्धयित्वा द्रव्यं नाष्टिकस्य [1]समर्पयेदिति ॥ १७१ ॥

स्वामी आगम (लेख) और उपभोग से नष्ट वस्तु पर अपना स्वामित्व सिद्ध करे। उसके द्वारा अपना अधिकार प्रमाणित न करने पर राजा को उस वस्तु के मूल्य का पञ्चमांश दण्ड दे ॥ १७१ ॥

तस्करस्य प्रच्छादकं प्रत्याह—

हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात् ।
अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु षण्णवतिं पणान् ॥ १७२ ॥

हृतं प्रनष्टं वा चौरादिहस्तस्थं द्रव्यं 'अनेन मदीयं द्रव्यमपहृतम्' इति **नृपस्यानिवेद्यैव** दर्पादिना **यो गृह्णाति** असौ **षडुत्तरान्नवतिं पणान्दण्डनीयः**; तस्करप्रच्छादकत्वेन दुष्टत्वात् ॥ १७२ ॥

जो (अपनी) चोरी गयी या खोई वस्तु को बिना राजा के सूचित किये ही दूसरे के हाथ से ले लेता है उसे (राजा को) छियानबे पणों का दण्ड देना होता है ॥ १७२ ॥

राजपुरुषानीतं प्रत्याह—

शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् ।
अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत[1] परतो नृपः ॥ १७३ ॥

यदा तु **शुल्काधिकारिभिः स्थानरक्षिभिर्वा नष्टमपहृतं** द्रव्यं राजपार्श्वं **प्रत्यानीतं**, तदा **संवत्सरादर्वाक्** प्राप्तश्चेत् नाष्टिकस्तद्द्रव्यमवाप्नुयात्; **ऊर्ध्वं** पुनः **संवत्सराद्राजा गृह्णीयात्** । स्वपुरुषानीतं च द्रव्यं जनसमूहेषूद्घोष्य यावत्संवत्सरं राज्ञा रक्षणीयम्; यथाऽऽह गौतमः (१०-३६।३०)—'प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुः । विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम्' इति । यत्पुन-

मनुनाऽवध्यन्तरमुक्तम् (८।३०)—'प्रनष्टस्वामिकं द्रव्यं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्। अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेत् ॥' इति,—तच्छ्रुतवृत्तसंपन्नब्राह्मणविषयम्। रक्षणनिमित्तषड्भागादिग्रहणं च तेनैवोक्तम् (मनुः ८।३३)—'आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः। दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥' इति ॥ तृतीय-द्वितीय-प्रथमसंवत्सरेषु यथाक्रमं षष्ठादयो भागा वेदितव्याः। प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तात् ॥ १७३ ॥

शुल्क लेने वाले या स्थानपालों द्वारा खोई या चुराई कोई वस्तु राजा को देने पर वस्तु का स्वामी एक वर्ष के भीतर उसे राजा से ले ले। (इसके भीतर न लेने पर) इसके बाद उसे राजा ले ले ॥ १७३ ॥

मनूक्तषड्भागादिग्रहणस्य द्रव्यविशेषेऽपवादमाह—

पणानेकशफे दद्याच्चतुरः पञ्च मानुषे।
महिषोष्ट्रगवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके ॥ १७४ ॥

एकशफे अश्वादौ प्रनष्टाधिगते तत्स्वामी राज्ञे रक्षणनिमित्तं **चतुरः पणान्दद्यात्। मानुषे** मनुष्यजातीये द्रव्ये **पञ्च** पणान्, **महिषोष्ट्रगवां** रक्षणनिमित्तं प्रत्येकं **द्वौ द्वौ** पणौ, **अजाविके** पुनः प्रत्येकं **पादं पादम्**। 'दद्यात्' इति सर्वत्रानुषज्यते। अजाविकमिति समासनिर्देशेऽपि 'पादं पादम्' इति वीप्साबलात्प्रत्येकं संबन्धोऽवगम्यते ॥ १७४ ॥

एक खुर वाले (अश्व आदि) के मिलने पर उसका स्वामी राजा को चार पण (रक्षणादि के निमित्त शुल्क रूप में) दे, मनुष्य के मिलने पर पाँच पण दे, भैंस, ऊँट और गाय के मिलने पर दो-दो पण दे, बकरी और भेड़ मिलने पर एक चौथाई पण दे ॥ १७४ ॥

इत्यस्वामिविक्रयप्रकरणम्।

अथ दत्ताप्रदानिकप्रकरणम् -१२

अधुना विहिताविहितमार्गद्वयाश्रयतया दत्तानपकर्म दत्ताप्रदानिकमिति च लब्धाभिधानद्वयं दानाख्यं व्यवहारपदमभिधीयते। तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (४।१)—'दत्त्वा द्रव्यमसम्यग्यः पुनरादातुमिच्छति। दत्ताप्रदानिकं नाम व्यवहारपदं हि तत् ॥' इति। असम्यगविहितमार्गाश्रयेण द्रव्यं दत्त्वा पुनरादातुमिच्छति यस्मिन्विवादपदे तद्दत्ताप्रदानिकम्—दत्तस्याप्रदानं पुनर्हरणं यस्मिन्दानाख्ये तद्दत्ताप्रदानिकं नाम व्यवहारपदम्। विहितमार्गाश्रयत्वेन तत्प्रतिपक्षभूतं तदेव व्यवहारपदं दत्तानपकर्मेत्यर्थादुक्तं भवति। दत्तस्यानपकर्म अपुनरादानाख्यं

यत्र दानाख्ये विवादपदे तद्दत्तानपकर्म । तच्च देयादेयादिभेदेन चतुर्विधम् । यथाऽऽह नारदः (४।२)—'अथ देयमदेयं च दत्तं वाऽदत्तमेव च । व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्विधः ॥' इति । तत्र देयमित्यनिषिद्धदानक्रियायोग्यमुच्यते । अदेयमस्वंतया निषिद्धतया वा दानानर्हम् । यत्पुनः प्रकृतिस्थेन दत्तमव्यावर्तनीयं तद्दत्तमुच्यते । अदत्तं तु यत्प्रत्याहरणीयं तत्कथ्यते । तदेतत्संक्षेपतो निरूपयितुमाह—

स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयं

स्वम्आत्मीयं **कुटुम्बाविरोधेन** कुटुम्बानुपरोधेन, कुटुम्बभरणावशिष्टमिति यावत् । **तद्दद्यात्**; तद्भरणस्यावश्यकत्वात् । यथाऽऽह मनुः (११।१०)—'वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः । अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥' इति । 'कुटुम्बाविरोधेन' इत्यनेनादेयमेकविधं दर्शयति । 'स्वं दद्यात्' इत्यनेन चास्वभूतानामन्वाहितयाचितकाधिसाधारणनिक्षेपाणां पञ्चानामप्यदेयत्वं व्यतिरेकतो दर्शितम् ॥ यत्पुनर्नारदेनाष्टविधत्वमदेयानामुक्तम् (४।३-४) —'अन्वाहितं याचितकमाधिः साधारणं च यत् । निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति ॥ आपत्स्वपि हि कष्टासु वर्तमानेन देहिना । अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥' इति,-एतददेयत्वमात्राभिप्रायेण, न पुनः स्वत्वाभावाभिप्रायेण; पुत्रदारसर्वस्वप्रतिश्रुतेषु स्वत्वस्य सद्भावात् । अन्वाहितादीनां स्वरूपं च प्रागेव प्रपञ्चितम् ॥

दान अपने कुटुम्ब के अविरोध से दे अर्थात् उतना ही दे जिससे उनके भरण-पोषण में बाधा न हो ॥ १७४$\frac{१}{२}$ ॥

'स्वं दद्यात्' इत्यनेन दारसुतादेरपि स्वत्वाविशेषेण देयत्वप्रसङ्गे प्रतिषेधमाह—

दारसुतादृते ।

नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ १७५ ॥

दारसुतादृते दारसुतव्यतिरिक्तं स्वं दद्यात्, न दारसुतमित्यर्थः । तथा पुत्रपौत्राद्यन्वये विद्यमाने **सर्वं धनं न दद्यात्**; 'पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वृत्तिं चैषां प्रकल्पयेत्' इति स्मरणात् । **तथा** हिरण्यादिकमन्यस्मै प्रतिश्रुतमन्यस्मै न देयम् ॥ १७५ ॥

स्त्री और पुत्र दान में न दें। वंश (पुत्र-पौत्र) होने पर सर्वस्व न दे और जो वस्तु दूसरे को देने की प्रतिज्ञा कर दी है वह (फिर दूसरों को) न दे ॥ १७५ ॥

एवं दारसुतादिव्यतिरिक्तं देयमुक्त्वा प्रसङ्गाद्देयधनग्रहणं च प्रतिग्रहीत्रा प्रकाशमेव कर्तव्यमित्याह—

प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषतः ।

प्रतिग्रहणं **प्रतिग्रहः** सः **प्रकाशः** कर्तव्यो विवादनिराकरणार्थम् । **स्थावरस्य** च **विशेषतः** प्रकाशमेव ग्रहणं कार्यम्; तस्य सुवर्णादिवदात्मनि स्थितस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥—

प्रतिग्रह (दान) प्रकाश में (सबके सामने) लेना चाहिये। विशेष रूप से स्थावर (भूमि, वृक्ष) का प्रकाश में लेना चाहिये (जिससे कि आगे स्वामित्व का कोई विवाद न हो) ॥ १७५$\frac{१}{२}$ ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमनुसरन्नाह—

देयं प्रतिश्रुतं चैव दत्त्वा नापहरेत्पुनः ॥ १७६ ॥

देयं प्रतिश्रुतं चैव—यद्यस्मै धर्मार्थं प्रतिश्रुतं तत्तस्मै देयमेव यद्यसौ धर्मात्प्रच्युतो न भवति। प्रच्युते न पुनर्दातव्यम्; 'प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्' (गौ० ५।२३) इति गौतमस्मरणात्। **दत्त्वा नापहरेत्पुनः** न्यायमार्गेण यद्दत्तं तत्सप्तविधमपि पुनर्नापहर्तव्यम्, किंतु तथैवानुमन्तव्यम्। यत्पुनरन्यायेन दत्तं तददत्तं षोडशप्रकारमपि प्रत्याहर्तव्यमेवेत्यर्थादुक्तं भवति। नारदेन च (४।३)—'दत्तं सप्तविधं प्रोक्तमदत्तं षोडशात्मकम्' इति प्रतिपाद्य दत्तादत्तयोः स्वरूपं विवृतम्—'पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारतः। स्त्रीशुल्कानुग्रहार्थं च दत्तं दानविदो विदुः॥ अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगरुजान्वितैः। तथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगतः॥ बालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितम्। कर्ता ममेदं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत्॥ अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्ये चाधर्मसंहिते। यद्दत्तं स्यादविज्ञानाददत्तमिति तत्स्मृतम्॥' (ना० ४।८,१९,११) इति। अयमर्थः—पण्यस्य क्रीतद्रव्यस्य यन्मूल्यं दत्तम्, भृतिर्वेतनं कृतकर्मणे दत्तम्, तुष्ट्या बन्दिचारणादिभ्यो दत्तम्, स्नेहाद्दुहितृपुत्रादिभ्यो दत्तम्, प्रत्युपकारतः उपकृतवते प्रत्युपकाररूपेण दत्तम्, स्त्रीशुल्कं परिणयनार्थं कन्याज्ञातिभ्यो यद्दत्तम्, यच्चानुग्रहार्थमदृष्टार्थं दत्तम्; तदेतत्सप्तविधमपि दत्तमेव न प्रत्याहरणीयम्। भयेन बन्दिग्राहादिभ्यो दत्तम्, क्रोधेन पुत्रादिभ्यो वैरनिर्यातनायान्यस्मै दत्तम्, पुत्रवियोगादिनिमित्तशोकावेशेन दत्तम्, उत्कोचेन कार्यप्रतिबन्धनिरासार्थमधिकृतेभ्यो दत्तम्, परिहासेनोपहासेन दत्तम्। एकः स्वं द्रव्यमन्यस्मै ददात्यन्योऽपि तस्मै ददातीति दानव्यत्यासः। छलयोगतः शतदानमभिसंधाय सहस्रमिति परिभाष्य ददाति। बालेनाप्राप्तषोडशवर्षेण, मूढेन लोकवादानभिज्ञेन, अस्वतन्त्रेण पुत्रदासादिना, आर्तेन रोगाभिभूतेन, मत्तेन मदनीयमत्तेन, उन्मत्तेन वातिकाद्युन्मादग्रस्तेन वा, अपवर्जितं दत्तम्, तथा—'अयं मदीयमिदं कर्म करिष्यति' इति प्रतिलाभेच्छया दत्तम्, अचतुर्वेदाय 'चतुर्वेदोऽहम्' इत्युक्तवते दत्तम्, 'यज्ञं करिष्यामी'ति धनं लब्ध्वा द्यूतादौ विनियुञ्जानाय दत्तम्, इत्येवं षोडशप्रकारमपि दत्तमदत्तमित्युच्यते;

प्रत्याहरणीयत्वात्। आर्तदत्तस्यादत्तत्वं धर्मकार्यव्यतिरिक्तविषयम्; 'स्वस्थेनार्तेन वा दत्तं श्रावितं धर्मकारणात्। अदत्त्वा तु मृते दाप्यस्तत्सुतो नात्र संशयः ॥' इति कात्यायनस्मरणात् ॥ तथेदमपरं संक्षिप्तार्थवचनं सर्वविवादसाधारणम् ॥ (मनुः ८।१६५)—'योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्। यस्य चाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥' इति ॥ योग उपाधिः। येनागामिनोपाधिविशेषेणाधिविक्रयदानप्रतिग्रहाः कृतास्तदुपाधिविगमे तान् क्रयादीन्विनिवर्तयेदित्यस्यार्थः। यः पुनः षोडशंप्रकारमपि अदत्तं गृह्णाति, यश्चादेयं प्रयच्छति, तयोर्दण्डो नारदेनोक्तः (८।१६५)—'गृह्णात्यदत्तं यो लोभाद्यश्चादेयं प्रयच्छति। अदेयदायको दण्ड्यस्तथा दत्तप्रतीच्छकः ॥' इति ॥ १७६ ॥

जो वस्तु देने का संकल्प करे वह अवश्य दे और देकर फिर न लौटावे ।

इति दत्ताप्रदानिकं नाम प्रकरणम्।

अथ क्रीतानुशयप्रकरणम् १३

अथ क्रीतानुशयः कथ्यते। तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (९।१)—'क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं क्रेता न बहु मन्यते। क्रीतानुशय इत्येतद्विवादपदमुच्यते ॥' इति। तत्र च यस्मिन्नहनि पण्यं क्रीतं तस्मिन्नेवाह्नि तदविकृतं प्रत्यर्पणीयमिति तेनैवोक्तम्—'क्रीत्वा मूल्येन यत्पण्यं दुःक्रीतं मन्यते क्रयी। विक्रेतुः प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्न्यविक्षतम् ॥' (ना० ९।२) इति। द्वितीयादिदिने तु प्रत्यर्पणे विशेषस्तेनैवोक्तः—द्वितीयेऽह्नि ददत्क्रेता मूल्यात्त्रिंशांशमाहरेत्। द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत् ॥' (ना० ९।३) इति ॥ परतोऽनुशयो न कर्तव्य इत्यर्थः। एतच्च बीजादिव्यतिरिक्तोपभोगादिविनश्वरवस्तुविषयम् ॥

बीजादिक्रये पुनरन्य एव प्रत्यर्पणावधिरित्याह—

दशैकपञ्चसप्ताहमासत्र्यहार्धमासिकम्।
बीजायोवाह्यरत्नस्त्रीदोह्यपुंसां परीक्षणम् ॥ १७७ ॥

बीजं व्रीह्यादिबीजम्, अयो लोहम्, वाह्यो बलीवर्दादिः, रत्नं मुक्ताप्रवालादि, स्त्री दासी, दोह्यं महिष्यादि, पुमान् दासः; एषां बीजादीनां यथाक्रमेण दशाहादिकः परीक्षाकालो विज्ञेयः। परीक्ष्यमाणे च बीजादौ यद्यसम्यक्त्वबुद्ध्याऽनुशयो भवति तदा दशाहाद्यभ्यन्तर एव क्रयनिवृत्तिः, न पुनरूर्ध्वमित्युपदेशप्रयोजनम्। यत्तु मनुवचनम् (८।२२२)—'क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यस्येहानुशयो भवेत्। सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च ॥' इति,—तदुक्तलोहादिव्यतिरिक्तोपभोगविनश्वरगृहक्षेत्रयानशयनासनादिविषयम्। सर्वं चैतदपरीक्षितक्रीतविषयम्। यत्पुनः परीक्षितं 'न पुनः प्रत्यर्पणीयम्' इति समयं कृत्वा क्रीतं तद्वि-

क्रेत्रे न प्रत्यर्पणीयम्; तदुक्तम्—'क्रेता पण्यं परीक्षेत प्राक् स्वयं गुणदोषतः। परीक्ष्याभिमतं क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत्पुनः॥' (ना० ९।८) इति॥ १७७॥

(धान्य का) बीज, लोहा, ढोने वाले (बैल आदि) पशु, रत्न, स्त्री (दासी), दूध देने वाले (भैंस आदि पशु) और पुरुष (दास) का परीक्षण (अच्छा-बुरा होने का) क्रमशः दश, एक, पाँच दिन, एक सप्ताह, तीन दिन और एक पखवारा होता है। (अर्थात् इतने दिनों के भीतर ही परीक्षण में शुद्ध न होने पर तत्तत् पदार्थ लौटाये जा सकते हैं)॥ १७७॥

दोह्यादिपरीक्षाप्रसङ्गेन स्वर्णादेरपि परीक्षामाह—

अग्नौ सुवर्णमक्षीणं रजते द्विपलं शते।
अष्टौ त्रपुणि सीसे च ताम्रे पञ्च दशायसि॥ १७८॥

वह्नौ प्रताप्यमानं **सुवर्णं न क्षीयते,** अतः कटकादिनिर्माणार्थं यावत्स्वर्णकारहस्ते प्रक्षिप्तं तावत्तुलितं तैः प्रत्यर्पणीयम्; इतरथा क्षयं दाप्या दण्ड्याश्च। **रजते तु शतपले** प्रताप्यमाने **पलद्वयं** क्षीयते। **अष्टौ त्रपुणि सीसे च,** 'शते' इत्यनुवर्तते। त्रपुणि सीसे च शतपले प्रताप्यमानेऽष्टौ पलानि क्षीयन्ते। **ताम्रे पञ्च, दशायसि,**-ताम्रे शतपले **पञ्चपलानि,** अयसि **दशपलानि क्षीयन्ते।** अत्रापि 'शते' इत्येव। कांस्यस्य तु त्रपुताम्रयोनित्वात्तदनुसारेण क्षयः कल्पनीयः। ततोऽधिकक्षयकारिणः शिल्पिनो दण्ड्याः॥ १७८॥

अग्नि में तपाने पर सोना कम नहीं होता, सौ पल रजत में दो पल कम हो जाता है, पीतल और सीसा सौ पल में आठ पल कम हो जाते हैं, ताम्र में पाँच पल कम हो जाता है और लोहा दस पल कम हो जाता है॥ १७८॥

क्वचित्कम्बलादौ वृद्धिमाह—

शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पाससौत्रिके।
मध्ये पञ्चपला वृद्धिः सूक्ष्मे तु त्रिपला मता॥ १७९॥

स्थूलेनौर्णसूत्रेण यत्कम्बलादिकं क्रियते तस्मिन् **शतपले दशपला वृद्धिर्वेदितव्या।** एवं **कार्पाससूत्रनिर्मिते** पटादौ वेदितव्यम्। **मध्ये** अनतिसूक्ष्मसूत्रनिर्मिते पटादौ **पञ्चपला वृद्धिः। सुसूक्ष्मसूत्ररचिते** शते **त्रिपला वृद्धिर्वेदितव्या।** एतच्चाप्रक्षालितवासोविषयम्॥ १७९॥

ऊन और कपास के मोटे सूत में (कम्बलादि के निर्माण में) सौ पलों में दश पल की वृद्धि होती है, मध्यम श्रेणी के सूत में पाँच पल और पतले (सूक्ष्म) सूत से बने वस्त्र में सौ पल में तीन पल की वृद्धि होती है॥ १७९॥

द्रव्यान्तरे विशेषमाह—

कार्मिके रोमबद्धे च त्रिंशद्भागः क्षयो मतः ।
न क्षयो न च वृद्धिश्च कौशेये वाल्कलेषु च ॥ १८० ॥

कार्मिकं कर्मणा चित्रेण निर्मितम् । यत्र निष्पन्ने पटे चक्रस्वस्तिकादिकं चित्रं सूत्रैः क्रियते तत्कार्मिकमित्युच्यते । यत्र [1]प्रावारादौ रोमाणि बध्यन्ते स **रोमबद्धः**, तत्र **त्रिंशत्तमो भागः क्षयो** वेदितव्यः । **कौशेये** कोशप्रभवे **वाल्कलेषु** वृक्षत्वङ्निर्मितेषु वसनेषु **वृद्धिह्रासौ न** स्तः, किंतु [2]यावद्वयनार्थं कुविन्दादिभ्यो दत्तं तावदेव प्रत्यादेयम् ॥ १८० ॥

जिन वस्त्रों में (चक्र, स्वस्तिक आदि की) कढ़ाई होती है और (जिन चादर आदि में) रोंये बाँधे जाते हैं उनमें (बार-बार छेद करने आदि से) तीसवें भाग की कमी होती है। कौशेय (रेशमी) और वल्कल में न कमी होती है और न वृद्धि ॥ १८० ॥

द्रव्यानन्त्यात्प्रतिद्रव्यं क्षयवृद्धिप्रतिपादनाशक्तेः सामान्येन ह्रासवृद्धिज्ञानोपायमाह—

देशं कालं च भोगं च ज्ञात्वा नष्टे बलाबलम् ।
द्रव्याणां कुशला ब्रूयुर्यत्तद्दाप्यमसंशयम् ॥ १८१ ॥

[1]शाणक्षौमादौ द्रव्ये **नष्टे** ह्रासमुपगते **द्रव्याणां कुशलाः** द्रव्यवृद्धिक्षयाभिज्ञाः **देशं कालमुपभोगं** तथा **नष्टद्रव्यस्य बलाबलं** सारासारतां च परीक्ष्य **यत्कल्पयन्ति तदसंशयं** शिल्पिनो **दाप्याः** ॥ १८१ ॥

(द्रव्य के नष्ट हो जाने पर या ह्रास हो जाने पर) देश, काल, उपभोग तथा नष्ट हुये द्रव्यों की सारासारता को परीक्षित कर द्रव्य के विषय-विशेषज्ञ जो मूल्य लगावे वह (नाश करने वाला शिल्पी आदि) दे ॥ १८१ ॥

इति क्रीतानुशयप्रकरणम् ।

अथाभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् १४

सांप्रतमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यमपरं विवादपदमभिधातुमुपक्रमते । तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (५।१)—'अभ्युपेत्य तु शुश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते । अशुश्रूषाभ्युपेत्यैतद्विवादपदमुच्यते ॥' इति । आज्ञाकरणं शुश्रूषा, तामङ्गीकृत्य पश्चाद्यो न संपादयति तद्विवादपदमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यम् । शुश्रूषकश्च पञ्चविधः—शिष्योऽन्तेवासी भृतकोऽधिकर्मकृद्दास इति । तेषामाद्याश्चत्वारः कर्मकरा इत्यु-

च्यन्ते । ते च शुभकर्मकारिणः । दासाः पुनर्गृहजातादयः पञ्चदशप्रकारा गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनाद्यशुभकर्मकारिणः । तदिदं नारदेन स्पष्टीकृतम्—'शुश्रूषकः पंञ्चविधः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः । चतुर्विधः कर्मकरस्तेषां दासास्त्रिपञ्चकाः ॥ शिष्यान्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वधिकर्मकृत् । एते कर्मकरा ज्ञेया दासास्तु गृहजादयः ॥ सामान्यमस्वतन्त्रत्वमेषामाहुर्मनीषिणः । जातिकर्मकृतस्तूक्तो विशेषो वृत्तिरेव च ॥ कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमेव च । अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृतां स्मृतम् ॥ गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम् । गुह्याङ्गस्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोज्झनम् ॥ इच्छतः स्वामिनश्चाङ्गैरुपस्थानंमथान्ततः । अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभमन्यदतः परम् ॥' (ना० ५।२–७) इति ॥ तत्र शिष्यो वेदविद्यार्थी, अन्तेवासी शिल्पशिक्षार्थी, मूल्येन यः कर्म करोति स भृतकः, कर्मकुर्वतामधिष्ठाताऽधिकर्मकृत्, अशुचिस्थानमुच्छिष्टप्रक्षेपार्थं गर्तादिकम्, अवस्करो गृहमार्जितपांस्वादिनिर्चयस्थानम्, उज्झनं त्यागः । भृतकश्चात्र त्रिविधः । तदुक्तम्—'उत्तमस्त्वायुधीयोऽत्र मध्यमस्तु कृषीवलः । अधमो भारवाही स्यादित्येवं त्रिविधो भृतः ॥' (ना० ५।२२) इति । दासाः पुनः—'गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः । अनाकालभृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः ॥ मोक्षितो महतश्चर्णाद्युद्धप्राप्तः पणे जितः । तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः ॥ भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव वडवाहृतः । विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदश स्मृताः ॥' (ना० ५।२६) गृहे दास्यां जातो गृहजातः, क्रीतो मूल्येन, लब्धः प्रतिग्रहादिना, दायादुपागतः पित्रादिदासः, अनाकालभृतो दुर्भिक्षे यो दासत्वाय मरणाद्रक्षितः, आहितः स्वामिना धनग्रहणेनाधितां नीतः, ऋणमोचनेन दासत्वमभ्युपगतो ऋणदासः, युद्धप्राप्तः समरे विजित्य गृहीतः, पणे जितः–'यद्यस्मिन्विवादे पराजितोऽहं तदा त्वद्दासो भवामि' इति परिभाष्य जितः, तवाहमित्युपगतः 'तवाहं दासः' इति स्वयं संप्रतिपन्नः, प्रव्रज्यावसितः प्रव्रज्यातश्च्युतः, कृतः 'एतावत्कालं त्वद्दासः' इत्यभ्युपगमितः, भक्तदासः सर्वकालं भक्तार्थमेव दासत्वमभ्युपगम्य यः प्रविष्टः, वडवाहृतः–वडवा गृहदासी तया हृतः तल्लोभेन तामुद्वाह्य दासत्वेन प्रविष्टः, य आत्मानं विक्रीणीतेऽसावात्मविक्रेता; इत्येवं पञ्चदश प्रकाराः ॥ यत्तु मनुना (८।४१५)—'ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ । पैतृको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥' इति सप्तविधत्वमुक्तं,–तत्तेषां दासत्वप्रतिपादनार्थं, नतु परिसंख्यार्थम् । तत्रैषां शिष्यान्तेवासिभृतकाधिकर्मकृद्दासानां मध्ये शिष्यवृत्तिः प्रागेव प्रतिपादिता । —'आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेत्' (आ० २७) इत्यादिना । अधिकर्मकृद्भृतकानां तु भृतिं वेतनादानप्रकरणे वक्ष्यते ।—'यो यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम्' (व्य० १९६) इत्यादिना ॥

दासान्तेवासिनोस्तु धर्मविशेषं वक्तुमाह—

बलाद्दासीकृतश्चौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते ।

स्वामिप्राणप्रदो [4]भक्तत्यागात्तन्निष्क्रयादपि ॥ १८२ ॥

बलात् बलावष्टम्भेन यो **दासीकृतः**, यश्चौरैरपहृत्य **विक्रीतः**, **'अपि'**-शब्दादाहितो दत्तश्च; स **मुच्यते** । यदि स्वामी न मुञ्चति तर्हि राज्ञा मोचयितव्यः । उक्तं च नारदेन (५।३८)—'चौरापहृतविक्रीता ये च दासीकृता बलात् । राज्ञा मोचयितव्यास्ते दास्यं तेषु हि नेष्यते ॥' इति । चौरव्याघ्राद्यवरुद्धस्य **स्वामिनः प्राणान्यः प्रददाति** रक्षत्यसावपि मो[5]चयितव्यः । तदिदं सर्वदासानां साधारणं दास्यनिवृत्तिकारणम् ।—'यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोचयेत्प्राणसंशयात् । दासत्वात्स विमुच्येत पुत्रभागं लभेत च ॥' (५।३०) इति नारदस्मरणात् ॥ भक्तदासादीनां प्रातिस्विकमपि मोक्षकरणमुच्यते । अनाकालभृतभक्तदासौ **भक्तस्य त्यागाद्**दासभावादारभ्य स्वामिद्रव्यं यावदुपभुक्तं तावद्दत्त्वा मुच्येते । आहितर्णदासौ तु **तन्निष्क्रयात्** यद्गृहीत्वा स्वामिना आहितः, यच्च दत्त्वा धनिनोत्तमर्णान्मोचितः, तस्य निष्क्रयात्सवृद्धिकस्य प्रत्यर्पणान्मुच्यते । नारदेन विशेषोऽप्युक्तः—'अनाकालभृतो दास्यान्मुच्यते गोयुगं ददत् । संभक्षितं यद्दुर्भिक्षे न तच्छुद्ध्येत कर्मणा ॥', 'भक्तस्योत्क्षेपणात्सद्यो भक्तदासः प्रमुच्यते ।', 'आहितोऽपि धनं दत्त्वा स्वामी यद्येनमुद्धरेत् ॥', 'ऋणं तु सोदयं दत्त्वा ऋणी दास्यात्प्रमुच्यते (ना० ५।३१, ३६, ३२, ३३) ॥' इति ॥ तथा 'तवाहम्' इत्युपगतयुद्धप्राप्तपणजित[1]कृतकवडवाहृतानां च प्रातिस्विकं मोचनकारणं च [2]तेनैवोक्तम्—'तवाहमित्युपगतो युद्धप्राप्तः पणे जितः । '[1]प्रतिशीर्षप्रदानेन मुच्येरंस्तुल्यकर्मणा ॥', 'कृतकालव्यपगमात्कृतकोऽपि विमुच्यते ।', 'निग्रहाद्वडवायास्तु मुच्यते वडवाहृतः ॥' (ना० ५।३४, ३३, ३७) इति । दासेन सह संभोगनिरोधादित्यर्थः । तदेवं गृहजातक्रीतलब्धदायप्राप्तात्मविक्रयिणां स्वामिप्राण[3]प्रदानतत्प्रसादरूपसाधारणकारणव्यतिरेकेण मोक्षो नास्ति; विशेषकारणानभिधानात् । दासमोक्षश्चानेन क्रमेण कर्तव्यः—'स्वं दासमिच्छेद्यः कर्तुमदासं प्रीतमानसः । स्कन्धादादाय तस्यासौ भिन्द्यात्कुम्भं सहाम्भसा ॥ साक्षताभिः सपुष्पाभिर्मूर्धन्यद्भिरवाकिरेत् । अदास इत्यथोक्त्वा त्रिः प्राङ्मुखं तमवासृजेत् ॥' (ना० ५।४२, ४३) इति तेनैवोक्तम् ॥ १८२ ॥

बलपूर्वक दास बनाया गया या चोरों द्वारा विक्रय के द्वारा दास बनाया गया दास दासत्व से मुक्त हो जाता है (अर्थात् राजा उसे मुक्त करा दे)। (सभी प्रकार के दास) स्वामी के प्राण बचाने पर दासत्व से मुक्त हो जाते हैं। (बिना समय की सीमा के जो दास हैं उनकी मुक्ति) खाये हुए द्रव्य को लौटाने पर होती है और (ऋण चुकाकर दास बनाये गये या खरीदे गये) दासों की मुक्ति उस द्रव्य को लौटाने पर होती है ॥ १८२ ॥

प्रव्रज्यावसितस्य तु मोक्षो नास्तीत्याह—

प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दास आ[4]मरणान्तिकम् ।

प्रव्रज्या संन्यासः, ततोऽवसितः प्रच्युतः। अनभ्युपगतप्रायश्चित्तश्चेद्राज्ञ एव दासो भवति। **मरणमेव** तद्दासत्वस्यान्तो नान्तरा प्रतिमोक्षोऽस्ति ॥–

संन्यास से च्युत व्यक्ति जीवनपर्यन्त राजा का दास रहता है ॥ १८२$\frac{१}{२}$ ॥

वर्णापेक्षया दास्यव्यवस्थामाह—

वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ॥ १८३ ॥

ब्राह्मणादीनां **वर्णानामानुलोम्येन दास्यम्**-ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयः, क्षत्रियस्य वैश्यशूद्रौ, वैश्यस्य शूद्र इत्येवमानुलोम्येन दासभावो भवति, **न प्रातिलोम्येन**। स्वधर्मत्यागिनः पुनः परिव्राजकस्य प्रातिलोम्येनापि दासत्वमिष्यत एव; यथाह नारदः (५।३९)—'वर्णानां प्रातिलोम्येन दासत्वं न विधीयते। स्वधर्मत्यागिनोऽन्यत्र दारवद्दासता मता ॥' इति ॥ १८३ ॥

दासत्व वर्णों में अनुलोम क्रम से होता है (ब्राह्मण का क्षत्रिय-वैश्यादि क्रम से होता है), प्रतिलोम क्रम से नहीं (क्षत्रिय का ब्राह्मण, वैश्य का क्षत्रिय आदि क्रम से नहीं)। अर्थात् उच्च वर्ण का दास निम्न वर्ण वाला होगा। निम्नवर्ण वाले का दास उच्चवर्ण वाला नहीं होगा ॥ १८३ ॥

अन्तेवासिधर्मानाह—

कृतशिल्पोऽपि निवसेत्कृतकालं गुरोर्गृहे।
अन्तेवासी गुरुप्राप्तभोजनस्तत्फलप्रदः ॥ १८४ ॥

अन्तेवासी गुरोर्गृहे कृतकालं 'वर्षचतुष्टयमायुर्वेदादिशिल्पशिक्षार्थं त्वद्गृहे वसामि' इति यावदङ्गीकृतं **तावत्कालं वसेत्**,-यद्यपि वर्षचतुष्टयादर्वागेव लब्धापेक्षितशिल्पविद्यः। कथं निवसेत्? **गुरुप्राप्तभोजनः** गुरोः सकाशात्प्राप्तं भोजनं येन स तथोक्तः, **तत्फलप्रदः** तस्य शिल्पस्य फलमाचार्याय प्रददातीति तत्फलप्रदः, एवंभूतो **वसेत्**। नारदेन विशेषोऽप्यत्र दर्शितः—'स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया। आचार्यस्य वसेदन्ते कृत्वा कालं सुनिश्चितम् ॥ आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्। न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत् ॥ शिक्षयन्तमसंदुष्टं य आचार्यं परित्यजेत्। बलाद्वासयितव्यः स्याद्वधबन्धौ च सोऽर्हति ॥ शिक्षितोऽपि कृतं कालमन्तेवासी समाप्नुयात्। तत्र कर्म च यत्कुर्यादाचार्यस्यैव तत्फलम् ॥ गृहीतशिल्पः समये कृत्वाचार्यं प्रदक्षिणम्। शिक्षितश्चानुमान्यैनमन्तेवासी निवर्तते ॥' (ना० ५।१६-२०) इति। 'वध'शब्दोऽत्र ताडनार्थः; दोषस्याल्पत्वात् ॥ १८४ ॥

शिष्य अपने गुरु के यहाँ निवास की अवधि निश्चित होने पर और विद्या (उससे पूर्व समाप्त करने पर भी) उस शिष्य (विद्या) का फल गुरु को देते हुये तथा गुरु से भोजन प्राप्त कर वहाँ निवास करे ॥ १८४ ॥

अथ संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १९

संप्रति संविद्व्यतिक्रमः कथ्यते; तस्य च लक्षणं नारदेन व्यतिरेकमुखेन दर्शितम्—'[1]पाखण्डिनैगमादीनां स्थितिः समय उच्यते। समयस्यानपाकर्म तद्वि[2]वादपदं स्मृतम् ॥' इति पारिभाषिकधर्मेण व्यवस्थानं समयः, तस्यानपाकर्माऽव्यतिक्रमः परिपालनं तद्व्यतिक्रम्यमाणं विवादपदं भवतीत्यर्थः ॥

तदुपक्रमार्थं किंचिदाह—

राजा कृत्वा पुरे स्थानं ब्राह्मणान्न्यस्य तत्र तु ।
त्रै[3]विद्यं वृत्तिमद्ब्रूयात्स्वधर्मः पाल्यतामिति ॥ १८५ ॥

राजा स्वपुरे दुर्गादौ स्थानं धवलगृहादिकं कृत्वा तत्र ब्राह्मणान्न्यस्य स्थापयित्वा तद्ब्राह्[4]मणव्रातं त्रैविद्यं वेदत्रयसंपन्नं वृत्तिमद्भूहिरण्यादिसंपन्नं च कृत्वा स्वधर्मो वर्णाश्रमनिमित्तः श्रुतिस्मृतिविहितो भवद्भिरनुष्ठीयतामिति तान्ब्राह्मणान्ब्रूयात् ॥ १८५ ॥

राजा अपने नगर में स्थान (निवासोपयुक्त गृहादि) बनाकर वहाँ ब्राह्मणों को बसावे और उन त्रैविद्य (तीनों वेदों के ज्ञाता) ब्राह्मणों को वृत्ति देकर यह कहे कि आप अपने धर्म का पालन करे ॥ १८५ ॥

एवं नियुक्तैस्तैर्यत्कर्म कर्तव्यं तदाह—

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥ १८६ ॥

श्रौतस्मार्तधर्मानुपमर्देन समयान्निष्पन्नो यो धर्मो गोप्रचारोदकरक्षणदेवगृहपालनादिरूपः सोऽपि यत्नेन पालनीयः। तथा राज्ञा च निजधर्माविरोधेनैव यः सामयिको धर्मो 'यावत्पथिकं भोजनं देयमसदराति[1]मंण्डलं तुरङ्गादयो न प्रस्थापनीया' इत्येवंरूपः कृतः सोऽपि रक्षणीयः ॥१८६॥

अपने धर्म के अविरुद्ध (अनुकूल) जो सामयिक धर्म हो तथा जो राजा द्वारा निश्चित किया धर्म हो उसकी रक्षा (पालन) करे ॥ १८६ ॥

एवं समयधर्मः परिपालनीय इत्युक्त्वा तदतिक्रमादौ दण्डमाह—

गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः ।
सर्वस्वहरणं कृत्वा तं [2]राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ १८७ ॥

यः पुनर्गणस्य ग्रामादिजनसमूहस्य संबन्धि साधारणं द्रव्यमपहरति,

संवित् समयस्तां समूहकृतां राजकृतां वा यो लङ्घयेदतिक्रामेत्, तदीयं सर्वं धनमपहृत्य स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेन्निष्कासयेत् ॥ अयं च दण्डोऽनुबन्धाद्यतिशये द्रष्टव्यः ॥ अनुबन्धाल्पत्वे तु (मनुः ८।२१९-२२०)—'यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् । विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ निगृह्य दापयेदेनं समयव्यभिचारिणम् । चतुःसुवर्णं षण्निष्कान्छतमानं च राजतम् ॥' इति मनुप्रतिपादितदण्डानां निर्वासन चतुःसुवर्णषण्निष्कशतमानानां चतुर्णामन्यतमो जातिशक्त्याद्यपेक्षया कल्पनीयः ॥ १८७ ॥

जो गण (समूह =समाज) के द्रव्य का हरण करे या (राजा या समाज द्वारा निश्चित) समय (व्यवस्था) का उल्लङ्घन करे, उसे राजा उसके सर्वस्व का हरण कर राज्य से बाहर निकाल दे ॥ १८७ ॥

इदं च तैः कर्तव्यमित्याह—

कर्तव्यं वचनं सर्वैः समूहहितवादिनाम् ।

गणिनां मध्ये ये समूहहितवादनशीलास्तद्वचनमितरैर्गणानामन्तर्गतैरनुसरणीयम् ॥—

जो व्यक्ति समूह (गण) के हित का वचन कहते हैं उनके वचन का सभी को पालन करना चाहिये ॥ १८७½ ॥

अन्यथा दण्ड इत्याह—

यस्तत्र विपरीतः स्यात्स दाप्यः प्रथमं दमम् ॥ १८८ ॥

यस्तु गणिनां मध्ये समूहहितवादिवचनप्रतिबन्धकारी स राज्ञा प्रथमसाहसं दण्डनीयः ॥ १८८ ॥

जो व्यक्ति उसके विपरीत (समूह के हितवादी के वचन का अवरोधक) हो उसे (राजा द्वारा) प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिये ॥ १८८ ॥

राज्ञा चेत्थं गणिषु वर्तनीयमित्याह—

समूहकार्य आयातान्कृतकार्यान्विसर्जयेत् ।
स दानमानसत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः ॥ १८९ ॥

समूहकार्यनिर्वृत्त्यर्थं स्वपार्श्वं प्राप्तान् गणिनो निर्वर्तितात्मीयप्रयोजनान् दानमानसत्कारैः स राजा परितोष्य विसर्जयेत् ॥ १८९ ॥

समूह के कार्य के लिये आये हुए लोगों का कार्य कर राजा उन्हें दान-मान-सत्कार से सत्कृत कर विदा करे ॥ १८९ ॥

समूहदत्तापहारिणं प्रत्याह—

समूहकार्यप्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत् ।
एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत्स्वयम् ॥ १९० ॥

समूहकार्यार्थं महाजनैः **प्रेरितो** राजपार्श्वे यवसहिरण्यादिकं **लभते** तदप्रार्थित एव महाजनेभ्यो **निवेदयेत्** । **अन्यथा** लब्धादेकादशगुणं **दण्डं दापनीयः** ॥ १९० ॥

समूह के कार्य के लिये भेजा गया व्यक्ति जो कुछ (उस कार्य-संपादन के अवसर पर) प्राप्त करे उसे ले आकर (समूह को) समर्पित कर दे। यदि वह स्वयं उस प्राप्त वस्तु को नहीं देता तो उससे ग्यारह गुना दण्ड लेना चाहिये ॥ १९० ॥

एवंप्रकाराश्च कार्यचिन्तकाः कार्या इत्याह—

धर्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्यचिन्तकाः ।
कर्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम् ॥ १९१ ॥

श्रौतस्मार्तधर्मज्ञा बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्ता अर्थेष्वलुब्धाः **कार्यविचारकाः कर्तव्याः । तेषां वचनमितरैः कार्यमि**त्येतदादरार्थं पुनर्वचनम् ॥ १९१ ॥

(श्रौत और स्मार्त) धर्म के विशेषज्ञ, पवित्र और निर्लोभी व्यक्तियों को समूह का कार्य-विचारक बनाना चाहिये। ऐसे (धर्मज्ञ) समूह के हित बोलने वाले लोगों के वचन को (समूह के सभी व्यक्तियों को) मानना चाहिये ॥ १९१ ॥

इदानीं त्रैविद्यानां प्रतिपादितं धर्मं श्रेण्यादिष्वतिदिशन्नाह—

श्रेणिनैगमपाखण्डिगणानामप्ययं विधिः ।
भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत् ॥ १९२ ॥

एकपण्यशिल्पोपजीविनः **श्रेणयः**, **नैगमाः** ये वेदस्याप्तप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिच्छन्ति पाशुपतादयः, **पाखण्डिनो** ये वेदस्य प्रामाण्यमेव नेच्छन्ति नग्नाटकसौगतादयः, **गणो** व्रातः आयुधीयादीनामेककर्मोपजीविनां, **एषां** चतुर्विधाना**मप्ययमेव विधिः**—यो 'निजधर्माविरोधेन' (व्य० १८६) इत्यादिना प्रतिपादितः । एतेषां श्रेण्यादीनां **भेदं** धर्मव्यवस्थानं **नृपो रक्षेत्**। पूर्वोपात्तां **वृत्तिं च पालयेत्** ॥ १९२ ॥

श्रेणी (एक शिल्प या व्यापार से जीविका चलाने वाले), नैगम (वेद को आप्त प्रमाण मानने वाले पाशुपतादि), पाखण्डी (वेद का प्रामाण्य न मानने वाले सौगत

आदि) और गण (अस्त्र आदि विद्या से जीविका चलाने वाले) के विषय में भी यही नियम है। राजा इनके भेद (पारस्परिक धर्म) की रक्षा करे और इनकी पूर्व की वृत्ति रक्षा करे ॥ १९२ ॥

टिप्पणी— पूर्व में 'निजधर्माविरोध धर्म', (१८६) कहा गया है। उसी की व्याख्या में यह श्लोक है। जो शास्त्रविरुद्ध पथ है उनकी भी तत्तद् रूप से रक्षा होनी चाहिये।

इति संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम्।

अथ वेतनादानप्रकरणम् १६

संप्रति वेतनस्यानपाकर्माख्यं व्यवहारपदं प्रस्तूयते। तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (६।१)—'भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः। वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम् ॥' इति। अस्यार्थः—भृत्यानां वेतनस्य वक्ष्यमाणश्लोकैरुक्तो दानादानविधिक्रमो यत्र विवादपदे तद्वेतनस्यानपाकर्मेत्युच्यते; तत्र निर्णयमाह—

गृहीतवेतनः कर्म त्यजन्द्विगुणमावहेत्।
अगृहीते समं दाप्यो भृत्यै रक्ष्य उपस्करः ॥ १९३ ॥

गृहीतं वेतनं येनासौ स्वाङ्गीकृतं **कर्म त्यजन्** अकुर्वन् **द्विगुणां भृतिं** स्वामिने **दद्यात्**। यदा पुनरभ्युपगतं कर्म **अगृहीते** एव वेतने **त्यजति** तदा **समं** यावद्वेतनमभ्युपगतं तावद्दाप्यो न द्विगुणम्। यद्वाऽङ्गीकृतां भृतिं दत्त्वा बलात्कारयितव्यः; 'कर्माकुर्वन्प्रतिश्रुत्य कार्यो दत्त्वा भृतिं बलात्' (६।५) इति नारदवचनात्। भृतिरपि तेनैवोक्ता—'भृत्याय वेतनं दद्यात्कर्मस्वामी यथाक्रमम्। आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितम् ॥' (ना० ६।२) इति। तैश्च भृत्यैरुपस्कर उपकरणं लाङ्गलादीनां प्रग्रहयोक्त्रादिकं यथाशक्त्या रक्षणीयम्; इतरथा कृष्यादिनिष्पत्त्यनुपपत्तेः ॥ १९३ ॥

वेतन लेकर कर्म का त्याग करने वाले से वेतन का दुगुना धन दिलावे। यदि वेतन नहीं लिया हो तो उसके बराबर दे। नौकर (जिस कार्य में नियुक्त है उस कार्य के सहायक हल, फावड़ा इत्यादि) उपस्करों की यत्नपूर्वक रक्षा करे ॥ १९३ ॥

भृतिमपरिच्छिद्य यः कर्म कारयति तं प्रत्याह—

दाप्यस्तु दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यतः।
अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत्स महीक्षिता ॥ १९४ ॥

यस्तु स्वामी वणिक् गोमी क्षेत्रिको वा **अपरिच्छिन्नवेतनमेव** भृत्यं **कर्म कारयति स** तस्माद्वाणिज्यपशुसस्यलक्षणात् कर्मणो यल्लब्धं तस्य **दशमं भागं** भृत्याय **महीक्षिता** राज्ञा **दापनीयः** ॥ १९४ ॥

जो स्वामी (व्यापारी, गोस्वामी या भूमिपति) भृत्य का बिना वेतन निश्चित किये काम लेता है, राजा को उससे वाणिज्य, पशु और अन्न से हुये लाभ का दसवाँ हिस्सा भृत्य को दिलाना चाहिये ॥ १९४ ॥

अनाज्ञप्तकारिणं प्रत्याह—

देशं कालं च योऽतीयाल्लाभं कुर्याच्च योऽन्यथा ।
तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके ॥१९५॥

यस्तु भृत्यः पण्यविक्रयाद्युचितं **देशं कालं च** पण्यविक्रयाद्यकुर्वन्दर्पादिनोल्लङ्घयेत्तस्मिन्नेव वा देशे काले च **लाभमन्यथा** व्ययाद्यतिशयसाध्यतया हीनं **करोति** तस्मिन्भृतके भृतिदानं प्रति **स्वामिनश्छन्द** इच्छा **भवेत्** यावदिच्छति तावद्दद्यान्न पुनः सर्वामेव भृतिमित्यर्थः । यदा पुनर्देशकालाभिज्ञतयाऽ**धिको लाभः कृत**स्तदा पूर्वपरिच्छन्नाय भृते**रधिकमपि धनं** स्वामिना भृत्याय **दातव्यम्** ॥ १९५ ॥

जो भृत्य देश और काल का अतिक्रमण कर लाभ या हानि करावे वहाँ हानि होने पर तो स्वामी की इच्छा है कि (वेतन में उसे काटे या न होने पर) लाभ होने पर अधिक दे ॥ १९५ ॥

अनेकभृत्यसाध्यकर्मणि भृतिदानप्रकारमाह—

यो यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम् ।
उभयोरप्यसाध्यं चेत्साध्ये कुर्याद्यथाश्रुतम् ॥ १९६ ॥

यदा पुनरेकमेव कर्म नियतवेतनमुभाभ्यां क्रियमाणं उभयोरप्यसाध्यं चेद्व्याध्याद्यभिभवादुभाभ्यामपिशब्दाद्बहुभिरपि यदि न परिसमापितं तदा यो भृत्यो **यावत्कर्म करोति, तावत्तस्मै** तत्कृतकर्मानुसारेण मध्यस्थकल्पितं **वेतनं देयं,** न पुनः समम् । नचावयवशः कर्मणि वेतनस्यापरिभाषितत्वाददानमिति मन्तव्यम् । साध्ये तूभाभ्यां कर्मणि निर्वर्तिते यथाश्रुतं यावत्परिभाषितं तावदुभाभ्यां देयं, न पुनः प्रत्येकं कृत्स्नं वेतनं, नापि कर्मानुरूपं परिकल्प्य देयम् १९६

यदि एक ही कार्य दो (अधिक व्यक्तियों) द्वारा किया जा रहा हो और (रोगाद के कारण) संपन्न न हुआ हो तो जितना जिसने कार्य किया है उतना वेतन उसे दिया जाय और कार्य पूर्ण होने पर जैसा वेतन निश्चित किया गया हो उतना दिया जाय (कर्मानुरूप न दिया जाय) ॥ १९६ ॥

आयुधीयभारवाहकौ प्रत्याह—

अराजदैविकं नष्टं भाण्डं दाप्यस्तु वाहकः ।
प्रस्थानविघ्नकृच्चैव प्रदाप्यो द्विगुणां भृतिम् ॥ १९७ ॥

न विद्यते **राजदैविकं** यस्य भाण्डस्य तत्तथोक्तम्। तद्यदि प्रज्ञाहीनतया वाहकेन **नाशितं** तदा नाशानुसारेणासौ **तद्भाण्डं दापनीयः**। तदाह नारदः (६।९)—'भाण्डं व्यसनमागच्छेद्यदि वाहकदोषतः। दाप्यो यत्तत्र नश्येत्तु दैवराजकृतादृते॥' इति। यः पुनर्विवाहाद्यर्थं मङ्गलवति वासरे प्रतिष्ठमानस्य तत्प्रस्थानौपयिकं कर्म प्रागङ्गीकृत्य तदानीं 'न करिष्यामि' इति प्रस्थानविघ्नमाचरति तदासौ द्विगुणां भृतिं दाप्यः। अत्यन्तोत्कर्षहेतुकर्मनिरोधात्॥ १९७॥

जिस वाहक से बिना राजा और दैव के उपद्रव के भाण्ड नष्ट हो जाय. उससे भाण्ड दिलावे। (मङ्गलकार्य के) प्रस्थान में जो विघ्न करे (अर्थात् पहले स्वीकार कर फिर समय पर न जाय) उससे वेतन का दूना धन (दण्ड) दिलावे ॥ १९७ ॥

प्रक्रान्ते सप्तमं भागं चतुर्थं पथि संत्यजन्।
भृतिमर्धपथे सर्वां प्रदाप्यस्त्याजकोऽपि च॥ १९८॥

किंच,—**प्रक्रान्ते** अध्यवसिते प्रस्थाने स्वाङ्गीकृतं कर्म यस्त्यजति, असौ भृतेः **सप्तमं भागं दाप्यः**। नन्वत्रैव विषये 'प्रस्थानविघ्नकृत्' (व्य० १९७) इत्यादिना द्विगुणभृतिदानमुक्तं, इदानीं सप्तमो भाग इति विरोधः। उच्यते,—भृत्यन्तरोपादानावसरसंभवे स्वाङ्गीकृतं कर्म यस्त्यजति तस्य सप्तमो विभागः। यस्तु प्रस्थानलग्नसमय एव त्यजति, तस्य द्विगुणभृतिदानमित्यविरोधः। यः पुनः **पथि प्रक्रान्ते** गमने वर्तमाने सति **कर्म त्यजति**, स **भृतेश्चतुर्थं भागं दाप्यः**। **अर्धपथे** पुनः **सर्वां भृतिं दाप्यः**। यस्तु **त्याजकः** कर्मात्यजन्तं त्याजयति स्वामी पूर्वोक्तप्रदेशेष्वसावपि पूर्वोक्तसप्तमभागादिकं **भृत्याय दापनीयः**; एतच्चाव्याधितादिविषयम्। 'भृत्योऽनार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोचितम्। स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं तस्य वेतनम्॥' (८।२१५)—इति मनुवचनात्। यदा पुनर्व्याधावपगतेऽन्तरितदिवसान्परिगणय्य पूरयति, तदा लभत एव वेतनम्। 'आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथाभाषितमादितः। स दीर्घस्यापि कालस्य स्वं लभेतैव वेतनम्॥' (८।२१६) इति मनुस्मरणात्॥ यस्त्वपगतव्याधिः स्वस्थ एवालस्यादिना स्वारब्धं कर्माल्पोनं न करोति, परेण वा न समापयति, तस्मै वेतनं न देयमिति। यथाह मनुः (८।२१७)—'यथोक्तमार्तः स्वस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्। न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः॥' इति॥ १९८॥

प्रस्थान प्रारम्भ होने पर जो (स्वीकृत) काम छोड़ दे उससे मजदूरी का सातवाँ भाग दण्ड में दिलावे, जो मार्ग में छोड़े उससे चौथा भाग दिलावे, जो आधे मार्ग में छोड़े उससे पूरी मजदूरी दिलावे और जो उससे काम छुड़वाता है उस मालिक से भी पूरी मजदूरी भृत्य को दिलवाये ॥ १९८ ॥

इति वेतनादानप्रकरणम्।

अथ द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् १७

अधुना द्यूतसमाह्वयाख्यं विवादपदमधिक्रियते; तत्स्वरूपं नारदेनाभिहितम् (१६।१)—'अक्षवध्रशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम् । पणक्रीडावयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम् ॥ इति । अक्षाः पाशकाः, बध्रश्चर्मपट्टिका, शलाका दन्तादिमय्यो दीर्घचतुरस्राः, 'आद्य'ग्रहणाच्च तुरङ्गादिक्रीडासाधनं करितुरङ्गरथादिकं गृह्यते । तैरप्राणिभिर्यद्देवनं क्रीडा पणपूर्विका क्रियते । तथा वयोभिः पक्षिभिः कुक्कुटपारावतादिभिः 'च'शब्दान्मल्लमेषमहिषादिभिश्च प्राणिभिर्या पणपूर्विका क्रीडा क्रियते, तदुभयं यथाक्रमेण द्यूतसमाह्वयाख्यं विवादपदम् । द्यूतं च समाह्वयश्च द्यूतसमाह्वयम् । तदुक्तं मनुना (९।२२३)—'अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियमाणस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥' इति ॥

तत्र द्यूतसभाधिकारिणो वृत्तिमाह—

ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम् ।
गृह्णीयाद्धूर्तकितवादितराद्दशकं शतम् ॥ १९९ ॥

परस्परसंप्रतिपत्त्या कितवपरिकल्पितः पणो ग्लह इत्युच्यते । तत्र ग्लहे तदाश्रया शतिका शतपरिमिता तदधिकपरिमाणा वा वृद्धिर्यस्यासौ **शतिकवृद्धिः**, तस्माद्धूर्तकितवात्पञ्चकं शतमात्मवृत्त्यर्थं **सभिको गृह्णीयात्** । पञ्चपणा आयो यस्मिन् शते तत् **पञ्चकं शतम्** । 'तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभ–' (पा० ५।१।४७) इत्यादिना कन् । जितग्लहस्य विंशतितमं भागं गृह्णीयादित्यर्थः । सभा कितवनिवासार्था यस्यास्त्यसौ सभिकः । कल्पिताक्षादिनिखिलक्रीडोपकरणस्तदुपचितद्रव्योपजीवी सभापतिरुच्यते । **इतरस्मात्**पुनरपि पूर्णशतिकवृद्धेः कितवा**द्दशकं शतं** जितद्रव्यस्य दशमं भागं गृह्णीयादिति यावत् ॥ १९९ ॥

जुए में सभिक (जुआ खिलाने वाला) सौ की वृद्धि होने पर धूर्त जुआरी से पाँच ले। अन्य से दश प्रतिशत ले ॥ १९९ ॥

एवं क्लृप्तवृत्तिना सभिकेन किं कर्तव्यमित्याह—

स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम् ।
जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी ॥ २०० ॥

य एवं क्लृप्तवृत्तिर्द्यूताधिकारी स राज्ञा धूर्तकितवेभ्यो **रक्षितस्तस्मै राज्ञे यथा संप्रतिपन्नमंशं दद्यात्** ; तथा **जितं** यद्द्रव्यं **तदुद्ग्राहयेत्** बन्धकग्रहणेनासेधादिना च पराजितसकाशादुद्धरेत् । उद्धृत्य च तद्धनं **जेत्रे** जयिने सभिको दद्यात् । तथा **क्षमी** भूत्वा **सत्यं वचो** विश्वासार्थं द्यूतकारिणां **दद्यात्** । तदुक्तं नारदेन (१६।२)—'सभिकः कारयेद्द्यूतं देयं दद्याच्च तत्कृतम्' इति ॥ २०० ॥

वह सभिक (जुआ खिलाने वाला) राजा से सम्यक् रक्षित होने पर राजा को यथोचित भाग दे । जीते हुये धन को हारे हुये से निकाल कर जीतने वाले को दिलावे। स्वयं क्षमाशील होकर अन्य लोगों से सत्य वचन कहे ॥ २०० ॥

यदा पुनः सभिको दापयितुं न शक्नोति, तदा राजा दापयेदित्याह—

प्राप्ते नृपतिना भागे प्रसिद्धे धूर्तमण्डले ।
जितं ससभिके स्थाने दापयेदन्यथा न तु ॥ २०१ ॥

प्रसिद्धे अप्रच्छन्ने राजाध्यक्षसमन्विते **ससभिके** सभिकसहिते कितवसमाजे सभिकेन च राजभागे दत्ते राजा **धूर्त**कितवमविप्रतिपन्नं **जितं** पणं **दापयेत्। अन्यथा** प्रच्छन्ने सभिकरहिते अदत्तराजभागे द्यूते जितपणं जेत्रे **न दापयेत्** ॥ २०१ ॥

राजा अपना अंश प्राप्त करने पर ज्ञात जुआरियों के समूह में सभिक के निरीक्षण में जीता हुआ धन जीतने वाले को दिलावे। अन्यथा (संरक्षित समूह न होने पर) न दिलावे ॥ २०१ ॥

जयपराजयविप्रतिपत्तौ निर्णयोपायमाह—

द्रष्टारो व्यवहाराणां साक्षिणश्च त एव हि ।

द्यूतव्यवहाराणां द्रष्टारः सभ्यास्त एव कितवा एव राज्ञा नियोक्तव्याः; न तत्र 'श्रुताध्ययनसंपन्ना' (.व्य० २) इत्यादिर्नियमोऽस्ति। **साक्षिणश्च** द्यूते **द्यूतकारा एव कार्याः**; न तत्र 'स्त्रीबालवृद्धकितव–' (व्य० ७०) इत्यादिनिषेधोऽस्ति ॥–

वे (जुआ खेलने वाले ही जुए के) नियम द्रष्टा तथा साक्षी होते हैं ॥२०१$\frac{१}{२}$ ॥

क्वचिद्द्यूतं निषेद्धुं दण्डमाह—

राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः कूटाक्षोपधिदेविनः ॥ २०२ ॥

कूटैरक्षादिभिरुपधिना च मतिवञ्चनहेतुना मणिमन्त्रौषधादिना **ये दीव्यन्ति तान्** श्वपदादिनाऽङ्कयित्वा **राजा** स्वराष्ट्रान्निर्वासयेत् । नारदेन तु निर्वासने विशेष उक्तः (१६।६)—'कूटाक्षदेविनः पापान् राजा राष्ट्राद्विवासयेत्। कण्ठेऽक्षमालामासज्य स ह्येषां विनयः स्मृतः ॥' इति । यानि च मनुवचनानि द्यूतनिषेधपराणि (मनुः ९।२२४)—'द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात् कारयेत वा । तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गितः ॥' इत्यादीनि, तान्यपि कूटाक्षदेवनविषयतया राजाध्यक्षसभिकरहितद्यूतविषयतया च योज्यानि ॥२०२॥

कपटपूर्ण पाशे से खेलने वाले जुआरी लोगों को राजा चिह्नित कर (दाग कर) राज्य से बाहर निकाल दे ॥ २०२ ॥

द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात् ।

किंच, यत्पूर्वोक्तं द्यूतं तदेकमुखं एकं मुखं प्रधानं यस्य द्यूतस्य तत्तथोक्तं **कार्यम्**, राजाध्यक्षाधिष्ठितं राज्ञा कारयितव्यमित्यर्थः; **तस्करज्ञानकारणात्** । तस्करज्ञानरूपं प्रयोजनं पर्यालोच्य प्रायशश्चौर्यार्जितधना एव कितवा भवन्ति, अतश्चौरविज्ञानार्थमेकमुखं कार्यम् ॥—

चोरों की पहचान के निमित्त द्यूत को एक प्रधान व्यक्ति (राजा द्वारा) नियुक्त कर खेलना चाहिये ॥ २०२$\frac{१}{२}$ ॥

द्यूतधर्मं समाह्वयेऽतिदिशन्नाह—

एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिद्यूते समाह्वये ॥ २०३ ॥

'ग्लहे शतिकवृद्धेः' (व्य० १९९) इत्यादिना यो द्यूतधर्म उक्तः, **स एव प्राणिद्यूते** मल्लमेषमहिषादिनिर्वर्त्ये **समाह्वयसंज्ञके ज्ञातव्यः** ॥ २०३ ॥

प्राणियों (पहलवानों, भेड़े, भैसा, मुर्गा आदि) के द्यूत में भी यही (पूर्वोक्त शतिक वृद्धि) वाला नियम होता है ॥ २०३ ॥

इति द्यूतसमाह्वयाख्यं प्रकरणम् ।

अथ वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८

इदानीं वाक्पारुष्यं प्रस्तूयते; तल्लक्षणं चोक्तं नारदेन (१५।१)—'देशजातिकुलादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥' इति । देशादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । उच्चैर्भाषणमाक्रोशः, न्यङ्गमवद्यं तदुभययुक्तं यत्प्रतिकूलार्थमुद्वेगजननार्थं वाक्यं तद्वाक्पारुष्यं कथ्यते । तत्र 'कलहप्रियाः खलु गौडाः' इति देशाक्रोशः । 'नितान्तं लोलुपाः खलु विप्राः' इति जात्याक्रोशः । 'क्रूरचरिता ननु वैश्वामित्राः' इति कुलाक्षेपः । आदिग्रहणात्स्वविद्याशिल्पादिनिन्दया विद्वच्छिल्पादिपुरुषाक्षेपो गृह्यते । तस्य च दण्डतारतम्यार्थं निष्ठुरादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तेनैवोक्तम् (१५।२)—'निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वादपि तत्त्रिविधं स्मृतम् । गौरवानुक्रमात्तस्य दण्डोऽपि स्यात्क्रमाद्गुरुः ॥ साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलं न्यङ्गसंयुतम् । पतनीयैरुपाक्रोशैस्तीव्रमाहुर्मनीषिणः ॥' इति । तत्र धिङ्मूर्ख जाल्ममित्यादि साक्षेपम् । अत्र न्यङ्गमित्यसभ्यम् । अवद्यं भगिन्यादिगमनं तद्युक्तमश्लीलम् । सुरापोऽसीत्यादिमहापातकाद्याक्रोशैर्युक्तं वचस्तीव्रम् ॥

तत्र निष्ठुराक्रोशे सवर्णविषये दण्डमाह—

सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनाङ्गेन्द्रियरोगिणाम् ।
क्षेपं करोति चेद्दण्ड्यः पणानर्धत्रयोदशान् ॥ २०४ ॥

न्यूनाङ्गाः करचरणादिविकलाः, **न्यूनेन्द्रिया** नेत्रश्रोत्रादिरहिताः, **रोगिणो** दुश्चर्मप्रभृतयः, तेषां सत्येनासत्येनान्यथास्तोत्रेण च निन्दार्थया **स्तुत्या।** यत्र नेत्रयुगलहीन एषोऽन्ध इत्युच्यते **तत्सत्यम्** । यत्र पुनश्च क्षुष्मानेवान्ध इत्युच्यते **तदसत्यम्** । यत्र विकृताकृतिरेव दर्शनीयस्त्वमसीत्युच्यते **तदन्यथास्तोत्रम्** । एवंविधैर्यः **क्षेपं** निर्भर्त्सनं **करोत्यसौ अर्धाधिकत्रयोदशपणान्दण्डनीयः** । (मनुः ८।२७४)—'काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम् । तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥' इति यन्मनुवचनं, तदतिदुर्वृत्तवर्णविषयम् । यदा पुनः पुत्रादयो मात्रादीन् शपन्ति तदा शतं दण्डनीया इति तेनैवोक्तम् । (मनुः ८।२७५)—'मातरं पितरं जायां भ्रातरं श्वशुरं गुरुम् । आक्षारयञ्शतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥' इति । एतच्च सापराधेषु मात्रादिषु गुरुषु निरपराधायां च जायायां द्रष्टव्यम् ॥ २०४ ॥

जो किसी विकलेन्द्रिय (लंगड़ा, लूला इत्यादि) एवं रोगी की सत्य या असत्य या अन्यथा रूप से आक्षेप करे उससे साढे तेरह पण दण्ड लेना चाहिये ॥ २०४ ॥

अश्लीलाक्षेपे दण्डमाह—

अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति हि ।
शपन्तं दापयेद्राजा पञ्चविंशतिकं दमम् ॥ २०५ ॥

'त्वदीयां भगिनीं मातरं वा अभिगन्तास्मि' इति **शपन्तं** अन्यां **वा** 'त्वज्जायामभिगन्ताऽस्मि' इत्येवं **शपन्तं राजा पञ्चविंशतिकं** पणानां पञ्चाधिका विंशतिर्यस्मिन्दण्डे स तथोक्तस्तं **दमं दापयेत्** ॥ २०५ ॥

'तुम्हारी बहन या माँ के पास मैं जाने वाला (जार) हूँ' ऐसी गाली देने वाले को राजा पच्चीस पण दण्ड लगावे ॥ २०५ ॥

एवं समानगुणेषु वर्णिषु दण्डमभिधाय विषमगुणेषु दण्डं प्रतिपादयितुमाह—

अर्धोऽधमेषु द्विगुणः परस्त्रीषूत्तमेषु च ।

अधमेष्वाक्षेप्त्रापेक्षया न्यूनवृत्तादिगुणेष्व**र्धो दण्डः** । पूर्ववाक्ये पञ्चविंशतेः प्रकृतत्वात्तदपेक्षयार्धः सार्धद्वादशपणात्मको द्रष्टव्यः । **परभार्यासु** पुनरविशेषेण **द्विगुणः** पञ्चविंशत्यपेक्षयैव पञ्चाशत्पणात्मको वेदितव्यः । **तथोत्तमेषु च** स्वापेक्षयाधिकश्रुतवृत्तेषु दण्डः पञ्चाशत्पणात्मक एव ॥

(अपने से) अधम स्त्री को गाली देने में आधा दण्ड होता है और उत्तम स्त्री को गाली देने में दूना दण्ड होता है ॥ २०५$\frac{१}{२}$ ॥

वर्णानां मूर्धावसिक्तादीनां च परस्पराक्षेपे दण्डकल्पनामाह—

दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः ॥ २०६ ॥

वर्णा ब्राह्मणादयः, जातयो मूर्धावसिक्ताद्याः । वर्णाश्च जातयश्च वर्णजातयः । उत्तराश्च अधराश्च उत्तराधराः, वर्णजातयश्च ते उत्तराधराश्च वर्णजात्युत्तराधराः, तैः **वर्णजात्युत्तराधरैः** परस्परमाक्षेपे क्रियमाणे **दण्डस्य प्रणयनं** प्रकर्षेण नयनमूहनं **वेदितव्यम्** । तच्च दण्डकल्पनमुत्तराधरैरिति विशेषेणो[१]पादानादुत्तराधरभावापेक्षयैव कर्तव्यमित्यवगम्यते । यथा मूर्धावसिक्तं ब्राह्मणाद्धीनं क्षत्रियादुत्कृष्टं चाक्रुश्य ब्राह्मणः क्षत्रियाक्षेपनिमित्तात्पञ्चाशत्पणदण्डात्किंचिदधिकं पञ्चसप्तत्यात्मकं दण्डमर्हति, क्षत्रियोऽपि तमाक्रुश्य ब्राह्मणाक्षेपनिमित्ताच्छतदण्डा[२]दूनं पञ्चसप्ततिमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्तोऽपि तावाक्रुश्य तमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्ताम्बष्ठयोः परस्पराक्षेपे ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोशनिमित्तकौ यथाक्रमेण दण्डौ वेदितव्यौ । एवमन्यत्राप्यूहनीयम् ॥ २०६ ॥

(राजा को) दण्ड का विधान ऊपर और नीचे की जाति और वर्ण के क्रम से दण्ड प्रवर्तित करना चाहिये ॥ २०६ ॥

एवं स[३]वर्णविषये दण्डमभिधाय वर्णानामेव प्रतिलोमानुलोमाक्षेपे दण्डमाह—

[४]प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः ।
[५]वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः ॥ २०७ ॥

अपवादा अधिक्षेपाः । **प्रातिलोम्येनापवादाः** प्रातिलोम्यापवादाः, तेषु ब्राह्मणाक्रोशकारिणोः क्षत्रियवैश्ययोर्**यथाक्रमेण** पूर्ववाक्याद्द्विगुणपदोपात्तपञ्चाशत्पणापेक्षया **द्विगुणाः** शतपणाः, **त्रिगुणाः** सार्धशतपणा **दण्डा वेदितव्याः** । शूद्रस्य ब्राह्मणाक्रोशे ताडनं जिह्वाच्छेदनं वा भवति; यथाह मनुः (८।२६७)—'शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति । वैश्योऽध्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥' इति, विट्शूद्रयोरपि क्षत्रियादनन्तरैकान्तरयोस्तुल्यन्यायतया शतमध्यर्धशतं च यथाक्रमेण क्षत्रियाक्रोशे वेदितव्यम् । शूद्रस्य वैश्याक्रोशे शतम् । आनुलोम्येन तु वर्णानां क्षत्रियविट्शूद्राणां ब्राह्मणेनाक्रोशे कृते तस्माद्ब्राह्मणाक्रोशनिमित्ताच्छतपरिमितात्क्षत्रियदण्डात्प्रतिवर्णमर्धस्यार्धस्य हानिं कृत्वावशिष्टं पञ्चाशत्पञ्चविं[६]शतिसार्धद्वादशपणात्मकं यथाक्रमं ब्राह्मणो दण्डनीयः । तदुक्तं मनुना (८।२६८)—'पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने । वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥' इति ॥ क्षत्रियेण वैश्ये शूद्रे वाक्रुष्टे यथाक्रमं पञ्चाशत्पञ्चविंशतिकौ दमौ । वैश्यस्य च शूद्राक्रोशे पञ्चाशदित्यूहनीयम्; 'ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्ययोः' (१२।२४) इति गौतमस्मरणात् ।—'विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः' इति (८।२७७) मनुस्मरणाच्च ॥ २०७ ॥

वर्णों की प्रतिलोमता अर्थात् नीचे वर्ण वाले के द्वारा अपवाद लगाने पर क्रमशः दुगुना और तिगुना दण्ड होता है। अनुलोम अर्थात् ऊँचे द्वारा नीचे को अपवाद लगाने पर उससे आधे, आधे की कमी से दण्ड लगता है ॥ २०७ ॥

पुनर्निष्ठुराक्षेपमधिकृत्याह—

बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दमः ।
शत्यस्तदर्धिकः पादनासाकर्णकरादिषु ॥ २०८ ॥

बाह्वादीनां प्रत्येकं विनाशे **वाचिके** वाचा प्रतिपादिते 'तव बाहू छिनद्मि' इत्येवंरूपे **शत्यः** शतपरिमितो **दण्डो वेदितव्यः । पादनासाकर्णकरादिषु** 'आदि'ग्रहणात्स्फिगादिषु वाचिके विनाशे **तदर्धिकः** तस्य शतस्यार्धं तदर्धं तदस्यास्त्यसौ तदर्धिकः, पञ्चाशत्पणिको **दण्डो वेदितव्यः** ॥ २०८ ॥

बाँह, गर्दन, नेत्र, कमर तोड़ने की वाचिक धमकी देने पर सौ पण दण्ड लगता है। पैर, नाक, कान, हाथ आदि की धमकी देने पर उसका आधा अर्थात् पचास पण दण्ड होता है ॥ २०८ ॥

अशक्तस्तु वदन्नेवं दण्डनीयः पणान्दश ।
तथा शक्तः प्रतिभुवं दाप्यः क्षेमाय तस्य तु ॥ २०९ ॥

किंच, यः पुनर्ज्वरादिना **क्षीणशक्तिः** 'त्वद्बाह्वाद्यङ्गभङ्गं करोमि' इत्येवं **शपत्यसौ दश पणान्दण्डनीयः** । यः पुनः **समर्थः** क्षीणशक्तिं पूर्ववदाक्षिपत्यसौ पूर्वोक्तशतादिदण्डोत्तरकालं **तस्याशक्तस्य क्षेमार्थं प्रतिभुवं दापनीयः** ॥ २०९ ॥

यदि दुर्बल व्यक्ति (रोगी आदि) ऐसा वचन कहता है तो उससे दश पण दण्ड ले और शक्तिशाली ऐसा कहता है तो (उससे पूर्वोक्त सौ पण दण्ड लेकर) उससे (ऐसा न करने के लिये) जमानतदार भी ले ॥ २०९ ॥

तीव्राक्रोशे दण्डमाह—

पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः ।
उपपातकयुक्ते तु दाप्यः प्रथमसाहसम् ॥ २१० ॥

पातित्यहेतुभिर्ब्रह्महत्यादिभिर्वर्णिनामाक्षेपे कृते मध्यमसाहसं दण्डः । **उपपातकसंयुक्ते** पुनः 'गोघ्नस्त्वमसि' इत्येवमादिरूपे क्षेपे **प्रथमसाहसं दण्डनीयः** ॥ २१० ॥

(ब्रह्महत्यादि) पतित कराने वाले आक्षेप लगाने पर मध्यम साहस का दण्ड लगावे और (गोहत्यादि) उपपातक का आक्षेप करने पर प्रथम (अर्थात् अधम) साहस का दण्ड लगावे ॥ २१० ॥

त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः ।
मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः ॥ २११ ॥

किंच, **त्रैविद्याः** वेदत्रयसंपन्नास्तेषां **राज्ञां देवानां** च **क्षेपे उत्तमसाहसो** दण्डः । ये पुनर्ब्राह्मणमूर्धावसिक्तादिजातीनां **पूगाः** संघास्तेषामाक्षेपे **मध्यम**साहसो **दण्डः । ग्रामदेशयोः** प्रत्येकमाक्षेपे **प्रथमसाहसो** दण्डो **वेदितव्यः** ॥ २११ ॥

तीनों वेदों के विद्वानों, राजा और देवता पर आक्षेप करने वाले पर उत्तम साहस का दण्ड लगावे । जाति और समूह पर आक्षेप करने वाले से मध्यम साहस का दण्ड ले और ग्राम और देश पर आक्षेप करने वाले से अधम साहस का दण्ड ले ॥ २११ ॥

इति वाक्पारुष्यं नाम विवादपदप्रकरणम् ।

अथ दण्डपारुष्यप्रकरणम् १९

संप्रति दण्डपारुष्यं प्रस्तूयते, तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (१५।४)—'परगात्रेष्वभिद्रोहे हस्तपादायुधादिभिः । भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते ॥' इति । परगात्रेषु स्थावरजङ्गमात्मकद्रव्येषु हस्तपादायुधैरादिग्रहणाद्ग्रावादिभिर्योऽभिद्रोहो हिंसनं दुःखोत्पादनं तथा भस्मना आदिग्रहणाद्रजः पङ्कपुरीषाद्यैश्च य उपघातः संस्पर्शनरूपं मनोदुःखोत्पादनं तदुभयं दण्डपारुष्यम् । दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो देयः, तेन यत्पारुष्यं विरुद्धाचरणं जङ्गमादेर्द्रव्यस्य तद्दण्डपारुष्यम् । तस्य चावगोरणादिकारणभेदेन त्रैविध्यमभिधाय हीनमध्यमोत्तमद्रव्यरूपकर्मत्रैविध्यात्पुनस्त्रैविध्यं तेनैवोक्तम् (१५।५-६)—'तस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात् । अवगोरणनिःसङ्गपातनक्षतदर्शनैः ॥ हीनमध्योत्तमानां च द्रव्याणां समतिक्रमात् । त्रीण्येव साहसान्याहुस्तत्र कण्टकशोधनम् ॥' इति । निःसङ्गपातनं निःशङ्कप्रहरणम् । त्रीण्येव साहसानि त्रिप्रकाराण्येव । सहसा कृतानि दण्डपारुष्याणीत्यर्थः । तथा वाग्दण्डपारुष्ययोरुभयोरपि द्वयोः प्रवृत्तकलहयोर्मध्ये यः क्षमते न केवलं तस्य दण्डाभावः, किंतु पूज्य एव । तथा पूर्वं कलहे प्रवृत्तस्य दण्डगुरुत्वम् । कलहे च बद्धवैरानुसन्धातुरेव दण्डभाक्त्वम् । तथा तयोर्द्वयोरपराधविशेषापरि-

ज्ञाने दण्डः समः। तथा श्वपचादिभिरार्याणामपराधे कृते सज्जना एव दण्डदापनेऽधिकारिणः, तेषामशक्यत्वे तान् राजा घातयेदेव; नार्थं गृह्णीयादित्येवं पञ्च प्रकारा विधयस्तेनैवोक्ताः (ना० १५।७)—'विधिः पञ्चविधस्तूक्त एतयोरुभयोरपि। पारुष्ये सति संरम्भादुत्पन्ने क्रुद्धयोर्द्वयोः॥ स मन्यते यः क्षमते दण्डभाग्योऽतिवर्तते। पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक्॥ पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो गुरुः। द्वयोरापन्नयोस्तुल्यमनुबध्नाति यः पुनः॥ स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वो वा यदि वेतरः। पारुष्यदोषावृतयोर्युगपत्संप्रवृत्तयोः॥ विशेषश्चेन्न लक्ष्येत विनयः स्यात्समस्तयोः। श्वपाकषण्डचण्डालव्यङ्गेषु वधवृत्तिषु॥ हस्तिपव्रात्यदासेषु गुर्वाचार्यनृपेषु च। मर्यादातिक्रमे सद्यो घात एवानुशासनम्॥ यमेव ह्यतिवर्तेरन्नेते सन्तं जनं नृषु। स एव विनयं कुर्यान्नूनं विनयभाङ्नृपः॥ मला ह्येते मनुष्याणां धनमेषां मलात्मकम्। अतस्तान्घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत्॥' (१५।९, १०, ११-१४) इति॥

एवंभूतदण्डपारुष्यनिर्णयपूर्वकत्वाद्दण्डप्रणयनस्य तत्स्वरूपसंदेहे निर्णयहेतुमाह—

[1]असाक्षिकहते चिह्नैर्युक्तिभिश्चागमेन च।
द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृ[2]तो भयात्॥ २१२॥

यदा कश्चित् 'रहस्यहरनेन हतः' इति राज्ञे निवेदयति, तदा चि[3]ह्नैर्वर्णादिस्वरूपगतैर्लिङ्गैर्युक्त्या कारणप्रयोजनपर्यालोचनात्मिकया आगमेन जनप्रवादेन 'च'शब्दाद्दिव्येन वा कूटचिह्नकृतसंभावनाभयात्परीक्षा कार्या॥ २१२॥

यदि कोई बिना साक्षी के (एकान्त में) मारे जाने का आरोप लगावे तो (मरने के) चिह्नों, युक्तियों और आगम (जनप्रवाद) आदि से व्यवहार (वाद) का निर्णय करना चाहिये, क्योंकि (ऐसी स्थिति में) जाली चिह्नों की शंका रहती है॥ २१२॥

एवं निश्चिते साधनविशेषेण दण्डविशेषमाह—

भस्मपङ्करजःस्पर्शे दण्डो दशपणः स्मृतः।
अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठ्यूतस्पर्शने द्वि[4]र्गुणस्ततः॥ २१३॥
समेष्वेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च।
हीनेष्वर्धदमो[5] मोहमदादिभिरदण्डनम्॥ २१४॥

भस्मना पङ्केन रेणुना वा यः परं स्पर्शयत्यसौ दशपणं दण्डं दाप्यः। अमेध्यमिति अश्रुश्लेष्मनखकेशकर्णविड्दूषिकाभुक्तोच्छिष्टादिकं च गृह्यते। पार्ष्णिः पादस्य पश्चिमो भागः, निष्ठ्यूतं मुखनिःसारितं जलम्, तैः स्पर्शने

ततः पूर्वाद्दशपणाद्द्विगुणो विंशतिपणो दण्डो वेदितव्यः ॥ पुरीषादिस्पर्शने पुनः कात्यायनेन विशेष उक्तः—'छर्दिमूत्रपुरीषाद्यैरापाद्यः स चतुर्गुणः । षड्गुणः कायमध्ये स्यान्मूर्ध्नि त्वष्टगुणः स्मृतः ॥' इति । 'आद्य'ग्रहणाद्वसाशुक्रासृङ्मज्जानो गृह्यन्ते । एवंभूतः पूर्वोक्तो दण्डः **सवर्णविषये** द्रष्टव्यः । **परभार्यासु** चाविशेषेण । तथोत्तमेषु स्वापेक्षयाऽधिकश्रुतवृत्तेषु पूर्वोक्ताद्दशपणाद्विंशतिपणाच्च दण्डाद्द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः । **हीनेषु** स्वापेक्षया न्यूनवृत्तश्रुतादिषु पूर्वोक्तस्यार्धदमः पञ्चपणो दशपणश्च वेदितव्यः । मोहश्चित्तवैकल्यम्, मदो मद्यपानजन्योऽवस्थाविशेषः । 'आदि'ग्रहणाद्ग्रहावेशादिकम् । एतद्युक्तेन भस्मादिस्पर्शने कृतेऽपि दण्डो न कर्तव्यः ॥ २१३–२१४ ॥

भस्म, कीचड़ और धूल फेंकने पर दश पण का दण्ड होता है। अमेध्य (अश्रु, श्लेष्म, नख, केश, कान की मैल, जूठा) और मुख से निकाले जल का स्पर्श कराने पर दुगुना (बीस पण) दण्ड होता है। यह नियम समान वर्ण पर है। परस्त्री तथा अपने से उत्तम वर्ण पर ये फेंकने पर दूना दण्ड होता है। अपने से हीन वर्ण पर यह फेंकने पर आधा दण्ड होता है। मोह (चित्तवैक्लव्य) और मद (मदपान में) यह दण्ड नहीं होता ॥ २१३-२१४ ॥

प्रातिलोम्यापराधे दण्डमाह—

विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमब्राह्मणस्य तु ।
उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धिकः ॥ २१५ ॥

ब्राह्मणानां **पीडाकरमब्राह्मणस्य** क्षत्रियादेर्यदङ्गं करचरणादिकं तच्छेत्तव्यम् । क्षत्रियवैश्ययोरपि पीडां कुर्वतः शूद्रस्याङ्गच्छेदनमेव । (मनुः ८।२७९) —'येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्छ्रेयांसमन्त्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥' इति । द्विजातिमात्रस्यापराधे शूद्रस्याङ्गच्छेदविधानाद्वैश्यस्यापि क्षत्रियापकारिणोऽयमेव दण्डः; तुल्यन्यायत्वात् । **उद्गूर्णे** वधार्थमुद्यते शस्त्रादिके **प्रथमसाहसो दण्डो** वेदितव्यः । शूद्रस्य पुनरुद्गूर्णेऽपि हस्तादिच्छेदनमेव; (८।२८०)—'पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति' इति मनुस्मरणात् ॥ उद्गूरणार्थं शस्त्रादिस्पर्शने तु **तदर्धिकः** प्रथमसाहसादर्धदण्डो वेदितव्यः ॥ भस्मादिसंस्पर्शे पुनः क्षत्रियवैश्ययोः 'प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमा' (व्य० २०७) इति वाक्पारुष्योक्तन्यायेन कल्प्यम् । शूद्रस्य तत्रापि हस्तच्छेद एव । (८।२८२)—'अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः । अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ २१५ ॥

यदि अब्राह्मण ने ब्राह्मण को पीड़ा दी है तो उसके उस अङ्ग को काट देना चाहिये जिससे उसने ब्राह्मण को पीड़ा दी है (मारने के लिये शस्त्रादि) उठाने पर

प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिये और मारने के लिये (शस्त्रादि) छूने पर उसका आधा दण्ड देना चाहिये ॥ २१५ ॥

एवं प्रातिलोम्यापराधे दण्डमभिधाय पुनः सजातिमधिकृत्याह—

उद्गूर्ण हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ ।
परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसः ॥ २१६ ॥

हस्ते पादे वा ताडनार्थमुद्गूर्णे यथाक्रमं दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । परस्परवधार्थं शस्त्रे उद्गूर्णे सर्वेषां वर्णिनां मध्यमसाहसो दण्डः ॥ २१६ ॥

(समान वर्ण वाले को मारने के लिये) हाथ-पैर उठाने पर दश और बीस पण दण्ड लगाना चाहिये। शस्त्र उठाने पर मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिये ॥ २१६ ॥

पादकेशांशुककरोल्लुञ्चनेषु पणान्दश ।
पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासे शतं दमः ॥ २१७ ॥

किंच, पादकेशवस्त्रकराणामन्यतमं गृहीत्वा य उल्लुञ्चति झटित्याकर्षयति असौ दशपणान्दण्ड्यः । पीडा च कर्षश्चांशुकावेष्टश्च पादाध्यासश्च पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासं तस्मिन्समुच्चिते शतं दण्ड्यः । एतदुक्तं भवति—अंशुकेनावेष्ट्य गाढमापीड्याकृष्य च यः पादेन घट्टयति, तं शतं पणान्दापयेदिति ॥ २१७ ॥

पाद, केश, वस्त्र और हाथ को बलपूर्वक मरोड़ने पर दश पण का दण्ड होता है और पीड़ित करते हुये वस्त्र से बाँध कर पैर से मारने पर सौ पण का दण्ड होजा है ॥ २१७ ॥

शोणितेन विना दुःखं कुर्वन्काष्ठादिभिर्नरः ।
द्वात्रिंशतं पणान्दण्ड्यो द्विगुणं दर्शनेऽसृजः ॥ २१८ ॥

किंच । यः पुनः शोणितं यथा न दृश्यते तथा मृदुताडनं काष्ठलोष्टादिभिः करोत्यसौ द्वात्रिंशतं पणान्दण्ड्यः ॥ यदा पुनर्गाढताडनेन लोहितं दृश्यते तदा द्वात्रिंशतो द्विगुणं चतुःषष्टिपणान्दण्डनीयः । त्वङ्मांसास्थिभेदे पुनर्विशेषो मनुना दर्शितः (८।२८४)—'त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेत्ता च षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥' इति ॥ २१८ ॥

बिना रक्त निकाले काष्ठ आदि से (मारकर) दुःख पहुँचाने पर बत्तीस पण दण्ड होता है। रक्त दिखाई पड़ने पर दुगुना दण्ड होता है ॥ २१८ ॥

करपाददतो[1] भङ्गे छेदने कर्णनासयोः ।
मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे मृतकल्पहते तथा ॥ २१९ ॥

किंच, **करपाददन्तस्य** प्रत्येकंभङ्गे **कर्णनासस्य** च प्रत्येकं **छेदने** रूढव्रणस्योद्भेदने **मृतकल्पो** यथा भवति **तथा हते** ताडिते **मध्यमसाहसो** वेदितव्यः । अनुबन्धादिना विषयस्य साम्यमत्रापादनीयम् ॥ २१९ ॥

हाथ, पैर, और दाँत तोड़ने पर, कान और नाक काटने पर, फोड़ा को फोड़ देने पर तथा मार कर मृत तुल्य कर देने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २१९ ॥

चेष्टाभोजनवाग्रोधे नेत्रादिप्रतिभेदने ।
कन्धराबाहुसक्थ्नां[2] च भङ्गे मध्यमसाहसः[3] ॥ २२० ॥

किंच, **गमनभोजन**भाषणनिरोधे नेत्रस्य 'आदि'ग्रहणाज्जिह्वायाश्च **प्रतिभेदने । कन्धरा** ग्रीवा, **बाहुः** प्रसिद्धः, **सक्थि** ऊरुस्तेषां प्रत्येकं **भञ्जने मध्यमसाहसो** दण्डः ॥ २२० ॥

चेष्टा (संचार), भोजन तथा वाणी रोकने पर, आँख आदि फोड़ने पर, कन्धा, बाहु और जाँघ (कमर) तोड़ने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २२० ॥

एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्ताद्द्विगुणो दमः ।

अपि च, यदा पुनर्**बहवो** मिलिता **एकस्याङ्गभङ्गादिकं कुर्वन्ति, तदा** यस्मिन्यस्मिन् अपराधे यो **यो** दण्ड **उक्तस्तत्र तस्माद्द्विगुणो दण्डः** प्रत्येकं वेदितव्यः । अतिक्रूरत्वात्तेषां प्रातिलोम्यानुलोम्यापराधयोरप्येतस्यैव सवर्णविषयेऽभिहितस्य दण्डजातस्य वाक्पारुष्योक्तक्रमेण हानिं वृद्धिं च कल्पयेत्; 'वाक्पारुष्ये य एवोक्तः प्रतिलोम्यानुलोमतः । स एव दण्डपारुष्ये दाप्यो राज्ञा यथाक्रमम् ॥' इति स्मरणात् ॥—

यदि एक आदमी को बहुत आदमी मिलकर मारें तो जिस अपराध का जो दण्ड है उसका दुगुना दण्ड देना चाहिये ॥ २२०$\frac{१}{२}$ ॥

कलहापहृतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्ततः[6] ॥ २२१ ॥

किंच, **कलहे** वर्तमाने यद्येनापहृतं तत्तेन प्रत्यर्पणीयम् । अपहृतद्रव्याद्द्विगुणश्चापहारनिमित्तो **दण्डो** देयः ॥ २२१ ॥

कलह में छीनी गयी वस्तु को वापस करानी चाहिये तथा उसका दुगुना दण्ड देंना चाहिये ॥ २२१ ॥

दुःखमुत्पादयेद्यस्तु स समुत्थानजं व्ययम् ।
दाप्यो दण्डं च यो यस्मिन्कलहे समुदाहृतः ॥ २२२ ॥

किंच, यो यस्य ताडनाद्दुःखमुत्पादयेत्स तस्य व्रणरोपणादौ औषधार्थं पथ्यार्थं च यो व्ययः क्रियते तं दद्यात् । समुत्थानं व्रणरोपणम् । यस्मिन्कलहे यो दण्डस्तं च दद्यात्, न पुनः समुत्थानजव्ययमात्रम् ॥ २२२ ॥

जो व्यक्ति किसी को (मारपीट कर) कष्ट पहुँचावे वह उस दुःख से (दवा-पथ्यादि में हुये) व्यय को भी दे और जिस कलह में जो दण्ड है उसे दे ॥ २२२ ॥

परगात्राभिद्रोहे दण्डमुक्त्वानन्तरं वहिरङ्गार्थनाशे दण्डमाह—

अभिघाते तथा छेदे भेदे कुड्यावपातने ।
पणान्दाप्यः पञ्च दश विंशतिं तद्व्ययं तथा ॥ २२३ ॥

मुद्गरादिना कुड्यस्याभिघाते विदारणे द्विधाकरणे च यथाक्रमं पञ्चपणो दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । अवपातने पुनः कुड्यस्यैते त्रयो दण्डाः संमुच्चिता ग्राह्याः; पुनः कुड्यसंपादनार्थं च धनं स्वामिने दद्यात् ॥ २२३ ॥

(मुद्गर आदि से) दीवार को विदीर्ण करनें, छेद करने और गिराने पर पाँच, दश और बीस पण दण्ड देना चाहिये और उसके बनाने में जो व्यय हो उसे देना चाहिये ॥ २२३ ॥

दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन्प्राणहरं तथा ।
षोडशाद्यः पणान्दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम् ॥२२४॥

अपि च, परगृहे दुःखजनकं कण्टकादि द्रव्यं प्रक्षिपन्षोडशपणान्दण्ड्यः । प्राणहरं पुनर्विषभुजङ्गादिकं प्रक्षिपन्मध्यमसाहसं दण्ड्यः २२४

(दूसरे के) गृह में कष्टोत्पादक द्रव्य (काँटा आदि) फेंकने पर सोलह पण का दण्ड और प्राणहारी (सर्प, विष आदि) फेंकने पर मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिये ॥ २२४ ॥

पश्वभिद्रोहे दण्डमाह—

दुःखे च शोणितोत्पादे शाखाङ्गच्छेदने तथा ।

दण्डः क्षुद्रपशूनां तु द्विपणप्रभृतिः क्रमात् ॥ २२५ ॥

क्षुद्राणां पशूनां अजाविकहरिणप्रायाणां ताडनेन दुःखोत्पादने **असृक्स्रावणे शाखाङ्गच्छेदने** । 'शाखा'शब्देन चात्र प्राणसंचाररहितं शृङ्गादिकं लक्ष्यते । अङ्गानि करचरणप्रभृतीनि, शाखा चाङ्गं च शाखाङ्गं तस्य छेदने **द्विपणप्रभृतिर्दण्डः** । द्वौ पणौ यस्य दण्डस्य स **द्विपणः** । द्विपणः प्रभृतिरादिर्यस्य दण्डगणस्यासौ द्विपणप्रभृतिः । स च दण्डगणो द्विपणश्चतुःपणः षट्पणोऽष्टपण इत्येवंरूपो न पुनर्द्विपणस्त्रिपणश्चतुष्पणः पञ्चपण इति । कथमिति चेदुच्यते ? अपराधगुरुत्वात्तावत्प्रथमदण्डाद्गुरुतरमुपरितनं दण्डत्रितयमवगम्यते । तत्र चाश्रुतत्रित्वादिसंख्याश्रयणाद्वरं श्रुतिद्विसंख्याया एवाभ्यासाश्रयणेन गुरुत्वसंपादनमिति निरवद्यम् ॥ २२५ ॥

(बकरी, भेड़, हिरन आदि) क्षुद्र पशुओं को मार कर रक्त निकालने तथा निर्जीव अङ्गों (सींग आदि) के काटने पर दो पण, चार पण, छः पण आदि (अपराध की गुरुता के अनुसार) दण्ड होता है ॥ २२५ ॥

लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ मध्यमो मूल्यमेव च ।
महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणो दमः ॥ २२६ ॥

किंच, तेषां क्षुद्रपशूनां **लिङ्गच्छेदने मरणे च मध्यमसाहसो दण्डः** । स्वामिने च **मूल्यं दद्यात्** । **महापशूनां** पुनर्गोगजवाजिप्रभृतीनामेतेषु **स्थानेषु** ताडनलोहितस्रावणादिषु निमित्तेषु पूर्वोक्ताद्दण्डाद्**द्विगुणो दण्डो** वेदितव्यः ॥ २२६ ॥

इन पशुओं के लिङ्ग काटने पर तथा जान से मार देने पर मध्यम साहस का दण्ड तथा इनका मूल्य भी देना पड़ता है। (गाय, बैल, हाथी, घोड़ा आदि) बड़े पशुओं के इन अङ्गों पर चोट पहुँचाने पर या मारने पर दुगुना दण्ड होता है ॥ २२६ ॥

स्थावराभिद्रोहे दण्डमाह—

प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे ।
उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दमः ॥ २२७ ॥

प्ररोहा अङ्कुरास्तद्वन्त्यः शाखाः प्ररोहिण्यः; याश्छिन्नाः पुनरुप्ताः प्रतिकाण्डं प्ररोहन्ति ताः शाखा येषां वटादीनां ते **प्ररोहिशाखिनः**; तेषां **शाखाच्छेदने**, यतो मूलशाखा निर्गच्छन्ति स **स्कन्धः**, तस्य छेदने; **समूलवृक्षच्छेदने** च यथाक्रमं **विंशतिपणदण्डा**दारभ्य पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तरोत्तरो **दण्डो द्विगुणः** । एतदुक्तं भवति—विंशतिपणश्चत्वारिंशत्पणोऽशीतिपण इत्येवं त्रयो दण्डा यथाक्रमं

शाखाच्छेदनादिष्वपराधेषु भवन्तीति । अप्ररोहिशाखिनामप्युपजीव्यवृक्षाणामाम्रादीनां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु पूर्वोक्ता एव दण्डाः, अनुपजीव्याप्ररोहिशाखिषु पुनर्वृक्षेषु कल्प्याः ॥ २२७ ॥

अङ्कुर (कोपल) से युक्त डालों वाले (वट आदि) वृक्षों की शाखा, तना या संपूर्ण वृक्ष काटने पर और (आम्र आदि) जीविकोपयोगी वृक्षों के इन भागों को काटने पर क्रमशः बीस, चालिस, अस्सी पण दण्ड होता है ॥ २२७ ॥

वृक्षविशेषान्प्रत्याह—

चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये ।
जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षे च विश्रुते ॥ २२८ ॥

चैत्यादिषु जातानां वृक्षाणां शाखाच्छेदनादिषु पूर्वोक्ताद्दण्डाद्**द्विगुणः** । **विश्रुते च** पिप्पलपलाशादिके **द्विगुणो** दण्डः ॥ २२८ ॥

चैत्य (चतुष्पथ), श्मशान, सीमा, पवित्रस्थान और देवालय के वृक्षों तथा (पीपल आदि) प्रख्यात वृक्षों के शाखादि को काटने पर (पूर्वोक्त दण्ड) का दुगुना दण्ड होता है ॥ २२८ ॥

गुल्मादीन्प्रत्याह—

गुल्मगुच्छक्षुपलताप्रतानौषधिवीरुधाम् ।
पूर्वस्मृतादर्धदण्डः स्थानेषूक्तेषु कर्तने ॥ २२९ ॥

गुल्मा अनतिदीर्घनिविडलता मालत्यादयः, **गुच्छा** अवल्लीरूपाः असरलप्रायाः कुरण्टकादयः, **क्षुपाः** करवीरादयः सरलप्रायाः, **लता** दीर्घयायिन्यो द्राक्षातिमुक्ताप्रभृतयः, **प्रतानाः** काण्डप्ररोहरहिताः सरलयायिन्यः सारिवाप्रभृतयः, **ओषध्यः** फलपाकावसानाः शालिप्रभृतयः, **वीरुधः** छिन्ना अपि या विविधं प्ररोहन्ति ताः गुडूचीप्रभृतयः, एतेषां **पूर्वोक्तेषु स्थानेषु विकर्तने** छेदने पूर्वोक्ताद्दण्डादर्धदण्डो वेदितव्यः ॥ २२९ ॥

पूर्वोक्त स्थानों के गुल्म (मालती आदि छोटी परन्तु घनी लतायें), गुच्छ (टेढी कुरण्ट आदि), क्षुप (करवीर आदि सीधी), लता (दीर्घ विस्तार वाली द्राक्षा आदि), प्रतान (काण्डप्ररोह-विहीन सीधी बढ़ने वाली सारिवा आदि), ओषधि (फल के पक जाने पर नष्ट होने वाले धान आदि), वीरुध (काटने पर भी बढ़ने वाले गुडूची आदि) के काटने पर उपर्युक्त दण्ड का आधा दण्ड होता है ॥ २२९ ॥

इति दण्डपारुष्यप्रकरणम् ।

अथ साहसप्रकरणम् २०

संप्रति साहसं नाम विवादपदं व्याचिख्यासुस्तल्लक्षणं तावदाह—

सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं स्मृतम् ।

सामान्यस्य साधारणस्य यथेष्टविनियोगानर्हत्वाविशेषेण परकीयस्य **द्रव्यस्यापहरणं साहसम्** । कुतः ? **प्रसभहरणात्** प्रसह्य हरणात्, बलावष्टम्भेन हरणादिति यावत् ॥ एतदुक्तं भवति—राजदण्डं जनाक्रोशं चोल्लङ्घ्य राजपुरुषेतरजनसमक्षं यत्किंचिन्मारणहरणपरदारप्रधर्षणादिकं क्रियते तत्सर्वं साहसमिति साहसलक्षणम् । अतः साधारणधनपरधनयोर्हरणस्यापि बलावष्टम्भेन क्रियमाणत्वात्साहसत्वमिति । नारदेनापि साहसस्य स्वरूपं विवृतम् (२।१४)—'सहसा क्रियते कर्म यत्किंचिद्बलदर्पितैः । तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते ॥' इति । तदिदं साहसं चौर्यवाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणेषु व्यासक्तमपि बलदर्पावष्टम्भोपाधितो भिद्यते इति दण्डातिरेकार्थं पृथगभिधानम् । तस्य च दण्डवैचित्र्यप्रतिपादनार्थं प्रथमादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तेनैव विवृतम् (१४।३-९)—'तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तथा । उत्तमं चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥ फलमूलोदकादीनां क्षेत्रोपकरणस्य च । भङ्गाक्षेपोपमर्दाद्यैः प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥ वासःपश्वन्नपानानां गृहोपकरणस्य च । एतेनैव प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥ व्यापादो विषशस्त्राद्यैः परदाराभिमर्शनम् । प्राणोपरोधि यच्चान्यदुक्तमुत्तमसाहसम् ॥ तस्य दण्डः क्रियाक्षेपः प्रथमस्य शतावरः । मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैर्दृष्टः पञ्चशतावरः ॥ उत्तमे साहसे दण्डः सहस्रावर इष्यते । वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने । तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे ॥' इति ॥ वधादयश्चापराधतारतम्यादुत्तमसाहसे समस्ता व्यस्ता वा योज्याः ॥

सामान्य वस्तु के बलपूर्वक हरण करने को साहस कहते हैं ॥ २२९$\frac{१}{२}$ ॥

तत्र परद्रव्यापहरणरूपे साहसे दण्डमाह—

तन्मूल्याद्द्विगुणो दण्डो निह्नवे तु चतुर्गुणः ॥ २३० ॥

तस्यापहृतद्रव्यस्य मूल्यात् द्विगुणो दण्डः । यः पुनः साहसं कृत्वा 'नाहमकार्षम्' इति **निह्नुते** तस्य मूल्याच्चतुर्गुणो **दण्डो** भवति । एतस्मादेव विशेषदण्डविधानात्प्रथमसाहसादिसामान्यदण्डविधानमपहारव्यतिरिक्तविषयं गम्यते ॥ २३० ॥

उसके लिये उस वस्तु के मूल्य का दूना दण्ड होता है और अपराध स्वीकार न करने पर चौगुना दण्ड होता है ॥ २३० ॥

साहसिकस्य प्रयोजयितारं प्रत्याह—

यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम् ।
यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम् ॥ २३१ ॥

यस्तु 'साहसं कुरु[२]' इत्येवमुक्त्वा कारयत्यसौ साहसिकाद्दण्डाद्द्विगुणं दण्डं दाप्यः। यः पुनः 'अहं तुभ्यं धनं दास्यामि, त्वं कुरु' इत्येवमुक्त्वा साहसं कारयति स चतुर्गुणं दण्डं दाप्योऽनुबन्धातिशयात् ॥ २३१ ॥

जो साहस कराता है उससे साहसिक के दण्ड का दूना दण्ड लेना चाहिये और जो यह कह कर कि 'तुम करो, जो लगेगा उसे मैं दूँगा', साहस कराता है उससे चौगुना दण्ड लेना चाहिये ॥ २३१ ॥

साहसिकविशेषं प्रत्याह—

[१]अर्घ्याक्षेपातिक्रमकृद्भ्रातृभार्याप्रहारकः।
संदिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकृत् ॥ २३२ ॥
सामन्तकुलिकादीनामपकारस्य कारकः।
पञ्चाशत्पणिको दण्ड एषामिति विनिश्चयः ॥ २३३ ॥

अर्घ्यस्यार्घार्हस्याचार्यादेराक्षेपमाज्ञातिक्रमं च यः करोति, यश्च भ्रातृभार्यां ताडयति तथा संदिष्टस्य प्रतिश्रुतस्यार्थस्याप्रदाता यश्च मुद्रितं गृहमुद्घाटयति तथा स्वगृहे क्षेत्रादिसंसक्तगृहक्षेत्रादिस्वामिनां कुलिकानां स्वकुलोद्भवानां 'आदि' ग्रहणात् स्वग्राम्यस्वदेशीयानां च योऽपकर्ता, ते सर्वे पञ्चाशत्पणपरिमितेन दण्डेन दण्डनीयाः ॥ २३२–२३३ ॥

अर्घ के पात्र (आचार्य, राजा, वर आदि) की निन्दा करने वाले तथा उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले, भाई की स्त्री पर प्रहार करने वाले, संदेश को न पहुँचाने वाले (या प्रतिज्ञा किये पदार्थ को न देने वाले), बन्द घर को खोलने या तोड़ने वाले, सटे हुये घर वाले तथा कुटुम्ब वाले का अपकार करने वाले— इन सबसे पचास पण दण्ड लेना चाहिये—यह नियम है ॥ २३२-२३७ ॥

स्वच्छन्दविधवागामी विक्रुष्टेऽनभिधावकः।
अकारणे च विक्रोष्टा चण्डालश्चोत्तमान्स्पृशेत् ॥ २३४ ॥
[३]शूद्रप्रव्रजितानां च दैवे पित्र्ये च भोजकः।
अयुक्तं शपथं कुर्वन्नयोग्यो योग्यकर्मकृत् ॥ २३५ ॥
वृषक्षुद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत्।
साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकृत् ॥ २३६ ॥
[४]पितृपुत्रस्वसृभ्रातृदम्पत्याचार्यशिष्यकाः।
एषामपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डभाक् ॥ २३७ ॥

किंच, नियोगं विना **यः स्वेच्छया विधवां गच्छति**, चौरादिभयाकुलैर्विक्रुष्टे च यः शक्तोऽपि **नाभिधावति**, यश्च **वृथाक्रोशं करोति**, यश्च **चण्डालो ब्राह्मणादीन्स्पृशति**, यश्च **शूद्रप्रव्रजितान्दिगम्बरादीन्दैवे पित्र्ये च** कर्मणि **भोजयति**, यश्चायुक्तं 'मातरं गमिष्यामि' इत्येवं **शपथं करोति**, तथा यश्च **अयोग्य एव** शूद्रादियोग्यकर्माध्ययनादि **करोति**, **वृषो** बलीवर्दः, **क्षुद्रपशवो**ऽजादयस्तेषां पुंस्त्वस्य प्रजननशक्तेर्विनाशकः, 'वृक्षक्षुद्रपशूनाम्' इति पाठे हिंग्वाद्यौषधप्रयोगेण वृक्षादेः फलप्रसूनानां पातयिता, **साधारणमपलपति** साधारणद्रव्यस्य च वञ्चकः, दासीगर्भस्य च पातयिता, **ये च पित्रादयोऽपतिता** एव सन्तोऽन्योन्यं **त्यजन्ति, ते** सर्वे प्रत्येकं **पणशतं दण्डार्हा भवन्ति** ॥ २३४-२३७ ॥

स्वेच्छाचार से (बिना नियोग के) विधवा के साथ व्यभिचार करने वाला, किसी के आर्तनाद करने पर (शक्ति होते हुये भी) न दौड़ने वाला, बिना कारण के दुःखपूर्ण चिल्लाहट करने वाला और जो चाण्डाल उत्तम वर्ण वालों को स्पर्श करे, शूद्रों और संन्यासियों को पितृश्राद्ध और देवयाग में भोजन कराने वाला, अनुचित शपथ लेने वाला, अपने वर्ण के अनुपयुक्त कर्म को करनें वाला, बैल एवं बकरा आदि छोटे पशुओं को वन्ध्या करने वाला, साधारण वस्तु को भी छिपाने वाला, दासी के गर्भ को गिराने वाला, पिता, पुत्र, भाई, बहन, पति, पत्नी, आचार्य और शिष्य इनके पति होने पर भी एक दूसरे द्वारा त्याग करने वाला- ये सभी सौ पण दण्ड के भागी होते हैं ॥ २३४-२३७ ॥

इति साहसप्रकरणम् ॥

साहसप्रसङ्गात्तत्सदृशापराधेषु निर्णेजकादीनां दण्डमाह—

वसानस्त्रीन्पणान्दण्ड्यो नेजकस्तु परांशुकम् ।
विक्रयावक्रयाधानयाचितेषु पणान्दश ॥ २३८ ॥

नेजको वस्त्रस्य धावकः, स यदि निर्णेजनार्थं समर्पितानि **वासांसि** स्वयमाच्छादयति तदाऽसौ **पणत्रयं** दण्ड्यः । यः पुनस्तानि **विक्रीणीते अवक्रयं** वा 'एतावत्कालमुपभोगार्थं वस्त्रं दीयते, मह्यमेतावद्धनं देयम्' इत्येवं भाटकेन यो ददाति, आधित्वं वा नयति, स्वसुहृद्भ्यो याचितं वा ददात्यसौ प्रत्यपराधं **दशपणान्दण्डनीयः** । तानि च वस्त्राणि श्लक्ष्णशाल्मलीफलके क्षालनीयानि न पाषाणे, नच व्यत्यसनीयानि, नच स्वगृहे वासयितव्यानि; इतरथा दण्ड्यः । (८।३९६)—'शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे निर्ण्याद्वासांसि नेजकः । नच वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ यदा पुनः प्रमादात्तानि नाशयति तदा नारदेनोक्तं द्रष्टव्यम्—'मूल्याष्टभागो हीयेत सकृद्धौतस्य वाससः ।

द्विः पादस्त्रिस्तृतीयांशश्चतुर्धौतेऽर्धमेव च ॥ अर्धक्षयात्तु परतः पादांशापचयः क्रमात् । यावत्क्षीणदशं जीर्णं जीर्णस्यानियमः क्षयः ॥' इति । अष्टपणक्रीतस्य सकृद्धौतस्य वस्त्रस्य नाशितस्याष्टमभागपणोनं मूल्यं देयम् । द्विर्धौतस्य तु पादोनं, त्रिर्धौतस्य पुनस्तृतीयांशन्यूनम् । चतुर्धौतस्यार्धं पणचतुष्टयं देयम् । ततः परं प्रतिनिर्णेजनमवशिष्टं मूल्यं पादपादापचयेन देयम् । यावज्जीर्णं जीर्णस्य पुनर्नाशितस्येच्छातो मूल्यदानकल्पनम् ॥ २३८ ॥

(धोने के लिये दिये गये) दूसरे के वस्त्र को पहनने पर धोबी को तीन पण दण्ड लगता है। बेचने, भाड़े पर देने, बन्धक रखने और मँगनी देने पर दश पण दण्ड लगता है ॥ २३८ ॥

पितापुत्रविरोधे तु साक्षिणां त्रिपणो दमः ।
अन्तरे च तयोर्यः स्यात्तस्याप्यष्टगुणो दमः ॥ २३९ ॥

पितापुत्रयोः कलहे यः साक्ष्यमङ्गीकरोति, न पुनः कलहं निवारयति असौ पणत्रयं दण्ड्यः । यश्च तयोः सपणे विवादे पणदाने प्रतिभूर्भवत्यसौ, चकारात्तयोर्यः कलहं वर्धयति, सोऽपि त्रिपणादष्टगुणं चतुर्विंशतिपणान्दण्डनीयः। दम्पत्यादिष्वयमेव दण्डोऽनुसरणीयः ॥ २३९ ॥

पिता और पुत्र के कलह में (निवारण न कर) साक्षी बनने पर तीन पण दण्ड लगता है और जो उनके बीच में पड़े (शर्त सहित विवाद में शर्त रखने वाला बनकर विवाद बढ़ावे) वह आठ गुना दण्ड का पात्र होता है ॥ २३९ ॥

तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च ।
एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४० ॥

तुला तोलनदण्डः, शासनं पूर्वोक्तम्, मानं प्रस्थद्रोणादि, नाणकं मुद्रादिचिह्नितं द्रम्मनिष्कादि, एतेषां यः कूटकृत् देशप्रसिद्धपरिमाणादन्यथा न्यूनत्वमाधिक्यं वा द्रम्मादेरव्यवहारिकमुद्रात्वं ताम्रादिगर्भत्वं वा करोति, यश्च तैः कूटैर्जानन्नपि व्यवहरति, तावुभौ प्रत्येकमुत्तमसाहसं दण्डनीयौ ॥२४०॥

जो तराजू, शासन, बाटों और सिक्कों में कपट करे वह उत्तम साहस के दण्ड का पात्र होता है ॥ २४० ॥

नाणकपरीक्षिणं प्रत्याह—

अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम् ।
स नाणकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम् ॥ २४१ ॥

यः पुनर्नाणकपरीक्षी **ताम्रादिगर्भमेव** द्रम्मादिकं **सम्यगिति ब्रूते, सम्यक् च कूटकमिति** असावुत्तमसाहसं **दण्ड्यः** ॥ २४१ ॥

सिक्कों का जो परीक्षक असली सिक्कों को नकली कहता है तथा नकली को असली कहता है उसे उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिये ॥ २४१ ॥

चिकित्सकं प्रत्याह—

भिषङ्मिथ्याचरन्दण्ड्यस्तिर्यक्षु प्रथमं दमम् ।
मानुषे मध्यमं राजपुरुषेषूत्तमं दमम् ॥ २४२ ॥

यः पुनर्भिषक् **मिथ्या** आयुर्वेदानभिज्ञ एव जीवनार्थं 'चिकित्सितज्ञोऽहम्' इति **तिर्यङ्मनुष्यराजपुरुषेषु चिकित्सामाचरत्यसौ** यथाक्रमेण प्रथम-**मध्यमोत्तमसाहसान्दण्डनीयः**। तत्रापि तिर्यगादिषु मूल्यविशेषेण वर्णविशेषेण राजप्रत्यासत्तिविशेषेण दण्डस्य लघुगुरुभावः कल्पनीयः ॥ २४२ ॥

जो वैद्य मिथ्या (बिना ज्ञान के 'मैं वैद्य हूँ' इस प्रकार प्रचारित कर पशु, मनुष्य और राजपुरुषों की) चिकित्सा करता है वह पशुओं की चिकित्सा करने पर प्रथम साहस का, मनुष्य की चिकित्सा करने पर मध्यम साहस का और राजपुरुषों की चिकित्सा करने पर उत्तम साहस के दण्ड का भागी होता है ॥ २४२ ॥

अबन्ध्यं यश्च बध्नाति बद्धं यश्च प्रमुञ्चति ।
अप्राप्तव्यवहारं च स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४३ ॥

यः पुनर्बन्धनानर्हमनपराधिनं राजाज्ञया विना **बध्नाति,** यश्च **बद्धं** व्यवहारार्थमाहूतं **अनिर्वृत्तव्यवहारं चोत्सृजति,** असौ **उत्तमसाहसं दाप्यः** ॥ २४३ ॥

जो बिना व्यवहार (मुकदमें के निर्णय के ही) अबन्ध को बाँधता है तथा बद्ध (चौरादि) को छोड़ देता है उसे उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिये ॥ २४३ ॥

मानेन तुलया वापि योंऽशमष्टमकं हरेत् ।
दण्डं स दाप्यो द्विशतं वृद्धौ हानौ च कल्पितम् ॥२४४॥

यः पुनर्वणिक् व्रीहिकार्पासादेः पण्यस्याष्टममंशं कूटमानेन कूटतुलया **वा** अन्यथा वा **परिहरति** असौ पणानां **द्विशतं दण्डनीयः। अपहृतस्य** द्रव्यस्य पुनर्**वृद्धौ हानौ च** दण्डस्यापि वृद्धिर्हानी **कल्प्ये** ॥ २४४ ॥

माप या तौल से (छल द्वारा) जो वस्तु का आठवाँ भाग हरण कर लेता है उसे दो सौ पण दण्ड होता है। हरण किये गये द्रव्य के अधिक या कम होने पर उसी अनुपात में अधिक या कम दण्ड होगा ॥ २४४ ॥

भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु ।
पण्येषु प्रक्षिपन्हीनं पणान्दाप्यस्तु षोडश ॥ २४५ ॥

भेषजमौषधद्रव्यम्, स्नेहो घृतादिः, लवणं प्रसिद्धम्, गन्धद्रव्यमुशीरादि, धान्यगुडौ प्रसिद्धौ, 'आदि'शब्दाद्धिङ्गुमरीचादि, एतेष्वसारं द्रव्यं विक्रयार्थं मिश्रयतः षोडशपणो दण्डः ॥ २४५ ॥

दवा, (घृत आदि) तरल पदार्थ, नमक, गन्ध, धान्य, गुड़ आदि विक्रेय पदार्थों में (लाभार्थ) तुच्छ पदार्थ मिलाने पर सोलह पणों का दण्ड देना चाहिये ॥ २४५ ॥

मृच्चर्ममणिसूत्रायःकाष्ठवल्कलवाससाम् ।
अजातौ जातिकरणे विक्रेया[1]ष्टगुणो दमः ॥ २४६ ॥

किंच, न विद्यते बहुमूल्या जातिर्यस्मिन्मृच्चर्मादिके तदजाति, तस्मिन् जातिकरणे विक्रयार्थं गन्धवर्णरसान्तरसंचारणेन बहुमूल्यजातीयसादृश्यसंपादने, यथा—मल्लिकामोदसंचारेण मृत्तिकायां सुगन्धामलकमिति, मार्जारचर्मणि वर्णोत्कर्षापादनेन व्याघ्रचर्मेति, स्फटिकमणौ वर्णान्तरकरणेन पद्मराग इति, कार्पासिके सूत्रे गुणोत्कर्षाधानेन पट्टसूत्रमिति, [2]कालायसे वर्णोत्कर्षाधानेन रजतमिति, विल्वकाष्ठे चन्दनामोदसंचारेण चन्दनमिति, कङ्कोले त्वगाख्यं लवङ्गमिति, कार्पासिके वाससि गुणोत्कर्षाधानेन कौशेयमिति, विक्रेयस्यापादितसादृश्यमृच्चर्मादेः पण्यस्याष्टगुणो दण्डो वेदितव्यः ॥ २४६ ॥

मिट्टी, चर्म, मणि, सूत, लोहा, काष्ठ, वल्कल, वस्त्र में, अजाति में (उस जाति का न होने पर मिलावट कर) (ऊँची जाति का) कर देने पर विक्री का आठ गुना दण्ड होता है ॥ २४६ ॥

[3]समुद्रपरिवर्तं च सारभाण्डं च कृत्रिमम् ।
आधानं विक्रयं वापि नयतो दण्डकल्पना ॥ २४७ ॥
भिन्ने पणे च[4] पञ्चाशत्पणे तु शतमुच्यते ।
द्विपणे द्विशतो दण्डो मूल्यवृद्धौ च[5] वृद्धिमान् ॥२४८॥

मुद्रः पिधानं, मुद्रेन सह वर्तत इति [3]समुद्रं करण्डकम्, परिवर्तनं व्यत्यासः; योऽन्यदेव मुक्तानां पूर्णं करण्डकं दर्शयित्वा हस्तलाघवेनान्यदेव स्फटिकानां पूर्णं करण्डकं समर्पयति, यश्च सारभाण्डं कस्तूरिकादिकं कृत्रिमं कृत्वा विक्रयमाधिं वा नयति तस्य दण्डकल्पना वक्ष्यमाणा वेदितव्या । कृत्रिमकस्तूरिकादेर्मूल्यभूते पणे [6]भिन्ने न्यूने, न्यूनपणमूल्य इति यावत्; तस्मिन् कृत्रिमे

विक्रीते पञ्चाशत्पणो दण्डः। पणमूल्ये पुनः शतम्। द्विपणमूल्ये द्विशतो दण्ड इत्येवं मूल्यवृद्धौ दण्डवृद्धिरुन्नेया ॥ २४७-२४८ ॥

पात्र में ढ़ँकी वस्तु के (हस्तलाघव से) उलट कर (उसके स्थान दूसरी वस्तु देकर तथा सारभाण्ड (कस्तूरी आदि) कृत्रिम बनाकर जो बेचता या बन्धक रखता है तो इस प्रकार का दण्ड होता है– एक पण से कम मूल्य होने पर पचास पण, एक पण मूल्य होने पर सौ पण, दो पण मूल्य होने पर दो सौ पण दण्ड होता है और मूल्यवृद्धि के अनुसार दण्ड भी बढ़ता जाता है ॥ २४७-२४८ ॥

वणिजः प्रत्याह—

संभूय कुर्वतामर्घं संबाधं कारुशिल्पिनाम् ।
अर्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा जानतो दम उत्तमः ॥ २४९ ॥

राजनिरूपितार्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा जानन्तोऽपि वणिजः संभूय मिलित्वा कारूणां रजकादीनां शिल्पिनां चित्रकारादीनां संबाधं पीडाकरमर्घान्तरं लाभलोभात्कुर्वन्तः पणसहस्रं दण्डनीयाः ॥ २४९ ॥

(राजा द्वारा निर्दिष्ट) मूल्य की ह्रास और वृद्धि को जानते हुये (व्यवसायी परस्पर) मिलकर (लाभ के लिये स्वतः) मूल्य निर्धारित कर कारु (रजक आदि) तथा शिल्पी (चित्रकार आदि) को पीड़ित करे तो उत्तम साहस का दण्ड (एक हजार पण) होता है ॥ २४९ ॥

संभूय वणिजां पण्यमनर्घेणोपरुन्धताम् ।
विक्रीणतां वा विहितो दण्ड उत्तमसाहसः ॥ २५० ॥

किंच, ये पुनर्वणिजो मिलित्वा देशान्तरादागतं पण्यमनर्घेण हीनमूल्येन प्रार्थयमाना उपरुन्धन्ति, महार्घेण वा विक्रीणते तेषामुत्तमसाहसो दण्डो विहितो मन्वादिभिः ॥ २५० ॥

जो व्यवसायी परस्पर मिलकर (देशान्तर से लायी गई) विक्रेय वस्तु कम मूल्य लगाकर विक्रय से रोक देते हैं या अधिक मूल्य से बेचते हैं उन्हें उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिये ॥ २५० ॥

केन पुनरर्घेण पणितव्यमित्यत आह—

राजनि स्थाप्यते योऽर्घः प्रत्यहं तेन विक्रयः ।
क्रयो वा निःस्रवस्तस्माद्वणिजां लाभकृत्स्मृतः ॥२५१॥

राजनि संनिहिते सति यस्तेनार्घः स्थाप्यते निरूप्यते तेनार्घेण प्रतिदिनं

क्रयो विक्रयो वा कार्यः । निर्गतः स्वो **निःस्रवोऽवशेषस्तस्माद्राजनिरूपितार्घाद्यो** निःस्रवः स एव **वणिजां लाभकारी**, न पुनः स्वच्छन्दपरिकल्पितात् । मनुना चार्घकरणे विशेषो दर्शितः (८।४०२)—'पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे मासे तथा गते । कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥' इति ॥ २५१

राजा द्वारा जो निर्धारित मूल्य है उसी पर क्रय या विक्रय होना चाहिये। जो क्रय और विक्रय से बचता है वही व्यापारियों का लाभ है ॥ २५१ ॥

स्वदेशपण्ये तु शतं वणिग्गृह्णीत पञ्चकम् ।
दशकं पारदेश्ये तु यः सद्यःक्रयविक्रयी ॥ २५२ ॥

किंच, स्वदेशप्राप्तं पण्यं गृहीत्वा यो विक्रीणीते असौ **पञ्चकं शतं** पणशते पणपञ्चकं लाभं गृह्णीयात् । **परदेशात्प्राप्ते** पुनः पण्ये शतपणमूल्ये दशपणलाभं गृह्णीयात् । यस्य पणस्य **ग्रहणदिवस एव विक्रयः** संपद्यते । यः पुनः **कालान्तरे विक्रीणीते** तस्य कालोत्कर्षवशाल्लाभोत्कर्षः कल्प्यः । एवं च यथार्घे निरूपिते पणशते पञ्चपणो लाभो भवति तथैवार्घो राज्ञा स्वदेशपण्यविषये स्थापनीयः ॥ २५२ ॥

अपने देश की वस्तु को तत्काल बेचने पर बनिये को पाँच प्रतिशत और परदेशी वस्तु को बेचने पर दश प्रतिशत लाभ मिलना चाहिये ॥ २५२ ॥

पारदेश्यपण्येऽर्घनिरूपणप्रकारमाह—

पण्यस्योपरि संस्थाप्य व्ययं पण्यसमुद्भवम् ।
अर्घोऽनुग्रहकृत्कार्यः क्रेतुर्विक्रेतुरेव च ॥ २५३ ॥

देशान्तरादागते **पण्ये** देशान्तरगमनप्रत्यागमनभाण्डग्रहणशुल्कादिस्थानेषु यावानुपयुक्तोऽर्थस्तावन्तमर्थं **परिगणय्य पण्यमूल्येन** सह मेलयित्वा यथा पणशते दशपणो लाभः संपद्यते तथा **क्रेतृविक्रेत्रोरनुग्रहकार्यर्घो** राज्ञा स्थापनीयः ॥ २५३ ॥

परदेश से लाई गई वस्तु के लाने में हुये खर्च को जोड़कर क्रेता और विक्रेता के हितावह मूल्य को राजा निर्धारित करे ॥ २५३ ॥

इति साहसे प्रासङ्गिकप्रकरणम् ।

अथ विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् २१

प्रासङ्गिकं परिसमाप्याधुना विक्रीयासंप्रदानं प्रक्रमते । तत्स्वरूपं च नारदेनाभिहितम् (८।१)—'विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेतुर्यन्न प्रदीयते । विक्रीयासंप्रदानं

तद्विवादपदमुच्यते ॥' इति । तत्र विक्रेयद्रव्यस्य चराचरभेदेन द्वैविध्यमभिधाय पुनः षड्विधत्वं तेनैव प्रत्यपादि (८।२-३)—'लोकेऽस्मिन्द्विविधं पण्यं जङ्गमं स्थावरं तथा । षड्विधस्तस्य तु बुधैर्दानादानविधिः स्मृतः ॥ गणिमं तुलिमं मेयं क्रियया रूपतः श्रिया ॥' इति गणिमं क्रमुकफलादि, तुलिमं कनककस्तूरीकुङ्कुमादि, मेयं शाल्यादि, क्रियया वाहदोहादिरूपयोपलक्षितमश्वमहिष्यादि । रूपतः पण्याङ्गनादि, श्रिया दीप्त्या मरकतपद्मरागादीति ॥

एतत्षट्प्रकारकमपि पण्यं विक्रीयाऽसंप्रयच्छतो दण्डमाह—

गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव प्रयच्छति ।
सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्लाभं वा दिगागते ॥२५४॥

गृहीतं मूल्यं यस्य पण्यस्य विक्रेत्रा **तद्गृहीतमूल्यं**, तद्यदि विक्रेता प्रार्थयमानाय स्वदेशवणिजे **क्रेत्रे न समर्पयति**, तच्च पण्यं यदि क्रयकाले बहुमूल्यं सत्कालान्तरेऽल्पमूल्येनैव लभ्यते, तदार्घह्रासकृतो य **उदयो** वृद्धिः पण्यस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य तेन **सहितं पण्यं** विक्रेता **क्रेत्रे दापनीयः** । यदा मूल्यह्रासकृतः पण्यस्योपयो नास्ति, किं तु क्रयकाले यावदेवेयतो मूल्यस्येयत्पण्यमिति प्रतिपन्नं तावदेव तदा तत्पण्यमादाय तस्मिन्देशे विक्रीणानस्य यो लाभस्तेनोदयेन सहितं द्विकं त्रिकमित्यादिप्रतिपादितवृद्धिरूपोदयेन वा सहितं क्रेतृवाञ्छावशाद्दापनीयः; यथाह नारदः (८।५)—'अर्घश्चेदवहीयेत सोदयं पण्यमावहेत् । स्थानिनामेष नियमो दिग्लाभं दिग्विचारिणाम् ॥' इति । यदा त्वर्घमहत्त्वेन पण्यस्य न्यूनभावस्तदा तस्मिन्पण्ये वस्त्रगृहादिके य उपभोगस्तदाच्छादनसुखनिवासादिरूपो विक्रेतुस्तत्सहितं पण्यमसौ दाप्यः; यथाह नारदः (८।४)—'विक्रीय पण्यं मूल्येन यः क्रेतुर्न प्रयच्छति । स्थावरस्य क्षयं दाप्यो जङ्गमस्य क्रियाफलम् ॥' इति । विक्रेतुरुपभोगः क्षय उच्यते; क्रेतृसंबन्धित्वेन क्षीयमाणत्वात्, न पुनः कुड्यपातसस्यघातादिरूपः । तस्य तु—'उपहन्येत वा पण्यं दह्येतापह्रियेत वा विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासंप्रयच्छतः ॥' (ना० ८।६) इत्यत्रोक्तत्वात् ॥ यदा त्वसौ क्रेता **देशान्तरात्**पण्यग्रहणार्थ**मागत**स्तदा तत्पण्यमादाय देशान्तरे विक्रीणानस्य यो **लाभस्तेन** सहितं पण्यं विक्रेता **क्रेत्रे दापयितव्यः** । अयं च क्रीतपण्यसमर्पणनियमोऽनुशयाभावे द्रष्टव्यः ॥ सति त्वनुशये 'क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिदि'त्यादि (८।२२२) मनूक्तं वेदितव्यम् ॥ २५४ ॥

जो विक्रेता मूल्य लेकर भी विक्रेय वस्तु को क्रेता को नहीं देता उससे उस वस्तु को वृद्धि के साथ (जो मूल्य वृद्धि या सूद मूल्य लेने के बाद हुआ है) क्रेता को दिलवाना चाहिये। यदि क्रेता देशान्तर का है तो अपने देश में ले जाकर बेचने से उसे जो लाभ मिलता वह भी दिलवाना चाहिये ॥ २५४ ॥

विक्रीतमपि विक्रेयं पूर्वक्रेतर्यगृह्णति ।
हानिश्चेत्क्रेतृदोषेण क्रेतुरेव हि सा भवेत् ॥ २५५ ॥

किंच, यदा पुनर्जातानुशयः क्रेता पण्यं न जिघृक्षति तदा **विक्रीतमपि** पण्यमन्यत्र विक्रेयम्, यदा पुनर्विक्रेत्रा **दीयमानं क्रेता न गृह्णाति**, तच्च पण्यं राजदैविकेनोपहतं, तदा **क्रेतुरेवासौ हानिर्भवेत्**; पण्याग्रहणरूपेण क्रेतृदोषेण नाशितत्वात् ॥ २५५ ॥

यदि खरीदी भी वस्तु को क्रेता न ले तो विक्रेता दूसरे व्यक्ति को बेच दे। क्रेता के न लेने पर (नये क्रेता के लेने के ममय के बीच) जो हानि हुई उसे भी पुराने क्रेता से दिलवाये ॥ २५५ ॥

राजदैवोपघातेन पण्ये दोषमुपागते ।
हानिर्विक्रेतुरेवासौ याचितस्याप्रयच्छतः ॥ २५६ ॥

अपि च, यदा पुनः क्रेत्रा **प्रार्थ्यमानमपि पण्यं** विक्रेता **न समर्पयति**, अजातानुशयोऽपि, तच्च **राजदैविकेनोपहतं**, भवति, **तदासौ हानिर्विक्रेतुरेव** । अतोऽन्यददुष्टं पण्यं विनष्टसदृशं क्रेत्रे देयम् ॥ २५६ ॥

(यदि) क्रेता (अपनी क्रीत वस्तु) माँग रहा हो और विक्रेता विक्रीत वस्तु को न दे रहा हो और (इस बीच) राजा या दैव के उत्पात से उसमें हानि हो जाय तो यह विक्रेता की ही होती है ॥ २५६ ॥

अन्यहस्ते च विक्रीय दुष्टं वाऽदुष्टवद्यदि ।
विक्रीणीते दमस्तत्र मूल्यात्तु द्विगुणो भवेत् ॥ २५७ ॥

किंच, यः पुनर्विनैवानुशयमेकस्य हस्ते **विक्रीतं पुनरन्यस्य हस्ते विक्रीणीते सदोषं** वा पण्यं **प्रच्छादितदोषं** विक्रीणीते, तदा तत्पण्य**मूल्याद्द्विगुणो दमो वेदितव्यः** । नारदेनाप्यत्र विशेषो दर्शितः (८।८)—'अन्यहस्ते च विक्रीय योऽन्यस्मै तत्प्रयच्छति । द्रव्यं तद्द्विगुणं दाप्यो विनयस्तावदेव तु ॥ निर्दोषं दर्शयित्वा तु सदोषं यः प्रयच्छति । स मूल्याद्द्विगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु ॥' इति ॥ सर्वश्चायं विधिर्दत्तमूल्ये पण्ये द्रष्टव्यः । अदत्तमूल्ये पुनः पण्ये वाङ्मात्रक्रये क्रेतृविक्रेत्रोर्नियमकारिणः समयादृते प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा न कश्चिद्दोषः । यथाह नारदः (८।१०)—'दत्तमूल्यस्य पण्यस्य विधिरेष प्रकीर्तितः । अदत्तेऽन्यत्र समयान्न विक्रेतुरविक्रयः ॥' इति ॥ २५७ ॥

यदि विक्रेता एक व्यक्ति को बेचकर वस्तु को दूसरे को बेचता है अथवा दोषपूर्ण वस्तु को (दोष छिपाकर) अदोषपूर्ण बतलाकर बेचता है तो वस्तु के मूल्य से दुगुना दण्ड होता है ॥ २५७ ॥

विक्रयानुशयोऽभिहितः । क्रीतानुशयस्वरूपं तु प्राक् प्रपञ्चितम् । अधुना तदुभयसाधारणं धर्ममाह—

क्षयं वृद्धिं च वणिजा पण्यानामविजानता ।
क्रीत्वा नानुशयः कार्यः कुर्वन्षड्भागदण्डभाक् ॥ २५८ ॥

परीक्षितक्रीतपण्यानां क्रयोत्तरकालं क्रयकालपरिमाणतोऽर्घकृतां वृद्धिमपश्यता क्रेत्रा अनुशयो न कार्यः । विक्रेत्रा च **महार्घनिबन्धनं पण्यक्षयमपश्यता नानुशयितव्यम्** । वृद्धिक्षयपरिज्ञाने पुनः क्रेतृविक्रेत्रोरनुशयो भवतीति व्यतिरेकादुक्तं भवति । अनुशयकालावधिस्तु नारदेनोक्तः (८।९)—'क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं दुःक्रीतं मन्यते क्रयी । विक्रेतुः प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्न्य-विक्षतम् ॥ द्वितीयेऽह्नि ददत्क्रेता मूल्यात्त्रिंशांशमावहेत् । द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत् ॥' इति । अपरीक्षितक्रयविक्रये पुनः पण्यवैगुण्यनिबन्धनानुशयावधि'र्दशैकपञ्चसप्ताहे'त्यादिना दर्शित एव । तदनया वाचोयुक्त्या वृद्धिक्षयपरिज्ञानस्यानुशयकारणत्वमवगम्यते । यथा गण्यपरीक्षाविधिवलात्पण्यदोषाणामनुशयकारणत्वं अतः पण्यदोषतद्वृद्धिक्षयकारणत्रितयाभावेऽनुशयकालाभ्यन्तरेऽपि **यद्यनुशयं करोति** तदा **पण्यषड्भागं दण्डनीयः** । अनुशयकारणसद्भावेऽप्यनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतोऽप्ययमेव दण्डः । उपभोगेनाविनश्वरेषु स्थिरार्घेष्वनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतो मनूक्तो दण्डो द्रष्टव्यः (८।२२३)—'परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानो ददंश्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥' इति ॥ २५८ ॥

विक्रेय वस्तुओं की हानि-लाभ को न जानकर व्यापारी यदि सौदा खरीदता है तो फिर अनुशय (लौटाना) नहीं चाहिये। ऐसा करने पर षष्ठांश दण्ड का भागी होता है ॥ २५८ ॥

इति विक्रीयासंप्रदानं नाम प्रकरणम् ।

अथ संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२

संभूयसमुत्थानं नाम विवादपदमिदानीमभिधीयते—

समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म कुर्वताम् ।
लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ ॥ २५९ ॥

'सर्वे वयमिदं कर्म मिलिताः कुर्मः' इत्येवंरूपा संप्रतिपत्तिः **समवायः**, तेन ये वणिङ्नटनर्तकप्रभृतयो **लाभलिप्सवः** प्रातिस्विकं **कर्म कुर्वते**, तेषां लाभालाभावुपचयापचयौ **यथाद्रव्यं** येन यावद्धनं पण्यग्रहणाद्यर्थं दत्तं तदनुसारेणावसेयौ; यद्वा,–प्रधानगुणभावपर्यालोचनयास्य भागद्वयमस्यैको भाग इत्येवंरूपया **संविदा** समयेन यथा **संप्रतिपन्नौ** तथा **वेदितव्यौ** ॥ २५९ ॥

व्यवसायियों के समूह में लाभार्थ कर्म करने पर लाभ और हानि होने पर जितना जिसने द्रव्य लगाया है या जितना पहले तय हुआ है उसके अनुसार लाभ-हानि होता है ॥ २५९ ॥

प्रतिषिद्धमनादिष्टं प्रमादाद्यच्च नाशितम् ।
स तद्दद्याद्विप्लवाच्च रक्षिताद्दशमांशभाक् ॥ २६० ॥

किंच । तेषां संभूय प्रचरतां मध्ये 'पण्यमिदमित्थं न व्यवहर्तव्यम्' इति **प्रतिषिद्ध**माचरता यन्नाशितम**नादिष्ट**मननुज्ञातं वा कुर्वाणेन तथा **प्रमादा**त्प्रज्ञाहीनतया वा येन **यन्नाशितं** स तत्पण्यं वणिग्भ्यो दद्यात् । यः पुनस्तेषां मध्ये चौरराजादिजनिताद्व्यसनात्पण्यं पालयति **स** **तस्माद्रक्षितात्**पण्याद्**दशम**मंशं **लभते** ॥ २६० ॥

रोके जाने पर, बिना आदेश के और प्रमाद द्वारा (जिस व्यक्ति ने जितना) नुकसान किया है वह उसे दे और जिसने (राजा या दैव के) उत्पात से रक्षा की है वह रक्षा की हुई वस्तु का दशमांश का भागी होता है ॥ २६० ॥

अर्घप्रक्षेपणाद्विंशं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ।
व्यासिद्धं राजयोग्यं च विक्रीतं राजगामि तत् ॥ २६१ ॥

'इयतः पण्यस्येयन्मूल्यम्' इत्यर्घः, तस्य **प्रक्षेपणात्** राजतो निरूपणाद्धेतोरसौ मूल्याद्**विंशतितममंशं शुल्कार्थं गृह्णीयात्** । यत्पुनर्**व्यासिद्धं** 'अन्यत्र न विक्रेयम्' इति राज्ञा प्रतिषिद्धं, यच्च **राजयोग्यं** मणिमाणिक्याद्यप्रतिषिद्धमपि तद्राज्ञेऽनिवेद्य लाभलोभेन **विक्रीतं** चेद्**राजगामि** मूल्यदाननिरपेक्षं तत्सर्वं पण्यं **राजाऽपहरे**दित्यर्थः ॥ २६१ ॥

मूल्य निर्धारित करने के कारण राजा बीसवाँ भाग शुल्क रूप में ले। निषिद्ध वस्तु या राजा के योग्य बेची गयी वस्तु भी राजा के पास जाती है अर्थात् राजा ले ले ॥ २६१ ॥

मिथ्यावदन्परीमाणं शुल्कस्थानादपासरन् ।
दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च सव्याजक्रयविक्रयी ॥ २६२ ॥

यः पुनर्वणिक् शुल्कवञ्चनार्थं पण्य**परिमाणं निह्नुते शुल्कग्रहणस्थाना**द्**ऽपसरति** यश्च 'अस्येदमस्येदं वा' इत्येवं **विवादास्पदीभूतं** पण्यं **क्रीणाति** **विक्रीणीते** वा ते सर्वे पण्याद**ष्टगुणं दण्डनीयाः** ॥ २६२ ॥

(शुल्क से बचने के लिये) मिथ्या परीमाण बताने वाला तथा कर देने के स्थान से भागने वाला और विवादास्पद वस्तु खरीदने तथा बेचने वाले से वस्तु का आठगुना दण्ड लेवे ॥ २६२ ॥

तारिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन्दाप्यः पणान्दश ।
ब्राह्मणप्रातिवेश्यानामेतदेवानिमन्त्रणे ॥ २६३ ॥

अपि च, शुल्कं हि द्विविधं—स्थलजं जलजं च । तत्र स्थलजम्—'अर्घप्रक्षेपणाद्विंशं भागं शुल्कं नृपो हरेत्' (व्य० २६१) इत्यत्रोक्तम् । जलजं तु मानवेऽभिहितम् (८।४०४,५,७)—'पणं यानं तरे दाप्यं पुरुषोऽर्धपणं तरे । पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः । रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः । ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं नराः ॥' इति ॥ शुल्कद्वयेऽप्ययमपरो विशेषः—'न भिन्नकार्षापणमस्ति शुल्कं न शिल्पवृत्तौ न शिशौ न दूते । न भैक्षलब्धे न हृतावशेषे न श्रोत्रिये प्रव्रजिते न यज्ञे ॥' इति ॥ तीर्यतेऽनेनेति तरिः नावादिः, तज्जन्यशुल्केऽधिकृतस्तारिकः; स यदा **स्थलोद्भवं शुल्कं गृह्णाति** तदा दशपणान्दण्डनीयः । वेशो वेश्म, प्रतिवेश इति स्ववेश्माभिमुखं स्ववेश्मपार्श्वस्थं चोच्यते; तत्र भवाः प्रातिवेश्याः, ब्राह्मणाश्च ते प्रातिवेश्याश्च **ब्राह्मणप्रातिवेश्याः**; तेषां श्रुतवृत्तसंपन्नानां श्राद्धादिषु विभवे **सत्यनिमन्त्रणे एतदेव दशपणात्मकं दण्डनं वेदितव्यम्** ॥ २६३ ॥

नौकादि से जल पार कराने वाला यदि स्थल का शुल्क लेता है और जो अपने पड़ोसी ब्राह्मण को (श्राद्धादि में) निमंत्रण देकर (दूर के ब्राह्मण को निमन्त्रण देता है) उसे दश पण दण्ड दे ॥ २६३ ॥

देशान्तरमृतवणिग्रिक्थं प्रत्याह—

देशान्तरगते प्रेते द्रव्यं दायादबान्धवाः ।
ज्ञातयो वा हरेयुस्तदागतास्तैर्विना नृपः ॥ २६४ ॥

यदा संभूयकारिणां मध्ये यः कश्चि**द्देशान्तरगतो मृतस्तदा** तदीयमंशं **दायादाः** पुत्राद्यपत्यवर्गाः, **बान्धवाः** मातृपक्षा मातुलाद्याः, **ज्ञातयो**ऽपत्यवर्गव्यतिरिक्ताः सपिण्डा वा, आगताः संभूय व्यवहारिणो ये देशान्तरादागतास्ते **वा गृह्णीयुः** । **तैर्विना** दायादाद्यभावे **राजा गृह्णीयात्** । 'वा'शब्देन च दायादादीनां वैकल्पिकमधिकारं दर्शयति । पौर्वापर्यनियमस्तु 'पत्नी दुहितर' (व्य० १३५) इत्यादिना प्रतिपादित एवात्रापि वेदितव्यः । शिष्यसब्रह्मचारिब्राह्मणनिषेधो वणिक्प्राप्तिश्च वचनप्रयोजनम् । वणिजामपि मध्ये यः पिण्डदानर्णदानादिसमर्थः स गृह्णीयात् । सामर्थ्यविशेषे पुनः सर्वे वणिजः संसृष्टिनो विभज्य गृह्णीयुः । तेषामप्यभावे दशवर्षं दायादाद्यागमनं प्रतीक्ष्यानागतेषु स्वयमेव राजा गृह्णीयात् । तदिदं नारदेन स्पष्टीकृतम् 'एकस्य चेत्स्यान्मरणं दायादोऽस्य तदाप्नुयात् । अन्यो वाऽसति दायादे शक्ताश्चेत्सर्व एव ते ॥ तदभावे तु गुप्तं तत्कारयेद्दशवत्सरान् । अस्वामिकमदायादं दशवर्षस्थितं ततः ॥ राजा तदात्मसात्कुर्यादेवं धर्मो न हीयते ॥' इति ॥ २६४ ॥

(एक साथ व्यापार करने वालों में से) किसी के देशान्तर जाने या मर जाने पर उसके द्रव्य को उसके दामाद, बान्धव या ज्ञातिजन ले या देशान्तर से आने पर सभी व्यापारी ले या उनके न होने पर राजा ले ॥ २६४ ॥

जिह्मं त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोऽन्येन कारयेत् ।

किं च, **जिह्मो** वञ्चकः तं **निर्लाभं** निर्गतलाभं लभमाच्छिद्य **त्यजेयु**र्बहिष्कुर्युः । यश्च संभूयकारिणां मध्ये भाण्डप्रत्यवेक्षणादिकं कर्तुमसमर्थोऽसावन्येन स्वकं कर्म भाण्डभारवाहनतदायव्ययपरीक्षणादिकं **कारयेत्** ॥—

(यदि साथ के व्यापारियों में) कोई कुटिल हो तो उसे बिना लाभ दिये बाहर कर दे। यदि कोई अशक्त हो तो दूसरे से करावे ॥ २६४$\frac{१}{२}$ ॥

प्रागुपदिष्टं वणिग्धर्ममृत्विगादिष्वतिदिशति—

अनेन विधिराख्यात ऋत्विक्कर्षककर्मिणाम् ॥ २६५ ॥

अनेन 'लाभालाभौ यथाद्रव्यम्' इत्यादिवणिग्धर्मकथनेन **ऋत्विजां** होत्रादीनां **कृषीवलानां** नटनर्तकतक्षादीनां च शिल्पकर्मोपजीविनां **विधि**र्वर्तनप्रकार **आख्यातः** । तत्र च ऋत्विजां धनविभागे विशेषो मनुना दर्शितः (८।२१०)—'सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥' इति । अस्यायमर्थः—[1]ज्योतिष्टोमेन 'तं शतेन दीक्षयन्ती'ति [3]वचनेन गवां शतमृत्विगानतिरूपे दक्षिणाकार्ये विनियुक्तम् । ऋत्विजश्च होत्रादयः षोडश । तत्र कस्य कियानंश इत्यपेक्षायामिदमुच्यते । सर्वेषां होत्रादीनां षोडशर्त्विजां मध्ये ये मुख्याश्चत्वारो होत्रध्वर्युब्रह्मोद्गातारः ते गोशतस्यार्धिनः सर्वेषां भागपूरणोपपत्तिवशादष्टाचत्वारिंशद्रूपार्धेनार्धभाजः । अपरे मैत्रावरुणप्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतारस्तदर्धेन तस्य मुख्यांशस्यार्धेन चतुर्विंशतिरूपेणार्धभाजः । ये पुनस्तृतीयिनः अच्छावाकनेष्ट्राग्नीध्रप्रतिहर्तारस्ते तृतीयिनो मुख्यांशस्य षोडशगोरूपतृतीयांशेन तृतीयांशभाजः । ये तु पादिनः ग्रावस्तदुन्नेतृपोतृसुब्रह्मण्यास्ते मुख्यभागस्य यश्चतुर्थांशो द्वादशगोरूपस्तद्भाजः ॥ ननु कथमयमंशनियमो घटते ? न तावदत्र [1]समयः, नापि द्रव्यसमवायः, नापि वचनम्, यद्वशादीदृग्भागनियमः स्यात्; अतः 'समं स्यादश्रुतत्वादि'ति न्यायेन सर्वेषां समांशभाक्त्वं कर्मानुरूपेण वाऽशभाक्त्वमिति युक्तम् । अत्रोच्यते,—ज्योतिष्टोमप्रकृतिके द्वादशाहेऽर्धिनस्तृतीयिनः पादिनः इति सिद्धवदनुवादो न घटते; यदि तत्प्रकृतिभूते ज्योतिष्टोमे अर्धतृतीयचतुर्थांशभाक्त्वं मैत्रावरुणादीनां न स्यात्, अतो वैदिकर्द्धिप्रभृतिसमाख्याबलात्प्रागुक्तोऽशनियमोऽवकल्प्यत इति निरवद्यम् ॥ २६५ ॥

इसी नियम से ऋत्विकों, किसानों और कारीगरों की भी विधि है ॥ २६५ ॥

इति संभूयसमुत्थानप्रकरणम् ।

अथ स्तेयप्रकरणम् २३

इदानीं स्तेयं प्रस्तूयते; तल्लक्षणं च मनुनाभिहितम् (८।३३२)—'स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं कृत्वापह्नूयते च यत् ॥' इति । अन्वयवत् द्रव्यरक्षिराजाध्यक्षादिसमक्षम्, प्रसभं बलावष्टम्भेन यत्परधनहरणादिकं क्रियते तत्साहसम्; स्तेयं तु तद्विलक्षणं निरन्वयं द्रव्यस्वाम्याद्यसमक्षं वञ्चयित्वा यत्परधनहरणं तदुच्यते । यच्च सान्वयमपि कृत्वा न मयेदं कृतमिति भयान्निह्नुते तदपि स्तेयम् ॥ नारदेनाप्युक्तम् (१४।१७)—'उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वाऽपकर्षणम् । सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः ॥' इति ॥

तत्र तस्करग्रहणपूर्वकत्वाद्दण्डनस्य, ग्रहणस्य च ज्ञानपूर्वकत्वात्, ज्ञानोपायं तावदाह—

ग्राहकैर्गृह्यते चौरो लोप्त्रेणाथ पदेन वा ।
पूर्वकर्मापराधी च तथा चाशुद्धवासकः ॥ २६६ ॥

यः 'चौरोऽयम्' इति जनैर्विख्याप्यते असौ **ग्राहकै** राजपुरुषस्थानपालप्रभृतिभिर्ग्रहीतव्यः । **लोप्त्रेणा**पहृतभाजनादिना **वा** चौर्यचिह्नेन नाशदेशादारभ्य चौर्यपदानुसरणेन वा ग्राह्यः । यश्च **पूर्वकर्मापराधी** प्राक्प्रख्यातचौर्यः, अशुद्धोऽप्रज्ञातो वासः स्थानं यस्यासावशुद्धवासकः, सोऽपि ग्राह्यः ॥२६६॥

ग्राहकों (चोरों को पकड़ने के लिये राजा द्वारा नियुक्त पुरुषों) द्वारा (लोगों द्वारा चोर कहे जाने पर) चोर पकड़ा जाता है, लुप्त वस्तु के चिह्न से पकड़ा जाता है, (चोरी गयी वस्तु के स्थान से चोर के पास तक) पदचिह्न से पकड़ा जाता है, पूर्व में चोरी के अपराध से पकड़ा जाता है तथा जिसका वासस्थान निश्चित न हो ऐसा पकड़ा जाता है (अर्थात् राजा द्वारा नियुक्त चोर पकड़ने वाले अधिकारी चोरी होने पर जिसे लोग चोर कहे उसे पकड़े या जिसके पास चोरी का सामान हो उसे पकड़े या चोरी के स्थान से लेकर चोर तक जिसके पदचिह्न हों उसे पकड़े या जो पूर्व में चोरी का अपराधी हो उसे पकड़े या जिसका निवासस्थान संदिग्ध हो उसे पकड़े) ॥ २६६ ॥

अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्या जातिनामादिनिह्नवैः ।
द्यूतस्त्रीपानसक्ताश्च शुष्कभिन्नमुखस्वराः ॥२६७॥
परद्रव्यगृहाणां च पृच्छका गूढचारिणः ।
निराया व्ययवन्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रयाः ॥ २६८ ॥

किंच, न केवलं पूर्वोक्ता ग्राह्याः, किंत्वन्येऽपि वक्ष्यमाणैर्लिङ्गैः शङ्कया ग्राह्याः । **जातिनिह्नवेन** 'नाहं शूद्र' इत्येवंरूपेण, **नामनिह्नवेन** 'नाहं डित्थ' इत्येवंरूपेण, '**आदि**'ग्रहणात्स्वदेशग्रामकुलाद्यपलापेन च लक्षिता **ग्राह्याः** । **द्यूत**पण्याङ्गनामद्यपानादिव्यसनेष्वतिप्रसक्तास्तथा 'कुतस्त्योऽसि त्वम्?' इति

चौरग्राहिभिः पृष्टो यदि शुष्कमुखो भिन्नस्वरो वा भवति, तर्ह्यसावपि ग्राह्यः । बहुवचनात्स्विन्नललाटादीनां ग्रहणम् । तथा ये निष्कारणं 'कियदस्य धनं, किं वाऽस्य गृहम्' इति पृच्छन्ति, ये च वेषान्तरधारणेनात्मानं ये गूहयित्वा चरन्ति, ये चायाभावेऽपि बहुव्ययकारिणः, ये वा विनष्टद्रव्याणां जीर्णवस्त्रभिन्नभाजनादीनामविज्ञातस्वामिकानां विक्रयकास्ते सर्वे चौरसंभावनया ग्राह्याः । एवं नानाविधचौरलिङ्गान्पुरुषान्गृहीत्वा एते चौराः किं वा साधव इति सम्यक्परीक्षेत, न पुनर्लिङ्गदर्शनमात्रेण चौर्यनिर्णयं कुर्यात् । अचौर्यस्यापि लोप्त्रादिलिङ्गसंबन्धसंभवात् । यथाह नारदः—'अन्यहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुच्छ्रितं भुवि । चौरेण वा परिक्षिप्तं लोप्त्रं यत्नात्परीक्षयेत् ॥' तथा—'असत्याः सत्यसंकाशाः सत्याश्चासत्यसंनिभाः । दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्मादुक्तं परीक्षणम् ॥' इति ॥ २६७–२६८ ॥

इनके अतिरिक्त शङ्का होने पर तथा निम्नलिखित लक्षण वाले पकड़ने चाहिये–जो जाति और नामादि को छिपावे, जो भूत, स्त्री और मदपान में आसक्त हो, (पूछने पर) जिसका मुख सूख जाय और स्वर बदल जाय, दूसरे के धन तथा घर को पूछने वाले को, जो वेष बदलकर घूमते हैं, जिनकी बिना आय के व्यय होता हो और जो खोई वस्तु को बेचने वाले हों ॥ २६७-२६८ ॥

एवं चौर्यशङ्कया गृहीतेनात्मा संशोधनीय इत्याह—

गृहीतः शङ्कया चौर्ये नात्मानं चेद्विशोधयेत् ।
दापयित्वा हृतं द्रव्यं चौरदण्डेन दण्डयेत् ॥ २६९

यदि चौर्यशङ्कया गृहीतस्तन्निस्तरणार्थमात्मानं न शोधयति तर्हि वक्ष्यमाणधनदापनवधादिदण्डभाग्भवेत् । अतो मानुषेण तदभावे दिव्येन वा आत्मा शोधनीयः ॥ ननु 'नाहं चौरः' इति मिथ्योत्तरे कथं प्रमाणं संभवति?–तस्याभावरूपत्वात् । उच्यते,–दिव्यस्य तावद्भावाभावगोचरत्वं 'रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात्' इत्यत्र प्रतिपादितम् । मानुषं पुनर्यद्यपि साक्षाच्छुद्धमिथ्योत्तरे न संभवति, तथापि कारणेन संसृष्टे भावरूपमिथ्याकारणसाधनमुखेनाभावमपि गोचरयत्येव । यथा 'नाशापहारकाले अहं देशान्तरस्थ' इत्यभियुक्तैर्भाविते चौर्याभावस्याप्यर्थात्सिद्धेः शुद्धिर्भवत्येव ॥ २६९ ॥

जो चोरी की शङ्का से पकड़ा गया है वह यदि अपने को शुद्ध (निर्दोष) न सिद्ध करे तो चुराये गये सामान को उससे दिलाकर चोरों के लिये विहित दण्ड से उसे दण्डित करना चाहिये ॥ २६९ ॥

चौरदण्डमाह—

चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विविधैर्वधैः ।

यस्तु प्रागुक्तपरीक्षया यन्निरपेक्षं वा निश्चितचौर्यस्तं स्वामिने अपहृतं धनं

स्वरूपेण मूल्यकल्पनया वा दापयित्वा विविधैर्वधैर्घातैर्घातयेत् । एतच्चोत्तमसाहसदण्डप्राप्तियोग्योत्तमद्रव्यविषयम्, न पुनः पुष्पवस्त्रादिक्षुद्रमध्यमद्रव्यापहारविषयम् । 'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥' (१४।३१) इति नारदवचनेन वधरूपस्योत्तमसाहसस्योत्तमद्रव्यविषये व्यवस्थापितत्वात् ॥ यत्पुनर्वृद्धमनुवचनम्–'अन्यायोपात्तवित्तत्वाद्धनमेषां मलात्मकम् । अतस्तान्घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत् ॥' इति,–तदपि महापराधविषयम् ॥—

चोर से चोरी गयी वस्तु दिलाकर विविध प्रकार के वध (शारीरिक पीड़ा) से दण्डित करे ॥ २६९$\frac{१}{२}$ ॥

चौरविशेषेऽपवादमाह—

सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २७० ॥

ब्राह्मणं पुनश्चौरं महत्यप्यपराधेऽपि न घातयेत्, अपि तु ललाटेऽङ्कयित्वा स्वदेशान्निष्कासयेत् । अङ्कनं च श्वपदाकारं कार्यम्; तथा च मनुः (९।२३७)–'गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥' इति । एतच्च दण्डोत्तरकालं प्रायश्चित्तमचिकीर्षतां द्रष्टव्यम्; यथाह मनुः (९।२४०)—'प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्वे वर्णा यथोदितम् । नाङ्क्या राज्ञा ललाटे तु दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥' इति ॥ २७० ॥

यदि ब्राह्मण चोर हो तो ललाट पर (कुत्ते के पैर का) चिह्न बना कर उसे राज्य से निकाल दे ॥ २७० ॥

चौरादर्शने अपहृतद्रव्यप्राप्त्युपायमाह—

घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते ।
विवीत[1]भर्तुस्तु पथि चौरोद्धर्तुरवीतके ॥ २७१ ॥

यदि ग्राममध्ये मनुष्यादिप्राणिवधो धनापहरणं वा जायते तदा ग्रामपतेरेव चौरोपेक्षादोषः, तत्परिहारार्थं स एव चौरं गृहीत्वा राज्ञेऽर्पयेत् । तदशक्तौ हृतं धनं धनिने दद्याद्यदि चौर[2]पदं स्वग्रामान्निर्गतं न दर्शयति । दर्शिते पुनस्तत्पदं यत्र प्रविशति तद्विषयाधिपतिरेव चौरं धनं वार्पयेत् । तथा च नारदः (१६।७)—'गोचरे यस्य मु[3]ष्येत तेन चौरः प्रयत्नतः । ग्राह्यो दाप्योऽथवा शेषं पदं यदि न निर्गतम् ॥ निर्गते पुनरेतस्मान्न चेदन्यत्र पातितम् । सामन्तान्मार्गपालांश्च दिक्पालांश्चैव दापयेत् ॥' इति ॥ विवीते त्वपहारे विवीतस्वामिन एव दोषः । यदा त्वध्वन्येव तद्वृत्तं भवत्यवीतके वा विवीतादन्यत्र क्षेत्रे तदा चौरोद्धर्तुर्मार्गपालस्य दिक्पालस्य वा दोषः ॥ २७१ ॥

ग्राम के भीतर हत्या या चोरी होने पर यदि ग्राम के बाहर चोर के निकलने का चिह्न न मिले तो दोष ग्रामपाल का होता है। सराय या रुकने के स्थान पर होने पर सराय के स्वामी का होता है और मार्ग में होने पर मार्गपाल या दिक्पाल का दोष होता है ॥ २७१ ॥

स्वसीम्नि दद्याद्ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति।
पञ्चग्रामी बहिः क्रोशाद्दशग्राम्यथवा पुनः २७२ ॥

किंच, यदा पुनर्ग्रामाद्बहिः **सीमापर्यन्ते** क्षेत्रे मोषादिकं भवति तदा **तद्ग्रामवासिन एव दद्युः**,–यदि सीम्नो बहिश्चौरपदं न निर्गतम्। निर्गते पुनर्यत्र ग्रामादिके चौरपदं प्रविशति स एव चौरार्पणादिकं कुर्यात्। यदा त्वनेकग्राममध्ये क्रोशमात्राद्बहिःप्रदेशे घातितो मुषितो वा चौरपदं च जनसंमर्दादिना भग्नं, तदा पञ्चानां ग्रामाणां समाहारः **पञ्चग्रामी** दशग्रामसमाहारो **दशग्रामी वा दद्यात्**। विकल्पवचनं तु यथा तत्प्रत्यासत्त्यपहृतधनप्रत्यर्पणादिकं कुर्यादित्येवमर्थम्। यदा त्वन्यतोऽपहृतं द्रव्यं दापयितुं न शक्नोति तदा स्वकोशादेव राजा दद्यात्। 'चौरहृतमवजित्य यथास्थानं गमयेत्स्वकोशाद्वा दद्यात्' (२०।४६-४७) इति गौतमस्मरणात् ॥ मुषितामुषितसन्देहे मानुषेण दिव्येन वा निर्णयः कार्यः। 'यदि तस्मिन्दाप्यमाने भवेन्मोषे तु संशयः। मुषितः शपथं दाप्यो बन्धुभिर्वापि साधयेत् ॥' इति वृद्धमनुस्मरणात् ॥ २७२ ॥

अपने ग्राम में चोरी होने पर ग्राम के लोग दण्ड दे या उस गाँव के लोग दे जहां चोर के जाने के चिह्न मिलते हों। यदि एक क्रोश की दूरी पर कई ग्रामों के बीच चोरी हुई है तो पाँच या दश ग्राम मिलकर चोरी की क्षतिपूर्ति करे ॥ २७२ ॥

अपराधविशेषेण दण्डविशेषमाह—

बन्दिग्राहांस्तथा वाजिकुञ्जराणां च हारिणः।
प्रसह्यघातिनश्चैव शूलानारोपयेन्नरान् ॥ २७३ ॥

बन्दिग्राहादीन्बलावष्टम्भेन **घातकांश्च नरान्शूलानारोपयेत्**। अयं च वधप्रकारविशेषोपदेशः। (९।२८०)—'कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान्। हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ २७३ ॥

बन्दियों को छुड़ाने वाले, घोड़ा तथा हाथी चुराने वाले एवं बलपूर्वक हत्या करने वाले मनुष्यों को शूली पर चढ़ाना चाहिये ॥ २७३ ॥

उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसन्दंशहीनकौ।
कार्यौ द्वितीयापराधे करपादैकहीनकौ ॥ २७४ ॥

किंच, वस्त्राद्युत्क्षिपत्यपहरतीत्युत्क्षेपकः, वस्त्रादिबद्धं स्वर्णादिकं विस्रस्योत्कृत्य वा योऽपहरत्यसौ ग्रन्थिभेदकः, तौ यथाक्रमं करेण सन्दंशसदृशेन तर्जन्याङ्गुष्ठेन च हीनौ कार्यौ। द्वितीयापराधे पुनः करश्च पादश्च करपादं, तच्च तदेकं च करपादैकं, तद्धीनं ययोस्तौ करपादैकहीनकौ कार्यौ। उत्क्षेपकग्रन्थिभेदकयोरेकमेकं करं पादं च छिन्द्यादित्यर्थः। एतदप्युत्तमसाहसप्राप्तियोग्यद्रव्यविषयम्। 'तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः' (१४।८) इति नारदवचनात् ॥ तृतीयापराधे तु वध एव। तथा च मनुः (९।२७७)—'अङ्गुलीग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे। द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥' इति। जातिद्रव्यपरिमाणतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीय इति ॥ २७४ ॥

वस्त्र आदि चुराने वालों, गाँठ काटने वालों के हाथ और संदश (अँगूठा तथा तर्जनी ऊँगली) काटनी चाहिये। द्वितीय अपराध होने पर एक हाथ और एक पैर काट लेना चाहिये ॥ २७४ ॥

जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहविनियोगवयःशक्तिगुणदेशकालादीनां दण्डगुरुलघुभावकारणानामानन्त्यात्प्रतिद्रव्यं वक्तुमशक्तेः सामान्येन दण्डकल्पनोपायमाह—

क्षुद्रमध्यमहाद्रव्यहरणे सारतो दमः।
देशकालवयःशक्ति संचिन्त्यं दण्डकर्मणि ॥ २७५ ॥

क्षुद्राणां मध्यमानामुत्तमानां च द्रव्याणां हरणे सारतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीयः। क्षुद्रादिद्रव्यस्वरूपं च नारदेनोक्तम्। (१४।१४-१६) 'मृद्भाण्डासनखट्वास्थिदारुचर्मतृणादि यत्। शमीधान्यं कृतान्नं च क्षुद्रं द्रव्यमुदाहृतम् ॥ वासः कौशेयवर्ज्यं च गोवर्ज्यं पशवस्तथा। हिरण्यवर्ज्यं लोहं च मध्यं व्रीहियवा अपि ॥ हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुङ्गोगजवाजिनः। देवब्राह्मणराज्ञां च द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम् ॥' त्रिप्रकारेष्वपि द्रव्येष्वौत्सर्गिकः प्रथममध्यमोत्तमसाहसरूपो दण्डनियमस्तेनैव दर्शितः(१४।२१)—'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः। स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥' इति ॥ मृन्मयेषु मणिकमल्लिकादिषु गोवाजिव्यतिरिक्तेषु च महिषमेषादिपशुषु ब्राह्मणसंबन्धिषु च कनकधान्यादिषु तारतमभावोऽस्तीति उच्चावचदण्डविशेषाकाङ्क्षायां मूल्याद्यनुसारेण दण्डः कल्पनीयः। तत्र च दण्डकर्मणि दण्डकल्पनायां तद्धेतुभूतं देशकालवयःशक्तीति सम्यक् चिन्तनीयम्। एतच्च जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहादीनामुपलक्षणम्। तथा हि–'अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णं विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्' इति। अयमर्थः—'किल्बिष'शब्देनात्र दण्डो लक्ष्यते। यस्मिन्नपहारे यो दण्ड उक्तः स विद्वच्छूद्रकर्तृकेऽपहारेऽष्टगुण आपादनीयः। इतरेषां पुनर्विद्वत्क्षत्रब्राह्मणादीनां विदुषां स्तेये द्विगुणोत्तराणि किल्विषाणि षोडशद्वात्रिंशच्चतुःषष्टिगुणा दण्डा आपादनीयाः। यस्माद्विद्वच्छूद्रादिककर्तृकेष्वपहारेषु

दण्डभूयस्त्वम् । मनुनाप्ययमेवार्थो दर्शितः (८।३३७।३३८) —‘अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् । षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य तु ॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् । द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणवेदिनः ॥’ इति ॥ तथा परिमाणकृतमपि दण्डगुरुत्वं दृश्यते । यथाह मनुः (८।३२०)—‘धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः । शेषेष्वेकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥’ इति ॥ विंशतिद्रोणकः कुम्भः । हर्तुर्ह्रियमाणस्वामिगुणापेक्षया सुभिक्षदुर्भिक्षकालाद्यपेक्षया वा ताडनाङ्गच्छेदनवधरूपा दण्डा योज्याः ॥ तथा संख्याविशेषादपि दण्डविशेषो रत्नादिषु । (मनुः ८।३२१।३२२) —‘सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् । रत्नानां चैव सर्वेषां शतादभ्यधिके वधः ॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते । शेषेष्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥’ इति ॥ तथा द्रव्यविशेषादपि (८।३२३)—‘पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां वा विशेषतः । रत्नानां चैव सर्वेषां हरणे वधमर्हति ॥’ अकुलीनानां तु दण्डान्तरम्—‘पुरुषं हरतो दण्डः प्रोक्त उत्तमसाहसः । व्यपराधे तु सर्वस्वं कन्यां तु हरतो वधः ॥’ इति ॥ क्षुद्रद्रव्याणां तु माषतो न्यूनमूल्यानां मूल्यात्पञ्चगुणो दमः; ‘काष्ठभाण्डतृणादीनां मृण्मयानां तथैव च ॥ वेणुवैणवभाण्डानां तथा स्नाय्वस्थिचर्मणाम् ॥ शाकानामार्द्रमूलानां हरणे फलमूलयोः । गोरसेक्षुविकाराणां तथा लवणतैलयोः ॥ पक्वान्नानां कृतान्नानां मत्स्यानामामिषस्य च । सर्वेषामल्पमूल्यानां मूल्यात्पञ्चगुणो दमः ॥’ (२२।४) इति नारदस्मरणात् ॥ यः पुनः प्रथमसाहसः क्षुद्रद्रव्येषु शतावरः पञ्चाशत्पर्यन्तोऽसौ माषमूल्ये तदधिकमूल्ये वा यथायोग्यं व्यवस्थापनीयः ॥ यत् पुनर्मानवं क्षुद्रद्रव्यगोचरवचनं–‘तन्मूल्याद्द्विगुणो दमः’ इति, तदल्पप्रयोजनशरावादिविषयम् । तथापराधगुरुत्वादपि दण्डगुरुत्वम् । यथा—‘संधिं भित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वंति तस्कराः । तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णशूले निवेशयेत् ॥’ (८।३७६) इत्येवं सर्वेषामानन्त्यात्प्रतिद्रव्यं वक्तुमशक्तेर्जातिपरिमाणादिभिः कारणैर्दण्डगुरुलघुभावः कल्पनीयः । पथिकादीनां पुनरल्पापहारे न दण्डः । यथाह मनुः (८।३४१)—‘द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके । आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥’ तथा—‘चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः । अनिषिद्धैर्गृहीतव्यो मुष्टिरेकः पथि स्थितैः ॥ तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता । अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥’ इति ॥ २७५ ॥

छोटी, मध्यम या बड़ी वस्तु की चोरी में दण्डकार्य में देश, काल, अवस्था और शक्ति का विचार कर वस्तु के मूल्य के अनुसार दण्ड होता है ॥ २७५ ॥

अचौरस्यापि चौरोपकारिणो दण्डमाह—

भक्तावकाशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान् ।
दत्त्वा चौरस्य वा हन्तुर्जानतो दम उत्तमः ॥ २७६ ॥

भक्तमन्नम्, अवकाशो निवासस्थानम्, अग्निश्चौरस्य शीतापनोदाद्यर्थः, उदकं तृषितस्य, मन्त्रश्चौर्यप्रकारोपदेशः, उपकरणं चौर्यसाधनम्, व्ययः अपहारार्थं देशान्तरं गच्छतः पाथेयम्, एतानि चौरस्य, हन्तुर्वा दुष्टत्वं जानन्नपि यः प्रयच्छति तस्योत्तमसाहसो दण्डः। चौरोपेक्षिणामपि दोषः—'शक्ताश्च य उपेक्षन्ते तेऽपि तद्दोषभागिनः।' (१४।१९) इति नारदस्मरणात् ॥ २७६ ॥

जो व्यक्ति चोर या हत्यारे को (उसके कर्म या विचार का) ज्ञान रहते हुए भी भोजन, निवासस्थान, अग्नि (शीतापनयन निमित्त), जल, सलाह (भागने या चोरी करने की विधि का), हत्या या चोरी के साधन, मार्ग-व्यय को देता है उसे उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २७६ ॥

शस्त्रावपाते गर्भस्य पातने चोत्तमो दमः।
उत्तमो वाऽधमो वापि पुरुषस्त्रीप्रमापणे ॥ २७७ ॥

किंच, परगात्रेषु शस्त्रस्यावपातने दासीब्राह्मणगर्भव्यतिरेकेण गर्भस्य पातने चोत्तमो दमो दण्डः। दासीगर्भनिपातने तु 'दासीगर्भविनाशकृत्' (व्य. २३६) इत्यादिना शतदण्डोऽभिहितः। ब्राह्मणगर्भविनाशे तु 'हत्वा गर्भमविज्ञातम्' इत्यत्र ब्रह्महत्यातिदेशं वक्ष्यति। पुरुषस्य प्रमापणे स्त्रियाश्च शीलवृत्ताद्यपेक्षयोत्तमो वाऽधमो वा दण्डो व्यवस्थितो वेदितव्यः ॥२७७॥

किसी के शरीर पर मारने के लिये शस्त्रपात करने तथा गर्भपात करने पर उत्तम साहस का दण्ड होता है। पुरुष और स्त्री को मारने पर (उनके शील और वृत्त के अनुसार) उत्तम या अधम साहस का दण्ड होता है ॥ २७७ ॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं चैव पुरुषघ्नीमगर्भिणीम्।
सेतुभेदकरीं चाप्सु शिलां बध्वा प्रवेशयेत् ॥ २७८ ॥

अपि च, विशेषेण प्रदुष्टा विप्रदुष्टा, भ्रूणघ्नी स्वगर्भपातिनी च। या च पुरुषस्य हन्त्री सेतूनां भेत्त्री च,—एता गर्भरहिताः स्त्रीर्गले शिलां बध्व अप्सु प्रवेशयेत् यथा न प्लवन्ते ॥ २७८ ॥

(गर्भपातादि के कारण) अत्यन्त दुष्टा, पुरुष की हत्या करने वाली और पुल को तोड़ने वाली स्त्री को यदि वह गर्भिणी न हो तो गले में शिला बाँध कर जल में फेंक दे ॥ २७८ ॥

विषाग्निदां पतिगुरुनिजापत्यप्रमापणीम्।
विकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा गोभिः प्रमापयेत् ॥ २७९ ॥

किंच, 'अगर्भिणीम्' इत्यनुवर्तते । **या च** परवधार्थमन्नपानादिषु **विषं ददाति** क्षिपति । या च दाहार्थं ग्रामादिष्वग्निं ददाति, तथा या च **निजपतिगुर्वपत्यानि मारयति तां विच्छिन्नकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा** अदान्तैर्दुष्टबलीवर्दैः प्रवाह्य **मारयेत्** । स्तेयप्रकरणे यदेतत्साहसिकस्य दण्डविधानं तत्प्रासङ्गिकमिति मन्तव्यम् ॥ २७९ ॥

जहर देने वाली, आग लगाने वाली तथा पति, गुरु और सन्तान की हत्या करने वाली स्त्री को कान, हाथ, नाक और ओठ काट कर बैलों से मरवा दे ॥ २७९ ॥

अविज्ञातकर्तृके हनने हन्तृज्ञानोपायमाह—

अविज्ञातहतस्याशु कलहं सुतबान्धवाः ।
प्रष्टव्या योषितश्चास्य परपुंसि रताः पृथक् ॥ २८० ॥

अविज्ञातहतस्याविज्ञातपुरुषेण घातितस्य संबन्धिनः **सुताः**, प्रत्यासन्नबान्धवाश्च 'केनास्य कलहो जातः' इति **कलहमाशु प्रष्टव्याः** । तथा मृतस्य संबन्धिन्यो **योषितो** याश्च **परपुंसि रता** व्यभिचारिण्यस्ता अपि **प्रष्टव्याः** ॥ २८० ॥

जिस व्यक्ति की हत्या की गई है और हत्यारे का पता नहीं है उसके पुत्रों से यह पता लगाना चाहिये कि उसका किसके साथ झगड़ा था। उससे संबद्ध व्यभिचारिणी स्त्रियों से भी पृथक्-पृथक् पूछना चाहिये ॥ २८० ॥

कथं प्रष्टव्या इत्यत आह—

स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा केन वाऽयं गतः सह ।
मृत्युदेशसमासन्नं पृच्छेद्वापि जनं शनैः ॥ २८१ ॥

'किमयं **स्त्रीकामो द्रव्यकामो वृत्तिकामो वा**?' तथा '**कस्यां** किंसंबन्धिन्यां वा स्त्रियामस्य रतिरासीत्?', '**कस्मिन्** वा **द्रव्ये** प्रीतिः?', 'कुतो वा **वृत्तिकामः**?', '**केन वा सह** देशान्तरं **गतः**?' इति नानाप्रकारं व्यभिचारिण्यो योषितः पृथक्पृथक् विश्वास्य प्रष्टव्याः । तथा **मरणदेशनिकटवर्तिनो** गोपाऽटविकाद्या ये **जनास्तेऽपि** विश्वासपूर्वकं **प्रष्टव्याः** । एवं नानाकारैः प्रश्नैर्हन्तारं निश्चित्य तदुचितो दण्डो विधातव्यः ॥ २८१ ॥

(मृत व्यक्ति के विषय में) पूछना चाहिये कि स्त्री, धन या जीविका किस उद्देश्य से वह गया था और किसके साथ गया था। मृत्यु के स्थान के लोगों से भी विश्वासपूर्वक पूछना चाहिये ॥ २८१ ॥

क्षेत्रवेश्मवनग्रामविवीतखलदाहकाः ।
राजपल्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना ॥ २८२ ॥

किंच, क्षेत्रं पक्वफलसस्योपेतम्, वेश्म गृहम्, वनमटवीं क्रीडावनं वा, ग्रामम्, विवीतमुक्तलक्षणम्, खलं[1] वा ये दहन्ति, ये च राजपत्नीमभिगच्छन्ति तान्सर्वान्कटैर्वीरणमयैर्[2]वेष्टयित्वा दहेत्। क्षेत्रादेर्दाहकानां मारणदण्डप्रसङ्गाद्दण्डविधानम् ॥ २८२ ॥

किसी के खेत (खेत की फसल), घर, वन (उद्यान इत्यादि), विवीत (सराय या बाड़ा) तथा खलिहान में आग लगाने वाले एवं राजपत्नी के साथ व्यभिचार करने वाला– इनके शरीर में कट (फूस) लपेट कर जला देना चाहिये ॥ २८२ ॥

इति स्तेयप्रकरणम् ।

अथ स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४

स्त्रीसंग्रहणाख्यं विवादपदं व्याख्यायते। प्रथमसाहसादिदण्डप्राप्त्यर्थं त्रेधा तत्स्वरूपं व्यासेन विवृतम्—'त्रिविधं तत्समाख्यातं प्रथमं मध्यमोत्तमम् । अदेशकालभाषाभिर्निर्जने च परस्त्रियाः ॥ कटाक्षावेक्षणं हास्यं प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥ प्रेषणं गन्धमाल्यानां धूपभूषणवाससाम् ॥ प्रलोभनं चान्नपानैर्मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥ सहासनं विविक्ते तु परस्परम्[3]उपाश्रयः ॥ केशाकेशिग्रहश्चैव सम्यक् संग्रहणं स्मृतम् ॥' स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभावः संग्रहणम् ॥

संग्रहणज्ञानपूर्वकत्वात्तत्कर्तुर्दण्डविधानस्य तज्ज्ञानोपायं तावदाह—

पुमान्संग्रहणे ग्राह्यः केशाकेशि परस्त्रिया ।
सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः प्रतिपत्तौ द्वयोस्तथा ॥ २८३ ॥

संग्रहणे प्रवृत्तः पुमान् केशाकेश्यादिभिर्लिङ्गैर्ज्ञात्वा ग्रहीतव्यः । परस्परकेशग्रहणपूर्विका क्रीडा केशाकेशि । 'तत्र तेनेदम्' (पा. २।२।२७) इति सरूपे' इति बहुव्रीहौ सति—'इच् कर्मव्यतिहारे' (पा. ५।४।१२७) इति समासान्त इच्प्रत्ययः। अव्ययत्वाच्च लुप्ततृतीयाविभक्तिः । ततश्चायमर्थः—परभार्यया सह केशाकेशिक्रीडनेनाभिनवैः कररुहदशनादिकृतव्रणैः रागकृतैर्लिङ्गैर्द्वयोः संप्रतिपत्त्या वा ज्ञात्वा संग्रहणे प्रवृत्तो ग्रहीतव्यः । 'परस्त्री'ग्रहणं नियुक्तावरुद्धादिव्युदासार्थम् ॥ २८३ ॥

पर-स्त्री का केश पकड़ने, सद्यः काम-क्रीड़ा से उत्पन्न चिह्नों (नखक्षतादि) तथा दोनों की स्वीकृति देखकर (व्यभिचारी को पकड़े) ॥ २८३ ॥

नीवीस्तनप्रावरणसक्थिकेशावमर्शनम् ।
अदेशकालसंभाषं सहैकासनमेव च ॥ २८४ ॥

किंच, यः पुनः परदारपरिधानग्रन्थिप्रदेशकुचप्रावरणजघनमूर्धरुहादिस्पर्शनं साभिलाष इवाचरति । तथा **अदेशे** निर्जने जनताकीर्णे वान्धकाराकुले **अकाले** **संलापनं करोति** । परभार्यया वा **सहैकमञ्चकादौ** रिरंसयेवावतिष्ठते यः, सोऽपि संग्रहणे प्रवृत्तो ग्राह्यः । एतच्चाशङ्क्यमानदोषपुरुषविषयम्, इतरस्य तु न दोषः । यथाऽऽह मनुः (८।३५५)—'यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् । न दोषं प्राप्नुयात्किंचिन्नहि तस्य व्यतिक्रमः ॥' इति । यः परस्त्रिया स्पृष्टः क्षमतेऽसावपि ग्राह्य इति तेनैवोक्तम् (८।३५८)—'स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तथा । परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥' इति । यश्च मयेयं विदग्धाऽसकृद्रमितचरीति श्लाघया भुजंगजनसमक्षं ख्यापयत्यसावपि ग्राह्य इति तेनैवोक्तम् । 'दर्पाद्वा यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वयं वदेत् । पूर्वं मयेयं भुक्तेति तच्च संग्रहणं स्मृतम् ॥' (ना० १२।६९) इति ॥ २८४ ॥

नीवी (वस्त्रग्रन्थि), स्तन, आच्छादन, जाँघ और केश का स्पर्श, बिना देश-काल के भाषण और एक आसन पर बैठना– ये व्यभिचारी के लक्षण हैं और इन्हें पकड़ना चाहिये ॥ २८४ ॥

प्रतिषिद्धयोः स्त्रीपुंसयोः पुनः संल्लापादिकरणे दण्डमाह—

[1]स्त्री निषेधे शतं दद्याद्द्विशतं तु दमं पुमान् ।
प्रतिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा ॥ २८५ ॥

प्रतिषिध्यत इति **प्रतिषेधः** पतिपित्रादिभिर्येन सह संभाषणादिकं निषिद्धं **तत्र** प्रवर्तमाना **स्त्री शतपणं दण्डं दद्यात्** । **पुरुषः** पुनरेवं **निषिद्धे** प्रवर्तमानो **द्विशतं दद्यात्** । **द्वयोस्तु** स्त्रीपुंसयोः प्रतिषिद्धे प्रवर्तमानयोः **संग्रहणे** संभोगे वर्णानुसारेण **यो दण्डो वक्ष्यते स एव विज्ञेयः** । एतच्च चारणादिभार्याव्यतिरेकेण । 'नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु । सज्जयन्ति हि ते नारीं निगूढाश्चारयन्ति च ॥ (८।३६२)—इति मनुस्मरणात् ॥२८५॥

(पति, पिता, भाई इत्यादि द्वारा) प्रतिषिद्ध पुरुष के साथ संभाषण पर स्त्री को सौ पण दण्ड होता है और इनके द्वारा प्रतिषिद्ध होने पर पुरुष द्वारा संभाषणादि करने पर पुरुष को दो सौ पण दण्ड होता है और उन दोनों के प्रतिषिद्ध होने पर संग्रहण (संभोग) में जो वर्णानुसार दण्ड होता है वह लगता है ॥ २८५ ॥

तमिदानीं संग्रहणे दण्डमाह—

सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः ।
प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम् ॥ २८६ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां बलात्कारेण सजातीयगुप्तपरदाराभिगमने साशीतिपणसहस्रं दण्डनीयः। यदा **त्वानुलोम्येन हीनवर्णां** स्त्रियमगुप्तामभिगच्छति, तदा **मध्यमसाहसं दण्डनीयः**। यदा पुनः सवर्णामगुप्तामानुलोम्येन गुप्तां वा व्रजति तदा मानवे विशेष उक्तः (८।३७८-३८३)—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन्। शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः॥' तथा—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्। शूद्रायां क्षत्रियविशोः सहस्रं तु भवेद्दमः॥' इति॥ एतच्च गुरुसखिभार्यादिव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम्।—'माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा। पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता। राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या॥ आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते। शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते॥' (१२।७३—७५) इति नारदस्मरणात्। प्रातिलोम्ये उत्कृष्टवर्णस्त्रीगमने क्षत्रियादेः पुरुषस्य वधः। एतच्च गुप्ताविषयम्; अन्यत्र तु धनदण्डः। 'उभावपि हि तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह। विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु सेवेतां वैश्यपार्थिवौ। वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम्॥' (८।३७७।३७६) इति मनुस्मरणात्। शूद्रस्य पुनरगुप्तामुत्कृष्टवर्णां स्त्रियं व्रजतो लिङ्गच्छेदनसर्वस्वापहारौ; गुप्तां तु व्रजतस्तस्य वधसर्वस्वापहाराविति तेनैवोक्तम्। (मनुः ८।३७४)—'शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्। अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते॥' इति। **नार्याः पुनर्हीनवर्णं व्रजन्त्याः कर्णयोः**, 'आदि'ग्रहणान्नासादेश्च कर्तनम्। आनुलोम्येन वा सवर्णं वा व्रजन्त्या दण्डः कल्प्यः। अयं च वधाद्युपदेशो राज्ञ एव, तस्यैव पालनाधिकारान्न द्विजातिमात्रस्य। तस्य 'ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रं नाददीत' इति शस्त्रग्रहणनिषेधात्। यदा तु राज्ञो निवेदनेन कालविलम्बनेन कार्यातिपाताशङ्का तदा स्वयमेव जारादीन्हन्यात्। (मनुः ८।३४८)—'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते'। तथा (मनुः ८।३५१)—'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥' इति शस्त्रग्रहणाभ्यनुज्ञानाच्च। तथा क्षत्रियवैश्ययोरन्योन्यस्त्र्यभिगमने यथाक्रमं सहस्र–पञ्चशतपणात्मकौ दण्डौ वेदितव्यौ। तदाह मनुः (८।३८२)—'वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत्। यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः॥' इति॥ २८६॥

सजातीय स्त्री से व्यभिचार करने पर उत्तम साहस का दण्ड होता है। अनुलोम वर्ण (अर्थात् अपने से छोटी जाति की) स्त्री से व्यभिचार करने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है। प्रतिलोम (अर्थात् अपने से बड़ी) स्त्री से व्यभिचार करने पर वध का दण्ड होता है। अपने से हीन वर्ण के साथ व्यभिचाररत स्त्री का कान आदि काट लेना चाहिये (उच्च या सवर्ण के साथ व्यभिचारिणी को दण्ड देना चाहिये)॥ २८६॥

पारदार्यप्रसङ्गात्कन्यायामपि दण्डमाह—

अलंकृतां हरेन्[2]कन्यामुत्तमं ह्यन्यथा[3]ऽधमम् ।
दण्डं दद्यात्सवर्णासु प्रातिलोम्ये वधः स्मृतः ॥ २८७ ॥

विवाहाभिमुखीभूतामलंकृतां सवर्णां **कन्यामपहरन्नुत्तमसाहसं दण्डनीयः** । तदनभिमुखीं **सवर्णां हरन्प्रथमसाहसम्** । **उत्कृष्टवर्णजां कन्यामपहरतः** पुनः क्षत्रियादेर्वध **एव** । दण्डविधानाच्चापहर्तृसकाशादाच्छिद्यान्यस्मै देयेति गम्यते ॥ २८७ ॥

विवाह के लिये अलंकृत (तैयार) सवर्णा कन्या का अपहरण करने वाले को उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिये। दूसरी स्थिति में (अर्थात् कन्या का जहाँ तत्काल विवाह न हो रहा हो) अधम साहस का दण्ड देना चाहिये। अपने से उच्च जाति की कन्या का अपहरण करने पर वध का दण्ड देना चाहिये ॥ २८७ ॥

आनुलोम्यापहरणे दण्डमाह—

सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः ।

यदि **सानुरागां हीनवर्णां** कन्यामपहरति तदा **दोषाभावान्न दण्डः । अन्यथा** त्वनिच्छन्तीमपहरतः **प्रथमसाहसो दण्डः** ॥

कन्या के भी सकामा और अपने से नीच जाति का होने पर (भगाने में) दोष नहीं होता, अन्यथा (कन्या का प्रेम न होने पर उत्तम साहस का) दण्ड होता है ॥२८७$\frac{1}{2}$ ॥

कन्यादूषणे दण्डमाह—

दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा ॥ २८८ ॥

'अनुलोमासु' इत्यनुवर्तते । **यद्यकामां** कन्यां बलात्कारेण नखक्षतादिना **दूषयति** तदा तस्य **करश्छेत्तव्यः** । यदा पुनस्तामेवाङ्गुलिप्रक्षेपेण योनिक्षतं कुर्वन्दूषयति तदा मनूक्तषट्शतसहितोऽङ्गुलिच्छेदः । 'अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः । तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥' (मनुः ८।३६७)—इति । यदा पुनः सानुरागां पूर्ववद्दूषयति तदाऽपि तेनैव विशेष उक्तः (मनुः ८।३६८)—'सकामां दूषयन्कन्यां नाङ्गुलिच्छेदमर्हति । द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ।' इति । यदा तु कन्यैव कन्यां दूषयति, विदग्धा वा, तत्रापि विशेषस्तेनैवोक्तः । 'कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्यास्तु द्विशतो दमः । या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ॥ अङ्गुल्योरेव वा च्छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥' (मनुः८।३६९)—इति । 'कन्यां कुर्यात्' इति कन्यां योनिक्षतवतीं कुर्यादित्यर्थः ॥ तदा पुनरुत्कृष्टजातीयां कन्यामविशेषात्सकामामकामां वाऽभिगच्छति तदा हीनस्य क्षत्रियादेर्वध एव; 'उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति'

(८।३६६)—इति मनुस्मरणात् ॥ यदा सवर्णां सकामामभिगच्छति तदा गोमिथुनं शुल्कं तत्पित्रे दद्यात्, यदीच्छति; पितरि तु शुल्कमनिच्छति दण्डरूपेण तदेव राज्ञे दद्यात्। सवर्णामकामां तु गच्छतो वध एव; यथाह मनुः (८।३६६)—'शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि'। (८।३६४)—'योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति। सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥' इति ॥ २८८ ॥

(हीन वर्ण की अकामा कन्या को) नखक्षतादि से दूषित करने पर हाथ काट लेना चाहिये। उत्तम वर्ण की कन्या हो तो वध विहित है ॥ २८८ ॥

शतं स्त्रीदूषणे दद्याद्द्वे तु मिथ्याभिशंसने ।
पशून्गच्छन्शतं दाप्यो हीनां स्त्रीं गां च मध्यमम् ॥२८९॥

किंच, 'स्त्री'शब्देनात्र प्रकृतत्वात्कन्याऽवमृश्यते। तस्या यदि कश्चिद्विद्यमानानेवापस्माररराजयक्ष्मादिदीर्घकुत्सितरोगसंसृष्टमैथुनत्वादिदोषान्प्रकाश्य 'इयमकन्या' इति दूषयति, असौ शतं दाप्यः। मिथ्याऽभिशंसने तु पुनरविद्यमानदोषाविष्कारेण दूषणे द्वे शते दापनीयः। गोव्यतिरिक्तपशुगमने तु शतं दाप्यः। यः पुनर्हीनां स्त्रियमन्त्यावसायिनीमविशेषात्सकामामकामां च गां चाभिगच्छत्यसौ मध्यमसाहसं दण्डनीयः ॥ २८९ ॥

स्त्री (कन्या) के (विद्यमान अपस्मार, क्षय, व्यभिचार आदि) दोषों को उद्घाटित करने पर सौ पण का दण्ड होता है और मिथ्या दोष कहने पर दो सौ पण का दण्ड होता है। पशु से मैथुन करने वाले को सौ पण दण्ड होता है। हीन वर्ण की स्त्री और गौ से मैथुन करने वाले को मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २८९ ॥

साधारणस्त्रीगमने दण्डमाह—

अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च ।
गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥ २९० ॥

'गच्छन्' इत्यनुवर्तते। उक्तलक्षणा वर्णस्त्रियो दास्यः, ता एव स्वामिना शुश्रूषाहानिर्व्युदासार्थं गृह एव स्थातव्यमित्येवं पुरुषान्तरोपभोगतो निरुद्धा अवरुद्धाः, पुरुषनियतपरिग्रहा भुजिष्याः, यदा दास्योऽवरुद्धा भुजिष्या वा भवेयुस्तदा तासु तथा। 'च'शब्दाद्वेश्यास्वैरिणीनामपि साधारणस्त्रीणां भुजिष्याणां च ग्रहणम्। तासु च सर्वपुरुषसाधारणतया गम्यास्वपि गच्छन् पञ्चाशत्पणं दण्डनीयः; परपरिगृहीतत्वेन तासां परदारतुल्यत्वात्। एतच्च स्पष्टमुक्तं नारदेन (१२।७८-७९)—'स्वैरिण्यब्राह्मणी वेश्या दासी निष्कासिनी च या। गम्याः स्युरानुलोम्येन स्त्रियो न प्रतिलोमतः ॥ आस्वेव तु भुजिष्यासु दोषः

स्यात्परदारवत् । गम्यास्वपि हि नोपेयाद्यतस्ताः सपरिग्रहाः ॥' इति ॥ निष्कासिनी स्वाम्यनवरुद्धा दासी । ननु च स्वैरिण्यादीनां साधारणतया गम्यत्वाभिधानमुक्तम् । नहि जातितः शास्त्रतो वा काश्चन लोके साधारणाः स्त्रिय उपलभ्यन्ते । तथा हि—स्वैरिण्यो दास्यश्च तावद्वर्णस्त्रिय एव; 'स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत् । वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ नच वर्णस्त्रीणां पत्यौ जीवति मृते वा पुरुषान्तरोपभोगो घटते; 'दुःशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः । परिचार्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । नतु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥' (मनुः ५।१५४–१५७)— इति निषेधस्मरणात् ॥ नापि कन्यावस्थायाः साधारणत्वम् । पित्रादिपरिरक्षितायाः कन्याया एव दानोपदेशात् । दात्रभावेऽपि तथाविधाया एव स्वयंवरोपदेशात् । नच दासीभावात्स्वधर्माधिकारच्युतिः । पारतन्त्र्यं हि दास्यम्, न स्वधर्मपरित्यागः । नापि वेश्या साधारणी; वर्णानुलोमजव्यतिरेकेण गम्यजात्यन्तरासंभवात् । तदन्तःपातित्वे च पूर्ववदेवागम्यत्वम्; प्रतिलोमजत्वे तु तासां नितरामगम्यत्वम् । अतः पुरुषान्तरोपभोगे तासां निन्दितकर्माभ्यासेन पातित्यात्, पतितसंसर्गस्य निषिद्धत्वाच्च न सकलपुरुषोपभोगयोग्यत्वम् । सत्यमेवम् । किं त्वत्र स्वैरिण्याद्युपभोगे पित्रादिरक्षकराजदण्डभयादिदृष्टदोषाभावाद्गम्यत्वं वाचोयुक्तिः । दण्डाभावश्चावरुद्धासु दासीष्विति नियतपुरुषपरिग्रहोपाधितो दण्डविधानात्तदुपाधिरहितास्वर्थादवगम्यते । स्वैरिण्यादीनां पुनर्दण्डाभावो विधानाभावात् ॥ 'कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टां न किंचिदपि दापयेत् ॥' इति लिङ्गनिदर्शनाच्चावगम्यते । प्रायश्चित्तं तु स्वधर्मस्खलननिमित्तं गम्यानां गन्तॄणां चाविशेषाद्भवत्येव । यत्पुनर्वेश्यानां जात्यन्तरासंभवेन वर्णान्तःपातित्वमनुमस्नादुक्तम्—'वेश्या वर्णानुलोमाद्यन्तःपातिन्यः; मनुष्यजात्याश्रयत्वात्, ब्राह्मणादिवत्' इति । तन्न; कुण्डगोलकादिभिरनैकान्तिकत्वात् । अतो वेश्याख्या काचिज्जातिरनादिर्वेश्यायामुत्कृष्टजातेः समानजातेर्वा पुरुषादुत्पन्ना पुरुषसंभोगवृत्तिर्वेश्येति ब्राह्मण्यादिवल्लोकप्रसिद्धिबलादभ्युपगमनीयम् । नच निर्मूलेयं प्रसिद्धिः । स्मर्यते हि स्कन्दपुराणे—'पञ्चचूडा नाम काश्चनाप्सरसः, तत्सन्ततिर्वेश्याख्या पञ्चमी जातिः' इति। अतस्तासां नियतपुरुषपरिणयनविधिविधुरतया समानोत्कृष्टजातिपुरुषाभिगमने नादृष्टदोषो नापि दण्डः । तासु चानवरुद्धासु गच्छतां पुरुषाणां यद्यपि न दण्डस्तथाऽप्यदृष्टदोषोऽस्त्येव । 'स्वदारनिरतः सदा' (३।४५) इति नियमात् ।—'पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते' इति प्रायश्चित्तस्मरणाच्चेति निरवद्यम् ॥ २९० ॥

दासी तथा भुजिष्या (किसी पुरुष-विशेष के परिग्रहवाली) यदि किसी व्यक्ति की सेवा के लिये अवरुद्ध है तो उनके गम्य होने पर भी (उनके विशेष व्यक्ति की सेवा में नियत होने के कारण) उनसे संभोग करने पर पुरुष पचास पण दण्ड का भागी होता है ॥ २९० ॥

'अवरुद्धासु दासीषु' (व्य० २९०) इत्यनेन दासीस्वैरिण्यादिभुजिष्याभिगमने दण्डं विदधतस्तास्वभुजिष्यासु दण्डो नास्तीत्यर्थादुक्तं तस्यापवादमाह—

प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः ।
बहूनां यद्यकामाऽसौ चतुर्विंशतिकः पृथक् ॥ २९१ ॥[२]

पुरुषसंभोगजीविकासु दासीषु[१] स्वैरिण्यादिषु शुल्कदानविरहेण प्रसह्य बलात्कारेणाभिगच्छतो दशपणो दण्डः। यदि बहव एकाम[३]निच्छन्तीमपि बलात्कारेणाभिगच्छन्ति तर्हि प्रत्येकं चतुर्विंशतिपणपरिमितं दण्डं दण्डनीयाः । यदा पुनस्तदिच्छया भाटिं[४] दत्त्वा पश्चादनिच्छन्तीमपि बलाद्व्रजन्ति तदा तेषामदोषः; यदि व्याध्याद्यभिभवस्तस्या न स्यात्; 'व्याधिता सश्रमा व्यग्रा राजकर्मपरायणा । आमन्त्रिता चेन्नागच्छेददण्ड्या वडवा स्मृता ॥' इति नारदवचनात् ॥ २९१ ॥

दासी (स्वैर वृत्ति से जीविका चलाने वाली व्यभिचारिणी) से बलपूर्वक (बिना द्रव्य के) व्यभिचार करने वाले को दश पण दण्ड बताया गया है। ऐसी स्वैरिणी की कामना न होने पर यदि बहुत लोग बलपूर्वक संभोग करें तो प्रत्येक को चौबीस पण दण्ड होता है ॥ २९१ ॥

गृहीतवेतना वेश्या नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् ।
अगृहीते समं दाप्यः पुमानप्येवमेव हि ॥ २९२ ॥

यदा तु शुल्कं गृहीत्वा स्वस्थापि अर्थपतिं नेच्छति तदा द्विगुणं शुल्कं दद्यात् तथा शुल्कं दत्त्वा स्वयमनिच्छतः स्वस्थस्य पुंसः शुल्कहानिरेव । —'शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् । अनिच्छन्दत्तशुल्कोऽपि शुल्कहानिमवाप्नुयात् ॥' इति तेनैवोक्तम् । तथाऽन्योऽपि विशेषस्तेनैव दर्शितः—'अप्रयच्छंस्तथा शुल्कमनुभूय पुमान्स्त्रियम् । अक्रमेण च संगच्छन् घातदन्तनखादिभिः ॥ अयोनौ वाऽभिगच्छेद्यो बहुभिर्वाऽपि वासयेत् । शुल्कमष्टगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु ॥ वेश्याप्रधाना यास्तत्र कामुकास्तद्गृहोषिताः । तत्समुत्थेषु कार्येषु निर्णयं संशये विदुः ॥' इति ॥ २९२ ॥

मूल्य लेकर (और स्वस्थ होने पर भी) मूल्य देने वाले पुरुष से संभोग की इच्छा न करने वाली वेश्या उसे दूना धन लौटावे। यदि धन न ली हो तो (शुल्क तय करने के बाद इनकार करने वाली) उतना धन लौटावे। इसी प्रकार का दण्ड वेश्या के पास जाने वाले पुरुष पर लगता है (अर्थात् मूल्य तय कर और संभोग कर न देने वाला दूना दे और मूल्य तय कर संभोग न करने वाला निश्चित मूल्य दे) ॥ २९२ ॥

[1]अयोनौ गच्छतो योषां पुरुषं वा[2]ऽभिमेहतः ।
चतुर्विंशतिको दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ॥ २९३ ॥

किंच, य[3]स्तु स्वयोषां मुखादावभिगच्छति पुरुषं वाऽभिमुखो मेहति तथा प्रव्रजितां वा गच्छत्यसौ चतुर्विंशतिपणान्दण्डनीयः ॥ २९३ ॥

जो स्त्री की योनि में संभोग न कर अयोनि (मुखादि) में मैथुन करता है या किसी पुरुष के समक्ष मैथुन करता है या संन्यासिनी के साथ मैथुन करता है उसे चौबीस पण दण्ड लगता है ॥ २९३ ॥

अन्त्याभिगमने त्व[4]ङ्क्यः कु[5]बन्धेन प्रवासयेत् ।
शूद्रस्तथा[6]ऽन्त्य एव स्यादन्त्यस्यार्यागमे वधः ॥ २९४ ॥

किंच, अन्त्या चाण्डाली तद्गमने त्रैवर्णिकान्प्रायश्चित्तानभिमुखान् 'सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्' (८।३८५) इति मनुवचनात्पणसहस्रं दण्डयित्वा कुबन्धेन कुत्सितबन्धेन भगाकारेणाङ्कयित्वा स्वराष्ट्रान्निर्वासयेत् । प्रायश्चित्ताभिमुखस्य पुनर्दण्डनमेव । शूद्रः पुनश्चाण्डाल्यभिगमेऽन्त्य एव चाण्डाल एव भवति। अन्त्यजस्य पुनश्चाण्डालादेरुत्कृष्टजातिस्त्र्यभिगमे वध एव ॥ २९४ ॥

चाण्डाली के साथ मैथुन करने वाले के शरीर पर भग का चिह्न बना कर (दाग कर) राष्ट्र से बाहर निकाल दे। (चाण्डाली से संभोग करने पर) चाण्डाल हो जाता है। आर्या (चातुर्वर्ण्य की स्त्री) से संभोग करने पर चाण्डाल का वध ही दण्ड है ॥ २९४ ॥

इति स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् ।

अथ प्रकीर्णकप्रकरणम् २९

व्यवहारप्रकरणमध्ये स्त्रीपुंसयोगाख्यमप्यपरं विवादपदं मनुनारदाभ्यां विवृतम्। तत्र नारदः (१२।१)—'विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्त्यते। स्त्रीपुंसयोगसंज्ञं तद्विवादपदमुच्यते ॥' इति ॥ मनुरप्याह (९।२)—'अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्। विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या ह्यात्मनो वशे ॥' इत्यादि ॥ यद्यपि स्त्रीपुंसयोः परस्परमर्थिप्रत्यर्थितया नृपसमक्षं व्यवहारो निषिद्धः, तथापि प्रत्यक्षेण कर्णपरम्परया वा विदिते तयोः परस्परातिचारे दण्डादिना दम्पती निजधर्ममार्गे राज्ञा स्थापनीयौ। इतरथा दोषभाग्भवतीति व्यवहारप्रकरणे राजधर्ममध्येऽस्य स्त्रीपुंसधर्मजातस्योपदेशः। एतच्च विवाहप्रकरण एव सप्रपञ्चं प्रतिपादितमिति योगीश्वरेण न पुनरत्रोक्तम् ॥

सांप्रतं प्रकीर्णकाख्यं व्यवहारपदं प्रस्तूयते। तल्लक्षणं च कथितं नारदेन (१७।१-४)—'प्रकीर्णकेषु विज्ञेया व्यवहारा नृपाश्रयाः। राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्क-

मीकरणं तथा ॥ पुरःप्रदानं संभेदः प्रकृतीनां तथैव च । पाखण्डिनैगमश्रेणिगणधर्मविपर्ययाः ॥ पित्रापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यसंक्रमः । प्रतिग्रहविलोपश्च कोपश्चाश्रमिणामपि ॥ वर्णसंकरदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा । न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णके ॥' इति ॥ प्रकीर्णके विवादपदे ये विवादा राजाज्ञोल्लङ्घनतदाज्ञाकरणादिविषयास्ते नृपसमवायिनः । नृप एव तत्र स्मृत्याचारव्यपेतमार्गे वर्तमानानां प्रतिकूलतामास्थाय व्यवहारनिर्णयं कुर्यात् ॥ एवं च वदता यो नृपाश्रयो व्यवहारस्तत्प्रकीर्णकमित्यर्थाल्लक्षितं भवति ॥

तत्रापराधविशेषेण दण्डविशेषमाह—

ऊनं[1] वा[2]ऽभ्यधिकं वा[3]ऽपि लिखेद्यो राजशासनम् ।
पारदारिक[4]चौरं वा मुञ्चतो दण्ड उत्तमः ॥ २९५ ॥

राजदत्तभूमेर्निबन्धस्य वा परिमाणान्न्यूनत्वमाधिक्यं वा प्रकाशयन् **राजशासनं योऽभिलिखति**, यश्च **पारदारिकं चौरं वा** गृहीत्वा राज्ञेऽनर्पयित्वा **मुञ्चति** तावुभावुत्तमसाहसं दण्डनीयौ ॥ २९५ ॥

जो राजा के आदेश को कम या अधिक करके लिखता है और पर-स्त्रीगामी या चोर को (राजा को दण्डार्थ न सौंपकर) छोड़ देता है— इन दोनों को उत्तम साहस का दण्ड विहित है ॥ २९५ ॥

प्रसङ्गान्नृपाश्रयव्यतिरिक्तव्यवहारविषयमपि दण्डमाह—

[5]अभक्ष्येण द्विजं दूष्यो दण्ड्य उत्तमसाहसम् ।
मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं प्रथमं शूद्रमार्धिकम् ॥ २९६ ॥

मूत्रपुरीषादिना **अभक्ष्येण** भक्ष्यानर्हेण दूष्यान्नपानादिमिश्रणेन [6]स्वरूपेण वा **ब्राह्मणं दूषयित्वा** खादयित्वोत्तमसाहसं **दण्ड्यो** भवति । **क्षत्रियं** पुनरेवं दूषयित्वा **मध्यमम्**, **वैश्यं** दूषयित्वा **प्रथमम्**, **शूद्रं** दूषयित्वा **प्रथमसाहसस्यार्धम्**, 'दण्ड्यो भवति' इति संबन्धः । लशुनाद्यभक्ष्यदूषणे तु दोषतारतम्याद्दण्डतारतम्यमूहनीयम् ॥ २९६ ॥

अभक्ष्य पदार्थ से ब्राह्मण को दूषित करने वाला अर्थात् ऐसे पदार्थों या उनके संपर्क से ब्राह्मण के अन्न को दूषित कर खिलाने वाला उत्तम साहस के दण्ड का पात्र होता है। क्षत्रिय को अभक्ष्य से दूषित करने वाला मध्यम साहस के दण्ड का भागी होता है। वैश्य को दूषित करने वाले को प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिये और शूद्र को दूषित करने वाले को अधम साहस का आधा दण्ड देना चाहिये ॥ २९६ ॥

कूटस्वर्णव्यवहारी विमांसस्य च विक्रयी ।
त्र्यङ्गहीनस्तु कर्तव्यो दाप्यश्चोत्तमसाहसम् ॥ २९७ ॥

किंच, रसवेधाद्यापादितवर्णोत्कर्षैः **कूटैः स्वर्णैर्व्यवहारशीलो** यः स्वर्णकारादिः। यश्च **विमांसस्य** कुत्सितमांसस्य श्वादिसंबद्धस्य **विक्रयशीलः** सौनिकादिः; 'च'शब्दात्कूटरजतादिव्यवहारी च, ते सर्वे प्रत्येकं नासाकर्णकरैस्त्रिभिरङ्गैर्हीनाः **कार्याः**। 'च'शब्दांत्र्यङ्गच्छेदेन समुच्चित**मुत्तमसाहसं** दण्डं **दाप्याः** । यत्पुनर्मनुनोक्तम् (९-२९२)—'सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः। प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥' इति,—तदेतद्देवब्राह्मणराजस्वर्णविषयम् ॥ २९७ ॥

नकली सोने का व्यवहार करने वाले तथा (कुत्ता आदि के) कुत्सित मांस को बेचने वाले को (नाक, कान और हाथ) तीन अङ्ग काट कर उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिये ॥ २९७ ॥

विषयविशेषे दण्डाभावमाह—

चतुष्पादकृतो दोषो नापेहीति प्रजल्पतः ।
काष्ठलोष्टेषुपाषाणबाहुयुग्यकृतस्तथा ॥ २९८ ॥

चतुष्पादैर्गोगजादिभिः **कृतो** यो **दोषो** मनुष्यमारणादिरूपोऽसौ गवादिस्वामिनो न भवति, **अपसरेति प्रकर्षेणोच्चैर्भाषमाणस्य**। तथा **लकुटलोष्टसायकपाषाणो**त्क्षेपणेन **बाहुना युग्येन च** युगं वहताश्वादिना **कृतो** यः पूर्वोक्तो दोषः सोऽपि काष्ठादीन्प्रास्यतो न भवत्यप्रसरेति **प्रजल्पतः** । काष्ठाद्युत्क्षेपणेन हिंसायां दोषाभावकथनं दण्डाभावप्रतिपादनार्थम्। प्रायश्चित्तं पुनरबुद्धिपूर्वकरणनिमित्तमस्त्येव। काष्ठादिग्रहणं च शक्तितोमरादेरुपलक्षणार्थम् ॥२९८॥

यदि पशु का स्वामी 'हटो-हटो' कह रहा है (और कोई नहीं हटता और पशु से घायल होता है तो) स्वामी का कोई अपराध नहीं होता। (इसी प्रकार हटने का आह्वान करने के बाद भी) काष्ठ, ढेला, बाण, पत्थर, हाथ और (रथादि में) जुते पशुओं से चोट खाने पर भी चलाने वाले और हाँकने वाले का कोई दोष नहीं होता ॥ २९८ ॥

छिन्ननस्येन यानेन तथा भग्नयुगादिना ।
पश्चाच्चैवापसरता हिंसने स्वाम्यदोषभाक् ॥ २९९ ॥

किंच, नसि भवा रज्जुर्नस्या छिन्ना शकटादियुक्तबलीवर्दनस्या रज्जुर्यस्मिन्याने तत् **छिन्ननस्यं** शकटादि तेन, तथा **भग्नयुगेन** 'आदि'ग्रहणाद्भग्नाक्षचक्रादिना च **यानेन पश्चात्**पृष्ठतो**ऽपसरता** 'च'शब्दात्तिर्यगपगच्छता प्रतिमुखं वागच्छता च मनुष्यादि**हिंसने स्वामी** प्राजको वा **दोषभाङ् न भवति**। अतत्प्र-

यत्नजनितत्वाद्धिंसनस्य । तथा च मनुः (८।२९१।२९२)—'छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते । अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्तृरश्म्योस्तथैव च । [2]आक्रन्दे सत्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥' इति ॥

गाड़ी में जुते बैल की रस्सी टूटने पर या गाड़ी के जुये आदि के टूटने से या गाड़ी के पीछे खिसकने से यदि किसी को चोट लगती है तो स्वामी (गाड़वीन्) का दोष नहीं होता ॥ २९९ ॥

उपेक्षायां स्वामिनो दण्डमाह—

शक्तोऽप्यमोक्षयन्स्वामी दंष्ट्रिणां शृङ्गिणां तथा ।
प्रथमं साहसं दद्याद्विक्रुष्टे द्विगुणं तथा ॥ ३०० ॥

अप्रवीणप्राजकप्रेरितैर्दंष्ट्रिभिर्गजादिभिः शृङ्गिभिर्गवादिभिर्वध्यमानं समर्थोऽपि तत्स्वामी यद्यमोक्षयन्नुपेक्षते, तदा अकुशलप्राजकनियोजननिमित्तं प्रथमसाहसं दण्डं दद्यात् । यदा तु 'मारितोऽहम्' इति विक्रुष्टेऽपि न मोक्षयति तदा द्विगुणम् । यदा पुनः प्रवीणमेव प्राजकं प्रेरयति तदा प्राजक एव दण्ड्यो न स्वामी । यथाह मनुः (८।२९४)—'प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति' इति ॥ प्राजको यन्ता । [2]आप्तोऽभियुक्तः । प्राणिविशेषाच्च दण्डविशेषः कल्पनीयः । यथाह मनुः (८।२९६–९८)—'मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषी भवेत् । प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ क्षुद्राणां च पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः । पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषकः । माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वशूकरनिपातने ॥' इति ॥

दाँत वाले (हाथी आदि) तथा सींग वाले (बैल आदि) पशुओं (के किसी पर आक्रमण करने पर) से समर्थ होनें पर भी स्वामी यदि किसी को न बचाये तो प्रथम साहस का दण्ड लगता है और यदि चिल्लाने पर भी न छुड़ावे तो इसका दुगुना दण्ड होता है ॥ ३०० ॥

जारं चौरेत्यभिवदन्दाप्यः पञ्चशतं दमम् ।
उपजीव्य धनं मुञ्चंस्तदेवाष्टगुणीकृतम् ॥ ३०१ ॥

किंच, स्ववंशकलङ्कभयाज्जारं पारदारिकं 'चौर! निर्गच्छे'त्यभिवदन् पञ्चशतं पणानां पञ्च शतानि यस्मिन्दमे स तथोक्तस्तं दमं दाप्यः । यः पुनर्जारहस्ताद्धनमुपजीव्य उत्कोचरूपेण गृहीत्वा जारं मुञ्चत्यसौ यावद्गृहीतं तावदष्टगुणीकृतं दण्डं दाप्यः ॥ ३०१ ॥

जार को (स्वकुल के मर्यादाभङ्ग के भय से) जो चोर-चोर कहता है उसे पाँच सौ पण दण्ड लगाना चाहिये और जो जार (व्यभिचारी) को द्रव्य लेकर छोड़ देता है उससे जितना उसने लिया है उसका आठ गुना लेना चाहिये ॥ ३०१ ॥

राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाक्रोशकारिणम् ।
तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्त्वा जिह्वां प्रवासयेत् ॥ ३०२ ॥

किंच, राज्ञोऽनिष्टस्यानभिमतस्यामित्रस्तोत्रादेः प्रकर्षेण भूयो भूयो वक्तारं तस्यैव राज्ञ आक्रोशकारिणं निन्दाकरणशीलं तदीयस्य च मन्त्रस्य स्वराष्ट्रविवृद्धिहेतोः परराष्ट्रापक्षयकरस्य वा भेत्तारं अमित्रकर्णेषु जपन्तं तस्य जिह्वामुत्कृत्य स्वराष्ट्रान्निष्कासयेत् । कोशापहरणादौ पुनर्वध एव । (मनुः ९।२७५) —'राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् । घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥' इति मनुस्मरणात् । विविधैः सर्वस्वापहाराङ्गच्छेदवधरूपैरित्यर्थः । सर्वस्वापहारेऽपि यद्यस्य जीवनोपकरणं तन्नापहर्तव्यम् चौर्योपकरणं विना । यथाह नारदः—(१७।१०,११) 'आयुधान्यायुधीयानां वाह्यादीन्वाह्यजीविनाम् । वेश्यास्त्रीणामलंकारान्वाद्यातोद्यादि तद्विदाम् ॥ यच्च यस्योपकरणं येन जीवन्ति कारुकाः । सर्वस्वहरणेऽप्येतन्न राजा हर्तुमर्हति ॥' इति । ब्राह्मणस्य पुनः 'न शारीरो ब्राह्मणे दण्डः' (गौ० १२।४६) इति निषेधाद्वधस्थाने शिरोमुण्डनादिकं कर्तव्यम्—'ब्राह्मणस्य वधो मौण्ड्यं पुरान्निर्वासनाङ्कने । ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन तु ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ ३०२ ॥

राजा के अनभिमत (शत्रु आदि की स्तुति) को बार-बार कहने वाले, राजा की निन्दा करने वाले तथा उसकी गुप्त बातों को प्रकट करने वाले की जिह्वा काटकर राज्य से निकाल दे ॥ ३०२ ॥

मृताङ्गलग्नविक्रेतुर्गुरोस्ताडयितुस्तथा ।
राजयानासनारोढुर्दण्ड उत्तमसाहसः ॥ ३०३ ॥

किंच, मृतशरीरसंबन्धिनो वस्त्रपुष्पादेर्विक्रेतुः गुरोः पित्राचार्यादेस्ताडयितुः तथा राजानुमतिं विना तद्यानं गजाश्वादि आसनं सिंहासनादि आरोहतश्चोत्तमसाहसो दण्डः ॥ ३०३ ॥

मृतक के अङ्ग में लगे (वस्त्रादि) को बेचने वाले, गुरु (माता, पिता, आचार्यादि) की ताड़ना करने वाले तथा राजा की सवारी एवं आसन पर चढ़ने वाले को उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिये ॥ ३०३ ॥

द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा ।
विप्रत्वेन च शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दमः ॥ ३०४ ॥

किंच, यः पुनः क्रोधादिना परस्य नेत्रद्वयं भिनत्ति । यश्च ज्योतिःशास्त्रवित् गुर्वादिहितेच्छुव्यतिरिक्तो राज्ञो द्विष्टमनिष्टं 'संवत्सरान्ते तव राज्यच्युतिर्भविष्यति' इत्येवमादिरूपमादेशं करोति । तथा च यः शूद्रो भोजनार्थं

यज्ञोपवीतादीनि ब्राह्मणलिङ्गानि **धारयति** तेषामष्टशतो **दमः** । अष्टौ पणशतानि यस्मिन्दमे स तथोक्तः । 'श्राद्धभोजनार्थं पुनः शूद्रस्य विप्रवेषधारिणस्तप्तशलाकया यज्ञोपवीतवद्वपुष्यालिखेत्' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । वृत्त्यर्थं तु यज्ञोपवीतादिब्राह्मणलिङ्गधारिणो वध एव ।—'द्विजातिलिङ्गिनः शूद्रान्घातयेत्' इति स्मरणात् ॥ ३०४ ॥

किसी की दोनों आँखों को फोड़ने वाले, राजा के अनिष्ट (राज्यनाश आदि) की घोषणा करने वाले तथा ब्राह्मण बनकर जीविका चलाने वाले शूद्र को आठ सौ पण का दण्ड लगता है ॥ ३०४ ॥

रागलोभादिनाऽन्यथा व्यवहारदर्शने दण्डमाह—

दुर्दृष्टांस्तु[1] पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान्नृपेण तु ।
सभ्याः सजयिनो दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं[2] दमम् ॥ ३०५ ॥

दुर्दृष्टान्स्मृत्याचारप्राप्तधर्मोल्लङ्घनेन रागलोभादिभिरसम्यग्विचारितत्वेनाशङ्क्यमानान् **व्यवहारान्पुनः स्वयं राजा सम्यग्विचार्य** निश्चितदोषाः पूर्व**सभ्याः संजयिनः[3]** प्रत्येकं **विवादपदे** यो दमः पराजितस्य **तद्द्विगुणं** **दाप्याः** । अप्राप्तजेतृदण्डविधिपरत्वाद्वचनस्य रागाल्लोभादित्यादिना श्लोकेनापौनरुक्त्यम् । यदा पुनः साक्षिदोषेण व्यवहारस्य दुर्दृष्टत्वं ज्ञातं तदा साक्षिण एव दण्ड्याः, न जयी नापि सभ्याः । यदा तु राजानुमत्या व्यवहारस्य दुर्दृष्टत्वं ज्ञातं तदा सर्व एव राजसहिताः सभ्यादयो दण्डनीयाः ।—'पादो गच्छति कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥' (८।१७) इति वचनात् । एतच्च प्रत्येकं राजादीनां दोषप्रतिपादनपरं, न पुनरेकैकस्यैव पापापूर्वस्य विभागाय । यथोक्तम्—'कर्तृसमवायिफलजननस्वभावत्वादपूर्वस्य' इति ॥ ३०५ ॥

गलत निर्णय किये गये मुकदमों को राजा पुनः निर्णीत कर सभ्य (निर्णय करने वाले सभासद) तथा जीतने वाले से विवाद में हारने वाले को दिये गये दण्ड का दुगुना धन दण्ड में ले ॥ ३०५ ॥

न्यायतो निर्णीतव्यवहारस्य प्रत्यावर्तयितुर्दण्डमाह—

यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः ।
तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेद्द्विगुणं दमम् ॥ ३०६ ॥

यः पुनर्न्यायमार्गेण **पराजितोऽपि** औद्धत्यात् **'नाहं पराजितोऽस्मि'** इति **मन्यते तमायान्तं** कूटलेख्याद्युपन्यासेन पुनर्धर्माधिकारिणमधितिष्ठन्तं धर्मेण **पुनः** पराजयं **नीत्वा द्विगुणं दण्डं दापयेत्** ॥ नारदेनाप्युक्तम्—'तीरितं चानुशिष्टं च मन्येत विधर्मतः । द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥' इति । तीरितं साक्षिलेख्यादिनिर्णीतमनुद्धृतदण्डम् । अनुशिष्टमुद्धृतदण्डम् । दण्डपर्यन्तं नीतमिति यावत् । यत्पुनर्मनुर्वचनम् (९।२३३)—'तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन विद्यते । कृतं तद्धर्मतो ज्ञेयं न तत्प्राज्ञो निवर्तयेत् ॥'

इति, तदर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरवचनाद्व्यवहारस्याधर्मतो वृत्तत्वाशङ्कायां पुनर्द्विगुणदण्डप्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारं प्रवर्तयेत्, न पुनर्धर्मतो वृत्तत्वनिश्चयेऽपि राज्ञा लोभादिना प्रवर्तयितव्य इत्येवंपरम् । यत्पुनर्नृपान्तरेणापि न्यायापेतं कार्यं निर्वर्तितं तदपि सम्यक्परीक्षणेन धर्म्यें पथि स्थापनीयम्। 'न्यायापेतं यदन्येन राज्ञा ज्ञानकृतं भवेत्। तदप्यन्यायविहितं पुनर्न्याये निवेशयेत् ॥' इति स्मरणात् ॥३०६॥

जो न्यायपूर्वक पराजित होने पर भी 'मैं पराजित नहीं हूँ' ऐसा मानता है उस जेता के विचार से आने वाले को विधिपूर्वक पुनः पराजित कर दूना दण्ड लगावे ॥ ३०६ ॥

अन्यायगृहीतदण्डधनस्य गतिमाह—

राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो गृहीतो वरुणाय तम् ।
निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः स्वयं त्रिंशद्गुणीकृतम् ॥ ३०७ ॥[२]

अन्यायेन यो दण्डो राज्ञा लोभादिना गृहीतस्तं त्रिंशद्गुणीकृतं वरुणायेदमिति संकल्प्य ब्राह्मणेभ्यः स्वयं दद्यात् । यस्माद्दण्डरूपेण यावद्गृहीतमन्यायेन तावत्तस्मै प्रतिदेयम्, इतरथापहारदोषप्रसङ्गात्। अन्यायदण्डग्रहणे पूर्वस्वामिनः स्वत्वविच्छेदाभावाच्चेति ॥ ३०७ ॥

यदि राजा ने (लोभादिवशात्) अन्याय से किसी से दण्ड लिया हो तो उसे तीस गुणा करके वरुण को उस धन को निवेदन कर ब्राह्मणों को दान कर दे। (और अन्याय से जिससे जितना दण्ड लिया हो उसे उतना लौटा दे) ॥ ३०७ ॥

इति श्रीमत्पद्मनाभभट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षराख्यायां याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रविवृतौ द्वितीयोऽध्यायो व्यवहाराख्यः संपूर्णः ॥

अथास्मिन्नध्याये प्रकरणानुक्रमणिका कथ्यते। आद्यं साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १। असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २। ऋणादानम् ३। उपनिधिप्रकरणम् ४। साक्षिप्रकरणम् ५। लेख्यप्रकरणम् ६। दिव्यप्रकरणम् ७। दायविभागः ८। सीमाविवादः ९। स्वामिपालविवादः १०। अस्वामिविक्रयः ११। दत्ताप्रदानिकम् १२। क्रीतानुशयः १३। अभ्युपेत्याशुश्रूषा १४। संविद्व्यतिक्रमः १५। वेतनादानम् १६। द्यूतसमाह्वयाख्यम् १७। वाक्पारुष्यम् १८। दण्डपारुष्यम् १९। साहसम् २०। विक्रियासंप्रदानम् २१। संभूयसमुत्थानम् २२। स्तेयप्रकरणम् २३। स्त्रीसंग्रहणम् २४। प्रकीर्णकम् २५।

इति पञ्चविंशतिप्रकरणानि ॥

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः ।
धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः ॥ १ ॥

अथ प्रायश्चित्ताध्यायः ३

अथाशौचप्रकरणम् १

गृहस्थाश्रमिणां नित्यनैमित्तिका धर्मा उक्ताः । अभिषेकादिगुणयुक्तस्य गृहस्थविशेषस्य गुणधर्माश्च प्रदर्शिताः । अधुना तदधिकारसंकोचहेतुभूताशौचप्रतिपादनमुखेन तेषामपवादाः प्रतिपाद्यन्ते । 'आशौच'शब्देन च कालस्नानाद्यपनोद्यः पिण्डोदकदानादिविधेः अध्ययनादिपर्युदासस्य च निमित्तभूतः पुरुषगतः कश्चनातिशयः कथ्यते, न पुनः कर्मानधिकारमात्रम् । 'अशुद्धा बान्धवाः सर्वे' (मनुः ५।५८) इत्यादावशुद्धत्वाभिधानात् । 'अशुद्ध'शब्दस्य च वृद्धव्यवहारेऽनाहिताग्निदीक्षितादावनधिकारिमात्रे प्रयोगाभावात् वृद्धव्यवहारव्युत्पत्तिनिबन्धनत्वाच्च शब्दार्थावगतेः । किंच यद्याशौचिनां दानादिनिषेधदर्शनात्तदयोग्यत्वमाशौचशब्दाभिधेयं कल्प्यते तर्हि उदकदानादिविधिदर्शनात् तद्योग्यत्वमप्याशौचशब्दाभिधेयं स्यात् तत्रानेकार्थकल्पनादोषप्रसङ्ग इत्युपेक्षणीयोऽयं पक्षः ॥

तत्राशौचिभिः सपिण्डाद्यैर्यत्कर्तव्यं तत्तावदाह—

ऊनद्विवर्षं[१] निखनेन्न कुर्यादुदकं ततः ।
[२]आश्मशानादनुव्रज्य इतरो ज्ञातिभिर्वृतः[३] ॥ १ ॥
यमसूक्तं तथा गाथा जपद्भिर्लौकिकाग्निना ।
स दग्धव्य उपेतश्चेदाहिताग्न्यावृतार्थवत् ॥ २ ॥

ऊने अपरिपूर्णे द्वे वर्षे यस्यासावूनद्विवर्षस्तं प्रेतं निखनेत् भूमाववटं कृत्वा निदध्यान्न पुनर्दहेदित्यर्थः । नच 'सकृत्प्रसिंचन्त्युदकम्' (प्रा. ४) इत्यादिभिः प्रेतोद्देशेन विहितमुदकदानाद्यौर्ध्वदेहिकं कुर्यात् । अयं च गन्धमाल्यानुपलेपनादिभिरलंकृत्य शुचौ भूमौ श्मशानादन्यत्रास्थिनिचयरहितायां बहिर्ग्रामान्निखननीयः । यथाऽऽह मनुः (५।६८-६९)—'ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः । अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो [४]नापि कार्योदकक्रिया । अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षिपेयुस्त्र्यहमेव तु ॥' इति । 'अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा' इत्यस्यायमर्थः—यथाऽरण्ये काष्ठं त्यक्त्वोदासीनास्तद्विषये भवन्ति तथोनद्विवार्षिकमपि खातायां भूमौ परित्यज्य तद्विषये श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिकेषु उदासीनैर्भवितव्यमित्याचारादिप्राप्तश्राद्धाद्यभावोऽनेन दृष्टान्तेन सूच्यते । स[५] च घृतेनाभ्यज्य यमगाथाः पठद्भिर्[६]निधातव्यः । 'ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं घृताक्तं निखनेद्बहिः । यमगाथा गायमानो यमसूक्तमनुस्मरन् ॥' इति यमस्मरणात् ॥ ततस्तस्मादूनद्विवार्षिकादितरपूर्णद्विवर्षो यो मृतोऽसौ श्मशानपर्यन्तं ज्ञातिभिः सपिण्डैः समानोदकैश्च ज्येष्ठः पुरःसरैरनुव्रज्योऽनुगन्तव्यः । अस्मादेव वचनादूनद्विवर्षस्यानुगमनमनियतमिति गम्यते ॥ अनुगम्य च 'परेयिवांसम्' (ऋ० ७, अ. ६, । १४, ५, ६) इत्यादि यमसूक्तं यमदैवत्या गाथाश्च जपद्भिर्लौकिकेनासंस्कृते-

नाग्निना दग्धव्यो यदि जातारणिर्नास्ति । तत्सद्भावे तु तन्मथितेन दग्धव्यो न लौकिकेन । तस्याग्निसंपाद्यकार्यमात्रार्थत्वेनोत्पत्तेः । लौकिकाग्निश्च चण्डालादिव्यतिरिक्तो ग्राह्यः; 'चण्डालाग्निरमेध्याग्निः सूतिकाग्निश्च कर्हिचित् । पतिताग्निश्चिताग्निश्च न शिष्टग्रहणोचिताः ॥' इति देवलस्मरणात् ॥ लौगाक्षिणा चात्र विशेष उक्तः—'तूष्णीमेवोदकं कुर्यात्तूष्णीं संस्कारमेव च । सर्वेषां कृतचूडानामन्यत्रापीच्छया द्वयम् ॥' इति । अयमर्थः—'चौलकर्मानन्तरकाले नियमेनाभ्युदकदानं कार्यम् । अन्यत्रापि नामकरणादूर्ध्वं अकृतचूडेऽपीच्छया प्रेताभ्युदयकामनया द्वयं अभ्युदकदानात्मकं तूष्णीं कार्यं, न नियमेनेति विकल्पः । मनुनाप्यत्र विशेषो दर्शितः (५।७०)—'नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया । जातदन्तस्य वा कुर्यान्नाम्नि वाऽपि कृते सति ॥' इति । 'उदकग्रहणं' साहचर्यादग्निसंस्कारस्याप्युपलक्षणार्थम् । 'नात्रिवर्षस्य' इति वचनात् । कुलधर्मापेक्षया चूडोत्कर्षेऽपि वर्षत्रयादूर्ध्वमभ्युदकदानादिनियमोऽवगम्यते । लौगाक्षिवचनाद्वर्षत्रयात्प्रागपि कृतचूडस्य तयोर्नियम इति विवेचनीयम् । **उपेतश्चेद्**यद्युपनीतस्तर्हि **आहिताग्न्यावृता**[2] आहिताग्नेर्दाहप्रक्रियया स्वगृह्यादिप्रसिद्धया लौकिकाग्निनैव दग्धव्यः । **अर्थवत्**प्रयोजनवत् । अयमर्थः—यद्यस्य क्लृप्तं दाहद्वारं कार्यरूपं प्रयोजनं संभवति । भूमिजोषणप्रोक्षणादि तदुपादेयम् । यत्पुनर्लुप्तप्रयोजनं पात्रयोजनादि तन्निवर्तते । तथा लौकिकाग्निविधानेनोपनीतस्य अनाहिताग्नेर्गृह्या[3]ग्निना दाहविधानेन च अपहृतप्रयोजनत्वादाहवनीयादेरपि निवृत्तिरिति ॥ अभ्यन्तरविधानं च वृद्धयाज्ञवल्क्येनोक्तम्—'आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः । अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनापरो जनः ॥' इति । नच शूद्रेण श्मशानं प्रति अग्निकाष्ठादिनयनं कार्यम्; 'यस्यानयति शूद्रोऽग्निं तृणं काष्ठं हवींषि च । प्रेतत्वं हि सदा तस्य स चाधर्मेण लिप्यते ॥' इति यमस्मरणात् ॥ तथा दाहश्च स्नपनाद्यनन्तरं कार्यः—'प्रेतं दहेच्छुभैर्गन्धैः स्नापितं स्रग्विभूषितम्' इति स्मरणात् । प्रचेतसाऽप्युक्तम्—स्नानं प्रेतस्य पुत्राद्यैर्वस्त्राद्यैः पूजनं तथा । नग्नदेहं दहेन्नैव किंचिद्देयं परित्यजेत् ॥' इति; किंचिद्देयमिति शववस्त्रैकदेशं श्मशानवास्यर्थं देयं परित्यजेदित्यर्थः ॥ तथा प्रेतनिर्हरणेऽपि मनुना विशेषो दर्शितः (५।१०४)—'न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण हारयेत् । अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंपर्कदूषिता ॥' अत्र च स्वेषु तिष्ठत्सु इत्यविवक्षितम् । अस्वर्ग्यत्वादिदोषश्रवणात् ॥—'दक्षिणेन मृतं शूद्रं परद्वारेण निर्हरेत् । पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथासंख्यं द्विजातयः ॥' तथा हारीतोऽपि—'न ग्रामाभिमुखं प्रेतं हरेयुः' इति ॥ यदा तु प्रोषितमरणे शरीरं न लभ्यते तदास्थिभिः प्रतिकृतिं कृत्वा तेषामप्यलाभे पर्णशरैः शौनकादिगृह्योक्तमार्गेण प्रतिकृतिं कृत्वा संस्कारः कार्यः । आशौचं चात्र दशाहादिकमेव । 'आहिताग्निश्चेत्प्रवसन्म्रियेत पुनःसंस्कारं कृत्वा शववदाशौचम्' (४।३७) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ अनाहिताग्निस्तु त्रिरात्रम्;

'सुपिष्टैर्जलसंमिश्रैर्दग्धव्यश्च तथाग्निना । असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहेत्युक्त्वा स बान्धवैः ॥ एवं पर्णशरं दग्ध्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥' इति वचनात् ॥ ततश्चायमर्थः—'नामकरणादर्वाङ्निखननमेव, न चोदकदानादि । तत ऊर्ध्वं यावत्रिवर्षं वैकल्पिकमभ्युदकदानम् । ततः परं यावदुपनयनं तूष्णीमेवाभ्युदकदानं नियतम्। वर्षत्रयात्प्रागपि कृतचूडस्य । उपनयनादूर्ध्वं पुनराहिताग्न्यावृता दाहं कृत्वा सर्वमौर्ध्वदेहिकं कार्यम्। अयं तु विशेषः—उपनीतस्य लौकिकाग्निना दाहः कार्यः। अनाहिताग्नेर्गृह्याग्निना दाहो यथासंभवं पात्रयोजनं च कार्यम् ॥ १—२ ॥

यदि दो वर्ष से कम आयु का बालक मरा हो तो उसे पृथ्वी में गाड़ देना चाहिये और उसके अनन्तर (मृतकोद्दिष्ट) उदकक्रिया (तिलाञ्जलि) न दे । उसके ऊपर आयु वाले की मृत्यु होने पर ज्ञातिजनों के साथ श्मशान तक जाकर यमसूक्त ('परेयिवांसम्' इत्यादि ऋ. अ. ६/१४,५,६) का तथा यमदैवत्य गाथाओं का पाठ करते हुये यदि मृत व्यक्ति अग्निहोत्री न हो तो लौकिक अग्नि से (और आहिताग्नि हो तो आधान की अग्नि से) और उपनयन हुआ है तो आहिताग्नि की विधि से स्वगृह्योक्त विधि से प्रयोजनानुसार (अग्नि-) संस्कार करे ॥१-२ ॥

संस्कारानन्तरं किं कर्तव्यमित्यत आह—

सप्तमाद्दशमाद्वापि ज्ञातयोऽभ्युपयन्त्यपः ।
अप नः शोशुचदघमनेन पितृदिङ्मुखाः ॥ ३ ॥

सप्तमाद्दिवसादर्वाग्दशमदिवसाद्वा ज्ञातयः समानगोत्राः सपिण्डाः समानोदकाश्च **'अप नः शोशुचदघम्'** (ऋ.सं.१।७।५) इत्यनेन मन्त्रेण **दक्षिणामुखाः अपः अभ्युपयन्ति** । अभ्युपगमनेन तत्प्रयोजनभूतोदकदानविशिष्टमभ्युपगमनं लक्ष्यते; 'एवं मातामहाचार्य–' (प्रा० ४) इत्यनन्तरमुदकदानस्यातिदेशदर्शनात् । एतच्चायुग्मासु तिथिषु कार्यम् । 'प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमनवमेषूदकक्रिया' (१४।४०) इति गौतमस्मरणात् ॥ एतच्च स्नानानन्तरं कार्यम्; 'शरीरमग्नौ संयोज्यानवेक्षमाणा अपोऽभ्युपयन्ति' इति शातातपस्मरणात् ॥ तथा प्रचेतसाप्यत्र विशेषो दर्शितः—'प्रेतस्य बान्धवा यथावृद्धमुदकमवतीर्य नोद्धर्षयेयुरुदकान्ते प्रसिञ्चेयुरपसव्ययज्ञोपवीतवाससो दक्षिणाभिमुखा ब्राह्मणस्योदङ्मुखाः प्रत्यङ्मुखाश्च राजन्यवैश्ययोः' इति । स्मृत्यन्तरे तु यावन्त्याशौचदिनानि तावदुदकदानस्यावृत्तिरुक्ता । यथाह विष्णुः (१९।१३)—'यावदाशौचं तावत्प्रेतस्योदकं पिण्डं च दद्युः' इति ॥ तथा च प्रचेतसाप्युक्तम्—'दिने दिनेऽञ्जलीन्पूर्णान्प्रदद्यात्प्रेतकारणात् । तावद्वृद्धिश्च कर्तव्या यावत्पिण्डः समाप्यते ॥' इति । प्रतिदिनमञ्जलीनां वृद्धिः कार्या, यावद्दशमः पिण्डः समाप्यत इत्यर्थः ॥ यद्यप्यनयोर्गुरुलघुकल्पयोरन्यतरानुष्ठानेनापि शास्त्रार्थः सिद्धस्तथापि बहुक्लेशाव-

हत्वेन गुरुतरकल्पे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः प्रेतस्योपकारातिशयो भविष्यतीति कल्पनीयम्। अन्यथा गुरुतरकल्पाम्नायस्यानर्थक्यप्रसङ्गात्॥ वसिष्ठेनापि विशेषोऽभिहितः (४।१२)—'सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्यामुदकक्रियां कुर्वीरन्' इति॥ ३॥

सातवें या दसवें दिन से पूर्व ज्ञातिजन (सपिण्ड - सगोत्र) जल के पास जाकर 'अप नः शोशुचदघम्' (ऋ १/७/५) इस मंत्र से पितरों की दिशा (दक्षिण) में मुखकर जल दें ॥३॥

वक्ष्यमाणसकृत्प्रसेकस्य नामगोत्रादिभिर्गुणैर्विशिष्टस्योदकदानस्यासमानगोत्रेषु मातामहादिष्वतिदेशमाह—

एवं मातामहाचार्यप्रेतानामुदकक्रिया।
कामोदकं सखिप्रत्तास्वस्रीयश्वशुरर्त्विजाम्॥ ४॥

यथा सगोत्रसपिण्डानां प्रेतानामुदकं दीयते तथा **मातामहानामाचार्याणां च प्रेतानां** नित्य**मुदकक्रिया कार्या**। **सखा** मित्रं, **प्रत्ताः** परिणीता दुहितृभगिन्यादयः, **स्वस्रीयो** भागिनेयः, **श्वशुरः** प्रसिद्धः, **ऋत्विजो** याजकाः, **एतेषां** सख्यादीनां प्रेतानां **कामोदकं कार्यम्**। काम इच्छा, कामेनोदकदानं कामोदकं, प्रेताभ्युदयकामनायां सत्यामुदकं देयम्; असत्यां न देयमिति अकरणे प्रत्यवायो नास्तीत्यर्थः॥ ४॥

इसी प्रकार मातामह (नाना) और आचार्य के प्रेत होने पर उदकक्रिया होती है। मित्र, विवाहिता पुत्री, बहन इत्यादि, भाञ्जा, श्वशुर और ऋत्विज् (पुरोहित) के लिये इच्छानुसार जलक्रिया करे॥४॥

उदकदाने गुणविधिमाह—

सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं नामगोत्रेण वाग्यताः।

तच्चोदकदानमित्थं कर्तव्यम्—सपिण्डाः समानोदकाश्च **मौनिनो** भूत्वा प्रेतस्य **नामगोत्रे** उच्चार्य 'अमुकनामा प्रेतोऽमुकगोत्रस्तृप्यतु' इति **सकृदेवोदकं प्रसिञ्चेयुः** त्रिर्वा; 'त्रिः प्रसेकं कुर्युः प्रेतस्तृप्यतु' इति प्रचेतःस्मरणात्॥ प्रतिदिनमञ्जलिवृद्धिस्तु प्रतिपादितैव। तथा अयमपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'नदीकूलं ततो गत्वा शौचं कृत्वा यथार्थवत्। वस्त्रं संशोधयेदादौ ततः स्नानं समाचरेत्॥ सचैलस्तु ततः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः। पाषाणं तत आधाय विप्रे दद्याद्दशाञ्जलीन्॥ द्वादश क्षत्रिये दद्याद्वैश्ये पञ्चदश स्मृताः। त्रिंशच्छूद्राय दातव्यास्ततः संप्रविशेद्गृहम्। ततः स्नानं पुनः कार्यं गृहशौचं च कारयेत्॥' इति॥

(सपिण्ड) मौन धारण कर प्रेत का नाम और गोत्र उच्चारण कर एक बार जलाञ्जलि दे॥४$\frac{१}{२}$॥

सपिण्डानां मध्ये केषांचिदुदकदानप्रतिषेधमाह—

न ब्रह्मचारिणः कुर्युरुदकं पतितास्तथा ॥ ५ ॥

ज्ञातित्वे सत्यपि **ब्रह्मचारिणः** समावर्तनपर्यन्तं, **पतिताश्च** प्रच्युतद्विजातिकर्माधिकाराः, **उदकादिदानं न कुर्युः** ॥ ब्रह्मचर्योत्तरकालं पूर्वमृतानां सपिण्डादीनां उदकदानमाशौचं च कुर्यादेव । यथाह मनुः (५।८८)—‘आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥’ इति । आदिष्टी ‘ब्रह्मचार्यसि अपोशान कर्म कुरु दिवा मा स्वाप्सीः’ (आश्व० १।२२।२) इत्यादिव्रतादेशयोगाद्ब्रह्मचार्युच्यते । एतच्च पित्रादिव्यतिरेकेणेति वक्ष्यति । ‘आचार्यपित्रुपाध्यायान्’ (प्रा० १५) इति । अत्राचार्यः पुनरेवं मन्यते—आदिष्टीति प्रक्रान्तप्रायश्चित्तः कथ्यते, तस्यैवायमुदकदानादिनिषेधः प्रायश्चित्तरूपव्रतस्य समाप्त्युत्तरकालमुदकदानाशौचविधिरिति । तथा क्लीबादीनां चोदकदायित्वं निषिद्धम्; ‘क्लीबाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना व्रात्या विधर्मिणः । गर्भभर्तृद्रुहश्चैव सुराप्यश्चैव योषितः ॥’ इति वृद्धमनुस्मरणात् ॥ ५ ॥

ब्रह्मचारी और पतित को (सपिण्ड होने पर भी) जलाञ्जलि न दें ॥५ ॥

एवमुदकदाने कर्तृविशेषप्रतिषेधमुक्त्वा संप्रदानविशेषेण प्रतिषेधमाह—

पाखण्ड्य[1]नाश्रिताः स्तेना भर्तृघ्न्यः कामगादिकाः ।
सुराप्य आ[2]त्मत्यागिन्यो नाशौचोदकभाजनाः ॥ ६ ॥

नरशिरःकपालादिश्रुतिबाह्यलिङ्गधारणं पाखण्डम्, तद्विद्यते येषां ते **पाखण्डिनः**; **अनाश्रिताः** अधिकारे सत्यप्यकृताश्रमविशेषपरिग्रहाः । **स्तेनाः** सुवर्णाद्युत्तमद्रव्यहारिणः, **भर्तृघ्न्यः** प्रतिघातिन्यः, **कामगाः** कुलटाः, **‘आदि’**ग्रहणात्स्वगर्भब्राह्मणघातिन्यो गृह्यन्ते । **सुराप्यो** यासां या सुरा प्रतिषिद्धा तत्पानरताः । **आत्मत्यागिन्यः** विषाम्ब्युदकोद्बन्धनाद्यैरात्मानं यास्त्यजन्ति । एते पाखण्ड्यादयः ‘त्रिरात्रं दशरात्रं वा’ (प्रा० १८) इति वक्ष्यमाणस्याशौचस्योदकदानाद्यौर्ध्वदेहिकस्य च भाजना न भवन्ति । भाजयन्तीति भाजनाः, सपिण्डादीनामाशौचादिनिमित्तभूता न भवन्ति; अतस्तन्मरणे सपिण्डैरुदकदानादि न कार्यमित्येतत्प्रतिपादनपरं वचनम् । अत्र च ‘सुराप्य’ इत्यादिषु लिङ्गमविवक्षितम्[3] ।—‘लिङ्गं च वचनं देशः कालोऽयं कर्मणः फलम् । मीमांसाकुशलाः प्राहुरनुपादेयपञ्चकम् ॥’ इत्यनुपादेयगतत्वात् । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम्; यथाह गौतमः (१४।१२)—‘प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्’ इति । प्रायो महाप्रस्थानम्, अनाशकमनशनम्, गिरिशिखरादवपातः प्रपतनम् । अत्र चेच्छतामिति विशेषणोपादानात्प्रमादकृते दोषो नास्तीत्यवगन्तव्यम्; ‘अथ कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः । तस्याशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया’ इति अङ्गिरःस्मरणात् ॥ तथा मृत्युविशेषादपि आशौचादिनिषेधः—‘चाण्डालादुदकात्सर्पाद्ब्राह्मणा-

द्वैद्युतादपि । दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मिणाम् ॥ उदकं पिण्डदानं च प्रेतेभ्यो यत्प्रदीयते । नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति ॥' इति । एतदपीच्छापूर्वमात्महननविषयम् । गौतमवचनेनेच्छापूर्वकमेवोदकेन हतस्याशौचादिनिषेधस्योक्तत्वात् । अत्रापि 'चाण्डालादुदकात्सर्पात्' इति तत्साहचर्यदर्शनाद्बुद्धिपूर्वविषयत्वनिश्चयः । अतो दर्पादिना चाण्डालादीन्हन्तुं गतो यस्तैर्मारितस्तस्यायं 'सर्वत एवात्मानं गोपायेत्' इति विध्यतिक्रमनिमित्तः पिण्डदानादिनिषेधः । एवं दुष्टदंष्ट्र्यादिग्रहणार्थमाभिमुख्येन दर्पाद्गच्छतो मरणेऽप्ययं निषेध इत्यनुसंधेयम् । अयं चाशौचप्रतिषेधो दशाहादिकालावच्छिन्नस्य; 'हतानां नृपगोविप्रैरन्वक्षं चात्मघातिनाम्' (प्रा० २१) इति सद्यःशौचस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तथा दाहादिकमप्येषां न कार्यम्; 'नाशौचं नोदकं नाश्रु न दाहाद्यन्त्यकर्म च । [1]ब्रह्मदण्डहतानां च न कुर्यात्[2]कटधारणम् ॥' इति यमस्मरणात् । ब्रह्मदण्डहता ब्राह्मणदण्डहताः । प्रेतवहनसाधने खट्वादि 'कट'शब्देनोच्यते । न चाहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्चेत्येतत् श्रुतिविहिताग्नियज्ञपात्रादिप्रतिपत्तिलोपप्रसङ्गात् । अयं स्मार्तो दाहादिनिषेधो विप्रादिहताहिताग्निविषयं नास्कन्दतीत्याशङ्कनीयम् । यतश्चण्डालादिहताहिताग्निसंबन्धिनामग्नियज्ञपात्राणां स्मृत्यन्तरे प्रतिपत्त्यन्तरं विधीयते—'वैतानं प्रक्षिपेदप्सु आवसथ्यं चतुष्पथे । पात्राणि तु दहेदग्नौ यजमाने वृथा मृते ॥' (जमदग्निः) इति । तथा तच्छरीरस्यापि प्रतिपत्त्यन्तरमुक्तम्; 'आत्मनस्त्यागिनां नास्ति पतितानां तथा क्रिया । तेषामपि तथा गङ्गातोये संस्थापनं हितम् ॥' इति स्मरणात् । तस्मादविशेषेण सर्वेषां दहनादिनिषेधः । अतः स्नेहादिना निषेधातिक्रमे प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्; 'कृत्वाऽग्निमुदकं स्नानं स्पर्शनं वहनं कथाम् । रज्जुच्छेदाश्रुपातं च तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥' इति स्मरणात् । एतच्च प्रत्येकं बुद्धिपूर्वके वेदितव्यम् । अबुद्धिपूर्वकमरणे तु 'एषामन्यतमं प्रेतं यो वहेत दहेत वा । कटोदकक्रियां कृत्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥' इति संवर्तोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यः पुनः 'तच्छवं केवलं स्पृष्टमश्रु वा पातितं यदि । पूर्वोक्तानामकारी चेदेकरात्रमभोजनम् ॥' इति स्पर्शाश्रुपातयोरुपवास उक्तः ॥ असौ कृच्छ्रेष्वशक्तश्च तथा बन्धनच्छेदने दहने वा मासं भैक्षाहारस्त्रिषवणं च' इति सुमन्तुना भैक्षाशित्वमुक्तं,—तदप्यशक्तस्यैव । एवमन्यान्यपि तद्विषयाणि स्मृतिवाक्यानि व्यवस्थापनीयानि । अयं च दाहादिप्रतिषेधो नित्यकर्मानुष्ठानासमर्थजीर्णवानप्रस्थादिव्यतिरिक्तविषयः; तेषामभ्यनुज्ञादर्शनात् । 'वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः । आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः ॥ तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयः । तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत् ॥' इति स्मरणात् ॥

एवं येन येनोपाधिना आत्महननं शास्त्रतोऽभ्यनुज्ञायते तत्तद्व्यतिरिक्तमार्गेणात्महननं श्राद्धाद्यौर्ध्वदैहिकेषु निषिद्धेषु किं पुनस्तेषां कार्यमित्यपेक्षायां वृद्धयाज्ञवल्क्यच्छागलेयाभ्यामुक्तम्—'नारायणबलिः कार्यो लोकगर्हाभयान्नरैः ।

तथा तेषां भवेच्छौचं नान्यथेत्यब्रवीद्यमः । तस्मात्तेभ्योऽपि दातव्यमन्नमेव सदक्षिणम् ॥' इति । व्यासेनाप्युक्तम्—'नारायणं समुद्दिश्य शिवं वा यत्प्रदीयते । तस्य शुद्धिकरं कर्म तद्भवेन्नैतदन्यथा ॥' एवं इति । एवं नारायणबलिः प्रेतस्य शुद्ध्यापादनद्वारेण श्राद्धादिसंप्रदानत्वयोग्यतां जनयतीति और्ध्वदेहिकमपि सर्वं कार्यमेव । अत एव षट्त्रिंशन्मतेऽपि और्ध्वदेहिकस्याभ्यनुज्ञा दृश्यते—'गोब्राह्मणहतानां च पतितानां तथैव च । ऊर्ध्वं संवत्सरात्कुर्यात्सर्वमेवौर्ध्वदेहिकम् ॥' इति । एवं संवत्सरादूर्ध्वमेव नारायणबलिं कृत्वौर्ध्वदेहिकं कार्यम् ॥

नारायणबलिश्चेत्थं कार्यः—कस्यांचिच्छुक्लैकादश्यां विष्णुं वैवस्वतं यमं च यथावदभ्यर्च्य तत्समीपे मधुघृतप्लुतांस्तिलमिश्रान्दश पिण्डान्विष्णुरूपिणं प्रेतमनुस्मरन् प्रेतनामगोत्रे उच्चार्य दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु दक्षिणाभिमुखो दत्वा गन्धादिभिरभ्यर्च्य पिण्डप्रवाहणान्तं कृत्वा नद्यां क्षिपेत्, न पत्न्यादिभ्यो दद्यात् ॥ ततस्तस्यामेव रात्र्यामयुग्मान्ब्राह्मणानामन्त्र्योपोषितः श्वोभूते मध्याह्ने विष्ण्वाराधनं कृत्वा एकोद्दिष्टविधिना ब्राह्मणपादप्रक्षालनादितृप्तिप्रश्नान्तं कृत्वा पिण्डपितृयज्ञावृतोल्लेखनाद्यवनेजनान्तं तूष्णीं कृत्वा विष्णवे ब्रह्मणे शिवाय यमाय च परिवारसहिताय चतुरः पिण्डान्दत्वा नामगोत्रसहितं तं प्रेतं संस्मृत्य विष्णोर्नाम संकीर्त्य पञ्चमं पिण्डं दद्यात् । ततो विप्रानाचान्तान्दक्षिणाभिस्तोषयित्वा तन्मध्ये चैकं गुणवत्तमं प्रेतबुद्ध्या संस्मरन् गोभूहिरण्यादिभिरतिशयेन संतोष्य ततः पवित्रपाणिभिर्विप्रैः प्रेताय तिलादिसहितमुदकं दापयित्वा स्वजनैः सार्धं भुञ्जीत ॥

सर्पहते त्वयं विशेषः–संवत्सरं यावत्पुराणोक्तविधिना पञ्चम्यां नागपूजां विधाय पूर्णे संवत्सरे नारायणबलिं कृत्वा सौवर्णं नागं दद्यात्, गां च प्रत्यक्षाम् । ततः सर्वमौर्ध्वदेहिकं कुर्यात् ॥

नारायणबलिस्वरूपं च वैष्णवेऽभिहितं यथा—'एकादशीं समासाद्य शुक्लपक्षस्य वै तिथिम् । विष्णुं समर्चयेद्देवं यमं वैवस्वतं तथा ॥ दश पिण्डान् घृताभ्यक्तान्दर्भेषु मधुसंयुतान् । तिलमिश्रान्प्रदद्याद्वै संयतो दक्षिणामुखः ॥ विष्णुं बुद्धौ समासाद्य नद्यम्भसि ततः क्षिपेत् । नामगोत्रग्रहं तत्र पुष्पैरभ्यर्चनं तथा ॥ धूपदीपप्रदानं च भक्ष्यं भोज्यं तथा परम् । निमन्त्रयेत विप्रान्वै पञ्च सप्त नवापि वा ॥ विद्यातपःसमृद्धान्वै कुलोत्पन्नान्समाहितान् । अपरेऽहनि संप्राप्ते मध्याह्ने समुपोषितः ॥ विष्णोरभ्यर्चनं कृत्वा विप्रांस्तानुपवेशयेत् । उदङ्मुखान्यथाज्येष्ठं पितृरूपमनुस्मरन् ॥ मनो निवेश्य विष्णौ वै सर्वं कुर्यादतन्द्रितः । आवाहनादि यत्प्रोक्तं देवपूर्वं तदाचरेत् ॥ तृप्तान्ज्ञात्वा ततो विप्रांस्तृप्तिं पृष्ट्वा यथाविधि । हविष्यव्यञ्जनेनैव तिलादिसहितेन च ॥ पञ्च पिण्डान्प्रदद्याच्च दैवं रूपमनुस्मरन् । प्रथमं विष्णवे दद्याद्ब्रह्मणे च शिवाय च ॥ यमाय

सानुचराय चतुर्थं पिण्डमुत्सृजेत् । मृतं संकीर्त्य मनसा गोत्रपूर्वमतः परम् ॥ विष्णोर्नाम गृहीत्वैवं पञ्चमं पूर्ववत्क्षिपेत् । विप्रानाचम्य विधिवद्दक्षिणाभिः समर्चयेत् ॥ एकं विद्वत्तमं विप्रं हिरण्येन समर्चयेत् । गवा वस्त्रेण भूम्या च प्रेतं तं मनसा स्मरन् ॥ ततस्तिलाम्भो विप्रास्तु हस्तैर्दर्भसमन्वितैः । क्षिपेयुर्गोत्रपूर्वं तु नाम बुद्धौ निवेश्य च ॥ हविर्गन्धतिलाम्भस्तु तस्मै दद्युः समाहिताः । मित्रभृत्यजनैः सार्धं पश्चाद्भुञ्जीत वाग्यतः ॥ एवं विष्णुमते स्थित्वा यो दद्यादात्मघातिने । समुद्धरति तं क्षिप्रं नात्र कार्या विचारणा ॥' सर्पदंशनिमित्तं सौवर्णनागदानं प्रतिकृतिरूपेण भविष्यत्पुराणे सुमन्तुनाभिहितम्—'सुवर्णभारनिष्पन्नं नागं कृत्वा तथैव गाम् । व्यासाय दत्त्वा विधिवत्पितुरानृण्यमाप्नुयात् ॥' इति ॥ ६ ॥

पाखण्डी, अनाश्रित (आश्रमविहीन), चोर, पति की हत्या करने वाली तथा व्यभिचारिणी आदि स्त्रियाँ, (जिनके लिये सुरा निषिद्ध है ऐसे) सुरा पीने वाले तथा आत्महत्या करने वाले आशौच के जल के भागी नहीं होते अर्थात् उन्हें जलाञ्जलि न दे ॥६ ॥

एवमुदकदानं सापवादमभिधायानन्तरं किं कार्यमित्यत आह—

कृतोदकान्समुत्तीर्णान्मृदुशाद्वलसंस्थितान् ।
स्नातानपवदेयुस्तानितिहासैः पुरातनैः ॥ ७ ॥

कृतमुदकदानं यैस्तान्कृतोदकान् स्नातान्सम्यगुदकादुत्तीर्णान्मृदुशाद्वले नवोद्गततृणप्रचयावृते भूभागे सम्यक्स्थितान् पुत्रादीन्कुलवृद्धाः पुरातनैरितिहासैर्वक्ष्यमाणैरपवदेयुः शोकनिरसनसमर्थैर्वचोभिर्बोधयेयुः ॥ ७ ॥

जलाञ्जलि देकर स्नान कर जल से निकलकर घास पर बैठे लोगों से (पुत्रादि के शोकनाश के निमित्त वृद्धादि जन) प्राचीन इतिहास के वचनों का उपदेश करें ॥७ ॥

शोकनिरसनसमर्थेतिहासस्वरूपमाह—

मानुष्ये कदलीस्तम्भनिःसारे सारमार्गणम् ।
करोति यः स संमूढो जलबुद्बुदसंनिभे ॥ ८ ॥

'मनुष्य'शब्देन जरायुजाण्डजादिचतुर्विधभूतजातं लक्ष्यते; तस्य भावो मानुष्यं; तत्र संसरणधर्मित्वेन कदलीस्तम्भवदन्तःसाररहिते जलबुद्बुदवदचिरविनश्वरे संसारे सारस्य स्थिरस्य मार्गणमन्वेषणं यः करोति स संमूढः अत्यन्तविनष्टचित्तः तस्मात्संसारस्वरूपवेदिभिर्भवद्भिरित्थं न कार्यम् ॥ ८ ॥

केले के खम्बे के समान सारहीन तथा जल के बुलबुले के समान नश्वर मनुष्य लोक में जो सार (स्थिरता) की खोज करता है वह अत्यन्त मूर्ख है ॥८ ॥

पञ्चधा संभृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः ।
कर्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

किंच, जन्मान्तरात्मीयशरीरजनितैः **कर्मबीजैः** स्वफलोपभोगार्थं **पञ्चधा** पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मकतया पञ्चप्रकारं **संभृतो** निर्मितः **कायः** स **यदि** फलोपभोगनिवृत्तौ **पञ्चत्वमागतः** पुनः पृथिव्यादिरूपतां प्राप्तस्तत्र भवतां **किमर्था परिदेवना?** निष्प्रयोजनत्वान्नानुशोचनं कर्तव्यम्; वस्तुस्थितेस्तथात्वात् । नहि केनचिद्वस्तुस्थितिरतिक्रमितुं शक्यते ॥ ९ ॥

अपने शरीर के (पूर्वजन्मार्जित) कर्मों के द्वारा (पृथ्वी आदि पञ्चभूतों से) पाँच प्रकार से निर्मित यह शरीर यदि पञ्चत्व (पुनः पृथ्वी आदि पाँच रूपों) में स्थित हो गया तो इसमें शोक क्या है? ॥९॥

गन्त्री वसुमती नाशमुदधिर्दैवतानि च ।
फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ॥ १० ॥

अपि च, नेदमाश्चर्यं मरणं नाम; यतः **पृथिव्यादीनि** महान्त्यपि भूतानि **नाशं गच्छन्ति**, तथा **समुद्रा अपि** जरामरणविरहिणः, **अमरा अपि** प्रलयसमये अवसानं **गच्छन्ति**, कथमिवास्थिरतया **फेनसंनिभो** मरणधर्मा **भूतसंघो विनाशं न यास्यति?** उचितमेव हि मरणधर्मिणः प्रायणम् । अतो निष्प्रयोजनः शोकसमावेशः ॥ १० ॥

पृथ्वी नाश को प्राप्त होती है, समुद्र तथा देवता भी नष्ट होते हैं तो फेन के समान स्थित यह मृत्युलोक कैसे नष्ट नहीं होगा? ॥१०॥

अनिष्टापादकत्वादप्यनुशोचनं न कार्यमित्याह—

श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः ।
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः ॥११॥

यस्मादनुशोचद्भिर्बान्धवैर्वदननयननिर्गमितं **श्लेष्माश्रु** वा यस्मादवशोऽकामोऽपि **प्रेतो भुङ्क्ते**, **तस्मान्न रोदितव्यं**; किंतु प्रेतहितेप्सुभिः **स्वशक्त्यनुसारेण** श्राद्धादि**क्रियाः कार्याः** ॥ ११ ॥

मृत व्यक्ति (प्रेत) बान्धवों द्वारा गिराये गये श्लेष्म तथा अश्रु को अवश (न चाहते हुये भी) होकर खाता है, अतः (मृत्यु के बाद) रुदन नहीं करना चाहिये और अपनी शक्ति के अनुसार क्रिया करनी चाहिये ॥११॥

इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं बालपुरःसराः ।
विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मनः ॥ १२ ॥

आचम्याग्न्यादि सलिलं गोमयं गौरसर्षपान् ।
प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वाऽश्मनि पदं शनैः ॥ १३ ॥

एवं कुलवृद्धवचांसि सम्यगाकर्ण्य त्यक्तशोकाः सन्तो बालानग्रतः कृत्वा गृहं गच्छेयुः । गत्वा च वेश्मनो द्वारि स्थित्वा नियताः संयतमनस्काः निम्बपत्राणि विदश्य दशनैः खण्डयित्वा आचमनं च कृत्वाऽग्न्युदकगोमयगौरसर्षपानालभ्य, 'आदि'ग्रहणात् 'दूर्वाप्रवालमग्निवृषभौ च 'इति शङ्खोक्तौ दूर्वाङ्कुरवृषभावपि स्पृष्ट्वा अश्मनि च पदं निधाय शनैरुद्धतं वेश्मनि प्रविशेयुः ॥ १२—१३ ॥

(वृद्धजनों के) इस प्रकार के वचनों को भलीभाँति सुनकर (शोक का त्याग कर) तथा बालकों को आगे कर घर को जाँय तथा घर के द्वार पर स्थित होकर संयत चित्त से नीम के पत्तों को चबाकर, आचमन कर, अग्नि, जल, गोबर तथा पीली सरसों आदि का स्पर्श कर, पत्थर पर पैर रखकर धीरे-धीरे घर में प्रवेश करे ॥१२-१३ ॥

अतिदेशमाह—

प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि ।
इच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमात् ॥ १४ ॥

यदेतत्पूर्वोक्तं निम्बपत्रदशनादि वेश्मप्रवेशनान्तं कर्म, तन्न केवलं ज्ञातीनामपि तु परेषामपि धर्मार्थं प्रेतालंकारनिर्हरणादिकं कुर्वतां भवति । 'प्रवेशनादिकं' इत्यत्र 'आदि'शब्दोऽमाङ्गलिकत्वात्प्रतिलोमक्रमाभिप्रायः । तेषां च धर्मार्थनिर्हरणादौ प्रवृत्तानां तत्क्षणाच्छुद्धिमिच्छतां असपिण्डानां स्नानप्राणायामाभ्यामेव शुद्धिः । यथाह पराशरः—'अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातयः । पदे पदे यज्ञफलमानुपूर्व्या लभन्ति ते ॥ न तेषामशुभं किंचित्पापं चाऽशुभकर्मणि । जलावगाहनात्तेषां सद्यः शौचं विधीयते ॥' इति ॥ स्नेहादिना निर्हरणे तु मनूक्तो विशेषः (५।१०१।१०२)—'असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् । विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् । यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति । अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥' इति । अत्रेयं व्यवस्था—यः स्नेहादिना शवनिर्हरणं कृत्वा तदीयमेवान्नमश्नाति, तद्गृहे च वसति, तस्य दशाहेनैव शुद्धिः । यस्तु केवलं तद्गृहे वसति, न पुनस्तदन्नमश्नाति, तस्य त्रिरात्रम्; यः पुनर्निर्हरणमात्रं करोति, न तद्गृहे वसति, न च तदन्नमश्नाति, तस्यैकाह इति—एतत्सजातीयविषयम्; विजातीयविषये पुनर्यज्जातीयं प्रेतं निर्हरति तज्जातिप्रयुक्तमाशौचं कार्यम्; 'यथाह गौतमः (१४।१९)—'अवरश्चेद्वर्णः पूर्वं वर्णमुपस्पृशेत्पूर्वो वाऽवरं तत्र तच्छवोक्तमाशौचम्' इति । उपस्पर्शनं निर्हरणम् । विप्रस्य शूद्रनिर्हरणे मासमाशौचम्; शूद्रस्य तु विप्रनिर्हरणे दशरात्रमित्येवं शववदाशौचं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

(असगोत्र) शव का स्पर्श करने वालों को भी पूर्वोक्त गृह-प्रवेश तक का कर्म होता है पर सद्यः शुद्धि की कामना वाले स्नान और प्राणायाम से शुद्ध हो जाते हैं ॥१४॥

ब्रह्मचारिणं प्रत्याह—

आचार्यपित्रुपाध्यायान्निर्हृत्यापि व्रती व्रती ।
संकटान्नं च नाश्नीयान्न च तैः सह संवसेत् ॥ १५ ॥

आचार्य उक्तलक्षणः, माता च पिता च **पितरौ, उपाध्यायः** पूर्वोक्तः, एतान्निर्हृत्यापि **व्रती** ब्रह्मचारी **व्रत्येव,** न पुनरस्य व्रतभ्रंशः । 'कट'शब्देनाशौचं लक्ष्यते, तत्सहचरितमन्नं **सकटान्नं** तद्ब्रह्मचारी नाश्नीयात्; **न चाशौचिभिः सह संवसेत्** । एवं वदता आचार्यादिव्यतिरिक्तप्रेतनिर्हरणे ब्रह्मचारिणो व्रतलोप इत्यर्थादुक्तं भवति । अत एव वसिष्ठेनोक्तम्—'ब्रह्मचारिणः शवकर्मिणो व्रतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापित्रोः' इति ॥ १५ ॥

आचार्य, माता-पिता तथा उपाध्याय के शव को ढोने के बाद भी व्रती (ब्रह्मचारी) व्रती ही रहता है परन्तु वह अशौच के अन्न को न खाय तथा अशौच वालों के साथ न रहे ॥१५॥

आशौचिनां नियमविशेषमाह—

क्रीतलब्धाशना भूमौ स्वपेयुस्ते पृथक् क्षितौ ।
पिण्डयज्ञावृता देयं प्रेतायान्नं दिनत्रयम् ॥ १६ ॥

क्रीतमयाचितलब्धं वा अशनं येषां ते क्रीतलब्धाशनाः, भवेयुरिति शेषः । क्रीतलब्धाशननियमात्तदलाभेऽनशनमर्थात्सिद्धं भवति । अत एव वसिष्ठः—'गृहान्व्रजित्वा अघप्रस्तरे त्र्यहमनश्नन्त आसीरन् क्रीतोत्पन्नेन वा वर्तेरन्' इति । अघप्रस्तर आशौचिनां शयनासनार्थस्तृणमयः प्रस्तरः । ते च सपिण्डा भूमावेव पृथक्पृथक् शयीरन्, न खट्वादौ ॥ मनुनाऽप्यत्र विशेषो दर्शितः (५।७३)—'अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम् । मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥' इति । तथा गौतमेनापि विशेष उक्तः (१४।३०)—'अधःशय्यासनिनो ब्रह्मचारिणः शवकर्मिणः' इति । तथा पिण्डपितृयज्ञप्रक्रियया प्राचीनावीतित्वादिरूपया प्रेताय दिनत्रयं पिण्डरूपमन्नं तूष्णीं क्षितौ देयम् । यथाह मरीचिः—'प्रेतपिण्डं बहिर्दद्याद्दर्भमन्त्रविवर्जितम् । प्रागुदीच्यां चरुं कृत्वा स्नातः प्रयतमानसः ॥' इति । दर्भमन्त्रविवर्जितत्वमनुपनीतविषयम् । 'असंस्कृतानां भूमौ पिण्डं दद्यात्संस्कृतानां कुशेषु' इति प्रचेतःस्मरणात् । तथा कर्तृनियमश्च गृह्यपरिशिष्टाद्विज्ञेयः—'असगोत्रः सगोत्रो वा यदि स्त्री यदि वा पुमान् । प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दशाहं समापयेत् ॥' इति । तथा द्रव्यविनियमश्च शुनःपुच्छेन

दर्शितः—'शालिना सक्तुभिर्वाऽपि शाकैर्वाऽप्यथ निर्वपेत् । प्रथमेऽहनि यद्द्रव्यं तदेव स्याद्दशाहिकम् ॥ तूष्णीं प्रसेकं पुष्पं च दीपं धूपं तथैव च ॥' इति । पिण्डश्च पाषाणे देयः । 'भूमौ माल्यं पिण्डं पानीयमुपले वा दद्युः' इति शङ्खस्मरणात् । नच 'दद्युः' इति बहुवचनेनोदकदानवत्सर्वैः पिण्डदानं कार्यमित्याशङ्कनीयं, किंतु पुत्रेणैव कार्यम् । तदभावे प्रत्यासन्नेन सपिण्डानामन्यतमेन, तदभावे मातृसपिण्डादिना कार्यम्; 'पुत्राभावे सपिण्डा मातृसपिण्डाः शिष्याश्च दद्युस्तदभावे ऋत्विगाचार्याः' इति गौतमस्मरणात् । पुत्रबहुत्वे पुनर्ज्येष्ठेनैव कार्यम् । 'सर्वैरनुमतिं कृत्वा ज्येष्ठेनैव तु यत्कृतम् । द्रव्येण चाविभक्तेन सर्वैरेव कृतं भवेत् ॥' इति मरीचिस्मरणात् । पिण्डसंख्यानियमश्च—ब्राह्मणस्य दश पिण्डाः, क्षत्रियस्य द्वादशैवेति । एवमाशौचदिवससंख्यया विष्णुनाऽभिहितम्—'यावदाशौचं प्रेतस्योदकं पिण्डमेकं च दद्युः' इति । तथा स्मृत्यन्तरेऽपि—'नवभिर्दिवसैर्दद्यान्नव पिण्डान्समाहितः । दशमं पिण्डमुत्सृज्य रात्रिशेषे शुचिर्भवेत् ॥' इति शुचित्ववचनमपरेद्युः क्रियमाणश्राद्धार्थब्राह्मणनिमन्त्रणाभिप्रायेण । योगीश्वरेण तु पिण्डत्रयदानमभिहितम् । अनयोश्च गुरुलघुकल्पयोरुदकदानविषयोक्ता व्यवस्था विज्ञेया । अत्रापरः शातातपीयो विशेषः—'आशौचस्य तु ह्रासेऽपि पिण्डान्दद्याद्दशैव तु' इति ॥ त्रिरात्राशौचिनां पुनः पारस्करेण विशेषो दर्शितः—'प्रथमे दिवसे देयास्त्रयः पिण्डाः समाहितैः । द्वितीये चतुरो दद्यादस्थिसंचयनं तथा ॥ त्रींस्तु दद्यात्तृतीयेऽह्नि वस्त्रादि क्षालयेत्तथा ॥' इति ॥ १६ ॥

आशौच में पड़ा व्यक्ति मोल लेकर या बिना माँगे हुये प्राप्त अन्न का भोजन करे। वे आशौची (खाट आदि पर न सोकर) पृथ्वी पर अलग-अलग सोवें और तीन दिनों तक पिण्डपितृ क्रम से (अपसव्य होकर मौन रहकर) प्रेत के लिये पृथ्वी पर अन्न (पिण्ड) दे ॥१६ ॥

जलमेकाहमाकाशे स्थाप्यं क्षीरं च मृन्मये ।

किंच, जलं क्षीरं च मृन्मये पात्रद्वये पृथक् पृथगाकाशे शिक्यादावे**काहं स्थापनीयम्** । अत्र विशेषानुपादानात्प्रथमेऽहनि कार्यम् । तथा पारस्करवचनात् । 'प्रेतात्र स्नाहि' इत्युदकं स्थाप्यं 'पिब चेदम्' इति क्षीरम् ॥ तथास्थिसंचयनं च प्रथमादिदिनेषु कार्यम्; तथाह संवर्तः—'प्रथमेऽह्नि तृतीये वा सप्तमे नवमे तथा । अस्थिसंचयनं कार्यं दिने तद्गोत्रजैः सह ॥' इति । क्वचिद्द्वितीये त्वस्थिसंचय इत्युक्तम् । वैष्णवे तु 'चतुर्थे दिवसेऽस्थिसंचयनं कुर्यात् तेषां च गङ्गाम्भसि प्रक्षेपः' इति । अतोऽन्यतमस्मिन्दिने स्वगृह्योक्तविधिनाऽस्थिसंचयनं कार्यम् । अङ्गिरसा चात्र विशेषो दर्शितः—'अस्थिसंचयने यागो देवानां परिकीर्तितः । प्रेतीभूतं तमुद्दिश्य यः शुचिर्न करोति चेत् ॥ देवतानां तु यजनं तं शपन्त्यथ देवताः ॥' देवताश्चात्र श्मशानवासिन्यः तत्र पूर्वंदग्धाः 'श्मशानवासिनो देवाः शवानां परिकीर्तिताः' इति तेनैवोक्तम् । अतस्तान्देवानचिरमृतं च प्रेतमुद्दिश्य धूपदीपादिभिः पिण्डरूपेण

चाश्वेन तत्र पूजा कार्येत्युक्तं भवति ॥ तथा वपनं च दशमेऽहनि कार्यम्; 'दशमेऽहनि संप्राप्ते स्नानं ग्रामाद्बहिर्भवेत् । तत्र त्याज्यानि वासांसि केशश्मश्रुनखानि च ॥' इति देवलस्मरणात् ॥ तथा स्मृत्यन्तरेऽपि—'द्वितीयेऽहनि कर्तव्यं क्षुरकर्म प्रयत्नतः । तृतीये पञ्चमे वाऽपि सप्तमे वाऽऽप्रदानतः ॥' इति श्राद्धप्रदानादर्वागनियम इति यावत् । वपनं च केषामित्याकाङ्क्षायामापस्तम्बेनोक्तम्—'अनुभाविनां च परिवापनम्' इति । अयमर्थः—शावं दुःखमनुभवन्तीत्यनुभाविनः सपिण्डाः, तेषां चाविशेषेण वपनमुताल्पवयसामित्यपेक्षायामिदमेवोपतिष्ठते—'अनुभाविनां च परिवापनम्'इति । अनु पश्चाद्भवन्तीत्यनुभाविनोऽल्पवयसस्तेषां वपनमिति । अनुभाविनः पुत्रा इति केचिन्मन्यन्ते; 'गङ्गायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरोर्मृतौ । आधानकाले सोमे च वपनं सप्तसु स्मृतम् ॥' इति नियमदर्शनात् ॥

एक दिन मिट्टी के (दो पृथक्-पृथक्) पात्र में जल तथा दूध आकाश में (सिकहर पर) दे ॥१६$\frac{१}{२}$॥

अशुचित्वेन सकलश्रौतस्मार्तकर्माधिकारनिवृत्तौ प्रसक्तायां केषुचिदभ्यनुज्ञातार्थमाह—

वैतानौपासनाः[2] कार्याः क्रियाश्च श्रुतिचोदनात्[3] ॥ १७ ॥

वितानो[1]ऽग्नीनां विस्तारस्तत्र भवा **वैतानाः** त्रेताग्निसाध्या अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासाद्याः क्रिया उच्यन्ते । प्रतिदिनमुपास्यत इत्युपासनो गृह्याग्निस्तत्र भवा औपासनाः सायंप्रातर्होमक्रिया उच्यन्ते । ता वैतानौपासना वैदिक्यः क्रियाः कार्याः । कथं वैदिकत्वमिति चेत्,—**श्रुतिचोदनात्** । तथा हि—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिश्रुतिभिरग्निहोत्रादीनां चोदना स्पष्टैव । तथा 'अहरहः स्वाहा कुर्यादन्नाभावे केनचिदाकाष्ठात्' इति श्रुत्यौपासनहोमोऽपि चोद्यते । अत्र च श्रौतत्वविशेषणोपादानात्स्मार्तक्रियाणां दानादीनामननुष्ठानं गम्यते । अत एव वैयाघ्रपादेनोक्तम्—'स्मार्तकर्मपरित्यागो राहोरन्यत्र सूतके । श्रौते कर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति श्रौतानां च कार्यत्वाभिधानं नित्यनैमित्तिकाभिप्रायेण; यथाह पैठीनसिः—'नित्यानि विनिवर्तेरन्वैतानवर्जं शालाग्नौ चैके' इति । 'नित्यानि विनिवर्तेरन्' इत्यविशेषेण आवश्यकानां नित्यनैमित्तिकानां निवृत्तौ प्रसक्तायां 'वैतानवर्जम्' इत्यग्नित्रयसाध्यावश्यकानां पर्युदासः; 'शालाग्नौ चैके' इति गृह्याग्नौ भवानामप्यावश्यकानां पाक्षिकः पर्युदास उक्तः। अतस्तेष्वाशौचं नास्त्येव। काम्यानां पुनः शौचाभावादननुष्ठानम् । मनुनाप्यनेनैवाभिप्रायेणोक्तम् (५।८४)—'प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रिया' इति । अग्निषु क्रिया न प्रत्यूहेदिति अनग्निसाध्यानां पञ्चमहायज्ञादीनां निवृत्तिः । अत एव संवर्तः—'होमं तत्र प्रकुर्वीत शुष्कान्नेन फलेन वा । पञ्चयज्ञविधानं तु न कुर्यान्मृत्युजन्मनोः ॥' इति वैश्वदेवस्याग्निसाध्यत्वेऽपि वचनान्निवृत्तिः । 'विप्रो दशाहमासीत वैश्वदेवविवर्जितः' इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ 'सूतके कर्मणां त्यागः संध्यादीनां विधीयते'

इति यद्यपि संध्याया विनिवृत्तिः श्रूयते, तथाप्यञ्जलिप्रक्षेपादिकं कुर्यात् । 'सूतके सावित्र्या चाञ्जलिं प्रक्षिप्य प्रदक्षिणं कृत्वा सूर्यं ध्यायन्नमस्कुर्यात्' इति पैठीनसिस्मरणात् । यद्यपि 'वैतानौपासनाः कार्या' इति सामान्येनोक्तं, तथाप्यन्येन कारयितव्यम् । 'अन्यं एतानि कुर्युः' इति पैठीनसिस्मरणात् । बृहस्पतिनाप्युक्तम्—'सूतके मृतके चैव अशक्तौ श्राद्धभोजने । प्रवासादिनिमित्तेषु हावयेन्न तु हापयेत् ॥' इति । तथा स्मार्तत्वेऽपि पिण्डपितृयज्ञश्रवणाकर्माश्वयुज्यादिकश्च नित्यहोमः कार्य एव; 'सूतके तु समुत्पन्ने स्मार्तं कर्म कथं भवेत् । पिण्डयज्ञं चरुं होममसगोत्रेण कारयेत् ॥' इति जातूकर्ण्यस्मरणात् । यद्यपि साङ्गे कर्मण्यन्यकर्तृत्वं, तथापि स्वद्रव्यत्यागात्मकं प्रधानं स्वयं कुर्यात्; तस्यानन्यनिष्पाद्यत्वात् । अत एवोक्तम्—'श्रौते कर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात्' इति; यत्पुनः—'दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते' इति होमप्रतिषेधः, स काम्याभिप्रायो वैश्वदेवाभिप्रायो वा व्यवस्थापनीयः । तथा सूतकान्नभोजनमपि न कार्यम्; 'उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते' इति यमस्मरणात् उभयत्र जननमरणयोः । 'दशाहानि' इत्याशौचकालोपलक्षणम् । कुलस्य सूतकयुक्तस्य संबन्ध्यन्नं असकुल्यैर्न भोक्तव्यं, सकुल्यानां पुनर्न दोषः; 'सूतके तु कुलस्यान्नमदोषं मनुरब्रवीत्' इति तेनैवोक्तत्वात् । अयं च निषेधो दातृभोक्त्रोरन्यतरेण जनने मरणे वा ज्ञाते सति वेदितव्यः; 'उभाभ्यामपरिज्ञाते सूतकं नैव दोषकृत् । एकेनापि परिज्ञाते भोक्तुर्दोषमुपावहेत् ॥ इति षट्त्रिंशन्मते दर्शनात् । तथा विवाहादिषु सूतकोत्पत्तेः प्राक् ब्राह्मणार्थं पृथक्कृतमन्नं भोक्तव्यमेव; 'विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके । पूर्वसंकल्पितार्थेषु न दोषः परिकीर्तितः' ॥' इति बृहस्पतिस्मरणात् । तथापरोऽपि विशेषः षट्त्रिंशन्मते दर्शितः—'विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके । परैरन्नं प्रदातव्यं भोक्तव्यं च द्विजोत्तमैः ॥ भुञ्जानेषु तु विप्रेषु त्वन्तरा मृतसूतके । अन्यगेहोदकाचान्ताः सर्वे ते शुचयः स्मृताः ॥' इति । तथाशौचपरिग्रहत्वेऽपि केषुचिद्द्रव्येषु दोषाभावः । यथाह मरीचिः—'लवणे मधुमांसे च पुष्पमूलफलेषु च । शाककाष्ठतृणेष्वप्सु दधिसर्पिःपयस्सु च ॥ तिलौषधाजिने चैव पक्वापक्वे स्वयंग्रहः । पण्येषु चैव सर्वेषु नाशौचं मृतसूतके ॥' इति । पक्वं भक्ष्यजातं मोदकादि, अपक्वं तण्डुलादि, 'स्वयंग्रह' इति स्वयमेव स्वाम्यनुज्ञातो गृह्णीयादित्यर्थः । पक्वापक्वाभ्यनुज्ञानमन्नसत्रप्रवृत्तविषयम्; 'अन्नसत्रप्रवृत्तानामाममन्नमगर्हितम् । भुक्त्वा पक्वान्नमेतेषां त्रिरात्रं तु पयः पिबेत् ॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । अत्र 'पक्व'शब्दो भक्ष्यव्यतिरिक्तौदनादिविषयः ॥ शवसंसर्गनिमित्ताशौचे त्वङ्गिरसा विशेष उक्तः—'आशौचं यस्य संसर्गादापतेद्गृहमेधिनः । क्रियास्तस्य न लुप्यन्ते गृह्याणां च न तद्भवेत् ॥' इति,—तदाशौचं केवलं गृहमेधिन एव; न पुनस्तद्गृहे भवानां भार्यादीनां तद्द्रव्याणां च भवेदित्यर्थः । अतिक्रान्ताशौचेऽप्ययमेवार्थः

स्मृत्यन्तरे दर्शितः—'अतिक्रान्ते दशाहे तु पश्चाज्जानाति चेद्गृही। त्रिरात्रं सूतकं तस्य न तद्व्यस्य कर्हिचित् ॥' (मनुः ५।७६)इति ॥ १७ ॥

श्रुति के आदेशानुसार प्रतिदिन अग्निहोत्र से वैतानिक (त्रेताग्नि में होने वाला अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि) क्रिया तथा गृह्याग्नि की उपासना करनी चाहिये ॥१७॥

एवमाशौचिनो विधिप्रतिषेधरूपान्धर्मानभिधायाधुना आशौचनिमित्तं कालनियमं चाह—

त्रिरात्रं दशरात्रं वा शावमाशौचमिष्यते ।
ऊनद्विवर्ष उभयोः सूतकं मातुरेव हि ॥ १८ ॥

शवनिमित्तं **शावम्** । 'सूतक'शब्देन च जननवाचिना तन्निमित्तमाशौचं लक्ष्यते। एवं च वदता जननमरणयोराशौचनिमित्तत्वमुक्तं भवति । तच्च जननमरणमुत्पन्नज्ञातमेव निमित्तम् । 'निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च' (मनुः ५।७७)इत्यादिलिङ्गदर्शनात्। तथा (मनुः ५।७५)—'विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्। यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥' इत्यादिवाक्यारम्भसामर्थ्याच्च। उत्पत्तिमात्रापेक्षत्वे ह्याशौचस्य दशाहाद्याशौचकालनियमास्तत्तत्प्रभृतिका एवेति अनिर्दशज्ञातिमरणश्रवणे दशरात्रशेषमेवाशौचमर्थात्सिद्ध्यतीति 'यच्छेषं दशरात्रस्य' इत्यनारम्भणीयं स्यात्। तस्माज्ज्ञातमेव जननं मरणं च निमित्तम्। तच्चोभयनिमित्तमप्याशौचं **त्रिरात्रं दशरात्रं चेष्यते** मन्वादिभिः ॥ अत्राशौचप्रकरणे अहर्ग्रहणं रात्रिग्रहणं चाहोरात्रोपलक्षणार्थम्। मन्वादिभिः 'इष्यते' इति वचनं तदुक्तसपिण्डसमानोदकरूपविषयभेदप्रदर्शनार्थम् ॥ तथा हि (मनुः ५।५९)—'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।', 'जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम् ॥' (मनुः ५।६१) 'जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते'। (मनुः ५।७१) 'शवस्पृशो विशुद्ध्यन्ति त्र्यहात्तूदकदायिनः ॥' (मनुः ५।६४) इत्येतैर्वाक्यैस्त्रिरात्रदशरात्रयोः समानोदकसपिण्डविषयत्वेन व्यवस्था कृता। अतः सपिण्डानां सप्तमपुरुषावधिकानामविशेषेण दशरात्रम्, समानोदकानां त्रिरात्रमिति ॥ यत्पुनः स्मृत्यन्तरवचनम्—'चतुर्थे दशरात्रं स्यात्षण्निशाः पुंसि पञ्चमे। षष्ठे चतुरहाच्छुद्धिः सप्तमे त्वहरेव तु ॥' इति, तद्विगीतत्वान्नादरणीयम् । यद्यप्यविगीतं तथापि मधुपर्काङ्गपश्वालम्भनवल्लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयम्। 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु' (आ० १५६) इति मनुस्मरणात्। नच सप्तमे प्रत्यासन्ने सपिण्ड एकाहो विप्रकृष्टाष्टमादिषु समानोदकेषु त्र्यहमिति युक्तम् । एवमविशेषेण सपिण्डानामाशौचे प्राप्ते क्वचिन्नियमार्थमाह । ऊनद्विवर्षे संस्थिते उभयोरेव मातापित्रोर्दशरात्रमाशौचं न सर्वेषां सपिण्डानाम्। तेषां तु वक्ष्यति 'आ दन्तजन्मनः सद्यः' (प्रा० २३) इति । तथा च पैङ्गयः—'गर्भस्थे प्रेते मातुर्दशाहं, जात उभयोः, कृते नाम्नि सोदराणां च' इति। अथवा अयमर्थः—**ऊनद्विवर्षे संस्थिते उभयोर्मातापि-**

त्रोरेव अस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं न सपिण्डानाम् । तथा स्मृत्यन्तरे—'ऊनद्विवर्षे प्रेते मातापित्रोरेव नेतरेषाम्' इति अस्पृश्यत्वलक्षणमभिप्रेतम् । इतरस्य पुनः कर्मण्यनधिकारलक्षणस्य सपिण्डेष्वपि 'आ दन्तजन्मनः सद्यः' (प्रा० २३) इत्यादिभिर्विहितत्वात् । अत्र दृष्टान्तः—**सूतकं मातुरेव ही**ति । यथा सूतकं जननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं मातुरेव केवलं तथोनद्विवर्षोपरमे मातापित्रोरेवास्पृश्यत्वमिति । ऊनद्विवर्षे सपिण्डानामस्पृश्यत्वं प्रतिषेधताऽन्यत्रास्पृश्यत्वमभ्यनुज्ञातं भवति । तथा च देवलः—'स्वाशौचकालाद्विज्ञेयं स्पर्शनं च त्रिभागतः । शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यथाशास्त्रं प्रचोदितम् ॥' इति । एतच्चानुपनीतप्रयाणनिमित्ते अतिक्रान्ताशौचे च त्रिरात्रादौ वेदितव्यम् । उपनीतविषयेऽपि तेनैवोक्तम्—'दशाहादित्रिभागेन कृते संचयने क्रमात् । अङ्गस्पर्शनमिच्छन्ति वर्णानां तत्त्वदर्शिनः ॥ त्रिचतुःपञ्चदशभिः स्पृश्या वर्णाः क्रमेण तु । भोज्यान्नो दशभिर्विप्रः शेषा द्वित्रिषडुत्तरैः ॥' इति । द्व्युत्तरैर्दशभिः त्र्युत्तरैर्द्वादशभिः षडुत्तरैः पञ्चदशभिरिति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

शव (मृत्यु) का अशौच तीन रात तक या दश रात का होता है । दो वर्ष से कम आयु के बालक का आशौच माता-पिता को होता है और सूतक (जन्म) का आशौच केवल माता को होता है ॥१८ ॥

जननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचमाह—

पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदसृग्दर्शनाद्ध्रुवम् ।
तदहर्न प्रदुष्येत पूर्वेषां जन्मकारणात् ॥ १९ ॥

सूतकं जननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं **पित्रो**र्मातापित्रोरेव, न सर्वेषां सपिण्डानाम् । तच्चास्पृश्यत्वं **मातुर्ध्रुवं** दशाहपर्यन्तं स्थिरमित्यर्थः । कुतः? **तदसृग्दर्शनात्** तस्याः संबन्धित्वेनासृजो दर्शनात् । अत एव वसिष्ठः (४।२३)—'नाशौचं विद्यते पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति । रजस्तत्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यते ॥' इति । पितुस्तु ध्रुवं न भवति स्नानमात्रेणास्पृश्यत्वं निवर्तते, यथाऽऽह संवर्तः—'जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते । माता शुध्येद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः ॥' इति । 'माता शुध्येद्दशाहेन' इत्येतच्च संव्यवहारयोग्यतामात्रम् । अदृष्टार्थेषु पुनः कर्मसु पैठीनसिना विशेष उक्तः—'सूतिकां पुत्रवतीं विंशतिरात्रेण कर्माणि कारयेत् । मासेन स्त्रीजननीम्' इति । अङ्गिरसा च सपिण्डानामस्पृश्यत्वाभावः स्पष्टीकृतः—'सूतके सूतिकावर्ज्यं संस्पर्शो न निषिद्ध्यते । संस्पर्शे सूतिकायास्तु स्नानमेव विधीयते ॥' इति । यस्मिन्दिवसे कुमारजननं तदहर्न प्रदुष्येत । तन्निमित्तदानाद्यधिकारापहारकृन्न भवतीत्यर्थः । यस्मात्तस्मिन्नहनि पूर्वेषां पित्रादीनां पुत्ररूपेण जन्म उत्पत्तिस्तस्मात्तदहर्न प्रदु-

ष्येत । तथा च वृद्धयाज्ञवल्क्येनोक्तम्—'कुमारजन्मदिवसे विप्रैः कार्यः प्रतिग्रहः । हिरण्यभूगवाश्वाजवासःशय्यासनादिषु ॥ तत्र सर्वं प्रतिग्राह्यं कृतान्नं नतु भक्षयेत् । भक्षयित्वा तु तन्मोहाद्द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति ॥ व्यासेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः ।। तासां यागनिमित्तं तु शुचिर्जन्मनि कीर्तिता ॥ प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा । त्रिष्वेतेषु न कुर्वीत सूतकं पुत्रजन्मनि ॥' मार्कण्डेयेनाप्युक्तम्—'रक्षणीया तथा षष्ठी निशा तत्र विशेषतः । रात्रौ जागरणं कार्यं जन्मदानां तथा बलिः ॥ पुरुषाः शस्त्रहस्ताश्च नृत्यगीतैश्च योषितः । रात्रौ जागरणं कुर्युर्दशम्यां चैव सूतके ॥' इति ॥ १९ ॥

जन्म का सूतक केवल माता-पिता को होता है, उसमें भी माता के रक्त को उसका रक्त दिखलाई पड़ने से निश्चित रूप से आशौच होता है। बालक के जन्म का दिन (दानादि के लिये) दूषित (अशुद्ध) नहीं होता, क्योंकि उसके पूर्वपुरुष (पितर) ही पुत्र रूप से उत्पन्न होते हैं ॥१९ ॥

आशौचमध्ये पुनर्जनने मरणे वा जाते 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायेन पुनर्दशाहाद्याशौचप्राप्तौ तदपवादमाह—

अन्तरा जन्ममरणे शेषाहोभिर्विशुद्ध्यति ।

वर्णापेक्षया वयोवस्थापेक्षया वा यस्य यावानाशौचकालस्त**दन्तरा** तत्समस्य ततो न्यूनस्य वाऽऽशौचस्य निमित्तभूते **जनने मरणे** वा जाते **पूर्वाशौचावशिष्टैरेवाहोभिर्विशुद्ध्यति** । न पुनः पश्चादुत्पन्नजननादिनिमित्तं पृथक्पृथगाशौचं कार्यम् । यदा पुनरल्पाद्वर्तमानाशौचाद्दीर्घकालमाशौचमन्तरा पतति तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः । यथाऽऽहोशनाः—'स्वल्पाशौचस्य मध्ये तु दीर्घाशौचं भवेद्यदि । न पूर्वेण विशुद्धिः स्यात्स्वकालेनैव शुद्ध्यति ॥' इति । यमोऽप्याह—'अर्घवृद्धिमदाशौचं पश्चिमेन समापयेत्' इति । अत्र 'चान्तरा जन्ममरणे' इति यद्यप्यविशेषेणाभिहितं, तथापि न सूतकान्तर्वर्तिनः शावस्य पूर्वाशौचशेषेण शुद्धिः । यथाहाङ्गिराः—'सूतके मृतकं चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूतकम् । तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं कुर्यान्न सूतकम् ॥' इति । तथा षट्त्रिंशन्मतेऽपि—'शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकं तु यदा भवेत् । शावेन शुद्ध्यते सूतिर्न सूतिः शावशोधिनी ॥' इति । तस्मान्न सूतकान्तःपातिनः शावाशौचस्य पूर्वशेषेण शुद्धिः, किंतु शावान्तःपातिन एव सूतकस्य । तथा सजातीयान्तःपातित्वेऽपि शावस्य क्वचित्पूर्वशेषेण शुद्धेरपवादः स्मृत्यन्तरे दर्शितः—'मातर्यग्रे प्रमीतायामशुद्धौ म्रियते पिता । पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मातुः कुर्यात्तु पक्षिणीम् ॥' इति । अयमर्थः—मातरि पूर्वं मृतायां तन्निमित्ताशौचमध्ये यदि पितुरुपरमः स्यात्तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः, किंतु पितुः प्रायणनिमित्ताशौचकालेनैव शुद्धिः कार्या ।

तथा पितुः प्रयाणनिमित्ताशौचमध्ये मातरि स्वर्यातायामपि न पूर्वशेषमात्राच्छुद्धिः किंतु पूर्वाशौचं समाप्योपरि पक्षिणीं क्षिपेत् इति ॥ तथाऽऽशौचसन्निपातकालविशेषकृतोऽप्यपवादो गौतमेनोक्तः (१४।७,८)—'रात्रिशेषे सति द्वाभ्यां प्रभाते तिसृभिः' इति । अयमर्थः—रात्रिमात्रावशिष्टे पूर्वाशौचे यद्याशौचान्तरं सन्निपतेत्तर्हि पूर्वाशौचं समाप्यानन्तरं द्वाभ्यां रात्रिभ्यां शुद्धिः । प्रभाते पुनस्तस्या रात्रेः पश्चिमे यामे जननाद्याशौचान्तरसन्निपाते सति तिसृभी रात्रिभिः शुद्धिः, न पुनस्तच्छेषमात्रेण । शातातपेनाप्युक्तम्—'रात्रिशेषे द्व्यहाच्छुद्धिर्यामशेषे शुचिस्त्र्यहात्' इति। प्रेतक्रिया पुनः–'सूतकसन्निपातेऽपि न निवर्तेत' इति तेनैवोक्तम्—'अन्तर्दशाहे जननात्पश्चात्स्यान्मरणं यदि । प्रेतमुद्दिश्य कर्तव्यं पिण्डदानं स्वबन्धुभिः ॥ प्रारब्धे प्रेतपिण्डे तु मध्ये चेज्जननं भवेत् । तथैवाशौचपिण्डांस्तु शेषान्दद्याद्यथाविधि ॥' इति । तथा शावाशौचयोः सन्निपातेऽपि प्रेतकृत्यं कार्यम्; तुल्यन्यायत्वात् । तथा जातकर्मादिकमपि पुत्रजन्मनिमित्तकमाशौचान्तरसन्निपातेऽपि कार्यमेव । यथाह प्रजापतिः–'आशौचे तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत् । कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुद्ध्यति ॥' इति ॥

एक आशौच के अन्तर्गत जन्म-मरण आ जाने पर पूर्व के आशौच में जितने दिन शेष हो उतने में ही शुद्धि होती है ॥१९$\frac{१}{२}$ ॥

पूर्णप्रसवकालजननाशौचमभिधायाधुना अप्राप्तकालगर्भनिःसरणनिमित्तमाशौचमाह—

गर्भस्रावे मासतुल्या निशाः शुद्धेस्तु कारणम् ॥ २० ॥

स्रवतिर्यद्यपि लोके द्रवद्रव्यकर्तृके परिस्पन्दे प्रयुज्यते,तथाऽप्यत्र द्रवाद्रवद्रव्यसाधारणरूपेऽधःपतने वर्तते। कुतः? द्रवत्वस्य प्रथममास एव संभवात्तत्र च 'मासतुल्या निशाः' इति बहुवचनानुपपत्तेः । **गर्भस्रावे** यावन्तो गर्भग्रहणमासास्तत्सम**संख्याका निशाः शुद्धेः कारणम्** । एतच्च स्त्रिया एव; 'गर्भस्रावे मासतुल्या रात्रयः स्त्रीणां, स्नानमात्रमेव पुरुषस्य' इति वृद्धवसिष्ठस्मरणात् । यत्पुनर्गौतमेन 'त्र्यहं च' (१४।१८) इति त्रिरात्रमुक्तं,–तन्मासत्रयादर्वाग्वेदितव्यम्; 'गर्भच्युत्यां यथामासमचिरे तूत्तमे त्रयः। राजन्ये तु चतूरात्रं वैश्ये पञ्चाहमेव तु ॥ अष्टाहेन तु शूद्रस्य शुद्धिरेषा प्रकीर्तिता ॥' इति मरीचिस्मरणात् । अचिरे मासत्रयादर्वाक् गर्भस्रावे उत्तमे ब्राह्मणजातौ त्रिरात्रमित्यर्थः । एतच्च षण्मासपर्यन्ते द्रष्टव्यम् । सप्तमादिषु पुनः परिपूर्णमेव प्रसवाशौचं कार्यम्; तत्र परिपूर्णाङ्गगर्भस्य जीवतो निर्गमदर्शनात् । तत्र च लोके 'प्रसव'शब्दप्रयोगात्, 'षण्मासाभ्यन्तरे यावद्गर्भस्रावो भवेद्यदा । तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अत ऊर्ध्वं स्वजात्युक्तं तासामाशौचमिष्यते । सद्यःशौचं सपिण्डानां गर्भस्य पतने सति ॥' इति स्मरणात् ॥ एतच्च सपिण्डानां सद्यःशौचविधानं द्रवभूतगर्भपतने

वेदितव्यम् । यत्पुनर्वसिष्ठवचनम् (४।३४)—'ऊनद्विवार्षिके प्रेते गर्भस्य पतने च सपिण्डानां त्रिरात्रम्' इति,—तत्पञ्चमषष्ठयोः कठिनगर्भपतनविषयम्; 'आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः । अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत् ॥ स्रावे मातुस्त्रिरात्रं स्यात्सपिण्डाशौचवर्जनम् । पाते मातुर्यथामासं पित्रादीनां दिनत्रयम् ॥' इति मरीचिस्मरणात् ॥ सप्तममासप्रभृति मृतजनने जातमृतं वा सपिण्डानां जननिमित्तं परिपूर्णमाशौचम; 'जातमृते मृतजाते वा सपिण्डानां दशाहम्' इति हारीतस्मरणात्, 'अतः सूतके चेदोत्थानाशौचं सूतकवत्' इति पारस्करवचनाच्च । आ उत्थानादासूतिकाया उत्थानाद्दशाहमिति यावत् । सूतकवदिति शिशूपरमनिमित्तोदकदानरहितमित्यर्थः । बृहन्मनुरपि—'दशाहाभ्यन्तरे बाले प्रमीते तस्य बान्धवैः । शावाशौचं न कर्तव्यं सूत्याशौचं विधीयते ॥' इति । तथा च स्मृत्यन्तरेऽपि—'अन्तर्दशाहोपरतस्य सूतिकाहोभिरेवाशौचम्' इति । एवमादिवचननिचयपर्यालोचनया सपिण्डानां जननिमित्ताशौचसंकोचो नास्तीति गम्यते । यत्पुनर्बृहद्विष्णुवचनम्—'जाते मृते मृतजाते वा कुलस्य सद्यःशौचम्' इति,—तच्छिशूपरमनिमित्तस्याशौचस्य स्नानाच्छुद्धिप्रतिपादनपरं न प्रसवनिमित्तस्य । तथा च पारस्करः—'गर्भे यदि विपत्तिः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत् ।' सपिण्डानां प्रसवनिमित्तस्य विद्यमानत्वात्।— 'जीवज्ञातो यदि प्रेयात्सद्य एव विशुद्ध्यति' इति प्रेताशौचाभिप्रायम्। तथा च शङ्खेनोक्तम्—'प्राङ्नामकरणात्सद्यःशौचम्' इति । यत्पुनः कात्यायनवचनम्— 'अनिवृत्ते दशाहे तु पञ्चत्वं यदि गच्छति । सद्य एव विशुद्धिः स्यान्न प्रेतं नोदकक्रिया ॥' इति,—तदपि वैष्णवेन समानार्थम् । यदा तु 'न प्रेतं नैव सूतक'मिति पाठस्तदा सूतकमस्पृश्यत्वं नैव पित्रादीनां भवतीत्यर्थः । अथवाऽयमर्थः—अन्तर्दशाहे यदि शिशूपरमस्तदा न प्रेताशौचम् । यदि तत्र सपिण्डजननं तदा सूतकमपि नैव कार्यं, किंतु पूर्वाशौचेनैव शुद्धिरिति । यत्तु बृहन्मनुवचनम्—'जीवज्ञातो यदि ततो मृतः सूतक एव तु । सूतकं सकलं मातुः पित्रादीनां त्रिरात्रकम् ॥ इति । यच्च बृहत्प्रचेतोवचनम्—'मुहूर्तं जीवितो बालः पञ्चत्वं यदि गच्छति । मातुः शुद्धिर्दशाहेन सद्यः शुद्धास्तु गोत्रिणः ॥' इति, तत्रेयं व्यवस्था—जननानन्तरं नाभिवर्धनात्प्राङ् मृतौ पित्रादीनां जननिमित्तमाशौचं दिनत्रयम् । सद्यःशौचं त्वग्निहोत्राद्यर्थम्; 'अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनात्तत्कालं शौचम्' इति शङ्खस्मरणात् । नाभिवर्धनोत्तरकालं तु शिशुप्रायणेऽपि जननिमित्तं संपूर्णमाशौचं सपिण्डानाम् । 'यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् । छिन्ने नाले ततः पश्चात्सूतकं तु विधीयते ॥' इति जैमिनिस्मरणात् ।

मनुनाऽप्ययमर्थो दर्शितः (५।६६)—'रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥' इति पूर्वभागस्यार्थो दर्शितः । उत्तरस्य त्वयमर्थः—रजसि निःसरणादुपरते निवृत्ते रजस्वला स्त्री स्नानेन साध्वी

दैवादिकर्मयोग्या भवति। स्पर्शनादिविषये पुनरनुपरतेऽपि रजसि चतुर्थेऽहनि स्नानाच्छुद्धा भवति। तदुक्तं वृद्धमनुना—'चतुर्थेऽहनि संशुद्धा भवति व्यावहारिकी' इति। तथा स्मृत्यन्तरम्—'शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला। दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति॥' 'पञ्चमेऽहनि' इति रजोनिवृत्तिकालोपलक्षणार्थम्। यदा रजोदर्शनादारभ्य पुनः सप्तदश दिनाभ्यन्तरे रजोदर्शनं तदा अशुचित्वं नास्त्येव; अष्टादशे त्वेकाहाच्छुद्धिः, एकोनविंशे द्व्यहात्, तत उत्तरेषु त्र्यहाच्छुद्धिः। यथाहात्रिः—'रजस्वला यदि स्नाता पुनरेव रजस्वला। अष्टादशदिनादर्वागशुचित्वं न विद्यते॥ एकोनविंशतेर्वागेकाहं स्यात्ततो द्व्यहम्। विंशत्प्रभृत्युत्तरेषु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥' इति।—यत्तु 'चतुर्दशदिनादर्वागशुचित्वं न विद्यते' इति स्मृत्यन्तरं, तत्र स्नानप्रभृतित्वमभिप्रेतमतो न विरोधः। अयं चाशुचित्वप्रतिषेधो यस्या विंशतिदिनोत्तरकालमेव प्रायशो रजोदर्शनं तद्विषयः। यस्याः पुनरारूढयौवनायाः प्रागेवाष्टादशदिनात्प्राचुर्येण रजोनिर्गमस्तस्यास्त्रिरात्रमेवाशौचम्। तया च यावत्त्रिरात्रं स्नानादिरहितया स्थातव्यम्; 'रजस्वला त्रिरात्रमशुचिर्भवति सा च नाञ्जीत नाभ्यञ्जीत नाप्सु स्नायादधः शयीत न दिवा स्वप्यात् न ग्रहान्निरीक्षेत नाग्निं स्पृशेत् नाश्नीयान्न रज्जुं सृजेत् नच दन्तान्धावयेत् न हसेन्नच किंचिदाचरेत् अखर्वेण पात्रेण पिबेदञ्जलिना वा पात्रेण लोहितायसेन वेति विज्ञायते' (४–७) इति वसिष्ठस्मरणात्।

आङ्गिरसेऽपि विशेषः—'हस्तेऽश्नीयान्मृन्मये वा हविर्भुक् क्षितिशायिनी। रजस्वला चतुर्थेऽह्नि स्नात्वा शुद्धिमवाप्नुयात्॥' इति। पराशरेऽपि विशेषः—'स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला। पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा व्रतं चरेत्॥ सिक्तगात्रा भवेदद्भिः साङ्गोपाङ्गा कथंचन। न वस्त्रपीडनं कुर्यान्नान्यद्वासश्च धारयेत्॥' इति। उशनसाऽप्यत्र विशेषो दर्शितः—'ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता। कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा॥ चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्याऽशुचिस्त्रियम्। सा सचेलावगाह्यापः स्नात्वा स्नात्वा पुनः स्पृशेत्। दशद्वादशकृत्वो वा आचमेच्च पुनः पुनः॥ अन्ते च वाससां त्यागस्ततः शुद्धा भवेच्च सा। दद्याच्छक्त्या ततो दानं पुण्याहेन विशुद्ध्यति॥' इति।

अयं चातुरमात्रे स्नानप्रकारोऽनुसरणीयः। 'आतुरे स्नान उत्पन्ने दशकृत्वो ह्यनातुरः। स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुद्ध्येत्स आतुरः॥' (७।१०) इति पराशरस्मरणात्। यदा तु रजस्वलायाः सूतिकाया वा मृतिर्भवति तदायं स्नानप्रकारः—'सूतिकायां मृतायां तु कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः। कुम्भे सलिलमादाय पञ्चगव्यं तथैव च॥ पुण्यर्ग्भिरभिमन्त्र्यापो वाचा शुद्धिं लभेत्ततः। तेनैव स्नापयित्वा तु दाहं कुर्याद्यथाविधि॥' रजस्वलायास्तु—'पञ्चभिः स्नापयित्वा तु

गव्यैः प्रेतां रजस्वलाम् । वस्त्रान्तरावृतां कृत्वा दाहयेद्विधिपूर्वकम् ॥' इति । एतच्च रजोदर्शनपुत्रजन्मादि; यद्युदयोत्तरकालमुत्पन्नं तदा तद्दिवसप्रभृत्याशौचाहोरात्रगणना कार्या । यदा तु रजन्यां रजोदर्शनपुत्रजन्मादि जातं तदार्धरात्रात्प्राक् जननाद्युत्पत्तौ पूर्वदिवसैकदेशाव्यापित्वेऽपि आशौचस्य तत्पूर्वदिवसप्रभृत्येव गणना कार्येत्येकः कल्पः । रात्रिं त्रेधा विभज्याद्ये भागद्वये जननादौ जाते पूर्वदिनं ग्राह्यमिति द्वितीयः । प्रागुदयादित्यपरः । यथाह कश्यपः—'उदिते तु यदा सूर्ये नारीणां दृश्यते रजः । जननं वा विपत्तिर्वा यस्याहस्तस्य शर्वरी ॥ अर्धरात्रावधिः कालः सूतकादौ विधीयते । रात्रिं कुर्यात्त्रिभागां तु द्वौ भागौ पूर्व एव तु ॥ उत्तरांशः प्रभातेन युज्यते ऋतुसूतके । रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके ॥ पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदयते रविः ॥' इति । एतेषां च कल्पानां देशाचारतो व्यवस्था विज्ञेया ।

इदं चाशौचमाहिताग्नेरुपरमे संस्कारदिवसप्रभृति कर्तव्यम् । अनाहिताग्नेस्तु मरणदिवसप्रभृति संचयनं तूभयोरिति संस्कारदिवसप्रभृतीति विवेचनीयम् । यथाहाङ्गिराः—'अनग्निमत उत्क्रान्तेः साग्नेः संस्कारकर्मणः । शुद्धिः संचयनं दाहान्मृताहस्तु यथाविधि ॥' इति । 'साग्नेः संस्कारकर्मणः' इति श्रवणादाहिताग्नौ पितरि देशान्तरमृते तत्पुत्रादीनामासंस्कारात्संध्यादिकर्मलोपो नास्तीत्यनुसंधेयम् । तथा च पैठीनसिः—'अनग्निमत उत्क्रान्तेराशौचं हि द्विजातिषु । दाहादग्निमतो विद्याद्विदेशस्थे मृते सति ॥' इति ॥ २० ॥

गर्भस्राव होने पर जितने दिन का गर्भ हो उतने दिन में शुद्धि होती है ॥२० ॥

सपिण्डत्वादिना दशाहादिप्राप्तौ क्वचिन्मृत्युविशेषेणापवादमाह—

हतानां नृपगोविप्रैरन्वक्षं चात्मघातिनाम् ।

नृपोऽभिषिक्तः क्षत्रियादिः । **'गो'**ग्रहणं शृङ्गिदंष्ट्र्यादितिरश्चामुपलक्षणार्थम्, **'विप्र'**ग्रहणमन्त्यजोपलक्षणम्; एतैर्**हतानां** संबन्धिनो ये सपिण्डास्तेषाम्, विषोद्बन्धनादिभिः बुद्धिपूर्वमात्मानं ये व्यापादयन्ति ते **आत्मघातिनः**; 'आत्मघाति'ग्रहणं 'पाखण्ड्यनाश्रिता' (प्रा० ६-११) इत्येकयोगोपात्तपतितपात्रोपलक्षणार्थम् । तत्संबन्धिनां चान्वक्षमनुगतमक्षम**न्वक्षं** सद्यः शौचमित्यर्थः । तत्संबन्धिनां च सान्वक्षं यावद्दर्शनमाशौचं न पुनर्दशाहादिकम् । तथा च गौतमः (१४।९-१२)—'गोब्राह्मणहतानामन्वक्षं राजक्रोधाच्चायुद्धे प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्' इति । 'क्रोध'ग्रहणं प्रमादव्यापादितनिरासार्थम् । 'अयुद्ध'ग्रहणं युद्धहतस्यैकाहमाशौचमस्तीति ज्ञापनार्थम्; 'ब्राह्मणार्थं विपन्नानां योषितां गोग्रहेऽपि च । आहवेऽपि हतानां च एकरात्रमशौचकम् ॥' इति स्मरणात् । एतच्च युद्धकालक्षतेनैव कालान्तरविपन्नस्य । समरमूर्धनि हतस्य पुनः सद्यः शौचम् । यथाह मनुः (५।९८)—'उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति स्थितिः ॥' इति ॥—

राजा, गौ और ब्राह्मण द्वारा मारे गये व्यक्तियों तथा आत्महत्या कर मरे व्यक्ति के संबन्धियों की शुद्धि तत्काल होती है ॥२०$\frac{1}{2}$ ॥

ज्ञातस्यैव जननादेराशौचनिमित्तत्वाज्जन्मदिनादुत्तरकालेऽपि ज्ञाते दशाहादिप्राप्तावपवादमाह—

प्रोषिते कालशेषः स्यात्पूर्णे दत्त्वोदकं शुचिः ॥ २१ ॥

प्रोषिते देशान्तरस्थे[1] यत्रस्थेन प्रथमदिवस एव सपिण्डजननादिकं न ज्ञायते तस्मिन्सपिण्डे **कालस्य** दशाहाद्यवच्छिन्नस्य यः **शेषो**ऽवशिष्टकालः स एव शुद्धिहेतुर्भवति । **पूर्णे** पुनराशौचकाले दशाहादिके प्रेतायोदकं **दत्त्वा शुद्धिर्भवति**। उदकदानस्य स्नानपूर्वकत्वात्स्नात्वोदकं दत्त्वा शुचिर्भवति । तदुक्तं मनुना (५।७७)—'निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च । सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥' इति । 'पूर्णे दत्त्वोदकं शुचिः' इति प्रेतोदकदानसहचरितस्याशौचकालस्य शुद्धिहेतुत्वविधानात् । जन्मन्यतिक्रान्ताशौचं सपिण्डानां नास्तीति गम्यते । पितुस्तु निर्दशेऽपि जनने स्नानमस्त्येव; 'श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च' इति वचनात्। एतच्च 'पुत्र'ग्रहणं जन्मनि सपिण्डानामतिक्रान्ताशौचं नास्तीति ज्ञापकम् । अन्यथा 'निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा जन्म च निर्दशम्' इत्येवावक्ष्यत् । न चोक्तम् । तथा च देवलः—'नाशुद्धिः प्रसवाशौचे व्यतीतेषु दिनेष्वपि' इति । तस्माद्विपत्तावेवातिक्रान्ताशौचमिति स्थितम् ॥ केचिदन्यथेमं श्लोकं पठन्ति—'प्रोषिते[2] कालशेषः स्यादशेषे त्र्यहमेव तु । सर्वेषां वत्सरे पूर्णे प्रेते दत्त्वोदकं शुचिः ॥' इति । [2]प्रोषिते प्रेते सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियादीनामविशेषेण कालशेषः शुद्धिहेतुः । अशेषे पुनरतिक्रान्ते दशाहादौ सर्वेषां त्र्यहमेवाशौचम् । संवत्सरे पूर्णे यदि प्रोषितप्रायणमवगतं स्यात्तदा सर्वो ब्राह्मणादिः स्नात्वोदकं दत्त्वा शुचिः स्यात् । तथा च मनुः (५।७६)—'संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति' इति । अयं च त्र्यहो दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादर्वाग्द्रष्टव्यः । पूर्वोक्तं तु सद्यःशौचं नवममासादूर्ध्वमर्वाक्संवत्सराद्द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्वासिष्ठं वचनम्—'ऊर्ध्वं दशाहाच्छ्रुत्वैकरात्रम्' इति,–तदूर्ध्वं षण्मासेभ्यो यावन्नवमम् । यदपि गौतमवचनम् (१४।१९)—'श्रुत्वा चोर्ध्वं दशम्याः पक्षिणी' इति, तन्मासत्रयादूर्ध्वमर्वाक्षष्ठात् । तथा च वृद्धवसिष्ठः—'मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा । अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुद्ध्यति ॥' इति । एतच्च मातापितृव्यतिरिक्तविषयम् । 'पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः । श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत् ॥' इति पैठीनसिस्मरणात् । तथा च स्मृत्यन्तरेऽपि—'महागुरुनिपाते तु आर्द्रवस्त्रोपवासिना । अतीतेऽब्देऽपि कर्तव्यं प्रेतकार्यं यथाविधि ॥' इति । संवत्सरादूर्ध्वमपि प्रेतकार्यमाशौचोदकदानादिकं कार्यं, न पुनः स्नानमात्राच्छुद्धिरित्यर्थः। पितृपत्न्यामपि मातृव्यतिरिक्तायां स्मृत्यन्तरे विशेषो दर्शितः—'पितृपत्न्यामपेतायां मातृवर्जं द्विजोत्तमः । संवत्सरे व्यतीतेऽपि त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥' इति । यस्तु नद्यादिव्यवहिते देशान्तरे

मृतस्तत्सपिण्डानां दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादर्वागपि सद्यःशौचम्; 'देशान्तरमृतं श्रुत्वा क्लीबे वैखानसे यतौ । मृते स्नानेन शुद्ध्यन्ति गर्भस्रावे च गोत्रिणः ॥' इति । देशान्तरलक्षणं च बृहस्पतिनोक्तम्—'महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः । वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते ॥ देशान्तरं वदन्त्येके षष्टियोजनमायतम् । चत्वारिंशद्वदन्त्यन्ये त्रिंशदन्ये तथैव च ॥' इति । इदं चातिक्रान्ताशौचमुपनीतोपरमविषयम् । न पुनर्वयोवस्थाविशेषाशौचविषयमपि । तथा चोक्तं व्याघ्रपादेन—'तुल्यं वयसि सर्वेषामतिक्रान्ते तथैव च । उपनीते तु विषमं तस्मिन्नेवातिकालजम् ॥' इति । अयमर्थः—वयसि त्रिवर्षादिरूपे यदाशौचं 'आ दंन्तजन्मनः सद्यः' (प्रा०२३) इत्यादिवाक्यविहितं तत्सर्वेषां ब्राह्मणादिवर्णानां तुल्यमविशिष्टम् । अतिक्रान्ते च दशाहादिके त्र्यहादि यदाशौचं तदपि सर्वेषामविशिष्टम् । उपनीते पुनरुपरमे दशद्वादशपञ्चदशत्रिंशद्दिनानीत्येवं विषममाशौचं ब्राह्मणादीनाम् । तस्मिन्नेवोपनीतोपरम एव अतिकालजमतिक्रान्ताशौचं भवति न वयोवस्थाशौचातिक्रम इति ॥ २१ ॥

दूसरे देश में मरे व्यक्ति के (मृत्यु का समाचार प्राप्त होने पर) मृत्यु के बाद दश दिनों में जितने दिन शेष हों उतने में शुद्धि होती है और यदि दश दिन का आशौचकाल पूर्ण हो गया हो तो जल-क्रिया कर उसके गोत्र वाले शुद्ध हो जाते हैं ॥२१ ॥

क्षत्रियादिषु दशरात्रस्य सपिण्डाशौचस्यापवादमाह—

क्षत्रस्य द्वादशाहानि विशः पञ्चदशैव तु ।
त्रिंशद्दिनानि शूद्रस्य तदर्धं न्यायवर्तिनः ॥ २२ ॥

क्षत्रियवैश्यशूद्राणां सपिण्डजनने तदुपरमे च यथाक्रमेण **द्वादशपञ्चदशत्रिंशद्दिनान्याशौचं भवति । न्यायवर्तिनः** पुनः **शूद्रस्य** पाकयज्ञद्विजशुश्रूषादिरतस्य **तदर्धं** तस्य मासस्यार्धं पञ्चदशरात्रमाशौचम् । एवं च 'त्रिरात्रं दशरात्रं वा' (प्रा० १८) इत्येतद्दशरात्रमाशौचं पारिशेष्याद्ब्राह्मणविषये व्यवतिष्ठते स्मृत्यन्तरेषु तु क्षत्रियादीनां दशाहादयोऽप्याशौचकल्पा दर्शिताः । यथाह पराशरः—'क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वकर्मनिरतः शुचिः । तथैव द्वादशाहेन वैश्यः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' तथा च शातातपः—'एकादशाहाद्राजन्यो वैश्यो द्वादशभिस्तथा । शूद्रो विंशतिरात्रेण शुद्ध्येत मृतसूतके ॥' वसिष्ठस्तु—'पञ्चदशरात्रेण राजन्यो विंशतिरात्रेण वैश्य' इति । अङ्गिरास्त्वाह—'सर्वेषामेव वर्णानां सूतके मृतके तथा । दशाहाच्छुद्धिरेतेषामिति शातातपोऽब्रवीत् ॥' इत्येवमनेकोच्चावचाशौचकल्पा दर्शिताः; तेषां लोके समाचाराभावान्नातीव व्यवस्थाप्रदर्शनमुपयोगीति नात्र व्यवस्था प्रदर्श्यते । यदा पुनर्ब्राह्मणादीनां क्षत्रियादयः सपिण्डा भव-

न्ति तदा हारीताद्युक्ताशौचकल्पोऽनुसरणीयः ।—'दशाहाच्छुद्धयते विप्रो जन्महानौ स्वयोनिषु । षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥' इति । विष्णुरप्याह (२२।२३,२४)—'क्षत्रियस्य विट्शूद्रेषु सपिण्डेषु षड्रात्रत्रिरात्राभ्यां वैश्यस्य शूद्रे सपिण्डे षड्रात्रेण शुद्धिर्हीनवर्णानां तूत्कृष्टेषु सपिण्डेषु जातेषु मृतेषु वा तदाऽऽशौचव्यपगमे शुद्धिः' (२२।२१) इति । बौधायनेन त्वविशेषेण दशाह इत्युक्तम्—'क्षत्रविट्शूद्रजातीया ये स्युर्विप्रस्य बान्धवाः । तेषामाशौचे विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥' इति । अनयोश्च पक्षयोरापदनापद्विषयत्वेन व्यवस्था । दास्यादीनां तु स्वामिशौचेन स्पृश्यत्वं, कर्मानधिकारित्वं तु मासावधिरेव । तदाहाङ्गिराः—'दासी दासश्च सर्वो वै यस्य वर्णस्य यो भवेत् । तद्वर्णस्य भवेच्छौचं दास्यामासस्तु सूतकम् ॥' इति प्रतिलोमानां त्वाशौचाभाव एव; 'प्रतिलोमा धर्महीनाः' इति मनुस्मरणात् । केवलं मृतौ प्रसवे च मलापकर्षणार्थं मूत्रपुरीषोत्सर्गवत् शौचं भवत्येव ॥ २२ ॥

(सपिण्ड के जन्म और मृत्यु पर) क्षत्रिय की बारह दिन में, वैश्य की पन्द्रह दिन में और शूद्र की तीस दिन में शुद्धि होती है किन्तु न्यायवर्ती (ब्राह्मण-शुश्रूषा, पाकयज्ञादि में रत) शूद्र की शुद्धि उसके आधे अर्थात् पन्द्रह दिन में होती है ॥२२॥

वयोवस्थाविशेषादपि दशाहाद्याशौचस्यापवादमाह—

आ दन्तजन्मनः सद्य आ चूडान्नैशिकी स्मृता ।
त्रिरात्रमा व्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम् ॥ २३ ॥

यावता कालेन दन्तानामुत्पत्तिस्तस्मिन्काले अतीतस्य बालस्य तत्संबन्धिनां सद्यः शौचं चूडाकरणादर्वाङ्मृतस्य संबन्धिनां नैशिकी निशायां भवा अहोरात्रव्यापिन्यशुद्धिः । व्रतादेश उपनयनं ततोऽर्वाक् चूडायाश्चोर्ध्वमतीतस्य त्र्यहमशुद्धिः । अत्र च 'आ दन्तजन्मनः सद्य' इति यद्यप्यविशेषेणाभिधानं तथाप्यग्निसंस्काराभावे द्रष्टव्यम्; 'अदन्तजाते बाले प्रेते सद्य एव शुद्धिर्नास्याग्निसंस्कारो नोदनक्रिया' इति वैष्णवे अग्निसंस्काररहितस्य सद्यः शौचविधानात् । सति त्वग्निसंस्कारे 'अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च' (प्रा० २४) इति वक्ष्यमाण एकाहः । तथा च यमः—'अदन्तजाते तनये शिशौ गर्भच्युते तथा । सपिण्डानां तु सर्वेषामहोरात्रमशौचकम् ॥' इति । नामकरणात्प्राक्सद्यःशौचमेव नियतम् । 'प्राङ्नामकरणात्सद्यःशुद्धिः' इति शङ्खस्मरणात् । चूडाकर्म च प्रथमे तृतीये वा वर्षे स्मर्यते—'चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥' इति स्मरणात् । ततश्च दन्तजननादूर्ध्वं प्रथमवार्षिकचूडाकर्मपर्यन्तमेकाहः । तत्र त्वकृतचूडस्य दन्तजनने सत्यपि त्रिवर्षं यावदेकाह एव । तथा च विष्णुः (२२।२९)—'दन्तजातेऽप्यकृतचूडे-

ऽहोरात्रेण शुद्धिः’ इति । तत ऊर्ध्वं प्रागुपनयात् त्र्यहः । यत्तु मनुवचनम् (५।६७)—‘नृणामकृतचूडानामशुद्धिर्नैशिकी स्मृता । निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥’ इति । तस्याप्ययमेव विषयः । यत्तूनद्विवर्षमधिकृत्य तेनैवोक्तम् (५।६९)—‘अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षिपेयुस्त्र्यहमेव तु’ इति । यच्च वसिष्ठवचनम् (४।३५)—‘ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने वा सपिण्डानां त्रिरात्रम्’ इति,–तत्संवत्सरचूडाभिप्रायेण । यत्तु अङ्गिरोवचनम्—‘यद्यप्यकृतचूडो वै जातदन्तश्च संस्थितः । तथापि दाहयित्वैनमाशौचं त्र्यहमाचरेत् ॥’ इति,–तद्वर्षत्रयादूर्ध्वं कुलधर्मापेक्षया चूडोत्कर्षे वेदितव्यम्; ‘विप्रे न्यूनत्रिवर्षे तु मृते शुद्धिस्तु नैशिकी’ इति तेनैवाभिहितत्वात् । नचायमेकाहो दन्तजननाभाव इति शङ्कनीयम् । नहि न्यूनत्रिवर्षस्य दन्तानुत्पत्तिः संभवति । तथा सत्यपि दन्तजनने अकृतचूडस्यैकाहं वदता विष्णुवचनेन विरोधश्च दुष्परिहरः स्यात् । तस्मात्प्राचीनैव व्याख्या ज्यायसी । यत्तु कश्यपवचनम्—‘बालानामदन्तजातानां त्रिरात्रेण शुद्धिः’ इति,–तन्मातापितृविषयम्; ‘निरस्य तु पुमाञ्शुक्रमुपस्पर्शाद्विशुद्ध्यति । बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥’ इति जन्यजनकसंबन्धोपाधिकतया त्रिरात्रस्मरणात् । ततश्चायमर्थः—‘प्राङ्नामकरणात्सद्यःशौचं तदूर्ध्वं दन्तजननादर्वागग्निसंस्कारक्रियायां एकाहः । इतरथा सद्यःशौचम् । जातदन्तस्य च प्रथमवार्षिकाच्चौलादर्वागेकाहः । प्रथमवर्षादूर्ध्वं त्रिवर्षपर्यन्तं कृतचूडस्य त्र्यहम् । इतरस्य त्वेकाहः । वर्षत्रयादूर्ध्वमकृतचूडस्यापि त्र्यहम् । उपनयनादूर्ध्वं सर्वेषां ब्राह्मणादीनां दशरात्रादिकमिति ॥ २३ ॥

दाँत निकलने से पूर्व बालक की मृत्यु होने पर सद्यः शौच होता है, चूड़ाकरण से पूर्व मृत्यु होने पर एक दिन और रात का आशौच होता है और चूड़ाकरण के बाद यज्ञोपवीत तक तीन दिन का आशौच होता है तथा व्रतबन्ध के बाद मृत्यु होने पर दश दिन का आशौच होता है ॥२३ ॥

इदानीं स्त्रीषु च वयोवस्थाविशेषेणापवादमाह—

अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम् ।

अदत्ता अपरिणीता याः कन्यास्तासु कृतचूडासु वाग्दानात्प्रागहोरात्रं **विशेषेण शुद्धिकारणं** सपिण्डानाम्, सापिण्ड्यं च कन्यानां त्रिपुरुषपर्यन्तमेव । ‘अप्रत्तानां तु स्त्रीणां त्रिपुरुषी विज्ञायते’ (४।१८) इति वसिष्ठस्मरणात् । बालेषु चानुत्पन्नदन्तेषु अग्निसंस्कारे सत्येकाहो विशोधनम् । अकृतचूडायां तु कन्यायां सद्यः शौचम् । ‘अचूडायां तु कन्यायां सद्यः शौचं विधीयते’ इत्यापस्तम्बस्मरणात्। वाग्दानादूर्ध्वं तु संस्कारात्प्राक्पतिपक्षे पितृपक्षे च त्रिरात्रमेव। यथाऽऽह मनुः (५।७२) ‘स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः । यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥’ इति । बान्धवाः पतिपक्ष्यास्त्रिरात्रेण शुद्ध्यन्ति। सनाभयस्तु [illegible] क्ष्याः सपिण्डा यथोक्तेनैव कल्पेन ‘निर्वृत्तचूडकानाम्’

इत्यादिनोक्तेन त्रिरात्ररूपेण, न पुनर्दशरात्ररूपेण; विवाहात्प्राक् तस्यायुक्तत्वात् । अत एव मरीचिः—'वारिपूर्वं प्रदत्ता तु या नैव प्रतिपादिता । असंस्कृता तु सा ज्ञेया त्रिरात्रमुभयोः स्मृतम् ॥' इति । उभयोः पतिपितृपक्षयोः । विवाहादूर्ध्वं तु विष्णुना विशेषो दर्शितः (२२।३३, ३४)—'संस्कृतासु स्त्रीषु नाशौचं पितृपक्षे, तत्प्रसवमरणे चेत्पितृगृहे स्यातां तदैकरात्रं त्रिरात्रं च' इति । तत्र प्रसवे एकाहः प्रायणे त्रिरात्रमिति व्यवस्था । इदं च वयोवस्थाशौचं सर्ववर्णसाधारणम् । 'क्षत्रस्य द्वादशाहानि' (प्रा०२२) इति तद्वर्णविशेषोपादानेनाभिधानात् । अत एव मनुना अनुपात्तवर्णविशेषाशौचविधेः साधारण्यप्रतिपादनार्थं चातुर्वर्ण्याधिकारे सत्यपि पुनः 'चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः' इत्युक्तम् । तथाङ्गिरसाप्युक्तम्—'अविशेषेण वर्णानामर्वाक्संस्कारकर्मणः । त्रिरात्रात्तु भवेच्छुद्धिः कन्यास्वह्ना विधीयते ॥' इति व्याघ्रपादवचनं च 'तुल्यं वयसि सर्वेषां' इति प्राक् प्रदर्शितम् । अतो यथा 'पिण्डयज्ञावृता देयम्' (प्रा० १६) इत्यादिः पिण्डोदकदानविधिः सर्ववर्णसाधारणः । यथा वा समानोदकाशौचविधिः 'अन्तरा जन्ममरणे' (प्रा० २०) इति संनिपाताशौचविधिश्च यद्वच्च 'गर्भस्रावे मासतुल्या निशा' (प्रा० २०) इति स्रावाशौचविधिः, 'प्रोषिते कालशेषः स्यादशेषे त्र्यहमेव तु' (प्रा०२१) इति विदेशस्थाशौचविधिश्च, यथा वा गुर्वाद्याशौचविधिः सर्ववर्णसाधारणः तथा वयोवस्थानिमित्तमप्याशौचं सर्ववर्णसाधारणमेव भवितुमर्हति । अत एव 'क्षत्रे षड्भिः कृते चौले वैश्ये नवभिरुच्यते । ऊर्ध्वं त्रिवर्षाच्छूद्रे तु द्वादशाहो विधीयते ॥' तथा 'यत्र त्रिरात्रं विप्राणामाशौचं संप्रदृश्यते । तत्र शूद्रे द्वादशाहः षण्नव क्षत्रवैश्ययोः ॥' इत्यादीनि ऋष्यशृङ्गादिवचनानि विगीतत्वबुद्ध्याऽनाद्रियमाणैर्धारेश्वरविश्वरूपमेधातिथिप्रभृतिभिराचार्यैरयमेव साधारणः पक्षोऽङ्गीकृतः । अविगीतानि चार्तानार्तक्षत्रियादिविषयतया व्याख्येयानि ॥

वाग्दान से पूर्व (और चूड़ाकरण के अनन्तर) कन्या की मृत्यु होने पर तथा बालकों के (बिना दाँत उत्पन्न हुये मरने और अग्नि-संस्कार करने पर) एक दिन का आशौच होता है ॥२३$\frac{१}{२}$॥

गुर्वादिष्वतिदेशमाह—

गुर्वन्तेवास्यनूचानमातुलश्रोत्रियेषु च ॥ २४ ॥

गुरुरुपाध्यायः, अन्तेवासी शिष्यः, अनूचानोऽङ्गानां प्रवक्ता, 'मातुल'-ग्रहणेनात्मबन्धवो मातृबन्धवः पितृबन्धवश्च योनिसंबद्धा उपलक्ष्यन्ते । ते च 'पत्नीदुहितरः' (व्य० १३५) इत्यत्र दर्शिताः । श्रोत्रिय एकशाखाध्यायी; 'एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः' इति बौधायनस्मरणात् । एषूपरतेष्वहोरात्रमाशौचम् । यस्तु मुख्यो गुरुः पिता तदुपरमे सपिण्डत्वाद्दशाहमेव । यस्तु पिता पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वेदानध्याप्य वेदार्थं ग्राहयित्वा वृत्तिं च विदधाति, तस्य

महागुरुत्वात्तदुपरमे द्वादशरात्रं वा । 'महागुरुषु दानाध्ययने वर्जयेरन्' इति आश्वलायनेनोक्तं द्रष्टव्यम् । आचार्योपरमे तु त्रिरात्रमेव । यथाह मनुः (५।८०)—'त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति । तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥' इति । यदा त्वाचार्यादेरन्त्येष्टिं करोति तदा दशरात्रमाशौचम् (५।६५)—'गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं [३]समाचरेत् । प्रेताहारैः समं तत्र दशाहेन विशुद्ध्यति ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् । श्रोत्रियस्य तु समानग्रामीणस्यैतदाशौचम्; 'एकाहं सब्रह्मचारिणि समानग्रामीणे च श्रोत्रिये' (४।२६, २७) इत्याश्वलायनस्मरणात् । एकाचार्योपनीतः सब्रह्मचारी । एतच्चासंनिधाने द्रष्टव्यम् । संनिहिते तु शिष्यादौ त्रिरात्रादि । यथाह मनुः (५।८१)—'श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥' इति । उपसंपन्ने मैत्रीप्रातिवेश्यत्वादिना संबद्धे शीलयुक्ते वा । 'मातुल'ग्रहणं मातृष्वस्रादेरुपलक्षणार्थम् । बान्धवा इत्यात्मबन्धवो मातृबन्धवः पितृबन्धवश्चोच्यन्ते । तथा च बृहस्पतिः—'त्र्यहं मातामहाचार्यश्रोत्रियेष्वशुचिर्भवेत्' इति । तथा प्रचेताः—'मृते चर्त्विजि याज्ये च त्रिरात्रेण विशुध्यति' इति । तथा च वृद्धवसिष्ठः—'संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते । संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ पित्रोरुपरमे स्त्रीणामूढानां तु कथं भवेत् । त्रिरात्रेणैव शुद्धिः स्यादित्याह भगवान्यमः ॥ श्वशुरयोर्भगिन्यां च मातुलान्यां च मातुले । पित्रोः स्वसरि तद्वच्च पक्षिणीं क्षपयेन्निशाम् ॥' तथा—'मातुले श्वशुरे मित्रे गुरौ गुर्वङ्गनासु च । आशौचं पक्षिणीं रात्रिं मृता मातामही यदि ॥' तथा च गौतमः (१४।२०)—'पक्षिणीमसपिण्डे योनिसंबद्धे सहाध्यायिनि च इति । योनिसंबद्धा मातुलमातृष्वस्रीयपितृष्वस्रीयादयः । तथा जाबालः—'एकोदकानां तु त्र्यहो गोत्रजानामहः स्मृतम् । मातृबन्धौ गुरौ मित्रे मण्डलाधिपतौ तथा ॥' इति । विष्णुः (२२।४६)—'असपिण्डे स्ववेश्मनि मृत एकरात्रम्' इति; तथा वृद्धः—'भगिन्यां संस्कृतायां तु भ्रातर्यपि च संस्कृते । मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे भगिनीसुते ॥ शालके तत्सुते चैव सद्यःस्नानेन शुद्ध्यति ॥ ग्रामेश्वरे कुलपतौ श्रोत्रिये च तपस्विनि । शिष्ये पञ्चत्वमापन्ने शुचिर्नक्षत्रदर्शनात् ॥ ग्राममध्यगतो यावच्छवस्तिष्ठति कस्यचित् । ग्रामस्य तावदाशौचं निर्गते शुचितामियात् ॥' इत्यादीन्याशौचविशेषप्रतिपादकानि स्मृतिवचनान्यन्वेषणीयानि । ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यन्ते । एषु चैकविषयगुरुलघ्वाशौचप्रतिपादकतया परस्परविरुद्धेषु संनिधिविदेशस्थापेक्षया व्यवस्थाऽनुसंधातव्या ॥ २४ ॥

गुरु, शिष्य, अनूचान (वेदाङ्ग के प्रवक्ता), मामा और श्रोत्रिय (एकशाखाध्यायी) की मृत्यु होने पर भी एक दिन-रात का आशौच होता है ॥२४॥

अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च ।
निवासराजनि प्रेते तदहः शुद्धिकारणम् ॥ २५ ॥

किंच । अहरित्यनुवर्तते । **अनौरसाः** क्षेत्रजदत्तकादयः, तेषु जातेषूपरतेषु चाहोरात्रमाशौचम् । तथा **स्वभार्यास्वन्यगतास्व**न्यं प्रतिलोमव्यतिरिक्तं आश्रितासु अतीतासु चाहोरात्रमेव न पुनः सत्यपि सापिण्ड्ये दशरात्रम् । प्रतिलोमाश्रितासु चाशौचाभाव एव; 'पाखण्ड्यनाश्रिताः स्तेना' (प्रा० ६) इत्यनेन प्रतिषेधात् । एतच्च 'भार्या-पुत्रत्व'शब्दयोः ,संबन्धिशब्दत्वात् यत्प्रातियौगिकं भार्यात्वं पुत्रत्वं च तस्यैवेदमाशौचम् । सपिण्डानां त्वाशौचाभाव एव । अत एव प्रजापतिः— 'अन्याश्रितेषु दारेषु परपत्नीसुतेषु च । गोत्रिणः स्नानशुद्धाः स्युस्त्रिरात्रेणैव तत्पिता ॥' इति । स्वैरिण्याद्यास्तु यमाश्रितास्तस्य तु त्रिरात्रमेव । यथाह विष्णुः (२२।४३) अनौरसेषु पुत्रेषु जातेषु च मृतेषु च । परपूर्वासु भार्यासु प्रसूतासु मृतासु च ॥' इति त्रिरात्रमत्र प्रकृतम् । अनयोश्च त्रिरात्रैकरात्रयोः संनिधिविदेशस्थापेक्षया व्यवस्था । यदा तु पितुस्त्रिरात्रं तदा सपिण्डानामेकरात्रम्; यथाह मरीचिः— 'सूतके मृतके चैव त्रिरात्रं परपूर्वयोः । एकाहस्तु सपिण्डानां त्रिरात्रं यत्र वै पितुः ॥' इति । किंच, निवसत्यस्मिन्निति **निवासः** स्वदेश उच्यते; तस्य यो **राजा** स्वामी विषयाधिपतिः स **यस्मिन्नहनि अतीतस्तदहर्मात्रं शुद्धिकारणम्** । रात्रौ चेदतीतस्तदा रात्रिमात्रम् । अत एव मनुः (५।८२)— 'प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः' इति । ज्योतिषा सह वर्तते इति सज्योतिराशौचम् । अह्नि चेद्यावत्सूर्यदर्शनं रात्रौ चेद्यावन्नक्षत्रदर्शनमित्यर्थः ॥ २५ ॥

औरस से अतिरिक्त (क्षेत्रज, दत्तक आदि) पुत्रों के जन्म-मृत्यु पर, पत्नियों के अन्य के पास चली जाने पर (प्रतिलोम न जाने पर), देश के राजा के मरने पर एक दिन और रात का आशौच होता है ॥२५ ॥

अनुगमनाशौचमाह—

ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो न शूद्रो न द्विजः क्वचित् ।
अनुगम्याम्भसि स्नात्वा स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतभुक्शुचिः ॥२६॥

ब्राह्मणेन असपिण्डेन **द्विजो** विप्रादिः **शूद्रो** वा प्रेतो **नानुगन्तव्यः** । यदि स्नेहादिनानुगच्छति तदा**ऽम्भसि** तडागादिस्थे **स्नात्वाग्निं स्पृष्ट्वा घृतं प्राश्य शुचिर्भवेत्** । अस्य च घृतप्राशनस्य भोजनकार्यविधाने प्रमाणाभावान्न भोजनप्रतिषेधः । इदं समानोत्कृष्टजातिविषयम् । यथाह मनुः (५।१०३)– 'अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च । स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' इति । ज्ञातयो मातृसपिण्डाः । इतरेषां तु विहितत्वान्न दोषः । निकृष्टजात्यनुगमने तु स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तत्र शूद्रानुगमने—'प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः । अनुगच्छेन्नीयमानं स त्रिरात्रेण शुद्ध्यति ॥ त्रिरात्रे तु ततस्तीर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् । प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' इति पराशरोक्तम् । क्षत्रियानुगमने त्वहोरात्रम्; 'मानुषास्थि

स्निग्धं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचं अस्निग्धे त्वहोरात्रं शवानुगमने चैकम्' इति वसिष्ठोक्तम्। वैश्यानुगमने पुनः पक्षिणी। तथा क्षत्रियस्यानन्तरवैश्यानुगमने अहोरात्रं एकान्तरशूद्रानुगमने पक्षिणी वैश्यस्य शूद्रानुगमने एकाह इत्यूहनीयम् ॥ तथा रोदनेऽपि पारस्करेणोक्तम्—'मृतस्य बान्धवैः सार्धं कृत्वा तु परिदेवनम्। वर्जयेत्तदहोरात्रं दानं श्राद्धादिकर्म च ॥' इति। तथालंकरणमपि न कार्यम्; 'कृच्छ्रपादोऽसपिण्डस्य प्रेतालंकरणे कृते। अज्ञानादुपवासः स्यादशक्तौ स्नानमिष्यते ॥' इति शङ्खेन प्रायश्चित्तस्याम्नातत्वात् ॥ २६ ॥

ब्राह्मण शूद्र या (असपिण्ड) विप्रादि का मरने पर अनुगमन न करे। यदि (स्नेहादि से) अनुगमन करता है तो जल में स्नान कर, अग्नि का स्पर्श कर एवं घृत का भक्षण कर शुद्ध हो जाता है ॥२६ ॥

सपिण्डाशौचे क्वचिदपवादमाह—

महीपतीनां नाशौचं हतानां विद्युता तथा।
गोब्राह्मणार्थं संग्रामे यस्य चे[2]च्छति भूमिपः ॥ २७ ॥

यद्यपि 'मही'शब्देन कृत्स्नं भूगोलकमभिधीयते तथाप्यत्र सकलायाः क्षितेरेकभर्तृकत्वानुपपत्तेः **'महीपतीनां'** इति बहुवचनानुरोधाच्च तदेकदेशभूतानि मण्डलानि लक्ष्यन्ते। तत्पालनाधिकृतानां क्षत्रियादीनामभिषिक्तानां नाशौचम्। तैराशौचं न कार्यमित्यर्थः। तथा **विद्युद्धतानां गोब्राह्मणरक्षणार्थं** विपन्नानां च संबन्धिनो ये सपिण्डास्तैरप्याशौचं न कार्यम्। यस्य च मन्त्रिपुरोहितादेर्[1]**भूमिपो**ऽनन्यसाध्यमन्त्राभिचारादिकर्मसिद्ध्यर्थमाशौचाभाव**मिच्छति** तेनापि न कार्यम्। अत्र च महीपतीनां यदसाधारणत्वेन विहितं प्रजापरिरक्षणं तच्चेन दानमानसत्कारव्यवहारदर्शनादिना विना न संभवति तत्रैवाशौचाभावो न पुनः पञ्चमहायज्ञादिष्वपि। तथा च मनुः (५।९५)—'राज्ञो महात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते। प्रजानां परिर[1]क्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥' इति। गौतमेनाप्युक्तम् (१४।४५)—'राज्ञां च कार्याविघातार्थम्' इति राजभृत्यादेरप्याशौचं न भवति। तथाह प्रचेताः—'कारवः शिल्पिनो वैद्या[2] दासीदासास्तथैव च। राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥' इति। कारवः सूपकारादयः। शिल्पिनश्चित्रकारचैलनिर्णेजकादयः। अयं चाशौचाभावः किंविषय इत्यपेक्षायां कर्मनिमित्तैः शब्दैस्तत्तदसाधारणस्य कर्मणो बुद्धिस्थत्वात्तत्रैव द्रष्टव्यः। अत एव विष्णुः (२२।४८-५१)—'न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे न कारूणां कारुकर्मणि इति प्रतिनियतविषयमेवाशौचाभावं दर्शयति। शातातपीयेऽप्युक्तम्—'मूल्यकर्मकराः शूद्रा दासीदासास्तथैव च। स्नाने शरीरसंस्कारे गृहकर्मण्यदूषिताः ॥' इति। इयं च दासादिशुद्धिरपरिहरणीयतया प्राप्तस्पर्शविषयेत्यनुसंधेयम्। अत एव स्मृत्यन्तरम्—'सद्यःस्पृश्यो गर्भदासो भक्त-

दासस्वग्रहाच्छुचिः ।' तथा—'चिकित्सको यत्कुरुते तदन्येन न शक्यते ॥ तस्माच्चिकित्सकः स्पर्शी शुद्धो भवति नित्यशः ॥' इति ॥ २७ ॥

राजाओं को विद्युत् से मरे लोगों का तथा गाय और ब्राह्मण की रक्षा में मारे गये लोगों का आशौच नहीं होता है। राजा जिस व्यक्ति का आशौच न होने देना चाहे उसका भी आशौच नहीं होता ॥२७ ॥

ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम् ।
सत्रिव्रतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा ॥ २८ ॥
दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे ।
आपद्यपि हि कष्टायां सद्यः शौचं विधीयते ॥ २९ ॥

किंच, ऋत्विजो वरणसंभृता वैतानोपासनाकर्तृविशेषाः । दीक्षया संस्कृता दीक्षितास्तेषां यज्ञियं यज्ञे भवं च कर्म कुर्वतां 'सद्यः शौचं विधीयत' इति सर्वत्रानुषङ्गः; दीक्षितस्य 'वैतानौपासनाः कार्या' (प्रा. १७) इत्यनेन सिद्धेऽप्यधिकारे पुनर्वचनं यजमाने स्वयंकर्तृत्वविधानार्थं सद्यःस्नानेन विशुद्ध्यर्थं च; 'सत्रि'ग्रहणेन संततानुष्ठानतुल्यतयान्नसत्रप्रवृत्ता लक्ष्यंते; मुख्यानां तु सत्रिणां 'दीक्षित'ग्रहणेनैव सिद्धेः। 'व्रति'शब्देन कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्रवृत्ताः स्नातकव्रतप्रायश्चित्तप्रवृत्ताश्चोच्यन्ते; तथा 'ब्रह्मचारि'ग्रहणेन ब्रह्मचर्यादिव्रतयोगिनः श्राद्धकर्तुर्भोक्तुश्च ग्रहणम्, तथा 'स्मृत्यन्तरम्—'नित्यमन्नप्रदस्यापि कृच्छ्रचान्द्रायणादिषु। निर्वृत्ते कृच्छ्रहोमादौ ब्राह्मणादिषु भोजने ॥ गृहीतनियमस्यापि न स्यादन्यस्य कस्यचित् । निमन्त्रितेषु विप्रेषु प्रारब्धे श्राद्धकर्मणि ॥ निमन्त्रितस्य विप्रस्य स्वाध्यायादिरतस्य च । देहे पितृषु तिष्ठत्सु नाशौचं विद्यते क्वचित् ॥ प्रायश्चित्तप्रवृत्तानां दातृब्रह्मविदां तथा ॥' इति। सत्रिणां व्रतिनां सत्रे व्रते च शुद्धिर्न कर्ममात्रे संव्यवहारे वा । तथा च विष्णुः (२२।४९,५०)—'न व्रतिनां व्रते, न सत्रिणां सत्रे' इति ॥ ब्रह्मचार्युपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च । यस्तु नित्यं दातैव, न प्रतिग्रहीता स वैखानसो 'दातृ'शब्देनोच्यते । ब्रह्मविद्यतिः । एतेषां च त्रयाणामाश्रमिणां सर्वत्र शुद्धिः; विशेषे प्रमाणाभावात् । दाने च पूर्वसंकल्पितद्रव्यस्य नाशौचम्; 'पूर्वसंकल्पितं द्रव्यं दीयमानं न दुष्यति' इति क्रतुस्मरणात् । स्मृत्यन्तरे चात्र विशेष उक्तः—'विवाहोत्सवयज्ञादिष्वन्तरा मृतसूतके । शेषमन्नं परैर्देयं दातॄन्भोक्तॄंश्च न स्पृशेत् ॥' इति । यज्ञे वृषोत्सर्गादौ विवाहे च पूर्वसंभृतसंभारे । तथा च स्मृत्यन्तरम्–'यज्ञे संभृतसंभारे विवाहे श्राद्धकर्मणि' इति । सद्यःशौचमत्र प्रकृतम् । 'विवाह'ग्रहणं पूर्वप्रवृत्तचौलोपनयनादिसंस्कारकर्मोपलक्षणम् । 'यज्ञ'ग्रहणं च पूर्वप्रवृत्तदेवप्रतिष्ठारामाद्युत्सवमात्रोपलक्षणम् ।—'न देवप्रतिष्ठोत्सर्गविवाहेषु न देशविभ्रमे नापद्यपि च

कष्टायामाशौचम्' (२२।५३–५५) इति विष्णुस्मरणात् **संग्रामे युद्धे**।—'संग्रामे समुपोळ्हे राजानं संनाहयेत्' (गृ. सू. ३।१२।१) इत्याश्वलायनाद्युक्तसंनहनविधौ प्रास्थानिकशान्तिहोमादौ च सद्यःशुद्धिः। देशस्य विस्फोटादिभिरुपसर्गैः, राजभयाद्वा विप्लवे तदुपशमनार्थं शान्तिकर्मणि सद्यःशौचम्। विप्लवाभावेऽपि क्वचिद्देशविशेषेण पैठीनसिना शुद्धिरुक्ता—'विवाहदुर्गयज्ञेषु यात्रायां तीर्थकर्मणि। न तत्र सूतकं तद्वत्कर्म यज्ञादि कारयेत्॥' इति। तथा कष्टायामप्यापदि व्याध्याद्यभिभवेन मुमूर्षावस्थायां दुरितशमनार्थे दाने। तथा संकुचितवृत्तेश्च क्षुत्परिश्रान्तमातापित्रादिबहुकुटुम्बस्य तद्भरणोपयोगिनि प्रतिग्रहे सद्यःशुद्धिः। इयं च शुद्धिर्यस्य सद्यःशौचं विनाऽऽर्त्युपशमो न भवति अश्वस्तनिकस्य तद्विषया। यत्स्वेकाहपर्याप्तसंचितधनस्तस्यैकाहः, यस्त्र्यहोपयोगिसंचयी तस्य त्र्यहः, यस्तु चतुरहार्थमापादितद्रव्यः कुम्भीधान्यस्तस्य चतुरहः, कुसूलधान्यकस्य दशाह इत्येवं यस्य यावत्कालमार्त्यभावस्तस्य तावत्कालमाशौचम्; आपदुपाधिकत्वादाशौचसंकोचस्य। अत एव मनुना (४।७)—'कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा। त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥' इत्यत्र प्रतिपादितचतुर्विधगृहस्थाभिप्रायेण (५।५९)—'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। अर्वाक्संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा॥' इति कल्पचतुष्टयं प्रतिपादितम्। समानोदकविषयाश्च संकुचिताशौचकल्पाः पक्षिण्येकाहःसद्यःशौचरूपाः स्मृत्यन्तरे दृष्टाः वृत्तिसंकोचोपाधिकतयैव योज्याः। अयं चाशौचसंकोचो येनैव प्रतिग्रहादिना विनार्तिस्तद्विषयो न सर्वत्रेत्यवगन्तव्यम्॥ मनुः—

एकाहाद्ब्राह्मणः शुद्ध्येद्योऽग्निवेदसमन्वितः। त्र्यहात्केवलवेदस्तु विहीनो दशभिर्दिनैः॥' इत्यादिस्मृत्यन्तरवचनपर्यालोचनयाध्ययनज्ञानानुष्ठानयोगिनामेकाहादिभिः सर्वात्मना शुद्धिरित्येवं कस्मान्नेष्यते? उच्यते—'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते' (मनुः ५।५९) इति सामान्यप्राप्तदशाहबाधपुरःसरमेव हि 'एकाहाद्ब्राह्मणः शुद्ध्येत्' इति विधायकं भवति। बाधकस्य चानुपपत्तिनिबन्धनत्वात् यावत्यबाधितेऽनुपपत्तिप्रशमो न भवति तावद्बाधनीयम्। अतः कियदनेन बाध्यमित्यपेक्षायामपेक्षितविशेषसमर्पणक्षमस्य 'अग्निवेदसमन्वित' इति वाक्यविशेषस्य दर्शनादग्निवेदविषयेऽग्निहोत्रादिकर्मणि स्वाध्याये च व्यवतिष्ठते, न पुनर्दानादावपि। एवं चाग्निवेदपदयोः कार्यान्वयित्वं भवति। इतरथा येनाग्निवेदसाध्यं कर्म कृतं तस्यैकाहाच्छुद्धिरिति पुरुषविशेषोपलक्षणत्वमेव स्यात्। नचैवं युक्तम्; एवं च सति—'प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः। वैतानोपासनाः कार्याः क्रियाश्च श्रुति[1]चोदनात्'॥ (प्रा० १७) इति। तथा ब्राह्मणस्य च स्वाध्यायादिनिवृत्त्यर्थं सद्यःशौचमित्येवमादिभिर्मन्वादिवचनैरेकवाक्यता भवति। तथा च—'उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते' इति दशाहपर्यन्तं भोजनादिकं प्रतिषेधयद्भिर्यमादिवचनैरविरोधोऽपि सिद्ध्यति, अतः [2]क्वाचित्कमेवेदमाशौचसंकोचविधानं, न पुनः सर्वसंव्यवहारादिगोचरमित्यलमतिप्रपञ्चेन॥

इदं च स्वाध्यायविषये सद्यःशौचविधानं बहुवेदस्य ब्रह्मोज्झत्वकृतायामार्तौ द्रष्टव्यम्। इतरस्य तु—'दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते' इति प्रतिषेध एव। एवं ब्राह्मणादिमध्ये यस्य यावत्कालमाशौचमुक्तं स तस्यानन्तरं स्नात्वा शुद्ध्येत्, न तत्कालातिक्रममात्रात्। यथाह मनुः (५।९९)—'विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम्। वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥' इति। अयमर्थः—'कृतक्रियः' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते। विप्रोऽनुभूताशौचकालः कृतक्रियः कृतस्नानो हस्तेनापः स्पृष्ट्वा शुद्ध्यति। स्पृष्ट्वेति स्पर्शनक्रियैवोच्यते, न स्नानमाचमनं वा; वाहनादिषु तस्यैवानुषङ्गात्। अथवा कृतक्रियो यावदाशौचं कृतोदकादिक्रियः तदनन्तरं विप्रादिरुदकादि स्पृष्ट्वा शुद्ध्येत् इत्याशौचकालानन्तरभाविस्नानप्रतिनिधित्वेनोच्यत इति। क्षत्रियादिर्वाहनादिकं स्पृष्ट्वा शुद्ध्येदिति ॥ २८–२९ ॥

ऋत्विजों (वैतानोपासना में वृत आचार्यों), दीक्षितों (यज्ञकर्म में दीक्षित यजमानों) और यज्ञ का काम करने वाले, यज्ञ करने वाले, व्रती, ब्रह्मचारी, दाता तथा ब्रह्मज्ञानी, का सद्यः शौच होता है। दान, विवाह, यज्ञ, युद्ध, देश में उपद्रव तथा कष्टदायी आपत्ति (रोगादि के शमनार्थ दान में तथा भोजनादि के अभाव में) सद्यः शौच होता है ॥२८-२९ ॥

कुलव्यापिनीं शुद्धिमभिधायेदानीं प्रसङ्गात्प्रतिपुरुषव्यापिनीं शुद्धिमाह—

उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् ।
अब्लिङ्गानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥ ३० ॥

उदक्या रजस्वला, अशुचयः शवचण्डालपतितसूतिकाद्याः शावाशौचिनश्च एतैः **संस्पृष्टः स्नायात्**। तैः पुनरुदक्याशुचिसंस्पृष्टादिभिः संस्पृष्ट **उपस्पृशेत्** आचामेत्। आचम्या**ब्लिङ्गानि** 'आपोहिष्ठा' (ऋ० ७।६।५) इत्येवमादीनि त्रीणि मन्त्रवाक्यानि जपेत्। त्रिष्वेव बहुवचनस्य चरितार्थत्वात्। तथा **गायत्रीं च सकृन्मनसा जपेत्**। ननु उदक्या संस्पृष्टः स्नायादित्येकवचननिर्दिष्टस्य कथं तैरिति बहुवचनपरामर्शः? सत्यमेवम्; किंत्वत्र उदक्यादिसंस्पृष्टव्यतिरिक्तस्नानार्हमात्रस्पर्शेष्वाचमनविधानार्थं 'तैः' इति बहुवचननिर्देश इत्यविरोधः। ते च स्नानार्हाः स्मृत्यन्तरेवगन्तव्याः। यथाह पराशरः—'दुःस्वप्ने मैथुने वान्ते विरिक्ते क्षुरकर्मणि। चितियूपश्मशानास्थ्नां स्पर्शने स्नानमाचरेत्' इति। तथा च मनुः (५।१४४)—'वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत्। आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥' इति। मैथुनिनः स्नानमृतुकालविषयम्; 'अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत्' इति बृहस्पतिस्मरणात्। अनृतावपि कालविशेषे स्मृत्यन्तरे स्नानमुक्तम्—'अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा पर्वणि मैथुनम्। कृत्वा सचैलं स्नात्वा च वारुणीभिश्च मार्जयेत् ॥' इति। तथा च यमः—

अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते तथाप्यस्तमिते रवौ । दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥' इति । तथा च बृहस्पतिः—'मैथुने कटधूमे च सद्यःस्नानं विधीयते' इत्येतदसचेलस्पर्शविषयम् । सचैलेन तु चित्यादिस्पर्शे सचैलमेव स्नानम् । यथाह च्यवनः—'श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनम् । ग्रामयाजिनं सोमविक्रयिणं यूपं चितिं चितिकाष्ठं च मद्यं मद्यभाण्डं सस्नेहं मानुषास्थि शवस्पृष्टं रजस्वलां महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलमम्भोऽवगाह्योत्तीर्याग्निमुपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेत् । घृतं प्राश्य पुनः स्नात्वा त्रिराचामेत्' इति । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम् । अन्यत्र स्नानमात्रम् । 'शवस्पृष्टं दिवाकीर्तिं चितिं यूपं रजस्वलाम् । स्पृष्ट्वा त्वकामतो विप्रः स्नानं कृत्वा विशुद्ध्यति ॥' इति बृहस्पतिस्मरणात् । एवमन्यत्रापि वक्ष्यमाणेषु विषयसमीकरणमूहनीयम् ॥ यथाह कश्यपः—'उदयास्तमययोः स्कन्दयित्वा अक्षिस्पन्दने कर्णाक्रोशने चित्यारोहणे यूपसंस्पर्शने च सचैलं स्नात्वा पुनर्माम इति जपेन्महाव्याहृतिभिः सप्ताज्याहुतीर्जुहुयात्' इति । तथा च स्मृत्यन्तरे—'स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेत् । देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ॥ असौ देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः' ॥ तथा ब्रह्माण्डपुराणे—'शैवान्पाशुपतान्स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् । विकर्मस्थान्द्विजान्शूद्रान्सवासा जलमाविशेत् ॥' इति । तथा—'अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंपर्कदूषिता' इति लिङ्गाच्च शूद्रस्पर्शने निषेधः ॥ तथाङ्गिराः—'यस्तु छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति । तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' तथा व्याघ्रपादः—'चण्डालं पतितं चैव दूरतः परिवर्जयेत् । गोवालव्यजनादर्वाक्सवासा जलमाविशेत् ॥' इति । एतदतिसंकटस्थलविषयम् । अन्यत्र तु बृहस्पतिनोक्तम्—'युगं च द्वियुगं चैव त्रियुगं च चातुर्युगम् । चाण्डालसूतिकोदक्यापतितानामधः क्रमात् ॥' इति । तथा पैठीनसिः—'काकोलूकस्पर्शने सचैलस्नानम्, अनुदकमूत्रपुरीषकरणे सचैलस्नानं महाव्याहृतिहोमश्च । अनुदकमूत्रपुरीषकरणे इत्येतच्चिरकालमूत्रपुरीषाशौचाकरणपरम् ।' तथाङ्गिराः—'भासवायसमार्जारखरोष्ट्रं च श्वशूकरान् । अमेध्यानि च संस्पृश्य सचैलो जलमाविशेत् ॥' इति । मार्जारस्पर्शनिमित्तं स्नानमुच्छिष्टसमयेऽनुष्ठानसमये च वेदितव्यं समाचारात् । अन्यदा तु—'मार्जारश्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः' इति स्नानाभावः । श्वस्पर्शे तु स्नानं नाभेरूर्ध्वं वेदितव्यम् । अधस्तात्तु क्षालनमेव; 'नाभेरूर्ध्वं करौ मुक्त्वा शुना यद्युपहन्यते । तत्र स्नानमधस्ताच्चेत्प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ तथा पक्षिस्पर्शे विशेषो जातूकर्ण्येनोक्तः—'ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गं संस्पृशेत्खगः । स्नानं तत्र प्रकुर्वीत शेषं प्रक्षाल्य शुद्ध्यति ॥' इति । अमेध्यस्पर्शेऽपि विष्णुना विशेषो दर्शितः (२२।७७–८०) 'नाभेरधस्तात्प्रबाहुषु च कायिकैर्मलैः सुराभिर्मद्यैर्वोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्याचान्तः शुद्ध्येत् । अन्य-

त्रोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्य स्नायात्। तैरिन्द्रियेषूपहतस्तूपोष्य स्नात्वा पञ्चगव्येन दशनच्छदोपहतश्च' इति। एतच्च परकीयामेध्यस्पर्शविषयम्। आत्मीयमलस्पर्शे तु ऊर्ध्वमपि नाभेः क्षालनमेव। यथाह देवलः—'मानुषास्थि वसां विष्ठामार्तवं मूत्ररेतसी। मज्जानं शोणितं वापि परस्य यदि संस्पृशेत्॥ स्नात्वा प्रमृज्य लेपादीनाचम्य स शुचिर्भवेत्। तान्येव खानि संस्पृश्य पूतः स्यात्परिमार्जनात्॥' इति। तथा च शङ्खः—'रथ्याकर्दमतोयेन ष्ठीवनाद्येन वा तथा। नाभेरूर्ध्वं नरः स्पृष्टः सद्यःस्नानेन शुद्धयति॥' इति। यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'सकर्दमं तु वर्षासु प्रविश्य ग्रामसंकरम्। जङ्घयोर्मृत्तिकास्तिस्रः पादयोर्द्विगुणास्ततः॥' इति ग्रामसंकरं ग्रामसलिलप्रवाहप्रदेशं सकर्दमं प्रविश्येत्यर्थः। मारुतशोषिते तु कर्दमादा न दोषः। 'रथ्याकर्दमतोयानि स्पृष्टान्यन्त्यश्ववायसैः। मारुतेनैव शुद्धयन्ति पक्वेष्टकचितानि च॥' (आ० १९७) इति प्रागुक्तत्वात्। अस्थनि मनुना विशेष उक्तः (५।८७)—'नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्धयति। आचम्यैव तु निःस्नेहं गां स्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम्॥' इति। इदं द्वैजातास्थिविषयम्। अन्यत्र वसिष्ठोक्तम्—'मानुषास्थि स्निग्धं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचम्, अस्निग्धे त्वहोरात्रम्।' इति। अमानुषे तु विष्णूक्तम् (२२।७०)—'भक्ष्यवर्ज्यं पञ्चनखशवं तदस्थि च सस्नेहं स्पृष्ट्वा स्नातः पूर्ववत्रं प्रक्षालितं बिभृयात्' इति॥ एवमन्येऽपि स्नानार्हाः स्मृत्यन्तरतोऽवबोद्धव्याः॥ एवं स्नानार्हाणां बहुत्वात्तदभिप्रायं तैरिति बहुवचनमविरुद्धम्। 'उदक्याशुचिभिः स्नायात्'इत्येतच्च दण्डाद्यचेतनव्यवधानस्पर्शे वेदितव्यम्। चेतनव्यवधाने तु मानवम् (मनुः ५।८५)—'दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा। शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धयति॥' इति। तृतीयस्य त्वाचमनमेव। 'तत्स्पृष्टिनं स्पृशेद्यस्तु स्नानं तस्य विधीयते। ऊर्ध्वमाचमनं प्रोक्तं द्रव्याणां प्रोक्षणं तथा॥' इति संवर्तस्मरणात्। एतच्चाबुद्धिपूर्वकविषयम् मतिपूर्वे तु तृतीयस्यापि स्नानमेव। यथाह गौतमः (१४।३०)—'पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने सचैलमुदकोपस्पर्शनाच्छुद्धयेत्'। इति। चतुर्थस्य त्वाचमनम्; 'उपस्पृश्याशुचिस्पृष्टं तृतीयं वापि मानवः। हस्तौ पादौ च तोयेन प्रक्षाल्याचम्य शुद्धयति॥' इति देवलस्मरणात्। अशुचीनां पुनरुदक्यादिस्पर्शे देवलेन विशेष उक्तः—'श्वपाकं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शवहारकम्। सूतिकां साविकां नारीं रजसा च परिप्लुताम्॥ श्वकुक्कुटवराहांश्च ग्राम्यान्संस्पृश्य मानवः। सचैलः सशिराः स्नात्वा तदानीमेव शुद्धयति॥' इति। 'अशुद्धान्स्वयमप्येतानशुद्धस्तु यदि स्पृशेत्। विशुद्धयत्युपवासेन तथा कृच्छ्रेण वा पुनः॥' इति। साविका प्रसवस्य कारयित्री। कृच्छ्रः श्वपाकादिविषयः श्वादिषु तूपवास इति व्यवस्था॥ ३०॥

रजस्वला स्त्री तथा अशुचि (शव, चाण्डालादि) से स्पृष्ट होने पर स्नान करे और इन रजस्वलादि से स्पृष्ट व्यक्ति से स्पर्श होने पर 'आपो हि ष्ठा' इत्यादि तीन मंत्रों का जप कर एक बार मन में गायत्री का जप करें॥३०॥

अधुना कालशुद्धौ दृष्टान्तत्वेन द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तांस्तथैवात्र प्रकरणे वक्ष्यमाणांश्च शुद्धिहेतूननुक्रामति—

कालोऽग्निः कर्म मृद्वायुर्मनो ज्ञानं तपो जलम् ।
पश्चात्तापो निराहारः सर्वेऽमी शुद्धिहेतवः ॥ ३१ ॥

यथाऽग्न्यादयोऽमी सर्वे स्वविषये शुद्धिहेतवस्तथा **कालो**ऽपि दशरात्रादिकः । शास्त्रगम्यत्वाच्छुद्धिहेतुत्वस्य । **अग्नि**स्तावच्छुद्धिहेतुः । यथाभ्यधायि (आ० १८७) 'पुनःपाकान्महीमयम्' इति । **कर्म** च शुद्धिनिमित्तं, यथा वक्ष्यति (प्रा० २४४) 'अश्वमेधावभृथस्नानात्' इति । तथा **मृद**पि शुद्धिकारणं, यथा कथितम् (आ० १८९)—'सलिलं भस्म मृद्वापि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्धये' इति । **वायु**रपि शुद्धिहेतुः, यथोदीरितं (आ० १९७) 'मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति' इति । **मनो**ऽपि वाचः शुद्धिसाधनं, यथाम्नायि 'मनसा वा इषिता वाग्वदात' इत्यादि । **ज्ञानं** चाध्यात्मिकं बुद्धिशुद्धौ निदानं, यथाभिधास्यति (प्रा० ३४) 'क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानात्' इति । **तप**श्च कृच्छ्रादि, यथा वदिष्यति (प्रा० २६०) 'प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समो वा गुरुतल्पगः' इत्यादि । तथा **जल**मपि शरीरादेः, यथा जल्पिष्यति (प्रा० ३३) 'वर्ष्मणो जलम्' इति । **पश्चात्तापो**ऽपि शुद्धिजनकः, यथा गदितं 'ख्यापनेनानुतापेन' इति । **निराहारो**ऽपि शुद्ध्युपादानं, यथा व्याहरिष्यति (प्रा० ३०१) 'त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा' इत्यादि ॥ ३१ ॥

काल (समय दशरात्रादि), (शुध्यर्थक) कर्म, मिट्टी, वायु, मन, ज्ञान, दान, तप, जल, पश्चात्ताप, उपवास— ये सभी शुद्धि के कारण हैं ॥३१ ॥

अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्याश्च शुद्धिकृत् ।
शोध्यस्य मृच्च तोयं च संन्यासो वै द्विजन्मनाम् ॥३२॥

तपो वेदविदां क्षान्तिर्विदुषां वर्ष्मणो जलम् ।
जपः प्रच्छन्नपापानां मनसः सत्यमुच्यते ॥ ३३ ॥

भूतात्मनस्तपोविद्ये बुद्धेर्ज्ञानं विशोधनम् ।
क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ॥ ३४ ॥

किंच, **अकार्यकारिणां** निषिद्धसेविनां **दान**मेव मुख्यं शुद्धिकारणं, यथा व्याख्यास्यति 'पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा' इति । **नद्याः** निदाघादावल्पतोयाया अमेध्योपहततीरायाः कूलंकषवर्षाम्बुप्रवाहवेगः **शुद्धिकृत्** । 'शोधनीयस्य द्रव्यस्य मृच्च तोयं च शुद्धिकृत्', यथेह भणितम् (आ० १९१)—'अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धापकर्षणात्' इति । **संन्यासः** प्रव्रज्या **द्विजन्मनां** मानसापचारे शुद्धिकृत् । **तपो** वेदाभ्यासो **वेदविदां** शुद्धिकारणम् । कृच्छ्रादि तु

सर्वसाधारणं न वेदविदामेव । **क्षान्तिरुपशमो विदुषां वेदार्थविदाम्** । **चर्म्मणः** शरीरस्य **जलम्** । **प्रच्छन्नपापानाम**विख्यातदोषाणां अघमर्षणादिसूक्तजपः **शुद्धिकारणं** शुद्धिसाधनम् । **मनः** सदसत्संकल्पात्मकं तस्यासत्संकल्पत्वादशुद्धस्य **सत्यं** साधुसंकल्पः शोधकम्[1] । **'भूत'**शब्देन तद्विकारभूतो देहेन्द्रियसंघो[2] लक्ष्यते । तत्र 'स्थूलोऽहं कृशोऽहं काणोऽहं वधिरोऽहम्' इत्येवं तदभिमानित्वेन योऽयमात्मा वर्तते स **भूतात्मा**, तस्य **तपोविद्ये** शुद्धिनिमित्ते । 'तपः'शब्देनानेकजन्मस्वेकस्मिन्नपि वा जन्मनि जा[3]गरस्वप्नसुषुप्त्यवस्थास्वात्मनो योऽयमन्वयः, शरीरादेश्च व्यतिरेकः सोऽभिधीयते । यथा (तै० उ० ३।२।१) 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति पञ्चकोशव्यतिरेकप्रतिपादनपरे वाक्ये । 'विद्या'शब्देन चौपनिषदं 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (वृ० उ० ३।९।२६) 'असङ्गो हि' (वृ० उ० २।५।१४) 'अयमात्मा' (वृ० उ० ३।८।८) इत्यादि त्वंपदार्थनिरूपणविषयवाक्यजन्यं ज्ञानमुच्यते । एताभ्यामस्य शुद्धिः । शरीरादिव्यतिरेकबुद्धेः संशयविपर्ययरूपत्वेनाशुद्धायाः प्रमाणरूपं **ज्ञानं विशोधनं** । **क्षेत्रस्य तपोविद्याविशुद्धस्य** त्वंपदार्थभूतस्य 'तत्त्वमसि'[4] (छा० उ० ६।८।७) इत्यादिवाक्यजन्यात्साक्षात्काररूपादीश्वरज्ञानात् **परमा**[5] विशुद्धिर्मुक्तिलक्षणा । यथैताः शुद्धयः परमपुरुषार्थास्तद्वद्युक्ततरा कालशुद्धिरपीत्येवं प्रशंसार्थं भूतात्मादिविशुद्ध्यभिधानम् ॥ ३२–३४ ॥

अकार्य (निषिद्ध कार्य) करने वालों को दान तथा नदियों को उनका वेग (प्रवाह) शुद्धि करने वाला होता है। अपवित्र वस्तु की शुद्धि मिट्टी तथा जल से, विप्रों की संन्यास से, वेदज्ञों की तप से, विद्वानों की क्षमा से, शरीर की जल से, गुप्त पापों की (अघमर्षण आदि सूक्तों के) जप से, मन की सत्य से, भूतात्मा की तप और विद्या से, बुद्धि का ज्ञान से तथा क्षेत्रज्ञ (तप, ज्ञान से विशुद्ध त्वं-पदवाच्य) की परम शुद्धि ईश्वर-ज्ञान से होती है ॥३२-३४ ॥

इत्याशौचप्रकरणम् ।

अथापद्धर्मप्रकरणम् २

'आपद्यपि च कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते' (प्रा० १९) इत्यापदि मुख्याशौचकल्पानुष्ठानासंभवेन सद्यःशौचाद्यनुकल्पमुक्त्वेदानीं तत्प्रसङ्गादापदि 'प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा' (आ० ११८) इत्याद्युक्तयाजनादिमुख्य-

वृत्त्यसंभवेन वृत्त्यन्तरमाह—

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः ।
निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ॥ ३५ ॥

द्विजो विप्रो वहुकुटुम्वतया स्ववृत्त्या जीवितुमसमर्थः **क्षत्रसंबन्धिना कर्मणा** शस्त्रग्रहणादिना **आपदि जीवेत्** । तेनापि जीवितुमशक्नुवन् **वैश्यसंबन्धिना कर्मणा** वाणिज्यादिना **जीवेत्**, न तु शूद्रवृत्त्या । तथा च मनुः (१०।८२)—'उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥' इति । तथा आपद्यपि न हीनवर्णेन ब्राह्मी वृत्तिराश्रयणीया किंतु ब्राह्मणेन क्षात्री, क्षत्रियेण वैश्यसंबन्धिनी, वैश्येन च शौद्री, इत्येवं स्वानन्तरहीनवर्णवृत्तिरेव । 'अजीवन्तः स्वधर्मेणानन्तरां पापीयसीं वृत्तिमातिष्ठेरन्नतु कदाचिज्ज्यायसीम्' इति वसिष्ठस्मरणात् । ज्यायसी च ब्राह्मी वृत्तिः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'उत्कृष्टं वाऽपकृष्टं वा तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥' इति । शूद्रस्योत्कृष्टं ब्राह्मं कर्म न विद्यते । यथा ब्राह्मणस्यापकृष्टं शौद्रं कर्म । मध्यमे क्षत्रवैश्यकर्मणी पुनरापद्गतसर्ववर्णसाधारणे इति । शूद्रश्चापद्गतो वैश्यवृत्त्या शिल्पैर्वा जीवेत् । 'शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवन्वणिग्भवेत् । शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्द्विजातिहितमाचरन् ॥' (आ० १२९) इति प्रागुक्तत्वात् ॥ मनुना चात्र विशेषो दर्शितः (१०।१००)—'यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः । तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥' इति । अनेनैव न्यायेनानुलोमोत्पन्नानामपि स्वानन्तरा वृत्तिरूहनीया । एवं स्वानन्तरहीनवर्णवृत्त्या **आपदं निस्तीर्य** प्रायश्चित्ताचरणेन**आत्मानं पावयित्वा पथि न्यसेत्** । स्ववृत्तावात्मानं स्थापयेदित्यर्थः । यद्वाऽयमर्थः—गर्हितवृत्त्यार्जितं धनं पथि न्यसेदुत्सृजेदिति । तथा च मनुः (१०।१११)—'जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव तु ॥' इति ॥ ३५ ॥

ब्राह्मण आपत्तिकाल में (स्ववर्णविहित वृत्ति से जीविकोपार्जन में असमर्थ होने पर) क्षत्रिय के कर्म द्वारा या वैश्य के कर्म द्वारा जीविका चलावे । उस आपत्ति को पार कर (प्रायश्चित्त द्वारा) अपने को शुद्धकर अपने मार्ग में (स्ववर्णविहित वृत्ति में) चले ॥३५ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवतो ब्राह्मणस्य यदपणनीयं तदाह—

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीरुधः ।
तिलौदन[१]रसक्षारान्दधि क्षीरं घृतं जलम् ॥ ३६ ॥
शस्त्रासव[२]मधूच्छिष्टं मधु लाक्षा च बर्हिषः ।
मृच्चर्मपुष्प[३]कुतपकेशतक्रविषक्षितिः ॥ ३७ ॥
कौशेय[४]नीललवणमांसैकशफसीसकान् ।
शाका[५]र्द्रौषधिपिण्याकपशुगन्धांस्तथैव च ॥ ३८ ॥
वैश्यवृत्त्यापि जीवन्नो विक्रीणीत कदाचन ।

'नो विक्रीणीत' इति प्रत्येकमभिसंबद्ध्यते । **फलानि** कदलीफलादीनि बदरेङ्गुदव्यतिरिक्तानि; यथाह नारदः—'स्वयंशीर्णानि पर्णानि फलानां बदरेङ्गुदे । रज्जुः कार्पासिकं सूत्रं तच्चेदविकृतं भवेत् ॥' इति । **उपलं** मणिमाणिक्याद्यश्ममात्रम् । **क्षौम**मतसीसूत्रमयं वस्त्रम्, 'क्षौम'ग्रहणं तान्तवादेरुपलक्षणम् । यथाह मनुः (१०।८७)—'सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च । अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥' इति, **सोमो** लताविशेषः, '**मनुष्य**'पदेनाविशेषात्स्त्रीपुंनपुंसकानां ग्रहणम्, **अपूपं** मण्डकादि भक्ष्यमात्रम्, **वीरुधो** वेत्रामृतादिलताः, **तिलाः** प्रसिद्धाः, '**ओदन**'ग्रहणं भोज्यमात्रोपलक्षणम्; **रसा** गुडेक्षुरसशर्करादयः; तथा च मनुः (१०।८८)—'क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान्' इति । **क्षारा** यवक्षारादयः । '**दधिक्षीरयो**'र्ग्रहणं मस्तुपिण्डकिलाटकूर्चिकादीनां तद्विकाराणामुपलक्षणम् । 'क्षीरं सविकारम्' (७।११) इति गौतमस्मरणात् । '**घृत**'ग्रहणं तैलादिस्नेहमात्रोपलक्षणम्, **जलं** प्रसिद्धम्, **शस्त्रं** खड्गादि, '**आसव**'ग्रहणं मद्यमात्रोपलक्षणम्, **मधूच्छिष्टं** सिक्थकम्, **मधु** क्षौद्रम्, **लाक्षा** जतु, **बर्हिषः** कुशाः, **मृत्** प्रसिद्धा, **चर्मा**जिनम्, **पुष्पं** प्रसिद्धम्, [६]अजलोमकृतः कम्बलः **कुतपः**, **केशा**श्चमर्यादिसंबद्धाः, **तक्र**मुदश्वित्, **विषं** शृङ्ग्यादि, **क्षिति**र्भूमिः, 'नित्यं भूमिव्रीहियवाजाव्यश्वर्षभधेन्वनडुहश्चैके' इति सुमन्तुस्मरणात् । **कौशेयं** कोशप्रभवं वसनम्, **नीलं** नीलीरसम्, '**लवण**'ग्रहणेनैव विडसौवर्चलसैन्धवसामुद्रसोमककृत्रिमाण्यविशेषेण गृह्यन्ते । **मांसं** प्रसिद्धम्, **एकशफा** हयादयः, '**सीस**'ग्रहणं लोहमात्रोपलक्षणम्, **शाकं** सर्वम्; अविशेषात्, **ओषधयः** फलपाकान्ताः, 'आर्द्रौषधय' इति विशेषोपादानाच्छुष्केषु न दोषः, **पिण्याकः** प्रसिद्धः, **पशव** आरण्याः, 'आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च' (१०।८९)—इति मनुस्मरणात् । **गन्धा**श्चन्दनागुरुप्रभृतयः, सर्वानेतान्वैश्यवृत्त्या जीवन्ब्राह्मणः **कदाचिदपि न विक्रीणीत**; क्षत्रियादेस्तु न दोषः । अत एव नारदेन 'वैश्यवृत्तावविक्रेयं ब्राह्मणस्य पयो दधि' इति ब्राह्मणग्रहणं कृतम् ॥ ३६–३८ ॥

वैश्यवृत्ति से जीविका चलाने पर भी इन वस्तुओं को न बेंचे– फलों, पत्थर (मणि, माणिक्य आदि), क्षौमवस्त्र (अतसी-सूत्र से निर्मित वस्त्र), सोमलता, मनुष्य, अपूप (पुआ आदि भोज्य पदार्थ), बेंत आदि लता, तिल, ओदन (भोज्य पदार्थ), रस (गुड़, इक्षु, शर्करा आदि), क्षार (यवक्षार आदि), दही, दूध, घी (तेल घृत आदि रस), जल, शस्त्र (खड्ग आदि), आसव (मद्य मात्र), सिक्थक (मधूच्छिष्ट), मधु, लाह, कुश, मिट्टी, चर्म, पुष्प, बकरे के रोम से निर्मित कम्बल (कुतप), केश (चमर आदि), मट्ठा, विष, भूमि, कौशेय वस्त्र, नील, नमक, मांस, एक खुर वाले (घोड़ा आदि) पशु, सीसा (लौह मात्र), शाक, आर्द्र औषधि, पिण्याक, जंगली पशु तथा गन्ध ॥३६-३८½॥

प्रतिप्रसवमाह—

धर्मार्थं[९] विक्रयं नेयास्तिला धान्येन तत्समाः ॥ ३९ ॥

यद्यावश्यकाः पाकयज्ञादि**धर्माः** स्वसाधनव्रीह्यादिधान्याभावेन न निष्पद्यन्ते तर्हि **धान्येन तिला विक्रयं नेयाः । तत्समाः** द्रोणपरिमिता द्रोणपरिमितेनेत्येवं तेन धान्येन समाः । तथा च मनुः (१०।९०)—‘काममुत्पाद्य कृ[१]ष्यात्तु स्वयमेव कृषीवलः । विक्रीणीत तिलाञ्शुद्धान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥’ इति । ‘धर्म’ग्रहणमावश्यकभेषजाद्युपलक्षणम् । अत एव नारदः—‘अशक्तौ भेषजस्यार्थे यज्ञहेतोस्तथैव च । यद्यवश्यं तु विक्रेयास्तिला धान्येन तत्समाः ॥’ इति यद्यन्यथा विक्रीणीते तर्हि दोषः । (१०।९१)—‘भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः । कृमिर्भूत्वा श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥’ इति मनुस्मरणात् । सजातीयैः पुनर्विनिमयो भवत्येव । ‘रसा रसैर्निमातव्या नै[२]त्वेव लवणं रसैः । कृतान्नं च कृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥’ (मनुः १०।९४)—इति । कृतान्नं सिद्धान्नम्, तच्च कृतान्नेन परिवर्तनीय[३]म् । ‘कृतान्नं चाकृतान्नेन’ इति पाठे तु सिद्धमन्नमकृतान्नेन तण्डुलादिना परिवर्तनीयमिति ॥ ३९ ॥

किन्तु धर्मार्थ (यज्ञादि के निमित्त) तिल के बराबर धान्य लेकर तिल वेचना चाहिये ॥३९ ॥

पूर्वोक्तनिषिद्धातिक्रमे दोषमाह—

लाक्षालवणमांसानि पतनीयानि विक्रये ।
पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि तु ॥ ४० ॥

लाक्षालवणमांसानि विक्रीयमाणानि सद्यः**पतनीयानि** द्विजातिकर्महानिकराणि । **पयःप्रभृतीनि** तु हीनवर्णकराणि **शूद्रतुल्यत्वापादकानि ।** एतद्व्यतिरिक्तापण्यविक्रये वैश्यतुल्यता । यथाह मनुः (१०।९२–९३)—‘सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ इतरेषामपण्यानां विक्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं च[४] गच्छति ॥’ इति ॥ ४० ॥

लाख, नमक तथा मांस के विक्रय पर पतित हो जाता है तथा दूध, दही और मद्य बेचने से ये निम्न वर्ण का (शूद्र तुल्य) बना देते हैं ॥४० ॥

आपद्गतः संप्रगृह्णन्[५]भुञ्जानो वा यतस्ततः ।
न लिप्येतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः ॥ ४१ ॥

किंच, यस्त्वधनोऽवसन्नकुटुम्बतया **आपद्गतोऽपि** क्षत्रवृत्तिं वैश्यवृत्तिं वा न प्रविविक्षति **स यतस्ततो** [६]हीनहीनतरहीनतमेभ्यः **प्रतिगृह्णंस्तदन्नं भुञ्जानोऽपि वा एनसा** पापेन **न लिप्यते** । यतस्तस्यामापदवस्थायामसत्प्रतिग्रहादावधिकारित्वेन **ज्वलनार्कसमः**, यथा ज्वलनोऽर्कश्च हीनसंकरेऽपि न दुष्यति 'तथाऽयमापद्गतोऽपि न दुष्यतीत्येतावता तत्साम्यम् । एव च वदता आपद्गतस्य परधर्माश्रयणाद्विगुणमपि स्वधर्मानुष्ठानमेव मुख्यमिति दर्शितं भवति । तथा च मनुः (१०।९७)—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्माश्रयाद्विप्रः सद्यः पतति जातितः ॥' इति ॥ ४१ ॥

आपत्तिकाल में जहाँ कहीं से भी (हीनवर्ण से भी) दान लेकर खाने वाला ब्राह्मण पाप से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह अग्नि और सूर्य के समान (तेजस्वी होने से पचाने वाला) है ॥४१ ॥

कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः ।
[१]सेवानूपं नृपो [२]भैक्षमापत्तौ जीवनानि तु ॥ ४२ ॥

किंच, 'आपत्तौ जीवनानि' इति विशेषणात्कृष्यादीनां मध्ये अनापदवस्थायां यस्य या वृत्तिः प्रतिषिद्धा तस्य सा वृत्तिरनेनाभ्यनुज्ञायते । तथाऽऽपदि वैश्यवृत्तिः स्वयं कृता **कृषि**र्विप्रक्षत्रिययोरभ्यनुज्ञायते एवं शिल्पादी[३]न्यप्यस्याभ्यनुज्ञायन्ते । **शिल्पं** सूर्पकरणादि, **भृतिः** प्रेष्यत्वम्, **विद्या** भृतकाध्यापकत्वाद्या, **कुसीदं** वृद्ध्यर्थं द्रव्यप्रयोगः, तत् स्वयंकृतमभ्यनुज्ञायते, **शकटं** भाटकेन धान्यादिवहनद्वारेण जीवनहेतुः, **गिरि**स्तद्गततृणेन्धनद्वारेण जीवनम्, **सेवा** परचित्तानुवर्तनम्, **अनूपं** प्रचुरतृणवृक्षजलप्रायः प्रदेशः, तथा **नृपो** नृपयाचनम्, **भैक्षं** स्नातकस्यापि, **एतान्यापत्तौ जीवनानि** । तथा च मनुः (१०।११६)—'विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षा विपणिः कृषिः । गिरिर्भैक्षं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥' इति ॥ ४२ ॥

आपत्ति काल में जीवन-यापन के ये साधन हैं– कृषि, शिल्प (कारीगरी), भृति (मजदूरी), विद्या (वेतन लेकर अध्यापन), व्याज पर रुपया चलाना, शकट (भाड़े पर भार ढोना), पर्वत (पर्वत पर के तृण-काष्ठादि) का विक्रय, सेवा, अनूप (प्रचुर तृण, वृक्ष जल से व्याप्त प्रदेश), रांजा (से याचना) तथा भिक्षावृत्ति ॥४२ ॥

यदा कृष्यादीनामपि जीवनहेतूनामसंभवस्तदा कथं जीवनमित्यत आह—

बुभुक्षितस्त्र्यहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत् ।
प्रतिगृह्य तदाख्येयमभियुक्तेन धर्मतः ॥ ४३ ॥

धान्याभावेन **त्रिरात्रं बुभुक्षितो**ऽनश्नन् **स्थित्वा अब्राह्मणा**च्छूद्रात्तदभावे वैश्यात् तदभावे क्षत्रियाद्वा हीनकर्मण एकाहपर्याप्तं **धान्यं हरेत् ।** यथाह मनुः (६।११७)—'तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता । अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥' इति । तथा च प्रतिग्रहोत्तरकालं **यदपहृतं तद्धर्मतो** यथावृत्तमा**ख्येयम्** । यदि नास्तिकेन स्वामिना त्वयेदं किं नामापहृतमित्यभियुज्यते । यथाह मनुः (११।१७)—'खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते । आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥' इति ॥ ४३ ॥

तीन दिन तक भूखा रहने पर अब्राह्मण (शूद्र, तदभाव में वैश्य और तदभाव में क्षत्रिय) के यहाँ से अन्न की चोरी करे (एक दिन के लिये उपयोग भर अन्न चुराये)। लेने के बाद यदि पकड़ा जाय तो (पकड़ने वाले से) धर्मपूर्वक जो लिया हो उसे बतावे ॥४३ ॥

टिप्पणी– मनु ने इस विषय में कहा है –

'तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनशनता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः' ॥ (६/११)

यदि स्वामी पकड़कर पूछे तो जिस स्थान से जितना लिया है उसे यथावत् बता दे–

'खलात् क्षेत्रादगाराद् वा यतो वाप्युलभ्यते ।
आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति' ॥ (मनु ११/१७)

इदमपरमापत्प्रसङ्गाद्राज्ञो विधीयते—

तस्य वृत्तं कुलं शीलं श्रुतमध्ययनं तपः ।
ज्ञात्वा राजा कुटुम्बं च धर्म्यां वृत्तिं प्रकल्पयेत् ॥ ४४ ॥

योऽशनायापरीतोऽवसीदति **तस्य वृत्त**माचारं, कुलमाभिजात्यं, शीलमात्मगुणं, श्रुतं शास्त्रश्रवणं, अध्ययनं वेदाध्ययनं, तपः कृच्छ्रादि च परीक्ष्य **राजा धर्मादनपेतां वृत्तिं प्रकल्पयेत्**, अन्यथा तस्य दोषः; तथा च मनुः (७।१३४)—'यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥' इति ॥ ४४ ॥

उसके कुल, शील (आत्मगुण), शास्त्रज्ञान, वेदाध्ययन, तप और कुटुम्ब का ज्ञान प्राप्त कर राजा उसके लिये धर्मसम्मत वृत्ति (जीविका) की व्यवस्था करे ॥४४ ॥

टिप्पणी– मनु का कथन है कि जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय भूख से पीड़ित होकर कष्ट पाता है उसका राष्ट्र ही दुर्भिक्ष और व्याधि से पीड़ित होकर कष्ट पाता है–

'यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्' ॥ (मनु ७/१३४)

इत्यापद्धर्मप्रकरणम्।

अथ वानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ३

चतुर्णामाश्रमिणां मध्ये ब्रह्मचारिगृहस्थयोर्धर्माः प्रतिपादिताः। सांप्रतमवसरप्राप्तान्वानप्रस्थधर्मान्प्रतिपादयितुमाह—

सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम्।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥ ४५ ॥

वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः, वनप्रस्थ एव **वानप्रस्थः**। संज्ञायां दैर्घ्यम्। भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य वनं प्रतिष्ठासुरिति यावत्। असौ **सुतविंन्यस्तपत्नीकः** 'त्वयेयं वरणीया' इत्येवं सुते विन्यस्ता निक्षिप्ता पत्नी येन स तथोक्तः। यदि सा पतिपरिचर्याभिलाषेण स्वयमपि वनं जिगमिषति तदा **तयाऽनुगतो वा** सहितः। तथा **ब्रह्मचारी** ऊर्ध्वरेताः **साग्नि**र्वैतानाग्निसहितः तथा **सोपासनो** गृह्याग्निसहितश्च **वनं व्रजेत्**। 'सुतविन्यस्तपत्नीक' इति वदता कृतगार्हस्थ्यो [3]वनवासेऽधिक्रियत इति दर्शितम्। एतच्चाश्रमसमुच्चयपक्षमङ्गीकृत्योक्तम्। इतरथा 'अविप्लुतब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तु तमावसेत्' इत्यकृतगार्हस्थ्योऽपि वनवासेऽधिक्रियत एव। अयं च वनप्रवेशो जराजर्जरकलेवरस्य जातपौत्रस्य वा। यथाऽह मनुः (६।२)—'गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चाऽपत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥' इति। अयं च पुत्रेषु पत्नीनिक्षेपो विद्यमानभार्यस्य। मृतभार्यस्याप्यापस्तम्बादिभिः वनवासस्मरणात्। अतो यत् (आ० ८९) 'दाहयित्वाग्निहोत्रेण' इति पुनराधानविधानं,–तदपरिपक्वकषायविषयम्। 'साग्निः सोपासन' इत्यत्रापि [1]यदार्धाधानं कृतं तदा श्रौताग्निभिर्गृह्येण च सहितो वनं व्रजेत्। सर्वाधाने तु श्रौतैरेव केवलम्। यदि कथंचिज्ज्येष्ठभ्रातुरनाहिताग्नित्वादिना श्रौताग्नयोऽनाहितास्तर्हि केवलं सोपासनो व्रजेदित्येवं विवेचनीयम्। अग्निनयनं च तन्निर्वर्त्याग्निहोत्रादिकर्मसिद्ध्यर्थम्। अत एव मनुः (६।९)—'वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि। [3]दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च शक्तितः ॥' इति ॥ ननु च पुत्रनिक्षिप्तपत्नीकस्य तद्विरहिणः कथमग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठानं घटते? 'पत्न्या सह यष्टव्यम्' इति सहाधिकारनियमात्, सत्यमेवं; किंत्वत्र पत्नीनिक्षेपविधि-

बलादेव [1]तन्नैरपेक्ष्येणाधिकारः कल्प्यते । यथा हि रजस्वलायां 'यस्य [2]व्रत्येऽहनि [3]पत्न्यनालम्भुका [4]स्यात्तामपरुद्ध्य यजेते'त्यपरोधविधिबलात्तन्निरपेक्षता । यद्वा वनं प्रतिष्ठमानमेव पतिं पत्न्यनुमन्यत इति न विरोधः । नच यथा ब्रह्मचारिणो विधुरस्य वा वनं प्रस्थितस्याग्निहोत्रादिपरिलोपस्तथा निक्षिप्तपत्नीकस्याप्यग्निहोत्राद्यभाव इति शङ्कनीयम्; अपाक्षिकत्वेन श्रवणात् । नच ब्रह्मचारिविधुरयोरप्यग्निसाध्यकर्मस्वनधिकारः । पञ्चममासादूर्ध्वमाहितश्रावणिकाग्नेस्तदधिकारदर्शनात्, 'वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासा न फालकृष्टमधितिष्ठेत्; अकृष्टं मूलफलं संचिन्वीत ऊर्ध्वरेताः क्षमाशयो दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयादूर्ध्वं पञ्चभ्यो मासेभ्यः [5]श्रावणिकेनाग्नीनाधायाहिताग्निर्वृक्षमूलको दद्याद्देवपितृमनुष्येभ्यः स गच्छेत्स्वर्गमानन्त्यम्' इति वसिष्ठस्मरणात् । चीरं वस्त्रखण्डो वल्कलं वा । न फालकृष्टमधितिष्ठेत्कृष्टक्षेत्रस्योपरि न निवसेत् । श्रावणिकेन वैदिकेन मार्गेण न लौकिकेनेत्यर्थः ॥४५॥

अपनी पत्नी को पुत्रों के पास रखकर या उसके साथ, (वैतान) अग्नि और उपासना अग्नि (गृह्याग्नि) के साथ ब्रह्मचारी बनकर वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय कर वन में जाय ॥४५ ॥

'साग्निः सोपासनो व्रजेत्' (प्रा० ४५) इत्येतदग्निसाध्यश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानार्थमित्युक्तं, तत्र गुणविधिमाह—

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितॄन्देवातिथीनपि ।
भृत्यांश्च तर्पयेत् श्मश्रुजटालोमभृदात्मवान् ॥ ४६ ॥

'फाल'ग्रहणं कर्षणसाधनोपलक्षणम् । अकृष्टक्षेत्रोद्भवेन नीवारवेणुश्यामाकादिना **अग्नींस्तर्पयेद्**ग्निसाध्यानि कर्माण्यनुतिष्ठेत् । 'च'शब्दाद्भिक्षादानमपि तेनैव कुर्यात् । तथा **पितॄन्देवानतिथीन्** 'अपि'शब्दाद्भूतान्यपि तेनैव **तर्पयेत्** । तथा भृत्यान् 'च'शब्दादाश्रमप्राप्तानपि । तथा च मनुः (६।७)— 'यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः । अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥' इति । एवं पञ्चमहायज्ञान्कृत्वा स्वयमपि तच्छेषमेव भुञ्जीत । (६।१२)—'देवताभ्यश्च तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः । शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतम् ॥' इति मनुस्मरणात् । स्वयंकृतमूषरलवणम् । एवं भोजनार्थे यागाद्यर्थे च मुन्यन्ननियमाद्ग्राम्याहारपरित्यागोऽर्थसिद्धः । अत एव मनुः (६।३)—'संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्' इति । ननु च दर्शपूर्णमासादेर्व्रीह्यादिग्राम्यद्रव्यसाध्यत्वात्कथं तत्परित्यागः? नच वचनीयम् '[6]अफालकृष्टेनाग्नींश्च' (वसि० ९।३) इति विशेषवचनसामर्थ्याद्व्रीह्यादिबाध इति । विशेषविषयिण्यापि स्मृत्या श्रुतिबाधस्यान्याय्यत्वात्, अफालकृष्टविधेश्च स्मार्ताग्निसाध्यकर्मविषयत्वेनाप्युपपत्तेः । सत्यमेवम्, किंत्वत्र व्रीह्यादेरप्यफालकृष्टत्वसंभवाच्च

विरोधः। अत एवोक्तं मनुना (६।११)—'वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः। पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥' इति ॥ नीवारादीनां मुन्यन्नानां स्वयमुत्पन्नानां स्वतो मेध्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः 'मेध्य'ग्रहणं यज्ञार्हव्रीह्यादिप्राप्त्यर्थं कृतम्। मेधो यज्ञस्तदर्हं मेध्यमिति। तथा श्मश्रूणि मुखजानि रोमाणि जटारूपांश्च शिरोरुहान्कक्षादीनि च रोमाणि बिभृयात्। 'रोम'ग्रहणं नखानामप्युपलक्षणम्। तथा च मनुः (६।६)—'जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखांस्तथा' इति। तथात्मवानात्मोपासनाभिरतः स्यात् ॥ ४६ ॥

बिना जोते हुये खेत से उत्पन्न (नीवार, वेणु; श्यामाक आदि) अन्न से अग्नियों, पितरों, देवों, अतिथियों और भृत्यों को तृप्त करे। दाढी-मूँछ, जटा और रोमों को रखे अर्थात् इन्हें न कटावे तथा आत्मवान् (आत्मोपासना में रत) रहे ॥४६ ॥

पूर्वोक्तद्रव्यसंचयनियममाह—

अह्नो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा ।
अर्थस्य संचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत् ॥ ४७ ॥

एकस्याह्नः संबन्धि भोजनयजनादिदृष्टादृष्टकर्मणः पर्याप्तस्यार्थस्य संचयं कुर्यात्। मासस्य वा षण्णां मासानां वा संवत्सरस्य वा संबन्धि कर्मपर्याप्तं संचयं कुर्यात्, नाधिकम्। यद्येवं क्रियमाणमपि कथंचिदतिरिच्यते तर्हि तदतिरिक्तमाश्वयुजे मासि त्यजेत् ॥ ४७ ॥

एक दिन, एक महीना, छः महीना या वर्ष भर के लिये अर्थ का संचय करे (इस प्रकार संचय किये में भी यदि अधिक बचे तो) संचित के अधिक को आश्विन मास में त्याग दे ॥४७ ॥

दान्तस्त्रिषवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ।
स्वाध्यायवान्दानशीलः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥ ४८ ॥

किंच, दान्तो दर्परहितः, त्रिषु सवनेषु प्रातर्मध्यंदिनापराह्णेषु स्नानशीलः। तथा प्रतिग्रहे पराङ्मुखः। 'च'शब्दाद्याजनादिनिवृत्तश्च। स्वाध्यायवान् वेदाभ्यासरतः। तथा फलमूलभिक्षादिदानशीलः सर्वप्राणिहिताचरणनिरतश्च भवेत् ॥ ४८ ॥

दान्त (आत्मसंयमी, दर्प रहित) हो, तीनों सवनों (प्रातः, मध्याह्न, सायं) में स्नान करे, दान लेने से निवृत्त रहे, स्वाध्याय में लगा रहे, दानशील हो तथा सर्वभूत के हित में निरत हो ॥४८ ॥

दन्तोलूखलिकः कालपक्काशी वाश्मकुट्टकः ।
श्रौत्रं स्मार्तं फलस्नेहैः कर्म कुर्यात्तथा क्रियाः ॥ ४९ ॥

किंच, दन्ता एवोलूखलं निस्तुषीकरणसाधनं दन्तोलूखलं, तद्यस्यास्ति स **दन्तोलूखलिकः** । कालेनैव पक्कं कालपक्कं नीवारवेणुश्यामाकादि बदरेङ्गुदादि फलं च तदशनशीलः **कालपक्काशी** । 'वा'शब्दः 'अग्निपक्काशनो वा स्यात्कालपक्कभुगेव वा' (मनुः ६।१७) इति मनूक्ताग्निपक्काशित्वाभिप्रायः । **अश्मकुट्टको वा भवेत्** । अश्मना कुट्टनमवहननं यस्य स तथोक्तः । **तथा श्रौत्रं स्मार्तं च कर्म** दृष्टार्थाश्च भोजनाभ्यञ्जनादि**क्रियाः** लकुचमधूकादिमेध्यतरुफलोद्भवैः **स्नेहद्रव्यैः कुर्यात्**, न तु घृतादिकैः । तथा च मनुः (६।१३)— 'मेध्यवृक्षोद्भवानद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान्' इति ॥ ४९ ॥

दाँतों से छीलकर और कूट कर खावे, अपने समय के पके फलों को खावे अथवा पत्थर पर कूट कर खावे । फल के रसों से श्रौत तथा स्मार्त कर्म तथा (भोजन, अभ्यञ्जन आदि) क्रिया करे ॥४९ ॥

पुरुषार्थतया विहितद्विर्भोजननिवृत्त्यर्थमाह—

चान्द्रायणैर्नयेत्कालं कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत्सदा ।
पक्षे गते वाप्यश्नीयान्मासे वाऽहनि वा गते ॥ ५० ॥

चान्द्रायणैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः **कालं नयेत्** । **कृच्छ्रैर्वा** प्राजापत्यादिभिः कालं **वर्तयेत्** । यद्वा,–पक्षे **पञ्चदशदिनात्मकेऽतीतेऽश्नीयात्** । **मासे वाऽहनि गते वा** नक्तमश्नीयात् । 'अपि'शब्दाच्चतुर्थकालिकत्वादिनापि । यथाह मनुः (६।१९) 'नक्तं वाऽन्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः । चतुर्थकालिको वा स्याद्वद्वाप्यष्टमकालिकः ॥' इति । एतेषां च कालनियमानां स्वशक्त्यपेक्षया विकल्पः ॥ ५० ॥

चान्द्रायण व्रत से समय बितावे अथवा सदैव कृच्छ्र व्रत करे। अथवा पक्ष बीतने पर भोजन करे अथवा मास बीतने पर भोजन करे या दिन बीतने पर भोजन करे ॥५० ॥

स्वप्याद्भूमौ शुची रात्रौ दिवा संप्रपदैर्नयेत् ।
स्थानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा तथा ॥ ५१ ॥

किंच, **आहारविहारावसरवर्ज्यं रात्रौ शुचिः** प्रयतः **स्वप्यात्** नोपविशेन्नापि तिष्ठेत् । दिवास्वप्नस्य पुरुषमात्रार्थतया प्रतिषिद्धत्वान्न तन्निवृत्तिपरम् । तथा **भूमावेव स्वप्यात्** । तच्च भूमावेव, न शय्यान्तरितायां मञ्चकादौ वा । **दिनं तु संप्रपदैरटनैर्नयेत्** । स्थानासनरूपैर्वा विहारैः संचारैः कंचित्कालं

स्थानं कंचिच्चोपवेशनमित्येवं वा दिनं नयेत् । योगाभ्यासेन वा । तथा च मनुः (६।२९) 'विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः' इति । आत्मनः संसिद्धये ब्रह्मत्वप्राप्तये । 'तथा'शब्दात्क्षितिपरिलोडनाद्वा नयेत् । 'भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्' (६।२२)—इति मनुस्मरणात् । प्रपदैः पादाग्रैः ॥ ५१ ॥

रात्रि में पवित्र होकर (नंगी) भूमि पर सोवे। दिन घूमते हुये व्यतीत करे अथवा बैठकर या चलकर बितावे अथवा योगाभ्यास करते हुये बितावे ॥५१ ॥

ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्त्या वापि तपश्चरेत् ॥ ५२ ॥

किंच, 'त्र्यर्तुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्तः' इति दर्शनात् **ग्रीष्मे** चैत्रादिमासचतुष्टये चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽग्नयः उपरिष्टादादित्य इत्येवं **पञ्चानामग्नीनां मध्ये तिष्ठेत्** । तथा **वर्षासु** श्रावणादिमासचतुष्टये **स्थण्डिलेशयः** वर्षाधाराविनिवारणविरहिणि **भूतले निवसेत्** । **हेमन्ते** मार्गशीर्षादिमासचतुष्टये **क्लिन्नं वासो वसीत** । एवंविधतपश्चरणे असमर्थः **स्वशक्त्यनुरूपं वा तपश्चरेत्** । यथा शरीरशोषस्तथा यतेत—'तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः' (६।२४) इति मनुस्मरणात् ॥ ५२ ॥

गर्मी में पञ्चाग्नि का सेवन करते हुये बितावे, वर्षा में (बाहर) चबूतरे पर बितावे, हेमन्त ऋतु भींगे वस्त्र धारण कर बितावे अथवा अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या करे ॥५२ ॥

यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति ।
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च ॥ ५३ ॥

किंच, **यः** कश्चित्कण्टकादिभिर्विविधमङ्गानि **तुदति** व्यथयति तस्मै न **क्रुध्येत्** । यश्चन्दनादिभिरुपलिम्पति सुखयति **तस्य न परितुष्येत्** । किंतु तयोरुभयोरपि समः स्यादुदासीनो भवेत् ॥ ५३ ॥

जो काँटों से अंगों को काटता है और जो अंगों पर चन्दन का लेप करता है उन पर (क्रमशः) न तो क्रुद्ध होवे और न प्रसन्न होवे और दोनों पर समान रहे ॥५३ ॥

अग्निपरिचर्याक्षमं प्रत्याह—

अग्नीन्वाप्यात्मसात्कृत्वा वृक्षावासो मिताशनः ।
वानप्रस्थगृहेष्वेवं यात्रार्थं भैक्षमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अग्नीनात्मनि समारोप्य वृक्षावासो वृक्ष एव आवासः कुटी यस्य स तथोक्तः । **मिताशनः** स्वल्पाहारः । '**अपि**'शब्दात्फलमूलाशनश्च भवेत् । यथाह मनुः (६।२५)—'अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि । अनग्निर

निकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥' इति । मुनिर्मौनव्रतयुक्तः । फलमूलासंभवे च यावत्प्राणधारणं भवति तावन्मात्रं **भैक्षं वानप्रस्थगृहेष्वाचरेत्** ॥ ५४ ॥

(यदि अग्नि-परिचर्या में अक्षम हो तो) अपने आत्मा में ही अग्नियों का समारोप कर वृक्ष के नीचे निवास करे तथा अल्पाहारी रहे। (यदि फल-फूल से जीवन-यात्रा न चले तो) जीवन-यात्रा के लिये वानप्रस्थों के घर से भिक्षा माँगे ॥५४॥

यदा तु तदसंभवो व्याध्यभिभवो वा तदा किं कार्यमित्यत आह—

ग्रामादाहृत्य वा ग्रासानष्टौ भुञ्जीत वाग्यतः ।

ग्रामाद्वा भैक्षमाहृत्य वाग्यतो मौनी भूत्वा **अष्टौ ग्रासान्भुञ्जीत** । ग्राम्यभैक्षविधानान्मुन्यन्ननियमोऽर्थलुप्तः । यदा पुनरष्टभिर्ग्रासैः प्राणधारणं न संभवति तदा 'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भैक्षं वानप्रस्थस्य षोडशे'ति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥-

अथवा ग्राम से अन्न लाकर वाणी पर संयम कर (मौन रहकर) आठ ग्रास भोजन करे।

सकलानुष्ठानासमर्थं प्रत्याह—

वायुभक्षः प्रागुदीचीं गच्छेद्वाऽऽवर्ष्मसंक्षयात् ॥ ५५ ॥

अथवा,-वायुरेव भक्षो यस्यासौ **वायुभक्षः प्रागुदीचीम्**ऐशानीं दिशं **गच्छेत्** । **आ वर्ष्मसंक्षयात्** वर्ष्म वपुस्तस्य निपातपर्यन्तमकुटिलगतिर्गच्छेत् । यथाह मनुः (६।३१)—'अपराजितां वास्थाय गच्छेद्दिशमजिह्मगः' इति । महाप्रस्थानेऽप्यशक्तौ भृगुपतनादिकं वा कुर्यात्; 'वानप्रस्थो वीराध्वानं ज्वलनाम्बुप्रवेशनं भृगुपतनं वानुतिष्ठेत्' इति स्मरणात् । स्नानाचमनादिधर्मा ब्रह्मचारिप्रकरणाद्यभिहिताश्चाविरोधिनोऽस्यापि भवन्ति; 'उत्तरेषां चैतदविरोधि' इति गौतमस्मरणात् । एवं प्रागुदितैन्दवादिदीक्षामहाप्रस्थानपर्यन्तं तनुत्यागान्तमनुतिष्ठन्ब्रह्मलोके पूज्यतां प्राप्नोति । यथाह मनुः (६।३२)—'आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम् । वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥' इति । ब्रह्मलोकः स्थानविशेषो नतु नित्यं ब्रह्म । तत्र 'लोक'शब्दस्याप्रयोगात् । तुरीयाश्रममन्तरेण मुक्त्यनङ्गीकाराच्च । नच 'योगाभ्यासेन वा-पुनः' (प्रा०५३) इति ब्रह्मोपासनविध्यनुपपत्त्या तद्भावापत्तिः परिशङ्कनीया । सालोक्यादिप्राप्त्यर्थत्वेनापि तदुपपत्तेः । अत एव श्रुतौ 'त्रयो धर्मस्कन्धा' इत्युपक्रम्य 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एवेति द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः । अत्यन्तमाचार्यकुल एवमात्मानमवसादयन्निति गार्हस्थ्यवानप्रस्थनैष्ठिकत्वस्वरूपमभिधाय सर्वे एते पुण्यलोका भवन्तीति त्रयाणामाश्रमिणां पुण्यलोकप्राप्तिमभिधाय ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति पारिशेष्यात्परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य मुक्तिलक्षणा-

मृतत्वप्राप्तिरभिहिता । यदपि 'श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते' इति गृहस्थस्यापि मोक्षप्रतिपादनं तद्भवान्तरानुभूतपारिव्रज्यस्येत्यवगन्तव्यम् ॥ ५५ ॥

अथवा वायु का भक्षण करते हुये (उपवास रहकर) पूर्व उत्तर दिशा (ईशान कोण) की ओर तब तक चले जब तक शरीर का क्षय (मत्यु) न हो जाय ॥५५ ॥

इति वानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ।

अथ यतिधर्मप्रकरणम् ४

वैखानसकर्माननुक्रम्य क्रमप्राप्तान्परिव्राजकधर्मान्सांप्रतं प्रस्तौति—

वनाद्गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम् ।
प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि ॥ ५६ ॥
अधीतवेदो जपकृत्पुत्रवानन्नदोऽग्निमान् ।
शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ ५७ ॥

यावता कालेन तीव्रतपःशोषितवपुषो विषयकषायपरिपाको भवति पुनश्च मदोद्भवाशङ्का नोद्भाव्यते तावत्कालं वनवासं कृत्वा तत्समनन्तरं मोक्षे मनः कुर्यात् । 'वन-गृह'शब्दाभ्यां तत्संबन्ध्याश्रमो लक्ष्यते । 'मोक्ष'शब्देन च मोक्षैकफलकश्चतुर्थाश्रमः ॥ अथवा, गृहाद्गार्हस्थ्यादनन्तरं मोक्षे मनः कुर्यात् । अनेन च पूर्वोक्तश्चतुराश्रमसमुच्चयपक्षः पाक्षिक इति द्योतयति । तथा च विकल्पो जाबालश्रुतौ श्रूयते—'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' इति । तथा गार्हस्थ्योत्तराश्रमबाधश्च गौतमेन दर्शितः (३।३६)—'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य' इति । एतेषां च समुच्चयविकल्पबाधपक्षाणां सर्वेषां श्रुतिमूलत्वादिच्छया विकल्पः । अतो यत्कैश्चित्पण्डितंमन्यैरुक्तम्—'स्मार्तत्वान्नैष्ठिकत्वादीनां गार्हस्थ्येन श्रौतेन बाधः गार्हस्थ्यानधिकृतान्धक्लीबादिविषयता वा' इति तत्स्वाध्यायाध्ययनवैधुर्यनिबन्धनमित्युपेक्षणीयम् । किंच,—यथा विष्णुक्रमणाज्यावेक्षणाद्यक्षमतया पंग्वादीनां श्रौतेष्वनधिकारस्तथा स्मार्तेष्वप्युदकुम्भाहरणभिक्षाचर्यादिष्वक्षमत्वात्कथं पंग्वादिविषयतया नैष्ठिकत्वाद्याश्रमनिर्वाहः अस्मिंश्चाश्रमे ब्राह्मणस्यैवाधिकारः । मनुः (६।२५)—'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ।' तथा (६।९७)—'एष चोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः' इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां मनुना ब्राह्मणस्याधिकारप्रतिपादनात् । 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेश्चाग्रजन्मन एवाधिकारः, न द्विजातिमात्रस्य । अन्ये तु त्रैवर्णिकानां प्रकृतत्वात् 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनाच्च द्विजातिमात्रस्याधिकारमाहुः ॥ यदा च

वनाद्गृहाद्वा प्रव्रजति तदा **सार्ववेदसदक्षिणां** सार्ववेदसी सर्ववेदसंबन्धिनी दक्षिणा यस्याः सा तथोक्ता तां **प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा तदन्ते तान्वैतानानग्नीनात्मनि** श्रुत्युक्तविधानेन **समारोप्य** 'च'शब्दात् 'उदगयने पौर्णमास्यां पुरश्चरणमादौ कृत्वा शुद्धेन कायेनाष्टौ श्राद्धानि निर्वपेत् द्वादश वा' इति बौधायनाद्युक्तं पुरश्चरणादिकं च कृत्वा **तथाऽधीतवेदो जपपरायणो जातपुत्रो** दीनान्धकृपणार्पितार्थो यथाशक्त्याऽन्नदश्च भूत्वाऽनाहिताग्निर्ज्येष्ठत्वादिना प्रतिबन्धाभावे कृताधानो नित्यनैमित्तिकान्यज्ञान्कृत्वा **मोक्षे मनः कुर्यात्**—चतुर्थाश्रमं प्रविशेन्नान्यथा । अनेनानपाकृतर्णत्रयस्य गृहस्थस्य प्रव्रज्यायामधिकारं दर्शयति ॥ यथाह मनुः (६।३५)—'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥' इति ॥ यदा तु ब्रह्मचर्यात्प्रव्रजति तदा न प्रजोत्पादनादिनियमः; अकृतदारपरिग्रहस्य तत्रानधिकारात् रागप्रयुक्तत्वाच्च विवाहस्य । नच ऋणत्रयापाकरणविधिरेव दारानाक्षिपतीति शङ्कनीयम्; विद्याधनार्जननियमवदन्यप्रयुक्तदारसंभवे तस्यानाक्षेपकत्वात् । ननु 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति जातमात्रस्यैव प्रजोत्पादनादीन्यावश्यकानीति दर्शयति । मैवम्; नहि जातमात्रः अकृतदाराग्निपरिग्रहो यज्ञादिष्वधिक्रियते तस्मादधिकारी जायमानो ब्राह्मणादिर्यज्ञादीननुतिष्ठेदिति तस्यार्थः । अतश्चोपनीतस्य वेदाध्ययनमेवावश्यकम् । कृतदाराग्निपरिग्रहस्य प्रजोत्पादनमपीति निरवद्यम् ॥ ५६—५७ ॥

वानप्रस्थाश्रम या गृहस्थाश्रम के अनन्तर सर्ववेद से संबद्ध और दक्षिणायुक्त प्राजापत्य इष्टि करने के उपरान्त अग्नियों को अपने आत्मा में आरोपित कर, वेद का अध्ययन कर, जप कर, पुत्रवान् होकर, अन्नदान कर, अग्निमान् होकर, यथाशक्ति यज्ञ कर मोक्ष में मन लगावे (अर्थात् संन्यासी-बने) अन्यथा नहीं ॥५६-५७ ॥

टिप्पणी– 'नान्यथा' शब्द से यह स्पष्ट होता है कि वेदाध्ययन, जप, पुत्रोत्पत्ति, अन्नदान, अग्निस्थापन, यथाशक्ति यज्ञ-संपादन के बाद ही संन्यास की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार पूर्ववर्ती तीनों आश्रमों के कृत्य संपन्न करने के बाद संन्यास लेने की विधि स्मृतिकार ने विहित की। इस संदर्भ में एतद्विषयक मनु का वचन भी ध्यातव्य है–

'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनापकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः' ॥ (६/३५)

तथा–

'अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः' ॥

किन्तु यह पक्ष वैकल्पिक ही प्रतीत होता है, क्योंकि धर्मशास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् भी प्रव्रज्या की विधि विहित की है। जाबाल-श्रुति में इसका विकल्प इस प्रकार निर्दिष्ट है– 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा'।

एवमधिकारिणं निरूप्य तद्धर्मानाह—

सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः।
एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत् ॥ ५८ ॥

सर्वभूतेभ्यः प्रियाप्रियकारिभ्यो हित उदासीनो, न पुनर्हिताचरणः। 'हिंसानुग्रहयोरनारम्भी' (३।२४,२५) इति गौतमस्मरणात्। **शान्तो** बाह्यान्तःकरणोपरतः, त्रयो दण्डा अस्य सन्तीति **त्रिदण्डी**। ते च दण्डा वैणवा ग्राह्याः। 'प्राजापत्येष्ट्यनन्तरं त्रीन्वैणवान्दण्डान्मूर्धप्रमाणान्दक्षिणेन पाणिना धारयेत्सव्येन सोदकं कमण्डलुम्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्। एकं वा दण्डं धारयेत् 'एकदण्डी त्रिदण्डी वा' (३।१०।४०) इति बौधायनस्मरणात्। 'चतुर्थमाश्रमं गच्छेद्ब्रह्मविद्यापरायणः। एकदण्डी त्रिदण्डी वा सर्वसंगविवर्जितः ॥' इति चतुर्विंशतिमते दर्शनाच्च। तथा शिखाधारणमपि वैकल्पिकम्। 'मुण्डः शिखी वा' (३।२२) इति गौतमस्मरणात्। 'मुण्डोऽममोऽक्रोधोऽपरिग्रहः' (१०।६) इति वसिष्ठस्मरणात्। तथा यज्ञोपवीतधारणमपि वैकल्पिकमेव। 'सशिखान्केशान्निकृन्त्य विसृज्य यज्ञोपवीतम्' इति काठकश्रुतिदर्शनात्— 'कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः। केशान्यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः ॥' इति बाष्कलस्मरणाच्च। 'अथ यज्ञोपवीतमप्सु जुहोति भूःस्वाहेति अथ दण्डमादत्ते सखे मां गोपाय' इति परिशिष्टदर्शनाच्च। यद्यशक्तिस्तदा कन्थापि ग्राह्या। 'काषायी मुण्डस्त्रिदण्डी सकमण्डलुपवित्रपादुकासनकन्थामात्रः' इति देवलस्मरणात्। शौचाद्यर्थं कमण्डलुसहितश्च भवेत्। **एकारामः** प्रव्रजितान्तरेणासहायः संन्यासिनीभिः स्त्रीभिश्च। 'स्त्रीणां चैके' इति बौधायनेन स्त्रीणामपि प्रव्रज्यास्मरणात्। तथा च दक्षः—'एको भिक्षुर्यथोक्तश्च द्वावेव मिथुनं स्मृतम्। त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥ राजवार्तादि तेषां तु भिक्षावार्ता परस्परम्। अपि पैशुन्यमात्सर्यं सन्निकर्षान्न संशयः ॥' इति। 'परिव्रज्य परिपूर्वो व्रजतिस्त्यागे वर्तते। अतश्चाहंममाभिमानं तत्कृतं च लौकिकं कर्मनिचयं वैदिकं च नित्यकाम्यात्मकं संत्यजेत्। तदुक्तं मनुना (१२।८८,८९,९२)–'सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ इह वामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते। निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः। आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥' इति। अत्र वेदाभ्यासः प्रणवाभ्यासस्तत्र यत्नवान्। **भिक्षाप्रयोजनार्थं ग्राममाश्रयेत्** प्रविशेत्,

न पुनः सुखनिवासार्थम्। वर्षाकाले तु न दोषः; 'ऊर्ध्वं वार्षिकाभ्यां मासाभ्यां नैकस्थानवासी' इति शङ्खस्मरणात्। अशक्तौ पुनर्मासचतुष्टयपर्यन्तमपि स्थातव्यं न चिरमेकत्र वसेदन्यत्र वर्षाकालात्; 'श्रावणादयश्चत्वारो मासा वर्षाकालः' इति देवलस्मरणात्।—'एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे रात्रिपञ्चकम्। वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांस्तु चतुरो वसेत्॥' इति काण्वस्मरणात्॥ ५८॥

सभी (प्रिय-अप्रिय) प्राणियों में उदासीन, शान्त, बाह्य तथा आन्तरिक विकारों से रहित तीन दण्ड तथा कमण्डलुधारी, अकेले रहने वाला, अहंकारादि दोषों का त्याग कर तथा नित्य एवं काम्य आदि लौकिक कर्मों का त्याग कर केवल भिक्षा मात्र के लिये ग्राम में प्रवेश करे॥५८॥

टिप्पणी– वर्षा ऋतु में ग्राम में निवास की वैकल्पिक व्यवस्था है। शङ्ख का वचन है– 'ऊर्ध्वं वार्षिकाभ्यां मासाभ्यां नैकस्थानवासी'। काण्व का इस विषय में मत इस प्रकार है–

'एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे रात्रिपञ्चकम्।
वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांस्तु चतुरो वसेत्'॥

कथं भिक्षाटनं कार्यमित्यत आह—

अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्नेऽनभिलक्षितः।
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रमलोलुपः॥ ५९॥

अप्रमत्तो वाक्चक्षुरादिचापलरहितो **भैक्षं चरेत्**। वसिष्ठेनात्र विशेषो दर्शितः (१०।७) 'सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षम्' इति। **सायाह्ने** अह्नः पञ्चमे भागे। तथा च मनुः (६।५६)—'विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। वृत्ते शरावसंपाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेत्॥' इति। तथा—'एककालं चरेद्भिक्षां प्रसज्येत्न तु विस्तरे। भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥' (६।५६,५५) इति। **अनभिलक्षितः** ज्योतिर्विज्ञानोपदेशादिना अचिह्नितः। मनुः(६।५०)—'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया। नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्॥' इति तेनोक्तत्वादिति॥ यत्पुनर्वसिष्ठवचनम्—'ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत्तद्भुञ्जीत सायंप्रातर्मांसवर्ज्यम्'. इति,–तदशक्तविषयम्। **भिक्षुकैर्**भिक्षणशीलैः पाखण्ड्यादिभि**र्वर्जिते ग्रामे**। मनुनात्र विशेष उक्तः (६।५१)—'न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः। आकीर्णं भिक्षुकैरन्यैरगारमुपसंव्रजेत्॥' इति। **यावता प्राणयात्रा वर्तते तावन्मात्रं भैक्षं चरेत्**। तथा च संवर्तः—'अष्टौ भिक्षाः समादाय मुनिः सप्त च पञ्च वा। अद्भिः प्रक्षाल्य ताः सर्वास्ततोऽश्नीयाच्च वाग्यतः॥' इति। **अलोलुपो** मिष्टान्नव्यञ्जनादिष्वप्रसक्तः ५९

प्रमादरहित होकर (वाणी, नेत्रादि इन्द्रियों का चापल्य छोड़कर), सायंकाल (दिन के पञ्चम भाग में), अनभिलक्षित होकर (ज्योतिष, शकुन, उत्पात आदि के ज्ञान को न बताकर), ग्राम के अन्य भिक्षुकों से व्याप्त न रहने पर जीवनयापन भर भिक्षा बिना लोभ के माँगे ॥५९ ॥

भिक्षाचरणार्थं पात्रमाह—

यतिपात्राणि मृद्वेणुदार्वलाबुमयानि च ।
सलिलं शुद्धिरेतेषां गोवालैश्चावघर्षणम् ॥ ६० ॥

मृदादिप्रकृतिकानि यतीनां पात्राणि भवेयुः । तेषां सलिलं गोवालावघर्षणं च शुद्धिसाधनम्। इयं च शुद्धिर्भिक्षाचरणादिप्रयोगाङ्गभूता, न्त्वमेध्याद्युपहतिविषया । तदुपघाते द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्ता द्रष्टव्या अत एव मनुना (६।५३)—'अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च । तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥' इति । चमसदृष्टान्तोपादानेन प्रायोगिकी शुद्धिर्दर्शिता । पात्रान्तराभावे भोजनमपि तत्रैव कार्यम्; 'तद्भैक्ष्यं गृहीत्वैकान्ते तेन पात्रेणान्येन वा तूष्णीं प्राणमात्रं भुञ्जीते'ति देवलस्मरणात् ॥ ६० ॥

यतियों (संन्यासियों) के पात्र, मिट्टी, बाँस, काष्ठ और लौकी (अलाबु) के बने होते हैं। इन पात्रों की शुद्धि जल से होती है तथा गोबाल के घर्षण से होती है ॥६० ॥

एवंभूतस्य यतेरात्मोपासनाङ्गं नियमविशेषमाह—

संनिरुध्येन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ प्रहाय च ।
भयं हित्वा च भूतानाममृतीभवति द्विजः ॥ ६१ ॥

चक्षुरादीन्द्रियसमूहं रूपादिविषयेभ्यः **सम्यङ्निरुध्य** विनिवर्त्य **रागद्वेषौ** प्रियाप्रियविषयौ **प्रहाय** त्यक्त्वा '**च**' शब्दादीर्ष्यादीनपि, तथा **भूतानामपकारेण भयमकुर्वन्** शुद्धान्तःकरणः सन्नद्वैतसाक्षात्कारेणा**मृतीभवति** मुक्तो भवति ॥

ब्राह्मण इन्द्रिय-समूह को नियन्त्रित कर राग और द्वेष का त्याग कर तथा प्राणियों में अपकार कर भय उत्पन्न करने को छोड़कर अमर हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥६१ ॥

कर्तव्याशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः ।
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्स्वातन्त्र्यकरणाय च ॥ ६२ ॥

किं च, विषयाभिलाषद्वेषजनितदोषकलुषितस्या**शय**स्यान्तःकरणस्य **शुद्धिः** कल्मषक्षयः प्राणायामैः **कर्तव्या**; तस्याः शुद्धेरात्माद्वैतसाक्षात्काररूप**ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्**। एवं च सति विषयासक्तिजनितदोषात्मकप्रतिबन्धक्षये

सत्यात्मध्यानधारणादौ **स्वतन्त्रो** भवति । **तस्माद्भिक्षुकेण त्वेषा शुद्धिर्विशेषतोऽनुष्ठेया**; तस्य मोक्षप्रधानत्वात् । मोक्षस्य च शुद्धान्तःकरणतामन्तरेण दुर्लभत्वात् । यथाह मनुः (६।७१)—'दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥' इति ॥ ६२ ॥

संन्यासी को विशेष रूप से (विषयाभिलाष-द्वेषजनित कलुष से युक्त) अन्तःकरण की शुद्धि करनी चाहिये, क्योंकि अन्तःकरण ज्ञानोत्पत्ति (आत्मसाक्षात्कार रूप ज्ञान) का कारण है तथा (विषयासक्तिजन्य दोष से नाश होने पर) स्वतन्त्र (मुक्त) करने वाला है ॥६२ ॥

इन्द्रियनिरोधोपायतया संसारस्वरूपनिरूपणमाह—

अवेक्ष्या गर्भवासाश्च कर्मजा गतयस्तथा ।
आधयो व्याधयः क्लेशा जरा रूपविपर्ययः ॥ ६३ ॥
भवो जातिसहस्रेषु प्रियाप्रियविपर्ययः ।

वैराग्यसिद्ध्यर्थं मूत्रपुरीषादिपूर्णनानाविध**गर्भवासा अवेक्षणीयाः** पर्यालोचनीयाः। 'च'शब्दाज्जनीपरसादपि तथा निषिद्धाचरणादिक्रियाजन्या महारौरवादिनिरयपतनरूपा गतयः । तथा **आधयो** मनःपीडाः, **व्याधयश्च** ज्वरातीसाराद्याः शारीराः, **क्लेशाः** अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च, **जरा** वलीपलिताद्यभिभवः, **रूपविपर्ययः** खञ्जकुब्जत्वादिना प्राक्तनस्य रूपस्यान्यथाभावः, तथा श्वसूकरखरोरगाद्यनेक**जातिषु भव** उत्पत्तिः । तथा '**इष्टस्याप्राप्तिः अनिष्टस्य प्राप्तिः**' (योगसू० १–२) इत्यादिबहुतरक्लेशावहं संसारस्वरूपं पर्यालोच्य तत्परिहारार्थमात्मज्ञानोपायभूतेन्द्रियजये प्रयतेत ॥ ६३ ॥

गर्भ में रहने (के कष्ट), (निषिद्ध) कर्मों से उद्भूत गतियों (नरक में जाने की गतियों), आधि (मानसिक पीड़ा), व्याधि (शारिरिक पीडा), क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष का प्रभाव), वृद्धावस्था, रूपविपर्यय (अन्धा, लंगड़ा आदि), सैकड़ों योनियों में जन्म तथा प्रिय (इष्ट) की अप्राप्ति और अप्रिय (अनिष्ट) की प्राप्ति का विचार करना चाहिये ॥६३$\frac{१}{२}$ ॥

एवमवेक्ष्यानन्तरं किं कार्यमित्यत आह—

ध्यानयोगेन संपश्येत्सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितः ॥ ६४ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, आत्मैकाग्रता **ध्यानं**, तस्या एव बाह्यविषयत्वोपरमः **ध्यानयोगेन** निदिध्यासतापरपर्यायेण **सूक्ष्म**शरीरप्राणादिव्यतिरिक्तः क्षेत्रज्ञ **आत्मा आत्मनि** ब्रह्मण्य**वस्थितः** इत्येवं तत्त्वंपदार्थयोरभेदं सम्यक् पश्येदपरोक्षीकुर्यात् । अत एव श्रुतौ (बृ० उ० ५।४।५) 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इति साक्षात्काररूपं दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'(बृ०५।४।५) इति श्रवणमनननिदिध्यासनानि विहितानि ॥ ६४ ॥

तथा ध्यान (चित्त की एकाग्रता) और योग (चित्तवृत्तिनिरोध) से (सूक्ष्म शरीर, प्राणादि से पृथक्) आत्मा (ब्रह्म) में स्थित है– इस प्रकार देखना चाहिये ॥६४ ॥

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः ।
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥ ६५ ॥

किंच, प्राक्तनश्लोकोक्तात्मोपासनाख्ये धर्मे **नाश्रमो** दण्डकमण्डल्वादिधारणं **कारणम्** । **यस्मादसौ क्रियमाणो** भवेदेव नातिदुष्करः । **तस्माद्यदात्मनोऽपथ्य**मुद्वेगकरं परुषभाषणादि तत्**परेषां न समाचरेत्** । अनेन ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतान्तःकरणशुद्धयापादनत्वेनान्तरङ्गत्वाद्रागद्वेषप्रहाणस्य प्रधानत्वेन प्रशंसार्थमाश्रमनिराकरणं न पुनस्तत्परित्यागाय तस्यापि विहितत्वात् । तदुक्तं मनुना (६।६६)—'दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे वसन् । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् इति ॥ ६५ ॥

(पूर्वोक्त आत्मोपासन रूप) धर्म (के आचरण में) आश्रम (का प्रतीक दण्ड-कमण्डलु आदि) कारण नहीं है अपितु वह धर्म करने (आचरण) से होता है। इसलिये जो अपने लिये अपथ्य (अहितकारी) है उसे दूसरे के लिये नहीं करना चाहिये ॥६५ ॥

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः ॥ ६६ ॥

किंच, **सत्यं** यथार्थप्रियवचनम्, **अस्तेयं** परद्रव्यानपहारः, **अक्रोधो**ऽपकारिण्यपि क्रोधस्यानुत्पादनम्, **ह्री**र्लज्जा **शौच**माहारादिशुद्धिः, **धी**र्हिताहितविवेकः, **धृति**रिष्टवियोगेऽनिष्टप्राप्तौ प्रचलितचित्तस्य यथापूर्वमवस्थापनम्, **दमो** मदत्यागः, **संयतेन्द्रियता** अप्रतिषिद्धेष्वपि विषयेष्वनतिसङ्गः, **विद्या** आत्मज्ञानम्, एतैः सत्यादिभिरनुष्ठितैः सर्वो धर्मोऽनुष्ठितो भवति । अनेन दण्डकमण्डल्वादिधारणबाह्यलक्षणात् (बृ० उ० ४।५।६) सत्यादीनामात्मगुणानामन्तरङ्गतां द्योतयति ॥ ६६ ॥

सत्य, अस्तेय (अचौर्य), अक्रोध, लज्जा, शौच (आहारादि की शुद्धि), धी (हिताहितविवेक), धैर्य, धृति (इष्टविनाश और अनिष्ट प्राप्ति में अविचलन), दम (मद का त्याग), इन्द्रिय-संयम, विद्या (आत्मज्ञान)— ये सभी धर्म बतलाये गये हैं ॥६६ ॥

ननु ध्यानयोगेनात्मनि स्थितमात्मानं पश्येदित्ययुक्तम्, जीवपरमात्मनोर्भेदाभावादित्यत आह—

निःसरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तात्स्फुलिङ्गकाः ।
सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि ॥ ६७ ॥

यद्यपि जीवपरमात्मनोः पारमार्थिको भेदो नास्ति तथाप्यात्मनः सकाशादविद्योपाधिभेदभिन्नतया **जीवात्मानः प्रभवन्ति हि** यस्मात् तस्माद्युज्यत एव जीवपरमात्मनोर्भेदव्यपदेशः। यथा **हि तप्ताल्लोहपिण्डादयोगोलकाद्विस्फुलिङ्गकास्तेजोवयवा निःसरन्ति** निःसृताश्च स्फुलिङ्गव्यपदेशं लभन्ते **तद्वत्**। अत उपपन्नं आत्मात्मनि स्थितो द्रष्टव्य इति। यद्वाऽयमर्थः—ननु सुषुप्तिसमये प्रलये च सकलक्षेत्रज्ञानां ब्रह्मणि प्रलीनत्वात्कस्यायमात्मोपासनाविधिरित्यत आह—**निःसरन्ती**त्यादि। यद्यपि सूक्ष्मरूपेण प्रलयवेलायां प्रलीनास्तथाप्यात्मनःसकाशादविद्योपाधिभेदभिन्नतया जीवात्मानः प्रभवन्ति, पुनः कर्मवशात्स्थूलशरीराभिमानिनो जायन्ते, तस्मान्नोपासनाविधिविरोधः, तैजसस्य पृथग्भावसाम्याल्लोहपिण्डदृष्टान्तः ॥ ६७ ॥

जिस प्रकार तप्त लोहपिण्ड से स्फुलिंग (चिनगारियाँ) निकलती हैं उसी प्रकार आत्मा (ब्रह्म) से आत्मायें (जीवात्मायें) उत्पन्न होते हैं ॥६७ ॥

ननु चानुपात्तवपुषां क्षेत्रज्ञानां निष्परिस्पन्दतया कथं तन्निबन्धनो जरायुजाण्डजादिचतुर्विधदेहपरिग्रह इत्यत आह—

तत्रात्मा हि स्वयं किंचित्कर्म किंचित्स्वभावतः।
करोति किंचिदभ्यासाद्धर्माधर्मोभयात्मकम् ॥ ६८ ॥

यद्यपि तस्यामवस्थायां परिस्पन्दात्मकक्रियाभावस्तथापि धर्माधर्माध्यवसायात्मकं कर्म मानसं भवत्येव। तस्य च विशिष्टशरीरग्रहणहेतुत्वमस्त्येव; 'वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्' (१२।९) इति मनुस्मरणात्। एवं **गृहीतवपुः स्वयमेवान्वयव्यतिरेकनिरपेक्षः**, स्तन्यपानादिके कृते तृप्तिर्भवत्यकृते न भवतीत्येवंरूपौ यावन्वयव्यतिरेकौ तत्र निरपेक्षं प्राग्भवीयानुभवभावितभावनानुभावोद्भूतकार्यावबोधः **किंचित्स्तन्यपानादिकं करोति, किंचित्स्वभावतो** यदृच्छया प्रयोजनाभिसंधिनिरपेक्षं पिपीलिकादिभक्षणं **करोति, किंचिद्भवान्तराभ्यासवशाद्धर्माधर्मोभयरूपं करोति**। तथा च स्मृत्यन्तरम्—'प्रतिजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यसते पुनः॥' इति॥ एवं जीवानां कर्मवैचित्र्यात्तत्कृतं जरायुजादिदेहवैचित्र्यं युज्यत एव ॥ ६८ ॥

यह आत्मा (जीवात्मा) धर्म और अधर्म दोनों प्रकार के कर्म कुछ तो स्वयं, कुछ स्वभाव वश और कुछ अभ्यास वश करता है ॥६८ ॥

नन्वेवं सति ब्राह्मण एव कथंचिज्जीवव्यपदेश्यत्वात्तस्य च नित्यत्वादिधर्मत्वात्कथं विष्णुमित्रो जात इति व्यवहार इत्याशङ्क्याह—

निमित्तमक्षरः कर्ता बोद्धा ब्रह्म गुणी वशी।
अजः शरीरग्रहणात्स जात इति कीर्त्यते ॥ ६९ ॥

सत्यमात्मा सकलजगत्प्रपञ्चाविर्भावेऽविद्यासमावेशवशात्समवाय्यसमवायिनिमित्तमित्येवं स्वयमेव त्रिविधमपि कारणं, न पुनः कार्यकोटिनिविष्टः । यस्मादक्षरोऽविनश्वरः । ननु सत्त्वादिगुणविकारस्य सुखदुःखमोहात्मकस्य कार्यभूते जगत्प्रपञ्चे दर्शनात्तद्गुणवत्याः प्रकृतेरेव जगत्कर्तृतोचिता, न पुनर्निर्गुणस्य ब्रह्मणः। मैवं मंस्थाः,—आत्मैव कर्ता । यस्मादसौ जीवोपभोग्यसुखदुःखहेतुभूतादृष्टादेर्बोद्धा । नह्यचेतनायाः प्रकृतेर्नामरूपव्याकृतविचित्रभोक्तृवर्गभोगानुकूलभोग्यभोगायतनादियोगिजगत्प्रपञ्चरचना घटते । तस्मादात्मैव कर्ता । तथा स एव ब्रह्म बृंहको विस्तारकः। नचासौ निर्गुणः । यतस्तस्य त्रिगुणशक्तिरविद्या प्रकृतिप्रधानाद्यपरपर्याया विद्यते । अतः स्वतो निर्गुणत्वेऽपि शक्तिमुखेन सत्त्वादिगुणयोगी कथ्यते । नचैतावता प्रकृतेः कारणता, यस्मादात्मैव वशी स्वतन्त्रः न प्रकृतिर्नाम स्वतंत्रं तत्त्वान्तरं, तादृग्विधत्वे प्रमाणाभावात् । नच वचनीयं शक्तिरूपापि सैव कर्तृभूतेति । यतः शक्तिमत्कारकं न शक्तिः, तस्मादात्मैवं जगतस्त्रिविधमपि कारणम् । तथा अज उत्पत्तिरहितः । अतस्तस्य यद्यपि साक्षाज्जननं नोपपद्यते तथापि शरीरग्रहणमात्रेण जात इत्युच्यते अवस्थान्तरयोगितयोत्पत्तेर्गृहस्थो जात इतिवत् ॥ ६९ ॥

वह आत्मा (सभी का) निमित्त, अविनश्वर, कर्ता, ज्ञाता, ब्रह्म, गुणी, स्वतन्त्र और अजन्मा है। वह शरीर ग्रहण करने से उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है ॥६९ ॥

शरीरग्रहणप्रकारमाह—

सर्गादौ स यथाकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम् ।
सृजत्येकोत्तरगुणांस्तथादत्ते भवन्नपि ॥ ७० ॥

सृष्टिसमये स परमात्मा यथाकाशादीन् शब्दैकगुणं गगनं, शब्दस्पर्शगुणः पवनः, शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणवदुदकम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा जगतीत्येवमेकोत्तरगुणान् सृजति । तथात्मा जीवभावमापन्नो भवन्नुत्पद्यमानोऽपि स्वशरीरस्यारम्भकत्वेनापि गृह्णाति ७०

सृष्टि के आरम्भ में वह आत्मा जिस प्रकार आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी को क्रमशः एक-एक गुण अधिक बनाकर निर्माण करता है उसी प्रकार जीवभाव में उत्पन्न होकर स्वशरीर के आरम्भ के रूप में ग्रहण करता है ॥७० ॥

कथं शरीरारम्भकत्वं पृथिव्यादीनामित्यत आह—

आहुत्याप्यायते सूर्यः सूर्याद्वृष्टिरथौषधिः ।
तदन्नं रसरूपेण शुक्रत्वमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

यजमानैः प्रक्षिप्तया आहुत्या पुरोडाशादिरसेनाप्यायते सूर्यः । सूर्याच्च कालवशेन परिपक्वाज्यादिहवीरसाद्वृष्टिर्भवति । ततो व्रीह्याद्यौषधिरूपमन्नम् । तच्चान्नं सेवितं सत् रसरुधिरादिक्रमेण शुक्रशोणितभावमापद्यते ॥ ७१ ॥

(यज्ञ की) आहुतियों से सूर्य तृप्त होते हैं, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से व्रीहि आदि औषधियाँ (अन्न) उत्पन्न होते हैं और वही अन्नरस के रूप में शुक्र (वीर्य) बनता है ॥७१ ॥

ततः किमित्यत आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे विशुद्धे शुक्रशोणिते ।
पञ्चधातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः ॥ ७२ ॥

ऋतुवेलायां स्त्रीपुंसयोर्योगे शुक्रं च शोणितं च शुक्रशोणितं तस्मिन्परस्परसंयुक्ते **विशुद्धे** 'वातपित्तश्लेष्मदुष्टग्रन्थिपूयक्षीणमूत्रपुरीषगन्धरेतांस्यबीजानि' इति स्मृत्यन्तरोक्तदोषरहिते स्थित्वा **पञ्चधातून्** पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि शरीरारम्भकतया **स्वयं** षष्ठश्चिद्धातुरात्मा प्रभुः शरीरारम्भैककारणादृष्टकर्मयोगितया समर्थो **युगपदादत्ते** भोगायतनत्वेन स्वीकरोति' । तथा च शारीरके (सुश्रुत. ३।३)—'स्त्रीपुंसयोः संयोगे योनौ रजसाभिसंसृष्टं शुक्रं तत्क्षणमेव सह भूतात्मना गुणैश्च सत्त्वरजस्तमोभिः सह वायुना प्रेर्यमाणं गर्भाशये तिष्ठति' इति ॥

(ऋतुकाल में) पुरुष और स्त्री के संयोग होने पर वीर्य और रज के मिलकर शुद्ध होने पर (पृथिव्यादि) पाँच तत्त्वों को छठा प्रभु (आत्मा) स्वयं ही एक साथ ग्रहण करता है ॥७२ ॥

इन्द्रियाणि मनः प्राणो ज्ञानमायुः सुखं धृतिः ।
धारणा प्रेरणं दुःखमिच्छाहंकार एव च ॥ ७३ ॥
प्रयत्न आकृतिर्वर्णः स्वरद्वेषौ भवाभवौ ।
तस्यैतदात्मजं सर्वमनादेरादिमिच्छतः ॥ ७४ ॥

किंच, **इन्द्रियाणि** ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि, **मन**श्चोभयसाधारणम्, प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इत्येवं पञ्चवृत्तिभेदभिन्नः शारीरो वायुः **प्राणः**, ज्ञानमवगमः, **आयुः** कालविशेषावच्छिन्नं जीवनम्, **सुखं** निर्वृतिः, **धृति**श्चित्तस्थैर्यम्, **धारणा** प्रज्ञा मेधा च, **प्रेरणं** ज्ञानकर्मेन्द्रियाणामधिष्ठातृत्वम्, दुःखमुद्वेगः, **इच्छा** स्पृहा, **अहंकारो**ऽहंकृतिः, **प्रयत्न** उद्यमः, **आकृति**राकारः, **वर्णो** गौरिमादिः, **स्वरः** षड्जगान्धारादिः, **द्वेषो वैरम्**, **भवः** पुत्रपश्वादिविभवः, **अभव**स्तद्विपर्ययः, **तस्यानादेरात्मनो** नित्यस्य**आदिमिच्छतः** शरीरं जिघृक्षमाणस्य **सर्वमेतदिन्द्रियादिकमात्मजनितं** प्राग्भवीयकर्मबीजजन्यमित्यर्थः ॥ ७३–७४ ॥

इन्द्रियाँ, मन, (प्राणादि) वायु, ज्ञान, आयु, सुख, धैर्य, धारणा (प्रज्ञा), प्रेरण (ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठातृ रूप में प्रेरणा), दुःख (उद्वेग), इच्छा (स्पृहा), अहंकार, उद्यम, आकृति, रंग (वर्ण-गौरादि), स्वर, द्वेष, भव (पुत्र, पशु आदि वैभव),

अभव (उनका विनाश)— ये सभी उस अनादि (आत्मा) के आदि (शरीर-धारण) की इच्छा करने पर आत्मज (प्राग्भवीय कर्मबीज जन्य गुण) हैं ॥७३-७४ ॥

संयुक्तशुक्रशोणितस्य कार्यरूपपरिणतौ क्रममाह—

प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुविमूर्च्छितः ।
मास्यर्बुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युतः ॥ ७५ ॥

असौ चेतनः षष्ठो धातुः **धातुविमूर्च्छितो** धातुषु पृथिव्यादिषु **विमूर्च्छितो** लोलीभूतः । क्षीरनीरवदेकीभूत इति यावत् । **प्रथमे गर्भमासे संक्लेदभूतो** द्रवरूपतां प्राप्त एवावतिष्ठते न कठिनतया परिणमते । **द्वितीये मास्यर्बुदमी**षत्कठिनमांसपिण्डरूपं भवति। अयमभिप्रायः—कौक्ष्यपवनजठरदहनाभ्यां प्रतिदिनमीषदीषच्छोष्यमाणं शुक्रसंपर्कसंपादितद्रवीभावं भूतजातं त्रिंशद्भिर्दिनैः काठिन्यमापद्यत इति । तथा च सुश्रुते (शा.३।१४)—'द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिपच्यमानो भूतसंघातो घनो जायते' इति । **तृतीये तु मास्यङ्गैरिन्द्रियैश्च संयुक्तो भवति** ॥ ७५ ॥

यह वीर्य-रज और पञ्चतत्त्वों से समन्वित षष्ठ आत्मा गर्भ के प्रथम मास में द्रव रूप रहता है, द्वितीय मास में अर्बुद रूप (कुछ कठोर) होता है और तृतीय मास में अङ्गों एवं इन्द्रियों से युक्त होता है ॥७५ ॥

आकाशाल्लाघवं सौक्ष्म्यं शब्दं श्रोत्रं बलादिकम् ।
वायोश्च स्पर्शनं चेष्टां व्यूहनं रौक्ष्यमेव च ॥ ७६ ॥
पित्तात्तु दर्शनं पक्तिमौष्ण्यं रूपं प्रकाशिताम् ।
रसात्तु रसनं शैत्यं स्नेहं क्लेदं समार्दवम् ॥ ७७ ॥
भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं गौरवं मूर्तिमेव च ।
आत्मा गृह्णात्यजः सर्वं तृतीये स्पन्दते ततः ॥ ७८ ॥

किंच, 'आत्मा गृह्णाति' इति सर्वत्र संबध्यते । **गगनाल्लघिमानं** लङ्घनक्रियोपयोगिताम्, **सौक्ष्म्यं** सूक्ष्मेक्षित्वम्, **शब्दं** विषयम्, **श्रोत्रं** श्रवणेन्द्रियम्, **बलं** दार्ढ्यम्; **'आदि'**ग्रहणात्सुषिरत्वं विविक्ततां च; 'आकाशाच्छब्दं श्रोत्रं विविक्ततां सर्वच्छिद्रसमूहांश्च' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात्, **पवनात्स्पर्शेन्द्रियम्**, **चेष्टां** गमनागमनादिकाम्; **व्यूहन**मङ्गानां विविधं प्रसारणम्, **रौक्ष्यं** कर्कशत्वं, 'च'शब्दात्स्पर्शं च; **पित्तात्तेजसो दर्शनं** चक्षुरिन्द्रियम्, **पक्तिं** भुक्तस्यान्नस्य पचनम्, **औष्ण्य**मुष्णस्पर्शत्वमङ्गानाम्, **रूपं** श्यामिकादि, **प्रकाशितां** भ्राजिष्णुताम्, तथा संतापामर्षादि च; 'शौर्यामर्षतैक्ष्ण्यपक्त्यौष्ण्यभ्राजिष्णुतासंतापवर्णरूपेन्द्रियाणि तैजसानि' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात्; एवं **रसादुदकाद्रसनेन्द्रियम्**, **शैत्यम**ङ्गा-

नाम्, स्निग्धता मृदुत्वसहितं, क्लेदमार्द्रताम्, तथा **भूमेर्गन्धं घ्राणेन्द्रियं गरिमाणं मूर्तिं च** । सर्वमेतत्परमार्थतो **जन्मरहितोऽप्यात्मां तृतीये मासि गृह्णाति । ततश्चतुर्थे** मासि **स्पन्दते** चलति । तथा च शारीरके— 'तस्माच्चतुर्थे मासि चलनादावभिप्रायं करोति' इति ॥ ७६–७८ ॥

यह अजन्मा आत्मा तृतीय मास में आकाश तत्त्व से लघुता, सूक्ष्मता, शब्द, कान और बल आदि प्राप्त करता है, वायु से स्पर्श, चेष्टा, अङ्गों का फैलना, रूक्षता प्राप्त करता है, पित्त (तेज) से दृष्टि, पाचन शक्ति, उष्णता, रूप और प्रकाशन की शक्ति प्राप्त करता है, रस (जल) से रसनेन्द्रिय, शीतलता, स्निग्धता, आर्द्रता और कोमलता प्राप्त करता है तथा भूमि से गन्ध, नाक, गौरव और मूर्ति को प्राप्त करता है और इससे (चतुर्थ मास में) स्पन्दन करने लगता है ॥७६-७८ ॥

दौर्हृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।
वैरूप्यं मरणं वापि तस्मात्कार्यं प्रियं स्त्रियाः ॥ ७९ ॥

किंच, गर्भस्यैकं हृदयं गर्भिण्याश्चापरमित्येवं द्विहृदया तस्याः स्त्रिया यदभिलषितं तत् **दौर्हृदं, तस्याप्रदानेन गर्भो** विरूपतां मरणरूपं वा **दोषं प्राप्नोति । तस्मात्तद्दोषपरिहारार्थं** गर्भपुष्ट्यर्थं च गर्भिण्याः **स्त्रियाः यत्प्रियमभिलषितं तत्संपादनीयम्** । तथा च सुश्रुते— 'द्विहृदयां नारीं दौहृदिनीमाचक्षते, तदभिलषितं दद्यात्', वीर्यवन्तं चिरायुषं पुत्रं जनयति' इति । तथा च व्यायामादिकमपि गर्भग्रहणप्रभृति तया परिहरणीयम् । 'ततःप्रभृति व्यायामव्यवायातितर्पणदिवास्वप्नरात्रिजागरणशोकभययानारोहणवेगधारणकुक्कुटासनशोणितमोक्षणानि परिहरेत्' इति तन्त्रवाभिधानात् । 'गर्भ'ग्रहणं च श्रमादिभिर्लिङ्गैरवगन्तव्यम् । 'सद्योगृहीतगर्भायाः श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः' इत्यादि तन्त्रेवोक्तम् ॥ ७९ ॥

गर्भिणी स्त्री की प्रिय वस्तु (दौर्हृद) को उसे न देने पर गर्भ में दोष आ जाता है और वह विरूपता या मरण को प्राप्त करता है, अतः गर्भिणी को जो प्रिय हो उसे करना चाहिये ॥७९ ॥

टिप्पणी– दौर्हृद के देने की प्रशंसा अन्यत्र भी है– 'दौर्हृदादानात् काणं कुब्जं वामनं वा जनयति। तस्मात् सा यदिच्छेत् तत्तस्मै प्रदापयेत्। वीर्यवन्तं चिरायुषं जनयति'।

स्थैर्यं चतुर्थे त्वङ्गानां पञ्चमे शोणितोद्भवः ।
षष्ठे बलस्य वर्णस्य नखरोम्णां च संभवः ॥ ८० ॥

किंच, तृतीये मासि प्रादुर्भूतस्याङ्गसङ्घस्य **चतुर्थे** मासि **स्थैर्यं** स्थेमा भवति । **पञ्चमे लोहितस्योद्भव** उत्पत्तिः । तथा **षष्ठे बलस्य वर्णस्य** **करुरुहरोम्णां च संभवः** ॥ ८० ॥

(तृतीय मास में प्रादुर्भूत) अङ्गों की चतुर्थ मास में स्थिरता प्राप्त होती है। पाँचवें मास में रक्त की उत्पत्ति होती है और छठें महीने में बल, रंग, नख और रोयें उत्पन्न होते हैं ॥८० ॥

मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ नाडीस्नायुशिरायुतः ।
सप्तमे चाष्टमे चैव त्वङ्मांसस्मृतिमानपि ॥ ८१ ॥

किंच, असौ पूर्वोक्तो गर्भः **सप्तमे** मासि मनसा चेतसा **चेतनया च युक्तो** नाडीभिर्वाहिनीभिः स्नायुभिरस्थिबन्धनैः शिराभिर्वातपित्तश्लेष्मवाहिनीभिश्च संयुतः । तथाष्टमे मासि त्वचा मांसेन स्मृत्या च युक्तो भवति ॥ ८१ ॥

वह गर्भ सप्तम मास में मन आंर चैतन्य से युक्त होता है तथा (वायुवाहिनी) नाड़ियों,(अस्थि को बाँधने वाली) स्नायुओं (स्नायुओं) एवं (वात-पित्त-श्लेष्मवाहिनी) सिराओं से युक्त होता है और अष्टम मास में त्वचा, मांस और स्मरण-शक्ति से युक्त होता है ॥८१ ॥

पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति ।
अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ ८२ ॥

किंच, तस्याष्टममासिकस्य गर्भस्यौजः कश्चन गुणविशेषो धात्रीं **गर्भं** च प्रति पुनःपुनरवितरां चञ्चलतया शीघ्रं **गच्छति** । अतोऽष्टमे **मासि जातो गर्भः प्राणैर्वियुज्यते** । अनेनौजःस्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति ॥ ओजःस्वरूपं च स्मृत्यन्तरे दर्शितम्—'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धमीषदुष्णं सपीतकम् । ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्नाशमृच्छति ॥' इति ॥ ८२ ॥

आठवें महीने में ओज (कोई गुण-विशेष) कभी तो माता के पास और कभी गर्भ के पास शीघ्रता से भागता है, इसलिये आठवें महीने में उत्पन्न गर्भ प्राणों से वियुक्त हो जाता है अर्थात् मर जाता है ॥८२ ॥

टिप्पणी– ओज को ही जीवन का हेतु दर्शाया गया है। ओज का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है–

'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धमीषदुष्णं सपीतकम् ।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्नाशमृच्छति' ॥

नवमे दशमे चापि प्रबलैः सूतिमारुतैः ।
निःसार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्वरः ॥ ८३ ॥

किंच, एवं करचरणचक्षुरादिपरिपूर्णाङ्गेन्द्रियो **नवमे दशमे वापि** मासे 'अपि'शब्दात्प्राक् सप्तमेऽष्टमे वा अल्पायासादिदोषवत्प्रबलसूतिहेतुप्रभञ्जनप्रेरितस्नाय्वस्थिचर्मादिनिर्मितवपुर्यन्त्रस्य **छिद्रेण** सूक्ष्मसुषिरेण **सज्वरो**

दुःसहदुःखाभिभूयमानो **निःसार्यते** धनुर्यन्त्रेण सुधन्वप्रेरितो **बाण इव**ातिवेगेन निर्गमसमनन्तरं च बाह्यपवनस्पृष्टो नष्टप्राचीनस्मृतिर्भवति । 'जातः स वायुना स्पृष्टो न स्मरति पूर्वं जन्म मरणं कर्म च शुभाशुभम्' इति निरुक्तस्याष्टादशेऽभिधानात् ॥ ८३ ॥

नवें या दसवें महीने में प्रबल प्रसूति वायुओं (प्रसव कराने वाली वायुओं) से गर्भ से ज्वर सहित बालक उसी प्रकार बाहर निकाला जाता है जैसे धनुष रूपी यन्त्र से बाण निकाला जाता है ॥८३ ॥

कायस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

तस्य षोढा शरीराणि षट् त्वचो धारयन्ति च ।
षडङ्गानि तथाऽस्थ्नां च सह षष्ट्या शतत्रयम् ॥ ८४ ॥

तस्यात्मनो यानि जरायुजाण्डजशरीराणि तानि प्रत्येकं **षट्प्रकाराणि** रक्तादिषड्धातुपरिपाकहेतुभूतषडग्निस्थानयोगित्वेन; तथा हि—अन्नरसो जाठराग्निना पच्यमानो रक्ततां प्रतिपद्यते । रक्तं च स्वकोशस्थेनाग्निना पच्यमानं मांसत्वम् । मांसं च स्वकोशानलपरिपक्वं मेदस्त्वम्, मेदोऽपि स्वकोशवह्निना पक्वमस्थिताम्, अस्थ्यपि स्वकोशशिखिपरिपक्वं मज्जात्वम्, मज्जापि स्वकोशपावकपरिपच्यमानश्चरमधातुतया परिणमते । चरमधातोस्तु परिणतिर्नास्तीति स एवात्मनः प्रथमः कोशः । इत्येवं षट्कोशाग्नियोगित्वात् षट्प्रकारत्वं शरीराणाम् । अन्नरसरूपस्य तु प्रथमधातोरनियतत्वान्न तेन प्रकारान्तरत्वम् । तानि च **शरीराणि षट् त्वचो धारयन्ति** रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राख्याः षड् धातव एव रम्भास्तम्भत्वगिव बाह्याभ्यन्तररूपेण स्थिताः त्वगिवाच्छादकत्वात्त्वचस्ताः षट् त्वचो धारयन्ति । तदिदमायुर्वेदप्रसिद्धम् । **तथाङ्गानि च षडेव** करयुग्मं चरणयुगलमुत्तमाङ्गं गात्रमिति । **अस्थ्नां तु षष्टिसहितं शतत्रयम्**उपरितनषट्श्लोक्या वक्ष्यमाणमवगन्तव्यम् ॥ ८४ ॥

इस आत्मा के (रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन छः धातुओं के परिपाक के हेतुभूत छः अग्निस्थान के संयोग से) छः प्रकार के शरीर होते हैं, जो छः प्रकार की त्वचाओं, छः अंगों तथा तीन सौ साठ हड्डियों को धारण करते हैं ॥८४ ॥

स्थालैः सह चतुःषष्टिर्दन्ता वै विंशतिर्नखाः ।
पाणिपादशलाकाश्च तेषां स्थानचतुष्टयम् ॥ ८५ ॥

किंच, **स्थालानि** दन्तमूलप्रदेशस्थान्यस्थीनि द्वात्रिंशत्, **तैः सह** द्वात्रिंशद्दन्ताश्चतुःषष्टिर्भवन्ति । **नखाः** करचरणरुहा **विंशतिः**, **हस्तपादस्थानि शलाकाकाराण्यस्थीनि** मणिबन्धस्योपरिवर्तीनि अङ्गुलिमूलस्थानि विंशतिरेव । **तेषां** नखानां शलाकास्थ्नां च **स्थानचतुष्टयं** द्वौ चरणौ करौ चेत्येवमस्थ्नां चतुरुत्तरं शतम् ॥ ८५ ॥

स्थाल (दन्त के मूल में अवस्थित बत्तीस अस्थियों) सहित (बत्तीस दाँतों को लेकर) चौसठ अस्थियाँ दाँतों की, बीस नाखून, हाथों और पैरों की, बीस शलाका जैसी अस्थियाँ और उनके चार स्थान (हाथ और पैर) (इस प्रकार अस्थियों की संख्या एक सौ चार हुई) ॥८५ ॥

षष्ट्यङ्गुलीनां द्वे पार्ष्ण्योर्गुल्फेषु च चतुष्टयम् ।
चत्वार्यरत्निकास्थीनि जङ्घयोस्तावदेव तु ॥ ८६ ॥

किंच, विंशतिरङ्गुलयस्तासां एकैकस्यास्त्रीणि त्रीणीत्येवमङ्गुलिसंबद्धान्यस्थीनि **षष्टिर्भवन्ति** । पादयोः पश्चिमौ भागौ **पार्ष्णी**, तयोरस्थीनि **द्वे** एकैकस्मिन्पादे **गुल्फौ** द्वावित्येवं चतुर्षु गुल्फेषु **चत्वार्यस्थीनि**, वाह्वोररत्निप्रमाणानि चत्वार्यस्थीनि, **जङ्घयोस्तावदेव** चत्वार्येवेत्येवं चतुःसप्ततिः ॥ ८६ ॥

साठ अङ्गुलियों की, दो एड़ी की, (पैरों के) चारों गुल्फों की चार, दोनों बाँहों की अरत्नि के चार और दोनों जाँघों की चार (इस प्रकार चौहत्तर अस्थियाँ हैं) ॥८६ ॥

द्वे द्वे जानुकपोलोरुफलकांससमुद्भवे ।
अक्षतालूषके श्रोणीफलके च विनिर्दिशेत् ॥ ८७ ॥

किंच, जङ्घोरुसन्धिर्**जानुः**, **कपोलो** गल्लः, **ऊरुः** सक्थि तत्**फलकं**, **अंसो** भुजशिरः, **अक्षः** कर्णनेत्रयोर्मध्ये शङ्खादधोभागः, **तालूषकं** काकुदं, **श्रोणी** ककुद्मती तत्**फलकं**, तेषामेकैकत्रास्थीनि **द्वे द्वे विनिर्दिशेत्**; इत्येवं चतुर्दशास्थीनि भवन्ति ॥ ८७ ॥

घुटने, कपोलों, ऊरुफलक, कन्धा, अक्ष (कान और आँख के मध्य का भाग), तालूषक और श्रोणीफलक में प्रत्येक में दो-दो (इस प्रकार चौदह अस्थियाँ हैं) ॥८७ ॥

भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
ग्रीवा पञ्चदशास्थिः स्याज्जत्र्वेकैकं तथा हनुः ॥ ८८ ॥

किंच, **गुह्यास्थ्येकं पृष्ठे** पश्चिमभागे **पञ्चचत्वारिंशद**स्थीनि भवन्ति । **ग्रीवा** कंधरा, सा **पञ्चदशास्थिः स्यात्** भवेत् । वक्षोंसयोः सन्धिर्जत्रु, प्रतिजत्र्वस्थि **एकैकम्**, **हनु**श्चिबुकम्, तत्राप्येक**मस्थी**त्येव चतुःषष्टिः ॥८८॥

भग में एक अस्थि, पीठ में पैंतालिस, गर्दन में पन्द्रह, दोनों जत्रु (छाती और कन्धे के जोड़) में एक तथा चिबुक में एक अस्थि (इस प्रकार चौसठ अस्थियाँ हैं) ॥८८ ॥

तन्मूले द्वे ललाटाक्षिगण्डे नासा घनास्थिका ।
पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धमर्बुदैश्च द्विसप्ततिः ॥ ८९ ॥

किंच, **तस्य हनोर्मूले**ऽस्थिनी **द्वे**, **ललाटं** भालं **अक्षि** चक्षुः, गण्डः

कपोलाक्षयोर्मध्यप्रदेशः, तेषां समाहारो ललाटाक्षिगण्डं, तत्र प्रत्येकमस्थियुगलम् । **नासा घनसंज्ञकास्थिमती** । **पार्श्वकाः** कक्षाधःप्रदेशसंबद्धान्यस्थीनि तदाधारभूतानि स्थालकानि, तैः **स्थालकैः अर्बुदैश्चा**स्थिविशेषैः **सह पार्श्वका द्विसप्ततिः** । पूर्वोक्तैश्च नवभिः सार्धमेकाशीतिर्भवति ॥ ८९ ॥

हनु (चिबुक) के मूल में दो अस्थियाँ, ललाट, आँख और गण्ड (आँख और कपोल के बीच का भाग) में भी प्रत्येक में दो-दो अस्थियाँ, नाक में एक घन नाम की अस्थि, पार्श्व और उनके आधारभूत स्थालक में अर्बुद नामक अस्थियाँ बहत्तर हैं (इस प्रकार पूर्व की नव और पार्श्व तथा स्थालक की बहत्तर अस्थियाँ मिलकर इक्यासी हैं) ॥८९ ॥

द्वौ शङ्खौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा ।
उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ॥ ९० ॥

किंच, भ्रूकर्णयोर्मध्यप्रदेशावस्थिविशेषौ **शङ्खौ, शिरसः** संबन्धीनि **चत्वारि** [1]**कपालानि । उरो** वक्षः, तत्**सप्तदशास्थि**कमित्येवं त्रयोविंशतिः । पूर्वोक्तैश्च सह षष्ट्यधिकं शतत्रयमित्येवं **पुरुषस्यास्थिसंग्रहः** कथितः ॥९०॥

भौंहें और कान के बीच (शङ्खक) की दो अस्थियाँ, शिर के कपाल की चार और वक्षप्रदेश की सत्रह अस्थियाँ हैं (इस प्रकार ये तेइस अस्थियाँ हुईं और पूर्व में गिनाई गई अस्थियों सहित कुल अस्थियों की संख्या तीन सौ साठ हुई)। यह पुरुष का अस्थिसंग्रह है ॥९० ॥

सविषयाणि ज्ञानेन्द्रियाण्याह—

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दाश्च विषयाः स्मृताः ।
नासिका लोचने जिह्वा त्वक्-श्रोत्रं चेन्द्रियाणि च ॥९१॥

एते **गन्धादयो विषयाः** पुरुषस्य बन्धनहेतवः; 'विषय'शब्दस्य 'षिञ् बन्धने' इत्यस्य धातोर्व्युत्पन्नत्वात् । **एतैश्च** गन्धादिभिर्बोध्यत्वेन व्यवस्थितैः स्वस्वगोचरसंवित्साधनतयानुमेयानि **घ्राणादीनि पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति** ९१

गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियों के विषय हैं तथा नाक, दोनों नेत्र, जिह्वा, त्वचा और दोनों कान ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ॥९१ ॥

कर्मेन्द्रियाणि दर्शयितुमाह—

हस्तौ पायुरुपस्थं च जिह्वा पादौ च पञ्च वै[2] **।**
कर्मेन्द्रियाणि [3]**जानीयान्मनश्चैवोभयात्मकम् ॥ ९२ ॥**

हस्तौ प्रसिद्धौ, **पायुर्गुदं**, **उपस्थं** रतिसंपाद्यसुखसाधनं, **जिह्वा** प्रसिद्धा, **पादौ** च, एतानि हस्तादीनि **पञ्च कर्मेन्द्रियाणि** आदाननिर्हारानन्दव्याहारविहारादिकर्मसाधनानि **जानीयात्** । **मनो**ऽन्तःकरणं युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिगम्यं तच्च बुद्धिकर्मेन्द्रियसहकारितयोभयात्मकम् ॥ ९२ ॥

हाथ, गुदा, उपस्थ (रति का सुखसाधन), जिह्वा और पैर— ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन उभयात्मक है अर्थात् ज्ञानेद्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों हैं ॥९२ ॥

प्राणायतनानि दर्शयितुमाह—

नाभिरोजो गुदं शुक्रं शोणितं शङ्खकौ तथा ।
मूर्धांसकण्ठहृदयं प्राणस्यायतनानि तु ॥ ९३ ॥

नाभिप्रभृतीनि दश प्राणस्य स्थानानि । समाननाम्नः पवनस्य सकलाङ्गसंचारित्वेऽपि नाभ्यादिस्थानविशेषवाचोक्तिः प्राचुर्याभिप्राया ॥ ९३ ॥

नाभि, ओज, गुदा, शुक्र, रक्त दोनों शंखक (भौंह और कान के बीच के स्थान), मूर्धा, कन्धा, कण्ठ और हृदय— ये दश प्राण के (विशेष रूप से) स्थान हैं ॥९३ ॥

प्राणायतनानि प्रपञ्चयितुमाह—

वपा वसावहननं नाभिः क्लोम[1] यकृत्प्लिहा ।
क्षुद्रान्त्रं वृक्कौ[2] वस्तिः पुरीषाधानमेव च ॥ ९४ ॥
आमाशयोऽथ हृदयं स्थूलान्त्रं गुद एव च ।
उदरं च गुदौ कोष्ठ्यौ[3] विस्तारोऽयमुदाहृतः ॥ ९५ ॥

वपा प्रसिद्धा, **वसा** मांसस्नेहः, **अवहननं** फुप्फुसः, **नाभिः** प्रसिद्धा, **प्लीहा** आयुर्वेदप्रसिद्धा, तौ च मांसपिण्डाकारौ स्तः सव्यकुक्षिगतौ ॥ **यकृत्** कालिका, **क्लोम**[1] मांसपिण्डस्तौ च दक्षिणकुक्षिगतौ, **क्षुद्रान्त्रं** हृत्स्थान्त्रम्, **वृक्कौ** हृदयसमीपस्थौ मांसपिण्डौ, **वस्तिर्मूत्राशयः**, **पुरीषाधानं** पुरीषाशयः, **आमाशयो**ऽपक्वान्नस्थानम्, **हृदयं** हृत्पुण्डरीकम्, **स्थूलान्त्रगुदोदराणि** प्रसिद्धानि, बाह्याद्गुदवलयादन्तर्गुदवलये द्वे, तौ च **गुदौ कोष्ठ्यौ** कोष्ठे नाभेरधःप्रदेशे भवौ । **अयं च** प्राणायतनस्य **विस्तार उक्तः** । पूर्वश्लोके तु संक्षेपः । अत एव पूर्वश्लोकोक्तानां केषांचिदिह पाठः ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

वपा, वसा, अवहनन (फुप्फुस), नाभि, क्लोम (दाहिनी कोख में मांसपिण्ड), यकृत, प्लीहा, क्षुद्रान्त्र (हृदयस्थ अन्त्र), दोनों वृक्क (हृदयसमीपस्थ दो मांस पिण्ड), वस्ति (मूत्राशय), मलाशय, आमाशय, हृदय, बड़ी आँत, गुदा, उदर, गुदा के दोनों कोष्ठ— यह (प्राणायतन) का विस्तार हैं ॥९४-९५ ॥

पुनः प्राणायतनप्रपञ्चार्थमाह—

कनीनिके चाक्षिकूटे शष्कुली कर्णपत्रकौ ।
कर्णौ शङ्खौ भ्रुवौ दन्तवेष्टावोष्ठौ ककुन्दरे ॥ ९६ ॥
वङ्क्षणौ वृषणौ वृक्कौ श्लेष्मसंघातजौ स्तनौ ।
उपजिह्वास्फिजौ बाहू जङ्घोरुषु च पिण्डिका ॥ ९७ ॥
तालूदरं वस्तिशीर्षं चिबुके गलशुण्डिके ।
अवटश्चैवमेतानि स्थानान्यत्र शरीरके ॥ ९८ ॥
अक्षिकर्णचतुष्कं च पद्धस्तहृदयानि च ।
नव च्छिद्राणि तान्येव प्राणस्यायतनानि तु ॥ ९९ ॥

कनीनिके अक्षितारके, **अक्षिकूटे** अक्षिनासिकयोः सन्धी, **शष्कुली** कर्णशष्कुली, **कर्णपत्रकौ** कर्णपाल्यौ, **कर्णौ** प्रसिद्धौ, **दन्तवेष्टौ** दन्तपाल्यौ, **ओष्ठौ** प्रसिद्धौ, **ककुन्दरे** जघनकूपकौ, **वङ्क्षणौ** जघनोरुसंधी, **वृक्कौ** पूर्वोक्तौ, **स्तनौ च श्लेष्मसंघातजौ**, **उपजिह्वा** घण्टिका, **स्फिजौ** कटिप्रोथौ, **बाहू** प्रसिद्धौ, **जङ्घोरुषु च पिण्डिका** जङ्घयोरूर्वोश्च पिण्डिका मांसलप्रदेशः, **गलशुण्डिके** हनुमूलगल्लयोः सन्धी, **शीर्षं** शिरः, **अवटः** शरीरे यः कश्चन निम्नो देशः कण्ठमूलकक्षादिः 'अवटुः' इति पाठे कृकाटिका; **तथाक्ष्णोः** कनीनिकयोः

प्रत्येकं श्वेतं पार्श्वद्वयमिति वर्णचतुष्टयम् । यद्वा **अक्षिपुटचतुष्टयम्** । शेषं प्रसिद्धम् । एवमेतानि कुत्सिते शरीरे स्थानानि । तथाक्षियुगुलं कर्णयुग्मं—नासाविवरद्वयमास्यं पायुरुपस्थमित्येतानि पूर्वोक्तानि **नव च्छिद्राणि च प्राणस्यायतनान्येव** ॥ ९६–९९ ॥

आँख की पुतलियाँ, अक्षिकूट (आँख एवं नांक की सन्धि), शष्कुली (कानों का भीतरी भाग), दोनों कर्णपत्र, दोनों कान, दोनों शङ्खक, दोनों भौहें, दोनों मसूड़े (दन्तवेष्ट), ककुन्दर (जघन के दोनों गड्ढे), दोनों वङ्क्षण (जंघा और ऊरु के दोनों जोड़), दोनों वृषण (अण्डकोष), दोनों वृक्क, श्लेष्म-समूह से बने दोनों स्तन, उपजिह्वा (घण्टिका), दो स्फिक् (कटि का पृष्ठभाग), बाँहें, जांघों की पिण्डिका, तालु, उदर, वस्तिशीर्ष, दोनों चिबुक, गलशुण्डिका (ठुढ्ढी और गले का जोड़), शिर, शरीर के निम्न प्रदेश, कर्ण, पैर, हाथ और हृदय तथा नव छिद्र (दो आँख, दो कान, दो नाक के छिद्र, मुख गुदा और उपस्थ)— ये सभी प्राण के स्थान हैं ॥९६-९९ ॥

शिराः शतानि सप्तैव नव स्नायुशतानि च ।
धमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशीशतानि च ॥ १०० ॥

किंच, **शिरा** नाभिसंबद्धाश्चत्वारिंशत्संख्या वातपित्तश्लेष्मवाहिन्यः सकलकलेवरव्यापिन्यो नानाशाखाः सत्यः **सप्तशतसंख्या** भवन्ति । तथाङ्गप्रत्यङ्गसंधिबन्धनाः **स्नायवो नवशतानि** । **धमन्यो** नाम नाभेरुद्भूताश्चतुर्विंशतिसंख्याः प्राणादिवायुवाहिन्यः शाखाभेदेन **द्विशतं भवन्ति** । **पेश्यः** पुनर्मांसलाकारा ऊरुपिण्डकाद्यङ्गप्रत्यङ्गसंधिन्यः **पञ्चशतानि भवन्ति** ॥ १०० ।

(नाभिप्रदेश में व्यापिनी वात, पित्त, श्लेष्मवाहिनी चालिस) शिरायें (नाना शाखा-प्रशाखाओं सहित) सात सौ हैं, (अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सन्धि-बन्धन करने वाली) स्नायुयें नव सौ हैं। धमनियाँ दो सौ हैं तथा पेशियाँ पाँच सौ हैं ॥१०० ॥

पुनश्चासामेव शिरादीनां शाखाप्राचुर्येण संख्यान्तरमाह—

एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च ।
षट् पञ्चाशच्च जानीत शिरा धमनिसंज्ञिताः ॥ १०१ ॥

शिराधमन्यो मिलिताः शाखोपशाखाभेदेन **एकोनत्रिंशल्लक्षाणि** तथा **नवशतानि षट्पञ्चाशच्च** भवन्तीत्येवं हे सामश्रवःप्रभृतयः मुनयः! **जानीत** ॥ १०१ ॥

(हे मुनियो !) शिरा और धमनियाँ मिलाकर (शाखा-प्रशाखा सहित) उन्नीस लाख नव सौ छप्पन हैं– ऐसा जानिये ॥१०१ ॥

त्रयो लक्षास्तु विज्ञेयाः श्मश्रुकेशाः शरीरिणाम् ।
सप्तोत्तरं मर्मशतं द्वे च संधिशते तथा ॥ १०२ ॥

किंच, **शरीरिणां श्मश्रूणि केशाश्च** मिलिताः सन्तस्त्रयो **लक्षा विज्ञेयाः** । **मर्माणि** मरणकराणि क्लेशकराणि च स्थानानि तेषां **सप्तोत्तरं शतं** विज्ञेयम्। अस्थ्नां तु **द्वे सन्धिशते** स्नायुशिरादिसन्धयः पुनरनन्ताः॥ १०२॥

शरीरधारियों के दाढी-मूँछों तथा केशों की कुल संख्या तीन लाख हैं। एक सौ सात मर्मस्थान हैं तथा संधियाँ (जोड़) दो सौ हैं ॥१०२ ॥

सकलशरीरसुषिरादिसंख्यामाह—

रोम्णां कोट्यस्तु पञ्चाशच्चतस्रः कोट्य एव च ।
सप्तषष्टिस्तथा लक्षाः सार्धाः स्वेदायनैः सह ॥ १०३ ॥
वायवीयैर्विगण्यन्ते विभक्ताः परमाणवः ।
यद्यप्येकोऽनुवेर्येषां भावनां चैव संस्थितिम् ॥ १०४ ॥

पूर्वोदितशिराकेशादिसहितानां **रोम्णां** परमाणवः सूक्ष्मसूक्ष्मतररूपा भागाः स्वेदस्रवणसुषिरैः सह **चतुःपञ्चाशत्कोट्यः** तथा **सप्तोत्तरषष्टिलक्षाः सार्धाः** पञ्चाशत्सहस्रसहिताः **वायवीयैर्विभक्ताः** पवनपरमाणुभिः पृथक्कृता

विगण्यन्ते। एतच्च शास्त्रदृष्ट्याभिहितम्। चक्षुरादिकरणपथगोचरत्वाभावादस्यार्थस्य। इममतिगहनमर्थं शिरादिभावसंस्थानरूपं हे मुनयः! भवतां मध्ये यः कश्चिदनुवेत्ति सोऽपि महान् अग्र्यो बुद्धिमताम्। अतो यत्नतो बुद्धिमता बोद्धव्या भावसंस्थितिः ॥

स्वेदायनों (पसीना निकलने के छिद्रों) सहित रोओं को मिलाकर चौवन करोड़ सड़सठ लाख पचास हजार रोएँ हैं। इनकी गणना वायु के परमाणुओं द्वारा पृथक्-पृथक् करने पर होती है। (यह शास्त्र-दृष्टि से कहा गया है, क्योंकि यह विषय आँख आदि इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता)। यदि आप में से कोई इसे जानता है तो वह महान् है। अतः यत्नपूर्वक इसका विचार और स्थिति जाननी चाहिये ॥१०३-१०४॥

शारीररसादिपरिमाणमाह—

रसस्य नव विज्ञेया जलस्याञ्जलयो दश।
सप्तैव तु पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ १०५ ॥
षट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं तु चत्वारो मूत्रमेव च।
वसा त्रयो द्वौ तु मेदो [१]मज्जैकोर्ध्वं तु मस्तके ॥ १०६ ॥
श्लेष्मौजसस्तावदेव रेतसस्तावदेव तु[२]।
इत्येतदस्थिरं वर्ष्म यस्य मोक्षाय कृत्यसौ ॥ १०७ ॥

सम्यक्परिणताहारस्य सारो रसस्तस्य परिमाणं नवाञ्जलयः। पार्थिवपरमाणुसंश्लेषनिमित्तस्य जलस्याञ्जलयो दश विज्ञेयाः। पुरीषस्य वर्चस्कस्य सप्तैव। रक्तस्य जाठरानलपरिपाकापादितलौहित्यस्यान्नरसस्याष्टावञ्जलयः प्रकीर्तिताः। श्लेष्मणः कफस्य षडञ्जलयः। पित्तस्य तेजसः पञ्च। मूत्रस्योच्चारणस्य चत्वारः। वसाया मांसस्नेहस्य त्रयः। मेदसो मांसरसस्य द्वावञ्जली। मज्जा त्वस्थिगतसुषिरगतस्तस्यैकोऽञ्जलिः। मस्तके पुनरर्धाञ्जलिः मज्जा श्लेष्मौजसः श्लेष्मसारस्य। तथा रेतसश्चरमधातोस्तावदेवार्धाञ्जलिरेव। एतच्च समधातुपुरुषाभिप्रायेणोक्तम्। विषमधातोस्तु न नियमः; 'वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च। दोषधातुमलानां च परिमाणं न विद्यते ॥' इत्यायुर्वेदस्मरणात्। इतीदृशमस्थिस्नाय्वाद्यारब्धमेतदशुचिनिधानं वर्ष्मास्थिरमिति यस्य बुद्धिरसौ कृती पण्डितो मोक्षाय समर्थो भवति। वैराग्यनित्यानित्यविवेकयोर्मोक्षोपायत्वात्, अस्थिमूत्रपुरीषादिप्राचुर्यज्ञानस्य वैराग्यहेतुत्वात्। अत एव व्यासः—'सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः। शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥ यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत्। दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥' इति। तस्मादीदृशकुत्सितशरीरस्यात्यन्तिकविनिवृत्त्यर्थमात्मोपासने प्रयतितव्यम् ॥ १०५-१०७ ॥

(शरीर में सम्यक् परिणत आहार का सार रस है, उस रसका (परिमाण) नव अञ्जलि है, जल दश अञ्जलि, मल की सात अञ्जलि और रक्त की आठ अञ्जलि कहा गया है। श्लेष्मा (कफ) छः अञ्जलि, पित्त पाँच अञ्जलि, मूत्र चार अञ्जलि, वसा तीन अञ्जलि, मेद दो अञ्जलि और (अस्थि की) मज्जा एक अञ्जलि होती है और आधी अञ्जलि मज्जा ऊपर मस्तक में होती है जो श्लेष्म का सार होती है और रेतस् का ओज (सार) भी आधी अञ्जलि होती है। इस प्रकार बना यह शरीर अस्थिर है ऐसी जिसकी बुद्धि है वह कृती मोक्ष का अधिकारी है ॥१०५-१०७॥

टिप्पणी– उपर्युक्त परिगणना समधातु वाले पुरुष के लिये की गयी है। विषम धातु वाले पुरुष में यह घटित नहीं होती। इसीलिये आयुर्वेद में कहा गया है–

'वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात् तथैव च।
दोषधातुमलानां च परिमाणं न विद्यते'॥

इस प्रकार अस्थि, स्नायु आदि से परिघटित अपवित्रता का स्थान यह शरीर विनश्वर है– इस प्रकार की बुद्धिवाला मनुष्य ही मोक्ष के लिये समर्थ है।

उपासनीयात्मस्वरूपमाह—

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः ।
हिँताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥१०८॥
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः ।
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु ॥ १०९ ॥

हृदयप्रदेशादभिनिःसृताः कदम्बकुसुमकेसरवत्सर्वतो निर्गता हिताहितकरत्वेन **हिताहितेतिसंज्ञा द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यो भवन्ति ।** अपरास्तिस्रो नाड्यस्तासामिडापिङ्गलाख्ये द्वे नाड्यौ सव्यदक्षिणपार्श्वगते हृदि विपर्यस्ते नासाविवरसंबद्धे प्राणापानायतने । सुषुम्नाख्या पुनस्तृतीया दण्डवन्मध्ये ब्रह्मरन्ध्रविनिर्गता । तासां नाडीनां **मध्ये मण्डलं चन्द्रप्रभं तस्मिन्नात्मा निर्वातस्थदीप इवाचलः** प्रकाशमान आस्ते **स** एवंभूतो **ज्ञातव्यः ।** यतस्तत्साक्षात्करणा**दिह** संसारे **न पुनः संसरति** अमृतत्वं प्राप्नोति ॥ १०८–१०९ ॥

हृदय से निकली हुई हित और अहितकारी बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं (और इडा, पिङ्गला तथा सुषुन्ना नाम की तीन नाड़ियाँ हैं)। इन सभी नाड़ियों के बीच चन्द्र की प्रभा के समान प्रकाशित मण्डल है। उसके बीच में दीप के समान प्रकाशित

अचल आत्मा है। उस आत्मा को जानना चाहिये। उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर पुनः मनुष्य इस संसार में जन्म नहीं ग्रहण करता ॥१०८-१०९ ॥

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान् ।
योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ ११० ॥

किंच, चित्तवृत्तेर्विषयान्तरतिरस्कारेणात्मनि स्थैर्यं योगस्तत्प्राप्त्यर्थं बृहदारण्यकाख्यमादित्याद्यन्मया प्राप्तं तच्च ज्ञातव्यम् । तथा यन्मयोक्तं योगशास्त्रं तदपि ज्ञातव्यम् ॥ ११० ॥

योग की इच्छा वाले को जिस आरण्यक (बृहदारण्यक) को मैंने सूर्य से प्राप्त किया है उसे जानना चाहिये तथा मेरे द्वारा बतलाये गये योगशास्त्र को जाना चाहिये ॥११० ॥

कथं पुनरसावात्मा ध्यातव्य इत्यत आह—

अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।
ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥ १११॥

आत्मव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियाणि प्रत्याहृत्य आत्मैकविषयाणि कृत्वा आत्मा ध्येयः । योऽसौ प्रभुर्निर्वातस्थप्रदीपवद्दीप्यमानो निष्प्रकम्पो हृदि तिष्ठति । एतदेव तस्य ध्येयत्वं यच्चित्तवृत्तेर्बहिर्विषयावभासतिरस्कारेणात्मप्रवणतानाम शरावसंपुटनिरुद्धप्रभाप्रतानप्रसरस्येव प्रदीपस्यैकनिष्ठत्वम् ॥ १११ ॥

मन, बुद्धि, स्मृति और इन्द्रियों को (आत्मतत्त्व के अतिरिक्त) अन्य विषयों से हटा कर उस आत्मा का ध्यान करना चाहिये जो हृदय में दीपक के समान स्वामी रूप से स्थित है ॥१११ ॥

यस्य पुनश्चित्तवृत्तिर्निराकारालम्बनतया समाधौ नाभिरमते तेन शब्दब्रह्मोपासनं कार्यमित्याह—

यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम् ।
सावधानस्तदभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ११२ ॥

स्वाध्यायावगतमार्गानतिक्रमेण सामगायं सामगानम् । साम्नो गानात्मकत्वेऽपि गायमिति विशेषणं प्रगीतमन्त्रव्युदासार्थम् । अविच्युतमस्खलितं सावधानः सामध्वन्यनुस्यूतात्मैकाग्रचित्तवृत्तिः पठंस्तदभ्यासवशात् तत्र निष्णातः शब्दाकारशून्योपासनेन परं ब्रह्माधिगच्छति । तदुक्तम्—'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इति ॥ ११२ ॥

(समाधि करने में असमर्थ होने पर) विधिपूर्वक नियमित रूप से एवं सावधान होकर सामगान का पाठ करने वाला एवं उसके अभ्यास में तत्पर रहने वाला ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥११२ ॥

यस्य पुनर्वैदिक्यां गीतौ चित्तं नाभिरमते तेन लौकिकगीतानुस्मृतात्मोपासनं कार्यमित्याह—

अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीं तथा ।
औवेणकं सरोबिन्दुमुत्तरं गीतकानि च ॥ ११३ ॥
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।
गेयमेतत्तदभ्यासकरणान्मोक्षसंज्ञितम् ॥ ११४ ॥

अपरान्तकोल्लोप्यमद्रकप्रकर्यौवेणकानि सरोविन्दुसहितं **चोत्तर**मित्येतानि प्रकरणाख्यानि सप्त **गीतकानि** । 'च'शब्दादासारितवर्धमानकादिमहागीतानि गृह्यन्ते । **ऋग्गाथा**द्याश्चतस्रो **गीतिका** इत्येतदपरान्तकादिगीतजातमध्यारोपितात्मभावं मोक्षसाधनत्वान्**मोक्षसंज्ञितं मन्तव्यम्** । तदभ्यासस्यैकाग्रतापादनद्वारेणात्मैकातापत्तिकारणत्वात् ॥ ११३–११४ ॥

(वैदिक सामगान में चित्त एकाग्र न होने पर लौकिक गीतों के अनुस्मरण से भी आत्मोपासन को विहित करते हुये कहते हैं–) अपरान्तक, उल्लोप्य, मद्रक, प्रकरी, औवेणक तथा सरोविन्दु सहित उत्तरगीतों से (इन सात गीतों का) ऋग्गाथा, पाणिका, दक्षविहिता और ब्रह्मगीतिका (इन चार गीतिकाओं) का गान करे। इसके अभ्यास को मोक्ष का साधन बतलाया गया है ॥११३-११४ ॥

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥ ११५ ॥

किंच, भरतादिमुनिप्रतिपादितवीणावादनतत्त्ववेदी । श्रूयत इति **श्रुतिः** द्वाविंशतिविधा सप्तस्वरेषु । तथा हि—षड्जमध्यमपञ्चमाः प्रत्येकं चतुःश्रुतयः ऋषभधैवतौ प्रत्येकं त्रिश्रुती गान्धारनिषादौ प्रत्येकं द्विश्रुती इति । **जातयस्तु** षड्जादयः सप्त शुद्धाः संकरजातयस्त्वेकादशेत्येवमष्टादशविधास्तासु **विशारदः** प्रवीणः । **ताल** इति गीतपरिमाणं कथ्यते । **तत्स्वरूपज्ञश्च** तदनुविद्धब्रह्मोपासनतया तालादिभङ्गभयाच्चित्तवृत्तेरात्मैकाग्रतायाः सुकरत्वादल्पायासेनैव मुक्तिपथं नियच्छति प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

(भरतादि मुनि से प्रतिपादित) वीणा-वादन का तत्त्वज्ञ, श्रुति (सप्तस्वरों में बाइस प्रकार की) तथा जाति (षड्ज आदि सात शुद्ध, ग्यारह संकर मिलकर कुल अट्ठारह) में प्रवीण तथा ताल को जानने वाला भी बिना प्रयास के सरलता से मोक्ष-मार्ग को प्राप्त कर लेता है ॥११५॥

चित्तविक्षेपाद्यन्तरायहतस्य गीतज्ञस्य फलान्तरमाह—

गीतज्ञो यदि योगेन[१०] नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा[११] तेनैव सह मोदते ॥ ११६ ॥

गीतज्ञो यदि कथंचिद्योगेन **परमं पदं नाप्नोति** तर्हि **रुद्रस्य** सचिवो **भूत्वा तेनैव सह मोदते** क्रीडति ॥ ११६ ॥

गीत का जानकार योग द्वारा यदि किसी प्रकार परमपद (मोक्ष) नहीं प्राप्त करता तो रुद्र का अनुचर होकर उन्हीं के साथ क्रीडा करता है ॥११६॥

पूर्वोक्तमुपसंहरति—

अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शरीरकम् ।
आत्मनस्तु[१] जगत्सर्वं जगतश्चात्मसंभवः ॥ ११७ ॥

प्रागुक्तरीत्या **अनादिरात्मा** क्षेत्रज्ञस्तस्य च **शरीर**ग्रहणमेवादिरुद्भवः **कथितः** 'अजः शरीरग्रहणाद्' (प्रा० ६९) इत्यत्र । **परमात्मनश्च** सकाशात्पृथिव्यादिसकलभुवनोद्भवः तस्मादुद्भूताच्च पृथिव्यादिभूतसंघाताज्जीवानां स्थूलशरीरतया संभवश्च कथितः 'सर्गादौ स यथाकाशं' (प्रा० ७०) इत्यादिना ॥ ११७ ॥

अनादि आत्मा (क्षेत्रज्ञ) का शरीर-ग्रहण ही आदि (उद्भव) कहा गया है। आत्मा (परमात्मा) से ही पृथिव्यादि संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है और पृथिव्यादि जगत्प्रपञ्च से आत्मा (स्थूल शरीर में) उत्पन्न होता है ॥११७॥

एतदेव प्रश्नपूर्वकं विवृणोति—

कथमेतद्विमुह्यामः सदेवासुरमानवम् ।
जगदुद्भूतमात्मा च कथं तस्मिन्वदस्व नः ॥ ११८ ॥

यदेतत्सकलसुरासुरमनुजादिसहितं जगदात्मनः सकाशात्कथमुत्पन्नं, **आत्मा च तस्मिन्** जगति **कथं** तिर्यङ्नरसरीसृपादिशरीरभाग्भवतीत्येतस्मिन्नर्थे **विमुह्यामः** । अतो मोहापनुत्त्यर्थमस्माकं विस्तरशो **वदस्व** ॥ ११८ ॥

(याज्ञवल्क्य द्वारा यह सुनाये जाने पर मुनियों ने प्रश्न किया–) देवता, असुर और मनुष्य (आदि) से युक्त संसार आत्मा से कैसे उत्पन्न हुआ और इस जगत्प्रपञ्च से आत्मा किस प्रकार उद्भूत हुआ (शरीर ग्रहण किया) इस विषय में हम मोहित हो रहे हैं अर्थात् इसे समझ नहीं पा रहे हैं, अतः इसे हमें बतलाइये ॥११८ ॥

एवं मुनिभिः पृष्टः प्रत्युत्तरमाह—

मोहजालमपास्येह पुरुषो दृश्यते हि यः।
सहस्रकरपन्नेत्रः सूर्यवर्चाः सहस्रकः ॥ ११९ ॥
स आत्मा चैव यज्ञश्च विश्वरूपः प्रजापतिः।
विराजः सोऽन्नरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति ॥ १२० ॥

इह जगति यदिदं स्थूलकलेवरादावनात्मन्यात्माभिमानरूपं **मोहजालं तदपास्य** तद्व्यतिरिक्तो यः **पुरुषोऽनेककरचरणलोचनः सूर्यवर्चाः** अनन्तरश्मिः सहस्रकः बहुशिरा **दृश्यते**। एतच्च तत्तद्गोचरशक्त्याधारतयोच्यते; तस्य साक्षात्कारादिसंबन्धाभावात्। **स एवात्मा यज्ञः प्रजापतिश्च**। यतोऽसौ **विश्वरूपः** सर्वात्मकः। वैश्वरूप्यमेव कथमिति चेत्। यस्मादसौ **विराजः** पुरोडाशाद्यन्न**रूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति**। यज्ञाच्च वृष्ट्यादिद्वारेण प्रजासृष्टिरित्येवं वैश्वरूप्यम् ॥ ११९-१२० ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा–) इस जगत् में (स्थूल कलेवर आदि अनात्म से आत्मभान का) मोहजाल छोड़कर जो अनेक हाथों, पैरों और नेत्रों वाला, सूर्य के समान प्रकाश वाला, सहस्रशिरों वाला दिखलाई पड़ता है वही आत्मा है, यज्ञ, विश्वरूप, प्रजापति है। वही विराज अन्न रूप से रस बनता है ॥११९-१२० ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

यो द्रव्यदेवतात्यागसंभूतो रस उत्तमः।
देवान्संतर्प्य स रसो यजमानं फलेन च ॥ १२१ ॥
संयोज्य वायुना सोमं नीयते रश्मिभिस्ततः।
ऋग्यजुःसामविहितं सौरं धामोपनीयते ॥ १२२ ॥
स्वमण्डलादसौ सूर्यः सृजत्यमृतमुत्तमम्।
यज्जन्म सर्वभूतानामशनानशनात्मनाम् ॥ १२३ ॥
तस्मादन्नात्पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः।
एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं संपरिवर्तते ॥ १२४ ॥

द्रव्यस्य चरुपुरोडाशादेर्देवतोद्देशेन **त्यागाद्यो रसः** अदृष्टरूपमात्मनः परिणत्यन्तर**मुत्तमः** सकलजगज्जन्मबीजतयोत्कृष्टतमः संभूतः **स देवान्**संप्रदानकारकभूतान्सम्यक्**प्रीणयित्वा यजमानं** चाभिलषितफलेन **संयोज्य पवनेन प्रेर्यमाणश्चन्द्रमण्डलं प्रति नीयते । ततः** शशिमण्डलाद्रश्मि**भिर्भानुमण्डलम्** । सैषा त्रय्येव विद्या तपतीत्यभेदाभिधानात् **ऋग्यजुःसाममयं प्रत्युपनीयते** । ततश्च **खमण्डलादसौ सूर्योऽमृतरसं** वृष्टिरूप**मुत्तमं यत्सकलभूतानामशनानशनात्मनां** चराचराणां जनननिमित्तं **तत्सृजति । तस्माद्**वृष्टिसंपादितौषधिमयात्प्रजोत्पत्तिहेतोरन्नात्**पुनर्यज्ञः**, यज्ञाच्च पूर्वाभिहितभङ्ग्या **पुनरन्नं**, अन्नाच्च **पुनः क्रतुरित्येवमेतदखिलं** संसारचक्रं प्रवाहरूपेणोत्पत्तिविनाशविरहितं **सम्यक्परिवर्तत** इत्यनेन क्रमेणात्मनः सकाशादखिलजगदुत्पत्तिः । तत्र चात्मनः स्वकर्मानुरूपविग्रहपरिग्रहः ॥ १२१–१२४ ॥

द्रव्य (चरु, पुरोडाश आदि) के देवता निमित्त त्याग से जो उत्तम रस (अपनी परिणति के अनन्तर सकल जगत् के जन्म का बीज रूप उत्कृष्टतम अदृष्ट रूप रस) उत्पन्न होता है वह रस देवों को तृप्त कर और अभीष्ट फल से यजमान को संयुक्त कर वायु द्वारा प्रेरित होकर चन्द्रमण्डल में पहुँचता है तथा वहाँ से सूर्यमण्डल में पहुँचता है, जो ऋक्, यजुष् और साममय ही है (त्रयीमय है)। वह सूर्य अपने मण्डल से उत्तम अमृत की वृष्टि करता है, जो संपूर्ण चर और अचर भूतों के जन्म का कारण होता है। उस वृष्टि से उत्पन्न अन्न द्वारा पुनः यज्ञ होता है, पुनः अन्न होता है और पुनः यज्ञ होता है और इस प्रकार यह अनादि और अनन्त चक्र परिवर्तन होता रहता है ॥१२१-१२४ ॥

ननु यद्यात्मनः संसरणमनाद्यन्तं तर्ह्यनिर्मुक्तिप्रसङ्ग इत्यत आह—

अनादिरात्मा संभूतिर्विद्यते नान्तरात्मनः ।
समवायी तु पुरुषो मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ १२५ ॥

यद्यप्यात्मनो**ऽनादित्वात्संभूतिर्न विद्यते अन्तरात्मनः** शरीरव्यापिनः तथापि **पुरुषः** शरीरेण **समवायी भवति** भोगायतने सुखदुःखात्मकं भोग्यजातमुपभुङ्क्ते इत्येवं भूतेन संबन्धेन संबन्धी भवत्येव । स च समवायो **मोहेच्छाद्वेषजनितकर्मनिर्मेयो** नतु निसर्गजातः । तस्य कार्यत्वेन विनाशोपपत्तेर्न निर्मुक्तिः ॥ १२५ ॥

यद्यपि आत्मा के अनादि होने से (शरीरव्यापी) अन्तरात्मा की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु पुरुष (शरीरस्थ आत्मा) शरीर से समवायी होता है (और योगायतन शरीर में सुख-दुःखात्मक भोग्यजात को भोगता है और इस संबन्ध से संबन्धी होता है)। यह समवाय मोह, इच्छा और द्वेष जनित कर्मों से उत्पन्न होता है (नैसर्गिक नहीं होता) ॥१२५ ॥

आत्मनो जगज्जन्मेत्युक्तं तत्प्रपञ्चयितुमाह—

सहस्रात्मा मया यो व आदिदेव उदाहृतः ।
मुखबाहूरुपज्जाः स्युस्तस्य वर्णा यथाक्रमम् ॥ १२६ ॥

पृथिवी पादतस्तस्य शिरसो द्यौरजायत ।
नस्तः प्राणा दिशः श्रोत्रात्स्पर्शाद्वायुर्मुखाच्छिखी ॥१२७॥
मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकरः ।
जघनादन्तरिक्षं च जगच्च सचराचरम् ॥ १२८ ॥

योऽसौ सकलजीवात्मकतया प्रपञ्चात्मकतया च सहस्रात्मा वहुरूपस्तथा सकलजगद्धेतुतया आदिदेवो मया युष्माकमुदाहृतः तस्य वदनभुजसक्थिचरणजाता यथाक्रममग्रजन्मादयश्चत्वारो वर्णाः । तथा तस्य **पादाद्भूमिः, मस्तकात्सुरसद्म, घ्राणात्प्राणाः कर्णात्ककुभः स्पर्शात्पवनः, वदनाद्धुतवहः, मनसः शशाङ्कः, नेत्राद्भानुः, जघनाद्गगनं, जङ्गमाजङ्गमात्मकं जगच्च** ॥ १२६–१२८ ॥

जिस (समस्त जीवरूप) सहस्रात्मा (अनेक रूप) आदिदेव का मैंने कथन किया है उसके मुख, बाहु, ऊरु और पैरों से चारों वर्ण उत्पन्न हुये। उसके पैरों से पृथ्वी और शिर से द्युलोक उत्पन्न हुआ। नासिका से प्राण, कानों से दिशायें, स्पर्श से वायु, मुख से अग्नि, मन से चन्द्रमा, आँख से सूर्य, जघन से अन्तरिक्ष (आकाश) तथा चराचर जगत् उत्पन्न हुआ ॥१२६-१२८॥

अत्र चोदयन्ति—

यद्येवं स कथं ब्रह्मन्पापयोनिषु जायते ।
ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते ॥ १२९ ॥

हे ब्रह्मन् योगीश्वर! यद्यात्मैव जीवादिभावं भजते तर्हि **कथमसौ पापयोनिषु** मृगपक्ष्यादिषु **जायते?** अथ मोहरागद्वेषादिदोषदुष्टत्वात्तत्र जन्मेत्युच्यते । तच्च न,–यस्मादीश्वरः स्वतन्त्रः **कथमनिष्टैर्मोहरागादिभावैः संयुज्यते?** ॥ १२९ ॥

(मुनियों ने पूछा–) हे ब्रह्मन् (याज्ञवल्क्य)! यदि (आत्मा ही जीवादि भाव स्वीकार करता है) ऐसी बात है तो वह पापयोनियों (मृग, पक्षी आदि) में क्यों जाता है? क्यों वह ईश्वर (स्वतंत्र) होकर (राग-द्वेषादि) अनिष्ट भावनाओं से युक्त होता है? ॥१२९॥

[३]करणैरन्वितस्यापि पूर्वं ज्ञानं कथं च न।
वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम् ॥ १३० ॥

किंच, तथेदमप्यत्र दूषणम् । मनःप्रभृतिज्ञानोपायैः **सहितस्यापि** तस्यात्मनः **पूर्वज्ञानं** जन्मान्तरानुभूतविषयं कस्मान्नोत्पद्यते ? तथा **सर्वप्राणिगतां वेदनां** सुखदुःखादिरूपां स्वयं **सर्वगोऽपि** सर्वदेहगतोऽपि **कस्मान्न वेत्ति** ? तस्मादात्मैवेश्वरो जीवादिभावं भजत इत्ययुक्तम् ॥ १३० ॥

करणों (मन आदि ज्ञानोत्पत्ति के साधनों) से युक्त होने पर भी उस आत्मा को पूर्वज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) क्यों नहीं होता ? सर्वगामी (सभी प्राणियों में व्याप्त) होने पर भी सभी प्राणियों की सुख-दुःखात्मक वेदना को वह क्यों नहीं जानता ? ॥१३० ॥

तत्र पूर्वचोद्यस्योत्तरमाह—

अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवं योनिशतेषु च ॥ १३१ ॥

यद्यपीश्वरः स्वरूपेण सत्यज्ञानानन्दलक्षणः तथाप्यविद्यासमावेशवशान्मोहरागादिभावैरभिभूयमानो नानाहीनयोनिजननसाधनं मानसादित्रिविधं कर्मनिचयमाचरति । तेन चान्त्यादिहीनयोनितामापद्यते । **अन्त्याश्चण्डाला**दयः, **पक्षिणः** काकादयः, **स्थावरा** वृक्षादयः तेषां भावोऽन्त्यपक्षिस्थावरता तां यथाक्रमेण **मनोवाक्कायारब्धकर्मदोषैर्जन्मसहस्रेष्वयं जीवः प्राप्नोति** ॥ १३१ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा—) यह जीव (सत्य, ज्ञान, आनन्दरूप होते हुये भी), मन, वाणी और शरीर से किये गये कर्मों से उत्पन्न दोषों के कारण चाण्डालादि अन्त्य जातियों, (काकादि) पक्षियों एवं (वृक्षादि) स्थावरों में सैकड़ों योनियों में जन्म ग्रहण करता है ॥१३१ ॥

[१]अनन्ताश्च यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम् ।
रूपाण्यपि तथैवेह सर्वयोनिषु देहिनाम् ॥ १३२ ॥

किंच, **शरीरिणां** जीवानां **शरीरेषु भावा** अभिप्रायविशेषाः सत्त्वाद्युद्रेकतारतम्याद्यथा**ऽनन्तास्तथा** तत्कार्याण्यपि **रूपाणि** कुब्जवामनत्वादीनि **देहिनां सर्वयोनिषु भवन्ति** ॥ १३२ ॥

जीवों के अपने शरीरों में (सत्त्वादि के उद्रेक के तारतम्य से) जैसे अनन्त भाव होते हैं उसी प्रकार (उन भावों के कार्यभूत) जीवों के (कुब्ज, वामनादि) रूप भी होते हैं ॥१३२ ॥

ननु यदि कर्मजन्यानि कुब्जत्वादीनि तर्हि कर्मानन्तरमेव तैर्भवितव्यमित्याशङ्क्याह—

विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते ।
इह[2] वाऽमुत्र वैकेषां भावस्तत्र प्रयोजनम् ॥ १३३ ॥

केषांचिज्ज्योतिष्टोमादि**कर्मणां विपाकः** फलं **प्रेत्य** देहान्तरे **भवति** । **केषांचि**त्कारीर्यादिकर्मणां वृष्ट्यादिफल**मिहैव भवति** । केषांचिच्चित्रादीनां फलं पश्वादिकमिह देहान्तरे वेत्यनियतम् । नह्यनन्तरमेव कर्मफलेन भवितव्यमिति शास्त्रार्थः । अत्र च **कर्मणां** शुभाशुभफलजनकत्वे सत्त्वादि**भाव एव प्रयोजकभूत**स्तदायत्तत्वात्फलतारतम्यस्य ॥ १३३ ॥

कुछ (ज्योतिष्टोम आदि) कर्मों का फल देहान्तर में प्राप्त होता है और कुछ कर्मों का फल इसी लोक में प्राप्त हो जाता है। कुछ का फल इस लोक या परलोक में मिलता है। कर्मों के शुभाशुभ फल उत्पन्न होने के विषय में (सत्त्व आदि) भाव प्रयोजक हैं ॥१३३ ॥

मनोवाक्कायकर्मजैरन्त्यादियोनीः प्राप्नोती[3]त्युक्तं, तत्प्रपञ्चयितुमाह—

परद्रव्याण्यभिध्यायंस्तथानिष्टानि चिन्तयन् ।
वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु ॥ १३४ ॥

परधनानि कथमहमपहरेयमित्याभिमुख्येन **ध्यायंस्तथाऽनिष्टानि** ब्रह्महत्यादीनि हिंसात्मकानि करिष्यामीति **चिन्तयन् वितथे** असत्यभूते वस्तुनि **अभिनिवेशः** पुनः पुनः संकल्पस्तद्वांश्च श्वचण्डालाद्यन्त्ययोनिषु **जायते** ॥ १३४ ॥

परद्रव्यहरण का पुनः-पुनः चिन्तन करने वाला, अनिष्टों (ब्रह्महत्यादि हिंसा कर्मों को) करूँगा— ऐसा सोचने वाला तथा असत्यभूत वस्तु में बार-बार संकल्प करने वाला (चाण्डालादि) अन्त्य योनियों में जन्म ग्रहण करता है ॥१३४ ॥

पुरुषोऽनृतवादी च पिशुनः परुष[4]स्तथा ।
अनिबद्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते ॥ १३५ ॥

किंच, यस्त्वनृतवदनशीलः **पुरुषः पिशुनः** कर्णेजपः **परुषः** परोद्वेगकरभाषी **अनिबद्धप्रलापी** प्रकृतासङ्गतार्थवादी **च** बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वादितारतम्याद्धीनोत्कृष्टेषु **मृगपक्षिषु जायते** ॥ १३५ ॥

असत्य बोलने वाला, पिशुन (चुगलखोर), कठोर वचन कहने वाला, असंयत बोलने वाला मृग तथा पक्षी-योनियों में उत्पन्न होता है ॥१३५ ॥

अदत्तादाननिरतः परदारोपसेवकः ।
हिंसकश्चाविधानेन [1]स्थावरेष्वभिजायते ॥ १३६ ॥

किंच, **अदत्तादाननिरतः** अदत्तपरधनापहारप्रसक्तः **परदारप्रसक्तश्च अविहितमार्गेण** प्राणिनां **घातकश्च** दोषगुरुलघुभावतारतम्यात्तरुलताप्रतानादि**स्थावरेषु जायते** ॥ १३६ ॥

न दी हुई वस्तु के हरण में निरत, परस्त्री का सेवन करने वाला, (बिना नियम के अर्थात् यज्ञीय प्रयोजन के बिना) हिंसा करने वाला स्थावर (वृक्ष-लतादि योनि में दोष की लघुता-गुरुता अनुसार) योनियों में उत्पन्न होता है ॥१३६ ॥

सत्त्वादिगुणपरिपाकमाह—

आत्मज्ञः शौचवान्दान्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ।
[3]धर्मकृद्वेदविद्यावित्सात्त्विको देवयोनिताम् ॥ १३७ ॥

आत्मज्ञो विद्याधनाभिजनाद्यभिमानरहितः, **शौचवान्** बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः, **दान्त** उपशमान्वितः, **तपस्वी** कृच्छ्रादितपोयुक्तः, तथेन्द्रियार्थेष्वप्रसक्तः, नित्यनैमित्तिक**धर्मानुष्ठाननिरतः, वेदार्थवेदी च यः,** सात्त्विकः । **स च** सत्त्वोद्रेकतारतम्य[3]वशादुत्कृष्टोत्कृष्टतर**सुरयोनितां प्राप्नोति** ॥ १३७ ॥

आत्मज्ञानी, पवित्र, उपशमयुक्त, तपस्वी, इन्द्रियजयी, नित्य-नैमित्तिक धर्माचरण करने वाला, वेदविद्या का ज्ञाता तथा सत्त्वगुणसंपन्न (कर्मतारतम्य से उत्कृष्ट-उत्कृष्टतर) देवयोनि को प्राप्त करता है ॥१३७ ॥

असत्कार्यरतोऽधीर आरम्भी विषयी च यः ।
स राजसो मनुष्येषु मृतो जन्माधिगच्छति ॥ १३८ ॥

किंच, **असत्कार्येषु** तूर्यवादित्रनृत्यादिष्व**भिरतो यः** तथा **अधीरो** व्यग्रचित्तः **आरम्भी** सदा कार्याकुलो **विषयेष्वतिप्रसक्तश्च, स रजोगुणयुक्तः ।** तद्गुणतारतम्याद्धीनोत्कृष्ट**मनुष्यजातिषु मरणानन्तर**मुत्पत्तिं **प्राप्नोति** ॥ १३८ ॥

असत्कार्य (वाद्य, गान) में निरत, अधैर्यवान् (व्यग्रचित्त), सदा कार्य व्यग्र, विषयी (विषयों में अत्यन्त निरत) ऐसा रजोगुण से संपन्न व्यक्ति मरने पर मनुष्य योनि में जन्म प्राप्त करता है ॥१३८ ॥

निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा ।
प्रमादवान्भिन्नवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः ॥ १३९ ॥

तथा च, यः पुन**र्निद्राशीलः,** प्राणिपीडाकरो, **लोभयुक्तश्च, तथा**

नास्तिको धर्मादेर्निन्दकः, याचनशीलः, प्रमादवान् कार्याकार्यविवेकशून्यः, विरुद्धाचारश्च; असौ तमोगुणयुक्तस्तत्तारतम्याद्धीनहीनतरपश्वादियोनिषु जायते ॥ १३९ ॥

निद्राशील, क्रूरकर्मा (प्राणियों को पीडा देने वाला), लोभी, नास्तिक, (धर्मादि का निन्दक), माँगने वाला, प्रमादी (कार्याकार्य-विवेकशून्यं) और विरुद्धाचरण करने वाला तमोगुण युक्त तिर्यक् (पशु) योनि में जन्म ग्रहण करता है ॥१३९ ॥

पूर्वोक्तमुपसंहरति—

रजसा तमसा चैवं समाविष्टो भ्रमन्निह ।
भावैरनिष्टैः संयुक्तः संसारं प्रतिपद्यते ॥ १४० ॥

एवमविद्याविद्धोऽयमात्मा रजस्तमोभ्यां सम्यगाविष्ट इह संसारे पर्यटन् नानाविधदुःखप्रदैर्भावैरभिभूतः पुनः पुनः संसारं देहग्रहणं प्राप्नोतीति । ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यत इत्यस्य चोद्यस्यानवकाशः ॥१४०॥

(इस प्रकार अविद्याग्रस्त यह) आत्मा रजोगुण एवं तमोगुण से सम्यक् आविष्ट होकर इस लोक में पर्यटन करता हुआ अनिष्ट (दुःखप्रद) भावों से संयुक्त होकर (पुनः-पुनः) संसार (देहग्रहण) को प्राप्त करता है ॥१४० ॥

यदपि 'करणैरन्वितस्यापि' (प्रा० १३०) इति द्वितीयं चोद्यं तस्योत्तरमाह—

मलिनो हि यथाऽऽदर्शो रूपालोकस्य न क्षमः ।
तथाऽविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥ १४१ ॥

यद्यप्यात्मा अन्तःकरणादिज्ञानसाधनसंपन्नस्तथापि जन्मान्तरानुभूतार्थावबोधे न समर्थः अविपक्वकरणो रागादिमलाक्रान्तचित्तो यस्मात्; यथा दर्पणो मलच्छन्नो रूपज्ञानोत्पादनसमर्थो न भवति ॥ १४१ ॥

(१३०वें श्लोक 'करणैरन्वितस्यापि' का उत्तर देते हैं–) जिस प्रकार मलिन दर्पण रूप को दिखाने में सक्षम नहीं होता उसी प्रकार आत्मा रागादि मलों के दोष से दूषित चित्तवाला होने के कारण आत्मज्ञान (जन्मान्तरानुभूत अर्थों के बोध) में असमर्थ रहता है ॥१४१ ॥

ननु प्राग्भवीयज्ञानस्याप्यात्मप्रकाशत्वात् तस्य च स्वतःसिद्धत्वान्नानुपलम्भो युक्त इत्याशङ्क्याह—

[2]कट्वेर्वारौ यथाऽपक्वे मधुरः सन्रसोऽपि न ।
प्राप्यते ह्यात्मनि तथा नापक्वकरणे ज्ञता ॥ १४२ ॥

अपक्वे कट्वेर्वारौ तिक्तकर्कटिकायां विद्यमानोऽपि मधुरो रसो यथा नोपलभ्यते तथात्मन्यपक्वकरणे विद्यमानापि ज्ञता ज्ञातृता प्राग्भवीयवस्तुगोचरा न प्राप्यते ॥ १४२ ॥

जिस प्रकार तिक्त ककड़ी में अपक्वावस्था में वर्तमान भी मधुर रस नहीं प्राप्त होता उसी प्रकार अपक्वकरण (रागादि से ग्रस्त) आत्मा में वर्तमान भी ज्ञान (का अनुभव) नहीं प्राप्त होता ॥१४२ ॥

'वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम्' (प्रा०१३०) इति यदुक्तं, तत्रोत्तरमाह—

सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम् ।
योगी मुक्तश्च सर्वासां यो न चाप्नोति वेदनाम् ॥१४३॥

यः पुनर्देही देहाभिमानयुक्तः, स सर्वाश्रयामाध्यात्मिकादिरूपां वेदनां स्वकर्मोपार्जित एव देहे प्राप्नोति, न देहान्तरगतां भोगायतनारम्भादृष्टवैलक्षण्यादेव; यस्तु योगी मुक्तो मुक्ताहंकारादिः सकलक्षेत्रज्ञगतानां सुखदुःखादिसंविदां वेदिता भवति परिपक्वकरणत्वात् ॥ १४३ ॥

(देहाभिमान युक्त) शरीर वाला सब प्रकार की (आध्यात्मिकादि) वेदनायें उसी शरीर में प्राप्त करता है। किन्तु जो योगी (अहंकारादि से) मुक्त है वह सभी प्राणियों की सुख-दुःखादि वेदना का ज्ञाता होता है ॥१४३ ॥

नन्वेकस्मिन्नात्मनि सुरनरादिदेहेषु भेदप्रत्ययो न घटत इत्याशङ्क्याह—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् ।
तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ॥ १४४ ॥

यथैकमेव गगनं कूपकुम्भाद्युपाधिभेदभिन्नं नानेवानुभूयते, यथा वा भानुरेकोऽपि भिन्नेषु जलभाजनेषु करकमणिकमल्लिकादिषु नानेवानुभूयते, तथैकोऽप्यात्मा अन्तःकरणोपाधिभेदेन नाना प्रतीयते। द्वितीयदृष्टान्तोपादानमात्मभेदस्यापारमार्थिकत्वद्योतनार्थम् ॥ १४४ ॥

जिस प्रकार आकाश एक होने पर भी घटादि में पृथक् होता है तथा सूर्य भी एक होने पर जलपात्रों में पृथक्-पृथक् दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार आत्मा भी एक तथा (अन्तःकरणोपाधि भेद से) अनेक है (और परमार्थतः एक ही है) ॥१४४ ॥

'पञ्चधातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः' (प्रा०७२) इत्याद्युक्तमर्थमुपसंहृत्याह—

ब्रह्मखानिलतेजांसि जलं भूश्चेति धातवः ।
इमे लोका एष चात्मा तस्माच्च सचराचरम् ॥ १४५ ॥

ब्रह्म आत्मा, खं गगनं, अनिलो वायुः, तेजोऽग्निः, जलं प्रसिद्धं, भूश्चेत्येते वातादिधातव एव शरीरं व्याप्य धारयन्तीति धातवोऽभिधीयन्ते। तत्र खादयः पञ्च धातवः लोक्यन्ते दृश्यन्ते इति लोकाः। जडा इति यावत्। एष चिद्धातुरात्मा एतस्माज्जडाजडसमुदायात्स्थावरजङ्गमात्मकं जगदुत्पद्यते ॥ १४५ ॥

ब्रह्म, आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल और पृथ्वी (ये शरीर को व्याप्त कर धारण करने वाली) धातुएँ हैं। ये (पाँचों जड़तत्त्व) लोक हैं और यह (ज्ञानमय) आत्मा है इसी (जड़ पञ्चतत्त्वों और चेतन आत्मा से) यह स्थावर-जङ्गम संसार उद्भूत होता है ॥१४५ ॥

कथमसावात्मा जगत्सृजतीत्याह—

मृद्दण्डचक्रसंयोगात्कुम्भकारो यथा घटम्।
करोति तृणमृत्काष्ठैर्गृहं वा गृहकारकः ॥ १४६ ॥
हेममात्रमुपादाय रूपं वा हेमकारकः।
निजलालासमायोगात्कोशं वा कोशकारकः ॥ १४७ ॥
कारणान्येवमादाय तासु तास्विह योनिषु।
[1]सृजत्यात्मानमात्मा च संभूय करणानि च ॥ १४८ ॥

यथा हि कुलालो मृच्चक्रचीवरादिकं कारणजातमुपादाय करकशरावादिकं नानाविधकार्यजातं रचयति, यथा वा वर्धकिस्तृणमृत्काष्ठैः परस्परसापेक्षैः एकं गृहाख्यं कार्यं करोति, यथा वा हेमकारः केवलं हेमोपादाय हेमानुगतमेव कटकमुकुटकुण्डलादिकार्यमुत्पादयति, यथा वा कोशकारकः कीटविशेषो निजलालयारब्धमात्मबन्धनं कोशाख्यमारभते, तथात्मापि पृथिव्यादीनि साधनानि परस्परसापेक्षाणि, तथा करणान्यपि श्रोत्रादीन्युपादाय अस्मिन्संसारे तासु तासु सुरादियोनिषु स्वयमेवात्मानं निजकर्मबन्धबद्धं शरीरितया सृजति ॥ १४६–१४८ ॥

जिस प्रकार कुम्भकार दण्ड, चाक और मिट्टी के संयोग से घट बनाता है और घर बनाने वाला तृण, मिट्टी तथा काष्ठ के संयोग से घर बनाता है और जिस प्रकार स्वर्णकार केवल स्वर्ण लेकर रूप (नाना रूपों वाले आभूषण) बनाता है तथा मकड़ी अपने ही लार (लाला) से जाल बुन डालती है, उसी प्रकार आत्मा भी (पृथ्वीव्यादि परस्पर सापेक्ष) कारणों (साधनों) को तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों को लेकर (भिन्न-भिन्न योनियों में शरीरी के रूप में) अपनी सृष्टि कर डालता है ॥१४६-१४८ ॥

किं पुनर्वैषयिकज्ञानेन्द्रियव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रमाणमित्याशङ्क्याह—

महाभूतानि सत्यानि यथात्मापि तथैव हि ।
कोऽन्यथैकेन नेत्रेण दृष्टमन्येन पश्यति ॥ १४९ ॥
वाचं वा को विजानाति पुनः संश्रुत्य संश्रुताम् ।

यथा हि पृथिव्यादिमहाभूतानि सत्यानि प्रमाणागम्यत्वात् **तथाऽऽत्मापि** सत्यः । **अन्यथा** यदि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता ध्रुवो न स्यात्तर्हि **एकेन** चक्षुरिन्द्रियेण **दृष्टं** वस्तु **अन्येन** स्पर्शनेन्द्रियेण **को विजानाति** 'यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामि' इति ॥ तथा कस्यचित्पुरुषस्य **वाचं पूर्वं श्रुत्वा** पुनः **श्रूयमाणां वाचं** तस्य वागियमिति **कः प्रत्यभिजानाति** । तस्मात् ज्ञानेन्द्रियातिरिक्तो ज्ञाता ध्रुव इति सिद्धम् ॥ १४९$\frac{1}{2}$ ॥

जैसे महाभूत सत्य है वैसे ही आत्मा भी सत्य है। अन्यथा (यदि बुद्धि इन्द्रिय से अतिरिक्त कोई ज्ञात नहीं होता तो) एक चक्षु इन्द्रिय द्वारा देखी वस्तु को दूसरी (स्पर्श) इन्द्रिय से कौन जानता (अर्थात् जिस वस्तु को मैंने देखा था उसका स्पर्श कर रहा हूँ) तथा पूर्व सुनी गयी वाणी को सुनकर कौन पहचानता (कि यह अमुक की वाणी है) ॥१४९$\frac{1}{2}$ ॥

अतीतार्थस्मृतिः कस्य को वा स्वप्नस्य कारकः ॥ १५० ॥
जातिरूपवयोवृत्तविद्यादिभिरहंकृतः ।
शब्दादिविषयोद्योगं[2] कर्मणा मनसा गिरा ॥ १५१ ॥

किंच, **यद्यात्मा** ध्रुवो न स्यात् **तर्ह्यनुभूतार्थगोचरा स्मृतिः** पूर्वानुभवभावितसंस्कारोद्बोधनिबन्धना **कस्य भवेत्** ? नह्यन्येन दृष्टे वस्तुन्यन्यस्य स्मृतिरुपपद्यते । **तथा कः स्वप्नज्ञानस्य कारकः** । नहीन्द्रियाणामुपरतव्यापाराणां तत्कारकत्वम् । **तथाहमेवाभिजनत्वादिसंपन्न** इत्येवंविधोऽनुसंधानप्रत्ययः कस्य भवति स्थिरात्मव्यतिरिक्तस्य ? तथा शब्दस्पर्शादिविषयोपभोगसिद्ध्यर्थमुद्योगं मनोवाक्कायैः कः कुर्यात् ? तस्मादपि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्त आत्मा स्थितः ॥ १५०–१५१ ॥

(आत्मा के सत्य न होने पर) अतीत के अनुभव की स्मृति किसे रहती ? या स्वप्न का ज्ञान कौन कराता ? जाति, रूप, अवस्था, आयु, वृत्त (आचरण), विद्या आदि से कौन अहंकार वाला है तथा शब्द-स्पर्श आदि विषयों के उपयोग की सिद्धि के लिये कौन मन, वाणी. और कर्म से उद्योग करता है ? ॥१५०-१५१ ॥

उपासनाविशेषविध्यर्थं[3] संसारस्य रूपं विवृण्वन्नाह—

स संदिग्धमतिः कर्मफलमस्ति न वेति वा ।
विप्लुतः सिद्धमात्मानमसिद्धोऽपि हि मन्यते ॥ १५२ ॥

योऽसौ पूर्वोक्त आत्मा विप्लुतोऽहंकारदूषितः स सकलकर्मसु फलमस्ति न वेति संदिग्धमतिर्भवति । तथाऽसिद्धोऽप्यकृतार्थोऽपि सिद्धमेव कृतार्थमात्मानं मन्यते ॥ १५२ ॥

वह आत्मा विलुप्त (अहंकार से दूषित) होकर यह शंका करने लगता है कि कर्म का फल है या नहीं तथा असिद्ध (अकृतार्थ) होने पर भी अपने को कृतार्थ मानने लगता है ॥१५२ ॥

मम दाराः सुतामात्या अहमेषामिति स्थितिः ।
हिताहितेषु भावेषु विपरीतमतिः सदा ॥ १५३ ॥

किंच, तस्य विप्लुतमतेर्मम कलत्रपुत्रप्रेष्यादयोऽहमेषामित्यतीव ममताकुलस्थितिर्भवति । तथा हिताहितकरे कार्यप्रकरे स विप्लुतमतिर्विपरीतमतिः सदा भवेत् ॥ १५३ ॥

(उस विलुप्तमति आत्मा की) यह मेरी पत्नी है, ये मेरे पुत्र हैं तथा ये मेरे अमात्य हैं तथा मैं इनका हूँ ऐसी (ममता से आकुल) स्थिति होती है तथा हित एवं अहित के भावों में सदा उसकी विपरीत बुद्धि होती है ॥१५३ ॥

ज्ञेयज्ञे प्रकृतौ चैव विकारे चाविशेषवान् ।
अनाशकानलाघातजलप्रपतनोद्यमी ॥ १५४ ॥
एवंवृत्तोऽविनीतात्मा वितथाभिनिवेशवान् ।
कर्मणा द्वेषमोहाभ्यामिच्छया चैव बध्यते ॥ १५५ ॥

किंच, ज्ञेयं जानातीति ज्ञेयज्ञस्तस्मिन्नात्मनि प्रकृतौ चात्मनो गुणसाम्यावस्थायां विकारे चाहंकारादावविशेषवान् विवेकानभिज्ञो भवति । तथानाशनहुताशनाम्बुप्रवेशविषाशनादिषु विप्लववशात्कृतप्रयत्नो भवेत् । एवं नानाप्रकाराकार्यप्रवृत्तोऽविनीतात्माऽसंयतात्मा असत्कार्याभिनिवेशयुक्तः सन् तत्कृतकर्मजातेन रागद्वेषाभ्यां मोहेन च बध्यते ॥१५४–१५५॥

वह (अहंकारादि से ग्रस्त आत्मा) ज्ञेत्रज्ञ (सर्वज्ञ आत्मा), प्रकृति और उसके विकार (अहंकारादि) में विवेकशून्य हो जाता है तथा अनशन, अग्नि और जल में प्रवेश या गिरकर मरने में उद्यम करने लगता है। इस प्रकार नाना प्रकार के अकार्यों में प्रवृत्त अविनीत (असंयत) आत्मा असत् कार्यों में प्रवृत्ति वाला होकर उन कर्मों से उत्पन्न राग-द्वेष और इच्छा (मोह) से बँधता है ॥१५४-१५५ ॥

शरीरग्रहणद्वारेण कथं पुनस्तस्य विस्रम्भो भवतीत्यत आह—

आचार्योपासनं वेद[१]शास्त्रार्थेषु विवेकिता ।
तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥ १५६ ॥
स्त्र्यालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम् ।
त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकाषायधारणम् ॥ १५७ ॥
विषयेन्द्रियसंरोधस्तन्द्रालस्यविवर्जनम् ।
शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम् ॥ १५८ ॥
नीरजस्तमसा सत्त्वशुद्धिर्निःस्पृहता शमः ।
एतैरुपायैः संशुद्धः [२]सत्त्वयोग्यमृती भवेत् ॥ १५९ ॥

विद्यार्थमाचार्यसेवा, वेदान्तार्थेषु पातञ्जलादियोगशास्त्रार्थेषु च विवेकित्वम्, तत्प्रतिपादितध्यानकर्मणामनुष्ठानम्, सत्पुरुषसङ्गः प्रियहितवचनत्वम्, ललनालोकनालम्भयोः परित्यागः, सर्वभूतेष्वात्मवद्दर्शनं समत्वदर्शनम्, परिग्रहाणां च पुत्रक्षेत्रकलत्रादीनां त्यागः, जीर्णकाषायधारणम्, तथा शब्दस्पर्शादिविषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिरोधः, तन्द्रा निद्रानुकारिणी, आलस्यमनुत्साहः तयोर्विशेषेण त्यागः, शरीरस्य परिसंख्यानमस्थिराशुचित्वादिदोषानुसंधानम्, तथा सकलगमनादिषु प्रवृत्तिषु सूक्ष्मप्राणिवधादिदोषपरामर्शः, तथा रजस्तमोविधुरता, प्राणायामादिभिर्भावशुद्धिः, निःस्पृहता विषयेष्वनभिलाषः, शमो बाह्यान्तःकरणसंयमः, एतैराचार्योपासनादिभिरुपायैः सम्यक् शुद्धः केवलसत्त्वयुक्तो ब्रह्मोपासनेनामृती भवेत् मुक्तो भवति ॥ १५६–१५९ ॥

(पुनः शरीरग्रहण द्वारा कैसे मुक्त होता है इसका कथन करते हैं–) (विद्या-प्राप्ति के लिये) आचार्य की सेवा, वेदशास्त्रों के अर्थों में (वेदान्त और पातञ्जल योग के अर्थों में) विवेक, उनमें प्रतिपादित ध्यान-कर्मों का अनुष्ठान, सज्जनों का साथ, प्रिय तथा हितकारी वचन बोलना, स्त्रियों के दर्शन और स्पर्श का परित्याग, सभी प्राणियों में अपने समान दृष्टि (समदर्शिता), परिग्रह (पुत्र, क्षेत्र, कुल आदि) का त्याग, जीर्ण काषाय वस्त्र का धारण, (शब्द-स्पर्शादि इन्द्रियों के) विषय से इन्द्रियों का अवरोध, तन्द्रा तथा आलस्य का त्याग, शरीर के (अस्थिरत्व, अपवित्रता आदि) दोषों का विचार, सभी प्रवृत्तियों (गमन आदि कार्यों में प्राणिवध आदि) पापों का विचार, रजोगुण तथा तमोगुण का त्याग, भावशुद्धि (प्राणायामादि द्वारा), निःस्पृहता (विषयों का अनभिलाष), शम (बाह्य एवं अन्तःकरण का संयम)– इन उपायों से सम्यक् शुद्ध होकर केवल सत्त्वगुण से युक्त (सत्त्वयोगी) व्यक्ति ही अमृती (अमर) होता है अर्थात्, मुक्त हो जाता है ॥१५६-१५९ ॥

कथममृतत्वप्राप्तिरित्यत आह—

तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात्सत्त्वयोगात्परिक्षयात् ।
कर्मणां संनिकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

आत्माख्यतत्त्वस्मृतेरात्मनि निश्चलतयोपस्थानात् सत्त्वशुद्धियोगात्केवलसत्त्वगुणयोगात्कर्मबीजानां परिक्षयात् सत्पुरुषाणां च संबन्धात् आत्मयोगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

आत्मतत्त्व का सदैव स्मरण करने से, आत्मतत्त्व में निश्चल स्थित होने, सत्त्वबुद्धि से तथा केवल सत्त्वयोग से कर्मों के परिक्षीण होने से तथा सज्जनों के सन्निधान से आत्मयोग प्रवर्तित होता है अर्थात् प्राप्त होता है ॥१६० ॥

शरीरसंक्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम् ।
[1]अविप्लुतमतिः सम्यक्[2]स जातिसंस्मरतामियात् ॥ १६१ ॥

किंच, यस्य पुनर्योगिनोऽविप्लुतमतेः शरीरसंक्षयसमये मनः सत्त्वयुक्तं सम्यगेकाग्रतयेश्वरं प्रति व्याप्रियते स यद्युपासनाप्रयोगाप्रवीणतयात्मानं नाधिगच्छति तर्हि विशिष्टसंस्कारपाटववशेन जात्यन्तरानुभूतकृमिकीटादिनानागर्भवासादिसमुद्भूतदुःखस्मरत्वं प्राप्नुयात् । तत्स्मरणेन च जातोद्वेगतस्तद्विच्छेदकारिणि मोक्षे प्रवर्तते ॥ १६१ ॥

जिस अविप्लुतमति का (अहंकारादि से जिसकी बुद्धि मलिन नहीं हुई ऐसा व्यक्ति का) शरीर नाश के समय सत्त्वभाव में अवस्थित मन एकाग्र रूप से ईश्वर के प्रति लगा रहता है तो (यदि आत्मोपासना में अप्रणीवता से वह आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाता तो) भी उसे जन्मान्तर में अनुभूत दुःखों की स्मृति रहती है ॥१६१ ॥

यस्त्व[3]पटुसंस्कारतया पूर्वां जातिं न स्मरति तस्य का गतिरित्यत्राह—

यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम् ।
नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः ॥ १६२ ॥

भरतो नटः, स यथा रामरावणादिनानारूपाणि कुर्वाणः सितासितपीतादिभिर्वर्णैरात्मनस्तनुं वर्णयति रचयति तथैवात्मा तत्तत्कर्मफलोपभोगार्थं कुब्जवामनादिनानारूपाणि कर्मनिमित्तानि कलेवराण्यादत्ते ॥ १६२ ॥

जैसे भरत (नट) नाना रंगों से (राम-रावणादि) नानारूपों को धारण करने के लिये अपने शरीर को (श्वेत-पीत-काला) बनाता है वैसे ही आत्मा भी तत्-तत् कर्मफलों के उपभोग के लिये (कुब्ज, वामन आदि) कर्म से उत्पन्न शरीरों को धारण करता है ॥१६२ ॥

कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ।
गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मनः ॥ १६३ ॥

किंच, न केवलं कर्मैव कुब्जवामनत्वादिनिमित्तं, किंतु कालकर्मणि स्वकारणस्वपितृबीजदोषो मातृदोषश्चेति सर्वमेतत्सहकारिकारणम् । एतेन दृष्टादृष्टस्वरूपेण कारणकलापेन गर्भस्याङ्गहीनत्वादिविकारो जन्मन आरभ्यानियतकालो दृष्टः ॥ १६३ ॥

(केवल पूर्व कर्म ही कुब्ज वामनादि दोषों का उत्पादक नहीं है अपितु) काल, कर्म, अपने पिता के वीर्य के दोष और माता के दोष से (इन सहकारी कारणों से भी) गर्भ के जन्म से अङ्गहीनतादि विकार दिखलायी पड़ते हैं ॥१६३ ॥

ननु प्राकृतिकप्रलयावसरे महदाद्यखिलविकारविनाशे कर्मणो नाशात्कथं तन्निबन्धनः प्रथमपिण्डपरिग्रह इत्याशङ्क्याह—

अहंकारेण मनसा गत्या कर्मफलेन च ।
शरीरेण च नात्मायं मुक्तपूर्वः कथंचन ॥ १६४ ॥

मनोऽहंकारौ प्रसिद्धौ, गतिः संसरणहेतुभूतो दोषराशिः, कर्मफलं धर्माधर्मरूपम्, शरीरं लिङ्गात्मकम्; एतैरहंकारादिभिरयमात्मा कदाचिदपि न मुच्यते यावन्मोक्षः ॥ १६४ ॥

अहंकार, मन, गति (संसरण की हेतुभूत दोषराशि), (धर्माधर्म रूप) कर्मफल, और शरीर इनसे यह आत्मा (मोक्ष पर्यन्त) कभी-भी मुक्त नहीं होता ॥१६४ ॥

ननु प्रतिनियतकर्मणां जीवानां प्रतिनियतकालमेवोपरतिर्युक्ता, न पुनः संग्रामादौ युगपदकाले प्राणसंक्षय इत्याशङ्क्याह—

वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः ।
विक्रियापि च दृष्टैवमकाले [1]प्राणसंक्षयः ॥ १६५ ॥

यथा हि खलु तैलक्लिन्नानेकवर्तिवर्तिनीनां नानाज्वालानां युगपत्संस्थितिः तासां च [3]स्थितानां तदुत्तरं दोधूयमानपवनाहतिरूपविपत्तिहेतूपनिपातयौगपद्याद्युगपदुपरतिर्यथा भवति तथैव रथिसारथिवाजिकुञ्जरादिजीवानां

युद्धाख्योपरतिहेतुयोगपद्यादकालेऽपि **प्राणपरिक्षयो** नानुपपन्नः । एतदुक्तं भवति—प्रतिनियतकालविपत्तिहेतुभूतादृष्टस्य तद्विरुद्धकार्यकरदृष्टहेतूपनिपातेन प्रतिबन्ध इति ॥ १६५ ॥

जैसे एक ही तैलाधार (दीपक) में तेलसिक्त अनेक बत्तियाँ एक साथ जलती हैं तथा उनका विनाश भी (प्रचण्ड वायु के झोंके के द्वारा एक साथ) देखा जाता है वैसे ही (संग्राम आदि से रथी, सारथी, घोड़ा, हाथी आदि का) अकाल में एक साथ प्राण विनाश होता है ॥१६५ ॥

मोक्षमार्गमाह—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।
सितासिताः कर्बुरूपाः कपिला नीललोहिताः ॥ १६६ ॥
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् ।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ १६७ ॥

योऽसौ **हृदि प्रदीपवत्स्थितो** जीवस्तस्यानन्ता **रश्मयो** नाड्यः सुखदुःखहेतुभूताः 'द्वासप्ततिसहस्राणि' (प्रा० १०८) इत्यादिनोक्ताः **सितासितकर्बुरादिरूपाः** सर्वतः स्थितास्तेषामेको **रश्मिरूर्ध्वं व्यवस्थितः योऽसौ मार्तण्डमण्डलं निर्भिद्य हिरण्यगर्भनिलयं चातिक्रम्य** वर्तते **तेन** जीवः **परां गतिमपुनरावृत्तिलक्षणां प्राप्नोति** ॥ १६६–१६७ ॥

हृदय में दीप के समान जो जीव स्थित है उसकी, श्वेत, काली, कबरी, कपिला, नीली और लाल अनन्त रश्मियाँ (नाड़ियाँ) हैं। उन नाड़ियों में एक ऊपर की ओर स्थित है, जो सूर्यमण्डल को भेदकर तथा ब्रह्मलोक का भी अतिक्रमण कर स्थित है। उसी रश्मि से जीव परम गति (अपुनरावर्तन) को प्राप्त करता है ॥१६६-१६७ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

यदस्यान्यद्रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम् ।
तेन देवशरीराणि सधामानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

यदस्यात्मनो मुक्तिमार्गभूताद्रश्मेर**न्यद्रश्मिशतमूर्ध्वा**कार**मेव व्यवस्थितं तेन सुरशरीराणि** तैजसानि सुखैकभोगाधिकरणानि **सधामानि** कनकरजतरत्नरचितामरपुरसहितानि **प्रपद्यते** ॥ १६८ ॥

(इस आत्मा के मुक्तिमार्गभूत रश्मि से पृथक्) जो ऊपर सौर रश्मियाँ स्थित हैं उनसे (देवों के) लोकों सहित देव शरीर प्राप्त होते हैं ॥१६८ ॥

संसरणमार्गमाह—

येऽनेकरूपाश्चाधस्ताद्रश्मयोऽस्य मृदुप्रभाः ।
इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽवशः ॥ १६९ ॥

ये पुनस्तस्याधस्ताद्रश्मयो मृदुप्रभास्तैरिह फलोपभोगार्थं संसारे संसरति अवशः स्वकृतकर्मपरतन्त्रः ॥ १६९ ॥

जो (उस रश्मि के) नीचे अनेक रूपों तथा (मृदु मद्धिम) प्रकाश वाली रश्मियाँ हैं जीव उनके द्वारा इस लोक में कर्मों का फल भोगने अवश (बाध्य) होकर आता है ॥१६९ ॥

भूतचैतन्यवादिपक्षं परिजिहीर्षुराह—

वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैर्जन्मना मरणेन च ।
आर्त्या गत्या तथाऽगत्या सत्येन ह्यनृतेन च ॥१७०॥
श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां कर्मभिश्च शुभाशुभैः ।
निमित्तशाकुनज्ञानग्रहसंयोगजैः फलैः १७१ ॥
तारानक्षत्रसंचारैर्जागरैः स्वप्नजैरपि ।
आकाशपवनज्योतिर्जलभूतिमिरैस्तथा ॥ १७२ ॥
मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या मन्त्रौषधिफलैरपि ।
वित्तात्मानं वेद्यमानं कारणं जगतस्तथा ॥ १७३ ॥

वेदैः 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृह.३।९।२६) इति, 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमपाणिपादम्' (बृ. ३।८।८) इत्यादिभिः । **शास्त्रैश्च** मीमांसान्वीक्षिक्यादिभिः । **विज्ञानैश्च** 'ममेदं शरीरम्' इत्यादिदेहव्यतिरिक्तात्मानुभवैः । तथा जन्ममरणाभ्यां जन्मान्तरानुष्ठितधर्माधर्मनियताभ्यां देहातिरिक्तात्मानुमानम् । **आर्त्या** जन्मान्तरगतकर्मानुष्ठातृनियतया, तथा गमनागमनाभ्यां ज्ञानेच्छाप्रयत्नाधारनियताभ्यामपि भौतिकदेहातिरिक्तात्मानुमानम् । नहि देहस्य चैतन्यादि संभवति । यतः कारणगुणप्रक्रमेण कार्यद्रव्ये वैशेषिकगुणारम्भो दृष्टः । नच तत्कारणभूतपार्थिवपरमाण्वादिषु चैतन्यादिसमवायः संभवति । तदारब्धस्तम्भकुम्भादिभौतिकेष्वनुपलम्भात् । नच मदशक्तिवदुदकादिद्रव्यान्तरसंयोगज इति वाच्यम्; शक्तेः साधारणगुणत्वात् । अतो भौतिकदेहातिरिक्तेश्चैतन्यादिसमवाय्यङ्गीकर्तव्यः । सत्यानृते प्रसिद्धे, **श्रेयो** हितप्राप्तिः, **सुखदुःखे** आमुष्मिके, तथा शुभकर्मानुष्ठानमशुभकर्मपरित्यागः । एतैश्च ज्ञाननियतैर्देहातिरिक्तात्मानुमानम् । **निमित्तं** भूकम्पादि, **शाकुनज्ञानं** पिङ्गलादिपतत्रिचेष्टालिङ्गकं ज्ञानम्,

ग्रहाः सूर्यादयः, **तत्संयोगजैः फलैः, तारा** अश्विन्यादिव्यतिरिक्तानि ज्योतींषि **नक्षत्राण्यश्वयुक्प्रभृतीनि,** एतेषां **संचारैः,** शुभाशुभफलद्योतनैः **जागरैर्जा**गरावस्थाजन्यैश्च सच्छिद्रादित्यादिदर्शनैः, तथा **स्वप्नजैः** खरवराहयुक्तरथारोहणादिज्ञानैः, तथा **आकाशाद्यैश्च** जीवोपभोगार्थतया सृष्टैः, तथा **मन्वन्तर**प्राप्त्या युगान्तरप्राप्त्या देहेऽनुपपद्यमानतया, तथा **मन्त्रौषधिफलैः** प्रेक्षापूर्वकैः क्षुद्रकर्माद्यैः साक्षात्परम्परया वा देहेऽनुपपद्यमानैर्वेद्यमानं हे **मुनयः! वित्त** जानीत ॥ १७०–१७३ ॥

वेदों, शास्त्रों (मीमांसा आदि), अनुभवों, जन्म, मरण, (जन्मान्तर के कर्मानुष्ठान से नियत) पीडा, गति, अगति, सत्य, असत्य, हित-प्राप्ति, सुख-दुःखों, शुभाशुभ कर्मों, निमित्त (भूकम्पादि), शकुन (पक्षिज्ञान), ग्रहों के संयोग से उत्पन्न फल, ताराओं और नक्षत्रों की गति, जाग्रत और स्वप्नावस्था में देखी गई वस्तुओं, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, अन्धकार, मन्वन्तर की प्राप्ति, युग का परिवर्तन, मन्त्रों और औषधियों का फल– इन सबसे (हे मुनियो !) आत्मा का अस्तित्व ज्ञापित होना जानें। यह आत्मा जगत् का कारण है ॥१७०-१७३ ॥

अहंकारः स्मृतिर्मेधा द्वेषो बुद्धिः सुखं धृतिः ।
इन्द्रियान्तरसंचार इच्छा धारणजीविते ॥ १७४ ॥
स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां प्रेरणं मनसो गतिः ।
निमेषश्चेतना यत्न आदानं पाञ्चभौतिकम् ॥ १७५ ॥
यत एतानि दृश्यन्ते लिङ्गानि परमात्मनः ।
तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्वग ईश्वरः ॥ १७६ ॥

किंच, **अहंकृतिरहंकारः, स्मृतिः** प्राग्भवीयानुभवभावितसंस्कारोद्बोधनिबन्धना स्तन्यपानादिगोचरा, **सुखमैहिकम्, धृतिर्धैर्यम्, इन्द्रियान्तरेण** हि दृष्टेऽर्थे इन्द्रियान्तरस्य **संचारो** 'यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामि' इत्येवमनुसन्धानरूप इन्द्रियान्तरसंचारः, अत्रेच्छाप्रयत्नचैतन्यानां स्वरूपेण लिङ्गत्वम्, पूर्वश्लोके तु गमनसत्यवचनादिहेतुतया आर्थिकं लिङ्गत्वमित्यपौनरुक्त्यम्, तथा,–**धारणं** शरीरस्य, **जीवितं** प्राणधारणम्, **स्वर्गो** नियतदेहान्तरोपभोग्यः सुखविशेषः, **स्वप्नः** प्रसिद्धः। पूर्वश्लोके तु स्वप्नस्य शुभफलद्योतनाय लिङ्गत्वम्; अत्र स्वरूपेणेत्यपौनरुक्त्यम्, तथा **भावानामिन्द्रियादीनां प्रेरणम्; मनसो गतिश्चेत**नाधिष्ठानव्याप्ता, **निमेषः** प्रसिद्धः, तथा **पञ्चभूतानामुपादानम्, यस्मा**देतानि **लिङ्गानि** भूतेष्वनुपपन्नानि साक्षात्परम्परया वा परमात्मनो द्योतकानि **दृश्यन्ते,** तस्मादस्ति **देहातिरिक्त आत्मा सर्वग ईश्वर** इति सिद्धम् ॥ १७४–१७६ ॥

अहंकार, स्मृति, मेधा, द्वेष, बुद्धि, सुख, धैर्य, इन्द्रियान्तर का संचार (अर्थात् एक इन्द्रिय से ज्ञात विषय का दूसरे इन्द्रिय द्वारा ज्ञान), इच्छा, शरीर का धारण, प्राण का धारण, स्वर्ग, स्वप्न, भावों (इन्द्रियादिकों) का प्रेरण, मन की गति, निमेष, चेतना, यत्न तथा पञ्चभूतों का अधिष्ठान (आश्रय) होना– क्योंकि प्राणियों में दिखलाई पड़ने वाले ये चिह्न परमात्मा के हैं अतः देह से परे (पृथक्) आत्मा है, जो सर्वगामी और ईश्वर है ॥१७४-१७६ ॥

क्षेत्रज्ञस्वरूपमाह—

बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कर्मेन्द्रियाणि च ।
अहंकारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि ॥ १७७ ॥
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ।
ईश्वरः सर्वभूतस्थः सन्नसन्सदसच्च यः ॥ १७८ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि **सार्थानि** शब्दादिविषयसहितानि **मनः कर्मेन्द्रियाणि** वागादीनि तथा**ऽहंकारो बुद्धिश्च** निश्चयात्मिका **पृथिव्यादीनि** पञ्चभूतानि **अव्यक्तं** प्रकृतिरित्येतत् **क्षेत्रमस्य योऽसावीश्वरः सर्वगतः** अत एव **सद्रूपः** प्रमाणान्तराग्राह्यत्वात् । **असन्** अस्पष्टप्रतीतिकत्वात् । **सदसद्रूपोऽसावात्मा क्षेत्रज्ञ** इति **निगद्यते** ॥ १७७–१७८ ॥

अपने अर्थों (विषयों– शब्द आदि) सहित बुद्धि- (ज्ञान) इन्द्रियाँ (कान आदि), मन, कर्मोन्द्रियाँ (वाणी आदि), अहंकार, बुद्धि, पृथ्वी आदि पञ्च महाभूत, अव्यक्त (प्रकृति) ये सब क्षेत्र हैं और आत्मा इस क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है, वह ईश्वर है, सर्वभूतों में अवस्थित है, वह सत्-असत् और सत्-असत् रूप है ॥१७७-१७८ ॥

बुद्ध्यादेरुत्पत्तिमाह—

बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोऽहंकारसंभवः ।
तन्मात्रादीन्यहंकारादेकोत्तरगुणानि च ॥ १७९ ॥

सत्त्वादिगुणसाम्यमव्यक्तम् । ततस्त्रिप्रकारायाः सत्त्वरजस्तमोमय्या **बुद्धेरुत्पत्तिः**, तस्याश्च वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति त्रिविधो**ऽहंकार** उत्पद्यते । तत्र तामसाद्भूतादिसंज्ञकादहं**कारात्तन्मात्राणि**, **'आदि'**ग्रहणाद्गगनादीनि तानि **चैकोत्तरगुणान्युत्पद्यन्ते** । **'च'**शब्दाद्वैकारिकतैजसाभ्यां बुद्धिकर्मेन्द्रियाणामुत्पत्तिः ॥ १७९ ॥

अव्यक्त (सत्त्व, रजः और तमः की साम्यावस्था) से (त्रिगुणात्मिका) बुद्धि की उत्पत्ति हुई और उससे (त्रिविध) की उत्पत्ति हुई । (तामस भूतादिसं: क) अहंकार से तन्मात्रायें (आकाशादि) की उत्पत्ति हुई, जो एक-एक गुण की वृद्धि द्वारा हुई ॥१७९ ॥

गुणस्वरूपमाह—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।
यो यस्मान्निःसृतश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते ॥ १८० ॥

तेषां गगनादिपञ्चभूतानां एकोत्तरवृद्ध्या पञ्च शब्दादयो गुणा वेदितव्याः । एषां च बुद्ध्यादिविकाराणां मध्ये यो यस्मात्प्रकृत्यादेरुत्पन्नः स तस्मिन्नेव सूक्ष्मरूपेण प्रलयसमये प्रलीयते ॥ १८० ॥

(उन आकाशादि के क्रमशः) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं। इन (बुद्धि आदि विकारों) में जो जिस (प्रकृति आदि) से उत्पन्न हुआ है वह (प्रलय समय में) उसी में (सूक्ष्मरूप से) लीन हो जाता है ॥१८० ॥

प्रकरणार्थमुपसंहरन्नाह—

यथात्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितो मया ।
विपाकात्त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपि सन् ॥ १८१ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्यैव कीर्तिताः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद्भ्राम्यते ह्यसौ ॥ १८२ ॥
अनादिरादिमांश्चैव स एव पुरुषः परः ।
लिङ्गेन्द्रियग्राह्यरूपः सविकार उदाहृतः ॥ १८३ ॥

मानसादित्रिप्रकारकर्सणां विपाकादीश्वरोऽपि सन्नात्मा यथात्मानं सृजति तथा युष्माकं कथितः । सत्त्वाद्याश्च गुणास्तस्यैवाविद्याविशिष्टस्य कीर्तिताः। तथा स एव रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवदिह संसारे भ्राम्यतीत्यपि कथितम् । स एवानादिः परमपुरुषः शरीरग्रहणेनादिमान् कुब्जवामनादिविकारसहितस्तथा स्थूलाकारतया परिणतो लिङ्गैरिन्द्रियैश्च ग्राह्यस्वरूप उदाहृतः ॥ १८१-१८३ ॥

आत्मा ईश्वर (स्वामी) होते हुए भी जिस प्रकार तीन प्रकार के (मानसादि) कर्मों के विपाक से अपने को उत्पन्न करता है वह मैंने आप लोगों को बता दिया। सत्त्व, रजस् और तमस् गुण उसी (अविद्याविशिष्ट आत्मा) के हैं। वह रज और तम से आविष्ट होकर चक्र के समान इस संसार में घूमता है। वही अनादि परमपुरुष, (शरीर-ग्रहण से) आदिमान् और (कुब्ज-वामनादि) विकारों से युक्त (स्थूलाकार में परिणत) लिङ्गों (चिह्नों) तथा इन्द्रियों से ग्राह्यरूप बतलाया गया है ॥१८१-१८३ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

अजवीथ्यमरमार्गः तस्यागस्त्यस्य च यदन्तरमसौ पितृयानस्तेनाग्निहोत्रिणः स्वर्गकामाः दिवं यान्ति स्वर्गं प्राप्नुवन्ति ॥ १८४ ॥

अजवीथी (अमरमार्ग) तथा अगस्त्य के मध्यभाग को पितृयान कहते हैं। स्वर्ग की कामना वाले अग्निहोत्री उसी मार्ग से स्वर्ग में जाते हैं ॥१८४॥

ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः ।
तेऽपि तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः ॥ १८५ ॥

किंच, ये च दानादिस्मार्तकर्मपराः सम्यग्दम्भरहिताः तथाऽष्टाभिरात्मगुणैः 'दयाक्षान्तिरनसूयाशौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा' (८।२३) इति गौतमादिप्रतिपादितैर्युक्ताः । तथा ये च सत्यवचननिरतास्तेऽपि तेनैव पितृयानेनैव सुरसदनमाप्नुवन्ति ॥ १८५ ॥

जो दानरत (दानादि स्मार्त कर्मों में रत), सम्यक् (दम्भरहित) आत्मा के आठ गुणों (दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य तथा अस्पृहा) से युक्त और सत्यव्रत में निरत हैं वे भी उसी मार्ग से (देवलोक) जाते हैं ॥१८५॥

ननु नैमित्तिकादिप्रतिसंचरेऽखिलाध्यापकप्रलयादविदितवेदास्तस्योपरितना जनाः कथमग्निहोत्रादिकं कर्म करिष्यन्ति कथंतरां चाकृतकर्माणः स्वर्गमार्गमधिरोक्ष्यन्तीत्यत आह—

[2]तत्राष्टाशीतिसाहस्रमुनयो गृहमेधिनः ।
[3]पुनरावर्तिनो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

तत्र पितृयानेऽष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयो गृहस्थाश्रमिणः पुनरावृत्तिधर्माणः सर्गादौ वेदस्योपदेशकतया धर्मतरुप्रादुर्भावे बीजभूताः सन्तोऽग्निहोत्रादिधर्मप्रवर्तकाः, अतो न प्रागुदितदोषसमासङ्गः ॥ १८६ ॥

उस (पितृयान) में अट्ठासी सहस्र गृहस्थ मुनि निवास करते हैं। वे (सर्गादि में) वेद के पुनः उपदेश करने से (धर्मतरु के उद्भव में) बीजभूत हैं और (अग्निहोत्रादि) धर्मों के प्रवर्तक हैं ॥१८६॥

सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः ।
तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥ १८७ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ।
तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूतसंप्लवम् ॥ १८८ ॥

किंच, सप्तर्षयः प्रसिद्धाः, नागवीथी ऐरावतपन्थाः, तदन्तराले तावन्त एव अष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः केवलज्ञाननिष्ठाः तपोब्रह्मचर्ययुक्ताः तथा सङ्गत्यागिनो देवलोकं समाश्रिताः आभूतसंप्लवं प्राकृतप्रलयपर्यन्तमवतिष्ठन्ते । तत्र च स्थिताः सृष्ट्यादावाध्यात्मिकधर्माणां प्रवर्तकाः ॥ १८७–१८८ ॥

सप्तर्षि तथा नागवीथी (ऐरावत पथ) के मध्य उतने ही मुनि देवलोक का आश्रय लेकर सभी क्रियाओं से विरत (केवल ज्ञाननिष्ठ), तपस्या, ब्रह्मचर्य, संगत्याग, मेधा से युक्त होकर प्राकृत प्रलय पर्यन्त निवास करते हैं ॥१८७-१८८ ॥

कथंभूतास्ते मुनय इत्यत आह—

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ।
श्लोका सूत्राणि भाष्याणि यच्च किंचन वाङ्मयम् ॥१८९॥

यतो द्विविधादपि मुनिसमूहाच्चत्वारो वेदाः पुराणाङ्गविद्योपनिषदश्च नित्यभूता एवाध्येतृपरम्परायाताः प्रवृत्तास्तथा श्लोका इतिहासात्मकाःसूत्राणि च शब्दानुशासनमीमांसागोचराणि भाष्याणि च सूत्रव्याख्यारूपाणि यदन्यदायुर्विद्यादिकं वाङ्मयं, तदपि यत्सकाशात्प्रवृत्तं तथाविधास्ते मुनयो धर्मप्रवर्तकाः । एवं सति वेदस्यापि नानित्यतादोषप्रसङ्गः ॥ १८९ ॥

इन द्विविध मुनियों से वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद् (ये नित्य हैं, जो अध्येतृपरम्परा से प्रवृत्त हैं) तथा श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा जो कुछ भी वाङ्मय है प्रवृत्त हुआ है ॥१८९ ॥

ततः किमित्यत आह—

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः ।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ १९० ॥

वेदस्य नित्यत्वे सति तत्प्रामाण्यबलाद्वेदानुवचनादयः सत्त्वशुद्ध्यापादनद्वारेणात्मज्ञानस्य हेतव इत्युपपन्नं भवति ॥ १९० ॥

वेदानुवचन (वेद के नित्य होने से उसके प्रामाण्य से उसका अनुवचन), यज्ञ ब्रह्मचर्य, तप, दम (आत्मसंयम), श्रद्धा, उपवास और आत्मा का स्वातन्त्र्य— ये ज्ञान के हेतु हैं ॥१९० ॥

स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः [2]समस्तैरेवमेव तु ।
द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥१९१॥
[3]य एनमेवं विन्दन्ति ये वारण्यकमाश्रिताः ।
उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥ १९२ ॥

किंच, यस्मान्नित्यतयात्मप्रमाणभूतो वेदस्तस्मादसावुक्तमार्गेण सकलाश्रमिभिर्नानाप्रकारं जिज्ञासितव्यः । तमेव प्रकारं दर्शयति—द्विजातिभिर्द्रष्टव्योऽपरोक्षीकर्तव्यः । तत्रोपायं दर्शयति—श्रोतव्यो मन्तव्य इति । प्रथमतो वेदान्तश्रवणेन निर्णेतव्यः, तदनन्तरं मन्तव्यः युक्तिभिर्विचारयितव्यः, ततोऽसौ ध्यानेनापरोक्षी भवति । ये द्विजातयोऽतिशयश्रद्धायुक्ताः सन्तो निर्जनप्रदेशमप्याश्रिताः सन्त एवमुक्तेन मार्गेण एनमात्मानं सत्यं परमार्थभूतमुपासते ते आत्मानं विदन्ति लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ १९१–१९२ ॥

द्विजातियों द्वारा सभी आश्रमों में उस आत्मा की जिज्ञासा, दर्शन (प्रत्यक्षीकरण), मनन और श्रवण करना चाहिये । जो द्विज अरण्य (निर्जन) प्रदेश का आश्रय लेकर परम श्रद्धा से युक्त होकर पूर्वोक्त मार्ग से इस परमार्थभूत आत्मा की उपासना करते हैं वे इसे (आत्मतत्त्व को) प्राप्त करते हैं ॥१९१-१९२ ॥

प्राप्तिमार्गं देवयानमाह—

क्रमात्ते संभवन्त्यर्चिरहः शुक्लं तथोत्तरम् ।
अयनं देवलोकं च सवितारं सवैद्युतम् ॥ १९३ ॥
ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्मलौकिकान् ।
करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ॥ १९४ ॥

ते विदितात्मानः क्रमादग्न्याद्यभिमानिदेवतास्थानेषु मुक्तिमार्गभूतेषु विश्रम्य तैः प्रस्थापिताः परमपदं प्राप्नुवन्ति । अर्चिर्वह्निः, अहर्दिनं, शुक्लपक्षः, तथोत्तरायणं, सुरसद्म, सविता सूर्यः, वैद्युतं च तेजः, तान् एवं क्रमादर्चिरादिस्थानगतान्मानसः पुरुषो ब्रह्मलोकभाजः करोति । तेषामिह संसारे पुनरावृत्तिर्न विद्यते, किंतु प्राकृतप्रतिसंचरावसरे त्यक्तलिङ्गशरीराः परमात्मन्यैकीभवन्ति ॥ १९३–१९४ ॥

वे (आत्मज्ञानी पुरुष) क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सूर्य, तेज के लोक में जाते हैं, तदनन्तर मानस पुरुष उन्हें ब्रह्मलोक में पहुँचाता है । उन (आत्मज्ञानियों) का पुनः इस लोक में आगमन नहीं होता । (अर्थात् वे ब्रह्मीभूत हो जाते हैं) ॥१९३-१९४ ॥

पूर्वोक्तपितृयानमाह—

यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नराः ।
धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च ॥ १९५ ॥
पितृलोकं चन्द्रमसं वायुं वृष्टिं जलं महीम् ।
क्रमात्ते संभवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च ॥ १९६ ॥
एतद्यो न विजानाति मार्गद्वितयमात्मवान् ।
दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कीटोऽथवा कृमिः ॥ १९७ ॥

ये पुनर्विहितैर्मार्गैर्यज्ञदानतपोभिः स्वर्गफलभोक्तारस्ते क्रमाद्धूमादिचन्द्रपर्यन्तपदार्थाभिमानिनीर्देवताः प्राप्य पुनरेव वायुवृष्टिजलभूमीः प्राप्य व्रीह्याद्यन्नरूपेण शुक्रत्वमवाप्य संसारिणो योनिं व्रजन्ति । एतन्मार्गद्वयमप्रमत्तो यो न विजानाति मार्गद्वयोपायभूतधर्मानुष्ठानं न करोति असौ दन्दशूको भुजङ्गः, पतङ्गः शलभः, कृमिः कीटो वा भवेत् ॥ १९५–१९७ ॥

जो मनुष्य यज्ञ, तप, दानों से स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे धूम, निशा, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक, चन्द्रमा (इनके अधिष्ठातृ देवों) में जाते हैं और फिर वायु, वृष्टि, जल और पृथ्वी को प्राप्त कर (अन्नों से शुक्र बनकर) क्रमशः इस संसार में जन्म लेतें हैं। जो प्रमत्त व्यक्ति इन दो मार्गों को नहीं जानता वह सर्प, शलभ, कीड़ा या कृमि होता है ॥१९५-१९७॥

उपासनाप्रकारमाह—

ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्योत्तरं करम् ।
उत्तानं किंचिदुन्नाम्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ १९८ ॥
निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ।
तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ १९९ ॥
संनिरुध्येन्द्रियग्रामं नातिनीचोच्छ्रितासनः ।
द्विगुणं त्रिगुणं वापि प्राणायाममुपक्रमेत् ॥ २०० ॥
ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ।
धारयेत्तत्र चात्मानं धारणां धारयन्बुधः ॥ २०१ ॥

ऊरुस्थावुत्तानौ चरणौ यस्य स तथोक्तः बद्धपद्मासनः, तथोत्ताने सव्यकरे दक्षिणमुत्तानं न्यस्य मुखं किंचिदुन्नाम्योरसा च विष्टभ्य स्तम्भयित्वा तथा निमीलिताक्षः, सत्त्वस्थः कामक्रोधादिरहितः, दन्तैर्दन्ता-

नसंस्पर्शयन् तथा **तालुनि स्थिता अचला जिह्वा यस्य स** तथोक्तः, तथा **संवृतास्यः** पिहिताननः, **सुनिश्चलो** निष्प्रकम्पः, तथा **सम्यगिन्द्रियसमूहं** विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य **नातिनीचासनो नात्युच्छ्रितासनो** यथा चित्तविक्षेपो न भवति तथोपविष्टः सन्, **द्विगुणं त्रिगुणं वा प्राणायामाभ्यासमुपक्रमेत्** । **ततो** वशीकृतपवनेन योगिना **योऽसौ हृदये दीपवदप्रकम्पः प्रभुः** स्थितोऽसौ **ध्यातव्यः । तत्र च हृदि आत्मानं** मनोगोचरतया **धारयेत् ।** तथा **धारणां च धारयेत् ।** धारणास्वरूपं च जान्वग्रभ्रमणेनच्छोटिकादानकालो मात्रा, ताभिः—पञ्चदशमात्राभिरधमः प्राणायामः, त्रिंशद्भिर्मध्यमः, पञ्चचत्वारिंशद्भिरुत्तम इति । प्राणायामत्रयात्मिकैका धारणा, तास्तिस्रो 'योग'शब्दवाच्यास्ताश्च धारयेत् । यथोक्तमन्यत्र—'संभ्रम्य च्छोटिकां दद्यात्कराग्रं जानुमण्डले । मात्राभिः पञ्चदशभिः प्राणायामोऽधमः स्मृतः ॥ मध्यमो द्विगुणः श्रेष्ठस्त्रिगुणो धारणा तथा । त्रिभिस्त्रिभिः स्मृतैकैका ताभिर्योगस्तथैव च ॥' इति ॥ १९८–२०१ ॥

जाँघों पर चरणों को उत्तान कर (पद्मासन लगाकर) बाँयें हाथ में दाहिने हाथ को उत्तान रखकर, मुख को कुछ ऊपर उठाकर तथा वक्षःस्थल से स्तम्भित कर आँखों को बन्द कर, सत्त्वभाव में स्थित होकर (काम-क्रोधादि से विरहित होकर), दाँतों को न सटाकर, तालु में जिह्वा को निश्चलकर, मुख को बन्द कर, अत्यन्त निश्चल होकर, इन्द्रियों को विषयों से अत्यन्त मोड़कर, न अत्यधिक ऊँचे न अत्यधिक नीचे आसन पर बैठकर, दुगुना या तीन गुणा प्राणायाम का अभ्यास करें। तदनन्तर हृदय में जो दीपक समान प्रभु है उनका ध्यान करना चाहिये। तदनन्तर धारणा का आश्रय लेकर वहाँ (हृदय में) आत्मा को धारण करना चाहिये ॥१९८-२०१ ॥

धारणात्मकयोगाभ्यासे प्रयोजनमाह—

अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा ।
निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम् ॥ २०२ ॥
अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेर्हि लक्षणम् ।
सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते ॥ २०३ ॥

अणिमप्राप्त्या परैरदृश्यत्वम**न्तर्धानम्**, **स्मृति**रतीन्द्रियेष्वर्थेषु मन्वादेरिव स्मरणम्, **कान्तिः** कमनीयता, **दृष्टि**रतीतानागतेष्वप्यर्थेषु, तथा **श्रोत्रज्ञता** अतिदवीयसि देशेऽभिव्यज्यमानतया श्रोत्रपथमनासेदुषामपि शब्दानां ज्ञातृता, **निजशरीरत्यागेन परशरीरप्रवेशनम्**, स्ववाञ्छावशे**नार्थानां** कारणनिरपेक्षतया **सृष्टिः**, इत्येत**द्योगस्य सिद्धेर्लक्षणं** लिङ्गम् । नचैतावदेव प्रयोजनं, किंतु **सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते** ब्रह्मत्वप्राप्तये च प्रभवति ॥ २०२–२०३ ॥

योगसिद्धि के ये लक्षण हैं– अन्तर्धान होना (दूसरों द्वारा दिखलाई न पड़ना), स्मृति (अतीन्द्रिय विषयों का स्मरण), शोभा, दृष्टि (अतीत तथा अनागत विषयों में), श्रोत्रज्ञता (अत्यन्त दूरस्थ स्थानों के न सुनायी पड़ने वाले शब्दों का भी सुनना), परकायप्रवेश और इच्छानुसार वस्तुओं की सृष्टि। योगसिद्धि हो जाने पर देह का त्यागकर योगी अमृतत्व प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मत्व की प्राप्ति करता है ॥२०२-२०३ ॥

यज्ञदानाद्यसंभवे सत्त्वशुद्धावुपायान्तरमाह—

अथवाप्यभ्यसन्वेदं न्यस्तकर्मा वने वसन् ।
अयाचिताशी मितभुक्परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २०४ ॥

अथवा त्यक्तकाम्यनिषिद्धकर्मा अन्यतमं **वेदमभ्यसन्**, एकान्तशीलो**ऽयाचितमिताशना**पादितसत्त्वशुद्धिरात्मोपासनेन **परां** मुक्तिलक्षणां **सिद्धिं प्राप्नोति** ॥ २०४ ॥

अथवा सभी (काम्य और निषिद्ध) कर्मों का त्याग कर वन में निवास करते हुये, किसी वेद का अभ्यास करते हुये, बिना याचना के मिले अन्न का भोजन करते हुये अल्पाहारी व्यक्ति परम सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करता है ॥२०४ ॥

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥ २०५ ॥

किंच, **सत्प्रतिग्रहादिन्यायेनोपार्जितधनः अतिथिपूजातत्परः** नित्यनैमित्तिकश्राद्धानुष्ठाननिरतः सत्यवदनशीलः सन्नात्मतत्त्वध्याननिरतो **गृहस्थोऽपि हि यस्मान्मुक्तिमवाप्नोति** तस्मान्न केवलमैहिकपारिव्राज्यपरिग्रह एव मुक्तिसाधनम् ॥ २०५ ॥

गृहस्थ भी न्यायपूर्वक धन का उपार्जन कर अतिथियों का सत्कार कर (नित्य-नैमित्तिक) श्राद्धों का अनुष्ठान करते हुये, सत्यवादी होकर आत्मतत्त्व के ध्यान में निरत होकर मुक्ति प्राप्त करता है ॥२०५ ॥

इत्यध्यात्मप्रकरणम् ।

अथ प्रायश्चित्तप्रकरणम् ९

(१) कर्मविपाकः

'वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः' (आ० १) इत्यत्र प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञातषड्विधधर्ममध्ये पञ्चप्रकारं धर्ममभिधायाधुनाऽवशिष्टं नैमित्तिकं धर्मजातं प्रायश्चित्तपदाभिलप्यं प्रारिप्सुः प्रथमतस्तत्प्ररोचनार्थमधिकारिविशेषप्रदर्शनार्थं चार्थवादरूपं कर्मविपाकं तावदाह—

महापातकजान्घोरान्नरकान्प्राप्य दारुणान् ।
कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्विह ॥ २०६ ॥

ब्रह्महत्यादिपञ्चकस्य महापातकसंज्ञा 'ब्रह्महा मद्यपः' (प्रा० २२७) इत्यत्र वक्ष्यते तद्योगिनो **महापातकिनस्ते महापातकजनितां**स्तामिस्रादिनरकान्स्वजनितदुष्कृतानुरूपान् **घोरा**नतितीव्रवेदनापादकत्वेनातिभयंकरान्दारुणान्दुःखैकभोगनिलयान् **प्राप्य कर्मक्षयात्** कर्मजन्यनरकदुःखोपभोगक्षयादनन्तरं कर्मशेषात्पुन**रिह** संसारे दुःखबहुलश्वसृगालादितिर्यग्योनिषु प्रकर्षेण भूयो भूयो **जायन्ते** । 'महापातकि'ग्रहणमितरेषामप्युपपातक्यादीनामुपलक्षणम् । तेषां च तिर्यगादियोनिप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २०६ ॥

महापातकी (ब्रह्महत्यादि पञ्चमहापातकों को करने वाले) महापातकों से प्राप्त होने वाले घोर (अतितीव्र वेदना वाले) तथा दारुण (केवल दुःखभोग के स्थान तामिस्र आदि) नरकों को प्राप्त कर (अर्थात् वहाँ दुःख भोगकर) कर्मक्षय होने पर पुनः इस संसार में (दुःखबहुल कुत्ता, स्यार आदि योनियों में) उत्पन्न होते हैं ॥२०६ ॥

महापातकिनां संसारप्राप्तिमुक्त्वा तद्विशेषकथनायाह—

मृग(गा)श्वसूकरोष्ट्राणां ब्रह्महा योनिमृच्छति ।
खरपुल्कसवेनानां सुरापो नात्र संशयः ॥ २०७ ॥
कृमिकीटपतङ्गत्वं स्वर्णहारी समाप्नुयात् ।
तृणगुल्मलतात्वं च क्रमशो गुरुतल्पगः ॥ २०८ ॥

मृगा हरिणादयः, **श्वसूकरोष्ट्राः** प्रसिद्धाः, **तेषां योनिं ब्रह्महा** स्वकर्मशेषेण **प्राप्नोति** । **खरो** रासभः, **पुल्कसः** प्रतिलोमंनिषादेन शूद्र्यां जातः वैदेहकेनाम्बष्ठ्यां जातो **वेनः**, **तेषां** योनिं[1] **सुरापः** प्राप्नोति । **कृमयः** सजातीयसंभोगनिरपेक्षा मांसविष्ठागोमयादिजन्याः, ततः किंचित्स्थूलतराः पक्षास्थिरहिताः सजातीयसंभोगनिरपेक्षाः पिपीलिकादयः **कीटाः**, **पतङ्गः** शलभः, **तेषां योनिं** ब्राह्मण**स्वर्णहारी प्राप्नुयात्** । **तृणं** काशादि **गुल्मलते** प्रागुक्ते; तज्जातीयतां **क्रमेण गुरुतल्पगः प्राप्नोति** । एतच्चाकामकृतविषयम्, कामकारकृते त्वन्यास्वपि दुःखबहुलयोनिषु संसरन्ति; यथाह मनुः (१२।५५–५८)—'श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोऽजा[2]विमृगपक्षिणाम् । चाण्डालपुल्[3]कसानां च ब्रह्महा

योनिमृच्छति ॥ कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् । हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ लूताऽहिसरठानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् । हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ लूता ऊर्णनाभः । सरठः कृकलासः ।—'तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि । क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥' इति ॥ २०७-२०८ ॥

ब्रह्महत्यारा मृग, श्वान, सूकर और ऊँट की योनि प्राप्त करता है। मदिरा पीने वाला गर्दभ, पुल्कस (निषाद द्वारा शूद्रा में उत्पन्न) और वेणक (वैदेहक द्वारा अम्बष्ठा में उत्पन्न) योनियों को प्राप्त करता है। इसमें सन्देह नहीं। (ब्राह्मण का) सोना चुराने वाला कृमि, कीट और पतङ्ग योनि में जन्म पाता है और गुरुपत्नीगामी क्रमशः तृण, गुल्म और लता योनि को प्राप्त करता है ॥२०७-२०८॥

एवं च तिर्यक्त्वादुत्तीर्णानां मानुष्ये रोगादि लक्षणानि भवन्तीत्याह—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः ।
हेमहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥ २०९ ॥
यो येन संवसत्येषां स तल्लिङ्गोऽभिजायते ।

किंच, एवं रौरवादिनरकेषु श्वसूकरखरादियोनिषु च दारुणं दुःखमनुभूयानन्तरं दुरितशेषेण जननसमय एव क्षयरोगादिलक्षणयुक्ताः । प्रचुरेषु मानवशरीरेषु संसरन्ति । तत्र **ब्रह्महा क्षयरोगी** राजयक्ष्मी भवेत् । निषिद्ध**सुरापी** स्वभावतः **कृष्णदशनः**, ब्राह्मण**हेम्नो हर्ता कुत्सितनखत्वम्, गुरुदारगामी दुश्चर्मत्वं** कुष्ठिताम् । एतेषां ब्रह्महादीनां मध्ये **येन** पतितेन **यः** पुरुषः **संवसति स तल्लिङ्गोऽभिजायते** ॥ २०९½ ॥

(इस प्रकार कर्मभोग की यातना सहकर मनुष्य योनि में आने पर) ब्रह्महत्या करने वाला क्षयरोगी होता है, मदिरा पीने वाला (प्रकृत्या) काले दाँतों वाला, स्वर्णचोर, खराब नखों वाला और गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार करने वाला खराब चमड़े वाला (कुष्ठी) होता है। इन महापातकियों में से जो जिस पातकी के पास रहता है वह उसी के समान पातकी (लक्षणों वाला) होता है ॥२०९½॥

अन्नहर्ताऽऽमयावी स्यान्मूको वागपहारकः ॥ २१० ॥
धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः ।
तैलहृत्तैलपायी स्यात्पूतिवक्त्रस्तु सूचकः ॥ २११ ॥

किंच, **अन्नस्यापहर्ता आमयावी** अजीर्णान्नः । **वागपहारको**ऽननुज्ञाताध्यायी पुस्तकापहारी च **मूको वागिन्द्रियविकलो भवेत्** । **धान्यमि-**

श्रोऽतिरिक्ताङ्गः षडङ्गुल्यादिः पिशुनो विद्यमानपरदोषप्रख्यापनशीलः । पूतिनासिकः दुर्गन्धनासिकः, तैलस्य हर्ता तैलपायी कीटविशेषो भवति । सूचकोऽसद्दोषसंकीर्तनो दुर्गन्धिवदनो जायते । एतच्च तिर्यक्त्वप्राप्त्युत्तरकालं मानुषशरीरप्राप्तौ द्रष्टव्यम् (१२।६८)—'यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥' इति मनुस्मरणात् ॥२१०–२११॥

अन्न चुराने वाला अजीर्ण का रोगी, वाणी का अपहारक (अर्थात् बिना आज्ञा के पढ़ने वाला और पुस्तक चुराने वाला) गूँगा, अन्न में मिलावट करने वाला अधिक अङ्गवाला (छः अंगुली वाला इत्यादि) और पिशुन (दूसरे के दोष को प्रख्यात करने वाला) दुर्गन्धयुक्त नाक वाला, तेल का चुराने वाला तेलपायी (कीट-विशेष) तथा सूचक (बिना दोष के दोष को बतलाने वाला) दुर्गन्ध युक्त मुख वाला होता है ॥२१०-२११ ॥

परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्वमपहृत्य च ।
अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ २१२ ॥

किंच, यः परदारानपहरति, ब्रह्मस्वं च सुवर्णव्यतिरिक्तमपहरति, असावरण्ये निर्जले देशे ब्रह्मराक्षसो भूतविशेषो जायते ॥ २१२ ॥

परस्त्री को हरण कर तथा ब्राह्मण के धन का अपहरण कर वन में जलहीन स्थान पर ब्रह्मराक्षस होता है ॥२१२ ॥

हीनजातौ प्रजायेत पररत्नापहारकः ।
पत्रशाकं शिखी हृत्वा गन्धाञ्छुच्छुन्दरी शुभान् ॥२१३॥

किंच, हीनजातौ हैमकाराख्यायां पक्षिजातौ पररत्नाद्यपहारको जायते । तथा च मनुः (१२।६१)—'मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः । विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥' इति । पत्रात्मकं शाकं हृत्वा मयूरः । शुभान्गन्धानपहृत्य छुच्छुन्दरी राजदुहिताख्या मूषिका जायते ॥२१३॥

दूसरे के रत्न को चुराने वाला (हैमकार नामक) निम्न कोटि की पक्षी जाति में उत्पन्न होता है, पत्तों वाले शाक की चोरी कर मयूर योनि में उत्पन्न होता है तथा सुगन्ध द्रव्यों का हरण कर छुछुन्दरी होता है ॥२१३ ॥

मूषको धान्यहारी स्याद्यानमुष्ट्रः कपिः फलम् ।
जलं प्लवः पयः काको गृहकारी ह्युपस्करम् ॥ २१४ ॥
मधु दंशः पलं गृध्रो गां गोधाग्निं बकस्तथा ।
श्वित्री वस्त्रं श्वा रसं तु चीरी लवणहारकः ॥ २१५ ॥

किंच, धान्यहारी आखुः, यानं हृत्वोष्ट्रः, फलं वानरः, जलं प्लवः, शकटविलाख्यः पक्षी, पयः क्षीरं, काको ध्वाङ्क्षः, गृहोपस्करं मुसलादि हृत्वा गृहकारी चटकाख्यः कीटविशेषः, मधु हृत्वा दंशाख्यः कीटः, पलं मांसं तद्धृत्वा गृध्राख्यः पक्षी, गां हृत्वा गोधाख्यः प्राणिविशेषः, अग्निं हृत्वा बकाख्यः पक्षी, वस्त्रं हृत्वा श्वित्री, इक्ष्वादिरसं हृत्वा सारमेयः, लवणहारी चीर्याख्यः उच्चैःस्वरः कीटः ॥ २१४–२१५ ॥

अन्न चुराने वाला मूषक, सवारी चुराने वाला ऊँट, फल चुराने वाला वानर, जल चुराने वाला प्लव (शकटविल नामक पक्षी), दूध चुराने वाला कौआ, गृह के उपस्कर (मूसल आदि) चुराने वाला गृहकारी (चटक नामक कीट), मधु चुराने वाला दंश, मांस चुराने वाला गृध्र, गाय चुराने वाला गोह, अग्नि चुराने वाला बगुला, वस्त्र चुराने वाला श्वित्रकुष्ठी, ईख आदि रसों को चुराने वाला कुत्ता तथा नमक चुराने वाला चीरी कीड़ा होता है ॥२१४-२१५ ॥

एवं प्रदर्शनार्थं किंचिदुक्त्वा प्रतिद्रव्यं पृष्टाकोटन्यायेन वक्तुमशक्तेरेकोपाधिना कर्मविपाकं दर्शयितुमाह—

प्रदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तं स्तेयकर्मणि ।
द्रव्यप्रकारा हि यथा तथैव प्राणिजातयः ॥ २१६ ॥

द्रव्यस्यापह्रियमाणस्य यादृशाः प्रकारास्तादृशा एव प्राणिजातयः स्तेयकर्मण्यपहर्तारो भवन्ति । यथा कांस्यहारी हंस इति । अथवा यत्फलसाधनं द्रव्यमपहरति तत्साधनविकलः–यथा पङ्गुतामश्वहारक इति ॥ शब्देन कश्चिद्विशेषो दर्शितः । 'ब्रह्महा कुष्ठी, तैजसापहारी मण्डली, देवब्राह्मणाक्रोशकः खलतिः, गरदाग्निदावुन्मत्तौ, गुरुं प्रतिहन्तापस्मारी, गोघ्नश्चान्धः, धर्मपत्नीं त्यक्त्वान्यत्र प्रवृत्तः शब्दवेधी प्राणिविशेषः, कुण्डाशी भगभक्षो देवब्रह्मस्वापहारी, पाण्डुरोगी न्यासापहारी च काणः, स्त्रीपण्योपजीवी षण्ढः, कौमारदारत्यागी दुर्भगः, मिष्टैकाशी वातगुल्मी, अभक्ष्यभक्षको गण्डमाली, ब्राह्मणीगामी निर्बीजी, क्रूरकर्मा वामनः, वस्त्रापहारी पतंगः, शय्यापहारी क्षपणकः, शङ्खशुक्त्यपहारी कपाली, दीपापहारी कौशिकः, मित्रध्रुक् क्षयी मातापित्रोराक्रोशः खञ्जक' इति ॥ गौतमोऽपि कंचिद्विशेषमाह—अनृतवागुल्वलः मुहुर्मुहुः संलग्नवाक्, दारत्यागी जलोदरी, कूटसाक्षी श्लीपदी उच्छूनजङ्घाचरणः, विवाहविघ्नकर्ता छिन्नोष्ठः, अवगूरणः छिन्नहस्तः, मातृघ्नोऽन्धः, स्नुषागामी वातवृषणः, चतुष्पथे विण्मूत्रविसर्जने मूत्रकृच्छ्री, कन्यादूषकः षण्ढः, ईर्ष्यालुर्मशकः, पित्रा विवदमानोऽपस्मारी, न्यासापहारी अनपत्यः, रत्नापहारी अत्यन्तदरिद्रः, विद्याविक्रयी पुरुषमृगः, वेदविक्रयी द्वीपी, बहुयाजको जलप्लवः, अयाज्ययाजको

वराहः, अनिमन्त्रितभोजी वायसः, मृष्टैकभोजी वानरः, यतस्ततोऽश्नन्मार्जारः, कक्षवनदहनात्खद्योतः, दारकाचार्यो मुखविगन्धिः, पर्युषितभोजी कृमिः, अदत्तादायी बलीवर्दः, मत्सरी भ्रमरः, अग्न्युत्सादी मण्डलकुष्ठी, शूद्राचार्यः श्वपाकः, गोहर्ता सर्पः, स्नेहापहारी क्षयी, अन्नापहारी अजीर्णी, ज्ञानापहारी मूकः, चण्डालीपुल्कसीगमने अजगरः, प्रव्रजितागमने मरुपिशाचः, शूद्रीगमने दीर्घकीटः, सवर्णाभिगामी दरिद्रः, जलहारी मत्स्यः, क्षीरहारी बलाकः, वार्धुषिकोऽङ्गहीनः, अविक्रेयविक्रयी गृध्रः, राजमहिषीगामी नपुंसकः, राजाक्रोशको गर्दभः, गोगामी मण्डूकः, अनध्यायाध्ययने सृगालः, परद्रव्यापहारी परप्रेष्यः, मत्स्यवधे गर्भवासी, इत्येतेऽनूर्ध्वगमना इति ॥ स्त्रियोऽप्येतेषु निमित्तेषु पूर्वोक्तास्वेव जातिषु स्त्रीत्वमनुभवन्ति । यथाह मनुः (१२।६९)—'स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन कृत्वा दोषमवाप्नुयुः । एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥' इति । एतच्च क्षयित्वादिलक्षणकथनं प्रायश्चित्तोन्मुखीभूतब्रह्महाद्युद्वेगजननार्थं न पुनः क्षयित्वादिलक्षणयुक्तानां द्वादशवार्षिकादिव्रतप्राप्त्यर्थं संसर्गनिवृत्त्यर्थं च । तथा हि—पापक्षयार्थं प्रायश्चित्तम् । नच प्रायश्चित्तेन प्रारब्धफलपापापूर्वविनाशे किंचन प्रयोजनमस्ति । नहि कार्मुकनिर्मुक्तो बाणो लक्ष्यवेधे वेद्धुस्तद्व्यापारस्य वा सत्तान्तरं पुनरपेक्षते । नच तदारब्धफलनाशार्थो पूर्वनाशोऽन्वेषणीयः । नहि निमित्तकारणीभूतचक्रचीवरादिविनाशेन तदारब्धकरकादिविनाशः । नच नैसर्गिकं कौनख्यादिकं प्रत्यानेतुं शक्यते । किंच नरकतिर्यग्योन्यादिजन्यदुःखपरम्परामनुभूतस्य हि कौनख्यादिको विकारश्चरमं फलम् । तेन चोत्पन्नमात्रेण स्वकारणापूर्वनाशो जन्यते मन्थनजनिताशुशुक्षणिनेवारणिक्षयः । तस्मान्न पापविनाशार्थं व्रतपरिचर्या, नापि संव्यवहारार्थम् । नहि शिष्टाः कुनख्यादिभिः सह संबन्धं परिहरन्ति । प्राचीनक्षयात्पापनाशेन संव्यवहार्यत्वस्यापि सिद्धेर्नार्थो व्रतचर्यया ॥ यत्तु वसिष्ठेनोक्तम् (३०६)—'कुनखी श्यावदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्' इति तत्क्षामवत्यादिवन्नैमित्तिकमात्रं न पुनः पापक्षयार्थं संव्यवहार्यत्वसिद्ध्यर्थं वेति मन्तव्यम् ॥ २१६ ॥

यह मैंने मात्र प्रदर्शन (उदाहरण) रूप में कहा है। चोरी में जिस प्रकार की वस्तु होती है वैसी ही प्राणियों की योनि प्राप्त होती है ॥२१६ ॥

यथाकर्म फलं प्राप्य तिर्यक्त्वं कालपर्ययात् ।
जायन्ते लक्षणभ्रष्टा दरिद्राः पुरुषाधमाः ॥ २१७ ॥

किंच, यथाकर्म स्वकृतदुष्कृतानतिक्रमेण तदनुरूपं नरकादि फलं तिर्यक्त्वं च प्राप्य कालक्रमेण क्षीणे कर्मणि दुष्टलक्षणा दरिद्राश्च पुरुषेषु निकृष्टा जायन्ते ॥ २१७ ॥

तदनन्तर अपने कर्मानुसार उसका (तदनुरूप नरकभोगादि) फल प्राप्त कर, पशु-पक्षी योनि प्राप्त कर कालक्रम से पुरुषों में नीच, दरिद्र तथा दुष्ट लक्षणों वाले उत्पन्न होते हैं ॥२१७॥

ततो निष्कल्मषीभूताः कुले महति भोगिनः ।
जायन्ते विद्ययोपेता धनधान्यसमन्विताः ॥ २१८ ॥

किंच, **ततो** दुर्लक्षणमनुष्यजन्मानन्तरं **निष्कल्मषीभूता** नरकाद्युपभोगद्वारेण क्षीणपापाः प्राग्भवीयसुकृतशेषेण **महाकुले भोगसंपन्नाः विद्याधनधान्यसंपन्ना जायन्ते** ॥ २१८ ॥

तदनन्तर निष्पाप होकर महान् कुल में (प्राचीन सुकृत के अवशेष से) भोग संपन्न, विद्यायुक्त तथा धन-धान्यसंपन्न उत्पन्न होते हैं ॥२१८॥

एवं प्रायश्चित्तेषु प्ररोचनार्थं कर्मविपाकमभिधायाधुना तेष्वेवाधिकारिणं निरूपयितुमाह—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ २१९ ॥
तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति ॥ २२० ॥

विहितमिति यदावश्यकं संध्योपासनाग्निहोत्रादिकं नित्यमशुचिस्पर्शादौ नैमित्तिकत्वेन चोदितं स्नानादिकं च तदुभयमुच्यते तस्याकरणात्, **निन्दितस्य** निषिद्धस्य सुरापानादेः करणात्, **इन्द्रियाणामनिग्रहाच्च नरः पतनमृच्छति** प्राप्नोति । प्रत्यवायी भवतीति यावत् ॥ ननु 'इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः' (मनुः ४।१६) इतीन्द्रियप्रसक्तेरपि निषिद्धत्वात् 'निन्दित'ग्रहणेनैव गतार्थत्वात्किमर्थं 'अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणाम्' इति पृथगुपादानम्? अत्रोच्यते,—इन्द्रियप्रसक्तिनिषेधस्य नैकान्ततः प्रतिषेधरूपता स्नातकव्रतमध्येऽस्य पाठात्तत्र च 'व्रतानीमानि धारयेत्' (मनुः ४।१३) इति 'व्रत'शब्दाधिकाराच्छ्रवणाच्चेन्द्रियप्रसक्तिप्रतिषेधकः संकल्पो विधीयते । स चोभयरूप इति पृथगुपादानम् ॥ ननु विहिताकरणात् प्रत्यवैतीति कुतोऽवसितम्? न तावदग्निहोत्रादिचोदना पुरुषप्रवर्तनात्मिकाऽननुष्ठानस्य प्रत्यवायहेतुतामाक्षिपति । विषयानुष्ठानस्य पुरुषार्थत्वावगतिमात्रपर्यवसायिनी हि सा तावन्मात्रेण प्रवृत्त्युपपत्तेर्न पुनरकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमपि वक्ति; क्षीणशक्तित्वादनुपपत्तेः । किंच, यद्यनुपपत्त्युपशमेऽपि प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थमर्थान्तरं कल्प्यते तर्हि निषिध्यमानक्रियाजन्यप्रत्यवायपरिहारार्थतयैव तद्वर्जनस्य पुरुषार्थत्वसिद्धावपि फलान्तरं

कल्प्येत । नचैतत्कस्यचिदपि संमतम् ॥ ननु यथा निषिद्धेष्वर्थवादावगतप्रत्यवायपरिहार्थतयैव पुरुषार्थत्वं तथा विहितेष्वप्यर्थवादावगताकरणजन्यप्रत्यवायपरिहारार्थता कस्मान्न स्यात्? मैवम्; नहि सर्वत्राग्निहोत्रादिषु तादृग्विधार्थवादाः सन्ति । नच 'विहितस्याननुष्ठानान्नरः पतनमृच्छति' इतीयं स्मृतिरेव वाक्यशेषस्थानीयेति चतुरस्रम् । नहि वाक्यान्तरप्रमिते कार्ये वाक्यान्तरेणार्थवादः संभवति । भवतु वा कथंचिदेकवाक्यतयार्थवादस्तथापि नाभावरूपं विहिताकरणे कार्यान्तरं जनयितुं क्षमते । ननु 'ज्वरे चैवातिसारे च लङ्घनं परमौषधम्' इत्यायुर्वेदवचनाद्भोजनाभावरूपं लङ्घनं ज्वरशान्तिं जनयतीति यथावगम्यते तथात्रापि भवतु । मैवम्; यतो नात्रापि लङ्घनाज्ज्वरशान्तिः, किं तर्हि ज्वरनाशप्रतिबन्धकभोजनाभावे सति जठरानलपरिपाकजनिताद्धातुसाम्यादिति मन्तव्यम् । तस्मात् 'विहितस्याननुष्ठानान्नरः पतनमृच्छति' इति कथमस्याः स्मृतेर्गतिरिति वाच्यम् । उच्यते,—अग्निहोत्रादिविषयाधिकारासिद्धिरूपप्रत्यवायाभिप्रायेणेति न दोषः । ननु (१२।७१।७२)—'वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः । अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् । चैलाशकस्तु भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥' इत्येतानि विहिताकरणप्रत्यवायपराणि मनुवचनानि कथं घटन्ते? उच्यते,—यथा वान्तमश्नत उल्कया वा दह्यमानमुखस्य दुःखं तथास्यापि विहितमकुर्वतः पुरुषस्य पुरुषार्थासिद्धेरित्यकरणनिन्दनमनुष्ठानप्ररोचनार्थमित्यविरोधः । यद्वा,—प्राग्भवीयनिषिद्धाचरणाक्षिप्तविहितानुष्ठानविरोधिरागालस्यादिजन्यवान्ताश्युल्कामुखप्रेतत्वादिरूपमिति न क्वचिदभावस्य कारणतेति मन्तव्यम् ॥ ननु पुंश्चलीवानरखरदष्ट(श्वदष्ट)मिथ्याभिशस्तादौ विहिताकरणादिनिमित्तानामन्यतमस्याप्यभावात्कथं प्रत्यवायिता? कथं च तदभावे प्रायश्चित्तविधानम्? उच्यते,—अस्मादेव पापक्षयार्थप्रायश्चित्तविधानाज्जन्मान्तराचरितनिषिद्धसेवादिजन्यपापापूर्वं समाक्षिप्तमित्यभिशापादिकं तन्निमित्तप्रायश्चित्तापनोद्यमनेनानुष्ठितमिति कल्प्यते; पुरुषप्रयत्ननैरपेक्ष्येण कार्यरूपपापोत्पत्त्यनुपपत्तेः । नच पुंश्चल्यादिगतप्रयत्नेन पुरुषान्तरे पापोत्पत्तिः, कर्तृसमवायित्वनियमाद्धर्माधर्मयोः, तस्माद्युक्तैव प्रायश्चित्ते निमित्तत्रयपरिगणना । तथा च मनुः (११।४४)—'अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥' इति । 'नर'ग्रहणं प्रतिलोमजातानामपि प्रायश्चित्ताधिकारप्राप्त्यर्थम्, तेषामप्यहिंसादिसाधारणधर्मव्यतिक्रमसंभवात्, यस्मादेवं निषिद्धाचरणादिना प्रत्यवैति **तस्मात्तेन** कृतनिषिद्धसेवादिना पुरुषेण **प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिह** लोके परत्र **च विशुद्ध्यर्थम्** । प्रायश्चित्तशब्दश्चायं पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषे रूढः । एवं प्रायश्चित्ते कृते अस्यान्तरात्मा शुद्धतया प्रसीदति लोकश्च संव्यवहर्तुं प्रसीदति । एवं वदतैतद्दर्शितम्—नैमित्तिकोऽयं

प्रायश्चित्ताधिकारः, तथा चार्थवादगतदुरितक्षयोऽपि जातेष्टिन्यायेन साध्यतया स्वीक्रियते । नच दुरितपरिजिहासुनानुष्ठीयत इत्येतावता कामाधिकाराशङ्का कार्या । यस्मात् (मनुः ११।५३)—'चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये । निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥' इत्यकरणे दोषश्रवणेनावश्यकत्वावगमात् ॥ २१९–२२० ॥

(नित्य तथा नैमित्तिक आदि) विहित (शास्त्रोपदिष्ट) कार्यों के न करने तथा (सुरापानादि) निन्दित कार्यों के करने से एवं इन्द्रियों के निग्रह न करने से मनुष्य पतन को प्राप्त करता है। इसलिये ऐसे पतित व्यक्ति को विशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये और इस प्रकार (प्रायश्चित्त करने पर) उसकी अन्तरात्मा तथा लोक (सभी लोग) प्रसन्न होते हैं ॥२१९-२२० ॥

प्रायश्चित्ताकरणे दोषमाह—

प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः ।
अपश्चात्तापिनः कष्टान्नरकान्यान्ति दारुणान् ॥ २२१ ॥

पापेषु शास्त्रार्थव्यतिक्रमजनितेषु प्रसक्ताः पुरुषाः अपश्चात्तापिनो मया दुष्कृतं कृतमित्येवमुद्वेगरहिताः प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः दुःसहान्नरकान्प्राप्नुवन्ति ॥ २२१ ॥

पाप में निरत मनुष्य प्रायश्चित्त न करने पर तथा (किये हुये दुष्कर्म पर) पश्चात्ताप न करने पर घोर कष्टदायी एवं दारुण नरकों को जाते हैं ॥२२१ ॥

नरकस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

तामिस्रं लोहशङ्कुं च महानिरयशाल्मली ।
रौरवं कुड्मलं पूतिमृत्तिकं कालसूत्रकम् ॥ २२२ ॥
संघातं लोहितोदं च सविषं संप्रपातनम् ।
महानरककाकोलं संजीवनमहापथम् ॥ २२३ ॥
अवीचिमन्धतामिस्रं कुम्भीपाकं तथैव च ।
असिपत्रवनं चैव तापनं चैकविंशकम् ॥ २२४ ॥
महापातकजैर्घोरैरुपपातकजैस्तथा ।
अन्विता यान्त्यचरितप्रायश्चित्ता नराधमाः ॥ २२५ ॥

तामिस्रप्रभृतींस्तापनपर्यन्तानेकविंशतिनरकानन्वर्थसंज्ञायोतितावान्तरभेदान्महापातकोपपातकजनितभयंकरदुरितैरन्विता अनाचरितप्रायश्चित्ताः पुरुषाधमाः प्राप्नुवन्ति ॥ २२२–२२५ ॥

तामिस्र, लोहशंकु, महानिरय, शाल्मली, रौरव, कुड्मल, पूतिमृत्तिक, कालसूत्रक, संघात, लोहितोद, सविष, संप्रपातन, महानरक, काकोल, संजीवन, महापथ, अवीचि, अन्धतामिस्र, कुम्भीपाक, असिपत्रवन और पातक– ये इक्कीस नरक हैं। घोर महापातकों तथा उपपातकों से युक्त अधम मनुष्य प्रायश्चित्तों को न करने पर इन नरकों में जाते हैं ॥२२२-२२५ ॥

उपात्तदुरितनिरासार्थं प्रायश्चित्तमित्युक्तं, तत्र विशेषमाह—

प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।
कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ॥ २२६ ॥

प्रायश्चित्तैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरज्ञानाद्यदेनः पापं कृतं तदपैति गच्छति, न कामतः कृतम् । किंतु तत्र प्रायश्चित्तविधायकवचनबलादिह लोके व्यवहार्यो जायते । अत्र च 'प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतम्' इत्युपक्रमात्तत्प्रतियोगितया 'ज्ञानत' इति वक्तव्ये यत् 'कामतः' इत्युक्तं, तत् ज्ञानकामयोस्तुल्यत्वप्रदर्शनार्थम् । तथा हि–'विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं भवेत् ।' तथाऽबुद्धिपूर्वक्रियायामर्धं प्रायश्चित्तम् । तथा 'म्लेच्छेनाधिगतः शूद्रस्त्वज्ञानात्तु कथंचन । कृच्छ्रत्रयं प्रकुर्वीत ज्ञानात्तु द्विगुणं भवेत् ॥' इत्यादिभिर्वचनैर्ज्ञानकामनयोस्तुल्यप्रायश्चित्तदर्शनात्तुल्यफलतैव । किंच, स्वतन्त्रप्रवृत्तिर्विषयज्ञानकामनाभ्यां नियता; तयोरन्यतरापायेऽपि तस्या असंभवादतः 'कामत' इत्युक्तम् ; 'ज्ञानाज्ञानत' इत्युक्तेऽपि कामः प्राप्नोत्यविनाभावात् । नच चौरादिभिर्बलात्प्रवर्त्यमानस्य सत्यपि विषयज्ञाने कामनाभावान्नाविनाभाव इति वाच्यम् । यतोऽत्र विद्यमानस्यापि ज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावेनासत्समत्वम् ॥ यत्तु–शुष्केऽपि पिपतिषोर्भ्रान्त्या कर्दमपतनं, तत्रापि वास्तवज्ञानाभावात्तद्विषयकामनायाश्चाभाव एव । एवमज्ञानाकामनयोरप्यव्यभिचार एव ॥ ननु 'प्रायश्चित्तैरपैत्येनः' इति न युक्तम् ; फलविनाश्यत्वात्कर्मणः । नैवम् ; यथा पापोत्पत्तिः शास्त्रगम्या तथा तत्परिक्षयोऽपीति नात्र प्रमाणान्तरं क्रमते । अत एव गौतमेन पूर्वोत्तरपक्षभङ्ग्या अयमर्थो दर्शितः । तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसन्ते । न कुर्यादित्याहुर्न हि कर्म क्षीयते इति । कुर्यादित्यपरे । 'पुनःस्तोमेनेष्ट्वा पुनःसवनमायान्तीति विज्ञायते । व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा तरति सर्वं पाप्मानं तरति भ्रूणहत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इति पुनःसवनमायान्ति इति सवनसंपाद्यज्योतिष्टोमादिद्विजातिकर्मणि योग्यो भवतीत्यर्थः । न चेदमर्थवादमात्रम् ; अधिकारिविशेषणाकाङ्क्षायां रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकफलस्यैव कल्पनाया न्याय्यत्वात् , अतो युक्तं 'प्रायश्चित्तैरपैत्येनः' इति ॥ ननु कामकृते प्रायश्चित्ताभावात्कथं व्यवहार्यत्वं तदभावश्च 'अनभिसंधिकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तम्' इति (२०।१) वसिष्ठवचनात् ॥ 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ।

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति (११।८९) मनुवचनाच्चावगम्यते । नैतत्; 'यः कामतो महापापं नरः कुर्यात्कथंचन । न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा भृग्वग्निपतनादृते ॥' इति । तथा—'विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं भवेत्' इति च कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तदर्शनात् । यत्तु वसिष्ठवचनं 'तस्याप्यकामकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तं शुद्धिकरम्' इत्यभिप्रायो न पुनः कामकृते प्रायश्चित्ताभाव इति ॥ यत्तु मनुवचनं—'इयं विशुद्धिरुदिता' इत्यादि, तदपीयमिति सर्वनामपरामृष्टद्वादशवार्षिकादिव्रतचर्याया एव । 'कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते' इत्यनेन प्रतिषेधो न पुनः प्रायश्चित्तमात्रस्य; मरणान्तिकादेः प्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् ॥ ननु यदि कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तमस्ति तर्हि पापक्षयोऽपि कस्मान्न स्यादविशेषात्। यदि पापक्षयोऽपि नास्ति तर्हि व्यवहार्यतापि कथं भवति ? उच्यते,—उभयत्र प्रायश्चित्ताविशेषेऽपि फलविशेषः शास्त्रतोऽवगम्यते । अज्ञानकृते तु सर्वत्र पापक्षयः । यत्र तु 'ब्रह्महसुरापगुरुतल्पगमातृपितृयोनिसंबन्धसंनद्धावागमस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतितात्यागयपतितत्यागिनः पतिताः पातकसंयोजकाश्च' (२०।१।२) इति गौतमोक्तमहापातकादौ व्यवहार्यत्वं निषिद्धं, तस्मिन्पतनीये कर्मणि कामतः कृते व्यवहार्यत्वमात्रं न पापक्षय इति । नच पापक्षयाभावे व्यवहार्यत्वमनुपपन्नम् । द्वे हि पापस्य शक्ती नरकोत्पादिका व्यवहारनिरोधिका चेति । तत्रेतरशक्त्यविनाशेऽपि व्यवहारनिरोधिकायाः शक्तेर्विनाशो नानुपपन्नस्तस्मात्पापानपगमेऽपि व्यवहार्यत्वं नानुपपन्नम् । यत्तु मनुवचनम् (११।४५)—'अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः । कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥' इति,—तदपि कामकृते प्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थं, न पुनः पापक्षयप्रतिपादनपरम् । अपतनीये पुनः कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तेन पापक्षयो भवत्येव; 'अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥' इति (११।४६) मनुस्मरणात् । पतनीयेऽपि कर्मणि कामकृते मरणान्तिकप्रायश्चित्तेषु कल्मषक्षयो भवत्येव । फलान्तराभावात् । 'नास्यास्मिँल्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कल्मषं तु निहन्यते' (१।२४—२६) इत्यापस्तम्बस्मरणात् ॥ २२६ ॥

जो पाप अज्ञानवश किया गया रहता है वह प्रायश्चित्तों से दूर हो जाता है, किन्तु कामनापूर्वक किये गये पाप इन प्रायश्चित्तों से दूर नहीं होते अपितु इन प्रायश्चित्त वचनों के करने से पापकर्ता लोक में व्यवहार योग्य हो जाता है ॥२२६ ॥

टिप्पणी— कामनापूर्वक किये गये पापों (विशेषतः महापापों) के प्रायश्चित्त द्वारा दूर होने के विषय में विसंवादी वचन उपलब्ध होते हैं। विशेष वचनों के संग्रह के लिये मिताक्षरा टीका द्रष्टव्य है।

निषिद्धाचरणादिकं प्रायश्चित्ते निमित्तमित्युक्तं तत्प्रपञ्चयितुमाह—

ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः ।
एते महापातकिनो यश्च तैः[1] सह संवसेत् ॥ २२७ ॥

हन्तिरयं प्राणवियोगकरे[2] व्यापारे रूढः, यद्व्यापारसमनन्तरं कालान्तरे वा कारणान्तरनिरपेक्षः प्राणवियोगो भवति सः, ब्राह्मणं हतवानिति **ब्रह्महा**, **मद्यपो** निषिद्धसुरायाः पाता, **स्तेनः**[1] ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता, 'ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकं' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । **गुरुतल्पगो** गुरुभार्यागामी । 'तल्प'-शब्देन शयनवाचिना साहचर्याद्भार्या लक्ष्यते । **एते** ब्रह्महादयो **महापातकिनः** । पातयन्तीति पातकानि ब्रह्महत्यादीनि । महच्छब्देन तेषां गुरुत्वं ख्याप्यते तद्योगिनो महापाकिन इति लाघवार्थं संज्ञाकरणम् । यश्च तैर्ब्रह्महादिभिः प्रत्येकं **सह संवसति** 'एभिस्तु संवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्समः' (प्रा० २६६) इति वक्ष्यमाणन्यायेन **सोऽपि महापातकी** । **'तथा'**शब्दः प्रकारवचनोऽनुग्राहकप्रयोजकादिकर्तृसंग्रहार्थः । अनुग्राहकश्च यः पलायमानममित्रं उपरुन्धन् परेभ्यश्च हन्तारं परिरक्षन्हन्तुर्दृढिमानमुपजनयन्नुपकरोति स उच्यते । अत एव मनुनानुग्राहकस्य हिंसाफलसंबन्धो दर्शितः—'बहूनामेककार्याणां सर्वेषां शस्त्रधारिणाम् । यद्येको घातयेत्तत्र सर्वे ते घातकाः स्मृताः ॥' इति । तथा प्रयोजकादीनामप्यापस्तम्बेन फलसंबन्ध उक्तः—'प्रयोजितानुमन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मिन्फलविशेषः' इति तत्राप्रवृत्तस्य प्रवर्तकः प्रयोजकः । स च त्रिप्रकारः—आज्ञापयिताभ्यर्थयमान उपदेष्टेति । तत्राज्ञापयिता नाम स्वयमुच्चः सन्नीचं भृत्यादिकं यः प्रेरयति मदीयममित्रं जहीति स उच्यते । अभ्यर्थयमानस्तु यः स्वयमसमर्थः सन् प्रार्थनादिना मच्छत्रुं व्यापादयेत्युच्चं[3] प्रवर्तयति सोऽभिधीयते । अनयोश्च स्वार्थसिद्ध्यर्थमेव प्रयोक्तृत्वम् । उपदेष्टा पुनस्त्वं शत्रुमित्थं व्यापादयेति मर्मोद्घाटनाद्युपदेशपुरःसरं प्रेरयन्कथ्यते । तत्र च प्रयोज्यगतमेव फलमिति तेषां भेदः । अनुमन्ता तु प्रवृत्तस्य प्रवर्तकः । स द्विप्रकारः—कश्चित्स्वार्थसिद्ध्यर्थमनुजानाति कश्चित्परार्थमिति ॥ नन्वनुमननस्य कथं हिंसाहेतुत्वं, न तावत्प्राणवियोगोत्पादनेन; तस्य साक्षात्कर्तृव्यापारजन्यत्वात् । नापि प्रयोजकस्येव; साक्षात्कर्तृप्रवृत्त्युत्पादनद्वारेण प्रवृत्तस्य प्रवर्तकत्वात् । नच साधु त्वयाध्यवसितमिति प्रवृत्तमेवानुमन्यत इति शङ्कनीयम् । तादृशस्यानुमननस्य[1] हिंसां प्रत्यहेतुत्वाद्व्यर्थत्वाच्च । उच्यते,—यत्र हि राजादिपारतन्त्र्यात्स्वयं मनसा प्रवृत्तोऽपि प्रवृत्तिविच्छेदभयादागामिदण्डभयाद्वा शिथिलप्रयत्नो राजाद्यनुमतिमपेक्षते तत्रानुमतिर्हन्तुः प्रवृत्तिमुपोद्बलयन्ती हिंसाफलं प्रति हेतुतां प्रतिपद्यते । तथा[1] योऽपि भर्त्सनताडनधनापहारादिना परान्कोपयति सोऽपि मरणहेतुभूतमन्यूत्पादनद्वारेण हिंसाहेतुर्भवत्येव । अत एव विष्णुनोक्तम्—'आक्रुष्टस्ताडितो वापि धनैर्वा विप्रयोजितः । यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥' इति तथा—'ज्ञाति-

मित्रकलत्रार्थं सुहृत्क्षेत्रार्थमेव च । यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥' इति । नच कृतेष्वप्याक्रोशनादिषु कस्यचिन्मन्यूत्पत्त्यदर्शनादकारणतेति शङ्कनीयम्; पुरुषस्वभाववैचित्र्यात् । ये अल्पतरेणापि निमित्तेन जातमन्यवो भवन्ति तेष्वव्यभिचार इति नाकारणता । एतेषां चानुग्राहकप्रयोजकादीनां प्रत्यासत्तिव्यवधानापेक्षया व्यापारगतगुरुलाघवापेक्षया च फलं गुरुलाघवात् प्रायश्चित्तगुरुलाघवं बोद्धव्यम्; 'यो भूय आरभते तस्मिन्फलविशेषः' इति वचनात् । तथा ह्यनुग्राहकस्य तावत्स्वयमेव हिंसायां प्रवृत्तत्वेन स्वतन्त्रकर्तृत्वे सत्यपि साक्षात्प्राणवियोगफलकखड्गप्रहारादिव्यापारयोगित्वाभावेन साक्षात्कर्तृवद्भूयो हिंसारम्भकत्वाभावादल्पफलत्वमल्पप्रायश्चित्तत्वं च । प्रयोजकस्य तु स्वतन्त्रकर्तृप्रवृत्तिजनकत्वेन व्यवहितत्वात्ततोऽल्पफलत्वम् । प्रयोजकानां मध्ये परार्थप्रवृत्तत्वेनोपदेष्टुरल्पफलत्वम् ॥ ननु प्रयोजकहस्तस्थानीयत्वात्प्रयोज्यस्य न फलसंबन्धो युक्तः । यदि परप्रयुक्त्या प्रवर्तमानस्यापि फलसंबन्धस्तर्हि स्थपतितडागेखनितृप्रभृतीनामपि मूल्येन प्रवर्तमानानां स्वर्गादिफलप्राप्तिप्रसङ्गः । उच्यते, शास्त्रोक्तं फलं प्रयोक्तरीति न्यायेनाधिकारिकर्तृगतफलजनका देवकूपतडागनिर्माणादयः । नच स्थपतितडागेखनित्रादयो देवकूपतडागकरणादिष्वधिकारिणः, स्वर्गकामित्वात् । अत्र पुनः परप्रयुक्त्या प्रवर्तमानानामप्यहिंसायामधिकारित्वाद्भवत्येव तद्व्यतिक्रमनिबन्धनो दोषः । अनुमन्तुस्तु प्रयोजकादप्यल्पफलत्वं प्रयोजकव्यापाराद्बहिरङ्गत्वाल्लघुत्वाच्चानुमननस्य । निमित्तकर्तुः पुनराक्रोशकादेः प्रवृत्तिहेतुभूतमन्युजनकत्वेन व्यवहितत्वान्मरणानुसंधानं विना प्रवृत्तत्वाच्चानुमन्तुः सकाशादप्यल्पफलत्वम् ॥ ननु यदि व्यवहितस्यापि कारणत्वं तर्हि मातापित्रोरपि हन्तृपुरुषोत्पादनद्वारेण हननकर्तृत्वप्रसङ्गः । उच्यते,—नहि पूर्वभावित्वमात्रेण कारणत्वम्; कारणतयापि तथाभावित्वोपपत्तेः । यत्खलु स्वरूपातिरिक्तकार्योत्पत्त्यनुगुणव्यापारयोगि भवति तद्धि कारणम् । यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयादिति रथन्तरसामतैव क्रतोरैन्द्रवायवाग्रतायां कारणम् । नहि तत्र सोमयागः स्वरूपेण कारणं; व्यभिचारात् । नच पित्रोस्तादृग्विधकारणलक्षणयोगित्वमिति नातिप्रसङ्गः । अनेनैव न्यायेन धर्माभिसंधिना निर्मितकूपवाप्यादौ प्रमादपतितब्राह्मणादिमरणे खानयितुर्दोषाभावः । नहि कूपोऽनेन खानितः अतोऽहमात्मानं व्यापादयामीत्येवं कूपखनननिमित्तं व्यापादनं यथाक्रोशादौ । अतः कूपकर्तुरपि कारणत्वमेव, न पुनर्हिंसाहेतुत्वमिति मातापितृतुल्यतैव । तथा क्वचित्सत्यपि हिंसानिमित्तयोगित्वे. परोपकारार्थप्रवृत्तौ वचनाद्दोषाभावः । यथाह संवर्तः—'बन्धने गोश्चिकित्सार्थे मूढगर्भविमोचने । यत्ने कृते विपत्तिश्चेत्प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ औषधं स्नेहमाहारं ददद्गोब्राह्मणादिषु । दीयमाने विपत्तिः

स्यान्न स पापेन लिप्यते ॥ दाहच्छेदशिराभेदप्रयत्नैरुपकुर्वताम् । प्राणसंत्राणसिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति ।–एतच्चादाननिदाननिपुणभिषग्विषयम् । इतरस्य तु 'भिषङ्मिथ्याचरन्दाप्यः' (व्य० १४२) इत्यत्र दोषो दर्शितः । यत्तु मन्युनिमित्ताक्रोशनादिकमकुर्वतोऽपि नाम गृहीत्वोन्मादादिनात्मानं व्यापादयति तत्रापि न दोषः; 'अकारणं तु यः कश्चिद्द्विजः प्राणान्परित्यजेत् । तस्यैव तत्र दोषः स्यान्न तु यं परिकीर्तयेत् ॥' इति स्मरणात् ॥ तथा यत्राप्याक्रोशकादिजनितमन्युरात्मानं खड्गादिना प्रहृत्य मरणादर्वागाक्रोशनादिकर्त्रा धनदानादिना संतोषितो यदि जनसमक्षमुच्चैः श्रावयति नात्राक्रोशकस्यापराध इति, तत्रापि वचनान्न दोषः । यथाह विष्णुः—'उद्दिश्य कुपितो हत्वा तोषितः श्रावयेत्पुनः । तस्मिन्मृते न दोषोऽस्ति द्वयोरुच्छ्रावणे कृते ॥ इति । एतेषां च प्रयोजकादिनां दोषगुरुलघुभावपर्यालोचनया प्रायश्चित्तविशेषं वक्ष्यामः ॥ २२७ ॥

ब्रह्महत्या करने वाला, (निषिद्ध) सुरापायी, (ब्राह्मण के) स्वर्ण को चुराने वाला और गुरुभार्यागामी— ये महापातकी हैं तथा इनके साथ जो रहता है वह भी महापापी है ॥२२७ ॥

ब्रह्महत्यासमान्याह—

गुरूणामभ्यधिक्षेपो वेदनिन्दा सुहृद्वधः ।
ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयमधीतस्य च नाशनम् ॥ २२८ ॥

गुरूणामाधिक्येनाधिक्षेपः अनृताभिशंसनम् । 'गुरोरनृताभिशंसनमिति महापातकसमानि' (२१।१०) इति गौतमस्मरणात् । एतच्च लोकाविदितदोषाभिशंसनविषयम् । 'दोषं बुद्ध्वा न पूर्वः परेषां समाख्याता स्यात्संव्यवहारे चैनं परिहरेत्' (१।२१।२०) इत्यापस्तम्बस्मरणात् । नास्तिक्याभिनिवेशेन **वेदकुत्सनम्** । **सुहृन्मित्रं** तस्याब्राह्मणस्यापि **वधः** । **अधीतस्य वेदस्य**ासच्छास्त्रविनोदेनालस्यादिना वा **नाशनं** विस्मरणम् । एतानि प्रत्येकं **ब्रह्महत्यासमानि** । यत्पुनः 'स्वाध्यायाग्निसुतत्यागः' (प्रा० २३९) इत्यधीतत्यागस्योपपातकमध्ये परिगणनं, तत्कथंचित्कुटुम्बभरणाकुलतयाऽसच्छास्त्रश्रवणव्यग्रतया वा विस्मरणे द्रष्टव्यम् ॥ २२८ ॥

गुरुओं की मिथ्या तथा आधिक्य से निन्दा, वेद की निन्दा, मित्र का वध तथा अधीत (वेद) का (असच्छास्त्रों के अध्ययन या आलस्य से) विनाश करना– ये ब्रह्महत्या के समान पाप हैं ॥२२८ ॥

सुरापानसमान्याह—

निषिद्धभक्षणं जैह्म्यमुत्कर्षे च वचोऽनृतम् ।
रजस्वलामुखास्वादः सुरापानसमानि तु ॥ २२९ ॥

निषिद्धं लशुनादिकं, तस्य मतिपूर्वं **भक्षणम्** । अत एव मनुः (५।१९)—'छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेन्नरः ॥' इति । अमतिपूर्वे तु प्रायश्चित्तान्तरम् (५।२०)—'अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् । **जैह्म्यं** कौटिल्यं, अन्याभिसंधानेनान्यवादित्वमन्यकर्तृत्वं च । अत्र च जैह्यमिति यद्यपि सामान्योनोक्तं, तथापि प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वान्निमित्तस्यापि गुरुविषयं जैह्यमिति गौरवं गम्यते । अस्ति च नैमित्तिकपर्यालोचनया निमित्तस्य विशेषावगतिः । यथा 'यस्योभावग्नी अनुमतौ स्यातां दुष्टौ भवेतामभिनिम्लोचेद्वा पुनराधेयं तत्र प्रायश्चित्तिः' इत्यत्रोभावित्यस्य निमित्तविशेषणत्वेन हविरुभयत्वादविवक्षितत्वेऽप्यग्निद्वयनिष्पादकपुनराधेयरूपनैमित्तिकविधिब लादग्निद्वयानुगतिरेव निमित्तमिति कल्प्यते; तथात्रापीति युक्तं निमित्तगौरवकल्पनम् । तथा **समुत्कर्षनिमित्तं** राजकुलादावचतुर्वेद एव चतुर्वेदोऽहमित्यनृतभाषणम् । **रजस्वलाया** (कामवशेन.) वक्त्रासवसेवनम्, एतानि **सुरापानसमानि** ॥ २२९ ॥

निषिद्ध (लशुनादि) का भक्षण, वक्रता, उत्कर्ष-प्राप्ति के लिये झूठ बोलना और रजस्वला स्त्री के मुख आस्वाद— ये सुरापान के समान हैं ॥२२९ ॥

सुवर्णस्तेयसमान्याह—

अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा ।
निक्षेपस्य च सर्वं हि सुवर्णस्तेयसंमितम् ॥ २३० ॥

अश्वादीनां ब्राह्मणसंबन्धिनां, **निक्षेपस्य च** सुवर्णव्यतिरिक्तस्यापहरणमेतत्सर्वं **सुवर्णस्तेयसमं वेदितव्यम्** ॥ २३० ॥

(ब्राह्मण के) घोड़ा, रत्न, मनुष्य, स्त्री, भूमि, ग्राम और निक्षेप का हरण– ये सभी स्वर्ण की चोरी के समान हैं ॥२३० ॥

गुरुतल्पसमान्याह—

सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च ।
सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम् ॥ २३१ ॥

सखा मित्रं, **तस्य भार्या; कुमारी** उत्तमजातीया कन्यका, तासु 'सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः । दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा ॥' (व्य० २८८) इति तत्रैव दण्डविशेषप्रतिपादनात्प्रायश्चित्तगुरुत्वं युक्तम् । **स्वयोनि**र्भगिनी, **अन्त्यजा** चाण्डाली, **सगोत्रा** समानगोत्रा, **सुतस्त्री** स्नुषा, **एतासां गमनं प्रत्येकं गुरुतल्पसमम्** । एतच्च रेतःसेकादूर्ध्वं वेदितव्यम्; अर्वाङ्निवृत्तौ तु न गुरुतल्पसमत्वं, किंत्वल्पमेव प्रायश्चित्तम् । 'रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्प-

समं विदुः ॥' (११।५८) इति मानवे 'रेतःसेक' इति विशेषणोपादानात् । 'सगोत्रा'ग्रहणेनैव सिद्धे पुनः 'सुतस्त्री'ग्रहणं प्रायश्चित्तगौरवप्रतिपादनार्थम् । अत्र च ब्रह्महत्यादिसमत्ववचनं गुर्वधिक्षेपादेस्तत्तन्निमित्तप्रायश्चित्तोपदेशार्थम् । ननु वेदनिन्दादौ दोषस्य लघुत्वाद्गुरुतरं ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तं न युज्यते । नैवम्ः गुरुप्रायश्चित्तोपदेशबलादेव दोषगुरुत्वावगतेः । न च ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तातिदेशार्थमेवेदं वचनं भवति, किंतु दोषगौरवमात्रप्रतिपादनपरमित्याशङ्कनीयम् । यतस्तावन्मात्रप्रतिपादनपरत्वे ब्रह्महत्यासममिदं गुरुतल्पसममित्यादिभेदेन समत्वाभिधानं नोपपद्यते । तच्च प्रायश्चित्तं 'सम'शब्देनोपदिश्यमानं ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तेभ्यः किंचिन्न्यूनमेवोपदिश्यते । 'लोके राजसमो मन्त्री' इत्यादिवाक्येषु 'सम'शब्दस्य किंचिद्धीने प्रयोगदर्शनात्, महतः पातकस्येतरस्य च तुल्यत्वस्यायुक्तत्वाच्च । एवं च सति याज्ञवल्क्येन ब्रह्महत्यासमत्वेनोक्तानामपि ब्रह्मोज्झत्ववेदनिन्दासुहृद्वधानां मनुना यत्सुरापानसाम्यम् (११।५६)— 'ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः । गर्हितान्नाज्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥' इत्युक्तं, तत्प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । एवमन्येष्वपि वचनेषु विरोधः परिहर्तव्यः । यत्तु वसिष्ठेन—'गुरोरलीकनिर्बन्धे कृच्छ्रं द्वादशरात्रकं चरित्वा सचैलः स्नातो गुरुप्रसादात् पूतो भवति' इति लघुप्रायश्चित्तमुक्तं, तदमतिपूर्वे सकृदनुष्ठाने च वेदितव्यम् ॥ २३१ ॥

मित्र की पत्नी, उत्तम वर्ण की कन्या, बहन, चाण्डाली, सगोत्रा और पुत्रवधू– इनके साथ संभोग– गुरुपत्नीगमन के समान हैं ॥२३१ ॥

गुरुतल्पातिदेशमाह—

पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि ।
मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ २३२ ॥
आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ।
लिङ्गं छित्त्वा वधस्तस्य सकामायाः स्त्रिया अपि ॥२३३॥

पितृष्वस्रादयः प्रसिद्धाः, ता गच्छन् गुरुतल्पगः, तस्य लिङ्गं छित्त्वा राज्ञा वधः कर्तव्यो दण्डार्थं, प्रायश्चित्तं च तदेव । 'च'शब्दाद्राज्ञीप्रव्रजितादीनां ग्रहणम् । यथाह नारदः (१२।७३–७५)—'माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा । पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता । राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥ आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते । शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥' इति । राज्ञी राज्यस्य कर्तुर्भार्या, न क्षत्रियस्यैव; तद्गमने

प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात् । धात्री मातृव्यतिरिक्ता स्तन्यदानादिना पोषयित्री, साध्वी व्रतचारिणी, वर्णोत्तमा ब्राह्मणी । अत्र 'मातृ'ग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । अयं च लिङ्गच्छेदवधात्मको दण्डो ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य; 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम्' इति तस्य वधनिषेधात् वधस्यैव प्रायश्चित्तरूपत्वात् । अस्य च विषयं गुरुतल्पप्रायश्चित्तप्रकरणे प्रपञ्चयिष्यामः । अत्र स्नुषाभगिन्योः पूर्वश्लोकेन गुरुतल्पसमीकृतयोः पुनर्ग्रहणं प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । यदा पुनरेताः स्त्रियः सकामाः सत्य एतानेव पुरुषान्वशीकृत्योपभुञ्जन्ते तदा तासामपि पुरुषवद्वध एव दण्डः प्रायश्चित्तं च । एतानि गुर्वधिक्षेपादितनयागमपर्यन्तानि महापातकातिदेशविषयाणि सद्यःपतनहेतुत्वात्पातकान्युच्यन्ते । यथाह यमः—'मातृष्वसा मातृसखी दुहिता च पितृष्वसा । मातुलानी स्वसा श्वश्रूर्गत्वा सद्यः पतेन्नरः ॥' इति गौतमेन पुनरन्येषामपि पातकत्वमुक्तम् (२१।१२)—'मातृपितृयोनिसंबद्धाङ्गस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः पातकसंयोजकाश्च' इति । तेषां च महापातकोपपातकमध्यपाठान्महापातकाच्च्यूनत्वमुपपातकाच्च गुरुत्वमवगम्यते । तदुक्तम्—'महापातकतुल्यानि पापान्युक्तानि यानि तु । तानि पातकसंज्ञानि तन्न्यूनमुपपातकम् ॥' इति । तथा चाङ्गिराः—'पातकेषु सहस्रं स्यान्महत्सु द्विगुणं तथा उपपापे तुरीयं स्यान्नरकं वर्षसंख्यया ॥' इति ॥ २३२–२३३ ॥

पिता की बहन (बुआ), माता की बहन, मामी, पुत्रवधू, विमाता, बहू, आचार्य-पुत्री, आचार्य-पत्नी या अपनी पुत्री से संभोग करने वाला गुरुपत्नीगामी के समान होता है। ऐसे व्यक्ति का लिंग काटकर उसका वध कर देना चाहिये और ये स्त्रियाँ स्वेच्छा से ऐसे पुरुष के साथ संभोग की हैं तो उनका भी वध विहित है ॥२३२-२३३ ॥

एवं महापातकानि तत्समानि च पातकानि परिगणय्योपपातकानि परिगणयितुमाह—

गोवधो व्रात्यता स्तेयमृणानां चानपाक्रिया ।
अनाहिताग्निताऽपण्यविक्रयः परिवेदनम् ॥ २३४ ॥
भृताद्ध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा ।
पारदार्यं पारिवित्त्यं वार्धुष्यं लवणक्रिया ॥ २३५ ॥
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो निन्दितार्थोपजीवनम् ।
नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रयः ॥ २३६ ॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनम् ।
पितृमातृसुतत्यागस्तडागारामविक्रयः ॥ २३७ ॥

कन्यासंदूषणं चैव [3]परिविन्दकयाजनम् ।
कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनम् ॥ २३८ ॥
आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भो मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्वाध्यायाग्निसुतत्यागो बान्धवत्याग एव च ॥ २३९ ॥
इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः स्त्रीहिंसौषधजीवनम् ।
हिंस्रयन्त्रविधानं च व्यसनान्यात्मविक्रयः ॥ २४० ॥
शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं हीनयोनिनिषेवणम् ।
तथैवानाश्रमे वासः परान्नपरिपुष्टता ॥ २४१ ॥
असच्छास्त्राधिगमनमाकरेष्वधिकारिता ।
भार्याया विक्रयश्चैषामेकैकमुपपातकम् ॥ २४२ ॥

गोवधो गोपिण्डव्यापादनम्, कालेऽनुपनीतत्वं **व्रात्यता**, ब्राह्मणसुवर्णतत्समव्यतिरिक्तपरद्रव्यापहरणं **स्तेयम्**, गृहीतस्य सुवर्णादेरप्रदान**मृणानामनपाकरणम्**, तथा देवर्षिपितॄणां संव[1]न्ध्यृणस्यानपाकरणं च। सत्यधिकारे**ऽनाहिताग्नित्वम्** ॥ ननु ज्योतिष्टोमादिकामश्रुतयः स्वाङ्गभूताग्निनिष्पत्त्यर्थमाधानं प्रयुञ्जत इति मीमांसकप्रसिद्धिः, अतश्च यस्याग्निभिः प्रयोजनं तस्य तदुपायभूताधाने प्रवृत्तिर्व्रीह्याद्यर्थिन इव धनार्जने। यस्य पुनरग्निभिः प्रयोजनं नास्ति तस्याप्रवृत्तिरिति कथमनाहिताग्नितादोषः? उच्यते,—अस्मादेवाधानस्यावश्यकत्ववचनान्नित्यश्रुतयोऽपि साधि[2]कारित्वाविशेषादाधानस्य प्रयोजिका इति स्मृतिकाराणामभिप्रायो लक्ष्यत इत्यदोषः। तथा **अपण्यस्य** लवणादे**र्विक्रयः**, सहोदरस्य ज्येष्ठस्य तिष्ठतः कनीयसो भ्रातुर्दाराग्निसंयोगः **परिवेदनम्**, **पणपूर्वाध्यापकादध्ययनग्रहणम्**, **पणपूर्वाध्यापनम्**, **परदारसेवनं** गुरुदारतत्समव्यतिरेकेण, **पारिवित्त्यं** कनीयसि कृतविवाहे ज्येष्ठस्य विवाहराहित्यम्, **वार्धुष्यं** प्रतिषिद्धवृद्ध्युपजीव[3]नम्, **लवणक्रिया** लवणस्योत्पादानम्, **स्त्रिया वधः** आत्रेयी सगर्भा ऋतुमती, अत्रिगोत्रपरिणीता वा ब्राह्मण्या अप्यात्रेयीव्यतिरेकेण, **शूद्रवधः**, अदीक्षितविट्क्षत्रियवधः। **निन्दितार्थोपजीवनम**राजस्थापितार्थोपजीवनम्, **नास्तिक्यं** 'नास्ति परलोकः' इत्याद्यभिनिवेशः, **व्रतलोपो** ब्रह्मचारिणः स्त्रीप्रसङ्गः, **सुतानामपत्यानां विक्रयः**, **धान्यं** व्रीह्यादि, **कुप्यम**सारद्रव्यं त्रपुसीसादि, **पशवो** गवादयः, तेषा**मपहरणम्**; 'गोवधो व्रात्यता स्तेयम्'(प्रा. २३४)इत्यनेन स्तेयग्रहणेनैव सिद्धे पुनर्धान्यकुप्यादिस्तेयग्रहणं नित्यार्थम्। अतो धान्यादिव्यतिरिक्तद्रव्यस्तेये नावश्यमेतदेव प्रायश्चित्तम्, अपि तु ततो न्यूनमपि भवत्येव। एतेन 'बान्धवत्याग'ग्रहणेनैव सिद्धे पुनः 'पित्रादित्याग'ग्रहणं व्याख्यातम्। **अयाज्यानां** जातिकर्मदुष्टानां शूद्रव्रात्यादीनां **याजनम्**। **पितृमातृसुता**नामपतितानां **त्यागो**

गृहान्निष्कासनम्। **तडागस्यारामस्य** चोद्यानोपवनादेर्विक्रयः। **कन्यायाः संदूषणम**ङ्गुल्यादिना योनिविदारणम्, नतु भोगः। तस्य 'सखिभार्याकुमारीषु' (प्रा०२३९) इति गुरुतल्पगसमत्वस्योक्तत्वात्। **परिविन्दकयाजनं**, तस्य च **कन्याप्रदानम्**। **कौटिल्यं** गुरोरन्यत्र, गुरुविषयस्य तु कौटिल्यस्य सुरापानसमत्वमुक्तम्। पुन'**र्व्रतलोप' ग्रहणं** शिष्टाप्रतिषिद्धेष्वपि श्रीहरिचरणकमलप्रेक्षणात् प्राक् ताम्बूलादिकं न भक्षयामीत्येवंरूपेषु प्राप्त्यर्थं, नतु स्नातकव्रतप्राप्त्यर्थम्। 'स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्' (११।२०३) इति मनुना लघुप्रायश्चित्तस्य प्रतिपादितत्वात् ॥ तथाऽऽत्मार्थं च पाकलक्षण**क्रियारम्भः**; 'अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्' (मनुः ३।११८) इति तस्यैव प्रतिषिद्धत्वात्। क्रियामात्रविषयत्वे तु प्रतिषेधकल्पनया गौरवं स्यात्। **मद्यपायाः स्त्रियाः** जायाया अपि **निषेवणम्**उपभोगः, **स्वाध्यायत्यागो** व्याख्यातः, **अग्नीनां** च श्रौतस्मार्तानां **त्यागः**, **सुतत्यागः** संस्काराद्यकरणम्, बान्धवानां पितृव्यमातुलादीनां **त्यागः** सति विभवे अपरिरक्षणम्। **पाकादिदृष्टप्रयोजनसिद्ध्यर्थमार्द्रद्रुमच्छेदो** न त्वाहवनीयपरिरक्षणार्थमपि। स्त्रिया हिंसया औषधेन च वर्तनं जीवनं **स्त्रीहिंसौषधजीवनम्**। तत्र स्त्रीजीवनं नाम भार्यां पण्यभावेन प्रयोज्य तल्लब्धोपजीवनम्, स्त्रीधनेनोपजीवनं वा। हिंसया जीवनं प्राणिवधेन जीवनम्। औषधजीवनं वशीकरणादिना। **हिंस्रयन्त्रस्य** तिलेक्षुपीडाकारस्य **प्रवर्तनम्**। **व्यसनानि** मृगयादीन्यष्टादश[1]। **आत्मविक्रयो** द्रव्यग्रहणेन परदास्यकरणम्। **शूद्रसेवनं हीनेषु मैत्रीकरणम्**। अनूढसवर्णदारस्य केवल**हीनवर्णदारोपयमनं** साधारणस्त्रीसंभोगश्च। **अनाश्रमवासः** अगृहीताश्रमित्वं सत्यधिकारे। **परान्नपरिपुष्टता** परपाकरतित्वम्। **असच्छास्त्रस्य** चार्वाकादिग्रन्थस्य**अधिगमः**। **सर्वाकरेषु** सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु राजाज्ञया**अधिकारित्वम्**। **भार्याया विक्रयः**' 'च'शब्दान्मन्वाद्युक्ताभिचारामतिपूर्वलशुनादिभक्षणादेर्ग्रहणम्। **एषां** गोवधादीनां **प्रत्येकमुपपातकसंज्ञा वेदितव्या**। मनुना पुनरन्यान्यपि निमित्तानि जातिभ्रंशकरसंकरीकरणापात्रीकरणमलिनीकरणसंज्ञानि परिगणितानि। (मनुः ११। ६७–७०)—'ब्राह्मणस्य रुजःकृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः। जैह्म्यं पुंसि[2] च मैथुन्यं जातिभ्रंशकरं स्मृतम्॥ खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा। संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च॥ निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम्। अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम्। कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम्। फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम्॥' इति॥ अतोऽन्यन्निमित्तजातं प्रकीर्णकं कथ्यते॥ वृहद्विष्णुना च समस्तानि प्रायश्चित्तनिमित्तान्युत्तरोत्तरलघीयांसि पृथक्संज्ञाभेदभिन्नानि दर्शितानि—'ब्रह्महत्या सुरापानं ब्राह्मणसुवर्णापहरणं गुरुदारगमनमिति महापा-

तकानि तत्संयोगश्च । मातृगमनं दुहितृगमनं स्नुषागमनमित्यतिपातकानि । यागस्थक्षत्रियवधो वैश्यस्य च रजस्वलायाश्चान्तर्वत्न्याश्चात्रिगोत्रायाश्चाविज्ञातस्य गर्भस्य शरणागतस्य च घातनं ब्रह्महत्यासमानि । कौटसाक्ष्यं सुहृद्वध इत्येतौ सुरापानसमौ । ब्राह्मणभूमिहरणं सुवर्णस्तेयसमम् । पितृव्यमातामहमातुलनृपपत्न्यभिगमनं गुरुदारगमनसमम् । पितृष्वसृमातृष्वसृगमनं श्रोत्रियर्त्विगुपाध्यायमित्रपत्न्यभिगमनं च । स्वसुः सख्याः सगोत्राया उत्तमवर्णाया रजस्वलायाः शरणागतायाः प्रव्रजितायाः निक्षिप्तायाश्च गमनमित्येतान्यनुपातकानि । अनृतवचनं समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् । गुरोश्चालीकनिर्बन्धो वेदनिन्दा अधीतस्य त्यागोऽग्निपितृमातृसुतदाराणां च अभोज्यान्नभक्षणं परस्वापहरणं परदारानुगमनमयाज्यानां च याजनं व्रात्यता भृतादध्यापनं भृतकाध्ययनादानं सर्वाकरेष्वधिकारो महायन्त्रप्रवर्तनं द्रुमगुल्मवल्लीलतौषधीनां हिंसया जीवनमभिचारमूलकर्मसु च प्रवृत्तिरात्मार्थक्रियारम्भः अनाहिताग्निता देवर्षिपितृणामृणस्यानपाक्रिया असच्छास्त्राधिगमनं नास्तिकता कुशीलता मद्यपस्त्रीनिषेवणमित्युपपातकानि । ब्राह्मणस्य रुजःकरणमघ्रेयमद्ययोर्घ्रातिर्जैह्म्यं पशुषु पुंसि च मैथुनाचरणमित्येतानि जातिभ्रंशकराणि । ग्राम्यारण्यपशूनां हिंसनं संकरीकरणम् । निन्दितेभ्यो धनादानं, वाणिज्यं, कुसीदजीवनं, असत्यभाषणं, शूद्रसेवनमित्यपात्रीकरणानि । पक्षिणां जलचराणां जलजानां च घातनं कृमिकीटघातनं मद्यानुगतभोजनमिति मलावहानि । यदनुक्तं तत्प्रकीर्णकम्' इति ॥ कात्यायनेन तु महापातकसमानां विष्णुनाप्युपपातकत्वेनोक्तानां पातकसंज्ञा दर्शिता—'महापापं चातिपापं तथा पातकमेव च । प्रासङ्गिकं चोपपापमित्येवं पञ्चको गणः ॥' इति ॥ ननूपपातकादीनां कथं पातकत्वं? पतनहेतुत्वाभावात् । यदि तेषामपि पतनहेतुत्वं तर्हि 'मातृपितृयोनिसंबद्धाङ्गः' इत्यादिपरिगणनमनर्थकम् । अथैवमुच्येत—यद्यपि महापातकतत्समेष्विव सद्यःपातित्यहेतुत्वं नास्ति, तथाप्यभ्यासापेक्षया पातित्यहेतुत्वमविरुद्धम्; 'निन्दितकर्माभ्यासी' (२१।१) इति गौतमवचनादिति । मैवम्; अभ्यासस्यानिरूप्यमाणत्वात् द्विः शतकृत्वो वेति तत्राविशेषेऽङ्गीक्रियमाणे योऽपि द्विर्दिवा स्वपिति, यः शतकृत्वो वा गोवधं करोति, तयोरविशेषेण पातित्यं स्यात् । अत्रोच्यते, यत्रार्थवादे प्रत्यवायविशेषः श्रूयते, प्रायश्चित्तबहुत्वं वा तस्मिन्निन्दितकर्मणि यावत्यभ्यस्यमाने महापातकतुल्यत्वं भवति—तावानभ्यासः पातित्यहेतुः । दिवास्वप्नादौ तु सहस्रकृत्वोऽप्यभ्यस्यमाने न महापातकतुल्यत्वं भवतीति न तत्र पातित्यम्, अतो युक्तमुपपातकादेरभ्यासापेक्षया पतनहेतुत्वम् ॥ २३४–२४२ ॥

गोवध, व्रात्यता (समय पर उपनयन न करना), चोरी (ब्राह्मण के स्वर्ण तथा तत्समान के अतिरिक्त), ऋण का न लौटाना, (अधिकारी होने पर भी) अग्नि का आधान न करना, न विक्रेय (लवणादि) का विक्रय, जेठे भाई के अविवाहित होने पर छोटे भाई का विवाह और अग्निस्थापन, अध्यापक को द्रव्य देकर पढ़ना तथा

द्रव्य लेकर पढ़ाना, परस्त्री (गुरुपत्नी तथा तत्समान के अतिरिक्त) का सेवन, छोटे भाई के विवाह करने पर बड़े भाई का अविवाहित रहना, निषिद्ध सूदखोरी, नमक बनाना, स्त्री, शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय का वध, निन्दित धन (नियम-विरुद्ध धन) से जीविका, नास्तिकता (परलोक, वेदशास्त्रादि को न मानना), व्रतलोप (यथा ब्रह्मचारी होते हुये स्त्री-सेवन), पुत्रों का विक्रय, धान्य (अन्न), कुप्य (असार द्रव्य-कांसा, सीसा आदि) और पशु (गाय) आदी की चोरी, न यज्ञ कराने योग्य (शूद्र, व्रात्य आदि) का यज्ञ कराना, पिता, माता और पुत्रों का त्याग (घर से निकालना), तालाब और बगीचे का विक्रय, कन्या का संदूषण (अंगुली आदि से योनि-विदारण), परिविन्दक (जेठे भाई के अविवाहित रहते अपना विवाह करने वाले) का यज्ञ कराना, कुटिलता (गुरु से अन्यत्र क्योंकि गुरु से कुटिलता पहले ही सुरापान के समान बता दी गई है), व्रत का लोप (जैसे मैं भगवान् का दर्शन किये बिना पान नहीं खाऊँगा इत्यादि), अपने ही लिये भोजन बनाना, मद्य पीने वाली स्त्री का उपभोग, स्वाध्याय और श्रौत-स्मार्त अग्नियों का त्याग, पुत्र का त्याग (समय पर संस्कार न करना), बान्धवों (चाचा, मामा आदि) का त्याग (वैभव रहते पोषण न करना), (जलाने के लिये अग्निहोत्र के लिये नहीं) हरे पेड़ का काटना, स्त्री की हिंसा और औषधि के विक्रय से जीविका चलाना (अथवा स्त्री के धन या विक्रय से, हत्या से और औषधि से जीविका चलाना), मारने वाले यन्त्रों का चलाना (या तिल, ईंख पेरने के यन्त्रों को प्रवर्तित करना), व्यसन (मृगया आदि), अपने को (द्रव्य लेकर दासरूप में) बेचना, शूद्र की नौकरी, नीच से मित्रता, बिना किसी आश्रम में रहना, दूसरे के अन्न से परिपुष्ट होना, असत् शास्त्रों को पढ़ना, (सुवर्णादि) खानों पर अधिकार, भार्या का विक्रय— इनमें प्रत्येक उपपातक है ॥२३४-२४२ ॥

एवं व्यवहारार्थं संज्ञाभेदसहितं प्रायश्चित्तनिमित्तपरिगणनं कृत्वा नैमित्तिकानि प्रदर्शयितुमाह—

शिरःकपाली ध्वजवान्भिक्षाशी कर्म वेदयन् ।
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक्शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४३ ॥

शिरसः कपालमस्यास्तीति **शिरःकपाली**, तथा **ध्वजवान्** 'कृत्वा शवशिरोध्वजम्' (११।७२)—इति मनुस्मरणात् । अन्यच्छिरःकपालं दण्डाग्रसमारोपितं ध्वजशब्दवाच्यं गृह्णीयात् । तच्च कपालं स्वव्यापादितब्राह्मणशिरःसंबन्धि ग्राह्यम् । 'ब्राह्मणो ब्राह्मणं घातयित्वा तस्यैव शिरःकपालमादाय तीर्थान्यनुसंचरेत्' इति शातातपस्मरणात् । तदलाभेऽन्यस्यैव ब्राह्मणस्यैव ग्राह्यम् । एतदुभयं पाणिनैव ग्राह्यम् । 'खट्वाङ्गकपालपाणिः' (२२।४) इति गौतमस्मरणात् । 'खट्वाङ्ग'शब्देन दण्डारोपितशिरःकपालात्मको ध्वजो गृह्यते; न पुनः खट्वैकदेशः, 'महोक्षः खट्वाङ्गं परशुः' इत्यादिव्यवहारेषु तस्यैव प्रसिद्धेः । एतच्च कपालधारणं

चिह्नार्थं, न पुनर्भोजनार्थं भिक्षार्थं वा; 'मृन्मयकपालपाणिर्भिक्षायै ग्रामं प्रविशेत्' (२२।४) इति गौतमस्मरणात्। तथा वनवासिना च तेन भवितव्यम्। 'ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत्' (११।७२) इति मनुस्मरणात्। ग्रामसमीपादौ वा। (मनुः ११।७८)—'कृतवापनो वा निवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा। आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः॥' इति तेनैवोक्तत्वात्। 'कृतवापनो वा' इति विकल्पाभिधानाज्जटी वेति लक्ष्यते। अत एव संवर्तः—'ब्रह्महा द्वादशाब्दानि बालवासा जटी ध्वजी' इति। तथा भिक्षाशनशीलश्च भवेत्। भिक्षा च लोहितकेन मृन्मयखण्डशरावेण ग्राह्या; 'लोहितकेन खण्डशरावेण ग्रामं भिक्षायै प्रविशेत्' (१२४।१४) इति आपस्तम्बस्मरणात्। सप्तागाराण्येवान्नमिष्टं लभ्येत यानवेत्येवमसंकल्पितानि भिक्षार्थं प्रविशेत्; 'सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षम्' (१०।७) इति वसिष्ठस्मरणात्। तथैककाल एव सा ग्राह्या; 'एककालाहारः' इति तेनैवोक्तत्वात्। एतच्च भैक्षं ब्राह्मणादिवर्णेष्वेव कार्यम्; 'चातुर्वर्ण्ये चरेद्भैक्षं खट्वाङ्गी संयतात्मवान्' इति संवर्तस्मरणात्। तथा 'ब्रह्महास्मि' इति स्वकर्म ख्यापयन् द्वारि स्थितो [1]भिक्षां याचेत्; 'वेश्मनो द्वारि तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः' इति पराशरस्मरणात्। अयं च भैक्षाशित्वनियमो वन्यैर्जीवनाशक्तौ द्रष्टव्यः; 'भिक्षायै प्रविशेद्ग्रामं वन्यैर्यदि न जीवति' इति संवर्तस्मरणात्। तथा ब्रह्मचर्यादियुक्तेन च तेन भवितव्यम्। खट्वाङ्गकपालपाणिर्द्वादशवत्सरान्ब्रह्मचारी भिक्षायै ग्रामं प्रविशेत्कर्माचक्षाणः। यथोपक्रामेत्स संदर्शनादार्यस्य ('उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निशि। एतद्वीरासनं नाम सर्वपापप्रणाशनम्॥')—'स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूदकोपस्पर्शी शुद्ध्येत्' (२१।६) इति गौतमस्मरणात्। 'ब्रह्मचारि'ग्रहणं च 'वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्नाञ्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहहर्षनृत्यगीतपरिवादनभयानि' इति ब्रह्मचारिप्रकरणोक्ताविरुद्धधर्मप्राप्त्यर्थम्। अत एव शङ्खः—'स्थानवीरासनी मौनी मौञ्जी दण्डकमण्डलुः। भिक्षाचर्याग्निकार्यं च कूष्माण्डीभिः सदा जपः॥' इति, तस्य भवेदिति शेषः॥ अत्र सवनेषूदकस्पर्शीति स्नानविधानात्तदङ्गभूतमन्त्रादिप्राप्तिरप्यवगम्यते। तथा 'शुचिना कर्म कर्तव्य'मित्यस्य सर्वकर्मसाधारणत्वाद्व्रतचर्याङ्गभूतशौचसंपत्त्यर्थं स्नानवत्संध्योपासनमपि कार्यम्। तस्यापि शौचापादनद्वारेण सर्वकर्मशेषत्वात्। तथा च दक्षः—'संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यत्किञ्चित्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥' इति। न च 'द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्' इति वचनात् संध्योपासनायाश्च द्विजातिकर्मत्वादप्राप्तिरिति शङ्कनीयम्। यस्मात्पतितस्यैव व्रतचर्योपदेशात्तदङ्गतयैव संध्योपासनादिप्राप्तिः। अतो 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानं ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः' इत्यादीनामेव द्विजातिकर्मणां व्रतचर्यानङ्गभूतानां हानिर्न सर्वेषाम्; तावन्मात्रबाधेन हानिवचनस्य चरितार्थत्वात्। इयं च मनुयाज्ञव-

ल्क्यगौतमादिप्रतिपादिता द्वादशवार्षिकव्रतचर्यैकैव न पुनर्भिन्ना । परस्परसापेक्षत्वादविरोधाच्च । तथा हि—**भिक्षाशी कर्म वेदयन्**नित्युक्ते किं भिक्षापात्रं केषां वा गृहेषु कतिषु वेत्याकाङ्क्षा जायेतैव । तत्र 'लोहितकेन खण्डशरावेण' (१।२४।१४) इत्यापस्तम्बादिवचनैः परिपूरणमविरुद्धम् । अतः सर्वैरेकक्लपोपदेशात्कैश्चिदुक्तं मनुगौतमाद्युक्तेतिकर्तव्यतायाः परस्परसापेक्षत्वेऽपि विकल्प इति तदनिरूप्यैवोक्तमिति मन्तव्यम् । एवं **द्वादशवर्षाणि व्रतचर्यामावर्त्य ब्रह्महा शुद्धिमाप्नुयात्** । इयं चाकामकृतब्रह्मवधविषया (११।८९)—'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ अत्रेदं चिंन्तनीयम्—किं द्वि[2]त्रब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तस्य तन्त्रत्वमुतावृत्तिरिति । तत्र केचिन्मन्यन्ते ब्रह्महा द्वादशाब्दानीत्यत्र ब्रह्मशब्दस्यैकस्मिन्द्वयोर्बहुषु साधारणत्वादेकस्मिन्ब्राह्मणवधे यत्प्रायश्चित्तं तदेव द्वितीये तृतीयेऽपि । तत्रैकब्राह्मणवधनिमित्तैकप्रायश्चित्तानुष्ठाने सतीदं कृतमिदं नेति न शक्यते वक्तुम् । देशकालकर्तृणां प्रयोगानुबन्धभूतानामभेदेनागृह्यमाणविशेषत्वात्तन्त्रानुष्ठानेनैव पापक्षयलक्षणकार्यनिष्पत्तिर्युक्ता । यथा तन्त्रानुष्ठितैः प्रयाजादिभिराग्नेयादिषु तन्त्रेणैवानेकोपकारलक्षणकार्याणां निष्पत्तिः । नचैवं वाच्यम् 'द्वि[3]त्रब्राह्मणवधे पापस्य गुरुत्वादेनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनि' (१९।१९) इति, गौतमवचनादावृत्तमेव प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तम्, विलक्षणकार्ययोस्तन्त्रेण निष्पत्त्यनुपपत्तेरिति । यतो नेदं वचनमावृत्तिविधायकं किंतूपदिष्टानां गुरुलघुकल्पानां व्यवस्थाप्रतिपादनपरम् । नच द्वितीयब्राह्मणवधे पापस्य गुरुत्वं, प्रमाणाभावात् । यच्च मनुदेवलाभ्यामुक्तम्—'विधेः प्राथमिकादस्माद्द्वितीये द्विगुणं भवेत् । तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥' इति,–तदपि 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकंशास्त्रमावर्तते' इति न्यायेन, द्वित्रब्राह्मणवधगोचरनैमित्तिकशास्त्रावृत्त्यनुवादेन चतुर्थे तदभावविधिपरम्, न पुनर्द्वितीयब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानुष्ठानद्वैगुण्यविधिपरमपि; वाक्यभेदप्रसंगात् । तस्मात् द्वित्रब्राह्मणवधेऽपि सकृदेव द्वादशवार्षिकाद्यनुष्ठानं युक्तम्, यथा 'अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपे'दित्यादिगृहदाहादिनिमित्तेषु चोदितानां क्षामवत्यादीनां युगपदनेकेष्वपि गृहदाहादिनिमित्तेषु सकृदेवानुष्ठानम् । अत्रोच्यते—नहि वचनविरोधे न्यायः प्रभवति । वचनं च विधेः प्राथमिकादित्यादिकं द्वित्रब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तानुष्ठानावृत्तिविधिपरम् । एवं सति न्यायलभ्यतन्त्रानुष्ठानबाधेनावृत्तिविधाविदं वचनं प्रवृत्तिविशेषकरं स्यात् । इतरथा शास्त्रतः प्राप्त्यनुवादकत्वेनानर्थकं स्यात् । नच वाक्यभेदः । चतुर्थादिब्रह्मवधपर्युदासेनेतरत्रा[2]वृत्तप्रायश्चित्तविधानेनैकार्थत्वात् । किंच, 'चतुर्थे नास्ति निष्कृति'रिति लिङ्गदर्शनाद्धन्यमानब्राह्मणसंख्योत्कर्षे दोषगौरवं गम्यते । तथा देवलादिवचनाच्च 'यत्स्यादनभिसंधाय पापं कर्म सकृत्कृतम् । तस्येयं निष्कृतिर्दृष्टा धर्मविद्भिर्मनीषिभिः ॥' इति । नच विलक्षणयोर्गुरुलघुदोषयोः क्षयस्तन्त्रेण निष्पद्यते । अत

एवंविधेषु दोषगुरुत्वेन कार्यवैलक्षण्यादपि प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकस्यावृत्तिर्युक्ता। क्षामवत्यादिषु पुनः कार्यस्यावैलक्षण्याद्युक्तस्तन्त्रभाव इत्यलं प्रपञ्चेन। यच्चेदं 'चतुर्थे नास्ति निष्कृति'रिति, तदपि महापातकविषयम्;पापस्यातिगुरुत्वेन प्रायश्चित्ताभावप्रतिपादनपरत्वात्। अतः शूद्रान्नसेवनादौ बहुशोऽप्यभ्यस्ते तदनुगुणप्रायश्चित्तावृत्तिः कल्पनीया, न पुनः प्रायश्चित्ताभावः। अत एवोक्तं मनुना (११।१४०)—'पूर्णे चानस्यनस्थां[1] तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत्' इति। इदं च द्वादशवार्षिकं व्रतं साक्षाद्धन्तुरेव; ब्रह्महेति तस्यैवाभिधानात्। अनुग्राहकप्रयोजकादेस्तु तत्तद्दोषानुसारेण प्रायश्चित्ततारतम्यं कल्पनीयम्। तत्रानुग्राहको यत्प्रायश्चित्तभाजं पुरुषमनुगृह्णाति स तत्प्रायश्चित्तं पादोनं कुर्यात्। अतस्तस्य द्वादशवार्षिके पादोनं नववार्षिकं प्रयोजकस्त्वर्धोनं षड्वार्षिकं कुर्यात्। अनुमन्ता पुनः सार्धपादं सार्धचतुर्वार्षिकं निमित्ती त्वेकपादं त्रिवार्षिकम्। अत एव सुमन्तुः—'तिरस्कृतो यदा विप्रो हत्वात्मानं मृतो यदि। निर्गुणः साहसात्क्रोधाद्गृहक्षेत्रादिकारणात्॥ त्रैवार्षिकं व्रतं कुर्यात्प्रतिलोमां सरस्वतीम्। गच्छेद्वापि विशुद्ध्यर्थं तत्पापस्येति निश्चितम्॥ अत्यर्थं निर्गुणो विप्रो ह्यत्यर्थं निर्गुणोपरि। क्रोधाद्वै म्रियते यस्तु निर्निमित्तं तु भर्त्सितः॥ वत्सरत्रितयं कुर्यान्नरः कृच्छ्रं विशुद्धये॥' इति। यदा पुनर्निमित्त्यत्यन्तगुणवान्[2] आत्मघाती चात्यन्तनिर्गुणस्तदैकवर्षमेव ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यात्; 'केशश्मश्रुनखादीनां कृत्वा तु वपनं वने। ब्रह्मचर्यं चरन्विप्रो वर्षेणैकेन शुद्ध्यति॥' इति तेनैवोक्तत्वात्॥ अनयैव दिशानुग्राहकप्रयोजकादीनां येऽनुग्राहकप्रयोजकादयस्तेषामपि प्रायश्चित्तं कल्प्यम्। अस्यां च कल्पनायां प्रयोजयिताऽनुमन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मिन्फलविशेषः' (२।२९।१) इत्यापस्तम्बीयं वचनं मूलम्। तथा प्रोत्साहकादीनामपि दण्डप्रायश्चित्ते कल्प्ये। यथाह पैठीनसिः—'हन्ता मन्तोपदेष्टा च तथा संप्रतिपादकः। प्रोत्साहकः सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः॥ आश्रयः शस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम्। उपेक्षकः शक्तिमांश्चेद्दोषवक्ताऽनुमोदकः॥ अकार्यकारिणस्त्वेषां प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्। यथाशक्त्यनुरूपं च दण्डं चैषां प्रकल्पयेत्॥' इति॥ तथा बालवृद्धादीनां साक्षात्कर्तृत्वेऽप्यर्धमेव; 'अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः। प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात्॥ तथा सुमन्तुः—'अर्वाक्तु द्वादशाद्वर्षादशीतेरूर्ध्वमेव वा। अर्धमेव भवेत्पुंसां तुरीयं तत्र योषिताम्॥' इति॥ तथाऽनुपनीतस्यापि बालकस्य पादमात्रमेव प्रायश्चित्तम्; 'स्त्रीणामर्धं प्रदातव्यं वृद्धानां रोगिणां तथा। पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः॥' इति विष्णुस्मरणात्। अतश्च यच्छङ्खेन—'ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च। प्रायश्चित्तं चरेद्भ्राता पिता वाऽन्यः सुहृज्जनः॥' इति प्रतिपाद्योक्तम्,–'अतो बालतरस्यास्य नापराधो न पातकम्। राजदण्डो न तस्यास्ति प्रायश्चित्तं न विद्यते॥' इति,–तदपि संपूर्णप्रायश्चित्ताभाव-

प्रतिपादनपरं, न पुनः सर्वात्मना तदभावप्रतिपादनपरम्। आश्रमविशेषनिरपेक्षेण श्रूयमाणेषु ‘ब्राह्मणो न हन्तव्यः’ ‘तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्’ इत्येवमादिष्वनपेक्षितवयोविशेषस्यैवाधिकारात्। अतश्च तदीयमपि प्रायश्चित्तं पित्रादिभिरेवाचरणीयम्; ‘पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वेदमध्याप्य वृत्तिं विदध्यात्’ इति तस्यैव पुत्रादिहिताचरणेऽधिकृतत्वात्। यत्र पुनः कस्मिंश्चिद्ब्रह्मवधे प्रयोजकैकभावमापन्नस्यान्यस्मिन्साक्षात्कर्तृत्वे गुरुलघुप्रायश्चित्तसंपातस्तत्र द्वादशवार्षिकादिगुरुप्रायश्चित्तान्तःपातिनः प्रयोजकसंबन्धिलघुप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्कार्यसिद्धिः। नचैवं सत्यविशेषाल्लघुकल्पेन महतोऽपि सिद्धिः स्यादित्याशङ्कनीयम्। अत्र ह्यन्तःपातितयानुष्ठाने विशेषानवगमात्प्रसङ्गात्कार्यसिद्धिरवगम्यते। नच लघ्वन्तःपाती महाकल्प इति कुतः प्रसङ्गाशङ्का? नच चैत्रवधजनितकल्मषक्षयार्थमनुष्ठितेन कथं विष्णुमित्रवधोत्पाद्यपापनिवृत्तिरिति वाच्यम्; चैत्राद्युद्देशस्यातन्त्रत्वात्। अतो यथा काम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थं स्वर्गार्थं वाऽनुष्ठितैराग्नेयादिभिर्नित्यनियोगनिष्पत्तिस्तद्वल्लघुप्रायश्चित्तस्यापि कार्यसिद्धिः। यत्पुनर्मध्यमाङ्गिरोवचनम्—‘गवां सहस्रं विधिवत्पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत्। ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च॥’ इति,—तत्सवनस्थगुणवद्ब्राह्मणविषयम्। एतच्च ‘द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत्’ इत्येतद्वाक्यविहितद्विगुणद्वादशवार्षिकव्रतचर्याशक्तस्य वेदितव्यम्; प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात्। न त्वनावृत्तद्वादशवार्षिकविषयम्। तत्र हि

द्वादशदिनान्येकैकप्राजापत्यमिति गणनायां प्राजापत्यानां षष्ट्यधिकशतत्रयं भवति। यद्यपि प्राजापत्यस्यान्ते त्र्यहमुपवासोऽधिकस्तथाप्यत्र वनवासजटाधारणवन्याहारत्वादिरूपतपोविशेषयुक्तत्वादुपवासाभावेऽप्येकैकस्य द्वादशाहस्य प्राजापत्यतुल्यत्वम्। ततश्च ‘प्राजापत्यक्रियाशक्तौ धेनुं दद्याद्विचक्षणः। गवामभावे दातव्यं तन्मूल्यं वा न संशयः॥’ इत्यनेन न्यायेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकस्यां धेन्वां दीयमानायां धेनूनामपि षष्ट्यधिकं शतत्रयं भवति, न पुनः सहस्रम्। अतो यथोक्त एव विषयो युक्तः। यदपि शङ्खवचनम्—‘पूर्ववदमतिपूर्वं चतुर्षु वर्णेषु विप्रं प्रमाप्य द्वादशवत्सरान्षड् त्रीन्सार्धं संवत्सरं च व्रतान्यादिशेत्तेषामन्ते गोसहस्रं तदर्धं तस्यार्धं तदर्धं च दद्यात्सर्वेषां वर्णानामानुपूर्व्येणे’ति द्वादशवार्षिकगोसहस्रयोः समुच्चयविधिपरं, तदाचार्यादिहननविषयं द्रष्टव्यम्; तस्यातिगुरुत्वात्। तथा च दक्षः—‘सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे। आचार्ये शतसाहस्रं श्रोत्रिये दत्तमक्षयम्॥’ इति प्रतिपाद्योक्तवान्—‘समं द्विगुणसाहस्रमानन्त्यं च यथाक्रमम्। दाने फलविशेषः स्याद्धिंसायां तद्वदेव हि॥’ इति। तथापस्तम्बेन (१।२४।२४) द्वादशवार्षिकमुक्त्वोक्तमस्मिन्नेव विषये—‘गुरुं हत्वा श्रोत्रियं वा एतदेव व्रतमोत्तमादुच्छ्वासाच्चरेत्’ इति, तत्र यावज्जीवमावर्तमाने व्रते यदा त्रैगुण्यं चातुर्गुण्यं वा संभाव्यते तदा तत्राऽसमर्थस्य बहुधनस्यायं दानतपसोः समुच्चयो द्रष्टव्यः।

द्वादशवार्षिकव्यतिरिक्तानां तु सुमन्तुपराशराद्युक्तानां प्रायश्चित्तानामुत्तरत्र व्यवस्थां वक्ष्यामः ॥ ननु द्वादशवार्षिकादिकल्पानां व्यवस्था कुतोऽवसिता ? न तावद्द्वादशवार्षिकादिविधायकवाक्यैरिति युक्तम्; तत्राप्रतीतेः । नच वाच्यं प्रमाणावगतगुरुलघुकल्पानां वाधो मा प्रसाङ्क्षीदिति व्यवस्था कल्प्यत इति । विकल्पसमुच्चयाङ्गाङ्गिभावानामन्यतमाश्रयणेनापि बाधस्य सुपरिहरत्वात् । अत्रोच्यते—न तावद्द्वादशवार्षिकसेतुदर्शनादीनां विषमकल्पानां विकल्पोऽवकल्प्यते; विकल्पाश्रयणे गुरुकल्पानामनुष्ठानासंभवेनानर्थक्यप्रसङ्गात् । नच षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विषमयोरपि विकल्पोपपत्तिरिति वाच्यम् । यतस्तत्रापि सति संभवे ग्रहणमेवेति युक्तं कल्पयितुम् । यद्वा षोडशिग्रहणानुगृहीतेनातिरात्रेण क्षिप्रं स्वर्गादिसिद्धिरतिशयितस्य वा स्वर्गस्येति कल्पनीयम् । इतरथा ग्रहणविधेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । नापि समुच्चयः । उपदेशातिदेशप्राप्तिमन्तरेण समुच्चयो न संभवति; उपदेशावगतनैरपेक्ष्यस्य बाधप्रसङ्गात् । नचाङ्गाङ्गिभावः; श्रुत्यादिविनियोजकानामभावात् । श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानानि विनियोजकानि । अतः परस्परोपमर्दपरिहारार्थं विषयव्यवस्थाकल्पनैवोचिता । सा च जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया कल्पनीया; 'जातिशक्तिगुणापेक्षं सकृद्बुद्धिकृतं तथा । अनुबन्धादिविज्ञाय प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥' इति देवलस्मरणात् ॥ २४३ ॥

ब्रह्महत्या करने वाला (महापातकी) (उसी मारे गये ब्राह्मण के) शिर की खोपड़ी हाथ में लेकर तथा दूसरी खोपड़ी बाँस के डंडे के ऊपर बाँधकर, अपने किये कर्म को सबसे बतलाते हुये तथा मित भोजन करते हुये बारह वर्ष व्यतीत होने पर शुद्ध होता है ॥२४३ ॥

पूर्वोक्तस्य ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तस्य नैमित्तिकसमाप्त्यवधिमाह—

ब्राह्मणस्य परित्राणाद्गवां द्वादशकस्य च ।
तथाश्वमेधावभृथस्नानाद्वा शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४४ ॥

यश्चौरव्याघ्रादिभिर्व्यापाद्यमानस्य ब्राह्मणस्यैकस्याप्यात्मप्राणानन्तरे कृत्वा प्राणत्राणं करोति गवां द्वादशकस्य[२]ासावसंपूर्णेऽपि द्वादशवार्षिके शुद्ध्येत् । यद्यपि प्राणत्राणे प्रवृत्तस्तदकृत्वैव म्रियते तथापि शुद्ध्यत्येव । अत एव मनुना (११।७९)—'ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजन् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥' इति । ब्राह्मणरक्षणं तदर्थं मरणं च पृथगुपात्तम् । तथा परकीयाश्वमेधावभृथाख्यकर्माङ्गभूतस्नानसमये स्वयमपि स्नात्वा ब्रह्महत्यायाः शुद्धिं प्राप्नुयात् । [३]स्नानं च स्वकल्मषं विख्याप्य कुर्यात् । तथा च मनुः

(११।८२)—'शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽवभृथे स्नात्वा हयमेधेविमुच्यते ॥' इति । भूमिदेवा ब्राह्मणा ऋत्विजस्तेषां राज्ञा नरदेवेन यजमानेन राज्ञा समवाये स्वीयमेनः शिष्ट्वा विख्याप्याऽश्वमेधावभृथे स्नात्वा शुद्ध्यति यदि तैरनुज्ञातो भवति; 'अश्वमेधावभृथं गत्वा तत्रानुज्ञातः स्नातः सद्यः पूतो भवति' इति शङ्खस्मरणात् ॥ अश्वमेधावभृथग्रहणमग्निष्टुन्मध्यानां पञ्चदशरात्रादिक्रत्वन्तराणामग्निष्टुत्समाप्तिकानां च सर्वमेधादीनामुपलक्षणम् । 'अश्वमेधावभृथे वान्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेत्' (२२।९,१०) इति गौतमस्मरणात् । अयं च प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य कथंचिद्ब्राह्मणप्राणत्राणादिकं कुर्वतो व्रतसमाप्त्यवधिरुच्यते । यथा सारस्वते सत्रे प्लाक्षं प्रस्रवणं प्राप्योत्थानमृषभैकशतानां वा गवां सहस्रमभावे सर्वस्वदानं गृहपतिमरणे चेति । न पुनः स्वतन्त्रं प्रायश्चित्तान्तरम् । तथाच शङ्खः—'द्वादशे वर्षे शुद्धिं प्राप्नोत्यन्तरा वा ब्राह्मणं मोचयित्वा, गवां द्वादशानां परित्राणात्सद्य एवाश्वमेधावभृथस्नानाद्वा पूतो भवति' इति । अत एव मनुना (११।७८)—'कृतवापनो वा निवसेत्' इति द्वादशवार्षिकस्य गुणविधिं प्रक्रम्य (११।७९)—'ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजन् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥' इत्यादिना मध्ये ब्राह्मणत्राणादिकमभिधाय (११।८१)—'एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥' इति द्वादशवार्षिकमेवोपसंहृतम् । ननु ब्रह्महत्यायाः शुद्धिमाप्नुयादिति ब्राह्मणत्राणादीनां द्वादशवार्षिकेण सहैकफलत्वावगमात्स्वातन्त्र्यमेव युक्तं न पुनरङ्गत्वम्, किंच प्रधानविरोधित्वादपि नाङ्गत्वम् । प्रधानानुग्राहकं ह्यङ्गं भवति । नच प्रारब्धद्वादशवार्षिकस्येदं विधानम् । येन तत्कार्ये विधानं गम्यते । यथा 'सत्रायावगूर्य विश्वजिता यजेत' इति सत्रप्रयोगप्रवृत्तस्य तत्परिसमापनाक्षमस्य विश्वजिद्विधानमतोऽपि स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । यथाग्निप्रवेशलक्ष्यभावादीनाम् । नच तेषामपि द्वादशवार्षिकोपक्रमोपसंहारमध्यपठितत्वेन तदङ्गत्वमिति शङ्कनीयम् । यतः सत्यपि मध्यपाठे निर्ज्ञातप्रयोजनत्वेन प्रयोजनाकाङ्क्षाविरहान्न परस्परमङ्गाङ्गित्वं युक्तम् । यथा सामिधेनीप्रकरणमध्यवर्तिनां निवित्पदानामग्निसमिन्धनप्रकाशत्वेन सामिधेनीभिः सहैककार्याणां न सामिधेन्यङ्गत्वम् । न चैकान्ततोऽग्निप्रवेशादीनां द्वादशवार्षिकमध्ये पाठः वसिष्ठगौतमादिभिरेषां द्वादशवार्षिकप्रक्रमात्प्रागेव पठितत्वात् । इदमेव स्वातन्त्र्यं प्रकटयितुं मनुना (११।७३)—'लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्यात्' 'प्रास्येदात्मानमग्नौ वा' इति प्रतिवाक्यं 'वा'शब्दः पठितः । तथा प्रतिप्रायश्चित्तमेवोपसंहृतम्—'अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मशुद्धये ॥' (मनुः ११।८६) इति । अतोऽग्निप्रवेशादीनां स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । अतश्च ब्राह्मणत्राणादेरप्येकफलत्वान्नाङ्गत्वमिति । उच्यते,—परिहृतमेतत् 'अन्तरा ब्राह्मणं मोचयित्वे'त्यादिना शङ्खवचनेनाङ्गत्वावगमात् । अङ्गस्यैव सतः प्रधानद्वारेण फलसंवन्धः । न च प्रधानविरोधः यतो ब्राह्मणत्राणावधिकस्यैव व्रतानुष्ठानस्य फलसाधनत्वं विधीयत इति न विरोधः ॥ २४४ ॥

(व्याघ्रादि से प्राणभय होने पर) ब्राह्मण की प्राणरक्षा करने पर या बारह गायों की प्राणरक्षा करने पर तथा अश्वमेध यज्ञ में अवभृथ स्नान करने पर (बारह वर्ष से पूर्व भी) शुद्ध हो जाता है ॥२४४॥

दीर्घतीव्रामयग्रस्तं ब्राह्मणं गामथापि वा।
दृष्ट्वा पथि निरातङ्कं कृत्वा तु ब्रह्महा शुचिः॥ २४५॥

किंच, **दीर्घेण** बहुकालव्यापिना **तीव्रेण** दुःसहेन**आमयेन** कुष्ठादिव्याधिना **ग्रस्तं** पीडितं **ब्राह्मणं गां वा** तथाविधां **पथि दृष्ट्वा निरातङ्कं** नीरुजं कृत्वा **ब्रह्महा शुचिर्भवति**। ननु 'ब्राह्मणस्य परित्राणाद्' (प्रा० २४४) इत्यत्र यदुक्तं ब्राह्मणरक्षणं तदेव किमर्थं पुनरुच्यते,—'ब्राह्मणं गामथापि वा' इति? सत्यमेवम्; किंत्वात्मप्राणपरित्यागेनाधस्तनवाक्ये ब्राह्मणरक्षणमुक्तमधुना पुनरौषधदानादिनेति विशेषः। अमुनैवाभिप्रायेणोक्तं मनुना (११।८०)—'विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणलाभे विमुच्यते' इति॥ २४५॥

दीर्घकाल के तथा असह्य दुःख वाले रोग से ग्रस्त ब्राह्मण या गाय को मार्ग में देखकर उन्हें दुःखरहित (निरोग) करने पर ब्रह्महत्या करने वाला शुद्ध हो जाता है ॥२४५॥

आनीय विप्रसर्वस्वं हृतं घातित एव वा।
तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैर्जीवन्नपि विशुद्ध्यति॥ २४६॥

किंच, **विप्रस्य**अपहृतसर्वस्वतयावसीदतः संबन्धि द्रव्यं भूहिरण्यादिकं चौरैर्**हृतं** साकल्येन**आनीय** रक्षणं यः करोति स विशुद्ध्यति। आनयने प्रवृत्तः स्वयं चौरैर्**घातितो वा,** यदि वा **तन्निमित्तं** ब्राह्मणसर्वस्वानयनार्थं तत्र युध्यमानः **शस्त्रैः क्षतो** मृतकल्पो **जीवन्नपि विशुद्ध्यति**। 'शस्त्रैः' इति बहुवचनं क्षतबहुत्वप्राप्त्यर्थम्। अत एव मनुना (११।८०)—'त्र्यवरं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा' इति 'त्र्यवर'ग्रहणं कृतम्। एतस्य श्लोकद्वयोक्तकल्पपञ्चकस्य ब्राह्मणरक्षणरूपत्वेनान्तरा वा 'ब्राह्मणं मोचयित्वा' इत्यनेन शब्दवचनेन क्रोडीकृतत्वात् द्वादशवार्षिकसमाप्त्यवधित्वेनेतरग्रहणे विनियोगान्न स्वातन्त्र्यम्॥२४६॥

किसी ब्राह्मण का सर्वस्व हरण किया गया धन अपहरणकर्ता से संघर्ष में चोट खाकर भी लाकर उसे देने वाला (ब्रह्महत्यारा) उस निमित्त शस्त्रों से क्षत-विक्षत भी होकर जीते-जी शुद्ध हो जाता है ॥२४६॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्यः [1]स्वाहेत्येवं हि लोमप्रभृति वै तनुम् ।
[2]मज्जान्तां जुहुयाद्वापि मन्त्रैरेभिर्यथाक्रमम् ॥ २४७ ॥

'लोमभ्यः स्वाहा' इत्येवमादिभिर्मन्त्रैर्लोमप्रभृतिमज्जान्तां तनुं जुहुयात् । 'इति'शब्दः करणत्वनिर्देशार्थः । 'एवं'शब्दः प्रकारसूचनार्थः । 'हि'-शब्दः स्मृत्यन्तरप्रसिद्धत्वगादीनां प्रभृतिशब्देनाक्षिप्यमाणानां द्योतनार्थः । ततश्च लोमादीनि होमद्रव्याणि चतुर्थ्या निर्दिश्यन्ते स्वाहाकारं पठित्वा तैर्मन्त्रैर्जुहुयात् । ते च हूयमानद्रव्याणां लोमत्वग्लोहितमांसमेदःस्नाय्वस्थिमज्जानामष्टसंख्यत्वादष्टौ मन्त्रा भवन्ति । तथा च वसिष्ठः—'ब्रह्महा[3]ऽग्निमुपसमाधाय जुहुयाल्लोमानि मृत्योर्जुहोमि लोमभिर्मृत्युं वाशय' इति प्रथमाम् । १ । 'त्वचं मृत्योर्जुहोमि त्वचा मृत्युं वाशय' इति द्वितीयाम् । २ । 'लोहितं मृत्योर्जुहोमि लोहितेन मृत्युं वाशय' इति तृतीयाम् । ३ । 'मांसानि मृत्योर्जुहोमि मांसैर्मृत्युं वाशय' इति चतुर्थीम् । ४ । 'मेदो मृत्योर्जुहोमि मेदसा मृत्युं वाशय' इति पञ्चमीम् । ५ । 'स्नायूनि मृत्योर्जुहोमि स्नायुभिर्मृत्युं वाशय' इति षष्ठीम् । ६ । 'अस्थीनि मृत्योर्जुहोमि अस्थिभिर्मृत्युं वाशय' इति सप्तमीम् । ७ । 'मज्जां मृत्योर्जुहोमि मज्जाभिर्मृत्युं वाशय' इत्यष्टमीम् । ८ ॥' इति । अत्र च लोमप्रभृति तनुं जुहुयादिति लोमादीनां होमद्रव्यत्वावगमाल्लोमभ्यः स्वाहेति सत्यपि चतुर्थीनिर्देशे लोमादीनां न देवतात्वं कल्प्यते; द्रव्यप्रकाशनेनैव मन्त्राणां होमसाधनत्वोपपत्तेः । किंतु 'लोमभिर्मृत्युं वाशय' इत्यादिवसिष्ठमन्त्रपर्यालोचनया मृत्योरेव हविःसंबन्धावगमाद्देवतात्वं कल्प्यते । अतश्च लोमादीनि सामर्थ्यात्स्वधितिनावदाय मृत्यूद्देशेनाष्टौ होमान्कृत्वान्ते तनुं प्रक्षिपेत् । अतो यत्कैश्चिदुक्तमनादिष्टद्रव्यत्वादाज्यहविष्का होमा इति,–तदनिरूप्यैवोक्तमित्युपेक्षणीयम् । जुहुयादित्यनेनाग्नौ सिद्धे भ्रूणहाग्निमुपसमाधायेति पुनरग्निग्रहणं लौकिकाग्निप्राप्त्यर्थम् । युक्तं चैतत्; पतिताग्नीनां प्रतिपत्तिविधानात्—'आहिताग्निस्तु यो विप्रो महापातकभाग्भवेत् । प्रायश्चित्तैर्न शुद्ध्येत तदग्नीनां तु का गतिः ॥ वैतानं प्रक्षिपेत्तोये शालाग्निं शमयेद्बुधः ॥' इत्युशनःस्मरणात् । तथा—'महापातकसंयुक्तो दैवात्स्यादग्निमान्यदि । पुत्रादिः पालयेदग्नीन्युक्तश्चादोषसंक्षयात् ॥ प्रायश्चित्तं न कुर्याद्यः कुर्वन्वा म्रियते यदि । गृह्यं निर्वापयेच्छ्रौतमप्स्वस्येत्सपरिच्छदम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । तनुप्रक्षेपश्चोत्थायोत्थाय त्रिरधोमुखेन कर्तव्यः । यथाह मनुः (११।७३)—'प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः' इति । गौतमेनाप्यत्र विशेषो दर्शितः (२२।१,२)—'प्रायश्चित्तमग्नौ सक्तिर्ब्रह्मघ्नस्त्रिरवच्छातस्य' इति । अवच्छातस्य अनशनकर्शितकलेवरस्येत्यर्थः । तथा च काठकश्रुतिः—'अनशनेन कर्शितोऽग्निमारोहेत्' इति । इदं च मरणान्तिकं प्रायश्चित्तं कामकारविषयम् । यथाह मध्यमाङ्गिराः—'प्राणान्तिकं च यत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः । तत्कामकारविषयं विज्ञेयं नात्र संशयः ॥' इति । तथा—'यः कामतो महापापं नरः कुर्यात्कथंचन । न तस्य शुद्धिर्निर्दिष्टा भृग्वग्निपतनादृते ॥' इति । एतच्च प्रायश्चित्तं स्वतन्त्रमेव न ब्राह्मणत्राणादिवत् द्वादशवार्षिकान्तर्भूतमित्युक्तं प्राक् ॥ २४७ ॥

अथवा 'लोमभ्यः स्वाहा' इत्यादि मन्त्रों से क्रमशः लोम से आरम्भ कर मज्जा पर्यन्त (लोम, त्वचा, रक्त, मांस, मेद, स्नायु, अस्थि, मज्जा) शरीर को आहुति करे (ऐसा करने से ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति हो जाती है) ॥२४७ ॥

संग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ।
मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्ध्यति ॥ २४८ ॥

किंच, अथवा **संग्रामे** युद्धभूमावुभयवलप्रेरितशरसंपातस्थाने **लक्ष्यभूतो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात्** । गाढमर्मप्रहारजनिततीव्रवेदनो **मृतकल्पो** मूर्च्छितो **जीवन्नपि विशुद्ध्यति** । लक्ष्यभावश्च प्रायश्चित्ती अयमित्येवं विदुषां धनुर्विद्याविदां संग्रामे स्वेच्छया कर्तव्यो नतु राज्ञा वलात्कारयितव्यः । यथाह मनुः (११।१७)—'लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः' इति । इदं च मरणान्तिकत्वात्साक्षात्कर्तुः क्षत्रियस्य कामकारविषयम् । 'अपि'शब्दादश्वमेधादिनापि विशुद्ध्यति । यथाह मनुः (११।७४)—'यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन च । अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥' इति । अश्वमेधानुष्ठानं सार्वभौमक्षत्रियस्यैव ।—'यजेत वाऽश्वमेधेन क्षत्रियस्तु महीपतिः' इति पराशरस्मरणात्, 'नासार्वभौमो यजेत' इत्यसार्वभौमस्य प्रतिषेधदर्शनाच्च । इदं चाश्वमेधानुष्ठानं सार्वभौमस्य कामकारकृते मरणान्तिकस्थाने द्रष्टव्यम्; 'महापातककर्तारश्चत्वारो मतिपूर्वकम् । अग्निं प्रविश्य शुद्ध्यन्ति स्थित्वा वा महति क्रतौ ॥' इति यमेन मरणकालाग्निप्रवेशतुल्यतया महाक्रतोरश्वमेधस्य निर्दिष्टत्वात् । स्वर्जितादयश्च त्रैवर्णिकस्याहिताग्नेरिष्टप्रथमयज्ञस्य द्वादशवार्षिकेण सह विकल्पन्ते । नच स्वर्जिताद्यर्थमाधानं प्रथमयज्ञानुष्ठानं वा कार्यम्; पतितस्य द्विजातिकर्मस्वनधिकारात् । नच संध्योपासनवदविरोध इति युक्तम्; आधानादेरुत्तरक्रतुशेषत्वाभावात् । ते च दक्षिणान्यूनाधिक्याश्रयणेन द्वादशवार्षिकाद्यर्हेषु साक्षाद्धन्त्रादिषु व्यवस्थापनीयाः ॥ २४८ ॥

युद्ध में दोनों पक्षों द्वारा (चलायी) जा रही वाणवर्षा में बीच में लक्ष्य बन कर मारे जाने पर शुद्ध हो जाता है। (युद्ध में) प्रहार से आर्त मृतकल्प होकर जीते हुये भी (ब्रह्महत्या के पाप से) शुद्ध हो जाता है ॥२४८ ॥

अरण्ये नियतो जप्त्वा त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ।
शुद्ध्येत वा मिताशित्वात्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ॥ २४९ ॥

किंच, **अरण्ये** निर्जनप्रदेशे **नियतो** नियताहारः—'जपेद्वा नियताहारः' (११।७७) इति मनुस्मरणात् । **त्रिवारं** मन्त्रब्राह्मणात्मकं **वेदं जपित्वा शुद्ध्यति** । **'संहिता'**ग्रहणं पदक्रमव्युदासार्थम् । यद्वा **मिताशनो भूत्वा** प्लक्षप्रस्रवणादारभ्य पश्चिमोदधेः **प्रतिस्रोतः** स्रोतःस्रोतः प्रति **सरस्वतीं**

इत्वा गत्वा **विशुद्ध्यति**। अशनं च हविष्येण कार्यम्—'हविष्यभुग्वानुचरेत्प्रतिस्रोतःसरस्वतीम्' (११।७७) इति मनुस्मरणात्। अयं च वेदजपो विदुषो हन्तुर्निर्धनस्यात्यन्तगुणवतो निर्गुणव्यापादने प्रमादकृते द्रष्टव्यः। सरस्वतीगमनं तु तादृश एव विषये विद्याविरहिणो द्रष्टव्यम्। निमित्तिनश्च—'तिरस्कृतो यदा विप्रो निर्गुणो म्रियते यदि' इति सुमन्तुवचनस्य दर्शितत्वात्। यत्पुनर्मनुवचनम् (११।७५)—'जपित्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्' इति तदपि 'अरण्ये नियतो जप्त्वा' इत्येतस्यैव विषयेऽशक्तस्य द्रष्टव्यम्॥ २४९॥

अरण्य (वन-निर्जन स्थान) में सीमित भोजन करने हुये मंत्रब्राह्मणात्मक संपूर्ण वेदसंहिता का तीन बार जप कर शुद्ध हो जाता है अथवा मितभोजी होकर सरस्वती नदी के (उद्गम-स्थान से पश्चिम सागर तक) किनारे-किनारे जाकर शुद्ध हो जाता है॥२४९॥

पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात्।
आदातुश्च विशुद्ध्यर्थमिष्टिर्वैश्वानरी स्मृता॥ २५०॥

किंच, 'न विद्यया केवलया' (आ० २००) इत्याद्युक्तलक्षणे पात्रे गोभूहिरण्यादिकं जीवनपर्याप्तं समर्थं **धनं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात्**। तद्धनं यः प्रतिगृह्णाति तस्य वैश्वानरदैवत्येष्टिः शुद्ध्यर्थं कर्तव्या।—एतच्चाहिताग्निविषयम्। अनाहिताग्नेस्तु तद्दैवत्यश्चरुर्भवति; य एवाहिताग्नेर्धर्मः स एवौपासनिकस्येति गृह्यकारवचनात्। 'वा'शब्दात् सर्वस्वं सपरिच्छदं वा गृहं दद्यात्। यथाह मनुः (११।७६)—'सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत्। धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्॥' इति। इदं च पात्रे धनदानं निर्गुणस्य धनवतो हन्तुर्निर्गुणव्यापादने द्रष्टव्यम्। तत्रैव विषये अविद्यमानान्वयस्य सर्वस्वदानं सान्वयस्य तु सोपस्करगृहदानमिति व्यवस्था। यदपि पराशरेणोक्तम्—'चातुर्विद्योपपन्नस्तु विधिवद्ब्रह्मघातके। समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्॥ सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यात्समाहरेत्। वर्जयित्वा विकर्मस्थाञ्छत्रोपानद्विवर्जितः॥ अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः। गृहद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः॥ गोकुलेषु च गोष्ठेषु ग्रामेषु नगरेषु च। तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्रवणेषु च॥ एतेषु ख्यापयेदेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम्। ब्रह्महापि प्रमुच्येत स्नात्वा तस्मिन्महोदधौ॥ ततः पूतो गृहं प्राप्य कृत्वा ब्राह्मणभोजनम्। दत्त्वा वस्त्रं पवित्राणि पूतात्मा प्रविशेद्गृहम्॥ गवां वापि शतं दद्याच्चातुर्विद्याय दक्षिणाम्। एवं शुद्धिमवाप्नोति चातुर्विद्यानुमोदितः॥' इति।—तदपि 'पात्रे धनं वा पर्याप्तम्' इत्यनेन समानविषयम्। यच्च सुमन्तुवचनम्—'ब्रह्महा संवत्सरं कृच्छ्रं चरेदधःशायी त्रिषवणी कर्मावेदको भैक्षाहारो दिव्यनदीपुलिनसंगमाश्रमगोष्ठपर्वतप्रस्रवणतपोवनविहारी स्यात् स्थानवीरासनी संवत्सरे पूर्णे हिरण्यमणिगोधान्यतिलभूमिस-

पींषि ब्राह्मणेभ्यो ददन्पूतो भवति' इति तदपि हन्तुर्मूर्खस्य धनवतो जातिमात्रव्यापादने द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्वसिष्ठवचनम्—'द्वादशरात्रमब्भक्षो द्वादशरात्रमुपवसेत्' इति तन्मनसाऽध्यवसितब्रह्महत्यस्य स्वत एवोपरतजिघांसस्य वेदितव्यम् । यत्पुनः—'षण्ढं तु ब्राह्मणं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् । चान्द्रायणं च कुर्वीत पराकद्वयमेव च ॥' इति षट्त्रिंशन्मतवचनं तदप्रत्यानेयपुंस्त्वस्य सप्रत्ययवधे द्रष्टव्यम् । अत्रैव विषये अप्रत्ययवधे बृहस्पतिराह—'अरुणायाः सरस्वत्याः संगमे लोकविश्रुते । शुद्ध्येत्त्रिषवणस्नायी त्रिरात्रोपोषितो द्विजः ॥' इति । एवमन्यान्यपि स्मृतिवचनान्यन्विष्य विषमाणां व्यवस्था विज्ञेया । समानां तु विकल्पः । एतानि च द्वादशवार्षिकादिधनदानपर्यन्तानि ब्राह्मणस्यैव । क्षत्रियादेस्तु द्विगुणादिकम् । यथाहाङ्गिराः—'पर्षद्या ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥' इति । एवं च ब्राह्मणानां येन हन्तृहन्यमानगतगुणविशेषेण यः प्रायश्चित्तविशेषो व्यवस्थितः स एव तद्गुणविशिष्टे क्षत्रियादौ हन्तरि द्विगुणस्त्रिगुणो वेदितव्यः । अनयैव दिशा क्षत्रियवैश्यादावपि हीनेनोत्कृष्टवधे दोषगौरवात्प्रायश्चित्तस्यापि द्वैगुण्यादि कल्पनीयम् । दोषगौरवं च दण्डगौरवादवगम्यते । यथोक्तम्—'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः । वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः ॥' इति । यत्तु चतुर्विंशतिमतवचनम्—'प्रायश्चित्तं यदाम्नातं ब्राह्मणस्य महर्षिभिः । पादोनं क्षत्रियः कुर्यादर्धं वैश्यः समाचरेत् ॥ शूद्रः समाचरेत्पादमशेषेष्वपि पाप्मसु ॥' इति,—तत्प्रतिलोमानुष्ठितचतुर्विधसाहसव्यतिरिक्तविषयम् । तथा मूर्धावसिक्तादीनामप्यनुलोमोत्पन्नानां दण्डवत्प्रायश्चित्तमूहनीयम् । दर्शितं दण्डतास्तम्यम्—'दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः' इति । ततश्च मूर्धावसिक्तस्य ब्राह्मणवधे ब्राह्मणादतिरिक्तं क्षत्रियान्न्यूनमध्यर्धं द्वादशवार्षिकं भवति । अनयैव दिशा प्रतिलोमोत्पन्नानामपि प्रायश्चित्तगौरवमूहनीयम् । तथा आश्रमिणामपि अङ्गिरसा विशेषो दर्शितः—'गृहस्थोक्तानि पापानि कुर्वन्त्याश्रमिणो यदि । शौचवच्छोधनं कुर्युरर्वाग्ब्रह्मनिदर्शनात् ॥' इति शौचवदिति—'एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् । त्रिगुणं तु वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥' (मनुः—५।१३७) इति वचनाद्यथा ब्रह्मचार्यादीनां शौचं द्वैगुण्यादिक्रमेण वर्धते, तथा शोधनं प्रायश्चित्तमपि भवतीत्यर्थः ॥ ब्रह्मचारिणस्तु प्रायश्चित्तद्वैगुण्यं षोडशवर्षादूर्ध्वमेव । अर्वाक्तु पुनः 'बालो वाप्यूनषोडशः; प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति' इति षोडशवर्षादर्वाचीनस्यार्धप्रायश्चित्ताभिधानात् । नच द्वादशवार्षिके चतुर्गुणे क्रियमाणे मध्ये विपत्तिशङ्कया समाप्त्यनुपपत्तेः प्रवृत्तिरेव नोपपद्यत इति शङ्कनीयम् । यतः

प्रक्रान्तप्रायश्चित्तस्य मध्ये विपत्तावपि पापक्षयो भवत्येव । यथाह हारीतः—'प्रायश्चित्ते व्यवसिते कर्ता यदि विपद्यते । पूतस्तदहरेवासाविह लोके परत्र च ॥' इति । व्यासोऽप्याह—'धर्मार्थं यतमानस्तु न चेच्छक्नोति मानवः । प्राप्तो भवति तत्पुण्यमत्र वै नास्ति संशयः ॥' इति ॥ २५० ॥

अथवा सत्पात्र को (गौ, भूमि, स्वर्ण आदि) जीवन के लिये पर्याप्त धन देने पर (ब्रह्महत्या के पाप से) शुद्ध हो जाता है। धन लेने वाले की शुद्धि के लिये वैश्वानरी इष्टि का विधान है ॥२५० ॥

अधुना निमित्तान्तरेषु ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तस्यातिदेशमाह—

यागस्थक्षत्रविड्घाती चरेद्ब्रह्महणि व्रतम् ।
गर्भहा च यथावर्णं तथात्रेयीनिषूदकः ॥ २५१ ॥

दीक्षणीयाद्युदवसानीयापर्यन्ते सोमयागप्रयोगे वर्तमानौ क्षत्रियवैश्यौ यो व्यापादयति असौ ब्रह्महणि पुरुषे यद्ब्रह्महत्याव्रतमुपदिष्टं द्वादशवार्षिकादि तच्चरेत् । यद्यपि 'याग'शब्दः सामान्यवचनस्तथाप्यत्र सोमयागमभिधत्ते ॥ 'सवनगतौ च राजन्यवैश्यौ' इति वसिष्ठेन सवनत्रयसंपाद्यस्य सोमयागस्यैव निर्दिष्टत्वात् । अत्र च गुरुलघुभूतानां द्वादशवार्षिकादिब्रह्महत्याव्रतानां जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया प्रागुक्तव्यवस्था वेदितव्या । एवं गर्भवधादिष्वपि । मरणान्तिकं तु नातिदिश्यते; व्रतग्रहणात् । अतः कामतो यागस्थक्षत्रियादिवधे व्रतस्यैव द्वैगुण्यम् । एतच्च व्रतं संपूर्णमेव कर्तव्यम्,—'पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायिनं हत्वा' (धर्म.१।२४,६,५) इति प्रक्रम्यापस्तम्बेन द्वादशवार्षिकाभिधानात् । गर्भं च विप्रासु संभूतं हत्वा यथावर्णं यद्वर्णपुरुषवधे यत्प्रायश्चित्तमुक्तं तद्वर्णगर्भवधे तच्चरेत् । एतच्चानुपजातस्त्रीपुंनपुंसकव्यञ्जनगर्भविषयम् ; 'हत्वा गर्भमविज्ञातम्' (११।८७) इति मानवे विशेषदर्शनात् । अत्र च यद्यपि ब्राह्मणगर्भस्य ब्राह्मणत्वादेव तद्वधनिमित्तव्रतप्राप्तिस्तथापि स्त्रीत्वस्यापि संभवात्—'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध–' (प्रा०२३६) इत्युपपातकत्वेन तत्प्रायश्चित्तप्राप्तिरपि स्यात्, अतः स्त्रीपुंनपुंसकत्वेनाविज्ञातेऽपि ब्राह्मणगर्भत्वमात्रप्रयुक्तं 'ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यात्' इत्यर्थवदतिदेशवचनम् । उपजाते स्त्रीपुंसादिविशेषव्यञ्जने यथायथमेव प्रायश्चित्तम् । यश्चात्रेय्या निषूदको व्यापादकः सोऽपि तथा व्रतं चरेत् । हन्यमानात्रेयीवर्णानुरूपं व्रतं चरेदित्यर्थः । 'आत्रेयी'शब्देनर्तुमत्युच्यते 'रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमाहुर्यत्र ह्येतदपत्यं भवति' इति वसिष्ठस्मरणात् । अत्रिगोत्रजा च ।—'अत्रिगोत्रां वा नारीम्' (५०।९) इति विष्णुस्मरणात् । एतदुक्तं भवति—ब्राह्मणगर्भवधे ब्राह्मण्यात्रेयीवधे च ब्रह्महत्याव्रतम् । क्षत्रियगर्भवधे क्षत्रियात्रेयीवधे च क्षत्रहत्याव्रतम्, एवमन्यत्रापीति । 'च'शब्दात्साक्ष्ये अनृतवचनादिष्वपि । तथाह मनुः (११।८८)—'उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा । अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा

च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥' इति । यत्र व्यवहारे असत्यवचनेन प्राणिनां वधप्राप्तिस्तद्विषयमेतत्; प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात् । प्रतिरोधः क्रोधावेशः । निक्षेपश्च ब्राह्मणसंबन्धी । स्त्री चाहिताग्निभार्या पतिव्रतात्वादिगुणयुक्तोच्यते सवनस्था च । यथाह्याङ्गिराः—'आहिताग्नेर्द्विजाग्र्यस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् । ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैव च ॥' इति । 'सवनस्थां स्त्रियं हत्वा ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ॥' इति पराशरस्मरणात् ॥ एवं च सवनस्थाग्निहोत्रिण्यात्रेयीवधे ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तातिदेशात्तद्व्यतिरिक्तस्त्रीवधस्य 'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध–' (प्रा० २३६) इत्युपपातकमध्यपाठादुपपातकत्वमेव ॥ ननु 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यत्र निषेधेऽनुपादेयगतत्वेन लिङ्गवचनयोरविवक्षितत्वाद्ब्राह्मणजातेश्च स्त्रीपुंसयोरविशेषात्तदतिक्रमनिमित्तप्रायश्चित्तविधेः—'ब्रह्महा द्वादशाब्दानि' (प्रा० २४३) इत्यस्योभयत्र प्राप्तत्वात्किमर्थं 'तथात्रेयीनिषूदक' इत्यतिदेशवचनम्? उच्यते,—सत्यपि ब्राह्मणत्वेऽनात्रेय्या वधस्य च महापातकप्रायश्चित्तनिराकरणार्थमतस्तस्यापि पातकमध्यपाठादुपपातकप्रायश्चितमेव । आतिदेशिकेषु च प्रायश्चित्तस्यैवातिदेशो न पातित्यस्य । अतः पतितत्यागादिकार्यमत्र न भवति ॥ २५१ ॥

यज्ञ (सोमयाग के प्रयोग में दीक्षणीया से आरम्भ कर उदवसानीया पर्यन्त) में वर्तमान क्षत्रिय और वैश्य को मारने वाला ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त को करे। गर्भ को मारने वाला तथा आत्रेयी (रजस्वला स्त्री या अत्रिगोत्र की स्त्री) को मारने वाला वर्णानुसार जिस वर्ण के गर्भ को गिराया है या स्त्री का वध किया है वैसा प्रायश्चित्त करे ॥२५१ ॥

चरेद्व्रतमहत्वापि घातार्थं चेत्समागतः ।
द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत् ॥ २५२ ॥

किंच, यथावर्णमित्यनुवर्तते; ब्राह्मणादिहनने **कृतनिश्चयस्तद्व्यापादनार्थं सम्यगागत्य** शस्त्रादिप्रहारे कृते कथंचित्प्रतिबन्धवशादसौ न मृतस्तदा **अहत्वापि** यथावर्णं ब्रह्महत्यादि **व्रतं चरेत्** । तथा च गौतमः (२२।११)–'सृष्टश्चेद्ब्राह्मणवधे अहत्वापि' इति ॥ ननु हनने तदभावे चैकप्रायश्चित्तता न युक्ता –सत्यम्; अत एवौपदेशिकेभ्यो न्यूनत्वादातिदेशिकानां पादोनान्येव ब्रह्महत्यादिव्रतानि द्वादशवार्षिकादीनि भवन्ति । एतच्च प्रपञ्चितं प्राक् । किंच, यस्तु **सवनसंपाद्यं सोमयागमनुतिष्ठन्तं ब्राह्मणं व्यापादयति** तस्मिन्द्वादशवार्षिकादिव्रतं **द्विगुणं** समादिशेत् । तेषां च व्रतानां गुरुलघुभूतानां जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया सत्यपि सवनस्थत्वस्याविशेषे पूर्ववदेव व्यवस्थावगन्तव्या । ब्रह्महत्यासमानां तु गुर्वधिक्षेपादीनामातिदेशिकेभ्योऽपि न्यूनत्वादर्धोनं द्वादशवार्षिकादिप्रायश्चित्तमित्युक्तम् ॥ २५२ ॥

वध के लिये आकर (किसी कारणवश) वध न करने पर भी (वर्णानुसार ब्रह्महत्यादि का) व्रत (प्रायश्चित्त) करे। सोमयाग में लगे हुये ब्रह्मण को मारने पर दूना व्रत करे ॥२५२॥

इति ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

अथ क्रमप्राप्तं सुरापानप्रायश्चित्तं प्रक्रमते—

सुराम्बुघृतगोमूत्रपयसामग्निसंनिभम्।
सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमृच्छति॥ २५३॥

सुरादीनां मध्येऽन्यतममग्निसंनिभं क्वाथापादिताग्निस्पर्शदाहशक्तिकं कृत्वा **पीत्वा सुरापो मरणाच्छुद्धिं प्राप्नोति**। गोमूत्रसाहचर्याद्गव्ये एव घृतपयसी ग्राह्ये। घृतपयःसाहचर्याच्च स्त्रैणमेव गोमूत्रम्। एतच्चार्द्रवाससा कार्यम्। सुराप आर्द्रवासाश्च अग्निवर्णां सुरां पिवेत्' इति पैठीनसिस्मरणात्। तथा—'लौहेन पात्रेण सुरापोऽग्निवर्णां सुरामायसेन पात्रेण ताम्रेण वा पिबेत्' इति प्रचेतःस्मरणात्। एतच्च सकृत्पानमात्रे; 'सुरापानं सकृत्कृत्वाप्यग्निवर्णां सुरां पिवेत्' इत्यङ्गिरःस्मरणात्। यत्तु वसिष्ठवचनम्—'अभ्यासे तु सुरायाश्च अग्निवर्णां पिबेद्द्विजः' इति,—तत्सुराव्यतिरिक्तमद्यपानविषयम्। एतच्च कामकारविषयम्; 'सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत्। मुखे तया विनिर्दग्धे मृतः शुद्धिमवाप्नुयात्॥' इति बृहस्पतिस्मरणात्॥ यत्तु 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्' (११।९०) इति मनुना मोहग्रहणं कृतं, तच्छास्त्रार्थापरिज्ञानाभिप्रायेण॥ अत्रेदं चिन्तनीयम्—किं 'सुरा'शब्दो मद्यमात्रे रूढ उत तिसृष्वेव गौडीमाध्वीपैष्टीष्वाहोस्वित्पैष्ट्यामेवेति। तत्र केचिन्मद्यमात्रे रूढ इति वर्णयन्ति; 'अभ्यासे तु सुरायाः' (२०।२२) इति वासिष्ठे पैष्ट्यादित्रयव्यतिरिक्तेऽपि मद्यमात्रे सुराशब्दप्रयोगदर्शनात्। न चासौ गौणः प्रयोग इति शङ्कनीयम्। मदजननशक्तिमत्त्वोपाधिकतया सर्वत्र मुख्यत्वोपपत्तौ गौणत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति,—तदयुक्तम्; 'पानसं द्राक्षं माधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम्। मधूत्थं सैरमारिष्टं मैरेयं नालिकेरजम्॥ समानानि विजानीयान्मद्यान्येकादशैव तु। द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम्॥' इति पुलस्त्येन मद्यविशेषत्वेन सुराया निर्दिष्टत्वात्। अतश्च मद्यमात्रे सुराशब्दप्रयोगो गौणः। अन्ये पुनः पैष्ट्यादिषु तिसृषु 'सुरा'शब्दस्य रूढिं मन्यन्ते। तथा हि—यद्यप्यनेकत्र सुराशब्दप्रयोगो दृश्यते तथापि कुत्रानादित्वमिति संदेहे—'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा' (११।९४) इति मनुवचनाद्गुडमधुपिष्टविकारेष्वनादित्वनिर्धारणात्तत्रैव मुख्यत्वं युक्तम्। नचानेकत्र शक्तिकल्पना दोषः; मदशक्तेरुपाधित्वाश्रयणेन तस्य सुपरिहरत्वात्। नच ताल-

दिरसेष्वप्युपाधेर्विद्यमानत्वादतिप्रसङ्गः; पङ्कजादिशब्दवद्योगरूढत्वाश्रयणात् । अतश्च—'यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः' (मनुः ११।९४) इति तिसृणां सुराणां समानदोषत्वप्रतिपादनपरं न पुनरनयोर्गौडीमाध्व्योः पैष्टीसुरासमत्वप्रतिपादनपरम् । 'द्विजोत्तम'ग्रहणं द्विजात्युपलक्षणम्,—एतदप्ययुक्तम्; 'द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम्' इति पुलस्त्यवचने गौडीमाध्वीभ्यामपि सुरामद्यस्यातिरेकदर्शनात् । तथा—'सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते' (मनुः ११।९३) इति । अन्नविकारस्यैव सुरात्वनिर्देशादन्नशब्दस्य च 'अन्नेन व्यञ्जनम्' इत्यादिषु व्रीह्यादिविकार एव प्रयोगदर्शनाद्गुडमधुनोश्च रसरूपत्वात्तथा सौत्रामणिग्रहेषु चान्नविकारे एव 'सुरा'शब्दस्य श्रुतत्वात् पैष्ट्येव सुरा मुख्योच्यते । इतरयोस्तु सुराशब्दो गौणः; यत्तूक्तम्—'गौडी माध्वी' इति मनुवचनात्तिसृष्वप्यौत्पत्तिकत्वनिर्धारणेति,—तदप्ययुक्तम्; यतो नेदं शब्दानुशासनवच्छब्दार्थसंबन्धानादित्वप्रतिपादनपरं, किंतु कार्यप्रतिपादनपरम् । अतो गुरुप्रायश्चित्तनिमित्ततया गौडीमाध्व्योर्गौणः 'सुरा'शब्दयोगः । एवं च नानेकशक्तिकल्पनादोषो नाप्युपाध्याश्रयणं कृतम् । न चात्र 'द्विजोत्तम'ग्रहणस्योपलक्षणत्वम् । अतश्च—'सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते । तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥' (मनुः ११।९३) इति पैष्ट्या एव वर्णत्रयसंबन्धित्वेन निषेधः । गौड्यादीनां तु मद्यानां ब्राह्मणसंबन्धित्वेनैव निषेधः, न क्षत्रियवैश्ययोः; 'यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥' (११।९५) इति मानवे ब्राह्मणेनेति विशेषोपादानात् । बृहद्विष्णुनापि ब्राह्मणस्यैव मद्यप्रतिषेधो दर्शितः—'माधूकमैक्षवं सैरं तालं खार्जूरपानसम् । मधूत्थं चैव माध्वीकं मैरेयं नालिकेरजम् ॥ अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य तु ॥' इति ॥ वृहद्याज्ञवल्क्येनापि क्षत्रियवैश्ययोर्दोषाभावो दर्शितः—'कामादपि हि राजन्यो वैश्यो वापि कथंचन । मद्यमेव सुरां पीत्वा न दोषं प्रतिपद्यते ॥' इति । व्यासेनापि तयोर्माध्वीपानमनुज्ञातम्—'उभौ मध्वासवक्षीबावुभौ चन्दनचर्चितौ । एकपर्यङ्करथिनौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ ॥' इति । एवं ब्राह्मणसंबन्धित्वेन मद्यमात्रनिषेधे सत्यपि—'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥' (मनुः ११।९४) इति गौडीमाध्व्योः पृथङ्निषेधवचनं दोषगुरुत्वेन सुरासमत्वप्रतिपादनपरम् । अयं च सुरानिषेधोऽनुपनीतस्यानूढायाश्च कन्याया भवत्येव; 'तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्' (मनुः ११।९३)—इति जातिमात्रावच्छेदेन निषेधात् । अतश्च 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहात्' (११।९०) इति प्रायश्चित्तविधिवाक्ये मनुना यद्द्विजग्रहणं कृतं तद्वर्णत्रयोपलक्षणार्थम्; निमित्तभूतनिषेधसापेक्षत्वान्नैमित्तिकविधेर्निषेधे च वर्णमात्रस्यावच्छेदकत्वात् । यथा

'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति' इति निमित्तवाक्ये हविर्मात्राभ्युदयस्य निमित्तत्वावगतौ तत्सापेक्षनैमित्तिकवाक्ये श्रूयमाणमपि 'त्रेधा तन्दुलान्विभजेत्' इति तन्दुलग्रहणं तन्दुलादिरूपहविर्मात्रोपलक्षम् । इयांस्तु विशेषः—'पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः' इति वचनात्कामकारेऽपि न मरणान्तिकं किंतु पादमेव द्विगुणीकृत्य षड्वार्षिकं देयम्; 'विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं चरेत्' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । एवं वृद्धातुरादिष्वपि योज्यम् । तथा 'तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः' (मनुः ११।९५)—इति मद्यस्यापि जातिमात्रावच्छेदेन निषिद्धत्वादनुपनीतेनापि न पेयम् ॥ ननु कथमनुपनीतस्य दोषः ? 'प्रागुपनयनात्कामचारकामवादकामभक्षाः' (२।१) इति गौतमवचनात्, तथा—'मद्यमूत्रपुरीषाणां भक्षणे नास्ति कश्चन । दोषस्त्वाऽऽपञ्चमाद्वर्षादूर्ध्वं पित्रोः सुहृद्गुरोः ॥' इति कुमारवचनाच्च दोषाभावावगतेः । उच्यते,—सुरामद्ययोर्निषेधवाक्ये जातिमात्रत्वावच्छेदकत्वश्रवणादप्रतिहतैव निषेधप्रवृत्तिः । अत एव स्मृत्यन्तरे निषेधवचनम्—'सुरापाननिषेधस्तु जात्याश्रय इति स्थितिः' इति । अतः 'पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः' इति । 'सर्वपापेषु सुरापानादिष्वपि' इति वचनात्पाद एव सुरापाने प्रायश्चित्तम् । तथा जातूकर्ण्येन मद्यपानेऽपि प्रायश्चित्तमुक्तम्—'अनुपेतस्तु यो बालो मद्यं मोहात्पिबेद्यदि । तस्य कृच्छ्रत्रयं कुर्यान्माता भ्राता तथा पिता ॥' इति । अतो गौतमवचनं सुरादिव्यतिरिक्तशुक्तपर्युषितादिविषयम् । कुमारवचनं तु स्वल्पदोषख्यापनपरम् । अत एव प्रागुपनयनात्कृतदोषस्योपनयनमेव प्रायश्चित्तमित्युक्तं मनुना (२।२७)—'गार्भैर्होमैर्जातकर्मचूडामौञ्जीनिबन्धनैः । बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥' इति । अयमत्रार्थः—त्रैवर्णिकानामुत्पत्तिप्रभृति पैष्टीप्रतिषेधः । ब्राह्मणस्य मद्यमात्रनिषेधोऽप्युत्पत्तिप्रभृत्येव । राजन्यवैश्ययोस्तु न कदाचिदपि गौड्यादिमद्यप्रतिषेधः । शूद्रस्य न सुराप्रतिषेधो नापि मद्यप्रतिषेधः ॥ २५३ ॥

मदिरा पीने वाला (महापातकी) सुरा, जल, घृत, गोमूत्र और दूध में से किसी एक को (खूब तपाकर) अग्नि समान करके पीये। इसे पीकर मर जाने पर उसकी शुद्धि होती है ॥२५३ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

वालवासा जटी वापि ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
पिण्याकं वा कणान्वापि भक्षयेत्त्रिसमा निशि ॥ २५४ ॥

गोछागादिलोमनिर्मितवस्त्रप्रावृतो वालवासाः, 'वालवासो'ग्रहणं चीरवल्कलयोरुपलक्षणार्थम्; 'सुरापगुरुतल्पगौ चीरवल्कलवाससौ ब्रह्महत्याव्रतं चरेया-

ताम्' इति प्रचेतःस्मरणात् । 'जटि'ग्रहणं मुण्डित्वनिराकरणार्थम् । 'ब्रह्महत्याव्रतं चरेत्' इत्यनेनैव सिद्धे यद्वालवसनादिग्रहणं तदन्यत्र संभवि स्वयं मारितशिरःकपालादिनिवृत्त्यर्थम् । इदमकामतो जलबुद्ध्या यः सुरां पिबति तद्विषयम्; 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याऽकामतो द्विजम्' (मनुः ११।८९)— इत्यकामोपाधित्वेन विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात् । अत्र च सुरापानस्य महापातकत्वात्सत्यप्यातिदेशिकत्वे संपूर्णमेव द्वादशवार्षिकं कुर्यान्न पादोनम् । अत एव वृद्धहारीतः—'द्वादशभिर्वर्षैर्महापातकिनः पूयन्ते' इति । **अथवा पिण्याकं पिण्डितं त्रिसमा वर्षत्रयपर्यन्तं रात्रौ भक्षयेत्। कणास्तन्दुललवास्तान्वा पूर्ववद्भक्षयेत्**।–एतच्च सकृदेव कार्यम्; 'कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि' (११।९२) इति मनुस्मरणात् । अस्य च पिण्याकादिभक्षणस्य भोजनकार्ये विहितत्वादशनान्तरपरित्यागः । एतच्चोदकबुद्ध्या सुरापाने छर्दनोत्तरकाले वेदितव्यम्; 'एतदेव व्रतं कुर्यान्मद्यपच्छर्दने कृते । पञ्चगव्यं च तस्योक्तं प्रत्यहं कायशोधनम् ॥' इति व्यासवचनात् । नच सुरासंसृष्टेषदुपलभ्यमानतद्गन्धरसोदकपानविषयमिदमिति सुन्दरम् । संसर्गेऽपि सुरात्वस्यानपायात् । यथाऽऽज्यत्वस्य पृषदाज्ये । अत एव 'आज्यपा इति निगमाः कार्याः न पृषदाज्यपाः' इत्येवमुक्तं न्यायविद्भिः । यत्पुनरापस्तम्बवचनम् (१।२५)— 'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारान्गत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा चतुर्थं कालं मितभोजनोऽभ्युपेयात्सवनानुकल्पं स्थानासनाभ्यां विहरंस्त्रिभिर्वर्षैः पापं व्यपनुदति' इति । यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'महापातकसंयुक्ता वर्षैः शुद्ध्यन्ति ते त्रिभिः' इति, तदुभयमपि 'पिण्याकं वा कणान्वा'इत्यनेनैकविषयम् । यदपि यमेन प्रायश्चित्तद्वयमुक्तम्—'बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः । समत्वं ब्राह्मणैर्गच्छेदित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ भूमिप्रदानं यः कुर्यात्सुरां पीत्वा द्विजोत्तमः । पुनर्न च पिबेत्तां तु संस्कृतः स विशुद्ध्यति ॥' इति,–तदुभयमपि पूर्वेण सहैकविषयम् । यद्वा अतिरिक्तदक्षिणाकल्पाश्रयणाद्द्वादशवार्षिकेण सह विकल्पते । अत्रापि बालवृद्धादीनां सार्धैकवर्षीयमनुपनीतानां तु नवमासिकमित्येवं कल्पना कार्या । यत्तु मनुवचनम् (११।९२)—'कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि । सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥' इति,–तत्तालुमात्रसंयोगे सुराया अबुद्धिपूर्वे द्रष्टव्यम् ॥ ननु च द्रवद्रव्यस्याभ्यवहरणं पानमित्युच्यते । अभ्यवहरणं च कण्ठादधोनयनं न ताल्वादिसंयोगमात्रं, अतः कथं तत्र पाननिमित्तं प्रायश्चित्तम् ? उच्यते—येन ताल्वादिसंयोगेन विना पानक्रिया न निर्वर्तते सोऽपि पानक्रियाप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धः । अतो यद्यपि मुख्यपानाभावान्न महापातकत्वं तथापि तत्प्रतिषेधेन तदङ्गभूताव्यभिचारिताल्वादिसंयोगस्यापि प्रतिषिद्धत्वेन दोषस्य विद्यमानत्वाद्भवत्येव प्रायश्चित्तम् ।—'चरेद्व्रतमहत्वापि घातार्थं चेत्समागतः' इति । यथा हननप्रतिषेधेन तदङ्गभूताध्यवसायादेरपि प्रति-

षिद्धत्वात्प्रायश्चित्तविधानम् । यत्तु बौधायनीयम्—'त्रैमासिकमभत्या सुरापाने कृच्छ्राब्दपादं चरित्वा पुनरुपनयनम्' इति; यच्च याम्यम्—'सुरां पीत्वा द्विजं हत्वा रुक्मं हृत्वा द्विजन्मनः । संयोगं पतितैर्गत्वा द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति; यदपि बार्हस्पत्यम्—'गौडीं माध्वीं सुरां पैष्टीं पीत्वा विप्रः समाचरेत् । तत्कृच्छ्रं पराकं च चान्द्रायणमनुक्रमात् ॥' इति,–तत्त्रितयमप्यनन्यौषधसाध्यव्याध्युपशमार्थे पाने वेदितव्यम्; प्रायश्चित्तस्याल्पत्वात् । यदा तु सुरासंसृष्टं शुष्करसमेवान्नं भक्षयति तदा पुनरुपनयनम् । यथाह मनुः (११।१५०)—'अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च । पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥' इति । यदा च शुष्कसुराभाण्डस्थोदकं पिबति तदा शातातपोक्तं कुर्यात्—'सुराभाण्डोदकपाने छर्दनं घृतप्राशनमहोरात्रोपवासश्च' इति ॥ यत्तु बौधायनीयम् (२।१।२१)–'सुरापानस्य यो भाण्डेष्वापः पर्युषिताः पिबेत् । शङ्खपुष्पीविपक्वं तु क्षीरं सर्पिः पिबेत्त्र्यहम् ॥' इति,–तत्पर्युषितत्वादधिकम् । अकामतोऽभ्यासे पुनर्मनुनोक्तम् (११।१४७)—'अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा । पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पयः ॥' इति; यत्तु विष्णूक्तम् (५२।२३)–'अपः सुराभाजनस्थाः पीत्वा सप्तरात्रं शङ्खपुष्पीशृतं पयः पिबेत्' इति,–तन्मतिपूर्वकपाने । ज्ञानतोऽभ्यासे तु बृहद्यम आह—'सुराभाण्डे स्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः । स द्वादशाहं क्षीरेण पिबेद्ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति ॥ सुरापस्य मुखगन्धघ्राणे तु मानवम् (११।१४९)—'ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः । प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' इति,–तत्सोमयाजिन एवामतिपूर्वे; मतिपूर्वे तु द्विगुणम् । अपीतसोमस्य तु कल्प्यम्; साक्षात्सुरागन्धघ्राणस्य तु 'घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः' इति जातिभ्रंशकरत्वात्—'जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥' (११।१२४) इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २५४ ॥

अथवा (गाय, बकरा आदि के) रोयें से बना वस्त्र पहन कर एवं जटा धारण कर ब्रह्महत्या के लिये विहित व्रत करे। अथवा तीन वर्ष तक केवल रात्रि में पिण्याक (पिण्डी मात्र) या कण का भोजन करे ॥२५४ ॥

एवं मुख्यसुरापाने प्रायश्चित्तमुक्त्वा मद्यपाने प्रायश्चित्तमाह—

अज्ञानात्तु सुरां पीत्वा रेतो विण्मूत्रमेव च ।
पुनःसंस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ २५५ ॥

यः पुनरज्ञानादुदकबुद्ध्या सुरां मद्यं ब्राह्मणः पिबति, ये च ब्राह्मणादयो रेतो विण्मूत्राणि प्राश्नन्ति, ते त्रयोऽपि द्विजातयो वर्णास्तप्तकृच्छ्रपूर्वकं पुनरुपनयनं प्रायश्चित्तमर्हन्ति । अत्र मद्यपाने योऽयं पुनःसंस्कारः स ब्राह्म-

णस्यैव; क्षत्रियविशोस्तदभ्यनुज्ञानस्य दर्शितत्वात् । 'सुरा'शब्दश्चात्र मद्यपरः; प्रायश्चित्तस्यातिलघुत्वात्, अज्ञानतो मुख्यसुरापाने द्वादशवार्षिकस्य विहितत्वाच्च। अत एव गौतमेनात्र मद्यशब्दः प्रयुक्तः (२३।२)—'अमत्या मद्यपाने पयो घृतमुदकं वा त्र्यहं तप्तानि पिबेत्स तप्तकृच्छ्रस्ततोऽस्य संस्कारो मूत्रपुरीषकुणपरेतसां प्राशने च' इति । यदप्यस्मिन्नेव विषये मनुनोक्तम् (११।१४६)—'अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेण विशुद्ध्यति' इति,–तदपि तप्तकृच्छ्रपूर्वकमेव गौतमवाक्यानुरोधात्। पुनःसंस्कारश्च पुनरुपनयनम् । तच्चाश्वलायनाद्युक्तक्रमेण कर्तव्यम् । यथोक्तम्—'अथोपेतपूर्वस्य कृताकृतं केशवपनं मेधाजननं चानिरुक्तं परिदानं कालश्च तत्सवितुर्वृणीमह इति सावित्रीम्' इति । मतिपूर्वमद्यपाने वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—'मत्या मद्यपाने त्वसुरायाः सुरायाश्चाज्ञाने कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ घृतप्राशनं पुनःसंस्कारश्च' इति । चान्द्रायणं वा शङ्खोक्तम्—'असुरामद्यपायी चान्द्रायणं चरेत्' इति । मुखमात्रप्रवेशे तु मद्यस्यापस्तम्बीयं षड्रात्रम्—'अभक्ष्याणामपेयानामलेह्यानां च भक्षणे । रेतोमूत्रपुरीषाणां प्रायश्चित्तं कथं भवेत् । पद्मोदुम्बरविल्वानां पलाशस्य कुशस्य च । एतेषामुदकं पीत्वा षड्रात्रेण विशुद्ध्यति ॥' इति ।–एतच्च तालादिमद्यविषयम् । गौडीमाध्व्योः पुनरज्ञानतः पाने 'असुरायाः सुरायाश्चाज्ञानतः' इति वसिष्ठोक्तः कृच्छ्रातिकृच्छ्रसहितः पुनःसंस्कारो घृतप्राशश्च द्रष्टव्यः । तयोर्मतिपूर्वपाने तु 'पिण्याकं वा कणान्वा' (प्रा०२५४) इति त्रैवार्षिकम् । कामतस्तु तत्पानाभ्यासे 'अभ्यासे तु सुराया अग्निवर्णां सुरां पिबेन्मरणात्पूतो भवति' इति वासिष्ठं मरणान्तिकं द्रष्टव्यम् । नात्र 'सुरा'शब्दः पैष्ट्यभिप्रायः;. तस्याः सकृत्पानेऽपि मरणान्तिकस्य दर्शितत्वात् ॥ मद्यवासितशुष्कभाण्डस्थोदकस्याज्ञानतः पाने वृद्धयमेनोक्तम्—'मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः । कुशमूलविपक्केन त्र्यहं क्षीरेण वर्तयेत् ॥' इति । अज्ञानतोऽभ्यासे तु वसिष्ठेनोक्तम्—'मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः । पद्मोदुम्बरविल्वानां पलाशस्य कुशस्य च ॥ एतेषामुदकं पीत्वा त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥' इति । ज्ञानतः पाने तु विष्णूक्तम्—'मद्यभाण्डस्थितं तोयं पीत्वा पञ्चरात्रं शङ्खपुष्पीशृतं पयः पिबेत्' इति ॥ ज्ञानतोऽभ्यासे तु शङ्खेनोक्तम्—'मद्यभाण्डस्थितं तोयं पीत्वा सप्तरात्रं गोमूत्रयावकं पिबेत्' इति ॥ अत्यन्ताभ्यासे तु हारीतोक्तम्—'मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः । द्वादशाहं तु पयसा पिबेद्ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति । एषु च वाक्येषु 'द्विज'ग्रहणं ब्राह्मणाभिप्रायम्; क्षत्रियवैश्ययोरप्रतिषेधादिति दर्शितं प्राक् ॥ इदं च गौडीमाध्वीभाण्डस्थजलपानविषयं गुरुत्वात्प्रायश्चित्तस्य । तालादिमद्यभाण्डोदकपाने तु कल्प्यम् ॥ २५५ ॥

अज्ञान से सुरा, रेत, विष्ठा, और मूत्र पीकर द्विजाति के तीनों वर्ण पुनः संस्कार के पात्र हो जाते हैं (अर्थात् बिना पुनः संस्कार किये वे शुद्ध नहीं होते। किन्तु सुरापान में केवल ब्राह्मण ही पुनः संस्कार का पात्र होता है, अन्य वर्ण नहीं) ॥२५५ ॥

द्विजातिभार्यां प्रत्याह—

पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।
इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी चोपजायते ॥ २५६ ॥

या द्विजातिभार्या सुरां पिबति सा कृतपुण्याऽपि सती पतिलोकं न याति किंत्विहैव लोके श्वगृध्रसूकरलक्षितां तिर्यग्योनिं क्रमेण प्राप्नोति ॥ 'ब्राह्मणी'ग्रहणं चात्र 'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' (आ०५७) इति न्यायेन यस्य द्विजातेर्यावत्यो भार्यास्तासामुपलक्षणम् । अत एव मनुः—'पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत् । पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति । धर्मार्थकामेषु सहाधिकाराद्दम्पत्योरेकशरीरत्वमेव, अतो यस्य द्विजातेर्भार्या सुरां पिबति तस्य भार्यारूपमर्धं शरीरं पतति । पतितस्य च भार्यारूपस्यार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते । तस्माद्द्विजातिभार्यया ब्राह्मण्याद्यया न सुरा पेया । 'तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्' इति निषेधविधौ लिङ्गस्याविवक्षितत्वेन वर्णत्रयभार्याणामपि प्रतिषेधे सिद्धे पुनर्वचनं द्विजातिभार्यायाः शूद्राया अपि सुराप्रतिषेधप्राप्त्यर्थम् । अतो द्विजातिभार्याभिः सुरापाने प्रायश्चित्तस्यार्धं कार्यम्; शूद्रभार्यायास्तु शूद्रायाः शूद्रवदेव न प्रतिषेधः । सुरापानसमेषु तु निषिद्धभक्षणादिषु सुरापानप्रायश्चित्तार्धमित्युक्तं प्राक् ॥ २५६ ॥

जो ब्राह्मण-स्त्री सुरा पीती है वह पतिलोक में नहीं जाती अपितु इसी लोक में कुतिया, गृध्री और सूकरी योनि में उत्पन्न होती है ॥२५६ ॥

इति सुरापानप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तं सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे मुसलमर्पयेत् ।
स्वकर्म ख्यापयंस्तेन हतो मुक्तोऽपि वा शुचिः ॥ २५७ ॥

ब्राह्मणस्वामिकं सुवर्णं योऽपहरत्यसौ सुवर्णस्तेयं मया कृतमित्येवं स्वकर्म ख्यापयन् राज्ञे मुसलं समर्पयेत् । मुसलसमर्पणस्य दृष्टार्थत्वात्तेन मुसलेन राजा तं हन्यात् । तेन राज्ञा हतो मुक्तो वा शुद्धो भवति । 'अपहरण'शब्देन च समक्षं परोक्षं वा बलाच्चौर्येण वा क्रयादिस्वत्वहेतुं विना ग्रहणमुच्यते । 'मुसलं समर्पयेत्' इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि तस्य हननार्थत्वात् तत्समर्थस्यायोमयादेर्ग्रहणम् । अत एव मनुनोक्तम् (८।३१५)—'स्कन्धेनादाय मुसलं लकुटं वापि खादिरम् । असिं चोभयतस्तीक्ष्णमायसं दण्डमेव वा ॥' इति ॥ शङ्खेनाप्यत्र विशेष उक्तः (११।१००)—'सुवर्णस्तेनः प्रकीर्णकेश आर्द्रवासा आयसं मुसलमादाय राजानमुपतिष्ठेत् 'इदं मया पापं कृतमनेन मुसलेन मां घातयस्व' इति स राज्ञा शिष्टः सम्पूतो भवति' इति । हननं चावृत्तिविधानाभावात्सकृदेव कार्यम् ।

अत एव मनुनोक्तम् (११।१००)—'ततो मुसलमादाय सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्' इति । एवं सकृत्ताडनेन राज्ञा हतो मृतः शुद्ध्येत्, मुक्तो वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्ध्येदिति यावत् ॥ तथा च संवर्तेनोक्तम्—'ततो मुसलमादाय सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् । यदि जीवति स स्तेनस्ततः स्तेयाद्विशुद्ध्यति ॥' इति ॥ यथोक्तं ब्राह्मणवधे—'मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्ध्यति' इति ॥ नन्वताडित एव राज्ञा मुक्तः स्तेनः शुद्ध्येदित्ययमर्थः कस्मान्नेष्यते ? उच्यते,—'अनघ्नेनस्वी राजा' इति गौतमीये ताडनमकुर्वतो राज्ञो दोषाभिधानात् । भवतु राज्ञो दोषस्तथाप्यतिक्रान्तनिषेधेन राज्ञा स्नेहादिना मुक्तः स्तेनः कथं न शुद्ध्येदिति चेत्,—उच्यते—एवं च सति अकारणिका शुद्धिरापतेत् । अथोच्यते—मोक्षोत्तरकालं द्वादशवार्षिकाद्यनुष्ठानेन शुद्ध्यङ्गीकरणान्नाकारणिकेति,—तदप्यसुन्दरम्; मुक्तः 'शुचिः' इति मोक्षस्यैव शुद्धिहेतुत्वाभिधानात् । अतः प्राच्येव व्याख्या ज्यायसी । मुक्तो वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्ध्येदिति यावत् । इदं च मरणान्तिकं सार्ववर्णिकस्यापहर्तुर्न तु ब्राह्मणस्यैव । ब्राह्मणस्वर्णहारीति नैमित्तिकवाक्ये विशेषानुपादानात् क्षत्रियादीनां च महापातकित्वाविशेषात्प्रायश्चित्तान्तरस्यानाम्नानाच्च । यत्पुनर्मानवे (११।९९)—'सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः' इति 'विप्र'ग्रहणं तन्नरमात्रोपलक्षणम् । 'प्रायश्चित्तीयते नर' इति तस्यैव प्रकृतत्वात्; 'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः' (मनुः ११।५४) इति निमित्तवाक्ये विशेषानुपादानाच्च । तत्सापेक्षनैमित्तिकवाक्ये 'सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः' (११।९९) इत्यत्र श्रूयमाणमप्युपलक्षणमेव युक्तम् । यथा 'अभ्युदितेष्ट्यां यस्य हविः'इति वाक्ये 'तन्दुल'ग्रहणं हविर्मात्रस्य ॥ इदं च राज्ञा हननं ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य; 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्' (८।३८०) इति मानवे ब्राह्मणवधस्य निषिद्धत्वात् । यदि कथंचिदतिक्रान्तनिषेधे राज्ञा हन्यते तथापि शुद्धो भवति; 'वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा' (मनुः ११।१००) इति ब्राह्मणस्यापि वधेन शुद्ध्यभिधानात् । नच 'तपसैव वा' इत्येवकारेण वधनिषेधः; तस्य केवलतपसापि शुद्ध्यभिधानपरत्वात् । यदि वधो निषिद्धस्तर्हि 'तपसैव वा' इति विकल्पाभिधानमनुपपन्नम् । नच दण्डाभिप्रायं विकल्पाभिधानम्; तस्यानिर्दिष्टत्वात् । किंच 'एकार्थास्तु विकल्पेरन्' इति न्यायेनैकार्थानामेव विकल्पो व्रीहियवयोरिव । नच दण्डतपसोरेकार्थत्वम्; दण्डस्य दमनार्थत्वात्तपसश्च पापक्षयहेतुत्वात् । नच 'वधेन शुद्ध्यति स्तेन' इति सामान्यविषयेण वधेन ब्राह्मणस्तपसैव वेति विशिष्टविषयस्य तपसो विकल्पोपपत्तिः । नहि भवति 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय च' इति विकल्पस्तस्माद्द्वयोरपि सामान्यविषयत्वमेव । यद्वा क्षत्रियस्यापि न निषेधः; मनुना—'सुवर्णस्तेयकृद्विप्र' (११।९९) इत्यभिधाय—'गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ॥' (११।१००) इति सर्वनाम्ना प्रकृतब्राह्मणपरामर्शेनैव हननविधानात्—'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यस्य प्रायश्चित्तव्यतिरिक्तदण्डरूपहननविषयत्वेनाप्युपपत्तेः ।—

एतच्च मरणान्तिकं मतिपूर्वसुवर्णस्तेयविषयम् । 'मरणान्तिकं हि यत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः । यत्तु कामकृते पापे विज्ञेयं नात्र संशयः ॥' इति मध्यमाङ्गिरःस्मरणात् । अत्र च 'सुवर्ण'शब्दः परिमाणविशिष्टहेमद्रव्यवचनो न जातिमात्रवचनः ॥ 'जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणू रजः स्मृतम् । तेऽष्टौ लिक्षा तु तास्तिस्रो राजसर्षप उच्यते ॥ गौरस्तु ते त्रयः षड्भिर्यवो माषस्तु ते त्रयः । कृष्णलः पञ्च ते माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥' इति षोडशमाषपरिमिते हेमनि 'सुवर्ण'शब्दस्य परिभाषितत्वात् । अतो 'ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकम्' इत्यादिप्रयोगेषु कृतपरिमाणस्यैव सुवर्णस्य ग्रहणं युक्तम्; परिमाणकरणस्य दृष्टार्थत्वात् । न ह्यदृष्टार्थपरिमाणस्मरणम् । नापि लोकव्यवहारार्थम्; अतत्परत्वात्स्मृतिकारप्रवृत्तेः । अत एवोक्तं न्यायविद्भिः—'कार्यकाले संज्ञापरिभाषयोरुपस्थानम्' इति । तथा नामानि गुणफलोपबन्धेनार्थवदित्युक्तं 'पञ्चदशान्याज्यानि' इत्यत्र । नच दण्डमात्रोपयोगिपरिमाणस्मरणमित्युक्तमिति युक्तम्; तावन्मात्रार्थत्वे प्रमाणाभावात् । अतोऽविशेषात्सर्वशेषत्वमेव युक्तम् । किंच, दण्डस्य दमनार्थत्वाद्दमनस्य च परिमाणविशेषमन्तरेणापि सिद्धेर्नातीव परिमाणस्मरणमुपयुज्यते । शब्दैकसमधिगम्ये तु महापातकित्वादावेकान्ततः स्मरणमुपयुज्यते । अतः षोडशमाषात्मकसुवर्णपरिमितहेमहरण एव महापातकित्वं तन्निमित्तं मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तविधानं च । द्वित्रादिमाषात्मकहेमहरणं तु क्षत्रियादिहेमहरणवदुपपातकमेवेति युक्तम् । किंच, सुवर्णान्न्यूनपरिमाणहेमहरणे प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात्तत्परिमाणस्यैव हेम्नो हरणे मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तमिति युक्तम् । तथा चोक्तं षट्त्रिंशन्मते—'वालाग्रमात्रेऽपहृते प्राणायामं समाचरेत् । लिक्षामात्रेऽपि च तथा प्राणायामत्रयं बुधः ॥ राजसर्षपमात्रे तु प्राणायामचतुष्टयम् । गायत्र्यष्टसहस्रं च जपेत्पापविशुद्धये ॥ गौरसर्षपमात्रे च सावित्रीं वै दिनं जपेत् । यवमात्रे सुवर्णस्य प्रायश्चित्तं दिनद्वयम् ॥ सुवर्णकृष्णलं ह्येकमपहृत्य द्विजोत्तमः । कुर्यात्सान्तपनं कृच्छ्रं तत्पापस्यापनुत्तये ॥ अपहृत्य सुवर्णस्य माषमात्रं द्विजोत्तमः । गोमूत्रयावकाहारस्त्रिभिर्मासैर्विशुद्ध्यति ॥ सुवर्णस्यापहरणे वत्सरं यावकी भवेत् । ऊर्ध्वं प्राणान्तिकं ज्ञेयमथवा ब्रह्महव्रतम् ॥' इदं च वत्सरं यावकाशनं किंचिन्न्यूनसुवर्णापहारविषयम्; सुवर्णापहारे मन्वादिमहास्मृतिषु द्वादशवार्षिकविधानात् । 'बलाद्ये कामकारेण गृह्णन्ति स्वं नराधमाः । तेषां तु बलहर्तॄणां प्राणान्तिकमिहोच्यते ॥' सुवर्णपरिमाणादर्वागपीत्यभिप्रेतम् । इदं च स्तेयप्रायश्चित्तमपहृतधनं तत्स्वामिने दत्त्वैव कार्यम् । 'स्तेये ब्रह्मस्वभूतस्य सुवर्णादेः कृते पुनः । स्वामिनेऽपहृतं देयं हर्त्रा त्वेकादशाधिकम् ॥' इति स्मरणात् । तथा—'चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये' (११।१६४) इति मनुस्मरणाच्च । दण्डप्रकरणेऽप्युक्तम्—'शेषेष्वेकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥' इति । यद्वाऽत्यशक्त्या राजा हन्तुमसमर्थस्तदा वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—'स्तेनः प्रकीर्णकेशो राजानमभियाचेत् । ततस्तस्मै राजौदुम्बरं शस्त्रं दद्यात्तेनात्मानं प्रमापयेत् मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते' इति । औदुम्बरं ताम्रमयम् । यदपि द्वितीयं प्रायश्चित्तं तेनोक्तम्—'निष्कालको गोघृ-

ताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानं प्रमापयेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते' इति,–तदपि गुरुश्रोत्रिययागस्थादिविप्रद्रव्यापहारविषयं क्षत्रियाद्यपहर्तृविषयं वा। तत्र 'निष्कालक' इति निर्गतकेशश्मश्रुलोमाभिधीयते, तथाश्वमेधाद्यनुष्ठानेन वा। तथा प्रचेतसा मरणान्तिकमभिधायोक्तम्—'इष्ट्वा वाऽश्वमेधेन गोसवेन वा विशुद्ध्येत्' इति।–एतच्च विद्वत्क्षत्रियाद्यपहर्तृविषयम् ॥ २५७ ॥

ब्राह्मण का स्वर्ण चुराने वाला अपना कर्म बताते हुये राजा को मुसल दे। राजा द्वारा मुसल से मारे जाने पर या छोड दिये जाने पर शुद्ध हो जातां है ॥२५७॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

अनिवेद्य नृपे शुद्ध्येत्सुरापव्रतमाचरन् ।
आत्मतुल्यं सुवर्णं वा दद्याद्वा विप्रतुष्टिकृत् ॥ २५८ ॥

स्वीयं स्तेयं राजन्यनिवेद्य सुरापव्रतं द्वादशवार्षिकमाचरन् शुद्ध्येत्। शवशिरोध्वजे तत्कपालधारणनिराकरणार्थं सुरापव्रतमित्युक्तम्।–एतच्चाकामकारविषयम्; 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्' (मनुः ११।८९)—इत्यकामतो विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात् ॥ नन्वकामतोऽपहार एव न संभवतीति कथं तद्विषयत्वम्? उच्यते,—यदा वस्त्रप्रान्तग्रथितं सुवर्णादिकमज्ञानादपहरति रजतादिद्रव्यान्तरबुद्ध्या वा हृत्वाऽनन्तरमेवान्यस्मै दत्तं नाशितं वा न पुनः स्वामिने प्रत्यर्पितं तदा संभवत्येवाकामतोऽपहारः। यस्तु ताम्रादिकस्य रसवेधाद्यापादितसुवर्णरूपस्यापहारो न तत्रेदं प्रायश्चित्तम्। मुख्यजातिसमवायाभावात्। नच मुख्यसादृश्यमात्रेण गौणे मुख्यधर्मा भवन्ति। यद्यपीदृशमेवासुवर्णं सुवर्णभ्रान्त्यापहरति, तथापि नेदं प्रायश्चित्तम्। असुवर्णापहारित्वादेव। नच 'स्पृष्टश्चेद्ब्राह्मणवधे अहत्वापी'तिवदत्रापि दोष इति वाच्यम्, असुवर्णे प्रवृत्तत्वादेव। न ह्यब्राह्मणः स्पृष्टश्चेदित्यस्य विषयः। यच्चेदं 'मनसा पापं ध्यात्वा प्रणवपूर्वकं व्याहृतीर्मनसा जपेत्। व्याहृत्या प्राणायामं त्रिराचरेत्। प्रवृत्तौ कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्' इति,–तदपि सम्यगर्थप्रवृत्तिविषयम्। अतो नेदृशमज्ञानतः स्वर्णापहारः प्रायश्चित्तस्य निमित्तं, किंतु रजतादिबुद्ध्या पूर्वोक्त एव स्वर्णापहारः। अस्मिन्नेव विषये यदाऽपहर्ताऽत्यन्तमहाधनः तदात्मतुलितं सुवर्णं दद्यात्। अथ तावद्धनं नास्ति तपश्चर्यायां चाशक्तस्तदा विप्रतुष्टिकृद्विप्रस्य यावज्जीवं कुटुम्बभरणपर्याप्ततया तुष्टिकरं धनं दद्यात्। यदा तु निर्गुणस्वामिकं द्रव्यमपहरति, तदा 'एतदेव व्रतं स्तेनः पादन्यूनं समाचरेत्' इति व्यासेनोक्तं नववार्षिकं द्रष्टव्यम्। यदा पुनरीदृशमेव क्षुत्क्षामकुटुम्बपरिरक्षणार्थमपहरति तदा अत्रिप्रतिपादितं षड्वार्षिकं 'स्वर्जिदादिं वा क्रतुं कुर्यात्तीर्थयात्रां वा', 'षडब्दं वाचरेत्कृच्छ्रं यजेद्वा क्रतुना द्विजः। तीर्थानि वा भ्रमन्विद्वांस्ततः स्तेयाद्विमुच्यते॥' इति। यदा त्वपहारसमनन्तरमेव हा कष्टं मया

कृतमिति जातानुतापः प्रत्यर्पयति त्यजति वा तदापस्तम्बीयं चतुर्थकालमिताशनेन त्रिवर्षमवस्थानमाङ्गिरसं वा वज्राख्यं त्रैवार्षिकं द्रष्टव्यम् ॥ ननु प्रत्यर्पणे त्यागे वाऽपहारधात्वर्थस्य निष्पन्नत्वात्कथं प्रायश्चित्ताल्पत्वम्? अथानिष्पन्नस्तदा प्रायश्चित्ताभाव एव स्यान्नतु प्रायश्चित्ताल्पत्वम्,—मैवम्; अपहारस्योपभोगादिफलपर्यन्तत्वादुपभोगात्प्राङ्निवृत्तौ च पुष्कलस्यापहारार्थस्याभावाद्युक्तमेव प्रायश्चित्ताल्पत्वं पीतवान्त इवापेयद्रव्ये ॥ नन्वेवं सति चौरहस्ताद्बलादाकृष्य ग्रहणेऽपि तस्योपभोगलक्षणफलाभावात्प्रायश्चित्ताल्पत्वप्रसङ्गः । मैवम्; तस्य त्यागे स्वतःप्रवृत्त्यभावात्, फलपर्यन्तेऽपहारे स्वतः प्रवृत्तत्वाच्च । यस्तु रजतताम्रादिसंसृष्टसुवर्णापहारी, न तत्रेदं लघुप्रायश्चित्तम्; यतः संसर्गेऽपि सुवर्णत्वं नापैति आज्यत्वमिव पृषदाज्ये । अतस्तत्र द्वादशवार्षिकमेवेति युक्तम् । अथ सुवर्णसदृशं द्रव्यान्तरमेवेति लघुप्रायश्चित्तमुच्यते । तर्हि न तरां तत्र त्रैवार्षिकादिलघुप्रायश्चित्तादिविषयता असुवर्णत्वादेव, किंतूपपातकप्रायश्चित्तमेव । यदप्यपरमापस्तम्बोक्तम्—'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा कृच्छ्रं सांवत्सरं चरेत्' इति,—तत्सुवर्णपरिमाणादर्वाङ्माषाच्चाधिकपरिमाणद्रव्यविषयम् । यत्तूक्तं सुमन्तुना—'सुवर्णस्तेयी मासं सावित्र्याऽष्टसहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात् । प्रत्यहं त्रिरात्रमुपवासं तप्तकृच्छ्रेण च पूतो भवति' इति, तत्पूर्वोक्तमाषपरिमाणसुवर्णापहारप्रायश्चित्तेन सह विकल्प्यते । यदप्यपरं तेनैवोक्तम्—'सुवर्णस्तेयी द्वादशरात्रं वायुभक्षः पूतो भवति' इति,—तन्मनसापहारे प्रवृत्तस्य स्वत एवोपरतापजिहीर्षस्य वेदितव्यम् । अत्रापि स्त्रीबालवृद्धादिष्वप्यर्धमेव प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् । यानि च 'अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा' इत्यादिना सुवर्णस्तेयसमत्वेन प्रतिपादितानि, तेष्वर्धमेव कार्यम् । यत्पुनश्चतुर्विंशतिमतवचनम्—'रूप्यं हृत्वा द्विजो मोहाच्चरेच्चान्द्रायणव्रतम् । गद्याणदशकादूर्ध्वमाशताद्द्विगुणं चरेत् ॥ आ सहस्रात्तु त्रिगुणमूर्ध्वं हेमविधिः स्मृतः । सर्वेषां धातुलोहानां पराकं तु समाचरेत् ॥ धान्यानां हरणे कृच्छ्रं तिलानामैन्दवं स्मृतम् ॥ रत्नानां हरणे विप्रश्चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ॥' इति,—तदपि गद्याणसहस्राधिकरजतहरणे सुवर्णस्तेयसमप्रायश्चित्तप्रतिपादनार्थं न पुनस्तन्निवृत्त्यर्थम् । यदपि रत्नापहारे चान्द्रायणमुक्तं, तदपि गद्याणसहस्राद्धीनमूल्यरत्नापहारे द्रष्टव्यम् । ऊर्ध्वं पुनः सुवर्णस्तेयसमम् ॥२५८॥

राजा से निवेदन न कर सुरापायी के व्रत का आचरण करते हुये अपने बराबर या ब्राह्मण की संतुष्टि भर सोना देकर शुद्ध हो जाता है ॥२५८ ॥

इति सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

उद्देशक्रमप्राप्तं गुरुतल्पप्रायश्चित्तमाह—

तप्तेऽयःशयने सार्धमायस्या योषिता स्वपेत् ।
गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ नैर्ऋत्यां चोत्सृजेत्तनुम् ॥ २५९ ॥

'समा वा गुरुतल्पग' (प्रा० २६०) इति वक्ष्यमाणश्लोकगतं गुरुतल्पगपदमत्र संबध्यते। तप्तेऽयःशयने यथा मरणक्षमं भवति तथा तप्ते अग्निवर्णे कृते कार्ष्णायसे शयने अयोमय्या स्त्रीप्रतिकृत्या तप्तया सह गुरुतल्पगः स्वप्यात्। एवं सुप्त्वा तनुं देहं उत्सृजेत्, म्रियेतेति यावत्। शयनं च 'गुर्वङ्गनागमनं मया कृतम्' इत्येवं स्वकर्म विख्याप्य कुर्यात्; 'गुरुतल्प्यभिभाष्यैनः' (११।१०३)—इति मनुस्मरणात् । तथा स्त्रियमालिङ्ग्य कार्यम्—'गुरुतल्पगो मृन्मयीमायसीं वा स्त्रियः प्रतिकृतिमग्निवर्णां कृत्वा कार्ष्णायसशयने (अयोमय्या स्त्रीप्रतिकृत्या कृत्वा) तामालिङ्ग्य पूतो भवति' इति वृद्धहारीतस्मरणात्। तथा मुण्डितलोमकेशेन घृताभ्यक्तेन च कर्तव्यम्—'निष्कालको घृताभ्यक्तस्तप्तां तां सूर्मीं मृन्मयीं वा परिष्वज्य मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते' इति वसिष्ठस्मरणात्। नच (११।१०३)—'गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये। सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥' इति मनुवाक्यानुरोधेन तप्तलोहशयनं तप्तलोहयोषिदालिङ्गनं च निरपेक्षप्रायश्चित्तद्वयमित्याशङ्कनीयम् । आयस्या योषिता स्वपेत् । कुत्रेत्याकाङ्क्षायां तप्तेऽयःशयन इति परस्परसापेक्षतयैकत्वावगमादेककल्पत्वमेव युक्तम् ॥ अथवा वृषणौ सलिङ्गौ स्वयमुत्कृत्य छित्त्वाञ्जलिना गृहीत्वा नैर्ऋत्यां दक्षिणप्रतीच्यां दिशि देहपातान्तमकुटिलगतिर्गत्वा तनुमुत्सृजेत् । यथाह मनुः (११।१०४)—'स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ। नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥' इति । गमनं पृष्ठतोऽनीक्षमाणेन कर्तव्यम्; 'क्षुरेण शिश्नवृषणावुत्कृत्यानवेक्षमाणो व्रजेत्' इति शङ्खलिखितस्मरणात् । एवं गच्छन् यत्र कुड्यादिना प्रतिबध्यते तत्रैव मरणान्तं तिष्ठेत्। 'सवृषणं शिश्नमुत्कृत्याञ्जलावाधाय दक्षिणाभिमुखो गच्छेद्यत्रैव प्रतिहतस्तत्रैव तिष्ठेदाप्रलयात्' (२०।१३) इति वसिष्ठस्मरणात्। दण्डोऽप्यत्रायमेव। यथाह नारदः (१२।७५)—'आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते। शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते॥' एवं दण्डार्थमपि लिङ्गाद्युत्कर्तनं पापक्षयार्थमपि भवति । इदमेव मरणान्तिकदण्डमभिप्रेत्योक्तं मनुना (११।३१८)—'राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥' इति। धनदण्डेन पुनः प्रायश्चित्तं भवत्येव; 'प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्वे वर्णा यथोदितम्। नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥' (९।२४०) इति तेनैवोक्तत्वात्। अनयोश्च मरणान्तिकयोरन्यतरानुष्ठानेन गुरुतल्पगः शुद्ध्येत्। 'गुरु'शब्दश्चात्र मुख्यया वृत्त्या पितरि वर्तते; 'निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥' (२।१४२) इति मनुना गुरुत्वप्रतिपादनपरे वाक्ये निषेकादिकर्तुर्जनकस्यैव गुरुत्वाभिधानात्। योगीश्वरेण च निषेकादि-

कर्माभिप्रायेणोक्तम् । 'स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति' (आ० ३४) इति । ननु 'गुरु'शब्दस्यान्यत्रापि प्रयोगो दृश्यते । 'उपनीय गुरुः शिष्यम्' इत्यादिनाचार्ये (मनुः २।१४९)—'स्वल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः । तमपीह गुरुं विद्यात्' इत्युपाध्याये । व्यासेनाप्यन्यत्र प्रयोगो दर्शितः—'गुरवो मातृपितृपत्न्याचार्यविद्यादातृज्येष्ठभ्रातर ऋत्विजो भयत्रातान्नदाता' च इति । नचानेकार्थकल्पनादोषः; 'गुरु'शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तभूतायाः पूजार्हतायाः सर्वत्रानुस्यूतेः । दर्शितं च तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तत्वं योगीश्वरेण (आ० ३५)—'एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी' इति 'मान्या' इत्युपक्रम्य 'गरीयसी' इत्युपसंहारं कुर्वता । नच 'उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता' (मनुः २।१४५) इत्युपाध्यायादधिकाचार्यात्पितुरतिशयितत्ववचनात्स एव मुख्य इति वाच्यम् ; आचार्येऽप्यतिशयितत्वस्याविशिष्टत्वात् । 'उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता' (मनुः २।१४६)—इति । गौतमेनाप्युक्तम् (२।५०)—'आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणाम्' इति । किंच, यद्यतिशयितत्वमात्रेण मुख्यत्वमुच्यते तर्हि 'सहस्रम्' इति वचनान्मातुरेव गुरुत्वं स्यात् । तस्मात्सर्वे गुरवस्तत्पत्नीगमनं गुर्वङ्गनागमनमिति युक्तम् । उच्यते,—'निषेकादीनि' (२।१४२) इति मनुवचनं निषेकादिकर्तुर्जनकस्य गुरुत्वप्रतिपादनपरम्; अनन्यपरत्वात् । यत्पुनर्व्यासगौतमवचनं, तत्परिचर्यापूजादिविधिशेषतया स्तुत्यर्थत्वेनान्यपरम् । अतो गुरुत्वप्रतिपादनपरान्निषेकादीति मनुवचनात्पितुरेव मुख्यं गुरुत्वमिति स्थितम् । अत एव वसिष्ठेन (२०।१५)—'आचार्यपुत्रशिष्यभार्यासु चैवम्' इत्याचार्यदारेष्वातिदेशिकं गुरुतल्पप्रायश्चित्तमुक्तम् । तथा जातूकर्ण्यादिभिरप्युक्तम्—'आचार्यादेस्तु भार्यासु गुरुतल्पव्रतं चरेत्' इत्यादि । आचार्यादेर्मुख्यगुरुत्वे तूपदेशत एव व्रतप्राप्तेरतिदेशोऽनर्थक एव स्यात् । किंच,–संवर्तेन स्पष्टमेव पितृदारग्रहणं कृतम्—'पितृदारान्समारुह्य मातृवर्ज्यं नराधमः' इति । षट्त्रिंशन्मतेऽपि—'पितृभार्यां तु विज्ञाय सवर्णां योऽधिगच्छति' इति । अतोऽपि निषेकादिकर्ता पितैव मुख्यो गुरुः ॥ तच्च गुरुत्व वर्णचतुष्टयेऽप्यविशिष्टम्; निषेकादिकर्तृत्वस्याविशेषात् । अतः–'स विप्रो गुरुरुच्यते' इति 'विप्र'ग्रहणमुपलक्षणम् । अतः पितृपत्नीगमनमेव महापातकम् । गमनं च चरमधातुविसर्गपर्यन्तं कथ्यते । अतस्ततोऽर्वाङ्निवृत्तौ न महापातकित्वम् । तत्र चेदं 'तप्तेऽयःशयने सार्धमायस्या' इत्याद्युक्तं मरणान्तिकं प्रायश्चित्तद्वयम् ।–तच्च जनन्यामकामकृते, तत्सपत्न्यां तु सवर्णायामुत्तमवर्णायां कामकृते द्रष्टव्यम् । 'पितृभार्यां तु विज्ञाय सवर्णां योऽधिगच्छति । जननीं चाप्यविज्ञाय नाप्नुतः शुद्धिमाप्नुयात् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतेऽभिधानात् । जनन्यां तु कामकृते वासिष्ठं 'निष्कालको घृताभ्यक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमवदाहयेत्' इति द्रष्टव्यम् । अकामतोऽभ्यासेऽप्येतदेव ॥ ननु च 'मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा । आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ॥'

(प्रा० २३२) इत्यतिदेशाभिधानान्मातृसपत्नीगमने त्वौपदेशिकं प्रायश्चित्तमयुक्तम् । उच्यते,—'पितृभार्यां सवर्णाम्' इत्यस्मादेव वचनात्सवर्णग्रहणाद्धीनवर्णसपत्नीविषयमिदमातिदेशिकमिति न विरोधः । इदं च मुख्यस्यैव पुत्रस्य । इतरेषां पुनः पुत्रकार्यकरत्वमेव न पुत्रत्वम् । यथाह मनुः (९।१८०)—'क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोम्चितान् । पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥' इति । तत्रोभयेच्छातः प्रवृत्तौ 'तप्तेऽयःशयने' इति प्रथमं प्रायश्चित्तम् । स्वेन प्रोत्साहने तु 'गृहीत्वोत्कृत्त्य वृषणौ' इति द्वितीयम्; अनुबन्धातिशयेन प्रायश्चित्तगुरुत्वंस्योक्तत्वात्। तया प्रोत्साहितस्य तु मानवं तप्तलोहशयनज्वलत्सूर्म्यालिङ्गनयोरन्यतरं द्रष्टव्यम् । यत्तु शङ्खेन द्वादशवार्षिकमुक्तम्—'अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः । एककालं समश्नीत वर्षे तु द्वादशे गते ॥ रुक्मस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः । व्रतेनैतेन शुद्ध्यन्ति महापातकिनस्त्विमे ॥' इति,—तत्समवर्णोत्तमवर्णपितृदारगमने अकामकृते वा द्रष्टव्यम् । तत्रैव कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात् प्राङ्निवृत्तौ षड्वार्षिकम्; अकामतस्तु त्रैवार्षिकम् । जनन्यां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्प्राङ्निवृत्तौ द्वादशवार्षिकम् । अकामतस्तु षड्वार्षिकमिति कल्प्यम् । यत्तु संवर्तेन—'पितृदारान्समारुह्य मातृवर्ज्यं नराधमः' इत्यादिना समारोहणमात्रे तप्तकृच्छ्र उक्तः, स हीनवर्णगुरुदारेषु रेतःसेकादर्वाग्द्रष्टव्यः ॥ २५९ ॥

गुरुपत्नीगामी तप्त लोहे की शय्या पर (तप्त) लोह-निर्मित स्त्री के साथ सोवे। अन्यथा अण्डकोशों को काटकर हाथ में लेकर नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम) दिशा में चलते-चलते शरीर त्याग दे ॥२५९ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समां वा गुरुतल्पगः ।
चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यसेद्वेदसंहिताम् ॥ २६० ॥

अथवा प्राजापत्यं कृच्छ्रं वक्ष्यमाणलक्षणं **समाः वर्षत्रयं चरेत्** । एतच्च ब्राह्मणीपुत्रस्य शूद्रजातीयगुरुभार्यागमने मतिपूर्वे द्रष्टव्यम् । यदा तु गुरुपत्नीं सवर्णां व्यभिचारिणीमबुद्धिपूर्वं गच्छति तदा **वेदजपसहितं चान्द्रायणत्रयं कुर्यात्** । तत्रैव कामतः प्रवृत्तावौशनसं—'गुरुतल्पाभिगामी संवत्सरं ब्रह्महव्रतं षण्मासान्वा तप्तकृच्छ्रं चरेत्' इति । क्षत्रियागमने तु मतिपूर्वे याज्ञवल्कीयं (प्रा० २३२)—'मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा' इति गुरुतल्पव्रतातिदेशान्नववार्षिकम् । इदं चातिदेशिकं सवर्णगुरुभार्यागमनविषयं न भवति; तत्र कामतो मरणान्तिकस्याकामतो द्वादशवार्षिकस्य विहितत्वात् । अतः क्षत्रियादिविषयमेवेति युक्तम् । तत्रैव कामतोऽभ्यासे मरणान्तिकम्; 'मत्या गत्वा पुनर्भार्यां गुरोः क्षत्रजातां द्विजः । अण्डाभ्यां रहितं लिङ्गमुत्कृत्त्य स मृतः शुचिः ॥' इति कण्वः

स्मरणात् । अत्रैव विषये प्रायश्चित्तं यदा न चिकीर्षति तदा 'छित्त्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाः स्त्रियास्तथा' इति याज्ञवल्कीयो वधदण्डः प्रायश्चित्तस्थाने द्रष्टव्यः । वैश्यायां तु गुरुभार्यायां कामतो गमने षड्वार्षिकम् । अत एव स्मृत्यन्तरम्—ब्राह्मणीपुत्रस्य क्षत्रियायां मातरि गमने पादहान्या द्वादशवार्षिकम् । एवमन्यवर्णास्वपि । अयमर्थः–ब्राह्मणीपुत्रस्य क्षत्रियायां मातुः सपत्न्यां गमने पादन्यूनं द्वादशवार्षिकं, नववार्षिकमिति यावत् । तस्यैव तथाभूतायां वैश्यायां षड्वार्षिकम्; शूद्रायां तु त्रैवार्षिकं प्रायश्चित्तमिति । एवं क्षत्रियापुत्रस्य वैश्यायां मातरि नववार्षिकम्; शूद्रायां तु षड्वार्षिकम् । एवमेव वैश्यापुत्रस्यापीति; वैश्यायां तु कामतोऽभ्यासे मरणान्तिकमेव; 'गुरोर्भार्यां तु यो वैश्यां मत्या गच्छेत्पुनः पुनः । लिङ्गाग्रं छेदयित्वा तु ततः शुद्ध्येत्स किल्बिषात् ॥' इति लौगाक्षिस्मरणात् । शूद्रायां तु कामतोऽभ्यासे द्वादशवार्षिकम्; 'पुनः शूद्रां गुरोर्गत्वा बुद्ध्या विप्रः समाहितः । ब्रह्मचर्यमदुष्टात्मा संचरेद्द्वादशाब्दिकम् ॥' इत्युपमन्युस्मरणात् । क्षत्रियायां तु गुरुभार्यायामबुद्धिपूर्वगमने यमोक्तं त्रैवार्षिकमष्टमकालाशनं द्रष्टव्यम् । 'कालेऽष्टमे वा भुञ्जानो ब्रह्मचारी सदा व्रती । स्थानासनाभ्यां विहरंस्त्रिरह्नोऽभ्युपयञ्जपः । अधःशायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपोहेत पातकम् ॥' इति । अत्रैवाभ्यासे जातूकर्ण्योक्तं—'गुरोः क्षत्रसुतां भार्यां पुनर्गत्वा त्वकामतः । अण्डमात्रं समुत्कृत्य शुद्ध्येज्जीवन्मृतोऽपि वा ॥' इति । वैश्यायां त्वकामतो गमने 'प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रम्' (प्रा० २६०) इत्येतदेव याज्ञवल्कीयम् । तथा च वृद्धमनुः—'गमने गुरुभार्यायाः पितृभार्यागमे तथा । अब्दत्रयमकामात्तु कृच्छ्रं नित्यं समाचरेत् ॥' इति । तत्रैवाभ्यासे हारीतोक्तं मरणान्तिकं ब्रह्मचर्यम्—'अभ्यस्य विप्रो वैश्यायां गुरोरज्ञानमोहितः । षडङ्गं ब्रह्मचर्यं च स चरेद्यावदायुषम् ॥' इति । गुरुभार्यायां शूद्रायां त्वमतिपूर्वे मानवम् (११।१०५)—'खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने । प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥' इति । अथवा 'गुरुदाराभिगामी संवत्सरं कण्टकिनीं शाखां परिष्वज्याधःशायी त्रिषवणी भैक्षाहारः पूतो भवति' इति सुमन्तूक्तं कुर्यात् । तत्रैवाभ्यासे मानवम् (११।१०६)—'चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यसेन्नियतेन्द्रियः' इति । क्षत्रियायां कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकादर्वाङ्निवृत्तौ व्याघ्रोक्तम्—'कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च तथा कृच्छ्रातिकृच्छ्रकम् । चरेन्मासत्रयं विप्रः क्षत्रियागमने गुरोः ॥' इति । अत्रेयं व्यवस्था—तया प्रोत्साहितस्य त्रैमासिकं प्राजापत्यचरणम् । उभयेच्छातः प्रवृत्तस्यातिकृच्छ्रचरणं तावदेव । स्वेन प्रोत्साहितायां पुनःकृच्छ्रातिकृच्छ्रानुष्ठानं च तावदेवेति । तत्रैव कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्पूर्वं कण्वोक्तं द्रष्टव्यम्—'चान्द्रायणं तप्तकृच्छ्रमतिकृच्छ्रं तथैव च । सकृद्गत्वा गुरोर्भार्यामज्ञानात्क्षत्रियां द्विजः ॥' इति । तया प्रोत्साहितस्यातिकृच्छ्रः, उभयेच्छातः प्रवृत्तस्य तप्तकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां तु चान्द्रायणम् । वैश्यायां कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्पूर्वं निवृत्तौ कण्वोक्तम्—

'तप्तकृच्छ्रं पराकं च तथा सान्तपनं गुरोः । भार्यां वैश्यां सकृद्गत्वा बुद्ध्या मासं चरेद्द्विजः ॥' इति । अत्रोभयोरिच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां पराकः, तया प्रोत्साहितस्य सान्तपनम् ॥ अत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य प्रजापतिराह—'पञ्चरात्रं तु नाश्नीयात्सप्ताष्टौ वा तथैव च । वैश्यां भार्यां गुरोर्गत्वा सकृदज्ञानतो द्विजः ॥' इति । तया प्रोत्साहितस्य तु पञ्चरात्रम् । उभयेच्छातः प्रवृत्तौ सप्तरात्रम् । स्वेन प्रोत्साहितायामष्टरात्रम् ॥ शूद्रायां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्पूर्वं निवृत्तौ जाबालिराह—'अतिकृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं पराकं वा तथैव च । गुरोः शूद्रां सकृद्गत्वा बुद्ध्या विप्रः समाचरेत् ॥' इति । तया प्रोत्साहितस्यातिकृच्छ्रः, उभयेच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां पराकः । तत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य दैर्घतमसम्—'प्राजापत्यं सान्तपनं सप्तरात्रोपवासकम् । गुरोः शूद्रां सकृद्गत्वा चरेद्विप्रः समाहितः ॥' इति । तया प्रोत्साहितस्य प्राजापत्यम् । उभयोरिच्छातः प्रवृत्तौ सान्तपनम् । स्वेन प्रोत्साहितायां सप्तरात्रोपवास इति । अनयैव दिशाऽन्येषामपि स्मृतिवचसां विषयव्यवस्थोहनीया । पुरुषवच्च स्त्रीणामप्यत्र महापातकित्वमविशिष्टम् । तथा हि कात्यायनः—'एवं दोषश्च शुद्धिश्च पतितानामुदाहृता । स्त्रीणामपि प्रसक्तानामेष एव विधिः स्मृतः ॥' इति । सतस्तस्या अपि कामतः प्रवृत्तौ मरणान्तिकमविशिष्टम् । अत एव पुरुषस्य मरणान्तिकमुक्त्वा स्त्रिया अपि योगीश्वरेण मरणान्तिकं दर्शितम् (प्रा० २३३)—'छित्त्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाः स्त्रियास्तथा' इति । अकामतस्तु मनुनोक्तम्—(११।१८८) 'एतदेव व्रतं कार्यं योषित्सु पतितास्वपि' इति । द्वादशवार्षिकमेवार्धकल्पनया कार्यम् । यानि पुनर्गुरुतल्पसमानि—'सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च । सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम् ॥' इति प्रतिपादितानि, यानि चातिदेशविषयभूतानि 'पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि । मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ॥' इति प्रतिपादितानि,—तेष्वेकरात्रादूर्ध्वमकामतोऽभ्यस्तेषु यथाक्रमेण षड्वार्षिकं नववार्षिकं च प्रायश्चित्तं विज्ञेयम् । अस्मिन्नेव विषये कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकम् । तथा च वृद्धयमः—'रेतः सिक्त्वा कुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च । सपिण्डापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते ॥' इति । अन्त्यजाश्चात्र—'चण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहिकस्तथा । मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिनः ॥' इति मध्यमाङ्गिरोदर्शिता ज्ञातव्याः । ननु 'रजकश्चर्मकारश्च' इत्यादिप्रतिपादिताः; तेषु लघुप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् ॥ तथा—'चाण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥' (११।१७५) इति चाण्डालादिसाम्यं प्रतिपादयता मनुनापि कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकं दर्शितम् । तथा हि—अज्ञानतश्चण्डालीगमनाभ्यासे पतति, अतः पतितप्रायश्चित्तं

द्वादशवार्षिकं कुर्यात् । कामतोऽत्यन्ताभ्यासे चण्डालैः साम्यं गच्छति । अतो द्वादशवार्षिकाधिकं मरणान्तिकं कुर्यात् ।—एतच्च वहुकालाभ्यासविषयम् । एकरात्राभ्यासे तु वर्षत्रयम् । यथाह मनुः (११।१७८)—'यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः । तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥' इति । अत्र 'वृषली'-शब्देन चण्डाल्यभिधीयते—'चण्डाली बन्धकी वेश्या रजःस्था या च कन्यका । ऊढा या च सगोत्रा स्याद्वृषल्यः पञ्च कीर्तिताः ॥' इति स्मृत्यन्तरे चण्डाल्यां 'वृषली'शब्दप्रयोगदर्शनात् । बन्धकी स्वैरिणी । कथं पुनरत्राभ्यासावगमः ? उच्यते,—'यत्करोत्येकरात्रेण' इत्यत्यन्तसंयोगापवर्गवाचिन्यास्तृतीयाया दर्शनात् । एकरात्रेण चात्यन्तसंयोगो गमनस्याभ्यासं विनाऽनुपपन्न इति गमनाभ्यासोऽवगम्यते । अत एवैकरात्राद्बहुकालाभ्यासविषयं प्रागुक्तं द्वादशवर्षादिगुरुतल्पव्रतातिदेशिकं मरणान्तिकं च । यदा पुनर्ज्ञानतोऽज्ञानतो वा चण्डाल्याद्याः सकृद्गच्छति तदा 'चण्डालपुल्कसानां तु भुक्त्वा गत्वा च योषितम् । कृच्छ्राब्दमाचरेज्ज्ञानादज्ञानादैन्दवद्वयम् ॥' इति यमाद्युक्तं संवत्सरं कृच्छ्रानुष्ठानं चान्द्रायणद्वयं यथाक्रमेण द्रष्टव्यम् । 'स्वयोनिष्वन्त्यजासु च' इत्येकवाक्यसमभिव्याहाराद्भगिन्यादिष्वपीयमेव व्यवस्था वेदितव्या । मरणान्तिकं चात्राग्निप्रवेशनम् । 'जनन्यां च भगिन्यां च स्वसुतायां तथैव च । स्नुषायां गमनं चैव विज्ञेयमतिपातकम् ॥ 'अतिपातकिनस्त्वेते प्रविशेयुर्हुताशनम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । जनन्यां सकृद्गमने भगिन्यादिषु चासकृद्गमने अग्निप्रवेश इति द्रष्टव्यम्; महापातकस्य जननीगमनस्य तदतिदेशविषयभूतातिपातकस्य भगिन्यादिगमनस्य च तुल्यत्वायोगात् । यत्तु बृहद्यमेनोक्तम्—'चाण्डालीं पुल्कसीं म्लेच्छीं स्नुषां च भगिनीं सखीम् । मातापित्रोः स्वसारं च निक्षिप्तां शरणागताम् ॥ मातुलानीं प्रव्रजितां स्वगोत्रां नृपयोषितम् । शिष्यभार्यां गुरोर्भार्यां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति; यच्चाङ्गिरोवचनम्—'पतितान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । मासोपवासं कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥' इति,—तदुभयमपि गुरुतल्पातिदेशविषयेषु कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकादर्वाङ्निवृत्तौ द्रष्टव्यम्; यदपि संवर्तवचनम्—'भगिनीं मातुराप्तां च स्वसारं चान्यमातृजाम् । एता गत्वा स्त्रियो मोहात्तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥' इति,—तदनन्तरोक्त एव विषये अकामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकादर्वाङ्निवृत्तौ द्रष्टव्यम् । यदा पुनरेता एवात्यन्तव्यभिचारिणीर्गच्छति तदापीदमेव प्रायश्चित्तयुगलं चान्द्रायणतप्तकृच्छ्रात्मकं क्रमेण कामतोऽकामतश्च प्रवृत्तौ द्रष्टव्यम्; साधारणस्त्रीषु तु गुरुणोपभुक्तास्वपि गमने गुरुतल्पत्वदोषो नास्ति । 'जात्युक्तं पारदार्यं च कन्यादूषणमेव च । साधारणस्त्रियां नास्ति गुरुतल्पत्वमेव च ॥' इति व्याघ्रस्मरणात् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवचनान्युच्चावचप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिपराण्यन्विष्य विषयव्यवस्थोन्नीया. ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यन्ते ॥ २६० ॥

अथवा गुरुपत्नीगामी तीन वर्षों तक प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत करे अथवा तीन मास तक (मन्त्रब्राह्मणात्मक) वेदसंहिता का जप करते हुये चान्द्रायण व्रत करे ॥२६० ॥

इति गुरुतल्पप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

एवं ब्रह्महादिमहापातकिप्रायश्चित्तमभिधायावसरप्राप्तं तत्संसर्गिप्रायश्चित्तमाह—

एभिस्तु संवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्समः ।

एभिः पूर्वोक्तैर्ब्रह्महादिभिरेकं **संवत्सरं यो**ऽत्यन्तं **संवसति** सहाचरति **सोऽपि तत्समः** । यो येन सहाचरति सोऽपि तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति तदीयप्रायश्चित्तातिदेशार्थं तत्समग्रहणम्, न पुनः [1]पातकत्वातिदेशार्थम् । तस्य 'यश्च तैः सह संवसेत्' (प्रा० २२३) इत्युपदेशत एव सिद्धत्वात् । अत्र च सत्यप्यतिदेशत्वे[2] कृत्स्नमेव द्वादशवार्षिकं कार्यम्, साक्षान्महापातकित्वात्संसर्गिणः । 'अपि'शब्दान्न केवलं महापातकिसंयोगी तत्समः किंत्वतिपातकीपातक्युपपातक्यादीनां मध्ये यो येन सह संसर्गं करोति, सोऽपि तत्सम इति तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति दर्शयति अत एव मनुना सकलं प्रायश्चित्तजातमध्यायान्तेऽभिधायाभिहितम् (११।१८१)—'यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः । स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥' इति । विष्णुनापि सामान्येनोपपातक्यादेनस्विमात्रसंसर्गे तत्प्रायश्चित्तभाक्त्वं दर्शितम्—'पापात्मना येन सह यः संसृज्येत स तस्यैव व्रतं कुर्यात्' इति । अत एव मनुना सामान्येनैनस्विमात्रप्रतिषेधः कृतः (११।१८९)—'एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं कंचित्समाचरेत्' इति । तथा—'न संसर्गं भजेत्सद्भिः प्रायश्चित्ते कृते सति' इति च ।—एतच्च द्वादशवार्षिकादिपतितप्रायश्चित्तं बुद्धिपूर्वसंसर्गविषयम्; 'पतितेन सहोषित्वा जानन्संवत्सरं नरः । मिश्रितस्तेन सोऽब्दान्ते स्वयं च पतितो भवेत् ॥' इति देवलस्मरणात् । अज्ञानतः संसर्गे पुनर्वसिष्ठोक्तम् (१९।४५,४६)—'पतितसंप्रयोगे तु ब्राह्मेण यौनेन वा स्रौवेण वा यास्तेभ्यः सकाशान्मात्रा उपलब्धास्तासां परित्यागस्तैश्च न संवसेदुदीचीं दिशं गत्वाऽनश्नन्संहिताध्ययनमधीयानः पूतो भवतीति विज्ञायते' इति । तथा—'ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः । एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत् ॥' इति[3], [4]तैरिति तृतीयया सर्वनामपरामृष्टप्रकृतब्रह्महादिचतुष्टयसंसर्गिण एव महापातकित्ववचनात्तत्संसर्गिणो न महापातकित्वम् । ननु महापातकिसंसर्ग एव महापातकित्वे हेतुर्न ब्रह्महादिविशेषसंसर्गः; तस्य व्यभिचारात् । अतोऽत्र ब्रह्महादिसंसर्गिसंसर्गिणोऽपि महापातकिसंसर्गो विद्यत इति तस्यापि महापातकित्वं स्यान्न च प्रतिषेधः । उच्यते,—स्यादेवं—यदि प्रमाणान्तरगम्यं महापातकित्वं स्यात् । शब्दैकसमधिगम्ये तु तस्मिन्नैवं भवितुमर्हतीति । तैरिति प्रकृतविशेषपरामर्शिना सर्वनाम्ना ब्रह्महादिविशेषसंसर्गस्यैव महापातकित्वहेतुत्वस्यावगमितत्वात् । एवं च सति प्रतिषेधाभावोऽप्यहेतुः प्राप्त्यभावादेव । अतः संसर्गिसंसर्गिणां द्विजातिकर्मभ्यो हानिर्न भवति, प्रायश्चित्तं तु भवत्येव । न च संसर्गिसंसर्गिणः पातित्याभावे कथं प्रायश्चित्तमिति वाच्यम्; 'एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं कंचित्समाचरेत्' (११।१८९) इति सामान्येनैनस्विमात्रप्रतिषेधेन महापातकिसंसर्गिसंसर्गस्यापि प्रतिषिद्धत्वात्पातित्याभावेऽपि युक्तमेव प्रायश्चित्तम् । तच्च

पादहीनम्; 'यो येन संवसेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात् । पादहीनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः ॥' इति व्यासोक्तं द्रष्टव्यम् । एवं चतुर्थपञ्चमयोरपि कामतः संसर्गिणोरर्धहीनं त्रिपादोनं च द्रष्टव्यम् । अतः साक्षाद्ब्रह्महादिसंसर्गिण एव तदीयप्रायश्चित्ताधिकारो न संसर्गिसंसर्गिण इति सिद्धम् ॥ अत्र च ब्रह्महादिषु यद्यपि कामतो मरणान्तिकमुपदिष्टं तथापि संसर्गिणस्तन्नातिदिश्यते । 'स तस्यैव व्रतं कुर्यात्' इति व्रतस्यैवातिदेशात्, मरणस्य च 'व्रत'शब्दवाच्यत्वाभावात् । अतोऽत्र कामकृतेपि संसर्गे द्वादशवार्षिकमकामतस्तु तदर्धम् । संसर्गश्च स्वनिवन्धनकर्मभेदादनेकधा भिद्यते । यथाह वृद्धबृहस्पतिः—'एकशय्यासनं पङ्क्तिर्भाण्डं पङ्क्त्यन्नमिश्रणम् । याजनाध्यापने योनिस्तथा च सहभोजनम् ॥ नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह ॥' इति । देवलोऽपि—'संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात् । याजनाध्यापनाद्यौनात्पापं संक्रमते नृणाम् ॥' इति । एकशय्यासनमेकखट्वासनमेकपङ्क्तिभोजनमेकभाण्डपचनमन्नेन मिश्रणं संसर्गस्तदीयान्नभोजनमिति यावत् । याजनं पतितस्य स्वस्य वा तेन, अध्यापनं तस्य स्वस्य वा तेन, यौनं तस्मै कन्यादानं तत्सकाशाद्वा कन्यायाः प्रतिग्रहः, सहभोजनमेकामत्रभोजनम्, संलापः संभाषणम्, स्पर्शो गात्रसंमर्दः, निःश्वासः पतितमुखवायुसंपर्कः, सहयानमेकतुरगाद्यारोहणम्, एतेषां मध्ये केन कर्मणा कियता कालेन पातित्यमित्यपेक्षायां बृहद्विष्णुनोक्तम्—'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्नेकयानभोजनासनशयनैः, यौनस्रौवमुख्यैस्तु संबन्धैः सद्य एव' इति । –अत्रैकभोजनमेकपङ्क्तिभोजनम् । एकामत्रभोजने तु सद्यःपातित्यम्; 'याजनं योनिसंबन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम् । कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन न संशयः ॥' इति देवलस्मरणात् । 'स्रौव'शब्देन याजनमभिधीयते । 'मुख्य'शब्देन मुखभवत्वेनाध्यापनम् । यौनस्रौवमुख्यैरिति सत्यपि द्वन्द्वनिर्देशे प्रत्येकमेव तेषां सद्यः पतनहेतुत्वम्; 'यः पतितैः सह यौनमुख्यस्रौवानां 'संबन्धानामन्यतमं संबन्धं कुर्यात्तस्याप्येतदेव प्रायश्चित्तम्' इति सुमन्तुस्मरणात् । एकयानादिचतुष्टयस्य तु समुदितस्यैव पतनहेतुत्वम्; 'एकयानभोजनासनशयनैः' इति इतरेतरयुक्तानां निर्देशात् । प्रत्येकानुष्ठानस्य तु पतनहेतुत्वाभावेऽपि दोषहेतुत्वमस्त्येव; 'आसनाच्छयनाद्यानात्संभाषात्सहभोजनात्, संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥' इति पराशरवचनेन निरपेक्षाणामपि पापहेतुत्वावगमात् । संलापस्पर्शनिःश्वासानां तु यानादिचतुष्टयेनानुषङ्गिकतया समुच्चितानामेव पतनहेतुत्वं न पृथग्भूतानामल्पत्वात्, पापहेतुत्वं पुनरस्त्येव; 'संलापस्पर्शनिःश्वास' इति देवलवचनस्य दर्शितत्वात् । अतः संलापादिरहिते सहयानादिचतुष्टये कृते पञ्चमभागोनं द्वादशवार्षिकं प्रायश्चित्तं कुर्यात् । तत्सहिते तु पूर्णम् । एवं च स्थिते 'एभिस्तु संवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्समः' इति योगीश्वरवचनमपि सहयानादिचतुष्टयपरमेव युक्तम् । यतः संलापादीनां पृथक्पा-

त्यहेतुत्वं नास्ति । अत एव मनुना (११।१८०)—'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् । याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥' इति यानादिचतुष्टयस्यैव संवत्सरेण पातित्यहेतुत्वमुक्तम् । अत्र 'आसन'ग्रहणं शयनस्याप्युपलक्षणम् अत्र च 'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।' 'यानाशनासनात्' इति व्यवहितेन संबन्धः; प्राग्दर्शितविष्णुवचनानुरोधात्, तथा—'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् । भोजनासनशय्यादि कुर्वाणः सार्वकालिकम् ॥' इति देवलवचनाच्च । न चानन्वयदोषः; यानासनाशनादिहेतोराचरन्नाचारं कुर्वन्निति भेदविवक्षया संबन्धोपपत्तेः । यथा एतया पुनराधेयसंमितयेष्ट्येष्ट्वेति । यद्वा 'आचरन्' इति शत्रा हेत्वर्थस्य गमितत्वात् । यानाशनासनादिति द्वितीयार्थे पञ्चमी । याजनाध्यापनाद्यौना (त्सहभोजना) न्न तु संवत्सरेण पतति, किंतु सद्य एव प्राचीनवचननिचयानुरोधादेव । अतो यौनादिचतुष्टयेन सद्यः पतति यानादिचतुष्टयेन तु संवत्सरं निरन्तराभ्यासेनेति युक्तं 'वत्सरं सोऽपि तत्समः' इति अत्यन्तसंयोगवाचिन्या द्वितीयया दर्शनादन्तरितदिवसगणना कार्या । यथा षष्ट्यधिकशतत्रयदिवसव्यापित्वं संसर्गस्य भवति, ततो न्यूने तु न पतितप्रायश्चित्तं, किंत्वन्यदेव । यथाह पराशरः—'संसर्गमाचरन्विप्रः पतितादिष्वकामतः । पञ्चाहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा ॥ मासार्धं मासमेकं वा मासत्रयमथापि वा । अब्दार्धमेकमब्दं वा भवेदूर्ध्वं तु तत्समः ॥ त्रिरात्रं प्रथमे पक्षे द्वितीये कृच्छ्रमाचरन् । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तृतीये पक्ष एव तु । चतुर्थे दशरात्रं स्यात्पराकः पञ्चमे ततः । षष्ठे चान्द्रायणं कुर्यात्सप्तमे त्वैन्दवद्वयम् ॥ अष्टमे च तथा पक्षे षण्मासान्कृच्छ्रमाचरेत् ॥' इति । कामतः संसर्गे पुनर्विशेषः स्मृत्यन्तरेऽभिहितः—सुमन्तुः—'पञ्चाहे तु चरेत्कृच्छ्रं दशाहे तप्तकृच्छ्रकम् । पराकस्त्वर्धमासे स्यान्मासे चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । 'मासत्रये प्रकुर्वीत कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् । षाण्मासिके तु संसर्गे कृच्छ्रं त्वब्दार्धमाचरेत् ॥ संसर्गे त्वाब्दिके कुर्यादब्दं चान्द्रायणं नरः ॥' इति । अत्र चाब्दिके संसर्गे इति किंचिच्न्यून इति द्रष्टव्यम्; पूर्णे तु वत्सरे मन्वादिभिर्द्वादशवार्षिकस्मरणात् । यत्तु बार्हस्पत्यं वचनम्—'षाण्मासिके तु संसर्गे याजनाध्यापनादिना । एकत्रासनशय्याभिः प्रायश्चित्तार्धमाचरेत् ॥' इति, याजनाध्यापनयौनैकपात्रभोजनानां षण्मासात्पातित्यवचनमेतदकामतोऽत्यन्तापदि पञ्चमहायज्ञादिप्राये याजनेऽङ्गाध्यापने दुहितृभगिनीव्यतिरिक्ते च योनिसंबन्धे द्रष्टव्यम्; प्रकृष्टयाजनादिभिः सद्यःपातित्यस्योक्तत्वात् । एतद्दिगवलम्बनेनैव दुहितृभगिनीस्नुषागाम्यतिपातकिसंसर्गिणां कामतो नववार्षिकं, अकामतः सार्धचतुर्वार्षिकं कल्पनीयम् । सखिपितृव्यदारादिगामिपातकिसंसर्गिणां कामतः षड्वार्षिकम्, अकामतस्त्रैवार्षिकम् । अथोपपातक्यादिसंसर्गिणामपि कामतस्तदीयमेव त्रैमासिकम्, अकामतोऽर्धमित्यूहनीयम् । पुरुषवत्स्त्रीणामपि महापातक्यादिसंसर्गात्पातित्यमविशिष्टम् । यथाह शौनकः—'पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि तान्येव ।' ब्राह्मणी हीनवर्णसेवायामधिकं पततीति; अतस्तासामपि महापातकिप्रभृतीनां मध्ये येन सह संसर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तमर्धं स्त्रियो योजनीयम् । एवं बालवृद्धातुराणामपि कामतोऽर्धम्, अकामतः पादः । तथानुपनीतस्यापि बालस्य कामतः पादोऽकामतस्तदर्धमित्येषा दिक् ॥ ६० ॥

इन (पाँच महापातकियों) के साथ जो वर्षभर तक साथ रहता है वह भी उन्हीं के तुल्य महापातकी हो जाता है।

पतितसंसर्गप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धस्य यौनसंबन्धस्य क्वचित्प्रतिप्रसवमाह—

कन्यां समुद्वहेदेषां सोपवासामकिंचनाम् ॥ २६१ ॥

एषां पतितानां **कन्यां** पतितावस्थायामुत्पन्नां **सोपवासां** कृततत्संसर्गकालोचितप्रायश्चित्ताम**किंचनाम**गृहीतवस्त्रालंकारादिपितृधना**मुद्वहेत्**। 'कन्यां समुद्वहेत्' इति वदन्स्वयमेव कन्यां त्यक्तपतितसंसर्गां समुद्वहेन्न पुनः पतितहस्तात्प्रतिगृह्णीयादिति दर्शयति। एवं च सति पतितयौनसंसर्गप्रतिषेधविरोधोऽपि परिहृतो भवति। अयं चार्थो बृहद्धारीतेन स्पष्टीकृतः—'पतितस्य तु कुमारीं विवस्त्रामहोरात्रोपोषितां प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाच्छादितां नाहमेतेषां न ममैते इति त्रिरुच्चैरभिदधानां तीर्थे स्वगृहे वोद्वहेत्' इति। तथा 'एषां कन्यां समुद्वहेद्' इति वचनात्स्त्रीव्यतिरिक्ततदीयापत्यस्य संसर्गानर्हतां दर्शयति। अत एव वसिष्ठः—'पतितेनोत्पन्नः पतितो भवति अन्यत्र स्त्रियाः, सा हि परगामिनी तामरिक्थामुपेयात्' इति ॥ २६१ ॥

इन महापातकियों की कन्या से उपवास कराकर उनके पिता से कुछ भी (वस्त्रधनादि) न लेकर विवाह किया जा सकता है ॥२६१ ॥

इति संसर्गप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

निषिद्धसंसर्गप्रायश्चित्तप्रसङ्गान्निषिद्धसंसर्गोत्पन्नप्रतिलोमवधे प्रायश्चित्तमाह—

चान्द्रायणं चरेत्सर्वानवकृष्टान्निहत्य तु ।

अवकृष्टाः सूतमागधादयः प्रतिलोमोत्पन्नास्तेषां प्रत्येकं **हनने चान्द्रायणम्**। तथा च शङ्खः—'सर्वेषामवकृष्टानां वधे प्रत्येकं चान्द्रायणम्' इति। यद्वाङ्गिरसोक्तम्—'सर्वान्त्यजानां गमने भोजने संप्रमापणे। पराकेण विशुद्धिः स्यादित्याङ्गिरसभाषितम् ॥' इति पराकं कुर्यात्। तत्र कामतः सूतादिवधे चान्द्रायणम्, अकामतस्तु सूतवधे पराकः, वैदेहकवधे पादोनम्, चण्डालवधे द्विपादः, मागधवधे पादोनः पराकः, क्षत्तरि द्विपादः, आयोगवे च पादद्वयम्, अनयैव दिशा चान्द्रायणस्यापि तारतम्यं कल्प्यम्। यत्तु ब्रह्मगर्भवचनम्—'प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः। अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विषट् ॥' इति,—तदावृत्तिविषयम्। तत्र सूतवधे षण्मासाः, वैदेहकवधे चत्वारः, चण्डालवधे द्वाविति योग्यतयान्वयः। तथा मागधवधे चत्वारः, क्षत्तरि द्वैमासिकं, आयोगवे च द्वैमासिकमिति व्यवस्था ॥

अवकृष्टों (प्रतिलोमों से उत्पन्न सूत, मागध आदि) में प्रत्येक की हत्या कर चान्द्रायण व्रत करे।

नैमित्तिकव्रतानां जपादिसाध्यत्वाद्विद्याविरहिणां च शूद्रादीनां तदनुपपत्तेराज्यावेक्षणादिसाध्येष्विवान्धानामनधिकारमाशङ्क्याह—

शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि कालेनानेन शुद्ध्यति ॥ २६२ ॥

यद्यपि **शूद्रो** जपाद्यधिकारहीनस्तथाप्यनेन द्वादशवार्षिकादिकालसंपाद्येन व्रतेन **शुद्ध्यति**। 'शूद्र'ग्रहणं स्त्रीणां प्रतिलोमजानां चोपलक्षणम्। यद्यपि तस्य गायत्र्यादिजपासंभवस्तथापि नमस्कारमन्त्रजपो भवति। अत एव स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—'उच्छिष्टं चास्य भोजनमनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः' इति। यद्वा वचनबलाज्जपादिरहितमेव व्रतं कुर्यात्—'तस्माच्छूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम्। प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविवर्जितम् ॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात्। तथाऽपरमपि तेनैवोक्तम्—'शूद्रः कालेन शुद्ध्येत गोब्राह्मणहिते रतः। दानैर्वाऽप्युपवासैर्वा द्विजशुश्रूषया तथा ॥' इति। यत्तु मानवम् (४।८०)—'न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमाचरेत्' इति शूद्रस्य व्रतोपदेशनिषेधपरं वचनं,—तदनुपसन्नशूद्राभिप्रायम्। यदपि स्मृत्यन्तरवचनम्—'कृच्छ्राण्येतानि कार्याणि सदा वर्णत्रयेण तु। कृच्छ्रेष्वेतेषु शूद्रस्य नाधिकारो विधीयते ॥' इति,—तत्काम्यकृच्छ्राभिप्रायम्। अतः स्त्रीशूद्रयोः प्रतिलोमजानां च त्रैवर्णिकवद्व्रताधिकार इति सिद्धम्। यत्तु गौतमवचनम् (४।२५)—'प्रतिलोमा धर्महीनाः' इति,—तदुपनयनादिविशिष्टधर्माभिप्रायम् ॥ २६२ ॥

(यद्यपि शूद्र को जपादि का अधिकार नहीं है तथापि) शूद्र भी (इस द्वादश वार्षिक व्रत के) काल से व्रतानुष्ठान द्वारा शुद्ध हो जाता है ॥२६२ ॥

इति महापातकप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

महापातकादिपञ्चकमध्ये महापातकातिपातकानुपपातकप्रायश्चित्तान्युक्त्वाऽधुनोपपातकप्रायश्चित्तानि व्याचक्षाणः पाठक्रमप्राप्तं गोवधप्रायश्चित्तं तावदाह—

पञ्चगव्यं पिबेद्गोघ्नो मासमासीत संयतः।
गोष्ठेशयो गोऽनुगामी गोप्रदानेन शुद्ध्यति ॥ २६३ ॥
[1]कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च चरेद्वापि समाहितः।
दद्यात्त्रिरात्रं [2]चोपोष्य वृषभैकादशास्तु गाः ॥२६४ ॥

गां हन्तीति **गोघ्नः**, मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः। असौ मासं समाहित आसीत। किं कुर्वन्? **पञ्च च तानि गव्यानि** गोमूत्रगोमयक्षीरदधिघृतानि यथाविधि मिश्रितानि **पिबन्**, आहारान्तरपरित्यागेन भोजनकार्यं तस्य विधानात्। तथा गोष्ठेशयः। प्राप्तशयनानुवादेन गोष्ठविधानाद्दिवा च स्वापप्रतिषेधाद्रात्रौ गोशालायां शयानः। गा अनुगच्छति तदस्य व्रतमिति **गोऽनुगामी**।

व्रते णिनिः। अतश्च यासां गोष्ठे शेते सन्निधानात्ता एव गाः प्रातर्वनं प्रतिचरन्तीरनुगच्छेत्। अनुगच्छेदिति वचनाद्यदा ता गच्छन्ति तदैव स्वयमनुगच्छेत्। यदा तु तिष्ठन्त्यासते वा तदा पश्चाद्गमनस्याशक्यकरणत्वात्स्वयमपि तिष्ठेदासीत वेति गम्यते। अनुगमनविधानादेव ताभिः सायं गोष्ठं व्रजन्तीभिः सह गोष्ठप्रवेशोऽप्यर्थसिद्धः। एवं कुर्वन्मासान्ते गोप्रदानेन एकां गां दत्त्वा तावता शास्त्रार्थस्य संपत्तेर्गोहत्यायाः शुद्ध्यतीत्येकं व्रतम्। मासं गोष्ठेशयो गोऽनुगामीति चानुवर्तते। पञ्चगव्याहारस्य तु निवृत्तिः कृच्छ्रविधानादेव। अतश्च मासं निरन्तरं कृच्छ्रं समाहितश्चरेदित्यपरम्। अत एव जाबालेन मासं प्राजापत्यस्य पृथक् प्रायश्चित्तत्वमुक्तम्—'प्राजापत्यं चरेन्मासं गोहन्ता चेदकामतः। गोहितो गोऽनुगामी स्याद्गोप्रदानेन शुद्ध्यति॥' (प्रा० २६०) इति। अतिकृच्छ्रं वा तथैव समाचरेदित्यन्यत्। कृच्छ्रातिकृच्छ्रयोर्लक्षणमुत्तरत्र वक्ष्यते। अथवा त्रिरात्रमुपवासं कृत्वा वृषभ एकादशो यासां गवां ता दद्यादिति व्रतचतुष्टयम्। तत्राकामकृते जातिमात्रब्राह्मणस्वामिकगोमात्रवधे उपवासं कृत्वा वृषभैकादशगोदानसहितत्रिरात्रोपवासो द्रष्टव्यः। विशिष्टस्वामिकाया विशिष्टगुणवत्याश्च वधे गुरुप्रायश्चित्तस्य वक्ष्यमाणत्वात्। क्षत्रियसंबन्धिन्यास्तु तादृग्विधे व्यापादने मासं पञ्चगव्याशित्वं प्रथमं प्रायश्चित्तम्। अत्र मासपञ्चगव्याशनस्यातिस्वल्पत्वात्तन्मासोपवासतुल्यत्वम्। ततश्च षड्भिः षड्भिरुपवासैरेकैकप्राजापत्यकल्पनया पञ्चकृच्छ्राणां प्रत्याम्नायेन पञ्च धेनवो मासान्ते च दीयमाना गौरेकेति षड् धेनवो भवन्तीति वृषभैकादशगोदानसहितत्रिरात्रव्रताल्लघीयस्त्वम्। कथं पुनर्ब्राह्मणगवीनां गुरुत्वम्? 'देवब्राह्मणराज्ञां तु विज्ञेयं द्रव्यमुत्तमम्' इति नारदेन तद्द्रव्यस्योत्तमत्वाभिधानात्, गोषु ब्राह्मणसंस्थास्विति दण्डभूयस्त्वदर्शनाच्च। वैश्यसंबन्धिन्यास्तु तादृग्विधे व्यापादने मासमतिकृच्छ्रं कुर्यात्। अतिकृच्छ्रे त्वाद्ये त्रिरात्रत्रये पाणिपूरान्नभोजनमुक्तम्। अन्त्ये त्रिरात्रेऽनशनम्। अतोऽतिकृच्छ्रधर्मेण मासव्रते क्रियमाणे षड्रात्रमुपवासो भवति। चतुर्विंशत्यहे च पाणिपूरान्नभोजनम्। ततश्च कृच्छ्रप्रत्याम्नायकल्पनया किंचिन्न्यूनं धेनुपञ्चकं भवतीति पूर्वस्माद्व्रतद्वयाल्लघिष्ठत्वेन वैश्यस्वामिकगोवधविषयता युक्ता। तादृश एव विषये शूद्रस्वामिकगोहत्यायां मासं प्राजापत्यव्रतं द्वितीयम्। तत्र च सार्धप्राजापत्यद्वयात्मकेन प्रत्याम्नायेन किंचिदधिकं धेनुद्वयं भवतीति पूर्वेभ्यो लघुतमत्वाच्छूद्रविषयतोचिता। अथ चैतत्प्रायश्चित्तचतुष्टयं साक्षात्कर्त्रनुग्राहकप्रयोजकानुमन्तृषु गुरुलघुभावतारतम्यापेक्षया पूर्वोक्त एव विषये योजनीयम्। यत्तु वैष्णवं व्रतत्रयम्—'गोघ्नस्य पञ्चगव्येन मासमेकं पलत्रयम्। प्रत्यहं स्यात्पराको वा चान्द्रायणमथापि वा॥' इति, यच्च काश्यपीयम्—'गां हत्वा तच्चर्मणा प्रावृतो मासं गोष्ठेशयस्त्रिषवणस्नायी नित्यं पञ्चगव्याहारः' इति, यच्च शातातपीयम्—'मासं पञ्चगव्याहारः' इति, तत्पञ्चकमपि याज्ञवल्कीयपञ्चगव्याहारसमानविषयम्। यच्च शङ्खप्रचेतोभ्यामुक्तम्—'गोघ्नः पञ्चगव्या-

हारः पञ्चविंशतिरात्रमुपवसेत्सशिखं वपनं कृत्वा गोचर्मणा प्रावृतो गाश्चानुगच्छन् गोष्ठेशयो गां च दद्यात्' इति । एतच्च याज्ञवल्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतसमानविषयम् । 'दद्यात्त्रिरात्रं चोपोष्य' इत्येतद्विषयं वाऽत्यन्तगुणिनो हन्तुर्वेदितव्यम् । अत्रैव विषये पञ्चगव्याशक्तस्य तु द्वितीयं काश्यपीयं 'मासं पञ्चगव्येने'ति प्रतिपाद्य 'षष्ठे काले पयोभक्षो वा गच्छन्तीष्वनुगच्छेत्तासु सुखोपविष्टासु चोपविशेन्नातिप्लवं गच्छेन्नातिविषमेणावतारयेन्नाल्पोदके पाययेदन्ते ब्राह्मणान्भोजयित्वा तिलधेनुं दद्यात्' इति द्रष्टव्यम् । अत्राप्यशक्तस्य 'गोघ्नो मासं यवागूं प्रसृतितन्दुलशृतं भुञ्जानो गोभ्यः प्रियं कुर्वन् शुद्धयति' इति पैठीनसिनोक्तं वेदितव्यम् । यत्तु सौमन्तम्—'गोघ्नस्य गोप्रदानं गोष्ठे शयनं द्वादशरात्रं पञ्चगव्याशनं गवानुगमनं च' इति; यच्च संवर्तेनोक्तम्—'सक्तुयावकभैक्षाशी पयो दधि घृतं सकृत् । एतानि क्रमशोऽश्नीयान्मासार्धं सुसमाहितः ॥ ब्राह्मणान्भोजयित्वा तु गां दद्यादात्मशुद्धये ॥' इति; यच्च बार्हस्पत्यम्—'द्वादशरात्रं पञ्चगव्याहारः' इति तन्नितयमपि याज्ञवल्कीयमासप्राजापत्येन समानविषयं, मृतकल्पगोहत्याविषयं वा, विषमप्रदेशत्रासेन जनितव्याधितो मरणविषयं वा वेदितव्यम् ।—तदिदं सर्वं प्रागुक्तमकामविषयम् । यदा पुनरीदृग्विधधामविशिष्टविप्रस्वामिकामविशिष्टां गां कामतः प्रमापयति तदा मनुना मासं यवागूपानं, मासद्वयं हविष्येण चतुर्थकालभोजनं, मासत्रयं वृषभैकादशगोदानयुक्तं शाकादिना वर्तनमिति व्रतत्रितयमाम्नातम् । यथाह (११।१०८–११६)—'उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् । कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणार्द्रेण संवृतः । चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् । गोमूत्रेण चरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ दिवानुगच्छेत्ता गास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् । शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् । आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः । पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् । न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले । भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गा अनुगच्छति । स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः । अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥' (११।१०८–११६) इति, एतन्नितयं याज्ञवल्कीयमासप्राजापत्यमासपञ्चगव्याशनवृषभैकादशगोदानयुक्तत्रिरात्रोपवासरूपव्रतत्रितयविषयं यथाक्रमेण द्रष्टव्यम् ॥ यत्त्वङ्गिरसा मानवेतिकर्तव्यतायुक्तं त्रैमासिकमभिधायाधिकमभिहितम्—'अक्षारलवणं रूक्षं षष्ठे कालेऽस्य भोजनम् । गोमतीं वा जपेद्विद्यामोङ्कारं वेदमेव च ॥ व्रतवद्धारयेद्दण्डं समन्त्रां चैव मेखलाम् ॥' इति, तन्मानवविषयम् । एवं पुष्टितारुण्यादिकिंचिद्गुणातिशययोगिन्यां द्रष्टव्यम् । 'अतिबालामतिकृशामतिवृद्धां च रोगिणीम् । हत्वा पूर्वविधानेन चरेदर्धं व्रतं द्विजः ॥' इति पुष्टितारुण्यादिरहि-

तायां गव्यर्धप्रायश्चित्तदर्शनात् । यदा तु याज्ञवल्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतनिमित्तभूतां गामविशिष्टस्वामिकां जातिमात्रयोगिनीं कामतो व्यापादयति तदा 'विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं चरेत्' इति न्यायेन पूर्वोक्तमेवाकामविहितं मासातिकृच्छ्रव्रतं द्विगुणं कुर्यात् । यत्तु हारीतेन—'गोघ्नस्तच्चर्मोर्ध्ववालं परिधाय' इत्यादिना मानवीमितिकर्तव्यतामभिधायोक्तम्—'वृषभैकादशाश्च गा दत्त्वा त्रयोदशे मासे पूतो भवति' इति तत्सवनस्थश्रोत्रियगोवधे अकामकृते द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठेन—'गां चेद्धन्यात्तस्याश्चर्मणार्द्रेण परिवेष्टितः षण्मासान् कृच्छ्रतप्तकृच्छ्रान्वातिष्ठेदृषभवेहतौ दद्यात्' इति षाण्मासिकं कृच्छ्रतप्तकृच्छ्रानुष्ठानमुक्तम्, यदपि देवलेन—'गोघ्नः षण्मासांस्तच्चर्मपरिवृतो गोग्रासाहारो गोव्रजनिवासी गोभिरेव सह चरन् प्रमुच्यते' इति,–तत् द्वयमपि हारीतीयेन समानविषयम् । तत्रैव कामकारकृते कात्यायनीयं त्रैवार्षिकम्—'गोघ्नस्तच्चर्मसंवीतो वसेद्गोष्ठेऽथवा पुनः । गाश्चानुगच्छेत्सततं मौनी चीरासनादिभिः ॥ वर्षशीतातपक्लेशवह्निपङ्कभयार्दितः । मोक्षयेत्सर्वयत्नेन पूयते वत्सरैस्त्रिभिः ॥' इति द्रष्टव्यम् यच्च शाङ्खं त्रैवार्षिकम्—'पादं तु शूद्रहत्यायामुदक्यागमने तथा । गोवधे च तथा कुर्यात्परस्त्रीगमने तथा ॥' इति,–तदपि कात्यायनीयव्रतसमानविषयम् ॥ यत्तु यमेनाङ्गिरसीमितिकर्तव्यतामभिधाय 'गोसहस्रं शतं वापि दद्यात्सुचरितव्रतः । अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥' इति गोसहस्रयुक्तं गोशतयुक्तं च द्वैमासिकं व्रतद्वयमभिहितम्, तत्र यदा सवनस्थश्रोत्रियादिदुर्गतबहुकुटुम्बिब्राह्मणसंबन्धिनीं कपिलां कर्माङ्गभूतां गर्भिणीं बहुक्षीरतरुणिमादिगुणशालिनीं निर्गुणो धनवान्सप्रयत्नं खड्गादिना व्यापादयति तदा गोसहस्रयुक्तं त्रैमासिकं कुर्यात्; 'गर्भिणीं कपिलां दोग्ध्रीं होमधेनुं च सुव्रताम् । खड्गादिना घातयित्वा द्विगुणं व्रतमाचरेत् ॥' इति विशिष्टायां गवि वार्हस्पत्ये प्रायश्चित्तविशेषदर्शनात् ॥ अत एव प्रचेतसा—'स्त्रीगर्भिणीगोगार्भिणीबालवृद्धवधेषु भ्रूणहा भवति' इति । ईदृग्विधमेव गोवधमभिसंधाय ब्रह्महत्याव्रतमतिदिष्टम् । द्वितीयं तु याम्यं गोशतदानयुक्तं त्रैमासिकं व्रतं कात्यायनीयव्रतविषये धनवतो द्रष्टव्यम् ॥ यत्तु गौतमेन (२२।१८) वृषभैकशतगोदानसमुचितं त्रैवार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं वैश्यवधेऽभिधाय गोवधेऽतिदिष्टम्—'गां च हत्वा वैश्यवत्' इति । एतच्च त्रैवार्षिकव्रतप्रत्याम्नायभूतनवतिधेनुभिः सार्धं वृषभैकशता गावो नवन्यूनं द्विशतं भवतीति गोसहस्रयुक्तत्रैमासिकव्रतान्न्यूनत्वात्पूर्वोक्तविषये एव कामतो वधे । यद्वा तत्रैव विषये गर्भरहितायाः कामतो वधे द्रष्टव्यम् । तादृग्विधाया एव गर्भरहितायास्त्वकामतो हननेऽपि कात्यायनीयमेव त्रैवार्षिकं कल्प्यम् ॥ यत्तु यमेनोक्तम्—'काष्ठलोष्टाश्मभिर्गावः शस्त्रैर्वा निहता यदि । प्रायश्चित्तं कथं तत्र शस्त्रेऽशस्त्रे विधीयते ॥ काष्ठे सान्तपनं कुर्या-

प्राजापत्यं तु लोष्टके। तप्तकृच्छ्रं तु पाषाणे शस्त्रे चाप्यतिकृच्छ्रकम्॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम्। त्रिंशद्वा वृषभं चैकं दद्यात्तेभ्यश्च दक्षिणाम्॥' इति,—तत्पूर्वोक्तगोसहस्रशतादिदानत्रैवार्षिकादिव्रतविषयेष्वेव काष्ठादिसाधनविशेषजनितवधनिमित्तसान्तपनादिपूर्वकत्वप्रतिपादनपरं, नतु निरपेक्षं; लघुत्वाद्व्रतस्य। तथा वयोविशेषादपि प्रायश्चित्तविशेष उक्तः—'अतिवृद्धामतिकृशामतिबालां च रोगिणीम्। हत्वा पूर्वविधानेन चरेदर्धव्रतं द्विजः॥ ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या दद्याद्धेम तिलांस्तथा॥' इति। नीरोगादिवधे यद्विहितं तस्यार्धम्॥ बृहत्प्रचेतसाप्यत्र विशेष उक्तः—'एकवर्षे हते वत्से कृच्छ्रपादो विधीयते। अबुद्धिपूर्वं पुंसः स्याद्द्विपादस्तु द्विहायने॥ त्रिहायने त्रिपादः स्यात्प्राजापत्यमतःपरम्॥' इति। तथा गर्भिण्या वधे यदा गर्भोऽपि निहतो भवति तदा 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायेनाविशेषेण द्विगुणव्रतप्राप्तौ षट्त्रिंशन्मते विशेष उक्तः—पाद उत्पन्नमात्रे तु द्वौ पादौ दृढतां गते। पादोनं व्रतमुद्दिष्टं हत्वा गर्भमचेतनम्॥ अङ्गप्रत्यङ्गसंपूर्णे गर्भे चेतःसमन्विते। त्रिगुणं गोव्रतं कुर्यादेषा गोघ्नस्य निष्कृतिः॥' इति। बहुकर्तृके तु हनने संवर्तापस्तम्बौ विशेषमाहतुः—'एका चेद्बहुभिः काचिद्दैवाद्व्यापादिता क्वचित्। पादं पादं तु हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक्पृथक्॥' इति। यादृग्विधगोहत्यायां यद्व्रतमुपदिष्टं तत्पादं प्रत्येकं कुर्युर्वचनात्। 'एका चेत्' इत्युपलक्षणम्। अतो बहुभिर्द्वयोर्बहूनां च व्यापादने प्रतिपुरुषं पादद्वयं पादोनं वा कल्पनीयम्। —एतच्चाकामतो वधे द्रष्टव्यम्; दैवादिति विशेषणोपादानात्। कामकारे तु बहूनामपि प्रत्येकं कृत्स्नदोषसंबन्धात्कृत्स्नव्रतसंबन्धो युक्तः, सत्रिणामिव प्रतिपुरुषं कृत्स्नव्यापारसमवायात्, 'एकं घ्नतां बहूनां तु यथोक्ताद्द्विगुणो दमः' इति प्रत्येकं दण्डे द्वैगुण्यदर्शनाच्च। यदा त्वेकेनैव रोधनादिव्यापारेण बहवो गावो व्यापादितास्तत्र संवर्तापस्तम्बौ विशेषमाहतुः—'व्यापन्नानां बहूनां तु रोधने बन्धनेऽपि वा। भिषङ्मिथ्योपचारे च द्विगुणं गोव्रतं चरेत्॥' इति। बहुष्वपि व्यापन्नेषु न प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकानुष्ठानं, नापि तन्त्रेण किंतु वचनबलाद्द्विगुणमेव। तथा भिषगपि विरुद्धौषधदानेनैकस्या अप्यकामतो व्यापादने द्विगुणं गोव्रतं कुर्यात्। भिषग्व्यतिरिक्तस्य केवलं उपकारार्थं प्रवृत्तस्य त्वकामतः प्रतिकूलौषधदाने व्यास आह—'औषधं लवणं चैव पुण्यार्थमपि भोजनम्। अतिरिक्तं न दातव्यं काले स्वल्पं तु दापयेत्॥ अतिरिक्ते विपत्तिश्चेत्कृच्छ्रपादो विधीयते॥' इति॥ यत्त्वापस्तम्बेनोक्तम्—'पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत्। योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने॥' इति,—तद्व्यवहितव्यापारिणो निमित्तकर्तुर्विज्ञेयं, न साक्षात्कर्तुः। साक्षात्कर्तृनिमित्तिनोश्च भेदस्तेनैव दर्शितः—'पाषाणैर्लगुडैर्वापि शस्त्रेणान्येन वा बलात्। निपातयन्ति ये गास्तु कृत्स्नं कुर्यु-

व्रतं हि ते ॥ तथैव बाहुजङ्घोरुपार्श्वग्रीवाङ्गिमोटनैः ॥' इति । एतदुक्तं भवति—पाषाणखड्गादिभिर्ग्रीवामोटनादिना वा येऽङ्गानि पातयन्ति ते साक्षाद्धन्तारस्तेष्वेव कृत्स्नं प्रायश्चित्तम् । ये तु व्यवहितरोधबन्धादिव्यापारयोगिनस्ते निमित्तिनस्तेषां न कृत्स्नव्रतसंबन्धः किंतु तदवयवैरेव पादद्विपादादिभिरिति । तत्र[४] च रोधादिना व्यवहितव्यापारत्वाविशेषेऽपि वचनात्क्वचित्पादः, क्वचिद्द्विपादः, पादोनं क्वचिदिति युक्तम् । अत्राह पराशरः—'गवां बन्धनयोक्त्रैस्तु भवेन्मृत्युरकामतः । अकामकृतपापस्य प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् । अनडुत्सहितां गां च दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् ॥' इति । अयं च प्राजापत्यो यदि रोधादिकं कृत्वा तज्जन्यप्रमादपरिजिहीर्षया प्रत्यवेक्षमाण आस्ते तदा द्रष्टव्यः; 'अकामकृतपापस्य' इति विशेषणोपादानात् । यदा तु न प्रमादसंसरणं[५] करोति, तदा 'पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत् । योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥' इत्यङ्गिरोदृष्टं त्रैमासिकपादं किंचिदधिकं वा[६] विंशत्यहर्गोवधव्रतं कुर्यात् । आपस्तम्बेनापि विशेष उक्तः—'अतिदाहा[७]तिवाहाभ्यां नासिकाच्छेदने तथा । नदीपर्वतसंरोधे मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति । लक्षणमात्रोपयोगिनि तु दाहे न दोषः; 'अन्यत्राङ्कनलक्षाभ्यां वाहने मोचने[१] तथा । सायं संगोपनार्थं च न दुष्येद्रोधबन्धने ॥' इति पराशरस्मरणात् । अङ्कनं स्थिरचिह्नकरणम्, लक्षणं सांप्रतोपलक्षणम् । वाहने शास्त्रोक्तमार्गेण रक्षणार्थमपि नालिकेरादिभिर्बन्धने भवत्येव दोषः; 'न नालिकेरेण न शाणवालैर्न चापि मौञ्जेन[२] न बन्धशृङ्खलैः । एतैस्तु गावो न निबन्धनीया बद्ध्वा तु तिष्ठेत्परशुं गृहीत्वा ॥ कुशैः काशैश्च बध्नीयात्स्थाने दोषविवर्जिते ॥' इति व्यासस्मरणात् ॥ तथान्योऽपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'घण्टाभरणदोषेण विपत्तिर्यत्र गोर्भवेत् । कृच्छ्रार्धं[३] तु भवेत्तत्र भूषणार्थं हि तत्स्मृतम् ॥ अतिदोहे[४]ऽतिदमने संघाते चैव योजने । बद्ध्वा शृङ्खलपाशैश्च मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति । पालनाकरणादिनोपेक्षायां क्वचित्प्रायश्चित्तविशेषस्तेनैवोक्तः,—'जलौघपल्वले मग्ना मेघविद्युद्धतापि वा । श्वभ्रे वा पतिताऽकस्माच्छ्वापदेनापि भक्षिता ॥ प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं गोस्वामी व्रतमुत्तमम् । शीतवाताहता वा स्यादुद्बन्धनहता[५]पि वा ॥ शून्यागार उपेक्षायां प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥' इति । इदं तु कार्यान्तरविरहेऽप्युपेक्षायां वेदितव्यम् । कार्यान्तरव्यग्रतयोपेक्षायां त्वर्धम्—'पल्वलौघमृगव्याघ्रश्वापदादिनिपातने । श्वभ्रप्रपातसर्पाद्यैर्मृते कृच्छ्रार्धमाचरेत् ॥ अपालत्वात्तु कृच्छ्रं स्याच्छून्यागार उपप्लवे ॥' इति विष्णुस्मरणात् ॥ तथा सत्यपि व्यापादने क्वचिदुपकारार्थप्रवृत्तौ वचनाद्दोषाभावः । यथाह संवर्तः—'यन्त्रणे गोचिकित्सार्थे मूढ[६]गर्भविमोचने । यत्ने कृते विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते ॥' इति । यन्त्रणं व्याध्या[७]दिनिर्यातनार्थं संदंशाङ्कुशादिप्रवेशनम् । तथा—'औषधं स्नेहमाहारं ददद्गोब्राह्मणे द्विजः । दीयमाने विपत्तिश्चेन्न स पापेन लिप्यते ॥ ग्रामघाते

शरौघेण वेश्मभङ्गान्निपातने । दाहच्छेदशिराभेदप्रयोगैरुपकुर्वताम् ॥ द्विजानां गोहितार्थं च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' अत्र पराशरोऽप्याह—'ग्रामघाते शरौघेण वेश्मभङ्गान्निपातने । अतिवृष्टिहतानां च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति । तथा—'कूपखाते च धर्मार्थे गृहदाहे च या मृता । ग्रामदाहे तथा घोरे प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति । इदं तु बन्धनरहितस्यैव पशोः कथंचिद्गृहादिदाहेन मृतविषयम् । इतरथा त्वापस्तम्बेनोक्तम्—'कान्तारेष्वथ दुर्गेषु गृहदाहे खलेषु च । यदि तत्र विपत्तिः स्यात्पाद एको विधीयते ॥' इति । तथाऽस्थ्यादिभङ्गे मरणाभावेऽपि क्वचित्प्रायश्चित्तमुक्तम्—'अस्थिभङ्गं गवां कृत्वा लाङ्गूलच्छेदनं तथा । पाटनं दन्तशृङ्गाणां मासार्धं तु यवान्पिबेत् ॥' इति । यत्त्वाङ्गिरसम्—'शृङ्गदन्तास्थिभङ्गे वा चर्मनिर्मोचनेऽपि वा । दशरात्रं पिबेद्वज्रं स्वस्थापि यदि गौर्भवेत् ॥' इति 'वज्र'शब्दवाच्यं क्षीरादिवर्तनमुक्तं तदशक्तविषयम् । इदं च प्रायश्चित्तं गोस्वामिने व्यापन्नगोसदृशीं गां दत्त्वैव कार्यम् । यथाह पराशरः—'प्रमापणे प्राणभृतां दद्यात्तत्प्रतिरूपकम् । तस्यानुरूपं मूल्यं वा दद्यादित्यब्रवीद्यमः ॥' इति । मनुरपि (८।२८८)—'यो यस्य हिंस्याद्द्रव्याणि ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥' इति । एतच्च पूर्वोक्तप्रायश्चित्तजातं ब्राह्मणस्यैव हन्तुर्वेदितव्यम्; क्षत्रियादेस्तु हन्तुर्बृहद्विष्णुना विशेषोऽभिहितः—'विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धं पाद एकस्तु शूद्रजातिषु शस्यते ॥' इति । यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'पर्षद्या ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥' इति,—तत्प्रातिलोम्येन वाग्दण्डपारुष्यादिविषयम् । तथा स्त्रीबालवृद्धादीनां त्वर्धं, अनुपनीतस्य बालस्य पाद इति च प्रागुक्तमनुसंधेयम् ॥ स्त्रीणां पराशरेण विशेषोऽभिहितः—'वपनं नैव नारीणां नानुव्रज्या जपादिकम् । न गोष्ठे शयनं तासां न वसीरन्गवाजिनम् ॥ सर्वान्केशान्समुद्धृत्य छेदयेदङ्गुलद्वयम् । सर्वत्रैवं हि नारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतम् ॥' इति । पुरुषेषु च विशेषः संवर्तेन दर्शितः—'पादेऽङ्गरोमवपनं द्विपादे श्मश्रुणोऽपि च । त्रिपादे तु शिखावर्जं सशिखं तु निपातने ॥' इति । पादप्रायश्चित्तार्हस्य कण्ठादधस्तनाङ्गरोम्णामेव वपनम् । अर्धप्रायश्चित्तार्हस्य तु श्मश्रूणामपि । पादोनप्रायश्चित्तार्हस्य पुनः शिरोगतानामपि शिखावर्जितानाम् । पादचतुष्टयार्हस्य तु सशिखस्य सकलकेशजातस्येति । एवमेतद्दिगवलम्बनेनान्येषामपि स्मृतिवचसां विषयो निरूपणीयः ॥ २६३–२६४ ॥

गाय की हत्या करने वाला पञ्चगव्य का पान करे और एक मास तक संयम के साथ रहे। वह गोष्ठ में शयन, गायों का अनुगमन (गो-सेवा) तथा मासान्त में

एक गोदान कर शुद्ध हो जाता है। अथवा एकाग्र मन से कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र व्रतों को करे और तीन दिन-रात उपवास कर दश गायों तथा एक वृषभ का दान करे ॥२६३-२६४॥

इति गोवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अधुनाऽन्येषामुपपातकानां प्रायश्चित्तमाह—

उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन वा ।
पयसा वापि मासेन पराकेणाथवा पुनः ॥ २६५ ॥

एवमुक्तेन गोवधव्रतेन मासं पञ्चगव्याशनादिनान्येषां व्रात्यतादीनामुपपातकानां शुद्धिर्भवेत् । **चान्द्रायणेन वा** वक्ष्यमाणलक्षणेन **मासं पयोव्रतेन वा पराकेण वा शुद्धिर्भवेत्** । अत्रातिदेशसामर्थ्याद्गोचर्मवसनगोपरिचर्यादिभिर्गोवधासाधारणैः कतिपयैर्न्यूनत्वमवगम्यते ।–एतच्च व्रतचतुष्टयमकामकारे शक्त्यपेक्षया विकल्पितं द्रष्टव्यम्; कामकारे तु 'एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः । अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥' (मनुः ११।११७) इति मनूक्तं त्रैमासिकं द्रष्टव्यम् । अत एव वचनादयं प्रायश्चित्तातिदेशः सर्वेषामुपपातकगणपठितानामुक्तप्रायश्चित्तानामनुक्तप्रायश्चित्तानां चावकीर्णिवर्जितानामविशेषेण वेदितव्यः । अवकीर्णिनस्तु प्रतिपदोक्तमेव । नन्वनुक्तप्रायश्चित्तविषयतयैवातिदेशस्य युक्ता; इतरथा प्रतिपदोक्तप्रायश्चित्तबाधसापेक्षत्वप्रसङ्गात् । मैवम्; तथा सत्युक्तनिष्कृतीनामुपपातकगणपाठोऽनर्थकः स्यात् । यदि परमुपपातकमध्ये सामान्यतः पठितस्यान्यत्र विशेषतः प्रायश्चित्तान्तरमुच्यते । यथा—'अयाज्यानां च याजनम् । त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद्व्रात्ययाजकोऽविचरन्नपि ॥' इति स एव विषयः केवलं परिह्रियेत न पुनर्विशेषतः पठितस्यैवान्यत्रापि विशेषत एव यत्र प्रायश्चित्तमुच्यते सोऽपि यथा 'इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः' 'वृक्षगुल्मलतावीरुच्छेदने जप्यमृक्शतम्' इति । अतो व्रात्यतादिषु अस्मिन् शास्त्रे शास्त्रान्तरे वा दृष्टैः प्रायश्चित्तैः सह 'उपपातकशुद्धिः स्यादेवम्' इत्यादिना प्रतिपादितव्रतचतुष्टयस्य समविषयताकल्पनेन विकल्पो विषयविभागो वाश्रयणीयः। तानि च स्मृत्यन्तरदृष्टप्रायश्चित्तानि पाठक्रमेण व्रात्यतादिषु योजयिष्यामः। तत्र व्रात्यतायां मनुनेदमुक्तम् (११।१९१) —'येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि । तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥' इति, यच्च यमेनोक्तम् (११।११९)—'सावित्री पतिता यस्य दश वर्षाणि पञ्च च । सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः ॥ एकत्रिंशतिरात्रं च पिबेत्प्रसृतियावकम् । हविषा भोजयेच्चैव ब्राह्मणान्सप्त पञ्च च ॥ ततो यावकशुद्धस्य तस्योपनयनं स्मृतम् ॥' इति,–तदुभयमपि याज्ञवल्कीयमासपयोव्रतविषयम् । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—'पतितसावित्रीक उद्दालकव्रतं चरेत् द्वौ मासौ याव-

केन वर्तयेन्मासं पयसा पक्षमामिक्षयाऽष्टरात्रं घृतेन षड्रात्रमयाचितेन त्रिरात्रमब्भक्षोऽहोरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं गच्छेद्व्रात्यस्तोमेन वा यजेत' इति । अत्रेयं व्यवस्था—य[1]स्योपनेत्राद्यभावेन तत्कालातिक्रमस्तस्य याज्ञवल्कीयव्रतानामन्यतमं शक्त्यपेक्षया भवति । अनापद्यतिक्रमे तु मानवं त्रैमासिकम् । तत्रैव पञ्चदशवर्षादूर्ध्वमपि कियत्कालातिक्रमे तूद्दालकव्रतं व्रात्यस्तोमो वेति । येषां तु पित्रादयोऽप्यनुपनीतास्तेषामापस्तम्बोक्तम् (ध० १।१।३२, ५;१।२।५।६)—'यस्य पितापितामहावनुपेतौ स्यातां तस्य संवत्सरं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यम् । यस्य प्रपितामहादेर्नानुस्मर्यंत उपनयनं तस्य द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यम्' इति व्रात्यता ॥

तथा स्तेयेऽप्युपपातकसाधारणप्राप्तव्रतचतुष्टयापवादकं प्रायश्चित्तं मनुनोक्तम् (११।१६२)—'धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्द्विजोत्तमः । सजातीयगृहादेव कृ[2]च्छ्रार्धेन विशुद्ध्यति ॥' इति । द्विजोत्तमस्य सजातीयो ब्राह्मण एवातो विप्रपरिग्रहे ब्राह्मणस्य हर्तुरिदम् । क्षत्रियादेस्त्वल्पं कल्प्यम् । 'अ[3]ष्टापाद्यं स्तेयकिल्विषं शूद्रस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णं विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्' (१३।१५-१७) इति क्षत्रियादेरपहर्तुर्दण्डाल्पत्वस्य दर्शनात् । तथा—'विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम्' इति पादपादहान्या प्रायश्चित्तदर्शनात् । तथा क्षत्रियादिपरिग्रहेणापि दण्डानुसारेण प्रायश्चित्ताल्पत्वं कल्प्यम् । अतः क्षत्रियपरिग्रहे चौर्ये षाण्मासिकम् । वैश्यपरिग्रहे त्रैमासिकं गोवधव्रतम् । शूद्रपरिग्रहे चान्द्रायणं कल्प्यम् । एवमुत्तरत्राप्यूहनीयम् ।—इदं च दशकुम्भधान्यापहारविषयम् । अधिके तु—'धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो ह[1]रतो दम उत्तमः । पलसहस्रादधिके वधः' इति वधदर्शनात् । कुम्भश्च पञ्चसहस्रपलपरिमाणः । धान्यसाहचर्यादन्नधने चैतावद्धान्यपरिमिते वेदितव्ये । 'अन्न'शब्देन तन्दुलादिकमभिधीयते । 'धन'शब्देन ताम्ररजतादिकम् । इदं तु प्रायश्चित्तं कामकारविषयम् । अकामतस्तु त्रैमासिकं गोवधव्रतम् । तथा—'मनुष्याणां च हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणेन तु ॥' (मनुः ११।१६३) इति । सार्धशतद्वयपणलभ्यजलापहार इदं चान्द्रायणं प्राप्तमपीतरगोवधव्रतनिवृत्त्यर्थं विधीयते; 'तावन्मूल्यजलापहारे पानीयस्य तृणस्य च । तन्मूल्याद्द्विगुणो दण्डः' इति पञ्चशतदण्डविधानात्तावत्परिमाणदण्डचान्द्रायणयोर्गोवधादौ सहचरितत्वात् । तथा 'कृच्छ्रातिकृच्छ्रैन्दवयोः पणपञ्चशतं तथा' इति चान्द्रायणविषये पञ्चशतपणदण्डविधानाच्च । एतच्च क्षत्रियादिद्रव्यापहारे द्रष्टव्यम्; ब्राह्मणसंबन्धिद्रव्यापहारे तु 'निक्षेपस्यापहरणे नराश्वरजतस्य च । भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥' (मनुः ११।५७) इति द्रष्टव्यम् । तथा—'द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥' (मनुः ११।१६४) इत्यनेनाल्पप्रयोजनत्रपुसीसादिद्रव्यापहारविशेषेण-स्तेयसा-

मान्योपपातकप्रायश्चित्तापवादः । इदं च चान्द्रायणनिमित्तभूतार्धतृतीयशतमू-
ल्यस्य पञ्चदशांशार्धत्रपुसीसाद्यपहारे प्रायश्चित्तम्; चान्द्रायणपञ्चदशांशत्वात्तस्य ।
तथा द्रव्यविशेषेणाप्युपपातकसामान्यप्राप्तव्रतापवादः—'भक्ष्यभोज्यापहरणे यान-
शय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥' (मनुः ११।१६५)
इति । एकवारभोजनपर्याप्तभक्षभोज्यापहार इदम् । द्वित्रिवारभोजनपर्याप्ताहारे
त्रिरात्रम् । यथाह पैठीनसिः—'भक्ष्यभोज्यान्नस्योदरपूरणमात्रहरणे त्रिरात्रमेक-
रात्रं वा पञ्चगव्याहारता' इति । यानादीनामप्येतत्साहचर्यादेतावन्मूल्यानामेवाप-
हरणे एतावत्प्रायश्चित्तम् । सर्वत्रापि ह्रियमाणद्रव्यन्यूनाधिकभावेन प्रायश्चित्तस्यापि
लघुगुरुभावः कल्पनीयः । यथा 'तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।
तैलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥' (मनुः ११।१६६) इति । एषां
च तृणादीनां भक्ष्यादित्रिगुणत्रिरात्रप्रायश्चित्तस्य दर्शनात् तत्त्रिगुणमूल्यार्घाणामे-
तत्प्रायश्चित्तम् । तथा—'मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च । अयस्कांस्योप-
लानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥' (मनुः ११।१६७) इति । अत्रापि भक्ष्यादि-
द्वादशगुणप्रायश्चित्तदर्शनात् तन्मूल्यद्वादशगुणमूल्यमणिमुक्ताद्यपहार एतत्प्राय-
श्चित्तं द्रष्टव्यम् । तथा—'कार्पासकीटजौर्णानां द्विखुरैकखुरस्य च । पक्षिगन्धौष-
धीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥' (मनुः ११।१६८) इति । अत्रापि भक्ष्या-
दित्रिगुणप्रायश्चित्तदर्शनात्तत्त्रिगुणमूल्यानामपहार एवैतत्प्रायश्चित्तं ज्ञेयम् । ह्रियमा-
णद्रव्यन्यूनाधिकभावेन प्रायश्चित्ताल्पत्वमहत्त्वं कल्प्यमेव । इदं च स्तेयप्रायश्चित्त-
मपहृतद्रव्यदानोत्तरकालमेव द्रष्टव्यम् । यथाह विष्णुः—'दत्त्वैवापहृतं द्रव्यं
स्वामिने व्रतमाचरेत्' इति । इति स्तेयम् ॥ ऋणापाकरणे च 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्'
(व्य० ५०) इति विहितं तस्यानपाकरणे, तथा वैदिकस्य च 'जायमानो वै
ब्राह्मणः' इत्येतद्वाक्येनर्णसंस्तुतयज्ञादिकरणे च 'उपपातकशुद्धिः स्यादेवम्'
(प्रा० २६५) इत्यादिनोपपातकसामान्यविहितं व्रतचतुष्टयं शक्त्यपेक्षया योज्यम् ।
प्रायश्चित्तान्तरमप्यत्र मनुनोक्तम् (११।२७)—'इष्टिं वैश्वानरीं चैव निर्वपेद-
ब्दपर्यये । क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभव ॥' इति । अब्दपर्यये संवत्स-
रान्ते । इति ऋणानपाकरणम् ॥

तथाधिकृतस्यानाहिताग्नित्वेऽप्येतदेव व्रतचतुष्टयं वत्सरादूर्ध्वमापदि शक्त्यपेक्षया योज्यम् । अनापदि तु मानवं त्रैमासिकम् । अर्वाक्पुनर्वत्सरात् कार्ष्णाजिनिर्विशेषमाह—'काले त्वाधाय कर्माणि कुर्याद्विप्रो विधानतः । तदकुर्वंस्त्रिरात्रेण मासि मासि विशुद्ध्यति ॥ अनाहिताग्नौ पित्रादौ यक्ष्यमाणः सुतो यदि । स हि व्रात्येन पशुना यजेत्तन्निष्क्रयाय तु ॥' इति । एकाग्नेरपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो नादध्यादुपासनम् । चान्द्रायणं चरेद्वर्षं प्रतिमासमहोऽपि वा ॥' इति ॥ अनाहिताग्निता ॥

(विक्रये यद्व्रतं प्रोक्तं हरणे द्विगुणं हि तत् । सुराविक्रये सोम्ये चतुष्टयं लाक्षालवणमांसमध्वाज्यतिलहेमानां चान्द्रायणत्रयं पयःपायसापूपदधीक्षुरसगुडखण्डादिस्नेहपक्वादिषु पराकः । सिद्धान्नविक्रये प्राजापत्यं । पनसस्य त्रिदिनं । कदलीनारिकेरजम्बीरबीजपूरकनारङ्गानां पादकृच्छ्रं । कस्तूरिकाविक्रये गन्धानां च कृच्छ्रं । कर्पूरेऽर्धं हिंग्वादिविक्रये दिनमुपवासः । शुक्लकृष्णपीतवस्त्रविक्रये त्रिदिनं । अजानामैन्दवं । खराश्वतरकरभाणां पराकः । शुनां द्विगुणं । एकाहाद्वेदविक्रये चान्द्रं । अङ्गानां पराकः । स्मृतीनां कृच्छ्रं । इतिहासपुराणानां सांतपनं । रहस्यानां कृच्छ्रं । गाथानां शिशिरातत्त्वविद्यानां पादं ।) तथा अपण्यानां विक्रये च स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तविशेष उक्तः । यथाह हारीतः—'गुडतिलपुष्पमूलफलपक्वान्नविक्रये सोमायनं सौम्यकृच्छ्रः । लाक्षालवणमधुमांसतैलक्षीरदधितक्रघृतगन्धचर्मवाससामन्यतमविक्रये चान्द्रायणम् । तथा । ऊर्णाकेशकेसरिभूधेनुवेश्माश्मशस्त्रविक्रये च भक्ष्यमांसस्नाय्वस्थिशृङ्गनखशुक्तिविक्रये तप्तकृच्छ्रः । हिङ्गुगुग्गुलुहरितालमनःशिलाञ्जनगैरिकक्षारलवणमणिमुक्ताप्रवालवैणवमृन्मयेषु च तप्तकृच्छ्रः । आरामतडागोदपानपुष्करिणीसुकृतविक्रये त्रिषवणस्नाय्यधःशायी चतुर्थकालाहारो दशसहस्रं जपन्संवत्सरेण पूतो भवति । हीनमानोन्मानसंकरसंकीर्णविक्रये चेति । एवमन्यैरपि शङ्खविष्ण्वाद्युक्तवचनैर्यत्र प्रायश्चित्तविशेषो नोक्तस्तत्रानापादि मानवमुपपातकसाधारणतः प्राप्तं त्रैमासिकम् । आपदि तु याज्ञवल्कीयं व्रतचतुष्टयं शक्त्यपेक्षया योज्यम् ॥ इति अपण्यविक्रयः ॥ तथा परिवेत्तरि च वसिष्ठेन प्रायश्चित्तविशेष उक्तः (२०।८)—'परिविविदानः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत तां चैवापयच्छेत' इति । परिविविदानः परिवेत्तोच्यते । तत्स्वरूपं च प्राग् व्याख्यातम् । असौ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै ज्येष्ठाय तां स्वोढां दत्त्वा ब्रह्मचर्याहृतभैक्षवद्गुरुपरिभवपरिहारार्थं निवेद्य पुनरुद्वहेत् । कामित्यपेक्षायामुक्तं 'तामेवोपयच्छेत' इति । तामेव स्वोढां ज्येष्ठाय निवेदितां तेन चानुज्ञातामुद्वहेत् । यत्तु हारीतेनोक्तम्—ज्येष्ठेऽनिविष्टे कनीयान्निविशमानः परिवेत्ता भवति, परिवित्तिर्ज्येष्ठः, परिवेदनी कन्या, परिदायी दाता, परियष्टा याजकस्ते सर्वे पतिताः संवत्सरं प्राजापत्येन कृच्छ्रेण पावयेयुः' इति । यदपि शङ्खेनोक्तम्—'परिवित्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयाताम्' इति तदुभयमपि कामकारेण कन्यापित्राद्यननुज्ञातोद्वाहविषयम् । प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वात् । यदा पुनः कामतः कन्यां पित्रादिदत्तामेव परिणयति तदा मानवं त्रैमासिकम् । पूर्वोक्तौ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ याज्ञवल्कीयं च व्रतचतुष्टयमज्ञातविषयम् । यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'कृच्छ्रौ द्वयोः पारिवेद्ये कन्यायाः कृच्छ्र एव च । अतिकृच्छ्रं चरेद्दाता होता चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति ।—एतच्च पर्याहिताग्न्यादीनामपि समानम् । एकयोगनिर्देशात् । यथाह गौतमः (१५।१८)—'परिवित्तिपरिवेत्तृपर्याहितपर्याधात्रग्रेदिधिषूपतीनां संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्' इति । अत एव वसिष्ठेनाग्रेदिधिषूपत्यादाविदमेव प्रायश्चित्तमुक्तम् (२०।९,१०) 'अग्रेदिधिषूपतिः

कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत तां चैवोपयच्छेत । दिधिषूपतिः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्तां पुनर्निविशेत’ इति । अग्रेदिधिष्वादेर्लक्षणं स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—‘ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामूह्यतेऽनुजा । या साऽग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता ॥’ इति । तत्राऽग्रेदिधिषूपतिः प्राजापत्यं कृत्वा तामेव ज्येष्ठां पश्चादन्येनोढामुद्वहेत् । दिधिषूपतिस्तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कृत्वा स्वोढां ज्येष्ठां कनीयस्याः पूर्वविवोढ्रे दत्त्वाऽन्यामुद्वहेदिति परिवेदनम् । तथा भृतकाध्यापकभृतकाध्यापितयोश्च पयसा ब्रह्मसुवर्चलां पिबेदित्यधिकृत्य विष्णुनोक्तम्—‘भृतकाध्यापनं कृत्वा भृतकाध्यापितस्तथा । अनुयोगप्रदानेन त्रीन्पक्षान्नियतः पिबेत् ॥’ इति । उत्कर्षहेतोरधीयानस्य किं पठसि नाशितं त्वयेत्येवं पर्यनुयोगोऽनुयोगप्रदानम् । अत एव स्मृत्यन्तरे—‘दत्तानुयोगानध्येतुः पतितान्मनुरब्रवीत्’ इत्युक्तम् । अत्रापि पूर्वोक्तव्रतैः सहास्य शक्त्यपेक्षया विकल्पः ।

इति भृतकाध्यापकभृतकाध्यापितप्रकरणम् ॥

तथा पारदार्येऽप्युपपातकसामान्यप्राप्तमानवत्रैमासिकस्य याज्ञवल्क्यव्रतचतुष्टयस्यापि गुरुदारादावपवाद उक्तः । तथान्यत्रापि गौतमादिभिः पारदार्यविशेषेणापवाद उक्तः । यथाह गौतमः—‘द्वे पारदार्ये त्रीणि श्रोत्रियस्य’ इति । तथा वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं प्रस्तुत्य तेनैवेदमभिहितम् ‘उपपातकेषु चैवम्’ इति । तत्रेयं व्यवस्था—ऋतुकाले कामतो जातिमात्रब्राह्मणीगमने वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । तस्मिन्नेव काले कर्मसाधनत्वादिगुणशालिन्या ब्राह्मण्या गमने द्वे वर्षे प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । तादृश्या एव श्रोत्रियभार्याया गमने त्रीणि वर्षाणि प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । यद्वा,–श्रोत्रियपत्न्यां गुणवत्यां ब्राह्मण्यां त्रैवार्षिकम् । तादृग्विधायामेव क्षत्रियायां द्वैवार्षिकम् । तादृश्यामेव वैश्यायां वार्षिकमिति व्यवस्था । एतत्समानदृष्ट्या शूद्रायां षाण्मासिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं कल्पनीयम् । अत एव शङ्खेन ‘वैश्यामवकीर्णः संवत्सरं ब्रह्मचर्यं त्रिषवणं चानुतिष्ठेत्, क्षत्रियायां द्वे वर्षे, त्रीणि ब्राह्मण्यां वैश्यावच्च शूद्रायां ब्राह्मणपरिणीतायाम्’ इति वर्णक्रमेण ह्रासो दर्शितः । एवं क्षत्रियस्यापि क्षत्रियादिषु स्त्रीषु क्रमेण द्विवार्षिकैकवार्षिकैकषाण्मासिकानि पूर्वोक्त एव विषये योजनीयानि । वैश्यस्य च वैश्याशूद्रयोर्वार्षिकषाण्मासिके । शूद्रस्य शूद्र्यां परभार्यायां षाण्मासिकमेव । यत्त्वापस्तम्बीयम्—‘सवर्णायामनन्यपूर्वायां सकृत्संनिपाते पादः, पतत्येवमभ्यासे पादः, पादश्चतुर्थे सर्वम्’ इति, तद्गौतमीयत्रिवार्षिकेण समानविषयम् । अन्यपूर्विकायां चतुरभ्यासे द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तविधानादेकस्यामेव गमनाभ्यासे नेदं प्रायश्चित्तं, किंतु प्रतिगमनं पादपादन्यूनं कल्प्यम् ।–एतत्सर्वं कामकारविषयम् । अकामतः पुनरेतदेवार्धक्लृप्त्या पूर्वोक्तविषये योजनीयम् । अनृतुकाले तु जातिमात्रब्राह्मण्यां कामतो गमने मानवं त्रैमासिकम् । जातिमात्रक्षत्रियादिस्त्रीषु पुनरस्मिन्नेव विषये तदीयान्येव द्वैमासिकचान्द्रायणमासिकानि योजनीयानि । क्षत्रियादीनां च क्षत्रियादि-

स्त्रीषु द्वैमासिकादीन्येव । अकामतः पुनरेतासु क्षत्रियादित्रैवर्णिकानां याज्ञवल्कीयमृषभैकादशगोदानं मासं पञ्चगव्याशनं मासं प्राजापत्याचरणं च क्रमेण द्रष्टव्यम् । शूद्रागमने तु कामतो विहितं मासव्रतमेवार्धकृत्या योजनीयम् । अत एव संवर्तः—'शूद्रां तु ब्राह्मणो गत्वा मासं मासार्धमेव वा । गोमूत्रयावकाहारस्तिष्ठेत्तत्पापमुक्तये ॥' इति । अकामतोऽर्धमासिकमित्यभिप्रेतम् । 'ब्राह्मणश्चेदं प्रेक्षापूर्वकं ब्राह्मणदारानभिगच्छेत्तन्निवृत्तधर्मकर्मणः कृच्छ्रोऽनिवृत्तधर्मकर्मणोऽतिकृच्छ्र' इति तद्ब्राह्मणभार्यायां शूद्रायां द्रष्टव्यम् । द्विजातिस्त्रीषु च विप्रोढासु द्वित्रिर्व्यभिचारितासु अबुद्धिपूर्वगमने वा । तथा च संवर्तः—'विप्रामस्वजनां गत्वा प्राजापत्यं समाचरेत्' इति । कामतस्तु—'राज्ञीं प्रव्रजितां धात्रीं साध्वीं वर्णोत्तमामपि । कृच्छ्रद्वयं प्रकुर्वीत सगोत्रामभिगम्य च ॥' इति यमोक्तं कृच्छ्रद्वयं द्रष्टव्यम् । चतुराद्यभ्यासे तु 'व्यभिचारस्य स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचैलस्नात उदकुम्भं दद्याद्ब्राह्मणाय, वैश्यायां च चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान्भोजयेद्यवसभारं च गोभ्यो दद्यात्, क्षत्रियायां त्रिरात्रोपोषितो यवाढकं दद्यात् । ब्राह्मण्यां त्रिरात्रोपोषितो गां दद्याद्गोष्ववकीर्णः प्राजापत्यं चरेत् । 'अनूढायामवकीर्णः पलालभारं सीसमाषकं च दद्यात्' इति शङ्खोक्तं वेदितव्यम् । चतुराद्यभ्यासविषयत्वं चास्य 'चतुर्थे स्वैरिणी प्रोक्ता पञ्चमे बन्धकी मता' इति स्मृत्यन्तरादवगम्यते । अत्रैव विषये षट्त्रिंशन्मतेऽप्युक्तम्—'ब्राह्मणीं बन्धकीं गत्वा किंचिद्दद्याद्द्विजातये । राजन्यां चेद्धनुर्दद्याद्वैश्यां गत्वा तु चैलकम् ॥ शूद्रां गत्वा तु वै विप्र उदकुम्भं द्विजातये । दिवसोपोषितो वा स्याद्दद्याद्विप्राय भोजनम् ॥' इति (अनुलोमव्यवाये गर्भे द्विगुणं, यदि सा अतिदूषिता न प्रतिलोमगा भवति तदैव । अन्त्यजातिगमने द्वैगुण्यं, प्रतिलोमदूषितासु अन्त्यावसायिस्त्रीषु च चाण्डालीगर्भे यथा गुरुतल्पत्वं तथा किंचिन्न्यूनं तारतम्यं कल्प्यम् । चाण्डालीगमने वार्षिकम् । गर्भे गुरुतल्पत्वं तथैव ज्ञेयम् ।) इदं प्रायश्चित्तजातं गर्भानुत्पत्तिविषयम् । तदुत्पत्तौ तु यद्विशेषेण यत्प्रायश्चित्तमुक्तं तदेव तत्र द्विगुणं कुर्यात् ।—'गमने तु व्रतं यत्स्याद्गर्भे तद्द्विगुणं चरेत्' इत्युशनःस्मरणात् । शूद्र्यां गर्भमादधतश्चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—'वृषल्यामभिजातस्तु त्रीणि वर्षाणि चतुर्थकालसमये नक्तं भुञ्जीत' इति । यत्तु मनुवचनम् (३।१७)—'शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् । जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥' इति,—तत्पापगौरवख्यापनपरम् । प्रातिलोम्यव्यवाये तु सर्वत्र पुरुषस्य वध एव—'प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम्' इति वचनात् ॥ यत्तु वृद्धप्रचेतोवचनम्—'शूद्रस्य ब्राह्मणीं मोहाद्गच्छतः शुद्धिमिच्छतः । पूर्णमेतद्व्रतं देयं माता यस्माद्धि तस्य सा ॥ पादहान्याऽन्यवर्णासु गच्छतः सार्ववर्णिकम् ॥' इति । द्वादशवार्षिकातिदेशकं, तत्स्वभार्याभ्रान्त्या गच्छतो वेदितव्यम्; मोहादिति विशेषणोपादानात् । यत्तु संवर्त-

वचनम्—'कथंचिद्ब्राह्मणीं गच्छेत्क्षत्रियो वैश्य एव वा। कृच्छ्रं सान्तपनं वा स्यात्प्रायश्चित्तं विशुद्धये॥ शूद्रस्तु ब्राह्मणीं गच्छेत्कथंचित्काममोहितः। गोमूत्रयावकाहारो मासेनैकेन शुद्ध्यति॥' इति,–तदत्यन्तव्यभिचरितब्राह्मणीविषयम्। अन्त्यजागमनेऽपि प्रायश्चित्तं बृहत्संवर्तेनोक्तम्—'रजकव्याधशैलूषवेणुचर्मोपजीविनीः। एतास्तु ब्राह्मणो गत्वा चरेच्चान्द्रायणद्वयम्॥' इति। इदं ब्राह्मणस्य कामतः सकृद्गमनविषयम्, क्षत्रियादीनां तु पादपादहीनं कल्प्यम्। अत्रैवापस्तम्बेनोक्तम्—'म्लेच्छी नटी चर्मकारी रजकी बुरुडी तथा। एतास्तु गमनं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणद्वयम्॥' इति। अन्त्यजाश्च तेनैव दर्शिताः—'रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च। कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजाः स्मृताः॥' इति। ये तु चाण्डालादयोऽन्त्यावसायिनस्तत्स्त्रीगमने गुरुतरं प्रायश्चित्तं गुरुतल्पप्रकरणे दर्शितम्। एतासां चान्त्यजस्त्रीणां मध्ये यदेकस्यां व्यवाये प्रायश्चित्तमभिहितं तत्सर्वासु भवति; सर्वासां सदृशत्वात्। यथाहोशनाः—'बहूनामेकधर्माणामेकस्यापि यदुच्यते। सर्वेषां तद्भवेत्कार्यमेकरूपा हि ते स्मृताः॥' इति। अकामतस्तु गमने—'चण्डालमेदश्वपचकपालव्रतचारिणाम्। अकामतः स्त्रियो गत्वा पराकव्रतमाचरेत्॥' इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्। यच्च संवर्तवचनम्—'रजकव्याधशैलूषवेणुचर्मोपजीविनाम्। स्त्रियो विप्रो यदा गच्छेत्कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत्॥' इति,–तदप्यकामविषयम्। यत्तु शातातपेनोक्तम्—'कैवर्तीं रजकीं चैव वेणुचर्मोपजीविनीम्। प्राजापत्यविधानेन कृच्छ्रेणैकेन शुद्ध्यति॥' इति,–तद्रेतःसेकात्प्राङ्निवृत्तिविषयम्। यत्तूशनसोक्तम्—'कापालिकान्नभोक्तॄणां तन्नारीगामिनां तथा। ज्ञानात्कृच्छ्राब्दमुद्दिष्टमज्ञानादैन्दवद्वयम्॥' इति,–तदभ्यासविषयम्। यदा तु चाण्डाल्यादिषु गच्छतो गर्भो भवति, तदा 'चाण्डाल्यां गर्भमारोप्य गुरुतल्पव्रतं चरेत्' इत्युशनसोक्तं द्वादशवार्षिकं द्रष्टव्यम्। यत्तु–'अन्त्यजायां प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते। निर्वासनं कृताङ्कस्य तस्य कार्यमसंशयम्॥' इत्यापस्तम्बवचनं, तत्कामकारविषयम्। स्त्रीणामपि सवर्णानुलोमव्यवाये यत्पुरुषस्योक्तं त्रैवार्षिकादि तदेव भवति। 'यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम्॥' (११।१७६)—इति मनुस्मरणात्। प्रातिलोम्येन व्यवाये एव परस्त्रीपुंसयोः प्रायश्चित्तभेदः। यथाह वसिष्ठः (२१।२,३)—'शूद्रश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेद्वीरणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येत्, ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते' इति। तथा—'वैश्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेल्लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येद्ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते' इति। तथा 'राजन्यश्चेद्ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येत् ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजये-

त्पूता भवतीति विज्ञायत’ इति। एवं वैश्यो राजन्यां शूद्रश्च राजन्यावैश्ययोरिति। पूता भवतीति वचनाद्राजवीथिपरिव्राजनमेव दण्डरूपं प्रायश्चित्तान्तरनिरपेक्षं शुद्धिसाधनमिति दर्शयति ॥

ब्राह्मण्याः प्रातिलोम्येन द्विजातिव्यवाये प्रायश्चित्तान्तरमप्युक्तं संवर्तेन— ‘ब्राह्मण्यकामा गच्छेच्चेत्क्षत्रियं वैश्यमेव वा। गोमूत्रयावकैर्मासात्तदर्धाच्च विशुद्ध्यति ॥’ इति। कामतस्तु तद्द्विगुणं कर्तव्यम्। ‘कामात्तद्द्विगुणं भवेत्’ इति वचनात्। षट्त्रिंशन्मतेऽपि ‘ब्राह्मणी क्षत्रियवैश्यसेवायामतिकृच्छ्रं कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरेत्। क्षत्रिययोषितां ब्राह्मणराजन्यवैश्यसेवायां कृच्छ्रार्धं प्राजापत्यमतिकृच्छ्रम्। वैश्ययोषितां ब्राह्मणराजन्यवैश्यसेवायां कृच्छ्रपादं कृच्छ्रपादं कृच्छ्रार्धं प्राजापत्यम्। शूद्रायाः शूद्रसेवने प्राजापत्यम्। ब्राह्मणराजन्यवैश्यसेवायां त्वहोरात्रं त्रिरात्रं कृच्छ्रार्धम्’ इति। शूद्रसेवायां तु विशेषो वृहत्प्रचेतसोक्तः— ‘विप्रा शूद्रेण संपृक्ता न चेत्तस्मात्प्रसूयते। प्रायश्चित्तं स्मृतं तस्याः कृच्छ्रं चान्द्रायणत्रयम् ॥’ एतदनिच्छन्त्यां स्वप्रतिभ्रान्त्या वा वेदितव्यम्। ‘चान्द्रायणे द्वे कृच्छ्रश्च विप्राया वैश्यसेवने। कृच्छ्रचान्द्रायणे स्यातां तस्याः क्षत्रियसंगमे ॥ क्षत्रिया शूद्रसंपर्के कृच्छ्रं चान्द्रायणद्वयम्। चान्द्रायणं सकृच्छ्रं तु चरेद्वैश्येन संगता ॥ शूद्रं गत्वा चरेद्वैश्या कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम्। आनुलोम्ये प्रकुर्वीत कृच्छ्रं पादावरोपितम् ॥’ इति। प्रजातायास्तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः— ‘विप्रगर्भे पराकः स्यात्क्षत्रियस्य तथैन्दवम्। ऐन्दवश्च पराकश्च वैश्यस्याकामकारतः ॥ शूद्रगर्भे भवेत्त्यागश्चाण्डालो जायते यतः। गर्भस्रावे धातुदोषैश्चरेच्चान्द्रायणत्रयम् ॥’ इति। ‘अकामकारतः’ इति विशेषणोपादानात् कामकारे पुनः पराकादिकं द्विगुणं कुर्यात्। यदा त्वनिःसृतगर्भैव दशमासं स्थित्वा प्रजायते तदा प्रायश्चित्ताभावः। ‘ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः शूद्रेण संगताः। अप्रजाता विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥’ इति वसिष्ठस्मरणात्। यदा त्वाहितगर्भैव पश्चाच्छूद्रादिभिर्व्यभिचरति तदा गर्भपातशङ्कया प्रसवोत्तरकालमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात्; ‘अन्तर्वत्नी तु या नारी समेताक्रम्य कामिना। प्रायश्चित्तं न कुर्यात्सा यावद्गर्भो न निःसृतः ॥ जाते गर्भे व्रतं पश्चात्कुर्यान्मासं तु यावकम्। न गर्भदोषस्तस्यास्ति संस्कार्यः स यथाविधि ॥’ इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्। यदा त्वौद्धत्यात्प्रायश्चित्तं न कुर्वन्ति, तदा नार्याः कर्णादिकर्तनमिति द्रष्टव्यम् ॥ अन्त्यजादिगमनेऽपि स्त्रीणां स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तं दर्शितम्— ‘रजकव्याधशैलूषवेणुचर्मोपजीविनः। ब्राह्मण्येतान्यदा गच्छे[1]दकामादैन्दवत्रयम् ॥’ इति। तथा चाण्डाल्याद्यन्त्यावसायिगमनेऽपि— ‘चाण्डालं पुल्कसं म्लेच्छं श्वपाकं पतितं तथा। ब्राह्मण्यकामतो गत्वा चान्द्रायणचतुष्टयम् ॥’ इति ‘अकामत’ इति वचनात्कामतो द्विगुणं कल्प्यम्। तथा— ‘चाण्डालेन तु संपर्कं यदि गच्छेत्कथंचन। सशिखं वपनं कुर्याद्भुञ्जीयाद्यावकौदनम् ॥ त्रिरात्रमुपवासः स्यादेकरात्रं जले वसेत्। आत्मना [2]संमिते कूपे गोमयोदककर्दमे ॥ तत्र स्थित्वा निराहारा सा त्रिरात्रं ततः क्षिपेत्। शङ्खपुष्पीलता-

मूलं पत्रं वा कुसुमं फलम् । क्षीरं सुवर्णसंमिश्रं क्राथयित्वा ततः पिबेत् ॥ एकभक्तं चरेत्पश्चाद्यावत्पुष्पवती भवेत् । बहिस्तावच्च निवसेद्यावच्चरति तद्व्रतम् ॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् । गोद्वयं दक्षिणां दद्याच्छुद्ध्यै स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥' इति ।–एतदप्यकामविषयमेव; 'यदि गच्छेत्कथंचन' इति वचनात् ॥ ऋष्यशृङ्गेणाप्यन्त्यव्यवाये प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम्—'संपृक्ता स्याद-थान्त्यैर्या सा कृच्छ्राब्दं समाचरेत्' इति ।–कामतः सकृद्गमने इदम् । यदा त्वाहितगर्भाया एव पश्चाच्चाण्डालादिव्यवायस्तदा तेनैव विशेष उक्तः—'अन्तर्वत्नी तु युवतिः संपृक्ता चान्त्ययोनिना । प्रायश्चित्तं न सा कुर्याद्यावद्गर्भो न निःसृतः ॥ न प्रचारं गृहे कुर्यान्न चाङ्गेषु प्रसाधनम् । न शयीत समं भर्त्रा न वा भुञ्जीत बान्धवैः ॥ प्रायश्चित्तं गते गर्भे विधिं कृच्छ्राब्दिकं चरेत् । हिरण्यमथवा धेनुं दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् ॥' इति । यदा तु कामतोऽत्यन्तसंपर्कं करोति तदा—'अन्त्यजेन तु संपर्के भोजने मैथुने कृते । प्रविशेत्संप्रदीप्तेऽग्नौ मृत्युना सा विशुद्ध्यति ॥' इत्युशनसोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यदा तूक्तं प्रायश्चित्तं न करोति तदा पुंलिङ्गेनाङ्कनीया, वध्या वा भवेत् । 'हीनवर्णोपभुक्ता या साऽङ्क्या वध्याऽथवा भवेत्' इति पराशरस्मरणात् ॥ इति पारदार्यप्रकरणम् ॥ ॥ तथा परिवित्तिप्रायश्चित्तानामपि परिवेत्तृप्रायश्चित्तवद्व्यवस्था विज्ञेया । इयांस्तु विशेषः—परिवेत्तुर्यस्मिन्विषये कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ तत्र परिवित्तेः प्राजापत्यमिति । 'परिवित्तिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनर्निविशेत् तां चैवोपयच्छेत्' इति वसिष्ठस्मरणात् । इति परिवित्तिप्रकरणम् ॥ ॥ वार्धुष्यलवणक्रययोस्तु मनुयोगीश्वरोक्तसामान्योपपातकप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया योज्यानि ॥ २६५ ॥

उपपातकों की भी शुद्धि इसी प्रकार से (गोहत्या के प्रायश्चित्त से) अथवा चान्द्रायण व्रत से या एक मास तक दूध पीकर रहने या पराक व्रत से होती है ॥२६५ ॥

लवणक्रयानन्तरं 'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध' (प्रा० २३६) इत्युपपातकमध्ये पठितं तत्र प्रायश्चित्तान्तरमप्याह—

[1]ऋषभैकसहस्रा गा दद्यात्क्षत्रवधे पुमान् ।
ब्रह्महत्याव्रतं वापि वत्सरत्रितयं चरेत् ॥ २६६ ॥
वैश्यहाब्दं चरेदेतद्दद्याद्वैकशतं गवाम् ।
षण्मासाच्छूद्रहाप्येतद्धेनूर्दद्याद्दशाथवा ॥ २६७ ॥

एकमधिकं यस्मिन्सहस्रे तदेकसहस्रं, तस्य पूरण एकसहस्रः, ऋषभ एकसहस्रो यासां गवां ताः ऋषभैकसहस्रास्ताः क्षत्रवधे दद्यात् । अथवा बृहत्प्रायश्चित्तं ब्रह्महत्याव्रतं वर्षत्रयं कुर्यात् । [2]वैश्यघाती पुनरेतत् ब्रह्महत्या-

व्रतमेकवर्षं चरेत्। गवामृषभैकशतं वा दद्यात्। शूद्रघाती तु ब्रह्महत्याव्रतं षण्मासं चरेत्। यद्वा दशधेनूरचिरप्रसूताः सवत्सा दद्यात्। इदमकामतो जातिमात्रक्षत्रियादिवधविषयम्; 'अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य' (मनुः ११।१२७) इति प्रक्रम्यैतेषामेव प्रायश्चित्तानां मानवेऽभिधानात्। दानतपसोश्च शक्त्यपेक्षया व्यवस्था। ईषद्वृत्तस्थयोस्तु विट्शूद्रयोः—'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः। वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडश॥' (११।१२६) इति मनूक्तं द्रष्टव्यम्। वृत्तस्थे क्षत्रिये तु सार्धचतुर्वार्षिकं कल्प्यम्। 'वृत्त'शब्देन चात्र गुणादिकमुच्यते। 'गुरुपूजा घृणा शौचं सत्यमिन्द्रियनिग्रहः। प्रवर्तनं हितानां च तत्सर्वं वृत्तमुच्यते॥' इति मनुस्मरणात्। यत्तु वृद्धहारीतवचनम्—'ब्राह्मणः क्षत्रियं हत्वा षड्वर्षाणि व्रतं चरेत्। वैश्यं हत्वा चरेदेवं व्रतं त्रैवार्षिकं द्विजाः॥ शूद्रं हत्वा चरेद्वर्षं वृषभैकादशाश्च गाः॥' इति,—तत्कामकारविषयम्॥ श्रोत्रियक्षत्रियादिवधे तु—'तुरीयोनं क्षत्रियस्य वधे ब्रह्महणि व्रतम्। अर्धं वैश्यवधे कुर्यात्तुरीयं वृषलस्य तु॥' इति वृद्धहारीतोक्तं द्रष्टव्यम्। यत्तु वसिष्ठवचनम्—'ब्राह्मणो राजन्यं हत्वाऽष्टौ वर्षाणि व्रतं चरेत्, षड् वैश्यं, त्रीणि शूद्रम्' इति,—तदपि हारीतीयेन समानविषयम्। क्षत्रिये त्वीषद्गुणन्यून इत्येतावान् विशेषः। यदा तु श्रोत्रियो वृत्तस्थश्च भवति तदा—'पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायिनं हत्वा' (ध० १।२४।६) इत्यापस्तम्बोक्तं द्वादशवार्षिकं द्रष्टव्यम्। प्रारब्धयागे त्वश्रोत्रिये क्षत्रियादौ व्यापादिते 'यागस्थक्षत्रविड्घाती चरेद्ब्रह्महणि व्रतम्' इति द्रष्टव्यम्। श्रोत्रिये पुनर्यागस्थे क्षत्रियादौ 'ब्राह्मणस्य राजन्यवधे षड्वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यमृषभैकसहस्राश्च गा दद्यात्, वैश्यवधे त्रिवार्षिकमृषभैकशताश्च गा दद्यात्, शूद्रवधे सांवत्सरिकमृषभैकादशाश्च गा दद्यात्' (२२।१४-१६) इति गौतमोक्तो दानतपसोः समुच्चयो द्रष्टव्यः। एतच्चामतिपूर्वविषयम्। 'पूर्ववदमतिपूर्वं चतुर्षु वर्णेषु प्रमाप्य द्वादश षड् त्रीन् संवत्सरं च व्रतान्यादिशेत्, तेषामन्ते गोसहस्रं च ततोऽर्धं तस्यार्धमर्धं च दद्यात्; सर्वेषामानुपूर्व्येण' इति स्मरणात्। इदं च द्वादशवार्षिकं गौतमीयविषयमेव, किंचिन्न्यूनगुणे क्षत्रिये गुणाधिकयोर्वैश्यशूद्रयोश्च द्रष्टव्यम्। 'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध' इत्युपपातकमध्ये विशेषत एव पठितत्वेनोत्सर्गापवादन्यायगोचरत्वादुपपातकसामान्यप्राप्तान्यपि प्रायश्चित्तान्यत्र योजनीयानि। तत्र दुर्वृत्तक्षत्रियादौ कामतो व्यापादिते मानवं त्रैमासिकं द्वैमासिकं चान्द्रायणं च वर्णक्रमेण योज्यम्। अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं त्रिरात्रोपवाससहितमृषभैकादशगोदानं मासं पञ्चगव्याशनं मासिकं च पयोव्रतं यथाक्रमेण योज्यम्। एतच्च प्रागुक्तं व्रतजातं ब्राह्मणकर्तृके क्षत्रियादिवधे द्रष्टव्यम्।—'अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः। तथा ब्राह्मणराजन्यवधे षड्वार्षिकं तथा॥ ब्राह्मणः क्षत्रियं हत्वा' (११।१२७) इत्यादिषु मनुगौतमहारीतवसिष्ठवाक्येषु 'ब्राह्मण'ग्रहणात्। क्षत्रियादिकर्तृके तु क्षत्रियादिवधे पादन्यूनं द्रष्टव्यम्; 'विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम्। वैश्येऽर्धमेकपादस्तु

शूद्रजातिषु शस्यते ॥' इति वृद्धविष्णुस्मरणात् । 'यत्तु पर्षद्या ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥' इत्यङ्गिरोवचनं तत्प्रातिलोम्येन वाग्दण्डपारुष्यविषयमित्युक्तं गोवधप्रकरणे । मूर्धावसिक्तादीनां वधे एतत्प्रायश्चित्तजातं न भवति; तेषां क्षत्रियादित्वाभावात् । अतो दण्डानुसारेणैव तद्वधे पूर्वोक्तव्रतकदम्बस्य वृद्धिह्रासौ कल्पनीयौ । दण्डस्य च वृद्धिह्रासौ दर्शितौ—'दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः' (व्य० २०६) इत्यत्र ॥ २६६–२६७ ॥

क्षत्रिय की हत्या करने पर हत्यारा एक वृषभ के साथ एक हजार गायों का दान करे अथवा ब्रह्महत्या व्रत तीन वर्षों तक करे। वैश्य का वध करने वाला एक वर्ष तक ब्रह्महत्या व्रत करे अथवा एक वृषभ सहित एक सौ गायों का दान करे। शूद्र की हत्या करने वाला छः मास तक ब्रह्महत्या व्रत करे अथवा एक वृषभ के साथ दश (जल्दी व्याई सवत्सा) गायों का दान करे ॥२६६-२६७ ॥

इति क्षत्रियादिवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

स्त्रीवधे प्रायश्चित्तमाह—

दुर्वृत्तब्रह्मविट्क्षत्रशूद्रयोषाः प्रमाप्य तु ।
दृतिं धनुर्बस्तमविं क्रमाद्दद्याद्विशुद्धये ॥ २६८ ॥

ब्राह्मणादिभार्या दुर्वृत्ताः स्वैरिणीः प्रमाप्य क्रमेण दृतिं जलाधारचर्मकोशं, धनुः कार्मुकं, बस्तं छागं, अविं मेषं च, विशुद्धये दद्यात् । इदं च प्रातिलोम्येनान्त्यजातिप्रसूतानां ब्राह्मण्यादीनामकामतो वधविषयम् । कामतस्तु ब्रह्मगर्भ आह—'प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः । अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विषद् ॥' इति । ब्राह्मण्यादिवधे षण्मासाः क्षत्रियायाश्चत्वारो वैश्याया द्वाविल्येवं यथार्हतयान्वयः । यदा तु वैश्यकर्मणा जीवन्तीं व्यापादयति तदा किंचिद्देयम् । 'वैशिकेन किंचित्' (२२।२७) इति गौतमस्मरणात् । वैशिकेन वैश्यकर्मणा जीवन्त्यां व्यापादितायां किंचिदेव देयं तच्च जलम् । 'कोशं कूपेऽथ विप्रे वा ब्राह्मण्याः प्रतिपादयेत् । वधे धेनुः क्षत्रियाया बस्तो वैश्यावधे स्मृतः ॥ शूद्रायामाविकं वैश्यां हत्वा दद्याज्जलं नरः ॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । यदा पुनः क्षत्रियादिभिः प्रातिलोम्येन व्यभिचरिता ब्राह्मणाद्या व्यापाद्यन्ते तदा गोवधप्रायश्चित्तानि यथार्हं योज्यानि ॥ २६८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की कुलटा स्त्री का वध करने पर वध करने वाला क्रमशः (वर्णानुक्रम से), जल भरने वाला चमड़े का मशक (मोट), धनुष, बकरा तथा भेड़ का दान करे ॥२६८ ॥

ईषद्व्यभिचरितब्राह्मण्यादिवधे विशेषमाह—

अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ।

यदा **त्वप्रकर्षेण दुष्टा**मीषद्व्यभिचारिणीं ब्राह्मण्यादिकां **व्यापादयति** तदा **शूद्रहत्याव्रतं** षाण्मासिकं **कुर्यात्**। यद्वा,–दशधेनूर्दद्यात्। इदं च षाण्मासिकमकामतो ब्राह्मण्या व्यापादने, क्षत्रियावधे च कामकृते द्रष्टव्यम्। कामतो वैश्यावधे दशधेनूर्दद्यात्। कामतः शूद्रावधे तु उपपातकसाधारणप्राप्तं मासं पञ्चगव्याशनम्। यदा कामतो ब्राह्मणीं व्यापादयति, तदा द्वादशमासिकम्। क्षत्रियादीनां त्वकामतो व्यापादने त्रैमासिकं सार्धमासं सार्धद्वाविंशत्यहानि। यथाह प्रचेताः—'अनृतुमतीं ब्राह्मणीं हत्वा कृच्छ्राब्दं षण्मासान्वेति। क्षत्रियां हत्वा षण्मासान्मासत्रयं वेति वैश्यां हत्वा मासत्रयं सार्धमासं वेति शूद्रां हत्वा सार्धमासं सार्धद्वाविंशत्यहानि वा' इति ॥ यत्तु हारीतेन 'षड्वर्षाणि राजन्ये प्राकृतं ब्रह्मचर्यं त्रीणि वैश्ये, सार्धं शूद्रे' इति प्रतिपाद्योक्तं 'क्षत्रियवद्ब्राह्मणीषु वैश्यवत्क्षत्रियायां शूद्रवद्वैश्यायां शूद्रां हत्वा नव मासान्' इत्युक्तं,–तदपि कर्मसाधनत्वादिगुणयोगिनीनां कामतो व्यापादने द्रष्टव्यम्; अकामतस्तदर्धं कल्प्यम्। आत्रेय्यां तु प्रागुक्तम् ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की कम व्यभिचारिणी स्त्री का वध कर शूद्रहत्या के व्रत का आचरण करे (या दश नयी व्याई गायों का दान करे)।

इति स्त्रीवधप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

हिंसाप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्प्रकीर्णकपदाभिधेयानुपपातकप्राणिवधेऽपि प्रायश्चित्तमाह—

अस्थिमतां सहस्रं तु[२] तथाऽनस्थिमतामनः ॥ २६९ ॥

अस्थिमतां प्राणिनां कृकलासप्रभृतीनामनुक्तनिष्कृतीनां **सहस्रं** हत्वा, **अनस्थिमतां च** यूकामत्कुणदंशमशकप्रभृतीनाम्, **अनः** शकटं तत्परिपूर्णमात्रं **हत्वा** शूद्रहत्याव्रतं षाण्मासिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं चरेद्दशधेनूर्वा दद्यात्। 'सहस्रम्' इति परिमाणनियमात्ततोऽधिकवधे त्वतिरिक्तं कल्प्यम्। अर्वाक्पुनः प्रत्येकवधे तु 'किंचित्सास्थिवधे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके' (प्रा० २७५) इति वक्ष्यति। 'तथाऽनस्थिमतामन' इति,–एतच्च यूकादिक्षोदिष्ठजन्तुविषयम्। स्थविष्ठानस्थिघुणादिजन्तुवधे तु 'कृमिकीटवयो हत्वा' (११।७०) इत्यादिना मलिनीकरणीयान्यभिधाय 'मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकव्यहम्' इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २६९ ॥

हड्डी वाले प्राणियों (गिरगिट आदि) की एक सहस्र संख्या में हत्या करने पर या बिना हड्डी वाले (जूँ, खटमल, मशक, दंश आदि) एक गाड़ी परिमाण में मारने पर (शूद्रहत्या व्रत को करे) ॥२६९ ॥

मार्जारगोधानकुलमण्डूकांश्च पतत्रिणः ।
हत्वा त्र्यहं पिबेत्क्षीरं कृच्छ्रं वा पादिकं चरेत् ॥२७०॥

किंच, मार्जारादयः प्रसिद्धाः, पतत्रिणश्चाषकाकोलूकाः, तान् हत्वा त्रिरात्रं पयः पिबेत् पादकृच्छ्रं वा चरेत् । 'वा'शब्दाद्योजनगमनादिकं वा कुर्यात् ॥ यथाह मनुः (११।१३२)—'पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् । अपः स्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्दैवतं जपेत् ॥' इति ।—इदं च प्रत्येकवधविषयम् । समुदितवधे तु (११।१३१)—'मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च । श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥' इति मनूक्तं षाण्मासिकं द्रष्टव्यम् ॥ यत्पुनर्वसिष्ठेनोक्तम्—'श्वमार्जारनकुलमण्डूकसर्पदहरमूषिकान्हत्वा कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्किंचिद्दद्यात्' इति, तत्कामतोऽभ्यासविषयं वेदितव्यम् । दहरोऽल्पमूषकश्छुच्छुन्दरी वा ॥ २७० ॥

बिल्ली, गोह, नेवला, मेढक तथा (चाष, कौआ, उल्लू आदि) पक्षियों की हत्या करने पर हत्यारा तीन दिन-रात केवल दूध पीये या एक पादकृच्छ्र करे (या एक योजन पैदल चले) ॥२७० ॥

गजे नीलवृषाः पञ्च शुके वत्सो द्विहायनः ।
खराजमेषेषु वृषो देयः क्रौञ्चे त्रिहायनः ॥ २७१ ॥

किंच, दन्तिनि व्यापादिते पञ्च नीलवृषा देयाः । शुके पक्षिणि द्विवर्षो वत्सः । रासभच्छागैडकेषु व्यापादितेषु प्रत्येकमेको वृषः । क्रौञ्चे पक्षिणि त्रिहायनो वत्सः । 'देय' इति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ मनुनाप्यत्र विशेष उक्तः (११।१३६)—'वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् । अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥' इति ॥ २७१ ॥

हाथी को मार कर पाँच नीले वृषभ, शुक (तोता) के वध पर दो वर्ष का बछड़ा, गर्दभ, बकरा, भेड़ के वध पर एक वृषभ तथा क्रौञ्च के मारने पर तीन वर्ष का बछड़ा दे ॥२७१ ॥

हंसश्येनकपिक्रव्याज्जलस्थलशिखण्डिनः ।
भासं च हत्वा दद्याद्गामक्रैव्यादस्तु वत्सिकाम् ॥२७२॥

किंच, क्रव्यमपक्वं मांसमत्तीति क्रव्याद् व्याघ्रसृगालादिर्मृगविशेषः वानरसाहचर्यात्, तथा हंसश्येनसमभिव्याहारात् कङ्कगृध्रादिः पक्षिविशेषश्च गृह्यते; 'जल'शब्देन जलचरा बकादयो गृह्यन्ते; 'स्थल'शब्देन स्थलचरा बैलाकादयः,

शिखण्डी मयूरः, **भासः** पक्षिविशेषः, शेषाः प्रसिद्धाः, एषां प्रत्येकं वधे गामेकां दद्यात्। **अक्रव्यादस्तु** हरिणादिमृगान् खञ्जरीटादिपक्षिविशेषान्हत्वा **वत्सतरीं दद्यात्**। तथा च मनुः (११।१३५-१३७)—'हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च। वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥ क्रव्यादस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्। अक्रव्यादो वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥' इति ॥२७२॥

हंस, बाज, वानर, मांसाहारी (व्याघ्र, स्यार आदि तथा कंक, गृध्र आदि), जलस्थलचारी पक्षी, मयूर तथा भास की हत्या हो जाने पर एक गाय का दान करे या मांस नहीं खाने वाले हरिण आदि तथा खञ्जरीट आदि पक्षी मारने पर एक बछिया का दान करे ॥२७२ ॥

उरगेष्वायसो दण्डः पण्डके त्रपु सीसकम् ।
कोले घृतघटो देय उष्ट्रे गुञ्जा हयेंऽशुकम् ॥ २७३ ॥

किंच, **सरीसृपेषु** व्यापादितेषु **अयोमयो दण्डस्तीक्ष्णप्रान्तो देयः**। **पण्डके** नपुंसके व्यापादिते **त्रपु सीसकं** च माषपरिमितं दद्यात्, पलालभारं वा। 'पण्डकं हत्वा पलालभारं त्रपु सीसकं वा दद्यात्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्। यद्यपि 'पण्डको लिङ्गहीनः स्यात्संस्कारार्हश्च नैव सः' इति देवलवचनेन सामान्येनैव स्त्रीपुंलिङ्गरहितो निर्दिष्टस्तथापि न गोब्राह्मणरूपस्येह विवक्षा; गोब्राह्मणवधनिषेधस्य जात्यवच्छेदेन प्रवृत्तेः, लिङ्गविरहिणि च पण्डे जातिसमवायाविशेषात्तन्निमित्तमेव लघुप्रायश्चित्तमुक्तम्। तस्मान्मृगपक्षिण एव विवक्षिताः। मृगपक्षिसमभिव्याहाराच्च **कोले** सूकरे व्यापादिते **घृतकुम्भो देयः**। **उष्ट्रे गुञ्जा** देया। **वाजिनि** विनिपातितें**ऽशुकं** वस्त्रं **देयम्**। तथा च मनुः (११।१३३)—'अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः। पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैव माषकम् ॥' इति ॥ २७३ ॥

साँप मारने पर नुकीला लौहदण्ड, षण्डक (नपुंसक) को मारने पर पीतल और सूअर मारने पर एक घड़ा घी, ऊँट मारने पर गुञ्जा और घोड़ा मारने पर वस्त्र का दान करना चाहिये ॥२७३ ॥

तित्तिरौ तु तिलद्रोणं गजादीनामशक्नुवन् ।
दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये ॥ २७४ ॥

किंच, **तित्तिरौ** पतत्रिणि व्यापादिते **तिलद्रोणं** दद्यात्। 'द्रोण'शब्दश्च परिमाणविशेषवचनः। 'अष्टमुष्टि भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ तु पुष्कलम्। पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥ चतुराढको भवेद्द्रोण इत्येतन्मानलक्षणम् ॥'

इति स्मरणात् ॥ पूर्वोक्तानां **गजादीनां** व्यापादने निर्धनत्वेन नीलवृषपञ्चकादि**दानं कर्तुमशक्नुवन् प्रत्येकं कृच्छ्रं चरेद्विशुद्ध्यर्थम्**। 'कृच्छ्र'शब्दश्चात्र लक्षणया क्लेशसाध्ये तपोमात्रे द्रष्टव्यः। तपांसि च गौतमेन दर्शितानि (१९।१७-१९)—'संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विंशत्यहो .द्वादशाहः षडहस्त्र्यहोऽहोरात्र इति कालः। एतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्नेनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनि' इति। यदि 'कृच्छ्र'शब्देन मुख्योऽर्थो गृह्यते, तर्हि गजे शुके वा विशेषेण प्राजापत्य एव स्यात्। नच तद्युक्तम्; तपोमात्रपरत्वे तु दानगुरुलघुभावाकलनया तपसोऽपि गुरुलघुभावो युज्यते। ततश्च गजे द्विमासिकं यावकाशनं शुके तूपवास इति। एवमन्यत्रापि दानानुसारेण प्रायश्चित्तं कल्प्यम् ॥ २७४ ॥

तित्तिर पक्षी मारने पर एक द्रोणभर तिल का दान करे, हाथी की हत्या करने पर पाँच नील वृषों का दान न करने की स्थिति में विशुद्धि के लिये एक कृच्छ्र व्रत करे ॥२७४॥

किंचाह—

फलपुष्पान्नरसजसत्त्वघाते घृताशनम् ।

उदुम्बरादौ **फले** मधूकादौ च **कुसुमे** चिरस्थितभक्तासक्त्वाद्यन्ने च **रसे** गुडादौ च यानि **सत्त्वानि** प्राणिनो जायन्ते तेषां **घाते घृतप्राशनं** शुद्धिसाधनम्। इदं च घृतप्राशनं भोजनकार्ये एव विधीयते; प्रायश्चित्तानां तपोरूपत्वात्। दर्शितं च तपोरूपत्वमाङ्गिरसे 'प्रायश्चित्त'पदनिर्वचनव्याजेन—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥' इति ॥—

फल, पुष्प, अन्न (चिरकाल का रखा) और रस (गुड़) आदि में जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें मारकर घृत खाकर शुद्ध होता है।

प्रतिप्राणिप्रायश्चित्तस्यानन्त्यात् पृष्टाकोटेनापि वक्तुमशक्यत्वात्सामान्येन प्रायश्चित्तमाह—

किंचित्सास्थिवधें देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके ॥ २७५ ॥

अस्थिमतां कृकलासादिप्राणिनां न्यूनसहस्रसंख्यानां प्रत्येकं **वधे किंचित्**स्वल्पं धान्यहिरण्यादि **देयम्**। **अनस्थिके** त्वेकः **प्राणायामः**। तत्र किंचिदिति यदा हिरण्यं दीयते तदा पणमात्रम्; 'अस्थिमतां वधे पणो देयः' इति सुमन्तुस्मरणात्। यदा तु धान्यं देयं तदाऽष्टमुष्टि देयम्; 'अष्टमुष्टि भवेत्किंचित्' इति स्मरणात्।—एतच्चानुक्तनिष्कृतिप्राणिवधविषयम्। यत्र तु प्रायश्चित्तविशेषः श्रूयते, तत्र स एव भवति; यथाह पराशरः—'हंससारसचक्राह्वक्रौञ्चकुक्कुटघातकः। मयूरमेषौ हत्वा च एकभक्तेन शुद्ध्यति ॥ मद्गुं च टिट्टिभं चैव शुकं

पारावतं तथा । आडिकां च बकं हत्वा शुद्धयेद्दै नक्तभोजनात् ॥ चाषकाक-कपोतानां सारीतित्तिरघातकः । अन्तर्जले उभे संध्ये प्राणायामेन शुद्धयति ॥ गृध्रश्येनविहङ्गानामुलूकस्य च घातकः । अपक्वाशी दिनं तिष्ठेद्द्वौ कालौ मारुताशनः ॥ हत्वा मूषिकमार्जारसर्पाजगरडुण्डुभान् । प्रत्येकं भोजयेद्विप्रांल्लोहदण्डश्च दक्षिणा ॥ सेधाकच्छपगोधानां शशशल्यकघातकः । वृन्ताकफलगुञ्जाशी अहोरात्रेण शुद्धयति ॥ मृगरोहिवराहाणामविकाबस्तघातने । वृकजम्बूकऋक्षाणां तरक्षूणां च घातकः ॥ तिलप्रस्थं त्वसौ दद्याद्वायुभक्षो दिनत्रयम् । गजमेषतुरङ्गोष्ट्रगवयानां निपातने ॥ प्रायश्चित्तमहोरात्रं त्रिसंध्यं चावगाहनम् । खरवानरसिंहानां चित्रकव्याघ्रघातकः ॥ शुद्धिमेति त्रिरात्रेण ब्राह्मणानां च भोजनैः ॥' इति ॥ एवमन्येषामपि स्मृतिवचसां देशकालाद्यपेक्षया विषयव्यवस्था कल्पनीया ॥ २७५ ॥

अस्थि वाले प्राणियों (गिरगिट आदि) को मारकर (एक सहस्र से कम संख्या में) थोड़ा (धान्य-सुवर्णादि) दे और बिना अस्थि वाले (खटमल आदि को थोड़ी संख्या में) मारकर प्राणायाम करे ॥२७५ ॥

इति हिंसाप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

'इन्धनार्थं द्रुमच्छेद' (प्रा० २४०) इत्युपपातकोद्देशे पठितं, हिंसाप्रसङ्गलोभेन तद्व्युत्क्रमपठितमप्यपकृष्य तत्र प्रायश्चित्तमाह—

वृक्षगुल्मलतावीरुच्छेदने जप्यमृक्शतम् ।
स्यादोषधिवृथाच्छेदे क्षीराशी गोऽनुगो दिनम् ॥२७६॥

फलदानां आम्रपनसादीनां च वृक्षाणां गुल्मादीनां च यज्ञाद्यदृष्टार्थं विना छेदने ऋचां गायत्र्यादीनां शतं जप्तव्यम् । ओषधीनां तु ग्राम्यारण्यानां वृथैव छेदने दिनं कृत्स्नमहर्गवां परिचर्यामनुगम्यान्ते क्षीरं पिबेदाहारान्तरपरित्यागेन । पञ्चयज्ञार्थं तु न दोषः । एतच्च फलादिद्वारेणोपयोगिषु द्रष्टव्यम् । (मनुः ११।१४२)—'फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् । गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥' इति मनुस्मरणात् । दृष्टार्थत्वेऽपि कर्षणाङ्गभूतहलाद्यर्थत्वे न दोषः । 'फलपुष्पोपगान्पादपान्न हिंस्यात्कर्षणकरणार्थं चोपहन्यात्' इति वसिष्ठस्मरणात् । यत्र तु स्थानविशेषाद्दण्डाधिक्यं तत्र प्रायश्चित्ताधिक्यमपि कल्पनीयम् । तदुक्तम्—'चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये । जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षेऽथ विश्रुते ॥' इति ।—अयं च ऋक्शतजपो द्विजातिविषयः, न पुनः शूद्रादिविषयः; तेषां जपेऽनधिकारात् । अतस्तेषां दण्डानुसारेण द्विरात्रादिकं कल्पनीयम् । उपपातकमध्ये विशेषतः पाठस्यानर्थक्यपरिहारार्थमुपपातकसाधारणप्रायश्चित्तमप्यत्र भवति । तच्च गुरुत्वादभ्यासविषयं कल्प्यम् ॥ २७६ ॥

(बिना यज्ञीय उद्देश्य के) वृक्ष, गुल्म, लता और वीरुध के काटने पर (गायत्री आदि) ऋचाओं का सौ बार जप करे (या एक सौ ऋचाओं का जप करे)। औषधियों (ग्राम्य और आरण्य ओषधियों) को काटने पर दिनभर गाय की परिचर्या करे तथा तदनन्तर (आहार त्यागकर) दुग्धपान करे ॥२७६ ॥

पुंश्चलीवानरादिवधप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्तद्दंशनिमित्तं प्रायश्चित्तमाह—

पुंश्चलीवानरखरैर्दष्टश्चोष्ट्रादिवायसैः ।
प्राणायामं जले कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ २७७ ॥

पुंश्चल्यादयः प्रसिद्धाः, एतैर्दष्टः पुमानन्तर्जले प्राणायामं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति। 'आदि'ग्रहणाच्छृगालादीनां ग्रहणम्। यथाह मनुः (११।१९९)—'श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च। नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥' इति। अयं च घृतप्राशो भोजनप्रत्याम्नायो द्रष्टव्यः; प्रायश्चित्तानां तपोरूपत्वेन शरीरसंतापनार्थत्वात्।–एतदशक्तविषयम्; 'श्वसृगालमृगमहिषाजाविकखरकरभनकुलमार्जारमूषकप्लववकककाकपुरुषदष्टानामापोहिष्ठेत्यादिभिः स्नानं प्राणायामत्रयं च ॥' इति यत् सुमन्तुवचनं, तन्नाभेरधःप्रदेश ईषद्दष्टविषयम्। यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'ब्रह्मचारी शुना दष्टस्त्र्यहं सायं पिबेत्पयः। गृहस्थश्चेद्विरात्रं तु एकाहं योऽग्निहोत्रवान् ॥ नाभेरूर्ध्वं तु दष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत्। स्यादेतत्त्रिगुणं वक्त्रे मस्तके तु चतुर्गुणम् ॥' इति,–तत्सम्यग्दष्टविषयम्। क्षत्रियवैश्ययोस्तु पादपादन्यूनं कल्पनीयम्। शूद्रस्य तु—'शूद्राणां चोपवासेन शुद्धिर्दानेन वा पुनः। गां वा दद्याद्वृषं चैकं ब्राह्मणाय विशुद्धये ॥' इति बृहदङ्गिरसोक्तं द्रष्टव्यम्। यत्तु वसिष्ठवचनम्–'ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम्। प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥' (२३।३१) इति,–तदुत्तमाङ्गदंशविषयम् ॥ स्त्रीणां तु—'ब्राह्मणी तु शुना दष्टा जम्बुकेन वृकेण वा। उदितं ग्रहनक्षत्रं दृष्ट्वा सद्यः शुचिर्भवेत् ॥' इति पराशरोक्तं द्रष्टव्यम्। कृच्छ्रादिव्रतस्थायाः पुनस्तेनैव विशेषो दर्शितः—'त्रिरात्रमेवोपवसेच्छुना दष्टा तु सुव्रता। सघृतं यावकं भुक्त्वा व्रतशेषं समापयेत् ॥' इति ॥ रजस्वलायामपि विशेषः पुलस्त्येन दर्शितः—'रजस्वला यदा दष्टा शुना जम्बुकरासभैः। पञ्चरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ ऊर्ध्वं तु द्विगुणं नाभेर्वक्त्रे तु त्रिगुणं तथा। चतुर्गुणं स्मृतं मूर्ध्नि दष्टेऽन्यत्राप्लुतिर्भवेत् ॥' इति। अन्यत्राऽरजस्वलावस्थायाम्। यस्तु श्वादिभिर्घ्राणादिनोपहन्यते तस्य शातातपेन विशेष उक्तः—'शुना घ्रातावलीढस्य नखैर्विलिखितस्य च। अद्भिः प्रक्षालनं शौचमग्निना चोपकूलनम्' इति। उपकूलनं तापनम् ॥ यदा तु श्वादिदंशशस्त्रघातादिजनितव्रणे कृमय उत्पद्यन्ते तदा मनुना विशेष उक्तः—'ब्राह्मणस्य व्रणद्वारे पूयशोणितसंभवे। कृमिरुत्पद्यते यस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥

गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसंध्यं स्नानमाचरेत् । त्रिरात्रं पञ्चगव्याशी त्वधोनाभ्या विशुध्यति ॥ नाभिकण्ठान्तरोद्भूते व्रणे चोत्पद्यते कृमिः । षड्रात्रं तु त्र्यहं पञ्चगव्याशनमिति स्मृतम् ॥' तत्र श्वादिदंशव्रणे तद्दंशप्रायश्चित्तानन्तरमिदं कर्तव्यम् । शस्त्रादिजनितव्रणे त्वेतदेव, त्र्यहं पञ्चगव्याशनादिकमिति शेषः । क्षत्रियादिषु तु प्रतिवर्णं पादपादह्रासः कल्पनीयः ॥ २७७ ॥

व्यभिचारिणी स्त्री, बन्दर, गर्दभ, ऊँट, घोड़ा (शृगाल आदि) तथा काक द्वारा दाँत या चोच से काटे जाने पर जल में खड़ा होकर प्राणायाम कर घृतप्राशन से शुद्ध होता है ॥२७७ ॥

शारीरत्वग्धातुविच्छेदकदंशप्रायश्चित्तप्रसङ्गाच्छारीरचरमधातुविच्छेदकस्कन्दने प्रायश्चित्तमाह—

यन्मेऽद्य रेत इत्याभ्यां स्कन्नं रेतोऽभिमन्त्रयेत् ।
स्तनान्तरं भ्रुवोर्मध्यं तेनाऽनामिकया स्पृशेत् ॥ २७८ ॥

यदि कथंचित्स्त्रीसंभोगमन्तरेणापि हठाच्चरमधातुर्विसृष्टस्तदा तत्स्कन्नं रेतो 'यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीं', 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इत्याभ्यां मन्त्राभ्यामभिमन्त्रयेत् । तेन चाभिमन्त्रितेन रेतसा स्तनयोर्भ्रुवोश्च मध्यमुपकनिष्ठिकया स्पृशेत् ॥ अन्ये तु स्कन्नस्य रेतसोऽशुचित्वेन स्पर्शकर्मण्ययोग्यत्वात्तेनेत्यनामिकासाहचर्यात्स्वबुद्धिस्थाङ्गुष्ठपरत्वेन व्याचक्षते । तेनाङ्गुष्ठेनानामिकया चेति 'अङ्गुष्ठ'पदग्रहणे वृत्तभङ्गप्रसङ्गात्तेनेति निर्दिष्टमिति,—तदसत्; अङ्गुष्ठस्याबुद्धिस्थत्वात् । नच शब्दसंनिहितपरित्यागेनार्थाद्बुद्धिस्थस्यान्वयो युक्तः । तदुक्तम्—'गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं विशेषणम् । शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽयं ज्वलतीतिवत् ॥' इति । नच रेतसोऽशुचित्वेन स्पर्शायोग्यत्वम् । विधानादेव प्रायश्चित्तार्थरूपस्पर्शे योग्यत्वमवगम्यते प्रायश्चित्तरूपपान इव सुरायाः । इदं च प्रायश्चित्तं गृहस्थस्यैवाकामतः स्कन्नविषयम् । ब्रह्मचारिणः स्वप्ने जागरणावस्थायां च गुरुप्रायश्चित्तस्य दर्शनात् । यत्तु यमवचनम्—'गृहस्थः कामतः कुर्याद्रेतसः स्कन्दनं भुवि । सहस्रं तु जपेद्देव्यः प्राणायामैस्त्रिभिः सह ॥' इति,—तत्कामकारविषयम् ॥ २७८ ॥

(स्त्री-प्रसंग के अतिरिक्त यदि वीर्य का स्खलन हो जाय तो) स्खलित वीर्य को 'यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीम्' तथा 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इन मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे और उससे अनामिका अङ्गुलि द्वारा स्तनों का मध्यभाग तथा भ्रुवों का मध्यभाग स्पर्श करे ॥२७८ ॥

मयि तेज इति च्छायां स्वां दृष्ट्वाऽम्बुगतां जपेत् ।
सावित्रीमशुचौ दृष्टे चापल्ये चानृतेऽपि च ॥ २७९ ॥

किंच, स्वीयं प्रतिबिम्बमम्बुगतं दृष्टं चेत् तदा 'मयि तेज इन्द्रियम्' इतीमं

मन्त्रं जपेत्। **अशुचिद्रव्यदर्शने** पुनः **सावित्रीं** सवितृदैवत्यां 'तत्सवितुः' इत्यादिकामृचं **जपेत्**। तथा वाक्पाणिपादादिचापल्यकरणे तामेव जपेत्, अनृतवचने च।–एतत्कामकारे द्रष्टव्यम्; अकामकृते तु 'सुप्त्वा भुक्त्वा च क्षुत्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च। पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥' इति मनूक्तमाचमनं द्रष्टव्यम् ॥ यत्तु संवर्तवचनम्—'क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तश्लिष्टे तथानृते। पतितानां च संभाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥' इति,–तदल्पप्रयोजने जलाभावे वा द्रष्टव्यम् ॥ स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधानन्तरं 'निन्दितार्थोपजीवनं' पठितं, तत्र च मनुयोगीश्वरप्रोक्तान्युपपातकप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया वेदितव्यानि। नास्तिक्येऽपि तानि प्रायश्चित्तानि तथैव प्रयोज्यानि, 'नास्तिक्य'-शब्देन च वेदादिनिन्दनं तेन जीवनमुच्यते; तत्रोभयत्रापि वसिष्ठेन प्रायश्चित्तान्तरमप्युक्तम्—'नास्तिकः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा विरमेन्नास्तिक्यान्नास्तिकवृत्तिस्त्वतिकृच्छ्रम्' (२१।२९) इति।–एतच्च सकृत्करणविषयम्। उपपातकप्रायश्चित्तान्यभ्यासविषयाणि। यच्च शङ्खेनोक्तम्—'नास्तिको नास्तिकवृत्तिः कृतघ्नः कूटव्यवहारी मिथ्याभिशंसी इत्येते पञ्चसंवत्सरं ब्राह्मणगृहे भैक्षं चरेयुः' इति। यच्च हारीतेन–'नास्तिको नास्तिकवृत्तिः' इति प्रक्रम्य 'पञ्चतपोऽभ्रावकाशजलशयनान्यनुतिष्ठेयुर्ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु' इति,–तदुभयमप्यन्ताभिनिवेशेन बहुकालाभ्यासविषयम् ॥ २७९ ॥

जल में पड़ी अपनी छाया को देखने पर 'मयि तेज इन्द्रियम्' मन्त्र का जप करे, अपवित्र मनुष्य को देखने पर, (वाणी, हाथ, पैर आदि की) चपलता करने पर और असत्य भाषण करने पर गायत्री का जप करे ॥२७९ ॥

नास्तिक्यानन्तरं 'व्रतलोपश्च' इत्युक्तं, तत्रावकीर्णस्याप्रसिद्धत्वात्तल्लक्षणकथनपूर्वकं प्रायश्चित्तमाह—

अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् ।
गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति ॥ २८० ॥

ब्रह्मचार्युपकुर्वाणको नैष्ठिकश्चासौ **योषितं गत्वाऽवकीर्णी भवति**। चरमधातोर्विसर्गोऽवकीर्णं तद्यस्यास्ति सोऽवकीर्णी, **स नैर्ऋतिदैवत्येन गर्दभपशुना** यागं कृत्वा **विशुध्यति**। गर्दभस्य पशुत्वे सिद्धेऽपि पुनः 'पशु' ग्रहणं 'अथ पशुकल्पः' (१।११।१) इत्याश्वलायनादिगृह्योक्तपशुधर्मप्राप्त्यर्थम्। एतच्चारण्ये चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ कार्यम्। 'ब्रह्मचारी चेत्स्त्रियमुपेयादरण्ये चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ रक्षोदैवतं गर्दभं पशुमालभेत' (२३।१) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ तथा रात्रावेकाक्षिविकलेन यष्टव्यम्। तथा च मनुः (११।११८)—'अवकीर्णी तु काणेन रासभेन चतुष्पथे। पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥' इति। पशोरभावे चरुणा यष्टव्यम्। 'निर्ऋतिं वा चरुं निर्वपेत्, तस्य जुहुयात्–कामाय

स्वाहा, कामकामाय स्वाहा, निर्ऋत्यै स्वाहा, रक्षोदेवताभ्यः स्वाहा' (२३।२।३) इति वसिष्ठस्मरणात् ।–एतच्चाशक्तविषयम् । शक्तस्य पुनर्गर्दभेनावकीर्णी निर्ऋतिं चतुष्पथे यजेत् । 'तस्याजिनमूर्ध्ववालं परिधाय लोहितपात्रः सप्तगृहान् भैक्षं चरेत्कर्माचक्षाणः संवत्सरेण शुध्यति' (२३।१७-१९) इति गौतमोक्तो वार्षिकतपःसमुच्चितः पशुयागश्चरुर्वा द्रष्टव्यः । तथा त्रिषवणस्नानमेककालभोजनं च द्रष्टव्यम् । (११।१२२–१२३)—'एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् । सप्तागारं चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् । उपस्पृशंस्त्रिषवणमब्देन स विशुध्यति ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ इदं च वार्षिकमश्रोत्रियब्राह्मणपत्न्यां वैश्यायां श्रोत्रियपत्न्यां च द्रष्टव्यम् ॥–यदा तु गुणवत्योर्ब्राह्मणीक्षत्रिययोः श्रोत्रियभार्ययोरवकिरति तदा त्रिवार्षिकं द्विवार्षिकं च क्रमेण योज्यम् ॥ यथाहतुः शङ्खलिखितौ—'गुप्तायां वैश्यायामवकीर्णः संवत्सरं त्रिषवणमनुतिष्ठेत् । क्षत्रियायां तु द्वे वर्षे ब्राह्मण्यां त्रीणि वर्षाणि' इति । यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'अवकीर्णनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् । चीरवासास्तु षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥' इति,–तदकामतो मानवाब्दिकविषयमीषद्व्यभिचारिणीविषयं वा ॥ अत्यन्तव्यभिचारितासु पुनः 'स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचैलं स्नात उदकुम्भं दद्याद्ब्राह्मणाय । वैश्यायां चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान्भोजयेत्, यवसभारं च गोभ्यो दद्यात् । क्षत्रियायां त्रिरात्रमुपोषितो घृतपात्रं दद्यात् । ब्राह्मण्यां षड्रात्रमुपोषितो गां च दद्यात् । गोष्ववकीर्णः प्राजापत्यं चरेत् । षण्ढायामवकीर्णः पलालभारं सीसमाषकं च दद्यात्' इति शङ्खलिखितोदितं वेदितव्यम् । एतच्चावकीर्णिप्रायश्चित्तं त्रैवर्णिकस्यापि ब्रह्मचारिणः समानम् । 'अवकीर्णी द्विजो राजा वैश्यश्चापि खरेण तु । इष्ट्वा भैक्षाशिनो नित्यं शुद्ध्यन्त्यब्दात्समाहिताः ॥' इति शाण्डिल्यस्मरणात् । यदा स्त्रीसंभोगमन्तरेण कामतश्चरमधातुं विसृजति, दिवा च स्वप्ने वा विसृजति, तदा नैर्ऋतयागमात्रं द्रष्टव्यम्; 'एतदेव रेतसः प्रयत्नोत्सर्गे दिवा स्वप्ने च' (२३।४) इति वसिष्ठेन यागमात्रस्यातिदिष्टत्वात् । व्रतान्तरेषु कृच्छ्रचान्द्रायणादिष्वतिदिष्टब्रह्मचर्येषु स्कन्दने सत्येतदेव यागमात्रम् । 'व्रतान्तरेषु चैव' मिति तेनैवातिदिष्टत्वात् । स्वप्नस्कन्दने तु मनूक्तं द्रष्टव्यम् (२।१८१)—'स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः । स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥' इति । वानप्रस्थादीनां चेदमेव ब्रह्मचर्यखण्डने अवकीर्णिव्रतं कृच्छ्रत्रयाधिकं भवति; 'वानप्रस्थो यतिश्चैव स्कन्दने सति कामतः । पराकत्रयसंयुक्तमवकीर्णीव्रतं चरेत् ॥' इति शाण्डिल्यस्मरणात् ॥ यदा गार्हस्थ्यपरिग्रहेण संन्यासात्प्रच्युतो भवति तदा संवर्तोक्तं द्रष्टव्यम्; 'संन्यस्य दुर्मतिः कश्चित्प्रत्यापत्तिं व्रजेद्यदि । स कुर्यात्कृच्छ्रमश्रान्तः षण्मासात्प्रत्यनन्तरम् ॥' इति । प्रत्यापत्तिर्गार्हस्थ्यपरिग्रहः । अत एव वसिष्ठः—'यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा

पुनः सेवेत मैथुनम् । षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥' इति । तथा च पराशरः—'यः प्रत्यवसितो विप्रः प्रव्रज्यातो विनिर्गतः । अनाशकनिवृत्तश्च गार्हस्थ्यं चेच्चिकीर्षति ॥ स चरेत्त्रीणि कृच्छ्राणि त्रीणि चान्द्रायणानि च । जातकर्मादिभिः सर्वैः संस्कृतः शुद्धिमाप्नुयात्' ॥ तत्र ब्राह्मणस्य षाण्मासिकः कृच्छ्रः पुनः संन्याससंस्कारश्च क्षत्रियस्य चान्द्रायणत्रयम् । वैश्यस्य कृच्छ्रत्रयमिति व्यवस्था । अथवा ब्राह्मणस्यैव शक्तिसकृदभ्यासाद्यपेक्षाया व्यवस्थितं प्रायश्चित्तत्रयं द्रष्टव्यम् ॥ ('चितिभ्रष्टा तु या नारी मोहाद्विचलिता क्वचित् । प्राजापत्येन शुद्ध्येत्तु तस्मादेवापकर्मणः ॥' चितिभ्रष्टा भर्तुरनुगमने आपस्तम्बस्मरणात् क्वचिदित्युक्तम् ।) तथा मरणसंन्यासिनामपि यमेन प्रायश्चित्तमुक्तम्—'जलाग्न्युद्बन्धनभ्रष्टाः प्रव्रज्यानाशकच्युताः । विषप्रपतनप्रायशस्त्रघातच्युताश्च ये ॥ नैव ते प्रत्यवसिताः सर्वलोकबहिष्कृताः । चान्द्रायणेन शुद्ध्यन्ति तप्तकृच्छ्रद्वयेन वा ॥' इति ॥ इदं च चान्द्रायणं तप्तकृच्छ्रद्वयात्मकं प्रायश्चित्तद्वयं शक्त्याद्यपेक्षया व्यवस्थितं विज्ञेयम् । यदा तु 'शस्त्रघातहताश्च' इति पाठः, तदात्मत्यागाद्यशास्त्रीयमरणनिमित्तस्तत्पुत्रादेरुपदेशो द्रष्टव्यः ॥ यत्पुनर्वसिष्ठेनोक्तम्—'जीवन्नात्मत्यागी कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्, त्रिरात्रं चोपवसेत्' (२३।१९) इति,—तदप्यध्यवसिताशास्त्रीयमरणस्यैव कथंचिज्जीवने शक्त्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । अथवा—अध्यवसायमात्रे त्रिरात्रं, शस्त्रादिक्षतस्य द्वादशरात्रमिति व्यवस्था । इदं चावकीर्णिप्रायश्चित्तं गुरुदारतत्समव्यतिरिक्तागम्यागमनविषयम् । तत्र गुरुतरप्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् । नच लघुनाऽवकीर्णिव्रतेन द्वादशवार्षिकाद्यपनोद्यमहापातकदोषनिबर्हणमुचितम् । नच ब्रह्मचारित्वोपाधिकं लघुप्रायश्चित्तविधानमिति युक्तम्; आश्रमान्तराणां द्वैगुण्यादिवृद्धेर्ब्रह्महत्याप्रकरणे दर्शितत्वात् । न चात्रागम्यागमनप्रायश्चित्तं पृथक्कर्तव्यम्; ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यस्खलनस्यागम्यागमनेनान्तरीयकत्वात्, अतोऽन्यात्रापि यस्मिन्निमित्ते यन्निमित्तान्तरं समं न्यूनं वाऽवश्यंभाविनः । तत् पृथक् नैमित्तिकं प्रयुङ्क्ते । यथा (मनुः ११।२०८)—'अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने । कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥' इत्यत्र शोणितोत्पादननिमित्तेऽवगूरणनिपातलक्षणं निमित्तद्वयमवश्यंभावित्वेन स्वनैमित्तिकं कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं च न प्रयुङ्क्ते, एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । यत्र पुनर्निमित्तानामन्तर्भावनियमो नास्ति, तत्र पुनर्नैमित्तिकानि पृथक्प्रयुज्यन्ते । निमित्तानि यथा—'यदा पर्वणि परभार्यां रजस्वलां तैलाभ्यक्तो दिवा जले गच्छति' इति ॥ ननु ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यस्खलनस्यागम्यागमनान्तरीयकत्वं नास्त्येव; पुत्रिकागमनेऽगम्यागमनदोषाभावात् । तथा हि—न तावत्पुत्रिका कन्या; अक्षतयोनित्वात्, नापि परभार्या; प्रदानाभावात्, नापि वेश्या; अतद्वृत्तित्वात्, नापि विधवा; भर्तृमरणाभावात्, अतः पुत्रिकायाः क्वाप्यनन्तर्भावादप्रतिषिद्धेति तत्रैव विप्लुतस्य केवलमवकीर्णिव्रतम् । अन्यत्र विप्लुतस्य तु निमित्तान्तरसंनिपातादवकीर्णिव्रतं नैमित्तिकान्तरमपि प्रयोक्तव्यमिति,—तदसत्; पुत्रिकाया अपि परभार्या-

स्वन्तर्भावात्। प्रदानाभावेऽपि विवाहसंस्कारेण संस्कृतत्वात् गान्धर्वादिविवाहपरिणीतावत्। नच 'यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत्तु तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया॥' इति प्रतिषेधात्सगोत्रास्विव भार्यात्वं नोत्पद्यत इति वाच्यम्। दृष्टार्थत्वात्प्रतिषेधस्य व्यङ्गांग्यादिप्रतिषेधवत्। दृष्टार्थत्वं च पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति हेतूपादानात्। नच पुत्रार्थमेव परिणयनं, अपि तु धर्मार्थमपि, अतश्चोत्पादितपुत्रस्य मृतभार्यस्य धर्मार्थं पुत्रिकापरिणयने को विरोधः ? प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तादित्यलमतिप्रसङ्गेन। तस्माद्ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यस्खलनस्यागम्यागमनानन्तरीयकत्वान्न पृथङ्नैमित्तिकं प्रयोक्तव्यमिति सुष्ठूक्तम् ॥२८०॥

ब्रह्मचारी स्त्री-संभोग करने पर अवकीर्णी हो जाता है। वह नैर्ऋतिदैवत्य गर्दभ पशु से याग कर शुद्ध होता है ॥२८० ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गादन्यदप्युपपातकप्रायश्चित्तमाह—

भैक्षाग्निकार्ये त्यक्त्वा तु सप्तरात्रमनातुरः।
कामावकीर्ण इत्याभ्यां जुहुयादाहुतिद्वयम् ॥ २८१ ॥
उपस्थानं ततः कुर्यात्सं मा सिंचन्त्वनेन तु।

यस्त्वनातुर एव ब्रह्मचारी निरन्तरं सप्तरात्रं भैक्षमग्निकार्यं वा त्यजति असौ 'कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा। कामावपन्नोऽस्म्यवपन्नोऽस्मि कामकामाय स्वाहा' इत्येताभ्यां मन्त्राभ्यामाहुती हुत्वा 'सं मा सिंचन्तु मरुतः समिन्द्रः सं वृहस्पतिः। सं मायमग्नि सिंचन्तां यशसा ब्रह्मवर्चसेन॥' इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमुपतिष्ठेत्॥ एतच्च गुरुपरिचर्यादिगुरुतरकार्यव्यग्रतया अकरणे द्रष्टव्यम्। यदा त्वव्यग्र एवोमे भैक्षाग्निकार्ये त्यजति, तदा 'अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्। अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्॥' (मनु०२।१८७) इति मानवं द्रष्टव्यम्॥ यज्ञोपवीतविनाशे तु हारीतेन प्रायश्चित्तमुक्तम्—'मनोव्रतपतीभिश्चतस्र आज्याहुतीर्हुत्वा पुनर्यथार्थं प्रतीयादसङ्क्लैक्षभोजनेऽभ्युदितेऽभिनिर्मुक्ते वान्ते दिवा स्वप्ने नग्नस्त्रीदर्शने नग्नस्वापे श्मशानमाक्रम्य हयादींश्चारुह्य पूज्यातिक्रमे चैताभिरेव जुहुयादग्निसमिन्धने स्थावरसरीसृपादीनां वधे "यद्देवादेवहेडनम्" इति कूष्माण्डीभिराज्यं जुहुयात्, मणिर्वासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टसहस्रं जपेत्' इति। मनोव्रतपतीभिरिति मनोज्योतिरित्यादिमनोलिङ्गाभिः 'त्वमग्ने व्रतपा असि' इत्यादिव्रतलिङ्गाभिरित्यर्थः। यथार्थं प्रतीयादिति, उपनयनोक्तमार्गेण समन्त्रकं गृह्णीयादित्यर्थः। यज्ञोपवीतं विना भोजनादिकरणे तु—'ब्रह्मसूत्रं विना भुङ्क्ते विण्मूत्रं कुरुतेऽथवा। गायत्र्यष्टसहस्रेण प्राणायामेन शुध्यति॥' इति मरीच्युक्तं द्रष्टव्यम्॥ २८१½ ॥

(ब्रह्मचारी) बिना रोग के सात दिन तक भिक्षाटन तथा अग्निकार्य न करने पर 'कामावकीर्णः' इत्यादि दो मन्त्रों से दो आहुतियों का हवन करे। तदनन्तर 'समासिञ्चन्तु' इस मंत्र से अग्नि की आराधना करे ॥२८१½ ॥

मधुमांसाशने कार्यः कृच्छ्रः शेषव्रतानि च ॥ २८२ ॥
प्रतिकूलं गुरोः कृत्वा प्रसाद्यैव विशुध्यति ।

किंच, ब्रह्मचारिणा अमत्या **मधुमांसभक्षणे कृच्छ्रः कार्यः**। तदनन्तरम**वशिष्टानि व्रतानि** समापयेत् ।–एतच्च शिष्टभोजनार्हशशादिमांसभक्षणविषयम्। 'ब्रह्मचारी चेन्मांसमश्नीयाच्छिष्टभोजनीयं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा व्रतशेषं समापयेत्' (२३।११) इति वसिष्ठस्मरणात् । 'द्वादशरात्र'ग्रहणं तु मतिपूर्वाभ्यासापेक्षयाऽतिकृच्छ्रपराकादेरपि प्राप्त्यर्थम्। यदा तु मांसैकापनोद्यव्याध्यभिभूतस्तदा मांसं गुरोरुच्छिष्टं कृत्वा भक्षणीयम्। 'स चेद्व्याधितः कामं गुरोरुच्छिष्टं भैषज्यार्थं सर्वं प्राश्नीयात्' (२३।९) इति तेनैवोक्तत्वात् । 'सर्वं'ग्रहणं मांसलशुनाद्यभक्ष्यमात्रसंग्रहार्थम्। तद्भक्षणेन चापगतव्याधिरादित्यमुपतिष्ठेत। तथा च बौधायनः (२।१।२६–२७)—'येनेच्छेत्तु चिकित्सितुं तु यदाऽगदो भवति तदोत्थायादित्यमुपतिष्ठेत' 'हंसः शुचिषत्' इति । मधुनोऽप्यज्ञानतः प्राशनोपपत्तौ न दोषः । 'अकामोपनतं मधु वाजसनेयके न दुष्यति' (२३।१४) इति वसिष्ठस्मरणात्। अन्यसूतकान्नादिभक्षणप्रायश्चित्तं त्वभक्ष्यप्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यामः । आज्ञाप्रतिघातादिना गुरोः **प्रतिकूलमाचरन्** पादप्रणिपातादिना **गुरुं प्रसाद्य विशुध्यति** ॥ २८२½ ॥

मधु और मांस खाने पर कृच्छ्र और अवशिष्ट व्रत करे। गुरु के विपरीत आचरण करने पर गुरु को प्रसन्न कर ही शुद्ध होता है ॥२८२½ ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गाद्गुरोरपि प्रायश्चित्तमाह—

कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यान्म्रियते प्रहितो यदि ॥ २८३ ॥

यस्तु गुरुश्चौरोरगव्याघ्रादिभयाकुलप्रदेशे सान्द्रतरान्धकाराकुलितनिशीथावसरे कार्यार्थं शिष्यं प्रेरयति, स च **गुरुणा प्रेरितो दैवान्मृतस्तदा स गुरुः कृच्छ्राणां** प्राजापत्यादीनां **त्रयं कुर्यात्**, न पुनस्त्रयः प्राजापत्याः, तथा सति पृथग्विवेशिनी संख्यानुपपन्ना स्यात् । न च 'एकादश प्रयाजान्यजति' इतिवदावृत्त्यपेक्षा संख्येति चतुरस्रम्; स्वरूपपृथक्त्वे संभवत्यावृत्त्यपेक्षया अन्याय्यत्वात् । यदियमुत्पन्नगता संख्या स्यात्तदा स्यादपि कथंचिदावृत्त्यपेक्षा, किंतूत्पत्तिगतेयम्; अतः 'तिस्र आज्याहुतीर्जुहोति' इतिवत् स्वरूपपृथक्त्वापेक्षयैव त्रित्वसंख्याघटना युक्ता ॥ २८३ ॥

किसी कार्य पर भेजे गये शिष्य की (हिंस्र पशु आदि द्वारा) मृत्यु होने पर गुरु तीन कृच्छ्र व्रतों को करे ॥२८३ ॥

सकलहिंसाप्रायश्चित्तापवादमाह—

क्रियमाणोपकारे तु मृते विप्रे न पातकम् ।
[विपाके[3] गोवृषाणां तु भेषजाग्निक्रियासु च ॥]

आयुर्वेदोपदेशानुसारेणौषधपथ्यान्नप्रदानादिभिश्चिकित्सादिना **क्रियमाण उपकारो** यस्य ब्राह्मणादेस्तस्मिन्दैवात्कथंचिन्मृतेऽपि **पातकं नैव भवति।** 'विप्र'ग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षणार्थम्। अत एव 'यन्त्रणे गोचिकित्सार्थे गूढगर्भविमोचने। यत्ने कृते विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते॥' इत्यादि संवर्तादैरुक्तम्। एतच्च प्रपञ्चितं प्राक्॥—

(औषधि आदि द्वारा) उपकार करने से ब्राह्मण (आदि प्राणिमात्र) की यदि मृत्यु हो जाय तो पातक नहीं लगता। (गाय और वृष की चिकित्सा और अग्निकार्य में मृत्यु होने पर भी पाप नहीं लगता)॥२८३$\frac{१}{२}$॥

मिथ्याभिशंसिनः प्रायश्चित्तविवक्षया तदुपयोग्यर्थवादं तावदाह—

मिथ्याभिशंसिनो दोषो द्विः समो भूतवादिनः॥२८४॥
मिथ्याभिशस्तदोषं च समादत्ते मृषा वदन्।

यस्तु परोत्कर्षेर्ष्याजनितरोषकलुषितान्तःकरणो **जनसमक्षं मिथ्यैवाभिशापं** 'ब्रह्महत्यादिकमनेन कृतम्' इत्यारोपयति, तस्य **तदेव द्विगुणं भवति।** यस्तु विद्यमानमेव दोषमलोकविदितं **जनसमक्षं प्रकाशयति,** तस्यापि तत्पातकिसमदोषभाक्त्वम्; तथा चापस्तम्बः (१।२१।२०)—'दोषं बुद्ध्वा न पूर्वः परेभ्यः पतितस्य समाख्याता स्यात् परिहरेच्चैनं धर्मेषु' इति न केवलं मिथ्याभिशंसी द्विगुणदोषभाक्, अपि तु मिथ्याभिशस्तस्य यदन्यद्दुरितजातं तदपि समादत्त इति वक्ष्यमाणप्रायश्चित्तेऽर्थवादः, न पुनः पापद्वैगुण्यादिप्रतिपादनमत्र विवक्षितम्; निमित्तस्य लघुत्वाल्लघुप्रायश्चित्तस्योपदेक्ष्यमाणत्वात् कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च॥ २८४$\frac{१}{२}$॥

(परोत्कर्ष में ईर्ष्या के कारणादि) दूसरे पर झूठ (ब्रह्महत्यादि का) दोष लगाने वाले पर दूना दोष लगता है तथा सत्य भी दोष को (लोक में अज्ञात होने पर) बताने वाले पर पाप करने वाले के बराबर दोष लगता है। मिथ्या दोष लगाने वाला (न केवल दूना दोष का ही भागी होता है अपितु) मिथ्या जिस पर दोष लगाया गया है उसके अन्य पापों को भी ले लेता है॥२८४$\frac{१}{२}$॥

तत्र प्रायश्चित्तमाह—

महापापोपपापाभ्यां योऽभिशंसेन्मृषा परम्।
अब्भक्षो मासमासीत स जापी नियतेन्द्रियः॥ २८५॥

यस्तु **महापापेन** ब्रह्महत्यादिना गोवधाद्युपपापेन वा **मृषैव परमभिशंसति स मासं यावज्जलाशनो जपशीलो जितेन्द्रियश्च भवेत्।** तपश्च शुद्धवतीनां कार्यः। 'ब्राह्मणमनृतेनाभिशस्य पतनीयेनोपपातकेन वा मासमब्भक्षः

शुद्धवतीरावर्तयेदश्वमेधावभृथं वा गच्छेत्' (२४।३९-४०) इति वसिष्ठस्मरणात् । 'महापापोपपाप'ग्रहणमन्येषामप्यतिपातकादीनामुपलक्षणम् । एतच्च ब्राह्मणस्यैव ब्राह्मणेनाभिशंसने कृते द्रष्टव्यम् । यदा तु ब्राह्मणः क्षत्रियादेरभिशंसनं करोति, क्षत्रियादिर्वा ब्राह्मणस्य तदा—'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः । वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः ॥' इति दण्डानुसारेण प्रायश्चित्तस्य वृद्धिह्रासौ कल्पनीयौ । भूताभिशंसिनस्तु पूर्वोक्तार्थवादानुसारेण दण्डानुसारेण च तदर्धं कल्पनीयम् । तथाऽतिपातकाभिशंसिन एतदेव व्रतं पादोनम्, पातकाभिशंसिनस्त्वर्धम्, उपपातकाभिशंसिनस्तु पादः; 'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः' (मनुः ११।१२६)—इत्युपपातकभूतक्षत्रियादिवधे महापातकप्रायश्चित्ततुरीयांशस्य दर्शनात् । एवं प्रकीर्णाभिशंसिनोऽपि उपपातकान्न्यूनं कल्पनीयम् । 'शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्' इति स्मरणात् । यत्तु शङ्खलिखिताभ्यां 'नास्तिकः कृतघ्नः कूटव्यवहारी ब्राह्मणवृत्तिघ्नो मिथ्याभिशंसी चेत्येते पञ्चवर्षाणि ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयुः, संवत्सरं धौतभैक्षमश्नीयुः, षण्मासान्वा गा अनुगच्छेयुः' इति गुरुप्रायश्चित्तमुक्तं,—तदभ्यासतारतम्यापेक्षया योजनीयम् ॥ २८५ ॥

जो दूसरे पर मिथ्या ही महापाप या पाप लगाता है वह एक मास तक (शुद्धि के लिये) जल पीकर रहे तथा इन्द्रियों को वश में रखकर जप करे ॥२८५ ॥

अभिशंसिप्रायश्चित्तप्रसङ्गादभिशस्तप्रायश्चित्तमाह—

अभिशस्तो मृषा कृच्छ्रं चरेदाग्नेयमेव वा ।
निर्वपेत्तु पुरोडाशं वायव्यं पशुमेव वा ॥ २८६ ॥

यः **पुनर्मिथ्याभिशस्तः** स **कृच्छ्रं** प्राजापत्यं **चरेत्** । **अग्निदैवत्येन** वा **पुरोडाशेन यजेत** । **वायुदैवत्येन** वा पुरोडाशेन यजेत । वायुदैवत्येन वा **पशुना** । एषां च पक्षाणां शक्तिसंभवापेक्षया व्यवस्था । यत्तु वसिष्ठेन 'मासमब्भक्षणमुक्तमेतेनैवाभिशस्तो व्याख्यातः' (२४।३७) इति,—तदभिशस्तस्यैव किंचित्कालमकृतप्रायश्चित्तस्य सतो द्रष्टव्यम्; 'संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः' इति दण्डातिरेकदर्शनात् । यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—'अनृतेनाभिशस्यमानः कृच्छ्रं चरेन्मासं पातकेषु महापातकेषु द्विमासम्' इति,—तदपि वासिष्ठेन समानविषयम् । यत्तु बौधायनेनोक्तम्—'पातकाभिशंसिने कृच्छ्रस्तदर्धमभिशस्तस्य' (२।१।६०।१) इति,—तदुपपातकादिविषयं अशक्तविषयं वा । एवमन्येषामप्युच्चावचप्रायश्चित्तानामभिशस्तविषयाणां कालशक्त्याद्यपेक्षया व्यवस्था विज्ञेया । यथाह मनुः (११।२००)—'षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा । होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्क्तानां विशोधनम् ॥' इति । अपाङ्क्तानां मध्ये अभिशस्तादयः पठिताः । यद्यप्यत्राभिशस्तस्य निषिद्धाचरणं नोपलभ्यते तथापि मिथ्याभिशस्तत्वलिङ्गानुमितप्राग्भवीयनिषिद्धाचरणापूर्वनिबन्धनमिदं प्रायश्चित्तं कृमिदष्टानामिवेति न विरोधः ॥ २८६ ॥

जिस पर मिथ्या दोष लगा है वह कृच्छ्र व्रत करे या अग्निदेवता संबन्धी पुरोडाश से यजन करे अथवा वायु देवता संबन्धी पुरोडाश या वायुदेवता संबन्धी पशु से यजन करे ॥२८६ ॥

अनियुक्तो भ्रातृजायां गच्छंश्चान्द्रायणं चरेत् ।

किंच, यस्तु नियोगं विना भ्रातुर्ज्येष्ठस्य कनिष्ठस्य वा भार्यां गच्छति स चान्द्रायणं चरेत् ।-एतच्च सकृदमतिपूर्वविषयं द्रष्टव्यम् । यत्तु शङ्खवचनम्—'परिवित्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयातां ज्येष्ठभार्यामनियुक्तो गच्छंस्तदेव कनिष्ठभार्यां च' इति,-तत्कामकारविषयम् ॥—

बिना नियोग (श्रेष्ठजनों की आज्ञा) के भाई की पत्नी से व्यभिचार करने वाला चान्द्रायण व्रत करे।

किंचाह—

त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य गत्वोदक्यां विशुध्यति ॥२८७॥

यः पुनरुदक्यां रजस्वलां स्वभार्यामपि गच्छति स त्रिरात्रमुपोष्यान्ते घृतं प्राश्य विशुध्यति ।-इदमकामतः सकृद्गमनविषयम् । तत्रैवाभ्यासे 'रजस्वलागमने सप्तरात्रम्' इति शातातपेनोक्तं द्रष्टव्यम् । कामतः सकृद्गमनेऽप्येतदेव । यत्तु बृहत्संवर्तेनोक्तम्—'रजस्वलां तु यो गच्छेद्गर्भिणीं पतितां तथा । तस्य पापविशुद्ध्यर्थमतिकृच्छ्रं विशोधनम् ॥' इति,-तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्पुनः शङ्खेन त्रिवार्षिकमुक्तम्—'पादस्तु शूद्रहत्यायामुदक्यागमने तथा' इति, तत्कामतोऽत्यन्तानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । रजस्वलायास्तु रजस्वलादिस्पर्शे प्रायश्चित्तं स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तथा च वृहद्वसिष्ठः—'स्पृष्टे रजस्वलेऽन्योन्यं सवर्णे त्वेकभर्तृके । कामादकामतो वापि सद्यः स्नानेन शुध्यतः ॥' इति । असपत्न्योस्तु सवर्णयोरकामतः स्नानमात्रम्-'उदक्या तु सवर्णा या स्पृष्टा चेत्स्यादुदक्यया । तस्मिन्नेवाहनि स्नात्वा शुद्धिमाप्नोत्यसंशयम् ॥' इति मार्कण्डेयस्मरणात् ॥ यत्तु कश्यपवचनम्—'रजस्वला तु संस्पृष्टा ब्राह्मण्या ब्राह्मणी यदि । एकरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥' इति,-तत्कामकारविषयम् । असवर्णास्पर्शे तु बृहद्वसिष्ठेन विशेषो दर्शितः—'स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी शूद्रजापि च । कृच्छ्रेण शुध्यते पूर्वा शूद्री दानेन शुध्यति ॥' दानेनेति पादकृच्छ्रप्रत्याम्नायभूतनिष्कचतुर्थांशदानेन शुध्यतीति । 'स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी वैश्यजापि च । पादहीनं चरेत्पूर्वा पादकृच्छ्रं तथोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी क्षत्रिया तथा । कृच्छ्रार्धाच्छुध्यते पूर्वा तूत्तरा च तदर्धतः ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं क्षत्रिया शूद्रजापि च । उपवासैस्त्रिभिः पूर्वा त्वहोरात्रेण चोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं क्षत्रिया वैश्यजापि च । त्रिरात्राच्छुध्यते पूर्वा त्वहोरात्रेण चोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं वैश्या शूद्रा तथैव च । त्रिरात्राच्छुध्यते पूर्वा तूत्तरा च दिनद्वयात् ॥

वर्णानां कामतः स्पर्शे शुद्धिरेषा पुरातनी ॥' इति ॥ अकामतस्तु बृहद्विष्णुनोक्तं स्नानमात्रम्—'रजस्वलां हीनवर्णां रजस्वला स्पृष्ट्वा न तावदश्नीयाद्यावन्न शुद्धा स्यात् । सवर्णामधिकवर्णां वा स्पृष्ट्वा सद्यः स्नात्वा विशुध्यति' इति ॥ चण्डालादिस्पर्शे तु बृहद्वसिष्ठेन विशेष उक्तः—'पतितान्त्यश्वपाकेन संस्पृष्टा चेद्रजस्वला । तान्यहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ प्रथमेऽह्नि त्रिरात्रं स्याद्द्वितीये द्व्यहमेव तु । अहोरात्रं तृतीयेऽह्नि परतो नक्तमाचरेत् ॥ शूद्रयोच्छिष्टया स्पृष्टा शुना चेद्द्व्यहमाचरेत् ॥' इति । तान्यहानि व्यतिक्रम्य अनाशकेन नीत्वेति यावत् ।– एतत्कामतः स्पर्शविषयम् । अकामतस्तु—'रजस्वला तु संस्पृष्टा चाण्डालान्त्यश्ववायसैः । तावत्तिष्ठेन्निराहारा यावत्कालेन शुध्यति ॥' इति बौधायनेनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यत्पुनस्तेनैवोक्तम्—'रजस्वला तु संस्पृष्टा ग्रामकुक्कुटसूकरैः । श्वभिः स्नात्वा क्षिपेत्तावद्यावच्चन्द्रस्य दर्शनम् ॥' इति,–तदशक्तविषयम् ॥ यदा तु भुञ्जानायाः श्वादिस्पर्शो भवति तदा स्मृत्यन्तरे विशेष उक्तः—'रजस्वला तु भुञ्जाना श्वान्त्यजादीन्स्पृशेद्यदि । गोमूत्रयावकाहारा षड्रात्रेण विशुध्यति ॥ अशक्तौ काञ्चनं दद्याद्विप्रेभ्यो वापि भोजनम् ॥' इति ॥ यदा तूच्छिष्टयोः परस्परस्पर्शनं भवति तदा—'उच्छिष्टोच्छिष्टया स्पृष्टा कदाचित्स्त्री रजस्वला । कृच्छ्रेण शुध्यते पूर्वा शूद्रा दानैरुपोषिता ॥' इत्यत्रिणोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यदा तूच्छिष्टान्द्विजान्रजस्वला स्पृशति, तदा 'द्विजान्कथंचिदुच्छिष्टान्रजःस्था यदि संस्पृशेत् । अधोच्छिष्टे त्वहोरात्रमूर्ध्वोच्छिष्टे त्र्यहं क्षिपेत् ॥' इति मार्कण्डेयोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ एवमवकीर्णिप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्कानिचिदनुपातकप्रायश्चित्तान्यपि व्याख्याय प्रकृतमनुसरामः । तत्रावकीर्णानन्तरं 'सुतानां चैव विक्रयः' (प्रा०२६६) इत्युक्तं, तत्र मनुयोगीश्वरोक्तानि त्रैमासिकादीनि कामाकामजातिशक्त्याद्यपेक्षया पूर्ववद्व्यवस्थापनीयानि ॥ यत्तु शङ्खवचनम्—'देवगृहप्रतिश्रयोद्यानारामसभाप्रपातडागपुण्यसेतुसुतविक्रयं कृत्वा तप्तकृच्छ्रं चरेत्' इति, यच्च पराशरेणोक्तम्—'विक्रीय कन्यकां गां च कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्' इति,–तदुभयमप्यापद्यकामतो द्रष्टव्यम् ॥ कामतस्तु—

'नारीणां विक्रयं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणव्रतम् । द्विगुणं पुरुषस्यैव व्रतमाहुर्मनीषिणः ॥' इति चतुर्विंशतिमतोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—'आरामतडागोदपानपुष्करिणीसुकृतसुतविक्रये त्रिषवणस्नाय्यधःशायी चतुर्थकालाहारः संवत्सरेण पूतो भवति' इति,–तदेकपुत्रविषयम् । तदनन्तरं 'धान्यकुप्यपशुस्तेयम्' (प्रा० २३७) इत्युक्तं,–तत्प्रायश्चित्तानि च स्तेयप्रकरणे प्रपञ्चितानि ॥ २८७ ॥

रजस्वला से संभोग करने वाला तीन रातों के बाद (तीन दिनों तक उपवास करने के बाद) घृत खाकर शुद्ध होता है ॥२८७॥

अनन्तरं 'अयाज्यानां च याजनम्' (प्रा०२३७) इत्युक्तं, तत्र प्रायश्चित्तमाह—

त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद्व्रात्ययाजकोऽभिचरन्नपि ।
वेदप्लावी यवाश्यब्दं त्यक्त्वा च शरणागतम् ॥ २८८ ॥

यस्तु सावित्रीपतितानां याजनं करोति स प्राजापत्यप्रभृतींस्त्रीन्कृच्छ्रानाचरेत्, एतेषां च गुरुलघुभूतानां कृच्छ्राणां निमित्तगुरुलघुभावेन कल्पनीयम् ॥ तथा अभिचरन्नपीदमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात्। एतच्चाग्निदाद्याततायिव्यतिरेकेण 'षट्स्वभिचरन्न पतति' इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ 'अपि'शब्दो हीनयाजकान्त्येष्टियाजकयोः संग्रहार्थः। अत एवोक्तं मनुना (११।१९७)—'व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च। अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥' इति। 'परेषामन्त्यकर्म' इत्यत्यन्ताभ्यासविषयं शूद्रान्त्यकर्मविषयं वा; प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वात्। अहीनो द्विरात्रादिर्द्वादशाहपर्यन्तोऽहर्गणयागः। यत्तु शातातपेनोक्तम्—'पतितसावित्रीकान्नोपनयेन्नाध्यापयेन्न याजयेत् य एतानुपनयेदध्यापयेद्याजयेद्वा स उद्दालकव्रतं चरेत्' इति,–तत्कामकारविषयम्। उद्दालकव्रतं च प्रागदर्शितम्। एतच्च कृच्छ्रत्रयं साधारणोपपातकप्रायश्चित्तस्यापवादकम्, अत उपपातकसाधारणप्रायश्चित्तं शूद्राद्ययाज्ययाजने व्यवतिष्ठते। तत्र कामतस्त्रैमासिकम्। अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं मासव्रतादि। यत्तु प्रचेतसा शूद्रयाजकादीन्पठित्वोक्तम्—'एते पञ्चतपोऽभ्रावकाशजलशयनान्यनुतिष्ठेयुः। क्रमेण ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु मासं गोमूत्रयावकमश्नीयुः' इति,–तत्कामतोऽभ्यासविषयम्। यत्तु यमेनोक्तम्—'पुरोधाः शूद्रवर्णस्य ब्राह्मणो यः प्रवर्तते। स्नेहादर्थप्रसङ्गाद्वा तस्य कृच्छ्रो विशोधनम् ॥' इति,–तदशक्तविषयम्। यच्च पैठीनसिनोक्तम्—'शूद्रयाजकः सर्वद्रव्यपरित्यागात्पूतो भवति प्राणायामसहस्रेषु दशकृत्वोभ्यस्तेषु' इति,–तदप्यकामतोऽभ्यासविषयम्। यत्तु गौतमेनोक्तम्—'निषिद्धमन्त्रप्रयोगे सहस्रवागुपतिष्ठेत्' (२२।२३) इति निषिद्धानां पतितादीनां याजनाध्यापनात्मके मन्त्रप्रयोगे बहुशोऽभ्यस्ते प्राकृतं ब्रह्मचर्यमुपदिष्टं,–तत्कामतोऽभ्यासविषयम्। यः स्ववेदं विप्लावयति यश्च, रक्षणक्षणोऽपि तस्करव्यतिरिक्तं शरणागतमुपेक्षते, सोऽपि संवत्सरं यवोदनं भुञ्जानः शुध्यति। तत्र विप्लवो नाम पर्वचाण्डालश्रोत्रावकाशाद्यनध्यायेष्वध्ययनम्। उत्कर्षहेतोरधीयानस्य किं पठसि नाशितं त्वयेत्येवं पर्यंयोगदानं वा विप्लावनमुच्यते। अत एवोक्तं स्मृत्यन्तरे—'दत्तानुयोगानध्येतुः पतितान्मनुरब्रवीत्' इति। यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—'पतितचाण्डालशवश्रावणे त्रिरात्रं वाग्यता अनश्नन्त आसीरन् सहस्रपरमं वा तदभ्यस्यन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायते' (२३।३४-३५) इति, 'एतेनैव गर्हिताध्यापकयाजका व्याख्याताः दक्षिणात्यागाच्च पूता भवन्तीति विज्ञायते' (२३।३६) इति,–तद्बुद्धिपूर्वविषयम्। यत्तु षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'चाण्डालश्रोत्रावकाशे श्रुतिस्मृतिपाठे एकरात्रमभोजनम्' इति,–तदबुद्धिपूर्वविषयम् ॥ यदा सर्पाद्यन्तरागमनमात्रं भवति न पुनस्तत्राधीते तदापि प्रायश्चित्तं यमेनोक्तम्—
'सर्पस्य नकुलस्याथ अजमार्जारयोस्तथा ॥ मूषकस्य तथोष्ट्रस्य मण्डूकस्य च योषितः ॥
पुरुषस्यैडकस्यापि शुनोऽश्वस्य खरस्य च। अन्तरागमने सद्यः प्रायश्चित्तमिदं शृणु ॥
त्रिरात्रमुपवासश्च त्रिरहश्चाभिषेचनम्। ग्रामान्तरं वा गन्तव्यं जानुभ्यां नात्र

संशयः ॥' इति ॥ पितृमातृसुतत्यागतडागारामविक्रयेषु मनुयोगीश्वरोक्तोपपातकसाधारणप्रायश्चित्तानि पूर्ववज्जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया योज्यानि । तत्र पितृमात्रादित्यागस्य 'अकारणे परित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा' इत्यपाङ्क्तमध्यपाठात्तन्निमित्तमपि प्रायश्चित्तं भवति । यथाह मनुः (११।२७०)—'षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा । होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्क्तानां विशोधनम् ॥' इति । अपाङ्क्ताश्च श्राद्धकाण्डे 'ये स्तेनपतितक्लीबाः' इत्यादिवाक्यैर्दर्शिताः । तडागारामविक्रयेषु च कतिचिद्विशेषप्रायश्चित्तानि सविषयाणि सुतविक्रयप्रायश्चित्तकथनावसरे कथितानि॥

अनन्तरं 'कन्याया दूषणम्' इत्युक्तं, तत्र च त्रैमासिकद्वैमासिकचान्द्रायणादीनि वर्णानां सवर्णाविषये योज्यानि । आनुलोम्ये पुनर्मासिकपयोशनं प्राजापत्यं वा—'सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः' (व्य० २८८) इति दण्डाल्पत्वदर्शनात् ॥

यत्तु शङ्खेनोक्तम्—'कन्यादूषी सोमविक्रयी च कृच्छ्रमब्दं व्रतं चरेयाताम्' इति, यच्च हारीतवचनम्—'कन्यादूषी सोमविक्रयी वृषलीपतिः कौमारदारत्यागी सुरामद्यपः शूद्रयाजको गुरोः प्रतिहन्ता नास्तिको नास्तिकवृत्तिः कृतघ्नः कूटव्यवहारी ब्राह्मणवृत्तिघ्नो मिथ्याभिशंसी पतितसंव्यवहारी मित्रध्रुक् शरणागतघाती प्रतिरूपकवृत्तिरित्येते पञ्चतपोभ्रावकाशजलशयनान्यनुतिष्ठेयुर्ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु मासं गोमूत्रयावकमश्नीयुः इति,-तदुभयमपि क्षत्रियवैश्योः प्रातिलोम्येन दूषणे योज्यम् । शूद्रस्य तु वध एव । 'दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा' (व्य० २८८) इति वधदर्शनात् । परिविन्दकस्य याजनकन्याप्रदानयोः कौटिल्ये शिष्टाप्रतिषिद्धव्रतलोपे आत्मार्थपाकक्रियारम्भे मद्यपस्त्रीनिषेवणे च साधारणोपपातकप्रायश्चित्तं प्राग्वद्व्यवस्थापनीयम् । आद्ययोस्तु विशेषप्रायश्चित्तानि परिवेदनायाज्ययाजनप्रायश्चित्तकथनप्रस्तावे दार्शितानि। अनन्तरं 'स्वाध्यायाग्निसुतत्यागः' (प्रा० २३९) इत्युक्तं, तत्र व्यसनाशक्त्या त्यागे अधीतस्य च नाशनमिति ब्रह्महत्यासमप्रायश्चित्तमुक्तम् । शास्त्रश्रवणाद्याकुलतया त्यागे तु त्रैमासिकाद्युपपातकप्रायश्चित्तानि जातिशक्त्यपेक्षया योज्यानि । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—'ब्रह्मोज्झः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनरुपयुञ्जीत वेदमाचार्यात्' इति,-तदत्यन्तापद्विषयम् । अग्नित्यागेऽपि तेनैव विशेषो दर्शितः—'योऽग्नीनपविध्येत्स कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनराधेयं कारयेत्' इति । 'द्वादशरात्र'ग्रहणमुत्सन्नकालापेक्षया प्राजापत्यादिगुरुलघुकृच्छ्राणां प्राप्त्यर्थम् । तत्र मासद्वये प्राजापत्यं, मासचतुष्टयेऽतिकृच्छ्रः, षण्मासोच्छिन्ने पराकः, षण्मासादूर्ध्वं योगीश्वरोक्तान्युपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि कालाद्यपेक्षया योज्यानि । संवत्सरादूर्ध्वं तु मानवं त्रैमासिकं द्वैमासिकमिति व्यवस्था ।—एतच्च नास्तिक्येन त्यागविषयम् । तथा च व्याघ्रः—'योऽग्निं त्यजति नास्तिक्यात्प्राजापत्यं चरेद्द्विजः' इति । यदा तु प्रमादात्त्यजति तदा भारद्वाजगृह्ये विशेष उक्तः—'प्राणायामशतमात्रिरात्रादुपवासः स्यादाविंशतिरात्रात् अत ऊर्ध्वमाषष्टिरात्रात्तिस्रो रात्रीरुपवसेदत ऊर्ध्वमासंवत्सरात् प्राजापत्यं चरेत्, अत ऊर्ध्वं कालबहुत्वे दोषगुरुत्वम्' इति । यदा त्वाल-

स्यादिना त्यजति तदापि तेनैव विशेष उक्तः—'द्वादशाहातिक्रमे त्र्यहमुपवासः, मासातिक्रमे द्वादशाहमुपवासः, संवत्सरातिक्रमे मासोपवासः पयोभक्षणं वा' इति । संवत्सरादूर्ध्वं तु वृद्धहारीतेन विशेष उक्तः—'संवत्सरोत्सन्नेऽग्निहोत्रे चांद्रायणं कृत्वा पुनरादध्यात् । द्विवर्षोत्सन्ने चांद्रायणं सोमायनं च कुर्यात् । त्रिवर्षोत्सन्ने संवत्सरं कृच्छ्रमभ्यस्य पुनरादध्यात्' इति । सोमायनं च कृच्छ्रकाण्डे वक्ष्यते । शङ्खेनापि विशेष उक्तः—'अभ्युत्सादी संवत्सरं प्राजापत्यं चरेद्गां च दद्यात्' इति ॥ सुतत्यागे वन्धुत्यागे च त्रैमासिकं गोवधव्रतं कामतः । अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं व्रतचतुष्टयं शक्त्याद्यपेक्षया योज्यम् ॥ द्रुमच्छेदे प्रायश्चित्तं प्रागुक्तम् । स्त्रीप्राणिवधवशीकरणादिभिर्जीवने तिलेक्षुयन्त्रप्रवर्तने च तान्येव प्रायश्चित्तानि तथैव योज्यानि । व्यसनेषु च द्यूतमृगयादिषु तान्येव व्रतानि तथैव योज्यानि । यत्तु बौधायनेन—'अथाशुचिकराणि द्यूतमभिचारोऽनाहिताग्नेरुञ्छवृत्तिः समावृत्तस्य च भैक्षचर्या तस्य च गुरुकुले वास ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो यश्च तमध्यापयति नक्षत्रनिर्देशनं चेति द्वादशमासान्द्वादशार्धमासान्द्वादशाहान्द्वादशषडहान्द्वादशत्र्यहांश्च त्र्यहमेकाहमित्यशुचिकरनिर्देशः' इति द्यूते वार्षिकव्रतमुक्तं,—तदभ्यासविषयम् । यत्तु प्रचेतसोक्तम्—'अनृतवाक् तस्करो राजभृत्यो वृक्षारोपकवृत्तिर्गरदोऽग्निदोऽश्वरथगजारोहणवृत्ती रङ्गोपजीवी श्वागणिकः शूद्रोपाध्यायो वृषलीपतिर्भाण्डिको नक्षत्रोपजीवी श्ववृत्तिर्ब्रह्मजीवी चिकित्सको देवलकः पुरोहितः कितवो मद्यपः कूटकारकोऽपत्यविक्रयी मनुष्यपशुविक्रेता चेति तानुद्धरेत्समेत्य न्यायतो ब्राह्मणव्यवस्थया सर्वद्रव्यत्यागे चतुर्थकालाहाराः संवत्सरं त्रिषवणमुपस्पृशेयुस्तस्यान्ते देवपितृतर्पणं गवाह्निकं चेत्येवं व्यवहार्या ।' इति,—तदपि वौधायनेन समानविषयम् । श्वागणिको यः श्वगणेन जीवति । भाण्डिको बन्दिव्यतिरिक्तो राज्ञां तूर्यादिस्वनैः प्रबोधयिता; वन्दिनः पृथगुपादानात् । श्ववृत्तिः सेवकः, ब्रह्मजीवी ब्राह्मणकार्येषु मूल्येन परिचारकः । मनूक्तान्यप्यपाङ्क्त्यप्रायश्चित्तानि 'षष्ठान्नकालता मासम्' (११।२००) इत्यादीन्यपि जात्याद्यपेक्षया योज्यानि; तदुक्तापाङ्क्त्यमध्येऽपि कितवादिव्यसनिनां पठितत्वात् । आत्मविक्रये शूद्रसेवायां च सामान्यप्रायश्चित्तानि प्राग्वदेव योज्यानि ॥ यत्तु वौधायनेनोक्तम्—'समुद्रयानं ब्राह्मणस्य न्यासापहरणं सर्वापण्यैर्व्यवहरणं भूम्यनृतं शूद्रसेवा यश्च शूद्रायामभिजायते, तदपत्यं च भवति तेषां तु निर्देशः 'चतुर्थकालं सितभोजिनः स्युरपोऽभ्युपेयुः सवनानुकल्पम् । स्थानासनाभ्यां विहरन्त एतैस्त्रिवर्षैस्तदपहरन्ति पापम् ॥' इति,—तद्वहुकालसेवाविषयम् ॥ हीनजातिभिः सख्ये तूपपातकसामान्यप्रायश्चित्तान्येव ॥ यत्तु प्रचेतसोक्तम्—'मित्रभेदनकरणादहोरात्रमनश्नन् हुत्वा पयः पिवेत्' इति,—तदहीनसख्यभेदनविषयम् ॥ हीनयोनिनिषेवणेऽप्युपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि योज्यानि ॥ यत्तु शातातपेनोक्तम्—'ब्राह्मणो राजकन्यापूर्वां कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत्तां चोपयच्छेत्, वैश्यापूर्वां तु तप्तकृच्छ्रं शूद्रापूर्वां तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रं राजन्यश्चे-

द्वैश्यापूर्वां कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत्तां चोपयच्छेत्, शूद्रापूर्वां त्वतिकृच्छ्रं, वैश्यश्चेच्छूद्रापूर्वां त्वतिकृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा तां चोपयच्छेत्' इति, तत्र निविशेत्तां चोपयच्छेदिति कृच्छ्रानुष्ठानोत्तरकालं सवर्णापरिणयनादूर्ध्वं तां च राजन्यादिकामुपयच्छेदित्यर्थः ।–इदं चाज्ञानविषयम् । ज्ञानतस्तूपपातकसामान्यप्रायश्चित्तं व्यवस्थितमेव द्रष्टव्यम् ।–साधारणस्त्रीसंभोगे च 'हीनयोनिनिषेवणम्' (प्रा० २४१) इत्युक्तं, तत्रापि 'पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते' इति संवर्तोक्तमकामतो द्रष्टव्यम् । कामतस्तु यमेनोक्तं द्रष्टव्यम्—'वेश्यागमनजं पापं व्यपोहन्ति द्विजातयः । पीत्वा सकृत्सकृत्तप्तं सप्तरात्रं कुशोदकम् ॥' इति । उपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि च कामाकामतोऽभ्यासापेक्षया योज्यानि । तत्र मत्याभ्यासे तु 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायात्प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकावृत्तौ प्रसक्तायां लौगाक्षिणा विशेष उक्तः—'अभ्यासेऽहर्गुणा वृद्धिर्मासादर्वाक् विधीयते । ततो मासगुणा वृद्धिर्यावत्संवत्सरं भवेत् ॥ ततः संवत्सरगुणा यावत्पापं समाचरेत् ॥' इति ।–इदं मतिपूर्वविषयम् । अमतिपूर्वावृत्तौ तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—'सकृत्कृते तु यत्प्रोक्तं त्रिगुणं तत्त्रिभिर्दिनैः । मासात्पञ्चगुणं प्रोक्तं षण्मासाद्दशधा भवेत् ॥ संवत्सरात्पञ्चदशं त्र्यब्दाद्विंशगुणं भवेत् । ततोऽप्येवं प्रकल्प्यं स्याच्छातातपवचो यथा ॥' इति ॥ यत्पुनः 'विधेः प्राथमिकादस्मात् द्वितीये द्विगुणं चरेत्' इति प्रतिनिमित्तमावृत्तिविधायकं,–तन्महापातकविषयमित्युक्तं प्राक् । यत्तु यमेन साधारणस्त्रीगमनमधिकृत्य गुरुतल्पव्रतमतिदिष्टम् 'गुरुतल्पव्रतं केचित्केचिच्चान्द्रायणव्रतम् । गोघ्नस्येच्छन्ति केचित्तु केचिदेवावकीर्णिनः ॥' इति ।–एतच्च जन्मप्रभृतिसानुबन्धानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । अनन्तरं 'तथैवानाश्रमे वासः' (प्रा० २४१) इत्युक्तं तत्र हारीतेन विशेष उक्तः—'अनाश्रमी संवत्सरं प्राजापत्यं कृच्छ्रं चरित्वाश्रममुपेयात् । द्वितीयेऽतिकृच्छ्रं तृतीये कृच्छ्रातिकृच्छ्रमत ऊर्ध्वं चान्द्रायणम्' इति ।–एतदसंभवविषयम् । संभवे तु सामान्येनोपपातकप्रायश्चित्तानि कामाकामतो व्यवस्थापनीयानि । परपाकरुचित्वासच्छास्त्राधिगमनाकराधिकारभार्याविक्रयेषु च मनुयोगीश्वरप्रतिपादितोपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया व्यवस्थापनीयानि ॥ २८८ ॥

व्रात्य (पतितसावित्रीक) का यज्ञ कराने वाला और अभिचार करने वाला तीन कृच्छ्र व्रतों को (अपनी शुद्धि के लिये) करे। अपने वेद का विप्लावन करने वाला (पर्व में या चाण्डालादि के सामने या अनध्याय में पढ़ने वाला) तथा शरणागत का (समर्थ होने पर भी) त्याग करने वाला वर्षभर जौ का भात खाकर शुद्ध होता है ॥२८८ ॥

'भार्याया विक्रयश्चैषाम्' (प्रा० २४२) इत्यत्र 'च'शब्दो मन्वाद्युक्तासत्प्रतिग्रहनिन्दितान्नादनादीनामुपलक्षणार्थमित्युक्तम् । तत्रासत्प्रतिग्रहे प्रायश्चित्तविशेषमाह—

गोष्ठे वसन्ब्रह्मचारी मासमेकं पयोव्रतः ।
गायत्रीजाप्य[1]निरतः[2] शुद्ध्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ २८९ ॥

यस्त्वसत्प्रतिग्रहं निषिद्धप्रतिग्रहं करोति स ब्रह्मचर्ययुक्तो **गोष्ठे वसन् गायत्री जाप्यनिरतो** गायत्रीजपशीलो **मासं पयोव्रतेन शुद्ध्यतीति** । प्रतिग्रहस्य चासत्त्वं दातुर्जातिकर्मनिबन्धनं यथा चाण्डालादेः पतितादेश्च । तथा देशकालनिबन्धनं च यथा कुरुक्षेत्रोपरागादौ तथा प्रतिग्राह्यद्रव्यनिबन्धनं च यथा सुरामेषीमृतशय्योभयतोमुख्यादेः ॥ यदा तु पतितादेर्मेष्यादिकं प्रतिगृह्णाति, तदैतद्गुरुप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्; व्यतिक्रमद्वयदर्शनेन निमित्तस्य गुरुत्वात् । तत्र जपे मनुना संख्याविशेष उक्तः (११।१९४)—'जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः । मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥' इति प्रत्यहं त्रिसहस्रजपो द्रष्टव्यः; 'मासम्' इति द्वितीयया त्रिसहस्रसंख्याकस्य जपस्य प्रतिदिवसव्यापित्वावगमात् । यदा तु न्यायवर्तिब्राह्मणादेः सकाशान्निषिद्धं मेषादिकं गृह्णाति, पतितादेर्वा भूम्यादिकमनिषिद्धं तदा षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम्—'पवित्रेष्ट्या विशुद्ध्यन्ति सर्वे घोराः प्रतिग्रहाः । ऐन्दवेन मृगारेष्ट्या कदाचिन्मित्रविन्दया ॥ देव्या लक्षजपेनैव शुद्ध्यन्ते दुष्प्रतिग्रहात् ॥' इति । यत्तु बृहद्धारीतवचनम्—'राज्ञः प्रतिग्रहं कृत्वा मासमप्सु सदा वसेत् । षष्ठे काले पयोभक्षः पूर्णे मासे विशुद्ध्यति ॥ तर्पयित्वा द्विजान्कामैः सततं नियतव्रतः ॥' इति,—तत्पूर्वोक्तविषयेऽभ्यासे द्रष्टव्यम् । अथवा,—पतितादेः कुरुक्षेत्रोपरागादौ कृष्णाजिनादिप्रतिग्रहविषयम् । तथा प्रतिग्राह्यद्रव्याल्पतया प्रायश्चित्ताल्पत्वम् । यथाह हारीतः—'मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टसहस्रं जपेत्' इति । तथा षट्त्रिंशन्मतेऽपि—'भिक्षामात्रं गृहीते तु पुण्यं मन्त्रमुदीरयेत् । प्रतिग्रहेषु सर्वेषु षष्ठमंशं प्रकल्पयेत् ॥' इतीदं च प्रायश्चित्तजातं द्रव्यत्यागोत्तरकालं द्रष्टव्यम् । (११।१९३)—यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् । तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥' इति मनुस्मरणात् । एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यानि द्रव्यसाराल्पत्वमहत्त्वाभ्यां विषयेषु व्यवस्थापनीयानि ॥

इत्युपपातकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

जात्याश्रयादिदोषेण निन्द्यान्नादेश्च शब्दतः ।
योगीन्द्रोक्तव्रतव्रातः सांप्रतं तु प्रतन्यते ॥

तत्र जातिदुष्टपलाण्ड्वादिभक्षणे कामतः सकृत्कृते 'पलाण्डुं विड्वराहं च' (आ० १७६) इत्यादिना चान्द्रायणमुक्तम् । कामतोऽभ्यासे तु 'निषिद्धभक्षणं जैह्म्यं' (प्रा०२२९) इत्यादिनोक्तं सुरापानसमप्रायश्चित्तम् । अकामतः सकृद्भक्षणे सान्तपनम् । तत्रैवाभ्यासे यतिचान्द्रायणम् ।—'अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं

सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः' (५।२०) इति मनुस्मरणात् । यत्तु वृहद्यमेनोक्तम्—'खड्गवार्ताककुम्भीकव्रश्चनप्रभवाणि च । भूतृणं शिग्रुकं चैव खुखुण्डं कवकानि च ॥ एतेषां भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं चरेद्द्विजः ॥' इति, तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । 'मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्र्यहं क्षिपेत्' इति योगीश्वरेण कामतः सकृद्भक्षणे त्र्यहस्योक्तत्वात् । खड्गाख्यः पक्षी । कुसुम्भमित्यन्ये । कवकं राजसर्षपाख्यं शाकम् । खुखुण्डं तद्विशेषो गोबलीवर्दन्यायेन निर्दिष्टः । यत्तु यमेनोक्तम्—'तन्दुलीयककुम्भीकव्रश्चनप्रभवांस्तथा । नालिकां नारिकेलीं च श्लेष्मातकफलानि च ॥ भूतृणं शिग्रुकं चैव खड्गाख्यं कवकं तथा । एतेषां भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं व्रतं चरेत् ॥' इति,–तदपि मतिपूर्वाभ्यासविषयम् । नालिका नारिकेली च शाकविशेषौ । खड्गाख्यश्च । अकामतः सकृद्भक्षणे तु 'शेषेषूपवसेदहः' (५।२०) इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् । तत्रैवाभ्यासे त्वावृत्तिः कल्प्या । अत्यन्ताभ्यासे तु—'संसर्गदुष्टं यच्चान्नं क्रियादुष्टमकामतः । भुक्त्वा स्वभावदुष्टं च तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥' इति प्रचेतोभिहितं द्रष्टव्यम् । नील्यास्त्वकामतः सकृद्भक्षणे चान्द्रायणम्—'भक्षयेद्यदि नीलीं तु प्रमादाद्ब्राह्मणः क्वचित् । चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यादापस्तम्बोऽब्रवीन्मुनिः ॥' इति आपस्तम्बस्मरणात् । कामतोऽभ्यासे चावृत्तिः कल्प्या ॥ यदपि षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'शणपुष्पं शाल्मलं च करनिर्मथितं दधि । बर्हिर्वेदिपुरोडाशं जग्ध्वा नाद्यादहर्निशम् ॥' इति,–तदप्यकामविषयम् । यत्तु सुमन्तुनोक्तम्—'लशुनपलाण्डुगृञ्जनकवकभक्षणे सावित्र्यष्टसहस्रेण मूर्ध्नि संपातान्नयेत्' इति,–तद्बलात्कारेणानिच्छतो भक्षणविषयम् । तदेकसाध्यव्याध्युपशमार्थे वा भक्षणे द्रष्टव्यम् । अत एवानन्तरं तेनैवोक्तम्—'एतान्येव व्याधितस्य भिषक्क्रियायामप्रतिषिद्धानि भवन्ति । यानि चैवंप्रकाराणि तेष्वपि न दोषः' इति । संपातान्नयेदुदकबिन्दून्प्रक्षिपेत् ॥

अथ जातिदुष्टसंधिन्यादिक्षीरपाने प्रायश्चित्तम् । तत्र चाकामतः सकृत्पाने (५।८-१०)—'अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमेकशफं तथा । आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना । स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्' इत्युक्त्वा 'शेषेषूपवसेदहः' (५।२०) इति मनूक्त उपवासो द्रष्टव्यः । कामतस्तु योगीश्वरोक्तत्रिरात्रोपवासो द्रष्टव्यः ॥ यत्तु पैठनसिनोक्तम्—'अविखरोष्ट्रमानुषीक्षीरप्राशने तप्तकृच्छ्रः पुनरुपनयनं च । अनिर्दशाहगोमहिषीक्षीरप्राशने षड्रात्रमभोजनम् । सर्वासां द्विस्तनीनां क्षीरपानेऽप्यजावर्जमेतदेव' इति । यच्च शङ्खेन—'क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः । सप्तरात्रव्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः ॥' इति यावकव्रतमुक्तं, तदुभयमपि कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु शङ्खेन—संधिन्यमेध्यभक्षयोः क्षीरप्राशने पक्षव्रतमुक्तम्—'संधिन्यमेध्यभक्षयोर्भुक्त्वा पक्षव्रतं चरेत् इति,–तदप्यभ्यासविषयम् । 'सकृत्पाने

गोऽजामहिषीवर्ज्यं सर्वाणि पयांसि प्राश्योपवसेत् । अनिर्दशाहं तान्यपि संधिनीयमसूस्यन्दिनीविवत्साक्षीरं चामेध्यभुजश्च' इति विष्णुनोपवासस्योक्तत्वात् । तथा वर्णनिबन्धनश्च प्रतिषेधः—'क्षत्रियश्चापि वृत्तस्थो वैश्यः शूद्रोऽथवा पुनः । यः पिबेत्कपिलाक्षीरं न ततोऽन्योऽस्त्यपुण्यकृत् ॥' इत्येवमादौ च यत्र प्रतिपदोक्तं प्रायश्चित्तं न दृश्यते तत्र 'शेषेषूपवसेदहः' इति (५।२०) साधारणप्रायश्चित्तं मनूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

अथ स्वभावदुष्टमांसादिभक्षणे प्रायश्चित्तमुक्तम् । तत्र कामतः सकृद्भक्षणे 'शेषेषूपवसेदहः' इति मनूक्तं साधारणं प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । कामतस्तु—'चाषांश्च रक्तपादांश्च सौनं वल्लूरमेव च । मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्र्यहं वसेत् ॥' इति योगीश्वरोक्तं द्रष्टव्यम् । कामतोऽभ्यासे तु (११।१५२)—'जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं तु सप्त[2]रात्रं यवान्पिबेत्' इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् । इदं च विड्सूकरादिमांसव्यतिरिक्तविषयम् (११।१५६)—'क्रव्याद्विड्सूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे । नरकाकखरा[3]श्वानां तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥' इति मनुना जातिविशेषेण प्रायश्चित्तविशेषस्योक्तत्वात् । एतन्मूत्रपुरीषप्राशनेऽप्येतदेव ।—'वराहैकशफानां च च काककुक्कुटयोस्तथा । क्रव्यादानां च सर्वेषामभक्ष्या ये च कीर्तिताः ॥ मांसमूत्रपुरीषाणि प्राश्य गोमांसमेव च । श्वगोमायुकपीनां च तप्तकृच्छ्रं विधीयते ॥ उपोष्य वा द्वादशाहं कूष्माण्डैर्जुहुयाद्धृतम् ॥' इति वृद्धयमस्मरणात् । तत्र कामतस्तप्तकृच्छ्रः, अभ्यासे तु कूष्माण्डसहितः पराक इति व्यवस्था ॥ तथा प्रचेतसाप्युक्तम्—'श्वसृगालकाककुक्कुटपार्षतवानरचित्रकचाषक्रव्यादखरोष्ट्रगजवाजिविड्वराहगोमानुषमांसभक्षणे तप्तकृच्छ्रमादिशेदेषां मूत्रपुरीषभक्षणे त्वतिकृच्छ्रम्' इति ।–इदं च कामकारविषयम् । यत्तूशनसो वचनम्—'नरमांसं श्वमांसं वा गोमांसं चाश्वमेव च । भुक्त्वा पञ्चनखानां च महासान्तपनं चरेत् ॥' इति,–तदकामविषयम् ॥ यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'बलाकाभासगृध्राखुखरवानरसूकरान् । दृष्ट्वा चैषाममेध्यानि स्पृष्ट्वाचम्य विशुद्ध्यति ॥ इच्छयैषाममेध्यानि भक्षयित्वा द्विजातयः । कुर्युः सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥' इति,–तद्भक्षितोद्गारितविषयम् । 'सान्तपन'शब्देन चात्र महासान्तपनमुच्यते । अकामतः प्राजापत्यविधानात् । यत्पुनरङ्गिरोवचनम्—'नरकाकखराश्वानां जग्ध्वा मांसं गजस्य च । एषां मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । यच्च वृद्धयमेनोक्तम्—'शुष्कमांसाशने विप्रो व्रतं चान्द्रायणं चरेत्' इति । तदुभयमपि कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्पुनः शङ्खेनोक्तम्—'भुक्त्वा चोभयतो दंतांस्तथा चैकशफानपि । औष्ट्रं गव्यं तथा जग्ध्वा षण्मासान्व्रतमाचरेत् ॥' इति,–तत्कामतोऽत्यन्ताभ्यासविषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरोक्तम्—'जग्ध्वा मांसं नराणां च विड्वराहं खरं तथा । गवाश्वकुञ्जरोष्ट्राणां सर्वं पाञ्चनखं तथा । क्रव्यादं कुक्कुटं ग्राम्यं कुर्यात्संवत्सर-

व्रतम् ॥' इति,–तदत्यन्तानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । अत्र प्रकरणे 'मूत्रपुरीष'ग्रहण वसाशुक्रासृङ्मज्जानामुपलक्षणम् । कर्णविट्प्रभृतिमलषट्के त्वर्धं कल्पनीयम् ॥

केशादिषु पुनः षट्त्रिंशन्मते विशेष उक्तः—'अजाविमहिषमृगाणां आममांसभक्षणे केशनखरुधिरप्राशने बुद्धिपूर्वे त्रिरात्रमज्ञानादुपवास' इति । यत्तु प्रचेतसोक्तम्–'नखकेशमृल्लोष्टभक्षणेऽहोरात्रमभोजनाच्छुद्धिः' इति,–तदप्यकामतः सकृत्प्राशनविषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरवचनम्—'केशकीटनखं प्राश्य मत्स्यकण्टकमेव च । हेमतप्तं घृतं पीत्वा तत्क्षणादेव शुद्ध्यति ॥' इति,–तन्मुखमात्रप्रवेशविषयम् ॥ यदा तु भाजनस्थमन्नं केशादिदूषितं भवति तदा—'अन्ने भोजनकाले तु मक्षिकाकेशदूषिते । अनन्तरं स्पृशेदापस्तच्चान्नं भस्मना स्पृशेत् ॥' इति प्रचेतसाभिहितं वेदितव्यम् । प्रासङ्गिकोऽयं श्लोकः ॥ सूक्ष्मतरकृमिकीटास्थिभक्षणे पुनर्हारीतेन विशेष उक्तः—'कृमिकीटपिपीलिकाजलौकःपतङ्गास्थिप्राशने गोमूत्रगोमयाहारस्त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति' इति । जलौको मत्स्यादिः । एवं च पशुपतत्रिजलचरनरमांसादिप्राशने संक्षेपतः प्रायश्चित्तानि प्रदर्शितानि, ग्रन्थगौरवभयात्प्रतिव्यक्तिर्न लिख्यते ॥

अथाशुचिसंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तं तत्र तावदुच्छिष्टाभक्ष्यभक्षणे वक्ष्यते । तत्र मनुः । (११।१५९)—'बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति कालविशेषानुपादानादेकरात्रम् । इदं च कामतो द्रष्टव्यम् । यत्तु विष्णुनोक्तम्—'पक्षिश्वापदजग्धस्य रसस्यान्नस्य भूयसः । संस्काररहितस्यापि भोजने कृच्छ्रपादकम् ॥' इति,–तत्कामकारविषयम् । संस्कारश्च 'देवद्रोण्या'मित्यादिना द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तो द्रष्टव्यः । यत्तु शातातपेनोक्तम्–'श्वकाकाद्यवलीढशूद्रोच्छिष्टभोजने त्वतिकृच्छ्रम्' इति,–तदकामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु शङ्खेन—'शुनामुच्छिष्टकं भुक्त्वा मासमेकं व्रती भवेत् । काकोच्छिष्टं गवा घ्रातं भुक्त्वा पक्षं व्रती भवेत् ॥' इति यावकव्रतमुक्तं,–तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । ब्राह्मणाद्युच्छिष्टभोजने तु बृहद्विष्णुनोक्तं—'ब्राह्मणः शूद्रोच्छिष्टाशने सप्तरात्रं पञ्चगव्यं पिबेत्,–वैश्योच्छिष्टाशने पञ्चरात्रं राजन्योच्छिष्टाशने त्रिरात्रं ब्राह्मणोच्छिष्टाशने त्वेकाहम्' इति,–तत्कामकारविषयम् । यत्तु यमवचनम्—'भुक्त्वा सह ब्राह्मणेन प्राजापत्येन शुद्ध्यति । भूभुजा सह भुक्त्वान्नं तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥ वैश्येन सह भुक्त्वान्नमतिकृच्छ्रेण शुद्ध्यति । शूद्रेण सह भुक्त्वान्नं चान्द्रायणमथाचरेत् ॥' इति,–तत्कामतोऽभ्यासविषयम् ॥ यत्पुनः शङ्खवचनम्–'ब्राह्मणोच्छिष्टाशने महाव्याहृतिभिरभिमन्त्र्यापः पिबेत्, क्षत्रियोच्छिष्टाशने ब्राह्मीरसविपक्वेन त्र्यहं क्षीरेण वर्तयेत्, वैश्योच्छिष्टाशने त्रिरात्रोपोषितो ब्राह्मीं सुवर्चलां पिबेत्, शूद्रोच्छिष्टभोजने षड्रात्रमभोजनम्' इति,–तदकामविषयम् । तत्राभ्यासे द्वैगुण्यादिकं कल्प्यम् । एतच्च पित्रादिव्यतिरेकेण; 'पितुर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोज्यम्'(४।११) इत्यापस्तम्बस्मरणात् । यत्तु वृद्धव्यासवचनम्—'माता वा भगिनी

वापि भार्या वाऽन्याश्च योषितः । न ताभिः सह भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,–तत्सहभोजनविषयम् । उच्छिष्टमात्रभोजने तु 'शूद्रोच्छिष्टभोजने सप्तरात्रमभोजनं स्त्रीणां च' (१।२६।४-५) इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'ब्राह्मण्या सह योऽश्नीयादुच्छिष्टं वा कदाचन । तत्र दोषं न मन्यन्ते सर्वे एव मनीषिणः ॥' इति,–तद्विवाहविषयमापद्विषयं वा । अन्त्योच्छिष्टभोजने तु—'अन्त्यानां भुक्तशेषं तु भक्षयित्वा द्विजातयः । चान्द्रं कृच्छ्रं तदर्धं च ब्रह्मक्षत्रविशां विधिः ॥' इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । अत्र चान्द्रं चान्द्रायणम् । अन्तेवसाय्युच्छिष्टभोजने तु—'चाण्डालपतितादीनामुच्छिष्टान्नस्य भक्षणे । चान्द्रायणं चरेद्विप्रः क्षत्रः सान्तपनं चरेत् ॥ षड्रात्रं च त्रिरात्रं च वर्णयोरनुपूर्वशः ॥' इत्यङ्गिरोभिहितं सान्तपनमत्र महासान्तपनं द्रष्टव्यम् । आपदि तु—'आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि । मनस्तापेन शुद्ध्येत्तु द्रुपदानां शतं जपेत् ॥' इति पराशरोक्तं वेदितव्यम् ॥ यत्तु बृहच्छातातपेनोक्तम्—'पीतशेषं तु यत्किञ्चिद्भाजने मुखनिःसृतम् । अभोज्यं तद्विजानीयाद्भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,–तदभ्यासविषयम्; निमित्तस्यातिलघुत्वात् ।—'पीतोच्छिष्टं च पानीयं पीत्वा तु ब्राह्मणः क्वचित् । त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याद्वामहस्तेन वा पुनः ॥' इति,–एतद्बुद्धिपूर्वविषयम् । अकामतस्त्वर्धं कल्प्यम् । दीपोच्छिष्टे तु—'दीपोच्छिष्टं तु यत्तैलं रात्रौ रथ्याहृतं च यत् । अभ्यङ्गाच्चैव यच्छिष्टं भुक्त्वा नक्तेन शुद्ध्यति ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् ॥

अथाशुचिद्रव्यसंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्राह संवर्तः—'केशकीटावपन्नं च नीलीलाक्षोपघातितम् । स्नाय्वस्थिचर्मसंस्पृष्टं भुक्त्वा तूपवसेदहः ॥' इति । तथाह शातातपः—'केशकीटावपन्नं च रुधिरमांसास्पृश्यस्पृष्टभ्रूणघ्नावेक्षितपतत्र्यवलीढश्वसूकरगवाघ्रातशुक्तपर्युषितवृथापक्वदेवान्नहविषां भोजने उपवासः पञ्चगव्याशन च ॥' इति,–एतच्चोभयमपि अकामविषयम् । कामतस्तु 'मृद्वारिकुसुमादींश्च फलकन्देक्षुमूलकान् । विण्मूत्रदूषितान्प्राश्य कृच्छ्रपादं समाचरेत् ॥ संनिकृष्टेऽर्धमेव स्यात्कृच्छ्रः स्याच्छुचिशोधनम् ॥' इति विष्णूक्तं वेदितव्यम् । अल्पसंसर्गे पादो महासंसर्गेऽर्धकृच्छ्र इति व्यवस्था । यत्तु व्यासेनोक्तम्—'संसर्गदुष्टं यच्चान्नं क्रियादुष्टं च कामतः । भुक्त्वा स्वभावदुष्टं च तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥' इति, एतच्च संसृष्टामेध्यादिरसोपलब्धौ वेदितव्यम् । रजस्वलादिस्पर्शे तु शङ्खोक्तम्–'अमेध्यपतितचाण्डालपुल्कसरजस्वलावधूतकुणिकुष्ठिकुनखिसंस्पृष्टानि भुक्त्वा कृच्छ्रं चरेत्' इति । कुणिर्हस्तविकलः ।–एतत्कामकारविषयम् । अकामतोऽर्धम् । 'भुक्त्वास्पृश्यैस्तथाशौचिकेशकीटैश्च दूषितम् । कुशोदुम्बरबिल्वाद्यैः पनसाम्बुजपत्रकैः । शङ्खपुष्पीसुवर्चादिक्वाथं पीत्वा विशुद्ध्यति ॥' इति यद्विष्णुनोक्तं,–तदशक्तविषयं, रजकादिस्पृष्टविषयं वा । शूद्राद्युपहते तु हारीतोक्तं विज्ञेयम्—'शूद्रेणोपहतं भोज्यं कीटैर्वाऽमेध्यसेविभिः । भुञ्जानेषु वा यत्र शूद्र उपस्पृशेदनर्हत्वात्स पङ्क्तौ

तु भुञ्जानेषु वा यत्रोत्थायोच्छिष्टं प्रयच्छेदाचामेद्वा कुत्सित्वा वा यत्रान्नं दद्युस्तत्र प्रायश्चित्तमहोरात्रम्' इति। उच्छिष्टपङ्क्तिभोजनेऽप्येतदेव—'यस्तु भुङ्क्ते द्विजः पङ्क्त्यामुच्छिष्टायां कदाचन। अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्धयति॥' इति क्रतुस्मरणात्। वामकरनिर्मुक्तपत्रभोजने तु—'समुत्थितस्तु यो भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते मुक्तभाजने। एवं वैवस्वतः प्राह भुक्त्वा सान्तपनं चरेत्॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं वेदितव्यम्[१]॥ तथा पराशरेणाप्यत्रोक्तम्—'एकपङ्क्त्युपविष्टानां विप्राणां सहभोजने। यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषमन्नं न भोजयेत्॥ मोहाद्भुञ्जीत यस्तत्र पङ्क्त्यामुच्छिष्टभोजनः। प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं सान्तपनं तथा॥' इति॥ शवादिसंपृक्त[२]कूपाद्युदकपाने तु विष्णुराह—'मृतपञ्चनखात्कूपादत्यन्तोपहताद्वोदकं पीत्वा ब्राह्मणस्त्र्यहमुपवसेत् द्व्यहं राजन्य एकाहं वैश्यः शूद्रो नक्तं सर्वे चान्ते पञ्चगव्यं पिबेयुः' इति। अत्यन्तोपहताद्वेति मूत्रपुरीषादिभिर्वै[३]त्यभिप्रेतम्। यदा तु तत्रैव शवमुच्छूनं[४]तयोद्भिन्नं भवति तदा हारीतो विशेषमाह—'क्लिन्ने भिन्ने शवे तोयं तत्रस्थं यदि चेत्पिबेत्। शुद्ध्यै चान्द्रायणं कुर्यात्तप्तकृच्छ्रमथापि वा॥ यदि कश्चित्ततः स्नायात्प्रमादेन द्विजोत्तमः। जपंस्त्रिषवणस्नायी अहोरात्रेण शुद्धयति॥' इति। इद चान्द्रायणं कामतो मानुषशवोपहतकूपजलपानविषयम्। अकामतस्तु षड्रात्रम्—'क्लिन्नं भिन्नं शवं चैव कूपस्थं यदि दृश्ये[५]ते। पयः पिबेत्त्रिरात्रेण मानुषे द्विगुणं स्मृतम्॥' इति देवलस्मरणात्। यदा चाण्डालकूपादिगतं जलं पिबति तदापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्—'चाण्डालकूपभाण्डस्थं नरः कामाज्जलं पिबेत्। प्रायश्चित्तं कथं तत्र वर्णे वर्णे विनिर्दिशेत्॥ चरेत्सान्तपनं विप्रः प्राजापत्यं च भूमिपः। तदर्धं तु चरेद्वैश्यः शूद्रे पादं विनिर्दिशेत्॥' (२।३-५) इति।—इदं च कामकारविषयम्। अकामतस्तु—'चाण्डालकूपभाण्डस्थमज्ञानादुदकं पिबेत्। स तु त्र्यहेण शुद्ध्येत शूद्रस्त्वेकेन शुध्यति॥' इति देवलोक्तं द्रष्टव्यम्॥ चाण्डालादिसंबद्धाल्पजलाशयेष्वपि कूपवच्छुद्धिः—'जलाशयेष्वथाल्पेषु स्थावरेषु महीतले। कूपवत्कथिता शुद्धिर्महत्सु तु न दूषणम्॥' इति विष्णुस्मरणात्। पुष्करिण्यादिषु पुनः—'म्लेच्छादीनां जलं पीत्वा पुष्करिण्यां ह्रदेऽपि वा। जानुदघ्नं शुचि ज्ञेयमधस्तादशुचि स्मृतम्॥ तत्तोयं यः पिबेद्विप्रः कामतोऽकामतोऽपि वा। अकामान्नक्तभोजी स्यादहोरात्रं तु कामतः॥' इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्॥ रजकादिभाण्डगततोये तु—'भाण्डस्थमन्त्यजानां तु जलं दधि पयः पिबेत्। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव प्रमादतः॥ ब्रह्मकूर्चोपवासेन द्विजातीनां तु निष्कृतिः॥ शूद्रस्य चोपवासेन तथा दानेन शक्तितः॥' इति पराशरोक्तं वेदितव्यम्। कामतस्तु द्विगुणम्—'अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तडागा वाप्य एव वा। एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुद्धयति॥' इति आपस्तम्बोक्तमभ्यासविषयं वेदितव्यम्॥ यत्त्वापस्तम्बेन चण्डालकूपादिजलपाने पञ्चगव्यमात्रमुक्तम्—'प्रपास्वरण्ये घटके च सौरे द्रोण्यां जलं कोश[६]विनिर्गतं च। श्वपाकचण्डालपरिग्रहेषु पीत्वा जलं पञ्चगव्येन शुद्धयेत्॥'

इति, तदशक्तविषयम् । 'प्रपां गतो विना तोयं शरीरं यो निषिञ्चति । एकाहक्षपणं कृत्वा सचैलं स्नानमाचरेत् ॥ सुराघटप्रपातोये पीत्वा नान्यं जलं तथा । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्यं जलं पिबेत् ॥' इति ॥

अथ भावदुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्—भावदुष्टं च यद्वर्णत आकारतो वा विसदृशतया जुगुप्सितशारीरमलादिवासनां जनयति तदुच्यते । अरिप्रयुक्तगरलादिशङ्कायां वा । तत्र च पराशरः—'वाग्दुष्टं भावदुष्टं च भाजने भावदूषिते । भुक्त्वान्नं ब्राह्मणः पश्चात्त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥' इति । एतत्कामकारविषयम् । यत्तु गौतमेन भावदुष्टं केवलः इत्यादि प्राक्पञ्चनखेभ्यः पठित्वा प्रायश्चित्तमुक्तम्—'प्राक् पञ्चनखेभ्यश्छर्दनं घृतप्राशनं च' इति, तदकामविषयम् ॥ शङ्कायां तु—'शङ्कास्थाने समुत्पन्ने अभोज्याभक्ष्यसंज्ञिते । आहारशुद्धिं वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ अक्षारलवणां रूक्षां पिबेद्ब्राह्मीं सुवर्चलाम् । त्रिरात्रं शङ्खपुष्पीं वा ब्राह्मणः पयसा सह ॥ पलाशविल्वपत्राणि कुशान्पद्ममुदुम्बरम् । अपः पिबेत्क्वाथयित्वा त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥' इति वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । मनुनाप्यभोज्यभोजनशङ्कायामुक्तम् (५।२१)—'संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥' इति ॥

अथ कालदुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्—'कालदुष्टं च पर्युषितानिर्दशगोक्षीरादि । तत्र चाकामतः 'शेषेषूपवसेदहः' इति मनूक्तं वेदितव्यम् । कामतस्तु—'केवलानि च शुक्तानि तथा पर्युषितं च यत् । ऋजीषपक्वं भुक्त्वा च त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥' इति शङ्खोक्तं वेदितव्यम् । केवलान्यस्नेहोक्तानि । अनिर्दशगोक्षीरादिषु प्रायश्चित्तं प्राक् प्रदर्शितम् । नवोदकपाने तु पञ्चगव्यप्राशनम्—'शङ्खास्थिदन्तजैः पात्रैः शङ्खशुक्तिकपर्दकैः । पीत्वा नवोदकं चैव पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति वृहद्याज्ञवल्क्यस्मरणात् ॥ कामतस्तूपवासः कर्तव्यः—'काले नवोदकं शुद्धं न पिबेच्च त्र्यहं हि तत् । अकाले तु दशाहं स्यात्पीत्वा नाद्यादहर्निशम् ॥' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । ग्रहणकाले भोजने तु चान्द्रायणम्—'नवश्राद्धग्रामयाजकान्नसग्रहभोजने । नारीणां प्रथमे गर्भे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति शातातपस्मरणात् ॥ यदा तु सग्रहादन्यत्र निषिद्धकाले भुङ्क्ते, तदाह मार्कण्डेयः—'चन्द्रस्य यदि वा भानोर्यस्मिन्नहनि भार्गव । ग्रहणं तु भवेत्तस्मिन्न पूर्वं भोजनक्रियाम् ॥ नाचरेत्सग्रहे चैव तथैवास्तमुपागते । यावत्स्यान्नोदयस्तस्य नाश्नीयात्तावदेव तु ॥' तथा—'ग्रहणं तु भवेदिन्दोः प्रथमादधियामतः । भुञ्जीतावर्तनात्पूर्वं प्रथमे प्रथमादधः ॥' तथा—'अपराह्णे न मध्याह्ने सायाह्ने न तु सङ्गवे । भुञ्जीत सङ्गवे चेत्स्यान्न पूर्वं भोजनक्रिया ॥' (४।५५) इति । यच्च मनुनोक्तम्—'नाश्नीयात्संधिवेलायां नातिप्रगे नाति सायमित्येवमादि' । यच्च बृहच्छातातपेनोक्तम्—'धाना दधि च सक्तूंश्च श्रीकामो वर्जयेन्निशि । भोजनं तिलसंबद्धं स्नानं चैव विचक्षणः ॥' इत्येवमादिष्वनादिष्टप्रायश्चित्तेषु—'प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापप-

न्नुत्तये । उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥' इति योगीश्वरोक्तं प्राणायामशतं द्रष्टव्यम् ॥ अकामतस्तु 'शेषेषूपवसेदहः' (५।२०) इति मनूक्तोपवासो द्रष्टव्यः ॥

अथ गुणदुष्टशुक्तादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्र मनुः (११।१५३)—'शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वाऽमेध्यान्यपि द्विजः । तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥' इति अत्राकामतः 'शेषेषूपवसेदहः' इत्युपवासो द्रष्टव्यः । कामतस्तु—'केवलानि च शुक्तानि तथा पर्युषितं च यत् । ऋजीषपक्वं भुक्त्वा च त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥' इति शङ्खोक्तं द्रष्टव्यम् । एतच्चामलकादिफलयुक्तकाञ्जिकादिव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम्। 'कुण्डिका सफला येषु गृहेषु स्थापिता भवेत्। तस्यास्तु काञ्जिका ग्राह्या नेतरस्याः कदाचन ॥' इति स्मरणात् ॥ उद्धृतस्नेहादिषु तु 'उद्धृतस्नेहविलयनपिण्याकमथितप्रभृतीनि चात्तवीर्याणि नाश्नीयात्' इत्युक्त्वा 'प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छर्दने घृतप्राशनं च' इति गौतमोक्तं द्रष्टव्यम् । विलयनं घृतादिमलम् । अनाहुताद्यन्नभोजने तु लिखित आह—'तस्य चाग्नौ न क्रियते यस्य चान्नं न दीयते । न तद्भोज्यं द्विजातीनां भुक्त्वा चोपवसेदहः ॥ वृथा कृसरसंयावपायसापूपशष्कुलीः । आहिताग्निर्द्विजो भुक्त्वा प्राजापत्यं समाचरेत् ॥' इति ॥ अनाहिताग्नेस्तु 'शेषेषूपवसेदहः' इत्युपवासो द्रष्टव्यः ॥ भिन्नभाजनादिषु तु भोजने संवर्तेनोक्तम्—'शूद्राणां भाजने भुक्त्वा भुक्त्वा वा भिन्नभाजने । अहोरात्रोषितो भुक्त्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति । तथा स्मृत्यन्तरेऽप्युक्तम्—'वटार्काश्वत्थपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयोः । कोविदारकरञ्जेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । तथा—'पलाशपद्मपत्रेषु गृही भुक्त्वैन्दवं चरेत् । वानप्रस्थो यतिश्चैव लभते चान्द्रिकं फलम् ॥' इति ॥

अथ हस्तदानादिक्रियादुष्टाभोज्यभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्र पराशरः—'माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम् । हस्तदत्तानि भुक्त्वा तु दिनमेकमभोजनम् ॥' इति । कामतस्तु—'हस्तदत्तभोजने अब्राह्मणसमीपे भोजने दुष्टपङ्क्तिभोजने पङ्क्त्यग्रतो भोजनेऽभ्यक्तमूत्रपुरीषकरणे मृतसूतकशूद्रान्नभोजने शूद्रैः सह स्वप्ने त्रिरात्रमभोजनम्' इति हारीतोक्तं विज्ञेयम् । पर्यायान्नदानदुष्टे तु—'ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत् । द्वयमेतदभोज्यं स्याद्भुक्त्वा तूपवसेदहः ॥' इति वृद्धयाज्ञवल्क्योक्तमवगन्तव्यम् । शूद्रहस्तेन भोजने तु—'शूद्रहस्तेन यो भुङ्क्ते पानीयं वा पिबेत्क्वचित् । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति' इति क्रतूक्तं विज्ञेयम् । धमनदुष्टेऽपि—'आसनारूढपादो वा वस्त्रार्धप्रावृतोऽपि वा । मुखेन धमितं भुक्त्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥' इति तेनैवोक्तम् । पित्राद्युद्देशेन त्यक्तान्नभोजने तु 'भुङ्क्ते चेत्पार्वणश्राद्धे प्राणायामान्षडाचरेत् । उपवासस्त्रिमासादिवत्सरान्तं प्रकीर्तितः ॥ प्राणायामत्रयं वृद्धावहोरात्रं सपिण्डने । असरूपे स्मृतं नक्तं व्रतं पारणके तथा ॥ द्विगुणं क्षत्रियस्यैतत्त्रिगुणं वैश्यभोजने । साक्षाच्चतुर्गुणं ह्येतत्स्मृतं शूद्रस्य भोजने ॥ अतिथौ तिष्ठति द्वारि ह्यपः प्राश्नन्ति ये द्विजाः । रुधिरं तद्भवेद्वारि भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति

भारद्वाजोक्तमवगन्तव्यम् । हारीतेनाप्युक्तम्—'एकादशाहे भुक्त्वान्नं भुक्त्वा संचयने तथा । उपोष्य विधिवत्स्नात्वा कूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम् ॥'। इति । विष्णुनाप्युक्तम्—'प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं चाद्यमासिके । त्रैपक्षिके तदर्धं तु पञ्चगव्यं द्विमासिके ॥' इति ।–इदं चापद्विषयम् । अनापदि तु—'चान्द्रायणं नवश्राद्धे प्राजापत्यं तु मिश्रके । एकाहस्तु पुराणेषु प्राजापत्यं विधीयते ॥' इति हारीतोक्तं द्रष्टव्यम् । 'प्राजापत्यं तु मिश्रके' इत्येतदाद्यमासिकविषयं द्रष्टव्यम् । द्वितीयादिषु तु—'प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं चाद्यमासिके । त्रैपक्षिके तदर्धं स्यात्पादो द्वैमासिके तथा । पादोनकृच्छ्रमुद्दिष्टं षण्मासे च तथाब्दिके । त्रिरात्रं चान्यमासेषु प्रत्यहं चेदहः स्मृतम् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ क्षत्रियादिश्राद्धभोजने त्वनापदि तत्रैव विशेष उक्तः—'चान्द्रायणं नवश्राद्धे पराको मासिके स्मृतः । त्रैपक्षिके सान्तपनं कृच्छ्रं मासद्वये स्मृतम् ॥ क्षत्रियस्य नवश्राद्धे व्रतमेतदुदाहृतम् । वैश्यस्यार्धाधिकं प्रोक्तं क्षत्रियात्तु मनीषिभिः ॥ शूद्रस्य तु नवश्राद्धे चरेच्चान्द्रायणद्वयम् । सार्धं चान्द्रायणं मासे त्रिपक्षे त्वैन्दवं स्मृतम् ॥ मासद्वये पराकः स्यादूर्ध्वं सान्तपनं स्मृतम् ॥' इति । यत्तु शङ्खवचनम्—'चान्द्रायणं नवश्राद्धे पराको मासिके स्मृतः । पक्षत्रयेऽतिकृच्छ्रः स्यात्षण्मासे कृच्छ्र एव तु ॥ आब्दिके पादकृच्छ्रः स्यादेकाहः पुनराब्दिके । अत ऊर्ध्वं न दोषः स्याच्छङ्खस्य वचनं यथा ॥' इति, तत्सर्पादिहतविषयम्; 'ये स्तेनाः पतिताः क्लीवा' इत्याद्यपाङ्क्तेयविषयं वा ॥ 'चाण्डालादुदकात्सर्पाद्ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि । दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मणाम् ॥ पतनानाशकैश्चैव विषोद्बन्धनकैस्तथा । भुक्त्वैषां षोडशश्राद्धे कुर्यादिन्दुव्रतं द्विजः ॥' इति, तथा—'अपाङ्क्तेयान्यदुद्दिश्य श्राद्धमेकादशेऽहनि । ब्राह्मणस्तत्र भुक्त्वान्नं शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥' इति, 'आमश्राद्धे तथा भुक्त्वा तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यति । संकल्पिते तथा भुक्त्वा त्रिरात्रं क्षपणं भवेत् ॥' इति भरद्वाजेन गुरुप्रायश्चित्ताभिधानात् ॥

ब्रह्मचारिणस्तु वृहद्यमो विशेषमाह—'मासिकादिषु योऽश्नीयादसमाप्तव्रतो द्विजः । त्रिरात्रमुपवासोऽस्य प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' इति ।–इदमज्ञानविषयम् । कामतोऽपि स एवाह—'मधु मांसं च योऽश्नीयाच्छ्राद्धे सूतक एव वा । प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥' इति । आमश्राद्धे तु सर्वत्रार्धम्—'आमश्राद्धे तदर्धं तु प्रायश्चित्तं तु सर्वदा' इति षट्त्रिंशन्मतेऽभिधानात् । यत्तूशनसोक्तम्—'दशकृत्वः पिबेच्चापो गायत्र्या श्राद्धभुग्द्विजः । ततः संध्यामुपासीत शुद्ध्येत्तु तदनन्तरम् ॥' इति,–तदनुक्तप्रायश्चित्तश्राद्धविषयम् ॥ संस्काराङ्गभूतश्राद्धभोजने तु व्यासेन विशेष उक्तः—'निर्वृत्तचूडाहोमे तु प्राङ्नामकरणात्तथा । चरेत्सान्तपनं भुक्त्वा जातकर्मणि चैव हि ॥ अतोऽन्येषु तु भुक्त्वान्नं संस्कारेषु द्विजोत्तमः । नियोगादुपवासेन शुद्ध्यते निन्द्यभोजने ॥' इति ॥ सीमन्तोन्नयनादिषु पुनर्धौम्यो विशेषमाह—'ब्रह्मौदने च सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा । जातश्राद्धे नवश्राद्धे द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । अत्र ब्रह्मौदनाख्यं कर्माधानाङ्गभूतं; सोमसाहचर्यात् ॥

अथ परिग्रहाभोज्यभोजने प्रायश्चित्तम्—'यत्स्वरूपतोऽनिषिद्धमपि विशिष्टपुरुषस्वामिकतयाऽभोज्यं भण्यते तत्परिग्रहाशुचि ।' तत्र योगीश्वरेण—'अदत्तान्यग्निहीनस्य नान्नमद्यादनापदि' इत्यारभ्य सार्धपञ्चभिः श्लोकैरभोज्यान्नाः प्रतिपादिताः । मनुनापि त एव किंचिदधिकाः प्रतिपादिताः । (४।२०५–२१७)—'नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिहुते तथा । स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन । गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च । दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च । चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ॥ उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्यायान्नमनिर्दशम् । अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ॥ द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् । पिशुनानृतिनोश्चैव क्रतुविक्रयिणस्तथा ॥ शैलूषतन्तुवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च । कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतरणस्य च ॥ सुवर्णकर्तुर्वेणस्य सोमविक्रयिणस्तथा । श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ॥ रजकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे । मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ॥ अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥' इति ॥ अत्र च पदार्था अभक्ष्यकाण्डे व्याख्याताः । अत्र प्रायश्चित्तमाह (मनुः ४।२२२)—'भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् । मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव च ॥' इति । पैठीनसिनाप्यकामतस्त्रिरात्रमेवोक्तम्—'कुनखी श्यावदन्तः पित्रा विवदमानः स्त्रीजितः कुष्ठी पिशुनः सोमविक्रयी वाणिजको ग्रामयाजकोऽभिशस्तो वृषल्यामभिजितः परिवृत्तिः परिविन्दानो दिधिषूपतिः पुनर्भूपुत्रश्चौरः काण्डपृष्ठः सेवकश्चेत्यभोज्यान्ना अपाङ्क्त्या अश्राद्धार्हाः एषां भुक्त्वा दत्त्वा चाऽविज्ञानात्त्रिरात्रम्' इति ॥ शङ्खेन त्वेतानेव किंचिदधिकान्पठित्वा चान्द्रायणमुक्तं,—तदभ्यासविषयम् ॥ गौतमेन पुनः 'उच्छिष्टपुंश्चल्यभिशस्ता' इत्यादिना अभोज्यान्पठित्वा 'प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छर्दनं घृतप्राशनं च' इति प्रायश्चित्तमुक्तं,—तदापद्विषयम् ॥ यस्तु बलात्कारेण भोज्यते तस्यापस्तम्बेन विशेष उक्तः—'बलाद्दासीकृता ये तु म्लेच्छचण्डालदस्युभिः । अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥ उच्छिष्टमार्जनं चैव तथोच्छिष्टस्य भोजनम् । खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम् ॥ तत्स्त्रीणां च तथा सङ्गस्ताभिश्च सह भोजनम् । मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥ चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथवा भवेत् । चान्द्रायणं पराकं च चरेत्संवत्सरोषितः ॥ संवत्सरोषितः शूद्रो मासार्धं यावकं पिबेत् । मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुद्ध्यति ॥ ऊर्ध्वं संवत्सरात्कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः । संवत्सरैस्त्रिभिश्चैव तद्भावं स निगच्छति' इति ॥

आशौचिपरिगृहीतान्नभोजने तु छागलेय आह—'अज्ञानाद्भुञ्जते विप्राः सूतके मृतके तथा ॥ प्राणायामशतं कृत्वा शुद्ध्यन्ते शूद्रसूतके ॥ वैश्ये षष्टिर्भवेद्राज्ञि

विंशतिर्ब्राह्मणे दश । एकाहं च त्र्यहं पञ्च सप्तरात्रमभोजनः ॥ ततः शुद्धिर्भवत्येषां पञ्चगव्यं पिबेत्ततः ॥' इति ब्राह्मणादिक्रमेणैकाहत्र्यहादयो योज्याः ।—इदमकामविषयम् ॥ कामतस्तु मार्कण्डेय आह—'भुक्त्वा तु ब्राह्मणाशौचे चरेत्सान्तपनं द्विजः । भुक्त्वा तु क्षत्रियाशौचे तथा कृच्छ्रो विधीयते ॥ वैश्याशौचे तथा भुक्त्वा महासान्तपनं चरेत् । शूद्रस्यैव तथा भुक्त्वा त्रिमासान्व्रतमाचरेत् ॥' यत्तु शङ्खेनोक्तम्—'शूद्रस्य सूतके भुक्त्वा षण्मासान्व्रतमाचरेत् । वैश्यस्य तु तथा भुक्त्वा त्रीन्मासान्व्रतमाचरेत् ॥ क्षत्रियस्य तथा भुक्त्वा द्वौ मासौ व्रतमाचरेत् । ब्राह्मणस्य तथाऽशौचे भुक्त्वा मासव्रती भवेत् ॥' इति ।—इदमभ्यासविषयम् । एतच्च प्रायश्चित्तमाशौचानन्तरं वेदितव्यम् । 'ब्राह्मणादीनामाशौचे यः सकृदेवान्नमश्नाति तस्य तावदाशौचं यावत् तेषामाशौचम्, व्यपगमे तु प्रायश्चित्तं कुर्यात्' इति विष्णुस्मरणात् ॥

अपुत्राद्यन्नभोजने तु लिखित आह—'भुक्त्वा वार्धुषिकस्यान्नमव्रतस्यासुतस्य च । शूद्रस्य च तथा भुक्त्वा त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥' तथा—'परपाकनिवृत्तस्य परपाकरतस्य च । अपचस्य च भुक्त्वान्नं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति ।—एतच्चाभ्यासविषयम् ॥ परपाकेन निवृत्तादेर्लक्षणं च तेनैवोक्तम्—'गृहीत्वाग्निं समारोप्य पञ्चयज्ञान्न निर्वपेत् । परपाकनिवृत्तोऽसौ मुनिभिः परिकीर्तितः ॥ पञ्चयज्ञांस्तु यः कृत्वा परान्नादुपजीवति । सततं प्रातरुत्थाय परपाकरतस्तु सः ॥ गृहस्थधर्मवृत्तौ यो ददाति परिवर्जितः । ऋषिभिर्धर्मतत्त्वज्ञैरपचः संप्रकीर्तितः ॥' इति । यत्तु ब्रह्मचार्याद्यन्नभोजने वृद्धयाज्ञवल्क्य आह—'यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ । तयोरन्नं न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति, यच्च पार्वणश्राद्धाद्यकर्तुरन्नभोजने भरद्वाज आह—'पक्षे वा यदि वा मासे यस्य नाश्नन्ति देवताः ॥ भुक्त्वा दुरात्मनस्तस्य द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,—तदुभयमप्यभ्यासविषयम् ॥ पूर्वपरिगणितातिरिक्ता ये निषिद्धाचरणशीलास्तदन्नभोजने तु—'निराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च । अन्नं भुक्त्वा द्विजः कुर्याद्दिनमेकमभोजनम् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् । अत्रैव संवत्सराभ्यासे षट्त्रिंशन्मत एवोक्तम्—'उपपातकयुक्तस्य अब्दमेकं निरन्तरम् । अन्नं भुक्त्वा द्विजः कुर्यात्पराकं तु विशोधनम् ॥' इति ।—इदं चाभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तकाण्डगतमविशेषोदितव्रतकदम्बकं हि द्विजाग्र्यस्यैव । क्षत्रियादीनां तु पादपादहान्या भवति; 'विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धं पाद एकस्तु शूद्रजातिषु शस्यते ॥' इति विष्णुस्मरणात् ॥

इत्यभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तपरिगणनवेलायामुपपातकानन्तरं जातिभ्रंशकरादीनि परिगणितानि, तत्र प्रायश्चित्तान्युच्यन्ते। तत्र मनुः (११।१२४-१२५)—'जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम्। मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकस्त्र्यहम् ॥' इति। अन्यतममिति सर्वत्र संबध्यते। यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'संकरीकरणं कृत्वा मासमश्नाति यावकम् । कृच्छ्रातिकृच्छ्रमथवा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ अपात्रीकरणं कृत्वा तप्तकृच्छ्रेण शुद्धयति ॥ शीतकृच्छ्रेण वा शुद्धिर्महासान्तपनेन च। मलिनीकरणीयेषु तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥' इति ॥ बृहस्पतिनापि जातिभ्रंशकरे विशेष उक्तः—'ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा रासभादिप्रमापणम्। निन्दितेभ्यो धनादानं कृच्छ्रार्धं व्रतमाचरेत् ॥' इति। एतेषां च जातिभ्रंशकरादिप्रायश्चित्तानां मन्वाद्युक्तानां जातिशक्त्याद्यपेक्षया विषयो विभजनीयः। एवं योगीन्द्रहृद्व्रतमभक्ष्यभक्षणादिप्रायश्चित्तं संक्षेपतो दर्शितम् ॥ २८९ ॥

जो निषिद्ध (चाण्डाल-पतितादि निषिद्ध पुरुषों से, पर्वों तथा तीर्थों में एवं निषिद्ध वस्तुओं) का दान ग्रहण करता है वह गायों के स्थान पर एक मास तक ब्रह्मचारी रहकर केवल दूध पीते हुये एवं गायत्री जप में निरत रहकर शुद्ध होता है ॥२८९ ॥

अधुना प्रकृतमनुसरामः—'महापातकमतिपातकमनुपातकमुपपातकं प्रकीर्णकमिति पञ्चविधं पापजातमुक्तम्। तत्र चतुर्विधं प्रायश्चित्तमभिधाय क्रमप्राप्तं प्रकीर्णकं प्रायश्चित्तमाह—

प्राणायामी जले स्नात्वा खरयानोष्ट्रयानगः ।
नग्नः स्नात्वा च भुक्त्वा च गत्वा चैव दिवा स्त्रियम् ॥२९०॥

खरयुक्तं यानं खरयानम्, उष्ट्रयुक्तं यानमुष्ट्रयानं, रथगन्त्र्यादि तेनाध्वगमनं कृत्वा दिगम्बरः स्नात्वाऽभ्यवहृत्य दिवा वासरे च निजाङ्गनासंभोगं कृत्वा च तडागतरङ्गिण्यादाववगाह्य कृतप्राणायामः शुद्धयति।—इदं च कामकारविषयम्।—'उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः। सवासा जलमाप्लुत्य प्राणायामेन शुद्धयति ॥' (११।२०१) इति मनुस्मरणात्। अकामतः स्नानमात्रं कल्प्यम्। साक्षात्खरारोहणे तु द्विगुणावृत्तिः कल्पनीया; तस्य गुरुत्वात् ॥२९०॥

गर्दभ या उष्ट्र से खींची जाने वाली सवारी से यात्रा करने वाला, नग्न होकर स्नान या भोजन करने वाला तथा दिन में ही (अपनी) स्त्री से संभोग करने वाला जल में स्नान कर प्राणायाम करके शुद्ध होता है ॥२९० ॥

[1]गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
बध्वा वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद्दिनम् ॥ २९१ ॥

किंच, गुरु जनकादिकं त्वंकृत्य त्वमेवमात्थ त्वयैवं कृतमित्येकवचनान्तयुष्मच्छब्दोच्चारणेन निर्भर्त्स्य विप्रं वा ज्यायांसं समं कनीयांसं वा सक्रोधं हुं तूष्णीमास्व, हुं मा वहुवादीः, इत्येवमाक्षिप्य जल्पवितण्डाभ्यां जयफलाभ्यां विप्रं निर्जित्य कण्ठे वाससा मृदुस्पर्शेनापि वध्वा क्षिप्रं पादप्रणिपातादिना प्रसाद्य क्रोधं त्याजयित्वा दिनमुपवसेत् । अनश्नन्कृत्स्नं वासरं नयेत् ॥ यत्तु यमेनोक्तम्—'वादेन ब्राह्मणं जित्वा प्रायश्चित्तविधित्सया । त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥' इति,–तदभ्यासविषयम् ॥ २९१ ॥

गुरु (माता-पिता आदि श्रेष्ठ जनों) को हुंकारने वाला (भर्त्सना करने वाला) या त्वम् (तिरस्कार) करने वाला, ब्राह्मण को विवाद में जीतने वाला या उसके गले में वस्त्र बाँधने वाला शीघ्र ही उसे प्रसन्न कर दिनभर उपवास करे (इससे उसकी शुद्धि होती है) ॥२९१ ॥

विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रस्त्वतिकृच्छ्रो निपातने ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते [1]कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥ २९२ ॥

विप्रजिघांसया दण्डाद्युद्यमे कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः, निपातने ताडने अतिकृच्छ्रः, असृक्पाते रुधिरस्रावणे पुनः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः, अभ्यन्तरशोणितेऽपि कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः ॥ बृहस्पतिनाप्यत्र विशेष उक्तः—'काष्ठादिना ताडयित्वा त्वग्भेदे कृच्छ्रमाचरेत् । अस्थिभेदेऽतिकृच्छ्रः स्यात्पराकस्त्वङ्गकर्तने ॥' इति । पादप्रहारे तु यम आह—'पादेन ब्राह्मणं स्पृष्ट्वा प्रायश्चित्तविधित्सया । दिवसोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥' इति ॥ मनुना त्वन्यानि प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि दर्शितानि (११।२०२)—'विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं [2]संनिषेव्य तु । सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥' इति । विनाद्भिरित्यसंनिहितास्वपीत्यर्थः । शारीरं मूत्रपुरीषादि ।–इदमकामविषयम् । कामतस्तु—'आपद्गतो विना तोयं शारीरं यो निषेवते । एकाहं क्षपणं कृत्वा स[3]चैलो जलमाविशेत् ॥' इति यमोक्तं वेदितव्यम् ॥ यत्तु सुमन्तुवचनम्—'अप्स्वग्नौ वा मेहतस्तप्तकृच्छ्रम्' इति,–तदनार्तविषयमभ्यासविषयं वा ॥ नित्यश्रौतादिकर्मलोपे तु मनुराह (११।२०३)—'वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे । स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥' इति । श्रौतेषु दर्शपौर्णमासादिकर्मसु स्मार्तेषु च नित्यहोमादिषु प्रतिपदोक्तेष्ट्यादिप्रायश्चित्तैरुपवासस्य समुच्चयः । स्नातकव्रतानि च—'न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति' इत्येवमादीनि प्रागु-

क्तानि । स्नातकव्रतमधिकृत्य क्रतुनाप्युक्तम्—'एतेषामाचाराणामेकैकस्य व्यतिक्रमे गायत्र्यष्टशतं जप्यं कृत्वा पूतो भवति' इति ॥ पञ्चमहायज्ञाकरणे तु बृहस्पतिराह—'अनिर्वर्त्य महायज्ञान् यो भुङ्क्ते प्रत्यहं गृही । अनातुरः सति धने कृच्छ्रार्धेन विशुद्ध्यति ॥ आहिताग्निरुपस्थानं न कुर्याद्यस्तु पर्वणि । ऋतौ न गच्छेद्भार्यां वा सोऽपि कृच्छ्रार्धमाचरेत् ॥' इति । द्वितीयादिभार्योपरमे तु देवल आह—'मृतां द्वितीयां यो भार्यां दहेद्वैतानिकाग्निभिः । जीवन्त्यां प्रथमायां तु सुरापानसमं हि तत् ॥' इति । स्वभार्याभिशंसने तु यम आह—'स्वभार्यां तु यदा क्रोधादगम्येति नरो वदेत् । प्राजापत्यं चरेद्विप्रः क्षत्रियो दिवसान्नव ॥ षड्रात्रं तु चरेद्वैश्यस्त्रिरात्रं शूद्र आचरेत् ॥' इति ॥

अस्नानभोजनादौ हारीत आह—'वहन्कमण्डलुं रिक्तमस्नातोऽश्नंश्च भोजनम् । अहोरात्रेण शुद्धिः स्याद्दिनजप्येन चैव हि ॥' इति । एकपङ्क्त्युपविष्टानां स्नेहादिना वैषम्येन दानादौ यम आह—'न पङ्क्त्यां विषमं दद्यान्न याचेत न दापयेत् । (याचको दापको दाता न वै स्वर्गस्य गामिनः ॥) प्राजापत्येन कृच्छ्रेण मुच्यते कर्मणस्ततः ॥ नदीसंक्रमहन्तुश्च कन्याविघ्नकरस्य च ॥ समे विषमकर्तुश्च निष्कृतिर्नोपपद्यते ॥ त्रयाणामपि चैतेषां प्रत्यापत्तिं च मार्गताम् । भैक्षलब्धेन चान्नेन द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । संक्रम उदकावतरणमार्गः । समे विषमकर्ता पूजादौ ॥ इन्द्रधनुर्दर्शनादावृष्यशृङ्ग आह—'इन्द्रचापं पलाशाग्निं यद्यन्यस्य प्रदर्शयेत् । प्रायश्चित्तमहोरात्रं धनुर्दण्डश्च दक्षिणा ॥' पतितादिसंभाषणे तु गौतम आह—'न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत । संभाष्य पुण्यकृतो मनसा ध्यायेत् । ब्राह्मणेन सह वा संभाषेत तल्पान्नधनलाभवधे पृथग्वर्षाणि' इति । भार्यान्नधनानां लाभस्य वधे विघ्नकरणे प्रत्येकं संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् ॥ तथा—ब्रह्मसूत्रं विना विण्मूत्रोत्सर्गादौ स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तमुक्तम्—'विना यज्ञोपवीतेन यद्युच्छिष्टो भवेद्द्विजः । प्रायश्चित्तमहोरात्रं गायत्र्यष्टशतं तु वा ॥' तत्र ऊर्ध्वोच्छिष्टे उपवासः, अधरोच्छिष्टस्योदकपानादिषु गायत्रीजप इति व्यवस्था । अकामतस्तु—'पिबतो मेहतश्चैव भुञ्जतोऽनुपवीतिनः । प्राणायामत्रिकं षट्कं नक्तं च त्रितयं क्रमात् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ भुक्त्वा शौचाचमनमकृत्वोत्थाने तु—'यद्युत्तिष्ठत्यनाचान्तो भुक्त्वा वाऽनशनात्ततः । सद्यःस्नानं प्रकुर्वीत सोऽन्यथा पतितो भवेत् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ चौराद्युत्सर्गादौ वसिष्ठ आह—'दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्त्रिरात्रं पुरोहितः कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहितस्त्रिरात्रं राजा कुनखी श्यावदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वोद्धरेयाताम्' इति । उद्धरेयातां कुत्सितानां दन्तानां नखानां चोद्धरणं कुर्यातामित्यर्थः । स्तेनपतितादिपङ्क्तिभोजने तु मार्कण्डेय आह—'अपाङ्क्तेयस्य यः कश्चित्पङ्क्तौ भुङ्क्ते द्विजोत्तमः । अहोरात्रोषितो भुत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति ॥

नीलीविषये त्वापस्तम्ब आह—'नीलीरक्तं यदा वस्त्रं ब्राह्मणोऽङ्गेषु धारयेत् । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ रोमकूपैर्यदा गच्छेद्रसो नील्यास्तु कर्हिचित् । त्रिषु वर्णेषु सामान्यं तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ पालनं विक्रयश्चैव तद्वृत्त्या चोपजीवनम् । पातनं च भवेद्विप्रस्त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ नीलीदारु यदा भिन्द्याद्ब्राह्मणस्य शरीरतः । शोणितं दृश्यते यत्र द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ स्त्रीणां क्रीडार्थसंभोगे शयनीये न दुष्यति ॥' इति । भृगुणाप्युक्तम्—'स्त्रीधृता शयने नीली ब्राह्मणस्य न दुष्यति । नृपस्य वृद्धौ वैश्यस्य पर्ववर्ज्यं विधारणम्' इति ॥ तथा वस्त्रविशेषकृतश्च प्रतिप्रसवः—'कम्बले पट्टसूत्रे च नीलीरागो न दुष्यति ॥' इति स्मरणात् ॥ ब्रह्मतरुनिर्मितखट्वाद्यारोहणे शङ्ख आह—'अध्यस्य शयनं यानमासनं पादुके तथा । द्विजः पलाशवृक्षस्य त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥ क्षत्रियस्तु रणे पृष्ठं दत्त्वा प्राणपरायणः । संवत्सरं व्रतं कुर्याच्छित्त्वा वृक्षं फलप्रदम् ॥ द्वौ विप्रौ ब्राह्मणाग्नी वा दम्पती गोद्विजोत्तमौ । अन्तरेण यदा गच्छेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ होमकाले तथा दोहे स्वाध्याये दारसंग्रहे । अन्तरेण यदा गच्छेद्द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । दोहे सान्नाय्याद्यङ्गभूते ।–एतच्चाभ्यासविषयम् । सच्छिद्रादित्याद्यरिष्टदर्शनादौ शङ्ख आह—'दुःस्वप्नारिष्टदर्शनादौ घृतं सुवर्णं च दद्यात् ॥' इति ।

क्वचिद्देशविशेषगमनेऽपि देवल आह—'सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रांस्तथा प्रत्यन्तवासिनः । अङ्गवङ्गकलिङ्गान्ध्रान् गत्वा संस्कारमर्हति ॥' एतच्च तीर्थयात्राव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् ॥ स्वपुरीषदर्शनादौ यम आह—'प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् । दृष्ट्वा सूर्यं निरीक्षेत गामग्निं ब्राह्मणं तथा ॥' इति । शङ्खोऽप्याह—'पादप्रतपनं कृत्वा कृत्वा वह्निमधस्तथा । कुशैः प्रमृज्य पादौ तु दिनमेकं व्रती भवेत् ॥' इति ॥ क्षत्रियाद्युपसंग्रहे हारीत आह—'क्षत्रियाभिवादनेऽहोरात्रमुपवसेत्, वैश्याभिवादने द्विरात्रम्, शूद्रस्याभिवादने त्रिरात्रमुपवासः' इति ॥ तथा 'शय्यारूढपादुकोपानहारोपितपादोच्छिष्टान्धकारस्थश्राद्धकृज्जपदेवपूजानिरताभिवादने त्रिरात्रमुपवासः स्यादन्यत्र निमन्त्रितेनान्यत्र भोजनेऽपि त्रिरात्रम्' इति ॥

समित्पुष्पादिहस्तस्याभिवादनेऽप्येतदेव—'समित्पुष्पकुशाज्याम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकम्; जपं होमं च कुर्वाणं नाभिवादेत वै द्विजम् ॥' इत्यापस्तम्बीये जपादिभिः समभिव्याहारात् । अभिवादकस्यापीदमेव प्रायश्चित्तम्—'नोदकुम्भहस्तोऽभिवादयेत् न भैक्षं चरन्न पुष्पाज्यादिहस्तो नाशुचिर्न जपन्न देवपितृकार्यं कुर्वन्न शयानः' इति तस्यापि शङ्खेन प्रतिषेधात् । एवमन्यान्यपि वचांसि स्मृत्यन्तरतोऽन्वेष्याणि, ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यन्ते ॥ २९२ ॥

ब्राह्मण पर (मारने के उद्देश्य से) डंडा उठाने पर कृच्छ्र व्रत, डण्डा (मारने के लिये) गिरा देने पर अतिकृच्छ्र व्रत, मारकर रक्त निकाल देने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत, भीतर ही रक्त रह जाने पर भी कृच्छ्र व्रत का (शुद्धि के लिये) आचरण करे ॥२९२॥

इति प्रकीर्णकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तानामानन्त्यात्प्रतिव्यक्तिप्रायश्चित्तस्य[1] वक्तुमशक्यत्वात्सामान्येन नोपदिष्टानुपदिष्टविषये प्रायश्चित्तविशेषज्ञानार्थमिदमाह—

देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य[2] यत्नतः ।
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता[3] न निष्कृतिः ॥२९३॥

यदुक्तं **प्रायश्चित्तजातं** वक्ष्यमाणं वा तद्देशादिकमवेक्ष्य यथा कर्तुः प्राणविपत्तिर्न भवति तथा विषयविशेषे कल्पनीयम्; इतरथा प्रधाननिवृत्तिप्रसङ्गात् । तथा च वक्ष्यति—'वायुभक्षो दिवा तिष्ठन्रात्रिं नीत्वाप्सु सूर्यदृक्' इति, तत्र यदि हिमवद्गिरिनिकटवर्तिनामुदकवास[4] उपदिश्यते अतिशीताकुलिते वा शिशिरादिकाले तदा प्राणवियोगो भवेदिति तद्देशकालपरिहारेणोदकवासः कल्पनीयः । तथा वयोविशेषादपि यदि नवतिवार्षिकादेरपूर्णद्वादशवार्षिकस्य वा द्वादशाब्दिकं[5] प्रायश्चित्तमुपदिश्यते 'तदा प्राणा विपद्येरन्' इति ततोऽन्यवयस्के तत्प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । अत एव स्मृत्यन्तरे 'क्वचिदर्धं क्वचित्पादः' इति वृद्धादिषु प्रायश्चित्तस्य ह्रासोभिहितः, तच्च प्राक्प्रपञ्चितम् । तथा धनदानतपश्चरणादिशक्त्यपेक्षया च नहि निर्धनस्य पात्रे धनं वा पर्याप्तमित्याद्युपपद्यते । तथोद्रिक्तपित्तादेर्वा पराकादिकं नापि स्त्रीशूद्रादेर्जपादिकम् । अत एव 'गजादीनामशक्नुवन् । दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये' इत्युक्तम् । तथा 'प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च' इति तपस्यशक्तस्य स्मृत्यन्तरे प्राक् प्रायश्चित्तस्य ह्रासोऽभिहितः । तथा **पापं च** महापातकादिरूपेण सप्रत्ययाप्रत्ययसकृदभ्यासादिरूपेण **चावेक्ष्य यत्नतः** सकलधर्मशास्त्रपर्यालोचनया **प्रायश्चित्तं कल्पनीयम्** । तत्राकामतो यद्विहितं तदेव कामकृते द्विगुणं, कामतोऽभ्यासे चतुर्गुणमित्येवं स्मृत्यन्तरानुसारेण कल्पनीयम् । तथा—'महापापोपपापाभ्यां योऽभिशंसेन्मृषा परम् । अब्भक्षो मासमासीत' इत्युक्तं, तत्र महापापोपपापयोस्तुल्यप्रायश्चित्तस्यायुक्तत्वान्महापापापेक्षयोपपातके मासिकव्रतस्य ह्रासः कल्पनीयः । यत्र च हसितजृम्भित[6]ाक्रन्दितास्फालनादिनाकस्मात्कुर्यात्तथा । 'नोदन्वतोऽम्भसि स्नायान्न च श्मश्र्वादि कर्तयेत् । अन्तर्वत्न्याः पतिः कुर्वन्नप्रजा भवति ध्रुवम् ॥' इत्यादौ प्रायश्चित्तं नोपदिष्टं, तत्रापि देशाद्यपेक्षया प्रायश्चित्तं कल्प्यम् ॥ ननु किंचिदपि निमित्तजातमनुक्तनिष्कृतिकमुपलभ्यते; 'प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये । उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥' इत्यनुक्तनिष्कृतिष्वपि प्रायश्चित्तस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ गौतमे नाप्येतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्नित्येकाहादयः प्रतिपादिताः । उच्यते,—सत्यमस्त्येव सामान्यतः प्रायश्चित्तोपदेशस्तथापि सर्वत्र देशकालादीनामपेक्षितत्वादस्त्येव कल्पनावसरः । नच हसितादिषु सर्वत्र प्राणायामशतं युक्तम्; निमित्तस्य लघुत्वात् । अतः पापापेक्षया ह्रासः कल्पनीयः प्रायश्चित्तान्तरं वा । ननु कथं पापस्य लघुत्वं? येन प्रायश्चित्तस्य ह्रासकल्पना स्यात् । नच प्रायश्चित्ताल्पत्वादिति वाच्यम् । ——निष्कृतित्वादेव । सत्यम्,—किंतु अर्थवादसंकीर्तनाद्गुरु-

पूर्वाङ्गाद्विपूर्वानुबन्धाद्यपेक्षया च सुबोध एव दोषस्य गुरुलघुभावः। तथा दण्डह्रासवृद्ध्यपेक्षया च प्रायश्चित्तगुरुलघुभावः। यथा ब्राह्मणावगोरणादौ सजातीयविषये प्राजापत्यादिकमुक्तम्, तत्र यदा चानुलोम्येन प्रातिलोम्येन वावगोरणादि क्रियते, यदा वा मूर्धावसिक्तादिभिस्तदा दण्डस्य तारतम्यदर्शनादेव दोषाल्पत्वमहत्त्वावगमात्प्रायश्चित्तस्यापि गुरुलघुभावः कल्पनीयः। दर्शितश्च दण्डस्य गुरुलघुभावः 'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणत्रिगुणो दमः' इत्यादिना ॥ २९३ ॥

जिन पापों का यहाँ विधान नहीं किया गया है वहाँ देश, काल, आयु, शक्ति और पापों का प्रयत्नपूर्वक निरीक्षण कर प्रायश्चित्तों का विधान करना चाहिये ॥२९३ ॥

इति पतितत्यागविधिः।

एवं महापातकादिभिः पतितस्य प्रायश्चित्तमुक्तं, यस्त्वौद्धत्यादेतन्न चिकीर्षति तस्य किं कार्यमित्यत आह—

दासीकुम्भं [2]बहिर्ग्रामान्निनयेरन्स्वबान्धवाः।
पतितस्य बहिः कुर्युः सर्वकार्येषु चैव तम् ॥ २९४ ॥

जीवत एव पतितस्य ये स्वा ज्ञातयो बान्धवाः पितृमातृपक्षास्ते सर्वे संनिपत्य **दासी** प्रेष्या तया सपिण्डादिप्रेषितया आनीतमपां पूर्णं **कुम्भं** घटं **ग्रामाद्बहिर्निनयेयुः**। एतच्चतुर्थ्यादिरिक्तातिथिष्वह्नः पञ्चमे भागे गुर्वादिसंनिधौ कार्यम्। (११।१८२)—'पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः[3]। निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ अथवा दास्येव सपिण्डादिप्रयुक्ता निनयेत्। यथाह मनुः (११।१८३)—'दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा। अहोरात्रमुपासीरन्नाशौचं बान्धवैः सह ॥' इति। प्रेतवदिति दक्षिणामुखापसव्ययोः प्राप्त्यर्थम्।—एतच्च निनयनमुदकपिण्डदानादिप्रेतक्रियोत्तरकालं द्रष्टव्यम्। तस्य विद्यागुरुयोनिसंबन्धाश्च संनिपात्य सर्वाण्युदकादीनि प्रेतकर्माणि कुर्युः, पात्रं चास्य विपर्यस्येयुः। दासः कर्मकरो वाऽवकरात् पात्रमानीय दासीघटान् पूरयित्वा दक्षिणाभिमुखः पदा विपर्यस्येदिदम्। अमुमनुदकं करोमि इति नामग्राहं तं सर्वेऽन्वालभेरन् प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखा विद्यागुरवो योनिसंबन्धाश्च वीक्षेरन् अप उपस्पृश्य ग्रामं प्रविशेयुः' (१९।५।७) इति गौतमस्मरणात्। अयं च त्यागो यदि बन्धुभिः प्रेर्यमाणोऽपि प्रायश्चित्तं न करोति तदा द्रष्टव्यः। तस्य गुरोर्बान्धवानां राज्ञश्च समक्षं दोषानभिख्याप्यानुभाष्य पुनःपुनराचारं लभस्वेति, स यद्येवमप्यनवस्थितमतिः स्यात्ततोऽस्य पात्रं विपर्यस्येदिति शङ्खस्मरणात्। ततस्तं लब्धोदकं पतितं सर्वकार्येषु संभाषणसहासनादिषु बहिः कुर्युर्वर्जयेयुः। तथा च मनुः (११।१८४)—'निवर्तेरंस्ततस्तस्मात्संभाषणसहासने। दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रामेव च लौकिकीम् ॥' इति यदि स्नेहादिना

संभाषणं करोति तदा प्रायश्चित्तं कार्यम्। 'अत ऊर्ध्वं तेन संभाष्य तिष्ठेदेकरात्रं जपन्सावित्रीमज्ञानपूर्वं ज्ञानपूर्वं चेत्त्रिरात्रं' इति ॥ २९४ ॥

(ब्रह्महत्यादि पापों से पतित व्यक्ति जो उद्दण्डता से प्रायश्चित्त न करे ऐसे) पतित व्यक्ति के जाति वाले तथा बान्धवजन (चतुर्थी आदि रिक्ता-तिथियों को उसके नाम से दिन के पञ्चम भाग में) दासी के द्वारा उसके निमित्त जल का भरा घड़ा गाँव के बाहर रखवा दें और सभी कार्यों में उसका बहिष्कार करें॥२९४॥

यदा तु बन्धुत्यागादन्यथा वा जातवैराग्यः प्रायश्चित्तं च कृतं, तदा किं कार्यमित्यत आह—

चरितव्रत आयाते निनयेरन्नवं घटम्।
जुगुप्सेरन्न चाप्येनं संवसेयुश्च सर्वशः ॥ २९५ ॥

कृतप्रायश्चित्ते बन्धुसमीपं पुनरायाते तत्सपिण्डाद्यास्तेन सहिता नवं अनुपहतं घटं उदकपूर्णं निनयेयुः।–एतच्च निनयनं पुण्यह्रदादिस्नानोत्तरकालं द्रष्टव्यम्। (११।१८६)—'प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णं कुम्भमपां नवम्। तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये॥' इति मनुस्मरणात्। गौतमेन तु विशेष उक्तः—'यस्तु प्रायश्चित्तेन शुद्ध्येत्तस्मिन् शुद्धे शातकुम्भमयं पात्रं पुण्यतमात् ह्रदात्पूरयित्वा स्रवन्तीभ्यो वा, तत एनमप उपस्पर्शयेयुः; अथास्मै तत्पात्रं दद्युस्तत्संप्रतिगृह्य जपेत् 'शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तं शिवमन्तरिक्षं यो रोचनस्तमिह गृह्णामि' इत्येतैर्यजुर्भिः पावमानीभिस्तरत्समन्दीभिः कूष्माण्डैश्चाज्यं जुहुयाद्धिरण्यं दद्याद्गां चाचार्याय। यस्य तु प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं स मृतः शुद्ध्येदेतदेव शान्त्युदकं सर्वेषूपपातकेषु' (गौ० १९।१०।१७) इति॥ तत एनं कृतप्रायश्चित्तं ते नैव कुत्सयेयुः। तथा सर्वकार्येषु क्रयविक्रयादिषु तेन सह संव्यवहरेयुः ॥२९५॥

प्रायश्चित्त व्रत कर बन्धुजनों के बीच उसके पुनः आने पर दूसरा जलपूर्ण नया घड़ा (किसी तालाब या नदी से) मंगवायें और उसकी निन्दा न करे और सभी प्रकार से सम्मिलित कर लें॥२९५॥

पूर्वोक्तस्य पतितपरित्यागादिविधेरतिदेशमाह—

पतितानामेष एव विधिः स्त्रीणां प्रकीर्तितः।
वासो गृहान्तिके देयमन्नं वासः संरक्षणम् ॥ २९६ ॥

य एव पुरुषाणां परित्यागे पिण्डोदकदानविधिः कृतप्रायश्चित्तानां परिग्रहविधिश्च स एव पतितानां स्त्रीणामपि वेदितव्यः। इयांस्तु विशेषः—पतिताभ्योऽपि ताभ्यः स्त्रीभ्यः कृतोदकादिकर्मभ्यो वासस्तृणपर्णमयं कुटीगृहकं प्रधानगृहसमीपे देयम्। तथा प्राणधारणमात्रमन्नं मलिनं च वस्त्रं पुनः पुरुषान्तरोपभोगनिवारणसहितं सतिरस्कारं देयम् ॥ २९६ ॥

पतित स्त्रियों के लिये भी यह विधि है, उन्हें घर के निकट दूसरा निवासस्थान देना चाहिये और जीवन-निर्वाहभर अन्न एवं वस्त्र देना चाहिये तथा उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥२९६ ॥

ननु काः पतितास्ता यासामयं परित्यागविधिरित्यत आह—

नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ।
विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि ध्रुवम् ॥ २९७ ॥

हीनवर्णगमनं गर्भपातनमब्राह्मण्या अपि **भर्तुः** अब्राह्मणस्यापि **हिंसनमित्येतानि स्त्रीणाम**साधारणानि **पतननिमित्तानि** । '**अपि**'शब्दात्पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि महापातकातिपातकानुपपातकान्यभ्यस्तानि चोपपातकादीनि तान्यपि स्त्रीणां ध्रुवं निश्चितं पतनकारणानि भवन्ति । अत एव शौनकः—'पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि तान्येव ब्राह्मणी हीनवर्णसेवायामधिकं पतति' इति ॥ यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—(२८।७) 'त्रीणि स्त्रियाः पातकानि लोके धर्मविदो विदुः । भर्तुर्वधो भ्रूणहत्या स्वस्य गर्भस्य पातनम् ॥' इति 'भ्रूणहत्या'ग्रहणं कृतं तत् दृष्टान्तार्थं न पुनरितरेषां महापातकादीनां पतनहेतुत्वनिरासार्थम् । यदपि तेनैव—(२१।१०) 'चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या । पतिघ्नी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या ॥' इति । 'चतसृणामेव परित्याग' इत्युक्तं तस्यापि तासां प्रायश्चित्तमचिकीर्षन्तीनां मध्ये चतसृणामेव शिष्यगादीनां चैलान्नगृहवासादिजीवनहेतुत्वाद्व्युच्छेदेन त्यागं कुर्यान्नान्यासामित्यभिप्रायः । अतश्चान्यासां पतितानां प्रायश्चित्तमकुर्वतीनामपि 'वासो गृहान्तिके देय'मित्यादिकं कर्तव्यमित्यवगम्यते ॥ २९७ ॥

निम्न वर्ग के पास जाना, गर्भ गिराना, पति की हत्या– ये स्त्रियों को विशेष रूप से पतित करने वाले कर्म हैं ॥२९७ ॥

टिप्पणी– जिन कर्मों से पुरुष पतित होता है उन कर्मों से स्त्रियाँ भी पतित होती हैं, किन्तु उपर्युक्त तीन पाप उनके पतन के विशेष कारण हैं।

'जुगुप्सेरन्न चाप्येनं संविशेयुश्च सर्वशः' (प्रा० २९५) इत्यस्यापवादमाह—

शरणागतबालस्त्रीहिंसकान्संवसेन्न तु ।
चीर्णव्रतानपि सतः कृतघ्नसहितानिमान् ॥ २९८ ॥

शरणागतादि व्यापादनकारिणः **कृतघ्नसहितान्**प्रायश्चित्तेन क्षीणदोषानपि **न संव्यवहरे**दिति वाचनिकोऽयं प्रतिषेधः, किमिति वचनं न कुर्यात्? नहि वचनस्यातिभारोऽस्ति, अतश्च यद्यपि व्यभिचारिणीनां वधेऽल्पीय एव प्रायश्चित्तं, तथापि वाचनिकोऽयं संव्यवहारप्रतिषेधः ॥ २९८ ॥

शरण में आये बालक तथा स्त्री की हिंसा करने वालों तथा कृतघ्नों के प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होने पर भी उनके साथ कोई व्यवहार (संपर्क) न करे ॥२९८॥

एवं प्रसङ्गेन स्त्रीषु विशेषमभिधाय प्रकृत एव चरितव्रतविधौ विशेषमाह—

घटेऽपवर्जिते ज्ञातिमध्यस्थो यवसं गवाम् ।
स दद्यात्प्रथमं गोभिः सत्कृतस्य हि सत्क्रिया ॥२९९॥

घटेऽपवर्जिते ह्रदादुद्धृत्य पूर्णे कुम्भेऽवनिनीतेऽसौ चरितव्रतः सपिण्डा**दिमध्यस्थो गोभ्यो यवसं दद्यात्** । ताभिः **प्रथमं सत्कृतस्य** पूजितस्य पश्चाज्ज्ञातिभिः ज्ञात्यादिभिः **सत्क्रिया कार्या** । गोभिश्च तस्य सत्कारस्तद्दत्तयवसभक्षणमेव । यदि गावस्तद्दत्तं यवसं न गृह्णीयुस्तर्हि पुनः प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यदाह हारीतः—'स्वशिरसा यवसमादाय गोभ्यो दद्याद्यदि ताः प्रतिगृह्णीयुरथैनं प्रवर्तयेयुः' इति इतरथा नेत्यभिप्रेतम् ॥ २९९ ॥

(प्रायश्चित्त करने के बाद) जलाशय से पूर्ण घड़ा लाने पर वह प्रायश्चित्ती प्रथमतः गायों को दूब खिलावे (प्रथमतः गायों द्वारा) सत्कृत व्यक्ति का ज्ञातिजन सत्कार करें (अर्थात् जाति में ग्रहण करे) ॥२९९॥

टिप्पणी— गायों द्वारा सत्कृत का अभिप्राय यह है कि यदि गायें उसके द्वारा दिये घास खाये तो वह शुद्ध है, अन्यथा पुनः प्रायश्चित्त करे।

महापातकादिपञ्चविधेऽपि दोषगणे प्रातिस्विकव्रतसंदोहमभिधायाधुना सकल व्रतसाधारणं धर्ममाह—

विख्यातदोषः कुर्वीत पर्षदोऽनुमतं व्रतम् ।

यो दोषो यावत्कर्तृसंपाद्यस्ततोऽन्यै**र्विख्यातो** विज्ञातो दोषो यस्यासौ **पर्षदुपदिष्टं व्रतं कुर्यात्** । यद्यपि स्वयं सकलशास्त्रार्थविचारचतुरस्तथापि पर्षत्समीपमुपगम्य तया सह विचार्य तदनुमतमेव कुर्यात् । तदुपगमने चाङ्गिरसा विशेष उक्तः—'कृते निःसंशये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः । भुञ्जानो वर्धयेत्पापं यावन्नाख्याति पर्षदि ॥ सचैलं वाग्यतः स्नात्वा क्लिन्नवासाः समाहितः । पर्षदानुमतस्तत्त्वं सर्वं विख्यापयेन्नरः । व्रतमादाय भूयोऽपि तथा स्नात्वा व्रतं चरेत् ॥' इति ॥ विख्यापनं च पर्षद्दक्षिणादानानन्तरं कार्यम् । यथाह पराशरः—'पापं विख्यापयेत्पापी दत्त्वा धेनुं तथा वृषम्' इति ।—एतच्चोपपातकविषयम् । महापातकादिष्वधिकं कल्प्यम् । यत्तूक्तम्—'तस्माद्द्विजः प्राप्तपापः सकृदाप्लुत्य वारिणि । विख्याप्य पापं पर्षद्भ्यः किंचिद्दत्त्वा व्रतं चरेत् ॥' इति, तत्प्रकीर्णकविषयम् । पर्षत्स्वरूपं च मनुना दर्शितम्—'त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे पर्षदेषा दशावरा ॥' हैतुको मीमांसार्थादितत्त्वज्ञः, तर्की न्यायशास्त्रकुशलः, तथान्यदपि पर्षद्द्वयं तेनैव दर्शितम्—(मनु० १२।११२) 'ऋग्वेद-

विद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च । अपरा पर्षद्विज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥' इति । तथा—(मनु० १२।११३) '[३]एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येत्समाहितः । स ज्ञेयः परमो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥' इति । आसां च पर्षदां संभवापेक्षया व्यवस्था महापातकाद्यपेक्षया वा ॥ यत्तु स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—'पातकेषु शतं पर्षत्सहस्रं महदादिषु । उपपापेषु पञ्चाशत्स्वल्पं स्वल्पे तथा भवेत् ॥' इति,—तदपि महापातकादिदोषानुसारेण पर्षदो गुरुलघुभावप्रतिपादनपरं न पुनः संख्यानियमार्थम्; मन्वादिमहास्मृतिविरोधप्रसङ्गात् । तथा देवलेन चात्र विशेषो दर्शितः—स्वयं तु ब्राह्मणा ब्रूयुरल्पदोषेषु निष्कृतिम् । राजा च ब्राह्मणाश्चैव महत्सु च परीक्षितम् ॥' इति त[४]था च पर्षदा अवश्यं व्रतमुपदेष्टव्यम्—'आर्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चित्तानि ये द्विजाः । जानन्तो न प्रयच्छन्ति ते यान्ति समतां तु तैः ॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । [५]तया पर्षदा ज्ञात्वैव व्रतमुपदेष्टव्यम्—'अज्ञात्वा धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं ददाति यः । प्रायश्चित्ती भवेत्पूतः किल्बिषं पर्षदं व्रजेत् ॥' इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ क्षत्रियादीनां तु कृतैनसां धर्मोपदेशे विशेषोऽङ्गिरसा दर्शितः—'न्यायतो ब्राह्मणः क्षिप्रं क्षत्रियादेः कृतैनसः । अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा व्रतं सर्वं समादिशेत् । तथा शूद्रं समासाद्य सदा धर्मपुरःसरम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविवर्जितम् ॥' इति । तत्र च यागाद्यनुष्ठानशीलानां जपादिकं वाच्यम्, इतरेषां तु तपः । 'कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः कदाचित्पापमागताः । जपहोमादिकं तेभ्यो विशेषेण प्रदीयते ॥ ये नामधारका विप्रा मूर्खा धनविवर्जिताः । कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि तेभ्यो दद्याद्विशेषतः' ॥२९९॥

जिसका पाप सबको ज्ञात हो वह जैसे परिषद् निर्णय करे वैसा व्रत करे।

इति प्रकाशप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अथ रहस्यप्रायश्चित्तम् ।

'व्याख्याय ख्यातदुरितशातनीं व्रतसंततिम् ।
रहःकृताघसंदोहहारिणीं व्याहरन्मुनिः ॥'

तत्र प्रथमं सकलरहस्यव्रतसाधारणं धर्ममाह—

[६]अनभिख्यातदोषस्तु रहस्यं व्रतमाचरेत् ॥ ३०० ॥

कर्तृव्यतिरिक्तैरनभिख्यातो दोषो यस्यासौ रहस्यमप्रकाशं प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । अतः स्त्रीसंभोगादौ तस्या अपि कारकत्वात् तदितरैरविज्ञातदोषस्य रहस्यव्रतमिति मन्तव्यम् । तत्र यदि कर्ता स्वयं धर्मशास्त्रकुशलस्तदा परस्मिन्नविभाव्य स्वनिमित्तोचितं प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत् । यस्तु स्वयमनभिज्ञोऽसौ केनचिद्ब्रह्मो ब्रह्महत्यादिकं कृतं तत्र किं रहस्यप्रायश्चित्तमित्यन्यव्याजेनावगम्य रहोव्रतमनुतिष्ठेत् । अत एव स्त्रीशूद्रयोरप्यमुनैव मार्गेण रहस्यव्रतज्ञानसिद्धेरधिकारसिद्धिः । नच वाच्यं रहस्यव्रतानां जपादिप्रधानत्वादविद्ययोश्च स्त्रीशूद्रयोस्तदनुपपत्तेरनधि-

कार इति । यतोऽनैकान्ततो रहस्यव्रतानां जपादिप्रधानत्वम् । दानादेरप्युपदेशात् गौतमोक्तप्राणायामादेरपि संभवाच्च । इतरेषामपि मन्त्रदैवतर्षिच्छन्दःपरिज्ञानमात्रमेवाधिकारोपयोगि, न त्वन्यविषयम् । नहि तडागनिर्माणादौ ज्योतिष्टोमादिविषयिणी प्रतिपत्तिरुपयुज्यते । देवतादिपरिज्ञानं त्ववश्यमपेक्षणीयम्; 'अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च । योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥' इति व्याससमरणात् ॥ अत्राप्याहारविशेषानुक्तौ पयःप्रभृतयः, कालविशेषानुक्तौ संवत्सरादयः, देशविशेषानुक्तौ शिलोच्चयादयो गौतमाद्यभिहिताः प्रकाशप्रायश्चित्तवदन्वेषणीयाः ॥ ३०० ॥

जिसका पाप ज्ञात न हो वह गुप्त रूप से (पाप-शोधन के निमित्त) व्रत करे ॥३०० ॥

एवं सकलरहस्यसाधारणधर्ममभिधाय प्रकाशप्रायश्चित्तवद्ब्रह्महत्यादिक्रमेणैव रहस्यप्रायश्चित्तान्याह—

त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा ब्रह्महा त्वघमर्षणम् ।
अन्तर्जले विशुध्येत[1] दत्त्वा[2] गां च पयस्विनीम् ॥३०१॥

त्रिरात्रमुपोषितोऽन्तर्जलेऽघमर्षणेन महर्षिणा दृष्टं सूक्तं अघमर्षणं 'ऋतं च सत्यं च' इति तृचमानुष्टुभं भाववृत्तदेवताकं **जप्त्वा त्रिरात्रान्ते पयस्विनीं गां दत्त्वा ब्रह्महा विशुध्यति**। जपश्चान्तर्जले निमग्नेन त्रिरावर्तनीयः । यथाह सुमन्तुः—'देवद्विजगुरुहन्ताप्सु निमग्नोऽघमर्षणं सूक्तं त्रिरावर्तयेत् । मातरं भगिनीं गत्वा मातृष्वसारं स्नुषां सखीं वाऽन्यद्वा[3]ऽगम्यागमनं कृत्वाऽघमर्षणमेवान्तर्जले त्रिरावर्त्य तदेतस्मात्पूतो भवति' इति ।—एतच्चाकामकारविषयम् । यत्तु मनुनोक्तम् (११।२४८)—'सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश । अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहःकृताः ॥' इति,—तदप्यस्मिन्नेव विषये गोदानाशक्तस्य वेदितव्यम् । यत्तु गौतमेन षट्त्रिंशद्रात्रव्रतमुक्त्वोक्तं 'तद्व्रत एव ब्रह्महत्यासुरापानसुवर्णस्तेयगुरुतल्पेषु प्राणायामैः स्नातोऽघमर्षणं जपेत्' (२४।१०) इति,—तदका[4]मतः सकृद्वधविषयम् । यत्तु बौधायनेनोक्तम्—'ग्रामात्प्राचीं चोदीचीं दिशमुपनिष्क्रम्य स्नातः शुचिः शुचिवासा उदकान्ते स्थण्डिलमुपलिप्य सकृत्क्लिन्नवासाः सकृत्पूतेन पाणिनादित्याभिमुखोऽघमर्षणं स्वाध्यायमधीयीत । प्रातः शतं मध्याह्ने शतमपराह्णे शतं परिमितं चोदितेषु नक्षत्रेषु प्रसृतियावकं प्राश्नीयात् । ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्तरात्रात्प्रमुच्यते द्वादशरात्रान्महापातकेभ्यो ब्रह्महत्यासुरापानसुवर्णस्तेयानि वर्जयित्वा एकविंशतिरात्रेण तान्यपि तरति' (३।६।४) इति,—तत्कामकारविषयम्, अकामतः श्रोत्रियाचार्यसवनस्थवधविषयं वा । यत्तु मनुनोक्तम् (११।२५८)—'अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥' इति,—तत्कामतः श्रोत्रियादिवधविषयम्, इतरत्र कामतोऽभ्यासविषयं वा । यत्तु बृहद्विष्णुनोक्तम्

—'ब्रह्महत्यां कृत्वा ग्रामात्प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य प्रभूतेन्धनेनाग्निं प्रज्वाल्याघमर्षणेनाष्टसहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात्तत एतस्मात्पूतो भवति' इति,—तन्निर्गुणवधविषयमनुग्राहकविषयं वा। यत्तु यमेनोक्तम्—'त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः। मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥' इति,—तद्गुणवतो हन्तुर्निर्गुणवधविषयं प्रयोजकानुमन्तृविषयं वा। यत्तु हारीतेनोक्तम्—'महापातकातिपातकोपपातकोपपातकानामेकतममेव संनिपाते चाघमर्षणमेव त्रिर्जपेत्' इति,—तन्निमित्तकर्तृविषयम्। एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यान्यन्विष्यैवमेव विषयेषु विभजनीयानि ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यन्ते। एतदेव व्रतजातं यागस्थयोषित्क्षत्रविट्स्वात्रेय्यामाहिताग्निपत्न्यां गर्भिण्यामविज्ञाते च गर्भे व्यापादिते तुरीयांशन्यूनमनुष्ठेयम् ॥ ३०१ ॥

(रहस्य में प्रायश्चित्त का विधान करते हुये कहते हैं–) ब्रह्महत्या करने वाला तीन दिन उपवास करके जल में खड़ा होकर अघमर्षण सूक्त ('ऋतं च सत्यं च' इत्यादि तृचा) का जप कर एक दूध देने वाली गाय देकर शुद्ध होता है ॥३०१॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्यः स्वाहेत्यथवा दिवसं मारुताशनः।
जले स्थित्वाऽभिजुहुयाच्चत्वारिंशद्घृताहुतीः ॥ ३०२ ॥

अथवाऽहोरात्रमुपोषितो रात्रावुदके वासं कृत्वा प्रातर्जलादुत्तीर्य 'लोमभ्यः स्वाहा' इत्याद्यैरष्टभिर्मन्त्रैरेकैकेन पञ्चपञ्चाहुतय इत्येवं चत्वारिंशद्घृताहुतीर्जुहुयात्।—इदं च पूर्वोक्तसमानविषयम्: उदवासस्य क्लेशबाहुल्यात् ॥३०२॥

अथवा एक दिन-रात उपवास कर रात्रि में जल में रहकर (प्रातःकाल जल से निकलकर) 'लोमभ्यः स्वाहा' इत्यादि आठ मंत्रों से (प्रत्येक मंत्र से पाँच-पाँच) चालिस घृत की आहुति देकर शुद्ध होता है ॥३०२॥

क्रमप्राप्तं सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा कूष्माण्डीभिर्घृतं शुचिः।

सुरापश्चत्वारिंशद्घृताहुतीरित्यनुवर्तते। त्रिरात्रमुपोषितः कूष्माण्डीभिः 'यद्देवा देवहेळनम्' इत्याद्याभिः कूष्माण्डदृष्टाभिरनुष्टुब्भिर्मन्त्रलिङ्गदेवताभिर्ऋग्भिश्चत्वारिंशद्घृताहुतीर्हुत्वा शुचिर्भवेत्। तथा बौधायनेनाप्युक्तम्—'अथ कूष्माण्डीभिर्जुहुयाद्योऽपूत एवात्मानं मन्येत यावदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मान्मुच्यते। अयोनौ वा रेतः सिक्त्वाऽन्यत्र स्वप्नात्। इति। यत्तु मनुना (११।२४९)—'कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम्। माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥' इति। मासं प्रत्यहं षोडशकृत्वोऽपनःशोशुचदघं प्रतिस्तो-

मेभिरुषसं वासिष्ठम् । महित्रीणामवोस्त्वेतोन्विन्द्रंस्तवामेत्येतेषामन्यतमस्य जप उक्तः, स त्रिरात्रोपवासकूष्माण्डहोमाशक्तस्य वेदितव्यः । एताश्चाकामतः पैष्ट्याः सकृत्पाने, गौडीमाध्व्योस्तु पानावृत्तौ च वेदितव्यम् । यच्च मनुना (११।२५६) —'मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः । स गुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥' इति । संवत्सरं प्रत्यहं 'देवकृतस्यैनसः' इत्यादिभिरष्टभिर्मन्त्रैर्होमो 'नम इदुग्रं नम आविवास' इत्येतस्या ऋचो वा जप उक्तः, स कामकारविषयः । यत्तु महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः । अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्धयति ॥' इति,-तदभ्यासविषयम्, समुच्चितमहापातकविषयं वा ॥

सुरा पीने वाला तीन दिन-रात उपवास कर कूष्माण्डी मन्त्रों ('यद्देवा देवहेडनम्' इत्यादि कूष्माण्ड ऋषिदृष्ट) से चालिस घृत की आहुति देकर शुद्ध होता है।

सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

ब्राह्मणस्वर्णहारी तु रुद्रजापी जले स्थितः ॥ ३०३ ॥

ब्राह्मणः स्वर्णहारी पुनस्त्रिरात्रोपोषितः **जलमध्यस्थो** 'नमस्ते रुद्र मन्यव' इति **शतरुद्रियजपयुक्तः शुद्ध्यतीति** ॥ शातातपेनात्र विशेष उक्तः—'मद्यं पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा । भस्माच्छन्नो भस्मशय्यां शयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः ॥' इति । जपश्चैकादशकृत्वः कार्यः । 'एकादशगुणान्वापि रुद्रानावर्त्य धर्मवित् । महापापैरपि स्पृष्टो मुच्यते नात्र संशयः ॥' इत्यत्रिस्मरणात् ॥ यत्तु मनुना (११।२५०)—'सकृज्जप्त्वाऽस्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च । सुवर्णमपहृत्यापि क्षणाद्भवति निर्मलः ॥' इति द्विपञ्चाशदृक्संख्याकस्य 'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः' इति सूक्तस्य तथा 'यज्जाग्रतो दूरमुदैतु दैवम्' इति शिवससंकल्पदृष्टस्य षड्ऋचस्य वा सकृज्जप उक्तः सोऽत्यन्तनिर्गुणस्वामिकस्वर्णहरणे गुणवतोऽपहर्तुर्द्रष्टव्यः । सुवर्णन्यूनपरिमाणविषयोऽनुग्राहकप्रयोजकविषयो वा । आवृत्तौ तु 'महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेत्' इत्यादिनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ३०३ ॥

ब्राह्मण के स्वर्ण को चुराने वाला (तीन दिन उपवास कर) जल में स्थित होकर रुद्र का जप (शतरुद्रिय का जप) कर शुद्ध हो जाता है ॥३०३ ॥

टिप्पणी— इस विषय में शातातप का अधोनिर्दिष्ट वचन है—

'मद्यं पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा स्त्येयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा।
भस्माच्छन्नो भस्मशय्यां शयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः' ॥

अत्रि का भी वचन है—

'एकादशगुणान्वापि रुद्रानावर्त्य धर्मवित्।
महापापैरपि स्पृष्टो मुच्यते नात्र संशयः' ॥

क्रमप्राप्तं गुरुतल्पगप्रायश्चित्तमाह—

सहस्रशीर्षाजापी तु मुच्यते गुरुतल्पगः ।
गौर्देया कर्मणोऽस्यान्ते पृथगेभिः पयस्विनी ॥ ३०४ ॥

गुरुतल्पगस्तु 'सहस्रशीर्षा' इति षोडशर्चसूक्तं नारायणदृष्टं पुरुषदैवत्यमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं जपंस्तस्मात्पापान्मुच्यते । **सहस्रशीर्षाजापी**ति ताच्छील्यप्रत्ययादावृत्तिर्गम्यते । अत एव यमेनोक्तम्—'पौरुषं सूक्तमावर्त्य मुच्यते सर्वकिल्बिषात्' इति । आवृत्तौ च संख्यापेक्षायामधस्तनश्लोकगता चत्वारिंशत्संख्याऽनुमीयते । अत्रापि प्राक्तनश्लोकगतं 'त्रिरात्रोपोषित' इति संबध्यते । अत एव बृहद्विष्णुः—'त्रिरात्रोपोषितः पुरुषसूक्तजपहोमाभ्यां गुरुतल्पगः शुद्ध्येत्' इति । **एभिश्च** सुरापसुवर्णस्तेनगुरुतल्पगैस्त्रिभिः पृथक्पृथगस्य त्रिरात्रव्रतस्यान्ते **बहुक्षीरा गौर्देया** ।—इदमकामविषयम् । यत्तु मनुना (११।२५१)—'हविष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च । जप्त्वा तु पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥' इति । 'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदं', 'नतमंहोनदुरितं', 'इति वा इति मे मनः', 'सहस्रशीर्षे'त्येषामन्यतमस्य मासं प्रत्यहं षोडशषोडशकृत्वो जप उक्तः; सोऽप्यकामविषय एव । कामतस्तु 'मन्त्रैः शाकलहोमीयैः' इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'महाव्याहृतिभिर्होमस्तिलैः कार्यो द्विजन्मना । उपपातकशुद्ध्यर्थं सहस्रपरिसंख्यया ॥ महापातकसंयुक्तो लक्षहोमेन शुद्ध्यति ॥' इति,—तदावृत्तिविषयम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'जपेद्वाप्यस्यवामीयं पावमानीरथापि वा । कुन्तापं वालखिल्यांश्च निवित्प्रैषान्वृषाकपिम् ॥ होतॄन्रुद्रान्सकृज्जप्त्वा मुच्यते सर्वपातकैः ॥' इति,—तद्व्यभिचारिणीगमनविषयम् ॥ यानि पुनः गुरुतल्पातिदेशविषयाणि तत्समानि वाऽतिपातकोपपातकपदाभिधेयानि, तेषु तुरीयांशन्यूनमर्धोनं च क्रमेण वेदितव्यम् । पातकातिपातकोपपातकमहापातकानामेकतमे संनिपाते वा अघमर्षणमेव त्रिर्जपेदिति हारीतोक्तं वा द्रष्टव्यम् । महापातकसंसर्गिणश्च 'स तस्यैव व्रतं कुर्यात्' इति वचनाद्येन सह संसर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तम् । नच वाच्यं अत्राध्यापनादिसंसर्गस्यानेककर्तृकसंपाद्यत्वाद्रहस्यत्वानुपपत्तिरिति । यतः सत्यप्यनेककर्तृकत्वे परदारगमनवत् कर्तृव्यतिरिक्ततृतीयाद्यपरिज्ञानमात्रेणैव रहस्यत्वम् । अतो भवत्येव रहस्यप्रायश्चित्तम् । एवमतिपातकादिसंसर्गिणोऽपि तदीयमेव प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् ॥ ३०४ ॥

गुरुपत्नीगामी सोलह ऋचाओं वाले सहस्रशीर्षा आदि पुरुषसूक्त का जप कर पाप से मुक्त हो जाता है। इन सभी को (सुरापी, स्वर्णहारी तथा गुरुतल्पग को त्रिरात्रव्रतात्मक इस प्रायश्चित्त) कर्म के अन्त में ब्राह्मण को दूध देने वाली गाय का दान करना चाहिये ॥३०४॥

॥ इति महापातकरहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम् ॥

क्रमप्राप्तं गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकप्रायश्चित्तमाह—

प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये ।
उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥ ३०५ ॥

गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकजातानामनादिष्टरहस्यव्रतानां च जातिभ्रंशकरादीनां **सर्वेषामपनुत्तये प्राणायामानां शतं कार्यम्** । तथा सर्वेषां महापातकादीनां प्रकीर्णकान्तानामप्यपनुत्तये प्राणायामाः कार्याः । तत्र च महापातकेषु चतुःशतम्, अतिपातकेषु त्रिशतम्, अनुपातकेषु द्विशतमिति संख्याविवृद्धिः कल्पनीया । प्रकाशप्रायश्चित्तेषु महापातकप्रायश्चित्ततुरीयांशस्योपपातकेषु विधानदर्शनात् प्रकीर्णकेषु च ह्रासः कल्प्यः । अत एवोक्तं यमेन—'दशप्रणवसंयुक्तैः प्राणायामैश्चतुःशतैः । मुच्यते ब्रह्महत्यायाः किं पुनः शेषपातकैः ॥' इति । बौधायनेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'अपि वाक्चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणमनोव्यतिक्रमेषु त्रिभिः प्राणायामैः शुद्ध्यति । शूद्रस्त्रीगमनान्नभोजनेषु पृथक्पृथक् सप्ताहं सप्तप्राणायामान्धारयेत् । अभक्ष्याभोज्यामेध्यप्राशनेषु तथा चाऽपण्यविक्रयेषु मधुमांसघृततैललाक्षालवणरसान्नवर्जितेषु यच्चान्यदप्येवं युक्तं स्याद्द्वादशाहं द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् । अथ पातकोपपातकवर्ज्यं यच्चान्यदप्येवं युक्तं स्यादर्धमासं द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् उपपातकपतनीयवर्जं यच्चाप्यन्यदेवं युक्तं स्यान्मासं द्वादशार्धमासान् द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् । अन्यपातकवर्ज्यं यच्चाप्यन्यदप्येवं युक्तं द्वादश अर्धमासान् द्वादश प्राणायामान् धारयेत् । अथ पातकेषु संवत्सरं द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेदिति । तत्र वाक्चक्षुरित्यादिप्राणायामत्रयं प्रकीर्णकाभिप्रायम् । 'शूद्रस्त्रीगमनान्नभोजने'त्यादिनोक्ता एकोनपञ्चाशत्प्राणायामा उपपातकविशेषाभिप्रायाः । तथा 'अभक्ष्याभोज्ये'त्यादिनोक्ताश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्राणायामा अप्युपपातकविशेषाभिप्राया एव । अथ 'पातकोपपातकवर्ज्य'मित्यादिनोक्ताः साशीतिशतप्राणायामा जातिभ्रंशकराद्यभिप्रायाः । अथ 'पातकवर्ज्य'मित्यादिनोक्ताः षष्ठ्यधिकशतत्रयप्राणायामाः गोवधाद्युपपातकाभिप्रायाः । अथ 'पातकवर्ज्य'मित्यादिनोक्ताः षष्ठ्यधिकद्विशतसहितद्विसहस्रसंख्याकाः प्राणायामाः अतिपातकानुपपातकाभिप्रायाः । अथ पातकेष्वित्यादिनोक्ता विंशत्यधिकशतत्रययुक्ताश्चतुःसहस्रप्राणायामा महापातकविषयाः । इदं चाभक्ष्यभोज्येत्यादिनोक्तं प्रायश्चित्तपञ्चकमत्यन्ताभ्यासविषयं, समुच्चितविषयं वा । यत्तु मनुना । (११।२५२)—'एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् । अवेत्यृच जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति वा ॥' इत्यब्दं यावत्प्रत्यहमर्थान्तराविरुद्धेषु कालेषु 'अवतेहेळोवरुण' इत्यस्या ऋचो 'यत्किंचेदम्' इत्यस्याः, 'इति वा इति मे मनः' इत्यस्याश्च जप उक्तः सोऽप्यभ्यासविषयः ॥ ३०५ ॥

सभी पापों तथा उपपातकों, जिनके प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया है, की शुद्धि के लिये एक सौ बार प्राणयाम करना चाहिये ॥३०५ ॥

उपपातकसामान्यप्राप्तस्य प्राणायामशतस्यापवादमाह—

ओङ्काराभिष्टुतं सोमसलिलं पावनं पिबेत् ।
कृत्वा हि[3] रेतोविण्मूत्रप्राशनं तु[4] द्विजोत्तमः ॥ ३०६ ॥

द्विजो रेतोविण्मूत्रप्राशनं कृत्वा सोमलतारसमोङ्कारेणाभिमन्त्रितं शुद्धिसाधनं पिबेत्।-एतच्चाकामकारविषयम्। कामतस्तु सुमन्तूक्तम्—'रेतोविण्मूत्रप्राशनं कृत्वा लशुनपलाण्डुगृञ्जनकुम्भिकादीनामन्येषां चा[5]भक्ष्याणां भक्षणं कृत्वा हंसग्रामकुक्कुटश्वसृगालादिमांसभक्षणं च कृत्वा ततः कण्ठमात्रमुदकमवतीर्य शुद्धवतीभिः प्राणायामं कृत्वा महाव्याहृतिभिररोगमुदकं पीत्वा तदेतस्मात्पूतो भवती'ति। मनुनापि सप्तविधाभक्ष्यभक्षणे प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम् (११।२५३)—'प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् । जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥' इति । अप्रतिग्राह्यं विषशस्त्रसुरादि पतितादिद्रव्यं च। यदा त्वप्सु रेतोविण्मूत्रादिशारीरं मलं विसृजति तदापि तेनैवोक्तम्—'अप्रशस्तं तु कृत्वाऽप्सु मासमासीत भैक्ष्यभुक्' (११।२५५) इति ॥ ३०६ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मण (अनजान में) विष्ठा, वीर्य और मूत्र का पान करने पर ओङ्कार मन्त्र से अभिमन्त्रित सोमलता का रस पीये (इससे उसकी शुद्धि होती है) ॥३०६ ॥

अज्ञानकृते प्रकीर्णके मानसे चोपपातके प्रायश्चित्तमाह—

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत् ।
त्रै[1]काल्यसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥ ३०७ ॥

रजन्यां वासरे वा यत्प्रमादादिकृतं प्रकीर्णकं मानसं वाचिकं चोपपातकं तत्सर्वं प्रातर्मध्याह्नादिकालत्रयविहितनित्यसंध्योपासनया प्रणश्यति। तथा च यमः—'यदह्नात्कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा। आसीनः पश्चिमां संध्यां प्राणायामैर्निहन्ति तत् ॥' इति । शातातपेनाप्युक्तम्—'अनृतं मद्यगन्धं च दिवा मैथुनमेव च। पुनाति वृषलान्नं च संध्या बहिरुपासिता ॥' इति ॥३०७॥

रात्रि में या दिन में जो भी पाप अज्ञान से किया जाता है वह सभी त्रिकाल सन्ध्या करने से नष्ट हो जाता है ॥३०७ ॥

अथ सकलमहापातकादिसाधारणान्पवित्रमन्त्रानाह—

शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च विशेषतः ।
सर्वपापहरा ह्ये[2]ते रुद्रैकादशिनी तथा ॥ ३०८ ॥

शुक्रियं नाम आरण्यकविशेषः 'विश्वानि देव सवितः' इत्यादिवाजसनेयके पठ्यते, आरण्यकं च यजुः 'ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये' इत्यादि तत्रैव

पठ्यते, **तयोर्जपः** सकलमहापातकादिहरः । तथा **गायत्र्याश्च** महापातकेषु लक्षमतिपातकोपपातकयोर्दशसहस्रमुपपातकेषु सहस्रं प्रकीर्णकेषु शतमित्येवं **विशेषतो जपः सर्वपापहरः** । तथा च गायत्रीमधिकृत्य श्लोकः शङ्खेनोक्तः—'शतं जप्ता तु सावित्री महापातकनाशिनी । सहस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनी ॥ दशसाहस्रजाप्येन सर्वकिल्बिषनाशिनी । लक्षं जप्ता तु सा देवी महापातकनाशिनी ॥ सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो ब्रह्महा गुरुतल्पगः । सुरापश्च विशुद्ध्यन्ति लक्षं जप्त्वा न संशयः ॥' इति । यत्तु चतुर्विंशतिमते उक्तम्—'गायत्र्यास्तु जपेत्कोटिं ब्रह्महत्यां व्यपोहति । लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लक्षसप्ततिः । गायत्र्या लक्षषष्ट्या तु मुच्यते गुरुतल्पगः ॥' इति,–तद्गुरुत्वात्प्रकाशविषयम् । तथा रुद्रैकादशिनी एकादशानां रुद्रानुवाकानां समाहारो रुद्रैकादशिनी । सा च विशेषतो जप्ता सर्वपापहरा । 'एकादशगुणान्वापि रुद्रानावर्त्य धर्मवित् । महद्भ्यः स तु पापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ॥' इति महापातकेष्वेकादशगुणावृत्तिदर्शनात् अतिपातकादिषु चतुर्थचतुर्थांशह्रासो योजनीयः । 'च'शब्दोऽघमर्षणादिसमुच्चयार्थः । यथाह वसिष्ठः—'सर्ववेदपवित्राणि वक्ष्याम्यहमतः परम् । येषां जपैश्च होमैश्च पूयन्ते नात्र संशयः ॥ अघमर्षणं देवकृतं शुद्धवत्यस्तरत्समाः । कूष्माण्ड्यः पावमान्यश्च दुर्गा सावित्र्यथैव च ॥ अभिषङ्गाः पदस्तोमाः सामानि व्याहृतीस्तथा । भारदण्डानि सामानि गायत्रं रैवतं तथा ॥ पुरुषव्रतं च भासं च तथा देवव्रतानि च । आर्त्विगं बार्हस्पत्यं च वाक्सूक्तं मध्वृचस्तथा ॥ शतरुद्रियाथर्वशिरास्त्रिसुपर्णं महाव्रतम् । गोसूक्तं चाश्वसूक्तं च इन्द्रशुद्धे च सामनी ॥ त्रीण्याज्यदोहानि रथंन्तरं च अग्नेर्व्रतं वामदेव्यं बृहच्च । एतानि गीतानि पुनन्ति जन्तूञ्जातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत ॥' इति ॥ ३०८ ॥

शुक्रिय नाम के आरण्यक (विश्वानि देव सवितः इत्यादि) तथा आरण्यक का, गायत्री का विशेष रूप से तथा रुद्रैकादशिनी (एकादश रुद्रानुवाकों) का जप– ये सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाले बताये गये हैं ॥३०८ ॥

यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते द्विजः ।
तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्या वाचनं तथा ॥ ३०९ ॥

किंच, **यत्र यत्र च** ब्रह्मवधादौ तज्जनितकल्मषजातेनात्मानं **संकीर्णम**भिभूतं **द्विजो मन्यते तत्र तत्र गायत्र्या तिलैर्होमः कार्यः** । तत्र महापातकेषु लक्षसंख्यया होमः कार्यः । 'गायत्र्या लक्षहोमेन मुच्यते सर्वपातकैः' इति यमस्मरणात् । अतिपातकादिषु पादपादह्रासः कल्पनीयः । तथा **तिलैर्वाचनं दानं कार्यम्** । तथा च रहस्याधिकारे वसिष्ठः—'वैशाख्यां पौर्णमास्यां तु ब्राह्मणान्सप्त पञ्च वा । क्षौद्रयुक्तैस्तिलैः कृष्णैर्वाचयेदथवेतरैः ॥ प्रीयतां धर्मराजेति यद्वा मनसि वर्तते । यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥' इति । तथा अनियतकालेऽपि दानं तेनैवोक्तम्—'कृष्णाजिने तिलान्कृत्वा हिरण्यं मधुसर्पिषी । ददाति यस्तु विप्राय सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥' इति । तथा व्यासेनाप्युक्तम्—'तिलधेनुं च यो दद्यात्संयतात्मा द्विजन्मने । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥' इति ।

एवमादि दानजातं रहस्यकाण्डोक्तमविदुषां द्विजातीनां स्त्रीशूद्रयोश्च वेदितव्यम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'तिलान्ददाति यः प्रातस्तिलान्स्पृशति खादति । तिलस्नायी तिलाञ्जुह्वन्सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥' तथा—'द्वे चाष्टम्यौ तु मासस्य चतुर्दश्यौ तथैव च । अमावास्या पौर्णमासी सप्तमी द्वादशीद्वयम् ॥ संवत्सरमभुञ्जानः सततं विजितेन्द्रियः । मुच्यते पातकैः सर्वैः स्वर्गलोकं च गच्छति ॥' इति । यच्चात्रिणोक्तम्—'क्षीराब्धौ शेषपर्यङ्के त्वाषाढ्यां संविशेद्धरिः । निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः संपूजयेद्धरिम् ॥ ब्रह्महत्यादिकं पापं क्षिप्रमेव व्यपोहति ॥' इत्येवमादि तत्सर्वं विद्याविरहिणां कामाकामसकृदसकृदभ्यासविषयतया व्यवस्थापनीयम् ॥ ३०९ ॥

जहाँ-जहाँ ब्राह्मण अपने को पाप से संपृक्त समझे वहाँ-वहाँ गायत्री के जप से तिल का होम करे तथा तिल का दान करे ॥३०९ ॥

वेदाभ्यासरतं क्षान्तं पञ्चयज्ञक्रियापरम् ।
न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ॥ ३१० ॥

किंच, 'वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः । तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥' इत्युक्तक्रमेण **वेदाभ्यासनिरतं तितिक्षायुक्तं पञ्चमहायज्ञानुष्ठाननिरतं महापातकजान्यपि पापानि न स्पृशन्ति ।** किमुत प्रकीर्णकजानि वाङ्मनसजन्योपपातकानि चेत्यत्र तात्पर्यमपिशब्दाल्लक्ष्यते । -एतच्चाकामकारविषयम् । अत एव वसिष्ठेन—'यद्यकार्यशतं साग्रं कृतं वेदश्च धार्यते । सर्वं तत्तस्य वेदाग्निर्दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥' इति प्रकीर्णकाद्यभिप्रायेणाभिधायाभिहितम्—'न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत् । अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दह्यते कर्म नेतरत् ॥' इति ॥ ३१० ॥

वेदाभ्यास में निरत, क्षान्त (तितिक्षा युक्त) तथा पञ्चमहायज्ञों में संलग्न पुरुष को महापातक जन्य पाप भी स्पर्श नहीं करते ॥३१० ॥

वायुभक्षो दिवा तिष्ठन् रात्रिं नीत्वाऽप्सु सूर्यदृक् ।
जप्त्वा सहस्रं गायत्र्याः शुद्ध्येद्ब्रह्मवधादृते ॥ ३११ ॥

किंच, **सोपवासो वासरमुपविशन्** उषित्वा **सलिले वसन्निशां नीत्वादित्योदयानन्तरं सावित्र्याः सहस्रं जप्त्वा ब्रह्मवधव्यतिरिक्तसकलमहापातकादिपापजातान्मुच्यते ।** अतश्चोपपातकादिष्वभ्यासेऽनेकदोषसमुच्चये वा वेदितव्यम्; विषमविषयसमीकरणस्यान्याय्यत्वात् । अत एव वृद्धवसिष्ठेन महापातकोपपातकयोः कालविशेषेण व्रतविशेष उक्तः । यथाह—'यवानां प्रसृतिमञ्जलिं वा श्रप्यमाणं शृतं वाभिमन्त्रयेत् । यवोऽसि धान्यराजस्त्वं वारुणो मधुसंयुतः । निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतः ॥' इत्यनेन । 'घृतं यवा मधुयवाः पवित्रममृतं यवाः । सर्वं पुनन्तु मे पापं वाङ्मनःकायसं-

भवम् ॥' इत्यनेन वा। 'अग्निकार्ये तु कुर्वीत तेन भूतबलिं तथा। नाग्रं न भिक्षां नातिथ्यं न चोच्छिष्टं परित्यजेत् ॥' 'ये देवा मनोजाता मनोयुजः सुदक्षा दक्षपितरस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा' इत्यात्मनि जुहुयात्त्रिरात्रं मेधाभिवृद्धये पापक्षयाय त्रिरात्रं ब्रह्महत्यादिषु द्वादशरात्रं पतितोत्पन्नश्चेत्येतद्दिगवलम्बनेनान्यान्यपि स्मृतिवचनानि विवेचनीयानि ॥ ३११ ॥

दिन में वायु का भक्षण (उपवास) करके रात्रि में जल में निवास कर प्रातःकाल एक सहस्र गायत्री का जप कर मनुष्य ब्रह्महत्या से अतिरिक्त सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥३११ ॥

इति रहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

विनियुक्तव्रतव्रातरूपभेदे बुभुत्सिते।
कीदृक्षमिति संक्षेपाल्लक्षणं वक्ष्यतेऽधुना ॥

तत्र तावत्सकलप्रकाशरहस्यव्रताङ्गभूतान्धर्मानाह—

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता।
अहिंसा स्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ ३१२ ॥
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥ ३१३ ॥

ब्रह्मचर्यं सकलेन्द्रियसंयमः, उपस्थनिग्रहो लिङ्गनिग्रहः गोबलीवर्दन्यायेन निर्दिष्टः, अकल्कता अकुटिलता। शेषं प्रसिद्धम्। यत्पुनर्मनुनोक्तम्—'अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत्' इति,-तदप्येतेषामुपलक्षणं न परिगणनाय। अत्र च दयाक्षान्त्यादीनां पुरुषार्थतया प्राप्तानामपि पुनर्विधानं प्रायश्चित्ताङ्गत्वार्थम्। क्वचिद्विशेषोऽप्यस्ति। यथा विवाहादिष्वभ्यनुज्ञातस्याप्यनृतवचनस्य निवृत्त्यर्थं सत्यत्वविधानम्। पुत्रशिष्यादिकमपि न ताडनीयमित्येवमर्थमहिंसाविधानमित्येवमादि ॥ ३१२-३१३ ॥

ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, सरलता, अहिंसा, अचौर्य, मधुरता, दम (इन्द्रिय निग्रह)- ये यम बताये गये हैं। स्नान, मौन, उपवास, यजन, स्वाध्याय, उपस्थ (जननेद्रिय) का निग्रह, गुरुसेवा, पवित्रता, अक्रोध और अप्रमाद- ये सभी नियम कहे गये हैं ॥३१२ ॥

तत्र सान्तपनाख्यं व्रतं तावदाह—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
जग्ध्वा परेऽह्न्युपवसेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरन् ॥ ३१४ ॥

पूर्वेद्युराहारान्तरपरित्यागेन **गोमूत्रादीनि पञ्चगव्यानि** पञ्चद्रव्याणि कुशोदकसहितानि संयुज्य **पीत्वा अपरेद्युरुपवसेदिति** द्वैरात्रिकः **सान्तपनः कृच्छ्रः**। संयोजनं चोत्तरश्लोके पृथग्विधानादवगम्यते। 'कृच्छ्र' इति चान्वर्थसंज्ञेयम्; तपोरूपत्वेन क्लेशसाध्यत्वात्। गोमूत्रादीनां परिमाणं वक्ष्यते। यदा पुनः पूर्वेद्युरुपोष्यापरेद्युः समन्त्रकं संयुज्य समन्त्रकमेव पञ्चगव्यं पीयते तदा ब्रह्मकूर्च इत्याख्यायते। यथाह पराशरः—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु प्रत्येकं कायशोधनम्॥ गोमूत्रं ताम्रवर्णायाः श्वेतायाश्चापि गोमयम्। पयः काञ्चनवर्णाया नीलायाश्च तथा दधि॥ घृतं च कृष्णवर्णायाः सर्वं कापिलमेव च। अलाभे सर्ववर्णानां पञ्चगव्येष्वयं विधिः॥ गोमूत्रं माषकास्त्वष्टौ गोमयस्य तु षोडश। क्षीरस्य द्वादश प्रोक्ता दध्नस्तु दश कीर्तिताः॥ गोमूत्रवद्घृतस्याष्टौ तदर्धं तु कुशोदकम्। गायत्र्यादाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम्। आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि॥ तेजोऽसिशुक्रमित्याज्यं देवस्यत्वा कुशोदकम्। पञ्चगव्यमृचा पूतं होमयेदग्निसंनिधौ॥ सप्तपत्राश्च ये दर्भा अच्छिन्नाग्राः शुचित्विषः। एतैरुद्धृत्य होतव्यं पञ्चगव्यं यथाविधि॥ इरावती इदंविष्णुर्मानस्तोके च शंवतीः। एताभिश्चैव होतव्यं हुतशेषं पिबेद्द्विजः॥ प्रणवेन समालोड्य प्रणवेनाभिमन्त्र्य च। प्रणवेन समुद्धृत्य पिबेत्तत्प्रणवेन तु॥ मध्यमेन पलाशस्य पद्मपत्रेण वा पिबेत्। स्वर्णपात्रेण रौप्येण ब्राह्मतीर्थेन वा पुनः॥ यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मानवे। ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥' इति। यदा त्वेतदेव मिश्रितं पञ्चगव्यं त्रिरात्रमभ्यस्यते तदा यतिसान्तपनसंज्ञां लभते—'एतदेव त्र्यहाभ्यस्तं यतिसान्तपनं स्मृतम्' इति शङ्खस्मरणात्॥ जाबालेन तु सप्ताहसाध्यं सान्तपनमुक्तम्—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। एकैकं प्रत्यहं पीत्वा त्वहोरात्रमभोजनम्। कृच्छ्रं सान्तपनं नाम सर्वपापप्रणाशनम्॥' इति। एषां च गुरुलघुकृच्छ्राणां शक्त्याद्यपेक्षया व्यवस्था विज्ञेया। एवमुत्तरत्रापि व्यवस्था बोद्धव्या॥ ३१४॥

(सान्तपन व्रत की विधि बताते हुये कहते हैं–) (एक दिन) गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध, गाय की दही और घी तथा कुश का जल पीकर दूसरे दिन उपवास करे– यह दो रातों के सान्तपन व्रत की विधि है॥३१४॥

महासान्तपनाख्यं कृच्छ्रमाह—

पृथक्सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासकः।
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनः स्मृतः॥ ३१५॥

सप्ताहेनापवर्जितो महासान्तपनाख्यः कृच्छ्रो विज्ञेयः। कथमित्यपेक्षायामुक्तं पृथग्भूतैः षड्भिर्गोमूत्रादिभिरेकैकेनैकैकमहरतिवाहयेत् सप्तमं चोपवासेनेति। यमेन तु पञ्चदशाहसंपाद्यो महासान्तपनोऽभिहितः—'त्र्यहं पिबेत्तु गोमूत्रं त्र्यहं वै गोमयं पिबेत्। त्र्यहं दधि त्र्यहं क्षीरं त्र्यहं सर्पिस्ततः शुचिः॥

महासान्तपनं ह्येतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । जाबालेन त्वेकविंशतिरात्रिनिर्वर्त्यो महासान्तपनं उक्तः—'षण्णामेकैकमेतेषां त्रिरात्रमुपयोजयेत् । त्र्यहं चोपवसेदन्त्यं महासान्तपनं विदुः ॥' इति । यदा तु षण्णां सान्तपनद्रव्याणामेकैकस्य त्र्यहमुपयोगस्तदा अतिसान्तपनम् । यथाह यमः—'एतान्येव तथा पेयान्येकैकं तु त्र्यहं त्र्यहम् । अतिसान्तपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेत् ॥' इति । 'श्वपाकमपि शोधयेत्' इत्यर्थवादः ॥ ३१५ ॥

सान्तपन व्रत के छः द्रव्यों (गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी तथा कुशोदक) में से एक-एक द्रव्य का आहार करते हुये छः दिन बिताकर एक (सातवें) दिन उपवास करें– यह एक सप्ताह का महासान्तपन कृच्छ्रव्रत है ॥३१५ ॥

टिप्पणी– यम ने पन्द्रह दिनों का महासान्तपन व्रत बताया है। जाबाल ने इक्कीस दिन का महासान्तपन बताया है।

इति महासांतपनातिसांतपने ।

पर्णकृच्छ्राख्यं व्रतमाह—

पर्णोदुम्बरराजीवबिल्वपत्रकुशोदकैः ।
प्रत्येकं प्रत्यहं पीतैः पर्णकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१६ ॥

पलाशोदुम्बरारविन्दश्रीवृक्षपर्णानामेकैकेन क्वथितमुदकं प्रत्यहं पिबेत् । कुशोदकं चैकस्मिन्नहनीति पञ्चाहसाध्यः पर्णकृच्छ्रः । यदा तु पर्णादीनामेकीकृतानां क्वाथस्त्रिरात्रान्ते पीयते तदा पर्णकूर्चः । यथाह यमः—'एतान्येव समस्तानि त्रिरात्रोपोषितः शुचिः । क्वाथयित्वा पिबेदद्भिः पर्णकूर्चोऽभिधीयते ॥' इति । यदा तु बिल्वादिफलानि प्रत्येकं क्वथितानि मासं पीयन्ते तदा फलकृच्छ्रादिव्यपदेशं लभन्ते । यथाह मार्कण्डेयः—'फलैर्मासेन कथितः फलकृच्छ्रो मनीषिभिः । श्रीकृच्छ्रः श्रीफलैः प्रोक्तः पद्माक्षैरपरस्तथा ॥ मासेनामलकैरेवं श्रीकृच्छ्रमपरं स्मृतम् । पत्रैर्मतः पत्रकृच्छ्रः पुष्पैस्तत्कृच्छ्र उच्यते ॥ मूलकृच्छ्रः स्मृतो मूलैस्तोयकृच्छ्रो जलेन तु ॥' इति ॥ ३१६ ॥

पलाश, उदुम्बर (गूलर), कमल, बिल्व के पत्रों को एक-एक दिन उबाल कर पिये। पुनः पाँचवें दिन कुशोदक का पान करे। यह पाँच दिनों में संपाद्य पर्णकृच्छ्र व्रत बताया गया है ॥३१६ ॥

इति पर्णकृच्छ्र एकादशविधः ।

तप्तकृच्छ्रमाह—

तप्तक्षीरघृताम्बूनामेकैकं प्रत्यहं पिबेत् ।
एकरात्रोपवासश्च तप्तकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१७ ॥

दुग्धसर्पिरुदकानां तप्तानामेकैकं प्रतिदिवसं प्राश्यापरेद्युरुपवसेत्। एष दिवसचतुष्टयसंपाद्यो महातप्तकृच्छ्रः। एभिरेव समस्तैः सोपवासैर्द्विरात्रसंपाद्यः सान्तपनवत्तप्तकृच्छ्रः। मनुना तु द्वादशरात्रनिर्वर्त्योऽभिहितः (११।२१४)—'तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्। प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः॥' इति। क्षीरादिपरिमाणं तु पराशरेणोक्तं द्रष्टव्यम्।—'अपां पिबेत्तु त्रिपलं द्विपलं तु पयः पिबेत्। पलमेकं पिबेत्सर्पिस्त्रिरात्रं चोष्णमारुतम्॥' इति। त्रिरात्रमारुतस्य पूरणे उष्णोदकवाष्पं पिबेदित्यर्थः। यदा तु शीतं क्षीरादि पीयते तदा शीतकृच्छ्रः; 'त्र्यहं शीतं पिबेत्तोयं त्र्यहं शीतं पयः पिबेत्। त्र्यहं शीतं घृतं पीत्वा वायुभक्षः परं त्र्यहम्॥' इति यमस्मरणात् ३१७

दूध, घी और जल को एक-एक दिन तप्त (गर्म) करके पिये और चौथे दिन उपवास करे। यह तप्तकृच्छ्र व्रत बताया गया है॥३१७॥

इति तप्तकृच्छ्रश्चतुर्विधः।

पादकृच्छ्रमाह—

एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च।
उपवासेन चैवायं पादकृच्छ्रः प्रकीर्तितः॥ ३१८॥

एकभक्तेन सकृद्भोजनेन दिवैव; नक्तेनेति पृथगुपादानात्। अतश्च दिवैवैकवारमेव भोजनेनैवैकमहोरात्रमतिवाहयेदिति। तत्र दिवेति रात्रिव्युदासः। एकवारमिति द्विवारादिव्युदासः। भोजनेनेत्यभोजनव्युदासः। एतच्च कृच्छ्रादीनां व्रतरूपत्वात् पुरुषार्थभोजनपर्युदासेन कृच्छ्राङ्गभूतं भोजनं विधीयते। तथा चापस्तम्बः—'त्र्यहमनक्ताश्यदिवाशी च ततस्त्र्यहं। त्र्यहमयाचितव्रतस्त्र्यहं नाश्नाति किंचन' इति। अत्र च 'अनक्ताशी' इत्यनेन व्रतविहितेन णिनिप्रत्ययेन नक्तपर्युदासेन दिवाभोजननियमं दर्शयति। गौतमेनापीदमेव स्पष्टीकृतम्—'हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नाश्नीयात्' इति। एवं नक्तभोजनविधावपि। न विद्यते याचितं यस्मिन्भोजने तदयाचितम्। तेन कालविशेषानुपादानाद्दिवा रात्रौ वा सकृदित्येव; तपोरूपत्वात्कृच्छ्राणां द्वितीयभोजने तदनुपपत्तेः। अयाचितमिति न केवलं परकीयान्नयाचनप्रतिषेधोऽपि तु स्वकीयमपि परिचारकभार्यादिभ्यो न याचितव्यम्। प्रेषणाध्येषणयोः साधारणत्वाद्याच्ञायाः। अतः स्वगृहेऽपि भृत्यभार्यादयोऽनाज्ञप्ता एव यदि भोजनमुपहरन्ति तर्हि भोक्तव्यं, नान्यथा। अमुनैवाभिप्रायेणोक्तं गौतमेन—'अथापरं त्र्यहं न कंचन याचेत' इति। अत्र च ग्राससंख्यानियमः पराशरेण दर्शितः—'सायं तु द्वादशग्रासाः प्रातः पञ्चदश स्मृताः। चतुर्विंशतिरायाच्याः परं निरशनं स्मृतम्॥' इति। आपस्तम्बेन त्वन्यथोक्तम्—'सायं द्वाविंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिः स्मृताः। चतुर्विंशतिरायाच्याः परं निरशनास्त्रयः। कुक्कुटाण्डप्रमाणास्तु यथा वास्यं विशेत्सुखम्॥'

इति ॥ अनयोश्च कल्पयोः शक्त्यपेक्षया विकल्पः । आपस्तम्बेन तु प्राजापत्यप्रायश्चित्तं चतुर्धा विभज्य चतुरः पादकृच्छ्रान्कृत्वा वर्णानुरूपेण व्यवस्था दर्शिता—'त्र्यहं निरशनं पादः पादश्चायाचितं त्र्यहम् । सायं त्र्यहं तथा पादः पादः प्रातस्तथा त्र्यहम् ॥ प्रातः पादं चरेच्छूद्रः सायं वैश्ये तु दापयेत् । अयाचितं तु राजन्ये त्रिरात्रं ब्राह्मणे स्मृतम् ॥' इति । यदा त्वयाचितोपवासात्मकत्र्यहद्वयानुष्ठानं तदाऽर्धकृच्छ्रः । सायंव्यतिरिक्तापरत्र्यहत्रयानुष्ठानं तु पादोनमिति विज्ञेयम् । 'सायंप्रातर्विनार्धं स्यात्पादोनं नक्तवर्जितम्' इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ अर्धकृच्छ्रस्य प्रकारान्तरमपि तेनैव दर्शितम्—'सायं प्रातस्तथैकैकं दिनद्वयमयाचितम् । दिनद्वयं च नाश्नीयात्कृच्छ्रार्धं तद्विधीयता ॥' इति ॥ ३१८ ॥

एक दिन केवल दिन में एक बार भोजन करे और दूसरे दिन केवल रात्रि में एक बार भोजन करे। तीसरे दिन बिना याचना किये मिले अन्न का भोजन करे और चौथे दिन उपवास करे- यह पादकृच्छ्र व्रत बताया गया है ॥३१८ ॥

प्राजापत्यं कृच्छ्रमाह—

यथाकथंचित्रिगुणः प्राजापत्योऽयमुच्यते ।

अयमेव पादकृच्छ्रः यथाकथंचिद्दण्डकलितवदावृत्त्या स्वस्थानविवृद्ध्या वा, तत्राप्यानुलोम्येन प्रातिलोम्येन वा तथा वक्ष्यमाणजपादियुक्तं तद्रहितं वा त्रिरभ्यस्तः प्राजापत्योऽभिधीयते । तत्र दण्डकलितवदावृत्तिपक्षो वसिष्ठेन प्रदर्शितः—'अहः प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम् । अहः पराकं तत्रैकमेवं चतुरहौ परौ ॥ अनुग्रहार्थं विप्राणां मनुर्धर्मभृतां वरः । बालवृद्धातुरेष्वेवं शिशुकृच्छ्रमुवाच ह ॥' इति । आनुलोम्येन स्वस्थानविवृद्धिपक्षस्तु मनुना दर्शितः (११।२११)—'त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् । परं त्र्यहं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥' इति प्रातिलोम्यावृत्तिस्तु वसिष्ठेन दर्शिता—'प्रातिलोम्यं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम्' इति । जपादिरहितपक्षस्तु स्त्रीशूद्रादिविषयेऽङ्गिरसा दर्शितः—'तस्माच्छूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमादिवर्जितम् ॥' इति । जपादियुक्तपक्षस्तु पारिशेष्याद्योग्यतया च त्रैवर्णिकविषयः । स च गौतमादिभिर्दर्शितः—'अथातः कृच्छ्रान्व्याख्यास्यामो हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नाश्नीयादथापरं त्र्यहं नक्तं भुञ्जीताथापरं त्र्यहं न कंचन याचेताथापरं त्र्यहमुपवसंस्तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकामः सत्यं वदेदनार्यैः सह न भाषेत रौरवयौधाजपे नित्यं प्रयुञ्जीतानुसवनमुदकोपस्पर्शनमापोहिष्ठेति तिसृभिः पवित्रवतीभिर्मार्जयीत हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्यष्टाभिरथोदकतर्पणम् । नमोहमाय मोहमाय महमाय धन्वने तापसाय पुनर्वसवे नमः मौञ्ज्याय और्म्याय वसुविन्दाय सर्वविदाय नमः । पाराय सुपाराय महापाराय पारदाय परपाराय पारयिष्णवे नमः । रुद्राय पशुपतये महते देवाय त्र्यम्बकायैकचरायाधिपतये हराय शर्वायेशानायोग्राय वज्रिणे घृणिने कपर्दिने नमः सूर्यायादित्याय नमः । नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय नमः । कृष्णाय पिङ्गलाय नमः ।

ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायोर्ध्वरेतसे नमः। सत्याय पावकाय पावकवर्णायैकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः। दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः। तीक्ष्णाय तीक्ष्णरूपिणे नमः। सौम्याय सुपुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषाय उत्तमपुरुषाय ब्रह्मचारिणे नमः। चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नम इति। एतदेवादित्योपस्थानमेता एवाज्याहुतयो द्वादशरात्रस्यान्ते चरुं श्रपयित्वा एताभ्यो देवताभ्यो जुहुयादग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाग्नीषोमाभ्यामिन्द्राग्निभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मणे प्रजापतयेऽग्नये स्विष्टकृते इति अन्ते ब्राह्मणभोजनम्' इति। तत्र तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकाम इत्यस्यार्थः—यस्तु महतोऽप्येनसः क्षिप्रमेकेनैव कृच्छ्रेण क्षिप्रं मुच्येयमित्येवं कामयते असावहनि कर्माविरुद्धेषु कालेषु तिष्ठेद्रात्रावासीत। एवं रौरवयोधाख्यसामजपो नमोहमायेत्यादिभिस्तर्पणमादित्योपस्थानादिकं चरुश्रपणादिकं च योगीश्वराद्यनुक्तं क्षिप्रकामः कुर्वीत। अतश्च योगीश्वराद्युक्तप्राजापत्यद्वयस्थाने गौतमीयमनेकेतिकर्तव्यतासहितं द्रष्टव्यम्। एवमन्यान्यपि स्मृत्यन्तरोक्तानि विशेषेणान्वेषणीयानि॥

इसी पादकृच्छ्र का किसी भी प्रकार तीन गुना करके व्रत करने पर प्राजापत्यकृच्छ्र कहा जाता है।

अतिकृच्छ्रमाह—

अयमेवातिकृच्छ्रः स्यात्पाणिपूरान्नभोजनः ॥ ३१९ ॥

एतद्धर्मक एव एकभक्तादिप्राजापत्यधर्मयुक्तोऽतिकृच्छ्रः स्यात्। इयांस्तु विशेषः—आद्ये त्र्यहत्रये पाणिपूरणमात्रमन्नं भुञ्जीत न पुनर्द्वाविंशत्यादिग्रासान्। अत्र च ग्रासभोजनानुवादेन पाणिपूरान्नविधानादन्त्यत्र्यहेऽतिदेशप्राप्त उपवासोऽप्रतिपक्ष एव। अत्रापि पादशो व्यवस्था पूर्ववदेव द्रष्टव्या। यत्तु मनुनोक्तम् (११।२१३)—'एकैकं ग्रासमश्नीयात्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्। त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः॥' इति,—तत्पाणिपूरान्नपरिमितोदल्पत्वाच्छक्तविषयम् ३१९

यदि तीन दिनों में केवल एक हाथ में आने पर भोजन किया जाय तो अतिकृच्छ्र होता है ॥३१९॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रमाह—

कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम्।

एकविंशतिरात्रं पयसा वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्राख्यं व्रतं विज्ञेयम्। गौतमेन तु द्वादशरात्रमुदकेन वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्र उक्तः 'अब्भक्षस्तृतीयः स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः' इति। अतश्च शक्त्यपेक्षयाऽनयोर्व्यवस्था॥

इक्कीस दिन केवल दूध पर बिताने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत होता है।

पराकमाह—

द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः ॥ ३२० ॥

ऋज्वर्थोऽयमर्धश्लोकः ॥ ३२० ॥

बारह दिन के उपवास को पराक व्रत कहते हैं ॥३२० ॥

सौम्यकृच्छ्रमाह—

पिण्याकाचामतक्राम्बुसक्तूनां प्रतिवासरम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रः[1] सौम्योऽयमुच्यते ॥ ३२१ ॥

पिण्याकोदनमिस्रावोदश्विदुदकसक्तूनां पञ्चानामेकैकं प्रतिदिवसं[2] समुपभुज्य षष्ठेऽह्नि उपवसेदेष सौम्याख्यः कृच्छ्रोऽभिधीयते । द्रव्यपरिमाणं तु प्राणयात्रामात्रनिबन्धनमधिगन्तव्यम् । जाबालेन तु चतुरहव्यापी सौम्यकृच्छ्र उक्तः—'पिण्याकं सक्तवस्तक्रं चतुर्थेऽहन्यभोजनम् । वासो वै दक्षिणां दद्यात्सौम्योऽयं कृच्छ्र उच्यते ॥' इति ॥ ३२१ ॥

पिण्याक (तिलकल्क), आचाम (भात का माँड), जल, तक्र और सत्तू– इन पाँचों में से एक-एक से क्रमशः पाँच दिन बिताकर पुनः एक दिन उपवास करने पर सौम्यकृच्छ्र व्रत होता है ॥३२१ ॥

तुलापुरुषाख्यं कृच्छ्रमाह—

एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्य यथाक्रमम् ।
तुलापुरुष इत्येष ज्ञेयः पञ्चदशाहिकः ॥ ३२२ ॥

एषां पिण्याकादीनां पञ्चानां क्रमेणैकैकस्य त्रिरात्राभ्यासेन पञ्चदशाहव्यापी तुलापुरुषाख्यः कृच्छ्रो वेदितव्यः । अत्र च पञ्चदशाहिकत्वविधानादुपवासस्य निवृत्तिः ॥ यमेन त्वेकविंशतिरात्रिकस्तुलापुरुष उक्तः—'आचाममथ पिण्याकं तक्रं चोदकसक्तुकान् । त्र्यहं त्र्यहं प्रयुञ्जानो वायुभक्षी त्र्यहद्वयम् ॥ एकविंशतिरात्रस्तु तुलापुरुष उच्यते ॥' इति । अत्र हारीताद्युक्तेतिकर्तव्यता ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते ॥ ३२२ ॥

इन उपर्युक्त पाँचों में से क्रमशः एक-एक से तीन-तीन दिन बिताने पर पन्द्रह दिन का यह तुलापुरुष व्रत होता है ॥३२२ ॥

चान्द्रायणमाह—

तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान् शुक्ले शिख्यण्डसंमितान् ।
एकैकं ह्रासयेत्कृष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरन् ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायणाख्यं व्रतं कुर्वन् मयूराण्डपरिमितान् पिण्डान् शुक्ले आपूर्यमाणपक्षे तिथिवृद्ध्या चरेत् भक्षयेत् । यथा प्रतिपत्प्रभृतिषु चन्द्रकलानामेकैकशो वृद्धिरर्धमासे तद्वत्पिण्डानपि प्रतिपद्येको द्वितीयायां द्वावित्येवमेकै-

कशो वर्धयन् भक्षयेद्यावत्पौर्णमासी । ततः पञ्चदश्यां पञ्चदश ग्रासान्भुक्त्वा ततः कृष्णपक्षे चतुर्दश प्रतिपदि द्वितीयायां त्रयोदशेत्येवमेकैकशो ग्रासान् ह्रासयन्नश्नीयाद्यावच्चतुर्दशी । ततश्चतुर्दश्यामेकं ग्रासं ग्रसित्वा इन्दुक्षयेऽर्थादुपवसेत् । तथा च वसिष्ठः—'एकैकं वर्धयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत् । इन्दुक्षये न भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिः ॥' इति । चन्द्रस्यायनमिवायनं चरणं यस्मिन्कर्मणि ह्रासवृद्धिभ्यां तच्चान्द्रायणम् । संज्ञायां दीर्घः । इदं च यववत् प्रान्तयोरणीयो मध्ये स्थवीय इति यवमध्यमिति कथ्यते । एतदेव व्रतं यदा कृष्णपक्षप्रतिपदि प्रक्रम्य पूर्वोक्तक्रमेणानुष्ठीयते तदा पिपीलिकावन्मध्ये ह्रसिष्ठं भवतीति पिपीलिकमध्यमिति कथ्यते । तथा हि—पूर्वोक्तक्रमेण कृष्णप्रतिपदि चतुर्दश ग्रासान् भुक्त्वा एकैकग्रासापचयेन चतुर्दशीं यावद्भुञ्जीत । ततश्चतुर्दश्यामेकं ग्रासं ग्रसित्वाऽमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपद्येकमेव ग्रासं प्राश्नीयात् । तत एकैकोपचयभोजनेन पक्षशेषे निर्वर्त्यमाने पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासाः संपद्यन्त इति युक्तैव पिपीलिकामध्यता । तथा च वसिष्ठः—'मासस्य कृष्णपक्षादौ ग्रासानद्याच्चतुर्दश । ग्रासापचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेत् ॥ तथैव शुक्लपक्षादौ ग्रासं भुञ्जीत चापरम् । ग्रासोपचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेत् ॥' इति । यदा त्वेकस्मिन्पक्षे तिथिवृद्धिह्रासवशात् षोडश दिनानि भवन्ति चतुर्दश वा तदा ग्रासानामपि वृद्धिह्रासौ वेदितव्यौ । 'तिथिवृद्ध्या पिण्डांश्चरेत्' इति नियमात् । गौतमेनात्र विशेषो दर्शितः—'अथातश्चान्द्रायणं तस्योक्तो विधिः कृच्छ्रे वपनं च व्रतं चरेत् श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत् आप्यायस्व संतेपयांसि नवोनव इति चैताभिस्तर्पणमाज्यहोमो हविषश्चानुमन्त्रणमुपस्थानं च चन्द्रमसः यद्देवादेवहेडनमिति चतसृभिराज्यं जुहुयाद्देवकृतस्येति चान्ते समिद्भिस्त्रिभिः ॐभूः ॐभुवः ॐस्वः ॐमहः ॐजनः ॐतपः ॐसत्यं यशः श्रीः ऊर्क् इड् ओजः तेजः पुरुषः धर्मः शिवः इत्येतैर्ग्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं मनसा नमः स्वाहेति वा सर्वानेतैरेव ग्रासान्भुञ्जीत । तद्ग्रासप्रमाणमास्याधिकारेण चरुभैक्षसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलोदकानि हवींष्युत्तरोत्तरं प्रशस्तानि । पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान् भुक्त्वा एकैकापचयेनापरपक्षमश्नीयात् । अमवास्यायामुपोष्यैकैकोपचयेन पूर्वपक्षं विपरीतमेकेषामेव चान्द्रायणो मासः' इति । अत्र ग्रासप्रमाणमास्याधिकारेणेति यदुक्तं,—तद्बालाभिप्रायम् । तेषां शिख्यण्डपरिमितपञ्चदशग्रासभोजनाशक्तेः । क्षीरादिहविष्षु शिख्यण्डपरिमितत्वं तु पर्णपुटकादिना संपादनीयम् । तथा कुक्कुटाण्डार्द्रामलकादीनि तु ग्रासपरिमाणानि स्मृत्यन्तरोक्तानि शक्तिविषयाणि शिख्यण्डपरिमाणाल्लघुत्वात्तेषाम् । यत्पुनरत्र 'श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत्' इत्यत्र चतुर्दश्यामुपवासमभिधाय 'पौर्णमास्यां पञ्चदशग्रासान्भुक्त्वा' इत्यादिना द्वात्रिंशदहरात्मकत्वं चान्द्रायणस्योक्तं तत्पक्षान्तरप्रदर्शनार्थं न सार्वत्रिकम्; योगीश्वरवचनानुरोधेन त्रिंशदहरात्मकस्य दर्शितत्वात् । यद्येतत्सार्वत्रिकं स्यात्तदा नैरन्तर्येण संवत्सरे चान्द्रायणानुष्ठानानुपपत्तिः स्यात् । चन्द्रगत्यनुवर्तनानुपपत्तिश्च ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायण व्रत करता हुआ व्यक्ति मयूर के अण्डे के बराबर ग्रास बनाकर शुक्ल पक्ष में तिथि की वृद्धि के अनुसार एक-एक ग्रास बढ़ावे और कृष्णपक्ष में तिथि के अनुसार एक-एक घटावे। इस प्रकार वृद्धि और ह्रास करते हुये भोजन करने पर चान्द्रायण व्रत होता है ॥३२३॥

चान्द्रायणान्तरमाह—

यथाकथंचित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम् ।
मासेनैवोपभुञ्जीत चान्द्रायणमथापरम् ॥ ३२४ ॥

पिण्डानां चत्वारिंशदधिकं शतद्वयं मासेन भुञ्जीत । यथाकथंचित्प्रतिदिनं मध्याह्नेऽष्टौ ग्रासान्, अथवा नक्तंदिनयोश्चतुरश्चतुरो वा, अथवैकस्मिंश्चतुरोऽपरस्मिन्द्वादश वा तथैकरात्रमुपोष्यापरस्मिन्षोडश वेत्यादिप्रकाराणामन्यतमेन शक्त्याद्यपेक्षया भुञ्जीतेत्येतत्पूर्वोक्तचान्द्रायणद्वयादपरं चन्द्रायणम्। अतस्तयोर्नायं ग्राससंख्यानियमः, किंतु पञ्चविंशत्यधिकशतद्वयसंख्यैव। मनुना चैते प्रकारा दर्शिताः (११।२१८–२२०)—'अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते। नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरेत् ॥ चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः। चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥ यथाकथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः। मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥' इति। तथा चत्वारिंशच्छतद्वयन्यूनसंख्याग्राससंपाद्यस्यापि संग्रहार्थं 'अपर'ग्रहणम्। यथाह यमः—'त्रींस्त्रीन्पिण्डान्समश्नीयान्नियतात्मा दृढव्रतः। हविष्यान्नस्य वै मासमृषिचान्द्रायणं स्मृतम् ॥' इति। एषु च यतिचान्द्रायणप्रभृतिषु चन्द्रगत्यनुसरणमपेक्षितम्। अतस्त्रिंशद्दिनात्मकसाधारणेन मासेन नैरन्तर्येण चान्द्रायणानुष्ठाने यदि कथंचित्तिथिवृद्धिह्रासवशात् पञ्चम्यादिष्वारम्भो भवति तथापि न दोषः। यदपि सौमायनाख्यं मासव्रतं मार्कण्डेयेनोक्तम्—'गोक्षीरं सप्तरात्रं तु पिबेत्स्तनचतुष्टयात्। स्तनत्रयात्सप्तरात्रं सप्तरात्रं स्तनद्वयात् ॥ स्तनेनैकेन षड्रात्रं त्रिरात्रं वायुभुग्भवेत् । एतत्सोमायनं नाम व्रतं कल्मषनाशनम् ॥' इति। स्मृत्यन्तरे 'सप्ताहं चेत्येतद्गोस्तनमखिलमथ त्रीन्स्तनान्द्वौ तथैकं कुर्यात्त्रींश्चोपवासान्यदि भवति तदा मासि सोमायनं तत्' इति,–तदपि चान्द्रायणकर्मकमेव। हारीतेनापि 'अथातश्चान्द्रायणमनुक्रमिष्ये' इत्यादिना सेतिकर्तव्यताकं चान्द्रायणमभिधायैवमेव सोमायनमित्यतिदेशाभिधानात्। यत्पुनस्तेन कृष्णचतुर्थीमारभ्य शुक्लद्वादशीपर्यन्तं सोमायनमुक्तम्। चतुर्थीप्रभृतिचतुःस्तनेन त्रिरात्रं त्रिस्तनेन त्रिरात्रं द्विस्तनेन त्रिरात्रं एकस्तनेन त्रिरात्रमेवमेकस्तनप्रभृति पुनश्चतुःस्तनान्तं 'या ते सोम चतुर्थी तनूस्तया नः पाहि तस्यै नमः स्वाहा, या ते सोम पञ्चमी षष्ठीत्येवं यागार्थास्तिथिहोमा एवं स्तुत्वा एनोभ्यः पूतश्चन्द्रमसः समानतां सलोकतां सायुज्यं च गच्छति' इति चतुर्विंशतिदिनात्मकं सोमायनमुक्तं,–तदशक्तविषयम्॥ ३२४ ॥

अथवा जिस किसी प्रकार से एक मास में दो सौ चालिस ग्रास भोजन करे। यह (पूर्वोक्त चान्द्रायण-विधि से) अन्य चान्द्रायण व्रत है ॥३२४॥

अथ कृच्छ्रचान्द्रायणसाधारणीमितिकर्तव्यतामाह—

कुर्यात्त्रिषवणस्नायी कृच्छ्रं चान्द्रायणं तथा ।
पवित्राणि जपेत्पिण्डान्गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥३२५॥

कृच्छ्रं प्राजापत्यादिकं चान्द्रायणं वा त्रिषवणस्नानयुक्तः कुर्यात् ।–एतच्च तप्तकृच्छ्रव्यतिरेकेण । तत्र 'सकृत्स्नायी समाहितः' इति मनुना विशेषाभिधानात् ॥ यत्पुनः शङ्खेन कृच्छ्रेषु त्रिषवणस्नानमभिहितम्—'त्रिरह्नि त्रिर्निशायां तु सवासा जलमाविशेत्' इति,–तदशक्तविषयम् । यत्पुनर्वैशम्पायनेन द्वैकालिकं स्नानमुक्तम्—'स्नानं द्विकालमेव स्यात्त्रिकालं वा द्विजन्मनः' इति,–तत्त्रिषवणस्नानाशक्तस्य वेदितव्यम् ॥ यत्पुनर्गार्ग्येणोक्तम्—'एकवासाश्चरेद्भैक्षं स्नात्वा वासो न पीडयेत्' इति,–तदपि शक्तस्यैव; 'एकवासा आर्द्रवासा वा लघ्वाशी स्थण्डिलेशयः' इत्येकवस्त्रताया अपि शङ्खेन पाक्षिकत्वेनाभिधानात् । स्नाने च हारीतेन विशेष उक्तः—'त्र्यवरं शुद्धवतीभिः स्नात्वाघमर्षणमन्तर्जले जपित्वा धौतमहतं वासः परिधाय साम्ना सौम्येनादित्यमुपतिष्ठेत' इति । स्नानानन्तरं च पवित्राणि जपेत् । पवित्राणि च 'अघमर्षणं देवकृतः शुद्धवत्यस्तरत्समाः' इत्यादीनि वसिष्ठादिप्रतिपादितानामन्यतमान्यर्थाविरुद्धेषु कालेषु अन्तर्जले जपेत् सावित्रीं वा । (११।२२५)—'सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः' इति मनुस्मरणात् । यत्तु गौतमेनोक्तम्—'रौरवयौधाजपे नित्यं प्रयुञ्जीत' इति,–तदपि पवित्रत्वादेवोक्तं, न पुनर्नियमाय; तथा सति श्रुत्यन्तरमूलत्वकल्पनाप्रसङ्गात् । अतोऽनधीतसामवेदेन गायत्र्यादिकमेव जप्तव्यम् । यदपि 'नमो हमाय मोहमाय इत्यादि पठित्वा एता एवाज्याहुतयः' इत्युक्तं,–तदपि न नैयमिकं किंतु 'महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम्' (११।२२२) इति मनुना महाव्याहृतिभिर्होमविधानात् ॥ तथा षट्त्रिंशन्मतेऽप्युक्तम्—'जपहोमादि यत्किंचित्कृच्छ्रोक्तं संभवेन्न चेत् । सर्वं व्याहृतिभिः कुर्याद्गायत्र्या प्रणवेन च ॥' इति । 'आदि'ग्रहणादुदकतर्पणादित्योपस्थानादेर्ग्रहणम् । अत एव वैशम्पायनः—'स्नात्वोपतिष्ठेदादित्यं सौरीभिस्तु कृताञ्जलिः' इति । एवमन्येष्वपि विरोधिपदार्थेषु विकल्प आश्रयणीयः । अविरोधिषु समुच्चयः । शाखान्तराधिकरणन्यायेन सर्वस्मृतिप्रत्ययत्वात्कर्मणः ॥ जपसंख्यायां विशेषस्तेनैव दर्शितः—'ऋषभं विरजं चैव तथा चैवाघमर्षणम् । गायत्रीं वा जपेद्देवीं पवित्रां वेदमातरम् ॥ शतमष्टशतं वापि सहस्रमथवा परम् । उपांशु मनसा वापि तर्पयेत्पितृदेवताः ॥ मनुष्यांश्चैव भूतानि प्रणम्य शिरसा ततः ॥' इति । तथा **पिण्डांश्च प्रत्येकं गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्** । तथा यमेनापि विशेष उक्तः—'अङ्गुल्यग्रस्थितं पिण्डं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् । प्राश्याचम्य पुनः कुर्यादन्यस्याप्यभिमन्त्रणम् ॥' इति । अतश्च ॐभूर्भुवःस्वरित्यादिभिर्गौतमोक्तैरभिमन्त्रणमन्त्रैः सहास्य विकल्प उक्तः । यत्पुनरापस्तम्बेन्यायस्व संतेपयांसीत्यादिभिः पिण्डकरणात्पूर्वं हविषोऽभिमन्त्रणमुक्तं,–तद्भिन्नकार्यत्वात्समुच्चीयते । एतानि च कृच्छ्रादिव्रतानि यदा प्रायश्चित्तार्थमनुष्ठीयन्ते तदा

केशादिवपनपूर्वकं परिगृहीतव्यानि; 'वापनं व्रतं चरेत्' इति गौतमस्मरणात्। अभ्युदयार्थे तु नैव वपनम्। वसिष्ठेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'कृच्छ्राणां व्रतरूपाणां श्मश्रुकेशादि वापयेत्। कुक्षिरोमशिखावर्ज्यम्' इति। कृच्छ्राणां व्रतरूपाणि वपनादीन्यङ्गानि वक्ष्यन्त इति शेषः। पर्षदुपदिष्टव्रतग्रहणं च व्रतानुष्ठानदिवसात्पूर्वेद्युः सायाह्ने कार्यम्। यथाह वसिष्ठः—'सर्वपापेषु सर्वेषां व्रतानां विधिपूर्वकम्। ग्रहणं संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्ते चिकीर्षिते॥ दिनान्ते नखरोमादीन्प्रवाप्य स्नानमाचरेत्। भस्मगोमयमृद्वारिपञ्चगव्यादिकल्पितैः॥ मलापकर्षणं कार्यं बाह्यशौचोपसिद्धये। दन्तधावनपूर्वेण पञ्चगव्येन संयुतम्॥ व्रतं निशामुखे ग्राह्यं बहिस्तारकदर्शने। आचम्यातः परं मौनी ध्यायन्दुष्कृतमात्मनः॥ मनःसंतापनं तीव्रमुद्वहेच्छोकमन्ततः॥' इति। बहिरिति ग्रामाद्बहिर्निष्क्रम्य। स्त्रियाप्येवमेव व्रतपरिग्रहः कार्यः। केशश्मश्रुलोमनखवपनं तु नास्ति; 'चान्द्रायणादिष्वेतदेव स्त्रियाः केशवपनवर्ज्यम्' इति बौधायनस्मरणात्॥

वपनानिच्छोस्तु हारीतेन विशेष उक्तः—'राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः। केशानां वपनं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥ केशानां रक्षणार्थं तु द्विगुणं व्रतमाचरेत्। द्विगुणे तु व्रते चीर्णे दक्षिणा द्विगुणा भवेत्॥' इति। एतच्च महापातकादिदोषविशेषाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्—'विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनम्। व्रते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः॥' इति मनुस्मरणात्। जाबालेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'आरम्भे सर्वकृच्छ्राणां समाप्तौ च विशेषतः। अनेनैव च शालाग्नौ जुहुयाद्व्याहृतीः पृथक्॥ श्राद्धं कुर्याद्व्रतान्ते तु गोहिरण्यादि दक्षिणा' इति। यमेनाप्यत्र विशेषोऽभिहितः—'पश्चात्तापो निवृत्तिश्च स्नानं चाङ्गतयोदितम्। नैमित्तिकानां सर्वेषां तथा चैवानुकीर्तनम्॥' तथा—'गात्राभ्यङ्गशिरोभ्यङ्गौ ताम्बूलमनुलेपनम्। व्रतस्थो वर्जयेत्सर्वं यच्चान्यद्बलरागकृत्॥' इति। एवमादिकर्तव्यताजातं स्मृत्यन्तरादन्वेष्टव्यम्। एवमनेन विधिना व्रतं गृहीत्वाऽवश्यं परिसमापनीयम्, अन्यथा तु प्रत्यवायः; 'पूर्वं व्रतं गृहीत्वा तु नाचरेत्काममोहितः। जीवन्भवति चाण्डालो मृतः श्वा चैव जायते॥' इति छागलेयस्मरणात्। इत्यलं प्रपञ्चेन॥ ३२५॥

प्राजापत्य आदि कृच्छ्र व्रत और चान्द्रायण व्रत तीनों सवनों (प्रातः, मध्याह्न और सायं) में स्नान करते हुये करे। पवित्र मन्त्रों का जप करे और प्रत्येक ग्रास को गायत्री मंत्र से अभिमन्त्रित करे॥३२५॥

इत्थमुक्तविनियोगस्य चान्द्रायणादेः स्वरूपमभिधाय लब्धप्रसङ्गकार्यान्तरेऽपि विनियोगमाह—

अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धिश्चान्द्रायणेन च ।
धर्मार्थं यश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ ३२६ ॥

आदिश्यत इत्यादिष्टं प्रायश्चित्तं न विद्यते आदिष्टं येषु पापेषु तेषु चान्द्रायणेन शुद्धिः । 'च'शब्दात्प्राजापत्यादिभिः कृच्छ्रैरैन्दवसहितैस्तन्निरपेक्षैर्वा शुद्धिः । तथा च षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'यानि कानि च पापानि गुरोर्गुरुतराणि च । कृच्छ्रातिकृच्छ्रैचान्द्रेयैः शोध्यन्ते मनुरब्रवीत् ॥' इति त्रयाणां समुच्चयः प्रतिपादितः । उशनसा तु द्वयोः समुच्चय उक्तः—'दुरितानां दुरिष्टानां पापानां महतामपि । कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । दुरितमुपपातकम्, दुरिष्टं पातकम् । गौतमेन तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तमिति विसमासकरणेनैन्दवनिरपेक्षता कृच्छ्रातिकृच्छ्रयोः सूचिता । चान्द्रायणस्य निरपेक्षता 'इति'शब्देन च त्रयाणां समुच्चयः । केवलप्राजापत्यस्य तु निरपेक्षं चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'लघुदोषे त्वनादिष्टे प्राजापत्यं समाचरेत्' इति । गौतमेनापि प्राजापत्यादेर्नैरपेक्षत्वमुक्तम्—'प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति, द्वितीयं चरित्वा यदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते, तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते' इति महापातकादपीत्यभिप्रेतम् । मनुनाप्युक्तम् (११।२१५)—'पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः' इति । हारीतेनाप्युक्तम्—'चान्द्रायणं यावकश्च तुलापुरुष एव च । गवां चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनम् ॥' तथा—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत् ॥' तथा तप्तकृच्छ्रमधिकृत्यापि तेनैवोक्तम्—'एष कृच्छ्रो द्विरभ्यस्तः पातकेभ्यः प्रमोचयेत् । त्रिरभ्यस्तो यथान्यायं शूद्रहत्यां व्यपोहति ॥' इति । उशनसा चोक्तम्—'यत्रोक्तं यत्र वा नोक्तं महापातकनाशनम् । प्राजापत्येन कृच्छ्रेण शोधयेन्नात्र संशयः ॥' इति । एतानि प्राजापत्यादीन्यनादिष्टेषूपपातकादिषु सकृदभ्यासापेक्षया व्यस्तानि समस्तानि वा योजनीयानि । तथा आदिष्टव्रतेष्वपि महापातकादिषु अभ्यासापेक्षया योजनीयानि । अत एव यमेनोक्तम्—'यत्रोक्त'मित्यादि । गौतमेनाप्युक्तनिष्कृतीनां संग्रहार्थं सर्वप्रायश्चित्तग्रहणं कृतम् । तथा यद्यपि तेनैवोक्तम्—'द्वितीयं चरित्वा यदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते' इत्युक्त्वा 'तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते' इति,—तदपि महापातकाभिप्रायं नतु क्षुद्रपातकाभिप्रायम् । नच महापातकमनुक्तनिष्कृतिकं संभवति, तस्मादुक्तनिष्कृतिकेष्वपि प्राजापत्यादयो योजनीयाः । तत्र द्वादशवार्षिकव्रते द्वादशद्वादशदिनान्येकैकं प्राजापत्यं परिकल्प्य गण्यमाने प्राजापत्यानां षष्ट्यधिकशतत्रयं द्वादशवार्षिके वैकल्पिकमनुष्ठेयं भवति । तदशक्तौ तावत्यो वा धेनवो दातव्याः । तदसंभवे निष्काणां षष्ट्य-

धिकशतत्रयं दातव्यम् । तथा स्मृत्यन्तरम्—'प्राजापत्यक्रियाऽशक्तो धेनुं दद्याद्विचक्षणः । धेनोरभावे दातव्यं मूल्यं तुल्यमसंशयम् ॥ मूल्यार्धमपि निष्कं वा तदर्धं शक्त्यपेक्षया । गवामभावे निष्कः स्यात्तदर्धं पाद एव वा' इति स्मरणात् । मूल्यदानस्याप्यशक्तौ तावन्तो वोदवासाः कार्याः । तत्राप्यशक्तौ गायत्रीजपः षट्त्रिंशल्लक्षसंख्याकः कार्यः; 'कृच्छ्रोऽयुतं तु गायत्र्या उदवासस्तथैव च । धेनुप्रदानं विप्राय सममेतच्चतुष्टयम् ॥' इति पराशरस्मरणात् । यत्तु चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'गायत्र्यास्तु जपन्कोटिं ब्रह्महत्यां व्यपोहति । लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लक्षसप्ततिः । गायत्र्याः षष्टिभिर्लक्षैर्मुच्यते गुरुतल्पगः ॥' इति,–तद् द्वादशवार्षिकतुल्यविधानतयोक्तं; न पुनरशक्तविषयमिति न विरोधः । एवमन्येऽपि—'कृच्छ्रो देव्ययुतं चैव प्राणायामशतद्वयम् । तिलहोमसहस्रं तु वेदपारायणं तथा ॥' इत्यादयः प्रत्याम्नायाश्चतुर्विंशतिमतादिशास्त्राभिहिताः षष्ट्यधिकत्रिशतगुणिता महापातकेषु बोद्धव्याः । अतिपातकेषु सप्तत्यधिकशतद्वयं प्राजापत्यानां कर्तव्यम् । तावन्तो वा धेन्वादयः प्रत्याम्नायाः । पातकेषु साशीतिशतं प्राजापत्याः प्रत्याम्नायाः धेन्वादयस्तावन्त एव वा । तथा चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'जन्मप्रभृति पापानि बहूनि विविधानि च । कृत्वाऽर्वाग् ब्रह्महत्यायाः षडब्दं व्रतमाचरेत् ॥ प्रत्याम्नाये गवां देयं साशीति धनिना शतम् । तथाऽष्टादशलक्षाणि गायत्र्या वा जपेद्बुधः ॥' इति । इदमेव द्वादशवार्षिके व्रते द्वादशद्वादशदिनैरेकैकप्राजापत्यकल्पनायां लिङ्गम् । एवमुपपातकेषु त्रैवार्षिकप्रायश्चित्तविषयभूतेषु नवतिप्राजापत्यास्तावन्तः प्रत्याम्नायाः । त्रैमासिकविषयेषु पुनः सार्धसप्तप्राजापत्याः प्रत्याम्नायाश्च धेनूदवासादयस्तावन्त एव । मासिकव्रतविषयेषु तु सार्धं प्राजापत्यद्वयं तावानेव वा प्रत्याम्नायः । चान्द्रायणविषयभूतेषु पुनरुपपातकेषु प्राजापत्यत्रयम् । तदशक्तस्य प्रत्याम्नायस्तावानेव । यत्पुनश्चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'अष्टौ चान्द्रायणे देयाः प्रत्याम्नायविधौ सदा' इति,–तदपि धनिनः पिपीलिकामध्यादिचान्द्रायणप्रत्याम्नायविषयम् । मासातिकृच्छ्रविषयभूतेषु पुनरुपपातकेषु सार्धसप्तप्राजापत्याः प्रत्याम्नायाश्च धेन्वादयस्तावन्त एव । 'प्राजापत्ये तु गामेकां दद्यात्सान्तपने द्वयम्; पराकतप्तातिकृच्छ्रे तिस्रस्तिस्रस्तु गास्तथा ॥' इति चतुर्विंशतिमतेऽभिधानात् । एतच्च 'एकैकं ग्रासमश्नीयादि'त्यामलकपरिमितैकैकग्रासपक्षे वेदितव्यम् । पाणिपूरान्नभोजनपक्षे पुनर्धेनुद्वयमेव । प्राजापत्यस्य षडुपवासतुल्यत्वात् तद्द्विगुणत्वाच्चातिकृच्छ्रस्य । यद्यपि नवसु दिनेषु पाणिपूरान्नस्य भोजनं, तथापि नैरन्तर्येण द्वादशदिवसानुष्ठाने क्लेशातिशयात्षडहोपवाससमानप्राजापत्यद्वयतुल्यत्वमेव । प्राजापत्यस्य च षडुपवासतुल्यत्वं युक्तमेव । तथा हि–प्रथमे त्र्यहे सायंतनभोजनत्रयनिवृत्तावेकोपवाससंपत्तिः । द्वितीये त्र्यहे प्रातःकालभोजनत्रयनिवृत्तिपरस्य । तथा च

अयाचितत्र्यहेऽपि सायंतनभोजनत्रयवर्जनेऽपरस्येत्येवं नवभिर्दिनैरुपवासत्रयम्। पुनश्चान्त्यत्र्यहे चोपवासत्रयमिति युक्तं षडुपवासतुल्यत्वम्। ऋषभैकादशगोदानसहितत्रिरात्रोपवासात्मकगोवधव्रते तु सार्धैकादशप्राजापत्यास्तावत्संख्याकाश्चोदवासादयः प्रत्याम्नायाः। मासं पयोव्रते तु सार्धं प्राजापत्यद्वयम्। पराकात्मके तूपपातकव्रते प्राजापत्यत्रयं पराकतप्तातिकृच्छ्रस्थाने कृच्छ्रत्रयं चरेत्। 'सान्तपनस्य वाप्यर्धमशक्तौ व्रतमाचरेत्' इति षट्त्रिंशन्मतेऽभिधानात्। चान्द्रायणपराककृच्छ्रातिकृच्छ्रास्तु प्राजापत्यत्रयात्मका द्वादशवार्षिकव्रतस्थाने विंशत्युत्तरशतसंख्या अनुष्ठेयाः। तत्प्रत्याम्नायास्तु धेन्वादयस्त्रिगुणाः। अतिपातकेषु नवतिसंख्याश्चान्द्रायणादयः। तत्समेषु पुनः पातकपदाभिधेयेषु षष्टिसंख्याः। उपपातकेषु त्रैवार्षिकविषयेषु त्रिंशत्संख्याः। त्रैमासिके गोवधव्रतस्थाने गोमूत्रस्नानादीनां कर्तव्यताबाहुल्याच्चान्द्रायणादित्रयम्। मासिकव्रते तु योगीश्वरोक्ते एकमेव चान्द्रायणं धेनूदवासादिप्रत्याम्नायस्तु सर्वत्र त्रिगुण एव। प्रकीर्णकेषु पुनः प्रतिपदोक्तप्रायश्चित्तानुसारेण प्राजापत्यं पादादिक्लृप्त्या योजनीयम्। आवृत्तौ पुनश्चान्द्रायणादिकमिति एतद्दिगवलम्बनेनान्यत्रापि कल्पना कार्या। यत्पुनर्बृहस्पतिनोक्तम्—'जन्मप्रभृति यत्किंचित्पातकं चोपपातकम्। तावदावर्तयेत्कृच्छ्रं यावत्षष्टिगुणं भवेत्॥' इति। तत् 'द्वे परदारे' इति गौतमोक्तद्विवार्षिकसमानविषयम्। तथा त्रैमासिकादिविषयभूतोपपातकावृत्तिविषयं वा। पातकपदाभिधेयचाण्डालादिस्त्रीगमने द्विरभ्यासविषयं वा। तत्र 'ज्ञानात्कृच्छ्राब्दमुद्दिष्टमज्ञानादैन्दवद्वयम्' इति सकृद्बुद्धिपूर्वगमने कृच्छ्राब्दविधानात्तदभ्यासे द्विवर्षतुल्यषष्टिकृच्छ्रविधानं युक्तमेव। यत्तु सुमन्तुनोक्तम्—'यदप्यसकृदभ्यस्तं बुद्धिपूर्वमघं महत्। तच्छुध्यत्यब्दकृच्छ्रेण महतः पातकादृते॥' इति,—तदप्युपपातकाद्यावृत्तिविषयं। तथा 'अज्ञानादैन्दवद्वयमि'ति यमोक्तैन्दवद्वयविषयभूतपातकावृत्तिविषयं वा। यस्तु तपस्यसमर्थो धान्यसमृद्धश्च स कृच्छ्रादिव्रतानि द्विजाग्र्यभोजनदानेन संपादयेत्। तथाहि स्मृत्यन्तरम्—'कृच्छ्रे पञ्चातिकृच्छ्रे त्रिगुणमहरहस्त्रिंशदेवं तृतीये चत्वारिंशच्च तप्ते त्रिगुणितगुणिता विंशतिः स्यात्पराके। कृच्छ्रे सान्तापनाख्ये भवति षडधिका विंशतिः सैव हीना द्वाभ्यां चान्द्रायणे स्यात्तपसि कृशबलो भोजयेद्विप्रमुख्यान्॥' इति। अहरहरिति सर्वत्र संबन्धनीयम्। तृतीयः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः। अत्र प्राजापत्यदिवसकल्पनया विद्वद्विप्राणां षष्टिभोजनं भवति। यत्तु चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'विप्रा द्वादश वा भोज्याः पावकेष्टिस्तथैव च। अन्यो वा पावनी काचित्समान्याहुर्मनीषिणः॥' इति प्राजापत्यस्थाने द्वादशानां विप्राणां भोजनमुक्तं,—तन्निर्धनविषयम्। यच्चान्द्रायणस्यापि तत्रैव प्रत्याम्नायाद्युक्तम्—'चान्द्रायणं मृगारेष्टिः पवित्रेष्टिस्तथैव च। मित्रविन्दापशुश्चैव कृच्छ्रं मासत्रयं तथा॥ नित्यनैमित्तिकानां च काम्यानां चैव कर्मणाम्। इष्टीनां पशुबन्धानामभावे चरवः स्मृताः॥' इति,—तदपि चान्द्रायणाशक्तस्य। यत्तु 'कृच्छ्रं मासत्रयं तथा' इति कृच्छ्राष्टकं प्रत्याम्नातं,—तदपि जरठमूर्खविषयम्। चान्द्रायणं त्रिभिः कृच्छ्रैरिति दर्शितत्वादित्यलं प्रपञ्चेन। प्रकृतमनुसरामः—यस्त्वभ्युदयकामो धर्मार्थकाम्यनि-

योगनिष्पत्त्यर्थमेतच्चान्द्रायणमनुतिष्ठति न पुनः प्रायश्चित्तार्थमसौ चन्द्रसालोक्यं स्वर्गविशेषं प्राप्नोति । एतच्च संवत्सरावृत्त्यभिप्रायेण । 'एकमाप्त्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति, द्वितीयमाप्त्वा दशपूर्वान्दशापरानात्मानं चैकविंशं पङ्क्तिं च पुनाति, संवत्सरं चाप्त्वा चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोती'ति गौतमस्मरणात् ॥ ३२६ ॥

जिन पापों के प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया है उनकी शुद्धि चान्द्रायण व्रत करने से होती है। जो व्यक्ति (बिना किसी प्रायश्चित्त के) धर्मार्थ इस व्रत को करता है वह चन्द्रलोक में जाता है ॥३२६ ॥

कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तु महतीं श्रियमाप्नुयात् ।
यथा गुरुक्रतुफलं प्राप्नोति सुसमाहितः ॥ ३२७ ॥

किंच, यस्त्वभ्युदयकामः प्राजापत्यादिकृच्छ्राननुतिष्ठति स महतीं राज्यादिलक्षणां श्रियं विभूतिमनुभवति । यथा गुरुक्रतूनां राजसूयादीनां कर्ता तत्फलं स्वाराज्यादिलक्षणं महत्फलं लभते, तथायमपि सुसमाहितः सकलाङ्गकलापमविकलमनुतिष्ठन्निति फलमहिमप्रकाशनार्थं क्रतुदृष्टान्तकीर्तनम् । 'सुसमाहित' इत्यनेनाविकलशास्त्रानुष्ठानं वदन्काम्यकर्मतयाङ्गवैकल्ये फलासिद्धिं द्योतयति । अतो नात्र प्रायश्चित्तेष्विव यावत्संभवाङ्गानुष्ठानमङ्गीकरणीयमिति दूरोत्सारितं प्रत्याम्नायोपादानम् । कृच्छ्राद्यनुष्ठानावृत्तौ तु 'अधिकारिणः फलावृत्तिः कर्मण्यारम्भभाव्यत्वादि'ति न्यायलभ्या स्थितैवेति नेदमविवक्षितम् ॥ ३२७ ॥

जो धर्म की कामना से कृच्छ्र व्रत करता है वह उसी प्रकार महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करता है जिस प्रकार (राजसूयादि) महान् यज्ञों को सम्पन्न करने वाला उनका फल प्राप्त करता है ॥३२७ ॥

प्रागुदिताखिलार्थोपसंहारव्याजेन धर्मशास्त्रधारणादिविधीन् सार्थवादान् प्रार्थनावरदानरूपेण प्रतिपादयितुमाह—

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्याज्ञवल्क्येन भाषितान् ।
इदमूचुर्महात्मानं योगीन्द्रममितौजसम् ॥ ३२८ ॥

अत्र हि वर्णाश्रमादिव्यावृत्ता धर्माः षट्प्रकाराः प्रतिपादिताः तानखिलान् योगीश्वरभाषितान् ऋषयः श्रुत्वा प्रहर्षोत्फुल्ललोचनास्तं महिमगुणशालिनमचिन्तनीयशक्तिविभवमिदमभिधास्यमानमूचिवांसः ॥३२८॥

ऋषियों ने याज्ञवल्य द्वारा इन धर्मों को सुन कर महात्मा अमित तेजस्वी योगिराज (याज्ञवल्क्य) से कहा ॥३२८ ।

य इदं धारयिष्यन्ति धर्मशास्त्रमतन्द्रिताः ।
इह लोके यशः प्राप्य ते यास्यन्ति त्रिविष्टपम् ॥३२९॥

विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्यां धनकामो धनं तथा ।
आयुष्कामस्तथैवायुः श्रीकामो महतीं श्रियम् ॥ ३३० ॥
श्लोकत्रयमपि ह्यस्माद्यः श्राद्धे श्रावयिष्यति ।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्यादक्षय्या नात्र संशयः ॥३३१॥
ब्राह्मणः पात्रतां याति क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यश्च धान्यधनवानस्य शास्त्रस्य धारणात् ॥ ३३२ ॥

इत्थमृज्वर्थैः श्लोकैः सामश्रवःप्रभृतयोऽनेकधा प्रार्थयन्ते स्म ॥३२९–३३२॥

(इस धर्मशास्त्र के अध्ययन, श्रवण, पाठ आदि के फल निमित्त कहा—) जो व्यक्ति इस धर्मशास्त्र को सावधानीपूर्वक धारण करेंगे वे इस लोक में यश प्राप्त कर स्वर्गलोक में जायेंगे।

(इसके पढ़ने से) विद्यार्थी विद्या प्राप्त करता है, धनार्थी धन प्राप्त करता है, आयु (दीर्घ जीवन) की कामना वाला आयु प्राप्त करता है और ऐश्वर्य की कामना वाला महदैश्वर्य प्राप्त करता है। जो श्राद्ध में इसके तीन श्लोकों को भी सुनायेगा उसके पितरों को अक्षयतृप्ति होगी– इसमें सन्देह नहीं। इस शास्त्र के धारण (अध्ययन) से ब्राह्मण में पात्रता (धर्मकार्यों की योग्यता) आती है, क्षत्रिय विजयी होता है और वैश्य अन्न-धन्न से संपन्न होता है (ऐसा हो, ऐसी मुनियों ने प्रार्थना की) ॥३२९-३३२ ॥

अपरामपि प्रार्थनामाह—

य इदं श्रावयेद्विद्वान्द्विजान्पर्वसु पर्वसु ।
अश्वमेधफलं तस्य तद्भवाननुमन्यताम् ॥ ३३३ ॥

यस्त्विदं धर्मशास्त्रं प्रतिपर्वं द्विजान् श्रावयेत् तस्याश्वमेधफलं भवेदिति श्रवणविध्यर्थवादः। तदेतदस्मत्प्रार्थितमर्थं सर्वत्र भवाननुमन्यताम् ॥३३३॥

जो विद्वान् प्रत्येक पर्व दिन में इसे द्विजों को सुनावे वह अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करे– ऐसी अनुमति आप दें ॥३३३ ॥

वरदानमाह—

श्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योऽपि प्रीतात्मा मुनिभाषितम् ।
एवमस्त्विति होवाच नमस्कृत्य स्वयंभुवे ॥ ३३४ ॥

एतदृषिभिर्भाषितं श्रुत्वा योगीन्द्रोऽपि स्वनिर्मितधर्मशास्त्रधारणादिफलप्रार्थनोन्मीलितमुखपङ्कजः स्वयंभुवे ब्रह्मणे नमस्कृत्य प्रणम्य 'भवत्प्रार्थितं सकलमित्थं भवतु'इत्येवं किल भगवान्बभाषे ॥ ३३४ ॥

मुनियों के इस (स्वनिर्मित धर्मशास्त्र के अध्ययनादि की फल-प्रार्थना के लिये) वचन को सुनकर प्रसन्नहृदय याज्ञवल्क्य ने भी स्वयंभू (ब्रह्मा) को प्रणाम कर कहा— 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) ॥३३४॥

इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

इति श्रीभारद्वाजपद्मनाभभट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजक-
विज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षरायां याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्र-
विवृतौ प्रायश्चित्ताध्यायस्तृतीयः समाप्तः ॥

अथात्राध्यायानुक्रमणिका लिख्यते। तत्रायं सूतकप्रकरणम् १ । आपद्धर्मप्रकरणम् २ । वानप्रस्थप्रकरणम् ३ । अध्यात्मप्रकरणम् ४ । ततः प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५ । तत्रादौ कर्मविपाकः ६ । महापातकादिनिमित्तपरिगणनम् ७ । महापातकप्रायश्चित्तान्यातिदेशिकसहितानि ८ । उपपातकप्रायश्चित्तानि ९ । प्रकीर्णकप्रायश्चित्तप्रकरणम् १० । पतितत्यागविधिः ११ । व्रतग्रहणविधिः १२ । रहस्यप्रायश्चित्ताधिकारः १३ । कृच्छ्रादिलक्षणम् १४ । इति १४ प्रकरणानि ॥

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः ।
धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः ॥ १ ॥

इति याज्ञवल्क्यमुनिशास्त्रगता विवृतिर्न कस्य विहिता विदुषः ।
प्रमिताक्षरापि विपुलार्थवती परिषिञ्चति श्रवणयोरमृतम् ॥ २ ॥

गम्भीराभिः प्रसन्नाभिर्वाग्भिर्न्यस्ता मिताक्षरा ।
अनल्पार्थाभिरल्पाभिर्विवृतिर्विहिता मया ॥ ३ ॥

नासीदस्ति भविष्यति क्षितितले कल्याणकल्पं पुरं
नो दृष्टः श्रुत एव वा क्षितिपतिः श्रीविक्रमार्कोपमः ।
विज्ञानेश्वरपण्डितो न भजते किंचान्यदन्योपम-
श्चाकल्पं स्थिरमस्तु कल्पलतिकाकल्पं तदेतत्त्रयम् ॥ ४ ॥

स्रष्टा वाचां मधुरवपुषां विद्वदाश्चर्यसीम्नां
दातार्थानामतिशयजुषामर्थिसार्थार्थनायाः ।
ध्याता मूर्तेर्मुरविजयिनो जीवतादार्कचन्द्रं
जेतारीणां तनुसहभुवां तत्त्वविज्ञाननाथः ॥ ५ ॥

आ सेतोः कीर्तिराशे रघुकुलतिलकस्या च शैलाधिराजा-
द्दा च प्रत्यक्पयोधेश्चटुलतिमिकुलोत्तुङ्गरिङ्गत्तरङ्गात् ।
आ च प्राचः समुद्रान्नतनृपतिशिरोरत्नभाभासुराङ्घ्रिः
पायादाचन्द्रतारं जगदिदमखिलं विक्रमादित्यदेवः ॥ ६ ॥

अन्तर्मुखानि यदि खानि तपस्ततः किं नान्तर्मुखानि यदि खानि तपस्ततः किम् ।
अन्तर्बहिर्यदि हरिश्च तपस्ततः किं नान्तर्बहिर्यदि हरिश्च तपस्ततः किम् ॥ ७ ॥

समाप्तेयं समिताक्षरा याज्ञवल्क्यस्मृतिः ॥

आचाराध्यायः

टिप्पणी एवं पाठान्तर

पृष्ठ 1

टिप्प॰—1 जात्यायुर्भोगा विपाकाः। 2 अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्याः क्लेशाः। तत्र सम्यगध्यात्मविद्भिर्दर्शितार्थे विपरीतं ज्ञानमविद्या। अहमस्मि मद्विशिष्टः कोऽपि नास्तात्यभिमानातिशयोऽस्मिता। विषयेष्वासक्ती रागः। दुःखेष्वप्रीतिर्द्वेषः। अननुभूतादपि मरणादेस्त्रासोऽभिनिवेश इति।3 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इति वचनात्। 4 एवं चाणिमादिगुणपर एवायमीश्वरशब्दः, ततश्च योगी चासावीश्वरश्चेति मुख्यार्थोभयशब्दः कर्मधारयः, नतु योगिनामीश्वर इति षष्ठीतत्पुरुषः; षष्ठ्यर्थलक्षणाप्रसंगात्। कर्मधारयपक्षे तु योगनिमित्तमणिमाद्यश्वर्यं ग्रन्थकारस्य गम्यते— इत्यपरार्कः।5 'चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकाः' इति वसिष्ठः।

पाठ॰—१ मनुनोक्तं ख. २ प्रभुस्तं ख. ३ सोमश्रवादयः क. ४ बूहि कथयेति क. ५ स्मार्तकर्मविषयः क.

पृष्ठ 2-3

टिप्प॰—1 अयमेव पाठो युक्तः। 2 अपरार्कस्तु—'कृष्णशब्दो हरिणवचनः, कृष्णाजिनं कृष्णविषाणः, यावत्कृष्णमृगो विचरतीति प्रयोगात्' इत्युपक्रम्य 'कृष्णशब्दादर्थान्तरावबोधो मा भूदित्यत उक्तं-मृग इति-इत्याह।

पाठ॰—१ वर्जयेदिति क. २ सर्वभूतानि इति ख. ३ श्रुत्युक्तशौचाचारान् ख. ४ जपतीर्थयान्ना क; ख.५ पुरुषार्थज्ञानानि क; पुरुषार्थसाधनज्ञानानि ख.

पृष्ठ 3

टिप्प॰—1 प्रयोजकाः= प्रणेतारः। 2 'अङ्गिरःशब्दपर्यन्तः समाहारद्वन्दो नपुंसकलिङ्ग एकवचनान्तः' इत्युपक्रम्य भविष्यपुराणमुदाहरति चापरार्कः—'मन्वादिस्मृतयो यास्तु षट्त्रिंवशत्परिकीर्तिताः' इति। गौतमोऽपि 'मनुविष्णुदशाङ्गिरोऽत्रि–' इत्यादिनाङ्गिरसान्तर्भावमाह।3 'षट्त्रिंशत् स्मृतयः स्मृताः' इति वचनव्युदासार्थ चेयमुक्तिः।4 परिसंख्या नाम एकस्यानेकत्र प्राप्तस्यान्यतो निवृत्त्यर्थमेकत्र पुनर्वचनम्। एतद्विस्तरोऽग्रे 81 श्लोकस्य मिताक्षरायां द्रष्टव्यः।

पाठ॰—१ तदन्तर्गतत्वात् क.२ तत्र ब्राह्मणेनैतानि क. ३ कस्यचित् क.४ ऽङ्गिरः। ५ प्रवर्तका क.

पृष्ठ 4-5

टिप्प०—1 भावार्थः=श्रद्धा। 2 यथासंभवमिदं ज्ञेयम्; 'श्रद्धया देयमश्रद्धयदेयम्', 'सर्वावस्थां गतोऽपि वा' इत्यादिविरोधाप्तिप्रसङ्गात्। 3 श्रुतिस्मृतिसदाचाराः। 4 स्मृतिर्धर्मतो वेदमूलं शास्त्रम्-इत्यपरार्कः। 5 मूले 'अयं तु' इत्यत्रत्यः 'तुः' अवधारणार्थः। 6 तथा च पातञ्जलयोगसूत्रम् (1।2) 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' इति। 7 यत्रैवास्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता तत्रैवोपासीत' इत्याचार्याः। यत्र पुरुषे एकाग्रता तत्र देशादि-विशेषमनपेक्ष्य सिद्धिरित्यन्ये। ऋग्यजुःसामवेदारूपा विद्याः।

पाठा०—१ विरोधे तु ख. २ नुष्ठानं नाशिष्टानाम् ख. ३ इत्यत्रात्मेच्छैव, इत्यादिष्वात्मेच्छैव ख. ४ शास्त्राविरुद्धः कामो यथा ख. ५ पातञ्जलो ६ वेदशास्त्रधर्मज्ञाः ख.

पृष्ठ 5-6

टिप्प०—1 पारस्करस्तु—'अथ सीमन्तोन्नयनं पुंसवनवत् प्रथमगर्भे' इत्युभयोः क्षेत्रसंस्कारतां निरूपयति। तत्तु हारीताद्यसंतम्; सीमन्तोन्नयनस्य स्त्रीसंस्कारत्वात्।

पाठा०—१ वेदधर्मशास्त्रज्ञश्च क. २ सोऽपि धर्म एव ख. ३ न शूद्राणां क. ४ अन्ते यासां ख. ५ कुमारे जाते ख. ६ नामकरणम् ख.

पृष्ठ 7

टिप्प०—1 'राज'शब्दोऽयं क्षत्रियजातिमात्रवाचको न त्वभिषेकादिगुणयुक्तपर इति ज्ञेयम्; 'गर्भादिकादशे राज्ञः' (मनु. 2।36) इत्यत्र 'राजशब्दोऽयं क्षत्रियजातिवचनः, नाभिषेकादिगुणमपेक्षते' इति मेधातिथिव्याख्यानात्। 2 भूः, भुवः, सुवः, महः, जनः, तपः, सत्यम् इति सप्तमहाव्याहृतयः। 3 'ॐपूर्वा व्याहृतयः पञ्च सत्यान्ताः' इति गौतमः (1।52), 'भूः, भुवः, स्वः, पुरुषः, सत्यम्—इति हरदत्तः।

पाठा०—१ अवधिं कृत्वा जन्मनो ख. २ प्रकरणानुसारम् क. ३ वचनात् ख. ४ शब्दानामिति क. ५ शिष्यं गुरुः ख.

पृष्ठ 7-8

टिप्प०—1 एतत्=कामचार-कामवाद-कामभक्षादिकम्। 2 दिवासन्ध्यासु इति समस्तं पदम्, दिवा च सन्ध्ये चेति द्वन्द्वमभिप्रेत्योक्तं—अहनि संध्ययोश्चेति। 3 गन्धस्य लेपः इति षष्ठीतत्पुरुषभ्रमनिरासाय-'गन्धलेपयोः क्षयकरं' इति द्वन्द्वप्रतिपादकं विवरणम्। 4 'बाहुं जान्वन्तरा कृत्वा' इति गौतमः; 'बाहू जान्वन्तरा कृत्वा' इति व्यासः। द्विजेनापि एकेन पाणिना यदावर्जितं तेनोदकेन नाचामेत् इत्याशयः।

पाठा०—१ शौचमिदं ख. २ इत्युपादानात् ख.

पृष्ठ 9

टिप्प०—1 वयं तत् शुद्धं ब्रह्म, धीमहि ध्यायेम, सवितुः 'षू प्रेरणे' सकलप्रेरकस्य, देवस्य क्रीडमानस्य, वरेण्यं श्रेष्ठतमं, भर्गस्तेजः, धियः बुद्धेस्तत्त्वज्ञानस्य वा, यातीति यः प्रापकः, नोऽस्मान्, प्रचोदयात् प्रेरयेत्—इति तदाशयः।

पाठा०—१ संस्पृष्टाभिः क; ग. २ पुनरब्ग्रहणं क. ३ अन्तेन ख. ४ मित्यादेः ख. ५ जपः कार्यः ख.

पृष्ठ 10-11-12

टिप्प॰—1 तुश्चार्थे व्युत्क्रमे च; संप्रोक्ष्य चेति भावः। 2 तत्समयश्च 'अग्निकार्यं च भिक्षायाः प्रागूर्ध्वं वा तदिष्यते' इति। 3 प्रावृतावसक्तिकापादप्रसारणानि।

पाठ॰—१ मुपासीत ग. २ लब्धं तस्मै ख. ३ कल्याणसूचकाः क. ४ अध्याप्याः साधुशक्ताप्तस्वार्थदा धर्मतस्त्विमे च.

पृष्ठ 12-13-14

टिप्प॰—1 पणो वेतनभाषाबन्धस्तद्रहितम्। 2 अप्रत्याख्यात्रीत्वात्स्त्रीणामादौ भिक्ष्यमाणतयोपदेशः। 3 प्रतिबन्धात्। 4 मध्याह्नसमये इति भावः। 5 एकस्वामिकं न भुञ्जीतेति भावः।

पाठ॰—१ अर्पणपूर्वकं ख; ग. २ कार्ष्णाजिनादि ख. ३ भैक्ष्य ४ सति। नियमार्थं ख. ५ त्रैवर्णिकप्राप्त्यर्थम् ख. ६ कालान्तरं मध्याह्नादि. ७ एकान्नमेकस्वासिकम्.

पृष्ठ 14-15

पाठ॰—१ कामं यथेष्टम्. २ न रसादि क. ३ भास्करस्य चालोकनं क. ४ गुह्यभाषणं ख. ५ ददाति ख.

पृष्ठ 17-18-19

टिप्प॰—1 गावः केशा दीयन्ते खण्ड्यन्ते यस्मिन्. 2 व्रात्यस्तोमो नाम व्रात्यानां प्रायश्चित्तक्रतुः। तेन चोद्दालकव्रतादिप्रायश्चित्तान्तरमप्युपलक्ष्यते इति। 3 द्विजातिधर्मबहिष्कृतत्वे हेतुः—मातुरिति— अप॰।

पाठ॰—१ वा यथासंभवं क. २ त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः. ३ ब्राह्मणक्षत्रियविशां ख. ४ करो मोक्षकरो ख.

पृष्ठ 19-20

टिप्प॰—1 द्विजत्वसाधारण्येनेतिं भावः. 2 यथा—पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः इति प्रश्नः, इयं वेदिः परो अन्तः इत्युत्तरम्. एवमन्यदपि वाकोवाक्यं ज्ञेयम्.

पाठ॰—१ काम्यब्रह्म ख. २ हि यो ख. ३ पितॄंश्च मधुना द्विजः. ४ प्रीणाति क. ५ मंत्र. ६ न्पितॄंश्च मधुसर्पिषा। संतर्पयेद्यथाशक्ति योऽथर्वाङ्गिरसीः पठेत् ७ विद्यां योऽधीते शक्तितोऽन्वहम्. ८ च तथा.

पृष्ठ 20-21

पाठ॰—१ मधीयीत; मधीतेऽसौ ख. २ तपसो यत्परस्य ख. ३ नित्य. ४ साधयन् [अस्मिन्पाठे विपरीतलक्षणा बोध्या-बा.] ५ न चेह जायते. ६ उक्त प्रकारेण ख. ७ ग्रहणकालोत्तरं ख. स्वोपास्याग्निसंनिधौ ख. ९ स्नायीत.

पृष्ठ 22-23

टिप्प॰—1 तानि च—पूर्वस्यां रात्रौ गोष्ठवल्मीककितवस्थानह्रदेरिणक्षेत्रचतुष्पथश्मशानेभ्यो मृत्तिकां गृहीत्वा पिण्डाष्टकं कर्त्तव्यम्। तत्रानुक्रमेण प्रथमे पिण्डे स्पृष्टे धान्यवती भवेत्। द्वितीये स्पृष्टे पशुमती भवेत्। तृतीयेऽग्निहोत्रशुश्रूषणपरा भवति। चतुर्थे

विवेकिनी चतुरा सर्वजनार्जनपरा भवति। पञ्चमे रोगिणी। षष्ठे बन्ध्या। सप्तमे व्यभिचारिणी। अष्टमे विधवा भवेदित्याश्चलायनोक्तानि. 2 पितामहावयवान्वयत्वात्. 3 स्वस्वपतिभिरिति शेषः 4 तत्र तत्र = पुत्र कन्ययोः.

पाठा॰—१ केशादीनि मनुप्रोक्तानि क. २ सह सापिण्ड्यं ख. ३ एक शरीरारम्भैः क.

पृष्ठ 23-24-25

टिप्प॰—1 अत्र संबन्धो न साक्षात्, किंतु व्यवहितः, तथा च प्रवरणं ऋषिसंबन्धेनाग्निप्रार्थनं प्रवरः। तच्च कल्पसूत्रादिषु 'अग्ने महाँ असि' 'अग्निर्देवो होता देवान्यः' इत्यादौ प्रसिद्धम्। 2 पृथक् प्रायश्चित्तं चोक्तं सुमन्तुबौधायनादिभिः—'सगोत्रां चेदमत्योपयच्छेद्भ्रातृवदेनां विभृयात्, प्रजाता चेत् कृच्छ्राब्दपादं चरेत्' इति।

पाठा॰—१ पिण्डनिर्वापयुक्त्या निर्वाप्यसपिण्डा. ख. २ भ्रातृपुत्रादिषु ख. भ्रातृव्यपितृव्या. ग. ३ प्रमाणेन च क. ४ असमानगोत्रजां असमानार्षजामित्यर्थः ख. ५ असगोत्रा च ख. ग. ६ 'सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वालकर्मणि। जन्मनाम्नोरविज्ञाने तूद्वहेदविशङ्कितः॥' इति व्यासः क. ७ त्यक्त्वा ख.

पृष्ठ 25-26

टिप्प॰—1 'निःशेषमन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति' इत्यत्र निःशेषमथ्यत इति योगस्याथा नकालमथितत्वाच्चिरनिर्मथिते नित्यं धृते चयनोपक्रमात् प्रागपि विद्यमाने गार्हपत्याख्ये चयनं प्रक्रम्योखां निर्माय, तस्यामुखायां कंचित्कालं धारणाय योऽग्निर्निर्मथ्यते तस्मिन्नचिरनिर्मथिते च सत्त्वेनान्त्यस्यैव प्रत्यासन्नत्वेन तत्परिग्रहाय रूढिस्वीकारस्तद्वत् इत्याशयः। 'पङ्कज'शब्दस्तु प्रसिद्ध एव। 2 माधवस्तु—अस्य भिन्नजातीयमात्रपरत्वमाह.

पाठा॰—१ गोत्रप्रवर्तकऋष्यपत्यत्वप्रयुक्तत्वमत्र प्रातिस्विकत्वम्, प्रातिस्विकगोत्राभावस्तथापि ख. २ दृष्टदोषविरोधः क. ३ शब्दो योगेऽवयव. क. ४ वयवशक्त्या प्रवर्त. क. ५ पञ्चमपुरुषवर्तिनी ख. ६ ऽव्यादि ख. ७ वगम्यते क. एकपिण्डाः सपिण्डाः ख. ९. पौरुष क.

पृष्ठ 26-27

टिप्प॰—1 वधूवरयोर्न स्वतः सापिण्ड्यम्, किंतु कूटस्थसंततित्वात्सापिण्ड्येनैव, अतोऽष्टमं वरं प्रति कन्यया असापिण्ड्येऽपि कन्यायाःकूटस्थेन सापिण्ड्याद्वरस्तां प्रति सपिण्ड एवेति वदन्तो निर्णयसिन्ध्वादयोऽपास्ताः, सपिण्डसन्ततिस्थत्वेन सापिण्ड्ये सोदकादावपि तदापत्तेः—इति बा.

पाठा॰—१ स्मितमृदुपूर्वाभिभाषण क. २ शूद्रादारोप. ३ त्तन्नात्मा जायते. ४ वैश्याभ्यनुज्ञा ख.

पृष्ठ 28-29

टिप्प॰—1 एतत्तु यावज्जीवम्, नतु तन्मध्ये आश्रमान्तरपरिग्रहःस्त्र्यन्तरपरिग्रहो वेति विशेषः—इति नृसिंह-हरदत्तौ.

पाठा॰—१ अन्योद्देशकव्यापारनिर्वर्त्यत्वं; यमन्तरा नोद्देश्यसिद्धिस्तत्वं वा नान्तरीयकत्वम्. २ सहोभौ. ३ धर्ममित्युक्त्वा. ४ सह चात्मनः.

पृष्ठ 30

पाठ०—१ कन्यकां छलात्. २ ह्यवस्थासु हरणात्. क. ३ त्वग्यजन्मनः.

पृष्ठ 33-34

पाठ०—१ च त्यजन् क. २ क्षेत्रजः स भवेत्.

पृष्ठ 35-36

पाठ०—१ ददौ स्त्रीणां क. २ स्त्रियो भुक्त्वा क. ३ सर्वत्र संबध्यते क.

पृष्ठ 36-37

पाठ०—१ नैवोपगच्छति क. २ आदेशसंपादिनीं ख. ३ सर्वथा क.

पृष्ठ 38-39

पाठ०—१ चतस्रश्च ख. २ श्राद्धादिषु क. ३ पौष्णं च क. ४ कालस्यानियतत्वात् क. ५ वृणीमहै ख.

पृष्ठ 39-40

टिप्प०—1 तद्ग्रहणे इति भावः 2 पूर्वपक्षोऽयम्.

पाठ०—१ वरं वृतं तासां ख. २ उक्ताः पूर्वं 78 श्लोके. ३ विध्यादयश्च– 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र वा प्राप्तौ परिसंख्या निगद्यते' इति. ४ दोषत्रयासक्तेः क. ५ प्राप्तार्थत्वात् क. ६ स्त्वर्थात्सिद्धा क. ७ निवर्तयति ख. भार्येच्छयैव क.

पृष्ठ 40-41

टिप्प०—1 इतस्तु सिद्धान्तसंमतं निरूपयति.

पाठ०—१ भागुरि क. २ तया फलोद्देशेन क. ३ तदसदिति क. नास्ति. ४ यतस्तच्च गमनं. क. ५ प्रायश्चित्तविरोधः क. ६ श्रुतिचोदितं क. ७ परिसंख्यायां तस्मान्नियमपरमेवेति ग. वुंपेयादेवानृतावपि क.

पृष्ठ 42

टिप्प०—1 विन्नां = परिणीतां. 2 अनेन भर्तुरसंनिधौ पित्रादिरहिता स्त्री न भवेदिति विधीयते—अप.।

पाठ०—१ पतिः स्त्रियाः क. २ तद्रहिता पित्रादिरहिता क.

पृष्ठ 42-43

टिप्प०—1 गत्यन्तराभावे सतीति शेषः, 'आबालापत्यानाम्' इति पाठान्तरम्, तत्र गत्यन्तरे सतीति शेषः।

पाठ०—१ वाथ मित्रघ्नः कृतघ्नो वा ख; ब्रह्मघ्नो वा सुरापो वा ग.ः२ अयं सर्वासां ख. ३ माचाण्डालानां ख. ४ चित्यन्वारोहण. ५ विशेषो पादानात् क. ६ प्रतिषिद्धशास्त्र. ग. ७ कर्तव्यतानुरूपं. ख.

पृष्ठ 43-44

पाठा॰—१ स्वर्गकामः. २ प्रेयादिति ख. ३ क्षालितान्तःकरणं. ख ४ हि चरित्रं क. ५ सा तथोक्ता इह क.

पृष्ठ 44-45

टिप्प॰—1 गतभर्तृकायाः2 विधुरं प्रति.3 मृतां.

पाठा॰—१ विवेक्तुमाह ख. २ वोढृभ्यः क. ३ सहोढादीनां क.

पृष्ठ 45-46

पाठा॰—१ अब्राह्मणत्वे ख. २ इति वचन ख. ३ वसिष्ठो गोतम ख. ४ विन्नायामम्बष्टो. ख. ५ शूद्रायां निषादो ख. ६ शूद्र इति क.

पृष्ठ 47-48

टिप्प॰—1 'सवर्णेभ्यः सवर्णासु' (श्लो. 90) इत्यादिना य उक्तः स विन्नासु परिणीतासु स्मृतो मुनिभिः—अप.।

पाठा॰—१ द्वैदेहिक. २ रोत्पन्नजो ख. ३ द्विजत्वात् क. ४ जातानां क. ग. ५ पञ्चमे सप्तमेऽपि ख.

पृष्ठ 48

पाठा॰—१ सप्तमं क. २ ब्राह्मणवृत्त्या ग. ३ पञ्चमे षष्ठे सप्तमे ख. ४ पुनरप्येवं ख. ५ वर्णसंकरजाताः ख.

पृष्ठ 49-50

पाठा॰—१ अहृत आहितः. २ तिक्रमेण प्राय. ग. ३ आवश्यकां दिवा. क. ४ नो देहि ग.ः५ करणादींश्च श्रवणेनाधि ख. क्षेमस्तदर्थं ग.

पृष्ठ 50-51-52

पाठा॰—१ सेवेत्याद्यधिकं क. ग. २ थर्वपुराणेतिहासादीनि कृत्वा क. ३ वैश्वदेवं कृत्वा क. ४ एतेन काम्यत्वमपि प्रतिपादितं भवति.

पृष्ठ 52-53

पाठा॰—१ चान्वहं कुर्यात् ख. २ प्राणेत्याद्यधिकं क. ३ यथाहेत्यादि मनुवचनं क. ग. नैवास्ति. ४ सुव्रताय.

पृष्ठ 53-54

पाठा॰—१ संबद्धा बान्धवाः क. २ याद्येव कर्तव्यं ग. ३ अध्ययनक्षमो ख.

पृष्ठ 55-56

टिप्प॰—1 शिश्नचापलं = अकाले मैथुनेच्छा, उदरचापलं = सदा भोक्तुमिच्छा, पाणिचापलं = शिल्पकर्मादिशिक्षेच्छा, पादचापलं = पर्यटनम्, वाक्चापलं = 'नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्' इत्याद्यतिक्रमः, चक्षुश्चापलं = नृत्यादि दिदृक्षा। 2 सीमा त्रिविधा-वास्तुसीमा, ग्रामसीमा, क्षेत्रसीमेति; सा चानुव्रजनीयगुणापेक्षया व्यवस्थापनीया—इत्यपरार्कः।

3 तथा च व्यासः– 'यामिन्याः पश्चिमे यामे त्यक्तनिद्रो हरिं स्मरेत् ।' इति ।

पाठा०—१ कल्याण ख.२ नातितृप्याथ.३ अग्निमग्नीन्वा ख.४ प्रतिभासन ख.

पृष्ठ 56-57

टिप्प०—1 तेनानतिरिक्तत्वेऽपि तत्सिद्धिः 2 ब्राह्मणादयस्त्रय इत्यर्थः.3 ब्राह्मणादिक्रमेण विद्याक्रमेण चेत्याशयः.4 विद्या व्रतं चोभयं च तैः स्नातकः इति साधनं कृतेति समासः. 5 'याजनप्रतिग्रह' इति पाठस्तु मनुस्मृत्यनुगुणः.

पाठा०—१ बन्धुर्बहुस्वजन ख.२ पक्वशरीरः ग.३ स्नातस्तु.A.४ नृपो राजा न क.५ ष्वाभिमुख्यागतेषु ख.६ याजनप्रतिग्रहाः.

पृष्ठ 57-58

टिप्प०—1 अध्ययने समाप्ते स एव ब्राह्मणः तस्य गुरुः.2 स्थानलाभनिमित्तं यद्दानं ग्रहणमिष्यते । तत् कुसीदमिति प्रोक्तं तेन वृत्तिः कुसीदिनाम् ॥' इति नारदः। स्थानमवस्थानं मूलधनस्य; तेन मूलावस्थान एव लाभनिमित्तं धनादिप्रयोगरूपं ऋणदानं कुसीदमित्यर्थः. 3 धान्यादि समर्घं गृहीत्वा महार्घं दीयते इति वाणिज्यं इत्य परा० 4 द्विवचनमिदम्, पशुशब्दस्तत्पालनपरः.

पाठा०—१ हितमाचरेत्.२ क्रियापरः ख.

पृष्ठ 58-59

टिप्प०—1 मन्त्रशब्दोऽयंसकलमन्त्रकार्यनमस्कारविनियोगार्थः अन्यथा समानार्थतया स्वाहाकार स्वधाकारयोरेव कार्ये स्यात् इत्यपरार्कः। 2 सत्यमपि प्रियमेव, 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं' इति व्यासोक्तेः। मनुरपि—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।' इति ।

पाठा०—१ आचाण्डालान्तं ख.२ व्यवहारेषु ज्ञानं क.३ वचनम् ग.४ सोमयागं क. ग.

पृष्ठ 60 -

टिप्प०—1 'द्रव्ये' इत्यन्तं मिन्नं वाक्यम्, अग्रिमं च भिन्नं; अन्यथा 'फलप्रदम्' इत्यस्य वैयर्थ्यं स्यात्–बा.

पाठा०—१ पूर्णमासपशु. ख.पूर्णमासचातुर्मास्यानि ग.२ र्मास्यानि कर्मानि.३ न परित्यजति क.

पृष्ठ 61

टिप्प०—1 कुसूलं=कोष्ठिका, तत्परिमितमेव धान्यं यस्य स कुसूलधान्यः, कुसूलादूनपरिमाणं धान्यावपनं कुम्भी, तत्परिमाणधान्यो वा गृहस्थो भवेत्—इत्यप०। कोष्ठे यावन्माति तावत्संचेतव्यम्—इति मेधातिथिः। 2 देहि देहीति याच्यमानस्य यः परस्य चित्तविकारः खेदात्मको जायते स द्रोहः, न पुनः हिंसैव तस्यास्तु सर्वसामान्येन प्रतिषेधात्. स्वल्पयाचनमल्पद्रोहः, तत्राद्याभावोऽयाचितं, द्वितीयं याचितं, तद्रूपा वा वृत्तिर्जीवनोपायः कृषिसेवादिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेत् ।

पाठ०—१ शाल्यादेर्निपतित क. २ ब्राह्मणानां चतुर्णां ख. ३ श्रेयानुत्कृष्टतमः ख. ४ प्रकृतः प्रकरणप्राप्तः प्राकृतः ख. ५ पुरस्कृत्य क. ६ नतिसंपन्नसंयतं क.

पृष्ठ 62-63

टिप्प०—1 केचित्तु–'वक्र' इति कार्यसमर्थोऽपि व्याजेन कार्यत्यागीत्याहुः। 2 अनेन किंचित्कालं संसर्गो यत्र कार्ये जायते तत्रैवैतेषां वर्जनं भिक्षादानं गृहाद्बहिर्भवत्येवेति न प्रागुक्तविरोधः।

पाठ०—१ कुतश्चिद्धनमन्वि क. २ वृत्तिकशठान् क. ग. ३ नैष्कृतिकः ख.

पृष्ठ 63-64

टिप्प०—1 'धारयति' इति पाठे निवृत्तप्रेषणाद्धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते' इति गतिर्बोध्या।

पाठ०—१ संस्थित उत्थितः २ कंचिदपि पुरुषं स्त्रियमप्रियं क. ३ तद्वान्; तद्धारणात् क.

पृष्ठ 64-65-66

टिप्प०—1 वेदं = दर्भमुष्टिम्, 'ऐष्टिकवेदप्रकृतिं कुशमयीं मुष्टिम्'–इति नारायणः। 2 यथोक्तं महाभारते–'प्रत्यादित्यं प्रत्यनस्तं प्रतिगां च प्रतिद्विजम्। मेहन्ति ये च पथिषु ते भवन्ति गतायुषः' इति। 3 अमेध्यग्रहणेनैव सिद्धे मूत्रपुरीषयोः पृथगुक्तिस्तयोरतिशयेन वर्जनार्थम्, अन्यथा दोषाधिक्यापत्तिः—इति हरदत्तः। 4 इदं तु स्त्रीजातिपरम्; न केवलं भार्यापरम्—इति हरदत्तः।

पाठ०—एवं देवं क; देवतार्चां. २ प्रदक्षिणतः ख. ३ प्रत्यर्काग्निनो क. ४ श्मशानवल्मीक क. ५ नैतान् प्रति ख. ६ मेहनं कार्यं क. ग.

पृष्ठ 66

टिप्प०—1 इदं तु स्वीयगृहविषयम्, तथा चोक्तम्—'स्वगृहे प्राक्शिराः शेते आयुष्यं दक्षिणाशिराः। प्रत्यक्शिराः प्रवासे तु न कदाचिदुदक्शिराः' इति न गार्ग्यविरोधः। 2 पटाद्याच्छादिततापने न दोष इति मेधातिथिः। 3 क्षीरादेरप्रतिषेधः—इति मेधातिथिः। 4 एतेन 'इदं ते युक्तम्, इदमयुक्तमित्युपदेशादिना न प्रबोधयेत्' इति मेधातिथिव्याख्यानमपास्तम्।

पाठ०—१ अपहनत् A. २ च्छादितो न इयात् क. ३ मंनुलङ्घयेत् ग. ४ मतिलङ्घयेत् ग. ५ प्राणाबाध ख.

पृष्ठ 67

टिप्प०—1 प्रेतधूमो नाम बालातपः। मनुस्तु संगवकालातप इत्याह। अन्ये तु शरदि पुनः संधुक्षणात् आदित्यस्य बाल्यतया तदातपो बालातप इत्याहुः।

पाठ०—१ क्षीरादि ध्यन्तीं गां क. २ प्रतिग्रहेषु साध्येषु ख.

पृष्ठ 68

टिप्प०—1 कृष्णाष्टम्याम्। 2 मेधातिथिस्तु—अनावृतदेशे इत्याह। 3 अर्धपञ्चमेषु मासेषु गतेषु यत्पुष्यनक्षत्रं तत्रेत्यर्थः। 'पौषे' इति युक्तो मनुपाठः। 4 'द्वावह्नावेव रात्रिश्च

पक्षिणीत्यभिधीयते' इति वचनात्। बंन्धवोऽत्र त्वसपिण्डाः; सपिण्डेषु दशाहाविधानात्–अप.।

टिप्प०—1 अत्र 'एकोद्दिष्टशब्देन नवश्राद्धमुच्यते— इति मेधातिथिः। 2 अवरोपणं = निखातः, उच्छ्रयः= उत्खातः। 3 महानिशायाः कालस्तत्कर्त्तव्याकर्त्तव्यं.चोक्तं बौधायनेन —'महानिशा तु विज्ञेया मध्यं मध्यमयामयोः। तस्यां स्नानं न कुर्वीत स्वाध्यायं पितृतर्पणम्' इति।

पाठ०—१ उत्सवदिवसे.२ संध्यामहोरात्रं ख.३ मार्जाराणां त्र्यहं ख.४ ध्ययनविषय एव ख.

पृष्ठ 70-71

टिप्प०—1 आसनारूढपाद इत्यर्थः। 2 बभ्रः कपिलो वर्णः, तद्गुणयुक्तम् बभ्वत्र गौः कपिला सोमलता वा। उभयोः 'बभ्रु' शब्देन प्रयोगदर्शनात्—मेधा०। बभ्रुणः कपिलस्य। यज्ञे दीक्षितस्यावभृथस्नानात्पूर्वं—इति कुल्लूकः। 3 अपस्नानमुपयुक्तमुदकम्—इति मेधातिथिः।

पाठ०—१ पांसुवर्षे दिशां दाहे क.पांसुवर्षे च दिग्दाहे ग.२ गृहमागते क.३ ऊखरं क.४ रध्ययन क.रध्यापन ग.५ कृतावसक्थिक ऊरुभ्यामवनिं गतः ६ सोमादेः ग.

पृष्ठ 72

टिप्प०—1 न स्पृशेत् इत्यूहनीयम्। 2 विवादान्तरप्रसङ्गे तावपि न ताडनीयौ—इति बाल.। 3 उभयभिन्नेन स्थूलाभ्यां ताभ्यां चेत्यर्थः– बाल.। 4 कण्ठत ऊर्ध्वभागे इति भावः। 5 अभिशस्तिः= निन्दा।

पाठ०—१ रवधेन बाधनाशक्तौ ख.२ धर्म्यम् ३ मग्निष्टोमीयवत् ख.

पृष्ठ 73

टिप्प०—1 स्त्रियः भगिन्यः, भिन्नोदर्योऽपि–इति बाल०। 2 संश्रितः= आश्रितः उपजीवी– अप.। 3 अविद्यमानभर्तृका इत्यर्थः। 4 यच्चोक्तं मनुना (4।179-185) 'ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः। बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः। मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया। दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥ एतैर्विवादान् संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते। एतैर्जितैश्च जयति सर्वांल्लोकानिमान्गृही॥' इति। 5 तथाकरणेऽभ्युदय एव, अकरणे तु दोषो नेत्यपेरर्थः। तथा च हेमाद्रिः—सर्वार्थमुत्सृष्टेषु परकीयत्वाभावादनुद्धरणे न दोषः—इति बाल०। 6 अविधिनोत्सृष्टाग्नेश्च—इति अप०।

पाठ०—१ मन्तरेणापि क.

पृष्ठ 74

टिप्प०—1 क्वचित्तु 'वृद्धान्' इत्यपि पाठः। 2 नटगायकव्यतिरिक्तोऽपि प्रतिरङ्गं यो गच्छति कुतुकात् सः– इति मेधा०। 3 वीणावादनजीवी—इति माधवः। वादित्र जीवनः इति मेधा०। 4 'यस्तु निन्देत्परं जीवं प्रशंसत्यात्मनो गुणान्। स वै वार्धुषिकः– इति विष्णुः। 5 गणः संघः, भ्रात्रादीनामविभक्तानां न गणव्यपदेशः—इति बाल०। गणः सङ्घः, तदन्नमन्यस्याभोज्यम्। दीक्षी दिक्षितः, तस्य च प्रागग्नीषोमीयहोमादभोज्यान्नता– अप०।

पाठ॰—१ वृत्त्युपजीवी क.

पृष्ठ 75-76

पाठ॰—१ नील्यादिरागकरः क. २ प्रतिषेधस्य क. ३ गवां पालकः गवां पालनेन ख. ४ कर्मस्थायी क.

पृष्ठ 76-77

टिप्प॰—1 उदयास्तमयान्तरितं पर्युषितम्—इति हरदत्तः। 2 अत्र कारणमुक्तं बृहस्पतिना—'अप्येकपङ्क्तौ नाश्नीयाद्ब्राह्मणैः स्वजनैरपि। को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं भवेत्', 'एकपंक्त्युपविष्टानां दुष्कृतं तद्दुरात्मनाम्।' इति।

पाठ॰—१ सक्तुपाचकतैल. ख.

पृष्ठ 77-78

टिप्प॰—1 अत एवाह हारीतः—'सन्धिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयो न पिबेद्तु मद्भवतीति। या गर्भिणी सति दुग्धे सा संधिनीति—हरदत्तः। 2 मृतवत्सात्वादित्याशयः। 3 तदग्रे तु श्रुतिविहितमेवेति तत्त्वम्।

पाठ॰—१ रनिषेधो युक्तः ख. २ व्यतिरिक्तम् क. ३ शोभाज्जनः क. ४ पुरीषस्थाने उत्पन्नानि क.

पृष्ठ 79-80

टिप्प॰—1 लक्ष्मणः= दीर्घगलजङ्घो नीलाङ्गः पक्षी। 2 केवलं स्वात्मकृते याचिता इत्याशयः 3 अयं भाषायां 'लापशी' इति नाम्ना प्रसिद्धः। 4 अयं 'डोंबकावळा' इति महाराष्ट्रभाषायां प्रसिद्धः। 5 सूना वधस्थानं, तत्र भवं सौनमित्याशयः।

पाठ॰—१ तिलमुद्गमिश्र ओदनः क. २ उभयपरत्वात् ख. ३ कम्बुक क.

पृष्ठ 80-81

टिप्प॰—1 स च श्वभक्षको व्याघ्रविशेषः, गोधा वल्लीसदृशः प्राणिविशेषः—अप॰।

पाठ॰—१ दधित्थ क. २ प्रतिषिद्धयो क. ३ शल्यकाः क. ४ शालुकः शाली. ५ शल्यकं.

पृष्ठ 81-82

पाठ॰—१ नियुक्तस्यैव क. २ चातुर्वर्ण्यं प्रत्याह क. ३ तस्मादिह ख. ४ अभक्षणाद्यागां ख. ५ ह्यचरत्तथा ख.

पृष्ठ 82-83

टिप्प॰—1 ते च घातका यमेनोक्ताः—'अनुमन्ता विशस्ता च निहन्ता क्रयविक्रयी। घातकाः सर्व एवैते संस्कर्ता षष्ठ उच्यते ॥' इति। अन्यत्र तु—'घातकाः षट् समाख्याता भोक्ता तत्रतु सप्तमः। षष्णां तेषां सकाशात्तु उपभोक्ताऽतिरिच्यते ॥ इत्युक्ताः। 2 जलजमिति भावः। 3 षोडशी यज्ञियपात्रविशेषः। 4 इदं वथुवेति भाषायाम्।

पाठ॰—१ परिशेषात् ख.

पृष्ठ 84

टिप्प॰—1 अत्यन्तानुपहतमिति पक्षान्तरतया—मेधा॰ ।

पाठा॰—१ मुखावघृष्टं ख. २ द्रव्याणां बहूनां ख. ३ क्षालनवचननिवृ. ख. ४ अनेकपुरुषैर्धार्य.

पृष्ठ 85-86

टिप्प॰—1 'रिठा' इति महाराष्ट्रभाषाप्रसिद्धैः। 2 दुकूलं = सूक्ष्मस्निग्धकार्पासतन्तुनिर्मितः पटः। 3 उपधानं = 'उशी' इति भाषाप्रसिद्धम् ।

पाठा॰—१ हेतुलक्षणेनाह क. २ सोषैरुदक (=ऊषमृत्तिकासहितैः) A. ३ अरिष्टफलसहितैः ख. अरिष्टसहितैः फेनकसहितैः क. ४ योगत्वात् ख.

पृष्ठ 86-87

टिप्प॰—1 उपघातः= स्पर्शः। 2 रजकः 'रंगारी' इति, चैलधावकः 'धोबी' इति च भाषायाम् । 3 अत्र बहुवचनान्तद्वन्द्वः, तथा च तेषां तत्र स्वकर्माविच्छेदः—बाल॰ ।

पाठा॰—१ पुनःपाकेन A. २ मद्यमूत्रपुरीषैर्वाष्ठीवनैः पूयशोणितैः क. ३ संगतिः ख. ४ विशुद्ध्यति क.

पृष्ठ 87-88

टिप्प॰—1 मक्षिका = नीलमक्षिका, कीटः= अमेध्यस्पर्शी. 2 रैत्यं = पित्तलम् । 3 प्लावः= अद्भिस्तदाधारभाण्डस्य बहिरवसेकपर्यन्तं पूरणम्—अप॰ ।

पाठा॰—१ तस्याः पञ्चका; तयोः पञ्च ख. २ तु. ३ दकवारिणा क. ४ दकादिभिः क. ५ इदं क. पुस्तकेऽधिकम्. ६ अमेध्यद्रव्य क.

पृष्ठ 88-89

टिप्प॰—1 कर्णविट् = कर्णमलः। 2 दूषिका = नेत्रमलः। 3 उपघातः= स्पर्शः।

पाठा॰—१ तथात्मानं ख. २ घृतादेर्हीनवर्णा क. ३ पचनं कार्यं ख. ४ गंधापकर्षणेन क. ५ ज्ञानां मत्या क.

पृष्ठ 89-90

टिप्प॰—1 यद्वा,–'गुणसमूहो द्रव्यम्' इति पातञ्जलसिद्धान्तविषयमिदम् ।

पाठा॰—१ उपभुक्तं ख. २ नतु तद्धि ख. ३ भावस्य वान्यप्रयोग क. ४ मार्गं मांसं (=मृगादेर्मांसं) A. ५ रश्ववसुधानिलाः A. ६ प्रस्रवणे A. ७ अजाश्वं मुखतो मेध्यं ग. A. ८ पन्थानस्तु A.

पृष्ठ 91-92

टिप्प॰—1 हेमाद्रिस्तु चर्वण—निगिलनयोर्भेदं मन्वानः 'चर्वणनिवृत्तय एवकारः' इत्याह ।

पाठा॰—१ दन्तेभ्यः पतितं त्यजति गिलति वा एतावता शुद्ध्यति विना आचमनं इति ग. २ निर्गिरन्नेव क. निगरन्नेव ख. ३ भुक्ते A. ४ चाल्पानृतो ख. ५ पक्केष्टिकचितानि ख.

पृष्ट 92-93

पाठ॰—१ कृत्वा मुख्यान्सृजामीति ख.२ योगे पात्रतां ग.३ केवल जात्या क.

पृष्ठ 93-94-95

पाठ॰—१ दकपाद्यादीति क.२ किंचित्तामसं क.३ नैव A. ४ पूतं च शक्तितः A. ५ खुरै रूप्यैः ख.६ बहुक्षीरा गौर्यथा क.ख.

पृष्ठ 95

पाठ॰—१ भूय आ A. २ मुखी A. ३ द्वौ पादौ A. ४ प्रदृश्यते A.

पृष्ठ 97-98

पाठ॰—१ भूदीपान्नाश्ववस्त्रा A. २ नैवेशिकर्स्वर्णधुर्यान् A. ३ भूः कृषिफलप्रदा ग.४ भारवाहो ग.५ चर्मादीनामसंभवः ख.६ दानेन क.७ प्रबलं ज्ञात्वा ग.८ मविच्युतः A.

पृष्ठ 97-98

टिप्प॰—1 कल्पपर्यन्तम् ।2 अनेन याचनानिरासः ।3 एधादिषु याच्ञाप्यविरुद्धा–मेधा॰ ।

पाठ॰—१ दातुः फलमुक्त्वेदानीं,२ भ्रष्टतन्दुलाः क.ग.३ मध्वाज्याभय ग.४ षण्ढ A. ५ मानापत्करणात् क.

पृष्ठ 99

टिप्प॰—1 सा द्विविधा—सिनीवाली कुहूश्चेति, 'दृष्टचन्द्रा सिनीवाली नष्टचन्द्रा कुहूस्तथा'–अप.। 2 स च 'श्रवणाश्विधनिष्ठार्द्रानागदैवतमस्तके। यद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते' इत्यादावुक्तः ।3 मघानक्षत्रे, हंस आदित्यः, करो हस्तानक्षत्रम् ।

पाठ॰—१ चोदितं क.२ विषुवः क.३ कृष्णसारमांसादि ख.४ याम्या तिथि ख.ग. तिथिर्वैश्रवणीया (=त्रयोदशी) A.

पृष्ठ 101-102

टिप्प॰—1 रोगी दीर्घरोगी–अप॰ ।2 छिन्नशिश्नः। बाल॰ ।

पाठ॰—१ तदध्यायी क. ग. २ वक्ष्यमाणक्रियासंबंधः ख. ग. ३ ज्ञान A. ४ श्राद्धसंपदे (=श्राद्धस्य संपदे समृद्धये) क.ग.A. ५ वृद्धप्रजनन ख.६ खलतिर्निष्केशशिराः खल्वाटः

पृष्ठ 102

टिप्प॰—1 दातृ-याजकौ पञ्चमौ तुर्यपञ्चमौ येषां–बाल॰। अयं न दोष इति प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यते ।

पाठ॰—१ संकुचितनखः ख.२ कुरुते योऽग्रजे स्थिते क.३ इति समानदोषश्रवणात् ग.४ मातृपितृ ग; मातापित्रोर्गुरोः A.

पृष्ठ 103-104

टिप्प॰—1 अप्रत्याख्येयो नियोगो निमन्त्रणम्–अप॰। 2 एक-त्रि-पञ्चकादि-

संख्याका अयुग्माः– अप॰।

पाठा॰—१ अवसर उत्सवो वा क्षणः ग. २ नागतान्द्विजान् A. ३ विज्ञेया क. ४ पित्र्ये युग्मान् A. ५ परिश्रिते (= काण्डपटादिना परिवृते) A.

पृष्ठ 104-105

टिप्प॰—1 आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः। ये ह्यत्र विहिताः श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते' इति योऽयं मन्त्रः। 2 पार्वणे तु 'विश्वे देवा आगच्छत' इति, एतच्चाह बृहस्पतिः– 'इष्टिश्राद्धे ऋतुर्दक्षः सत्यो नान्दीमुखे वसुः। नैमित्तिके कालकामौ कामे च धुरिलोचनौ इति।

पाठा॰—१ प्राक्तु पित्र्ये त्रीन् A. २ विष्टरार्थान् A. ३ वीतिना सव्येन च ख. ४ विश्वेदेवार्थ– ख.

पृष्ठ 105-106

टिप्प॰—1 'यवोऽसि धान्यराजोसि वारुणो मधुसंयुतः। निर्णुदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतम् ॥' इत्ययं मन्त्रः। 2 नायमर्धश्लोको ह्यपरार्कादृतो दृश्यते।

पाठा॰—१ अकण्टकिजं ख. २ कुशान्कृत्वा क. ३ उशन्त A. ४ द्विगुणभुग्नान्कुशान्दत्त्वापः– ख. ग.

पृष्ठ 106-107

टिप्प॰—1 मूलादर्शेष्विदं श्लोकार्धं न दृश्यते। मिताक्षराऽपरार्कयोर संमतश्च। 2 अत्रानुज्ञानं सर्वैरेव ब्राह्मणैः कुर्यात्, तथा च मनुः (3 ।210) 'अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह' इति।

पाठा॰—१ यवार्थस्तु तिलैः कार्यः A. २ पात्रे प्रथमे गृहीत्वा ग. ३ करिष्य आदाय A. ४ तु A.

पृष्ठ 107-108

टिप्प॰—1 श्राद्धप्रयोगविधिः स गृह्योक्तादभिन्नः; प्रत्यभिज्ञानात्, तेन धर्मशास्त्रेष्वपि गृह्य एवाग्निः प्रकृतः। अतोऽग्नयर्थमित्र 'अग्निशब्दोऽगृह्यपरः प्रकृतत्वात्– अप॰।

पाठा॰—१ वीतीध्ममुप– क. वीत्यग्निमुप– ख. २ विहित ख. ३ स्त्वौपपासनेऽग्न्यभावे ग. ४ ग्नेरप्यौपासना ख. ग. ५ कल्पेनेति निदेशात् क. ६ लक्षयति क. ७ सद्भावादेको क. ८ प्रतिषेधश्च दृश्यते ग. ९ पूर्वमश्नन्त्यबु ग.

पृष्ठ 108-110

पाठा॰—१ पात्रानुमन्त्रणम् A. २ कृत्वा ग. ३ वृन्ताकबृहती क. ४ पुष्पोषधिबिड क; पुष्पोषरबिड– ख.

पृष्ठ 110-111

टिप्प॰—1 नाग्निसंनिधावित्याशयः।

पाठा॰—१ प्रकिरेत् क; A. २ सार्ववर्णिकमन्न—क. ग. ३ दद्याद्धि A. 4 सार्ववर्णिकमन्नमुपादाय क. 5 कर्मैवं कर्तव्यं ग.

पृष्ठ 112

टिप्प॰—1 बौधायनंस्तु—अस्याग्रे 'अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि। याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कंचन' इति मन्न आम्नातः– अप॰ । 2 अत्र बहवः पक्षा वर्तन्ते, एषां पक्षाणां स्वस्वगृह्यानुसारेण व्यवस्था, 'न गृह्यादिस्मृतिर्येषां श्राद्धादावुपलभ्यते। कर्तुमिच्छन्ति ते कृत्स्नं यस्य कस्य मुनेर्मतम्' इत्यभियुक्ताः।

पाठ॰—१ रेव नः ग. २ इत्युक्त्वा तु A. ३ विसर्जयेत् ख. ४ यस्मिंस्ते संस्रवाः पूर्वं ख; A. ५ पितृपात्रे क. ६ दानानन्तरं ते संस्रवा ग.

पृष्ठ 113

टिप्प॰—1 नायं नियमो भोक्तृपरः; 'श्राद्धभुक्प्रातरुत्थाय प्रकुर्याद्दन्तधावनम्। श्राद्धकर्ता न कुर्वीत दन्तप्रक्षालनं बुधः॥' इति प्रचेतसोक्तेः।

पाठ॰—१ प्रदक्षिणं कृत्वा A. २ कर्कन्धुमिश्राः पिण्डा यवैः A.

पृष्ठ 114

टिप्प॰—1 श्राद्धे विघ्नप्राप्तौ हारीतो मरीचश्च—'श्राद्धविघ्ने द्विजातीनामश्राद्धं प्रकीर्तितम्। अमावास्यादिनियतं माससंवत्सराद्दृते' इति उशनसाऽप्युक्तम्—'अपत्नीकः प्रवासी च यस्य भार्या रजस्वला। सिद्धानेन न कुर्वीत आमं तस्य विधीयते॥' इति। मृताहविस्मृतौ मरीचिः– 'श्राद्धविघ्ने समुत्पन्ने अविज्ञाते मृतेऽहनि। एकादश्यां तु कुर्वीत कृष्णपक्षे विशेषतः॥' इत्याह।

पाठ॰—१ दैवहीनं क;– A. २ तिष्ठतामित्यक्षय्य A.

पृष्ठ 115

पाठ॰—१ प्रसिञ्चयेत् ख. २ मृतस्य पिण्डोदक क.

पृष्ठं 116

पाठ॰—१ समानयत् क., समापयेत् ख. २ एतच्च ख. ३ विधानेनोपपद्यते क. विधानायोपपाद्यते ख. ४ अव्यापित्वादपि तु क. ५ देवतामुपगतेषु ख. ६ पितृशब्द.

पृष्ठ 117

टिप्प॰—1 भर्तुरभावे एतत् यदाह पैठीनसिः—'अपुत्रायाम्' इति पठति—अप॰ ।

पाठ॰—१ पिण्डदानादौ. २ विरुद्धानीव ख. ३ मृता यदि तेनैक्यं क.

पृष्ठ 11

टिप्प॰—1 'दद्यात् संवत्सरं द्विजे' इति पाठे सप्तमी यथार्था, श्राद्धे ब्राह्मणस्या हवनीयार्थत्वात्—अप॰ ।

पाठ॰—१ दद्याद्वर्षं द्विजन्मने A. २ करणं भवेत् ख. ३ द्यते तदेति ख.

पृष्ठ 119

टिप्प॰—1 यस्मिन्मासि गृहाच्चलितस्तन्माससंबन्धिन्याम्—बाल॰ ।

पाठ॰—१ यथाह शङ्खः. २ तु कर्तव्यं क. ग. मृताहनि तु A. ३ हनीति स्वाशौचोप क.

पृष्ठ 119-120

टिप्प॰—1 द्व्यामुष्यायणदत्तकादीनामित्याशयः। 2 अत्र 'वृद्धा' इत्यनेन तस्यादरः सूचितः—बाल॰।

पाठ॰—१ पृथकुर्यात् ख. २ जानीयाद्भवेच्च ख. ३ संकोचःस्यादित्युक्तत्वात् ग. ४ सप्तदशपदस्य क.

पृष्ठ 121

टिप्प॰—1 अपिण्डकश्राद्धोपलक्षणेतत्–इति बाल॰। 2 फलशून्यकमङ्गिविशेषः प्रतिपत्तिः, तथा च श्राद्धादौ दत्तद्रव्यस्य जलादौ निक्षेपः प्रतिपत्तिः। 3 हविष्यं चोक्तं मनुना (3।257)–'मुन्यन्नानि पयःसोमौ मांसं यच्चानुपस्कृतम्। अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते' इति।

पृष्ठ 121-122

टिप्प॰—1 कश्मीरप्रदेशे प्रसिद्धम्।2 वर्षासु या त्रयोदशी, याश्च मघाः; तस्यां तासु च यत् पितृभ्यो ददाति तदपि पितृलक्षणस्य फलस्यानन्त्यमश्नुते। अत्र च प्रोष्ठपद्यपरपक्षे या त्रयोदशी याश्च मघाः ता एव गृह्यन्ते—इत्यपरार्कः। 3 मूले 'मघासु' इति बहुवचनं त्ववान्तरनक्षत्राभिप्रायम्।

पाठ॰—१ फलैस्तथा ग. २ मासं प्रीयन्ते ख. ३ अनागतत्वेना ग. ४ शाकुनं भक्ष्यपक्षिसंबन्धि क. ख. ५ च A. ६ कालशाकं A. ७ वाध्रीणसस्य क. ग; A. ८ वर्षास्वेवं त्रयोदश्याम् A. ९ श्वेतं वृद्धमजापतिं ख. १० आनन्त्यफलं ख.

पृष्ठ 123

टिप्प॰—1 अत्र 'शस्त्रहत' ग्रहणं शास्त्रान्तरोक्तदुर्मरणप्रदर्शनार्थम्–अप॰।

पाठ॰—१ पशून्मुख्यान्सुतानपि A. २ कृषिं च वाणिज्यं द्विशफैकशफांस्था ख; A. ३ सन्मार्गगाः ग.

पृष्ठ 123-124

टिप्प॰—1 अत्र श्रौतक्रमानुसारं विवक्षा।

पाठ॰—१ ससौभाग्यं क; सुसौभाग्यं A. २ सुतान् A. ३ विद्यां A. ४ श्रद्दधानश्चेत् ख; श्चाप्यपेतमदमत्सरः A. ५ स्वर्गोऽतिशयमुखं क. ६ अनामयित्वं ग. ७ शुभाशुभफलकर्मविशेषेण ग. ८ श्राद्धेषु.

पृष्ठ 125

टिप्प॰—1 अत्र च 'पितामह' ग्रहणं पित्राद्यपलक्षणम्'–अप॰।

पाठ॰—१ नृणां प्रीताः A. २ गर्भधारणपोषणाय ग. ३ विधान सिद्ध्ये क.

पृष्ठ 126

टिप्प॰— 1 इदं स्वप्नविषयकम्। 'विमना' इत्यादिश्लोकैर्जागरणेऽपि तल्लक्षणान्याह।

पाठ॰—१ व्रजन्तं च तथा A. २ अनुमन्यते ग. ३ राष्ट्रं A. ४ चैव A.

पृष्ठ 127-128

पाठा॰—१ स्नापनं A. २ घृतमिश्रेण. ३ च विनिंक्षिपेत् A. ४ कुम्भैः शुभैरव्रणा. ख. ५ शोभितान् नानास्रग्दाम ख. ६ताननाहत ग.

पृष्ठ 129

टिप्प॰—1 ते च बैजवापगृह्ये चत्वारं उक्ताः-'चत्वारः खलु विनायका भवन्ति;-मितश्च, संमितश्च, शालशङ्कटश्च, कूश्माण्डराजपुत्रश्चेति। एतैरुपसर्गलक्षणाः ब्राह्मणाः स्वाध्यायवन्तोऽपि आचार्यत्वं न लभन्ते। कुमार्यो लक्षणवत्योऽपि भर्तृन्न लभन्ते। स्त्रीणामाचारवतीनामप्यपत्यानि म्रियन्ते इति।

पाठा॰—१ ते सदा A. २ स्मृतिलिङ्गात् ग. ३ शालकटंकटः A. ४ कूष्मा (श्मा ?)ण्डराज A.

पृष्ठ 130-131

टिप्प॰—1 'दन्तिः' इति क्वचित्। 2 उण्डेरकाः क्षुद्रापूपा इति कौस्तुभे।

पाठा॰—१ दित्याह दद्यादित्यादिचतुर्भिः ग. २ स्तथा चामान् A. ३ विविधा A. ४ पुष्पं तथैव ख; तथैवोण्डेरकस्रजम् A. ५ गुडमिश्रं A. ६ अपरार्कासंतमिदमर्धम्. ७ त्तदाऽम्बिकाम् A. ८ पिशाचा मातरोरगाः क. ९ माला विद्या क; नागा विद्याधरा. १० पललं पिष्टं क.

पृष्ठ 131-132

टिप्प॰—1 'तत्स्रोताः' इत्यपि पाठः तदुक्तवर्तुलैश्चतुरस्रैश्च दीर्घैः पिष्टविकारैर्निर्मिताः स्रज उच्यन्ते-बाल॰।

पाठा॰—१ क्षैरेयी. २ जयं देहि ग. ३. भगवन् क. ग. ४ अम्बिकोपस्थाने भवतीत्यूहः ग. ५ श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् A.

पृष्ठ 132

टिप्प॰—1 संयोगः= फलम्, तेनात्र फलान्तरमित्याशयः। 2 तिलकं= प्रतिमाम्।

पाठा॰—१ ग्रहपूजां लक्षयति ग.

पृष्ठ 133-134

पाठा॰—१ गन्धमण्डलकेषु वा A. २ सप्तारथसंस्थश्च. क. ३ नीलसिंहासनः, क. ग. ४ ऽग्नावन्वाधानादनन्तरं कर्म कृत्वा क.

पृष्ठ 135-136

पाठा॰—१ न्निमा अपि A. २ औदुम्बर ख. ३ कस्यात्राष्टशतं क. ग; एकैकस्याष्टशतक A. ४ संयुताः, ५ घृतान्नं च कृसरामिषचित्रकम् A. ६ द्विजः ख.

पृष्ठ 136-137

टिप्प॰—1 एताश्च दक्षिणा ऋत्विग्भ्य एव देयाः—अप॰।

पाठा॰—१ भारवाहो क. ग. २ आयसमक्रस्रादि, आयसं ताम्रादि क. ३ दुष्टो. ४ भिषेकयुक्तस्य ख. ५ अथ चान्येषामपि ख. ६ स्वकालादुत्पत्ति ग. ७ तस्य नोत्पादो न कालेक.

पृष्ठ 138

टिप्प॰—1 पुरुषार्थविक्षेपकं द्यूतादिकं व्यसनम् । 2 आखेटकाख्यो मृगवधो मृगया, अक्षादिक्रीडा, दिवानिद्रा, परदोषकथनं, स्त्रीसंभोगः, मद्यपानजनितो मदः नृत्यगीतवादित्राणि त्रीणि, वृथाभ्रमणं, इति दश इत्यन्ये ।

पाठा॰—१ संवननाभिचार ग. २ अदीर्घसूत्री ग; A. ३ सत्यवादन ग.

पृष्ठ 138-139-140

टिप्प॰—1 पैशुन्यमविज्ञातदोषविष्करणं, साहसं साधोर्बन्धनादि निग्रहः, द्रोहश्छद्मवधः। ईर्ष्याऽन्यगुणासहिष्णुता, असूया परगुणेषु दोषाविष्करणं, अर्थदूषणमर्थानामपहरणं देयानामदानं च, वाक्पारुष्यमाक्रोशादि, दण्डपारुष्यं ताडनादि, इत्यष्टौ। 2 मौलान्पितृपितामहक्रमेण सेवकान् । 3 लब्धलक्षान् लक्ष्यादप्रच्युतशरादीन् ।

पाठा॰—१ साममय्यां ख. २ च तद्विदः ख. ३ ततः परम् ख. ४ हर्षविकारस्थाने विषादरहितान् क. ५ च कुर्वीत A. ६ कर्मसु पुरो निहितं क.

पृष्ठ 140-141

टिप्प॰—1 वरणेन पुरोहितत्वं संजायते, यथा चाध्वर्युत्वादि, अतः 'पुरोहितं कुर्यात्' इति वचनं युक्तम् ।

पाठा॰—१ दत्त्वा विप्रेभ्यो ख. २ अव्ययं ख. ३ प्रायश्चित्तायासरहितं ४ तत्परतया रक्षेत् ५ वाणिज्यादिकया ग.

पृष्ठ 141-142

टिप्प॰—1 'अस्मिन्ग्रामे प्रतिक्षेत्रं क्षेत्रस्वामिनैतद्धनमस्मै प्रत्यब्दं प्रतिमासं वा देयम्' इत्येवमादिनियमो निबन्धः इति– अप॰ । 2 आघाटस्य = सीमाचिह्नभूतस्येत्याशयः ।

पाठा॰—१ च A. २ पट्टे फलके वा क. ख. ३ नद्यावाटौ क. ख. ४ निवर्तनपरिमाणं च क. ५ शास्यन्ते ग. ६ नान्येन ग; 'न येन केनचित्'.

पृष्ठ 142-143

टिप्प॰—1 धन्वदुर्गं असंवेष्टितं चतुर्दिशं पञ्चयोजनमनुदकम्। महीदुर्गं पाषाणेष्टकायुतद्वादशहस्तोच्छ्रितेन युद्धार्थमुपरिभ्रमणयोग्येन सावरणगवाक्षादियुक्तेन प्राकारेण समान्ताद्वेष्टितं सद्वारन् । जलदुर्गमगाधोदकेन समन्ततो वेष्टितम् । वार्क्षं बहिः सर्वतो योजनमात्रं व्याप्य तिष्ठन्महावृक्षकण्टकिगुल्मलताद्यन्वितम्। नृदुर्गं चतुर्दिगवस्थायिहस्त्यश्वरथयुक्तबहुपादातरक्षितम्। गिरिदुर्गं सर्वतः पृष्ठमतिदुरारोहं संकोचैकमार्गोपेतं अन्तर्नदीप्रस्रवणाद्युदकयुक्तं बहुसस्योत्पन्नक्षेत्रवृक्षान्वितम्.

पाठा॰—१ समजल क. २ धर्मादिस्त्र्यादिषु ग.

पृष्ठ 143-144-145

टिप्प॰—1 यथा चोक्तम्—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्चरणे चाभिमुखो हतः' इति। 2 स्नानग्रहणं सकलमाध्याह्निकोपलक्षणम्—अप॰ ।

पाठा॰—१ ज्यायंसी ग. २ हिरण्यादिकं ख. ३ गारे न्यसेत्ततः A.

पृष्ठ 145-146

पाठा॰—१ श्चारान्विश्वस्तान् ख. २ राजान्तरं ३ शासनहस्ताश्चेति क. ४ नृत्तैश्च A. ५ स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः

पृष्ठ 146-147

पाठा॰—१ एतद्विधान. २ सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत्. ३ सादरम् A. ४ न्दद्याद्वाः A. ५ तथा श्रोत्रियाणां A. ६ भृत्यवर्गे च A. ७ पुण्यषड् भाग A. ८ धर्मशास्त्रोक्तेन ग.

पृष्ठ 147-148

टिप्प॰—1 ये कस्यचित्कार्येण कस्यचिद्राजामात्यादेः प्रवृत्ता ग्रहणातिकार्यसिद्धौ प्रवर्तन्ते–मेधा॰। कार्यार्थं कार्यिणो धनादानमुक्तोचः– अप॰।

पाठा॰—१ ऐन्द्रजालिक. ग. २ अपकारिणः ग. ३ स्तु A. ४ सदानमान ख; A. ५ योऽभिरक्षयेत् A.

पृष्ठ 149-150

पाठा॰—१ प्राणानदग्ध्वा क; प्राणान्नादग्ध्वा A. २ कृच्छ्र A. ३ किं तु यस्मिन्य A. ४ राज्यमतो मन्त्रं क. ग. ५. प्राग्यावदन्ये ख.

पृष्ठ 150-151

पाठा॰—१ ह्यनन्तरदेशा क. मध्यन्तरदेशा ग. २ यातव्योच्छेदनीय क. ३ पकर्षणात् ख. ४ रभिसंधेयं क. ५ न पृथगुक्तम् ख. ६ स्योत्पादनम् ख. ७ विग्रहं चैव यानमासनसंश्रयौ ख.

पृष्ठ 152

पाठा॰—१ कारेऽपि क. २ केचिद्दैवाद्धठात्केचित्केचित् A. ३ सिद्ध्यन्त्यर्था मनुष्याणां तेषां योनिस्तु पौरुषम् A.

पृष्ठ 153-154

टिप्प॰—1 आचाराध्याये विवृतमेतत्सविस्तरं 321 तमपद्यटिप्पन्याम्।

पाठा॰—१ लाभेषु A. (= हिरण्य-भू-मित्रलाभानां मध्ये). २ तत्प्राप्तौ A. ३ स्वाम्यमात्यौ A. ४ न्यायतः शक्यो A. (= न्यायतो यथाशास्त्रं नेतुं प्रणेतुं शक्यः) ५ ऽलुब्धेन कृतबुद्धिना A. (= अलुब्धेन न्यायधनव्ययकारिणा कृतबुद्धिना लब्धप्रज्ञेन).

पृष्ठ 154-155

टिप्प॰—1 तत् स्वल्पापराधविषयम्, न सर्वात्मना दण्डाभावाभिप्रायम्। अत एव दक्षः—'परिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति। श्वपादेनांकयित्वा तं राजा शीघ्रं विकासयेत्' इति।

पाठा॰—१ ऽसुरमानुषम् क. २ तु प्रकोपयेत् A. ३ प्रकोपनमपि तु क. ४ स्वर्गं कीर्तिं लोकाश्च नाशयेत् क. ५ कृतः सोऽपापहेतुत्वात् क. ग. ६ परिव्राजकपुरोहित ख.

पृष्ठ 155-156

टिप्प॰—1 हेलाबुका अश्वव्यवहारिणः बाल॰। गणान् मठब्राह्मणादीन्– अप॰। 2 स च 20 कपर्दिन्यः= एका काकिणी,–'पै' इति नामकं ताम्रनिष्कम्। 3 सुवर्णोन्मानमिदमुक्तं भवति—8 त्रसरेणवः= एका लिक्षा, 3 लिक्षाः= एको राजसर्षपः, 3 राजसर्षपाः= एको गौरसर्षपः, 6 गौरसर्षपाः= एको यवः, 3 यवाः= एकः कृष्णलाः, 5 कृष्णलाः= एको माषः, 16 माषाः= एकः सुवर्णः, 4-5 सुवर्णाः= एकं पलम्। उपर्युक्ताः सर्षपा यवा वा मध्यमप्रमाणा ग्राह्याः– न सूक्ष्माः, नापि स्थूला इत्यत्रावधेयम्।

पाठ॰—१ वक्ष्यमाणधर्मेण क. २ काठिन्यादि.

पृष्ठ 156-157

टिप्प॰—1 रजतस्योन्मानं चेत्थम्—2 कृष्णलौ एको माषः, 16 माषा एकं धरणम् (पुराणम्) 10, पुराणानि धरणानि एकं शतमानं पलम्, 4 सुवर्णाः एकं निष्कम् इति।

पाठ॰—१ मध्यस्त्रयस्तु ते A. २ रेणूनामुपसंहृत्य क. ३ रौप्य A.

पृष्ठ 158

टिप्प॰—1 ताम्रस्योन्मानं चेत्थम्—सुवर्णरजतयोः 1/4 पलं एकः 'कर्षः'; ('पण'–'कार्षापण' इत्यपरनामकः), 1080 पणाः 'उत्तमसाहस' दण्डः, 540 पणाः 'मध्यम-साहस' दण्डः 270 पणाः 'अधमसाहस' दण्डः ('प्रथमसाहस' इत्यपरनामा) इति।.

पृष्ठ 159

टिप्प॰—1 'वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्' इति मुद्रिते पाठः।

पृष्ठ 161

टिप्प॰—1 'विप्रतिपद्यमाननरन्तरगताज्ञाताधर्मज्ञापनानुकूलो व्यापारो व्यवहारः। वादिप्रतिवादिकर्तृकः संभवद्भोगसाक्षिप्रमाणको विरोधकोटिव्यवस्थापनानुकूलो व्यापारो वा सः। संप्रतिपत्त्युत्तरे तु व्यवहारपदप्रयोगो भाक्त इति मदनरत्ने' इति व्यवहारमयूखः। 'विनानार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते। नाना संदेहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः॥' इति कातीयम्. 2 अर्थशास्त्रं नीतिशास्त्रं औशनसादिकम्. 3 देशेति। आदिना देवगृहादिपरिग्रहः। पारिभाषिकधर्मेण व्यवस्थानं समयः. 4 सामयिको धर्मो यावत्पथिकं भोजनं देयमस्मदरातिमण्डलं तुरङ्गादयो न प्रस्थापनीया इत्येवंरूपः.

पाठ॰—१ दर्शनेन विनेति व्यवहारदर्शनं ग. २ चाधिगच्छति ख.

पृष्ठ 162-163

टिप्प॰—1 मौलैः सेवकत्वेन पितृपितामहादिपरम्परायातैः 2 कुलीनैः परंपरायातैश्च.

पाठ॰—१ च भेदः स्पष्टो ग. २ सभां वा न प्रवेष्टव्यं ग. ३ व्यग्रतया ख. ग.

पृष्ठ 163

टिप्प॰—बृहस्पतिंस्तु—'विवादे पृच्छति प्रश्नं प्रतिपश्नं तथैव च। नयपूर्वं प्राग्वदति प्राड्विवाकस्ततः स्मृत॥' इति व्यवहारमयूखे। 2 वाकोवाक्यं उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यम्.

पाठ॰—१ धर्मान् शास्त्रोक्तान् ग. २ ब्राह्मण एव. ३ विवक्ति विवेचयति वा ग. ४ न ब्राह्मणो दण्ड्य इति क.ग.५ रात्रा वध्यश्चावध्यश्च.ग.६ वेदाङ्गविद्वाक्येतिहास ग.

पृष्ठ 164

टिप्प॰—1 लुप्यत इति लोप्त्रं चौर्यधनम्—बाल॰। 2 लिङ्गं अव्यभिचरितं चिह्नमित्यर्थः—बाल.। 3 ऋणादानं ऋणस्य न दानमदानम्, निक्षेपः स्वधनस्यान्यस्मिन्नर्पणम्, अस्वामिना कृतो विक्रयः, संभूयसमुत्थानं अनेकैर्मिलित्वा यत्र धनार्थं वाणिज्याद्युदमः क्रियते. दत्तस्यानपकर्म अप्रत्यर्पणम्. 4 कर्मकरस्य भृतेरदानम्, संविदः कृतव्यवस्थाया अतिक्रमः, अनुशयः क्रयविक्रये च कृते पश्चात्तापाद्विप्रतिपत्तिः, स्वामिपशुपालयोर्विवादः. 5 ग्रामसीमाविप्रतिपत्तिः, वाक्पारुष्यमाक्रोशनादि, दण्डपारुष्यं ताडनादि, स्तेयं निह्नवेन धनग्रहणम्, साहसं प्रसह्य धनहरणादि, स्त्रियश्च परपुरुषसंपर्कः. 6 स्त्रीसहितस्य पुंसो धर्मे व्यवस्था, विभागः पैतृकादिधनस्य, द्यूतं अक्षादिक्रीडा, पणव्यवस्थापनपूर्वकं पक्षिमेषादिप्राणियो धनं, समाह्वयस्य प्राणिद्यूतरूपत्वेन द्यतावान्तरविशेषत्वादष्टादशसंख्योपपत्तिः.

पाठ॰—१ समयाचार. २ स्मृतम् घ.

पृष्ठ 165

टिप्प॰—1 'शिक्का'परपर्यायगरुडादिचिह्नेन. 2 आधिव्याधिसहितादीनाम्. 3 अकल्पो व्याध्याद्यभिभूतः, विषमस्थ उत्पन्नसंकटः. 4 कार्यातिपाती कार्योल्लंघी. 5 मत्तो मादकद्रव्येण, उन्मत्तः उन्मादेन पञ्चविधेन वातपित्तश्लेष्मसन्निपातग्रहसंभवेनोपसृष्टः, प्रमत्तः सर्वदावधानहीनः. 6 ता हीनपक्ष्यादयः ज्ञातिस्वामिका इत्यर्थः 7 निष्कुलाः कुलहीनाः. 8 एतत्प्रसङ्गादकल्पाद्याह्वाने पूर्वनिविद्धेऽपि प्रतिप्रसवमाह—कालमिति। तत्र प्रकारद्वयं शनैर्यानैरिति. 9 अभियोगोऽभिग्रहः आरोपस्तम्. 10 आसेधो राजाधिकारिर्भिर्निरोधः. 11 विवादार्थी वादी, आसेधयेत्प्रत्यर्थिनं निरोधयेत्.12 आसेध इति। स चतुर्विधः—1 प्रकृते अस्मात्प्रदेशान्न गन्तव्यमिति स्थानासेधः, 2 आसन्ध्यं न गन्तव्यमिति कालासेधः, 3 देशान्तरं प्रति न गन्तव्यमिति प्रवासासेधः; 4 असौ व्यापारो न कर्तव्य इति कर्मासेधः.13 आसिद्धो निरुद्धः 14 विनेयः शिक्षणीयः. 15 अन्यथा कुर्वन् अनासेधकाले आसेधं कुर्वन्. 16 आसेद्धा आसेधकर्ता राजपूरुषः. 17 नासिद्धं विलंघयेदित्यस्य प्रतिप्रसवमाह—नदीति.

पाठ॰—१ पृच्छेत्प्रणतं क.

पृष्ठ 165-166

टिप्प॰—1 निर्वेष्टुकाम आश्रमान्तरं गन्तुकामः, विवाहादावुद्यत इति यावत्. 2 यियक्षुर्यष्टुमिच्छुः. 3 अभियुक्तो नियोजितः. 4 तत्कालं शिल्पकाले आयुधीया आयुधजीविनो योद्धारः 5 विग्रहे संग्रामे. 6 अकल्पादयः= आधिव्याधिपीडिताः. 7 नियोगकृदाज्ञाकारी. 8 विब्रुवन् व्यवहारेषु विरुद्धं विविधं विशेषेण वा ब्रुवन्. 9 क्रियाद्वेषी कार्यद्वेषी. 10 नोपस्थाता समीपे न तिष्ठन्. 11 वेलेति दिनमध्येऽपि प्रातरादिमुहूर्तरूपो वा कालविशेष इत्यर्थः. 12 एते पराशरमाधवीये—इति व्य॰ म॰ अर्थवदिति। अर्थवत्प्रयोजनवत्, धर्मसंयुक्तं धर्मो गुणः स्वल्पाक्षरत्वप्रभूतार्थवत्वादिकस्तेन युक्तं, परिपूर्णमध्याहारानपेक्षम्, अनाकुलमसंदिग्धाक्षरं, साध्यवत् सिषाधयिषितार्थसहितम्, वाचकपरं बहुव्रीहिगौणलाक्षणि-

कादिरहितं, प्राकतार्थानुबन्धि पूर्वावेदितार्थानुरोधि.

पाठा॰—१ प्रेषयन्ति ख; प्रेषयिष्यन्ति. २ आहुतंव्यपलापी ग. ३ साधने क्षमम् ख. ४ नियतार्थ ग.

पृष्ठ 166-167

टिप्प॰—1 इदमग्रे स्फुटीभविष्यत्यसाधाराणव्यवहारमातृकाप्रकरणे. 2 पितृ इति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदं, पितुरिति पाठो वा. 3 इदं कात्यायनवचनमिति—परा॰ माध॰। 4 कृष्णोदक्पाण्ड्वत्यच्प्रत्ययो बहुव्रीहेः. 5 अत्र अप्रसिद्धादेःसाधयितुमशक्यत्वादनिराकरणम् इति ख. पुस्तके विशेषः. 6 पीडारहितमित्यर्थः 7 विनिगमनाभावादाह–पुरेति. 8 अत्र 'एतेषां स्वभावेनैव निराकरणमिति न निराक्रियते। तत्र च अप्रसिद्धादीनां व्युत्पत्तयर्थमुपादानं तदप्यनेकपदसंकीर्णस्य निराकरणं न क्रियते' इति कचिद्विशेषः. 9 प्रकृतीनां जनानां नगरस्थानाम्.

पृष्ठ 167

टिप्प॰—1 अप्रसिद्धादीनां पक्षाभासत्वमिवानेकपदसंकीर्णपूर्वपक्षस्यापि तत्त्वमेव। अनेकैः पदैः संकीर्णो यः पूर्वपक्षः प्रतिज्ञा सा न सिद्ध्यति आभासरूपा भवतीति तदर्थप्रतीतेस्तन्निराकरोति—यत्त्वित्यादिना. 2 तत्र पदशब्दः पद्यते ज्ञायते इति व्युत्पत्त्या किं वस्तुपर उत ऋणादानादिरूपव्यवहारविषयपरः। तत्र न तावदाद्ये पक्षाभासत्वमित्याहतत्रेति. 3 बहुप्रतिज्ञं बहुपूर्वपक्षम्. 4 अर्थिवेदितमित्यर्थः 5 पाण्ड्वति 'खड्' इति भाषा प्रसिद्धः. 6 आवापेति न्यूनाधिक्यपरिहाराय प्रक्षेपनिष्कासनाभ्यामित्यर्थः. 7 सहजोक्तं, न तु छलादिना. 8 उत्तरेणावष्टब्धस्य प्रतिबद्धस्य पूर्ववादस्य शोधनं भवेदित्यर्थः. 9 उत्तरत्र अग्रे. 10 दुःश्लिष्टमसंबद्धम्, अश्लिष्टमित्यपि पाठः.

पाठा॰—१ पुत्रपौत्रादीनां क॰

पृष्ठ 167-168

टिप्प॰—1 अध्याहारेण सहितं साध्याहारम्. 2 अदेशभाषेत्यपि क्वचित्. 3 प्रत्यवस्कन्दं कारणोत्तरम्. 4 प्रतिपत्तिः संप्रतिपत्तिः, सत्योत्तरमित्यनर्थान्तरम्. 5 तथा प्रपद्य तथैवाङ्गीकृत्येत्यर्थः. 6 व्यवहारेण पराजितोऽपि. 7 अर्धन्यूनतयात्यल्पत्वमस्य. 8 अन्यत् पक्षैकदेशव्यापि चेत्यर्थः. 9 व्यस्तपदं असंबद्धपदकम्. 10 विन्ध्यहिमाचलयोर्मध्यं मध्यदेशः. 11 ध्वनिना किनादिबोध्येन.

पाठा॰—१ अभियुक्तस्य ग.

पृष्ठ 168-169

टिप्प॰—1 न वादिद्वयपरत्वमिति सूचयितुं मिथ्येति। मिथ्योत्तरे इत्यर्थः। पूर्ववादे कर्मण्यण् पूर्ववादिनीत्यर्थः. 2 कारणे कारणोत्तरे. 3 तयोर्मिथः संकरे त्वित्यर्थः. 4 तयोरुक्तावित्यर्थः। नेदं प्रत्येकपरम्। करणांशे 'कारणे प्रतिवादिनि' इत्यनेन सिद्धत्वात्। तस्मात्सांकर्यपरमेवेदम्। अत एव समासनिर्देशसंगतिरपि. 5 द्वितीयसंकरे त्वित्यर्थः. 6 साधयितव्यमेतैः कृत्वा. 7 आदिना दिव्यपरिग्रहः. 8 उत्तरत्रयेति मिथ्याकारण-प्राङ्न्यायरूपे. 9 चतुःसंकरेति। यथा 'अनेन सुव रूप्यकशतं वस्त्राणि धान्यं च गृहीत'-

मित्यभियोगे—'सुवर्णं धारयामि, रूपकशतं न गृहीतं, वस्त्राणि प्रतिग्रहेण लब्धानि, धान्यविषये पूर्वन्यायेन पराजितः' इति। एवं मिथ्याप्राङ्न्यायसंकरेऽपि द्रष्टव्यम्. 10 क्रमेण त्वित्यर्थः. 11 चेन प्राड्विवाकादेः समुच्चयः. 12 यत्र त्वित्यर्थः. 13 मिथ्याकारणोत्तरयोः. 14 तत्साधकक्रियाग्रहणेन. 15 सत्योत्तरसंकरस्य पूर्वमनुपन्यासे बीजं ध्वनयन् यत्र नियामकान्तरमाह—यत्र चेति.

पाठा॰—१ रूपकशते ग. २ कारणोत्तरे तु ग. ३ प्रतिदास्यामि ग.

पृष्ठ 169-170

टिप्प॰—1 यत् उत्तरम्. 2 संकीर्णोत्तरस्य यौगपद्येन सर्वथाऽनुत्तरत्वे प्राप्ते क्वचित्प्रतिप्रसवमाह—यत्र त्विति. 3 तन्न्यायेनेत्यर्थः. 4 कश्चित् वादी. 5 अन्यः प्रतिवादी. 6 अत्र कारणस्याप्राधान्यं मिथ्योत्तरस्य प्राधान्यं तस्य तदुपपादकस्यापि संभवात्। अत एव तत्र सहयोगे तृतीया कृता. 7 प्रतिवादिना तस्यैवोक्तत्वमभिप्रेत्य प्राधान्यादरेण शङ्कते—नन्विति. 8 सत्यं गृहीतं प्रतिदत्तं चेत्येवंरूपे प्रागुक्ते. 9 सत्यस्यापि.

पाठा॰—१ ऐच्छिकक्रममपेक्षाक्रमं भवतीत्यर्थः ग. २ ऐच्छिकःक्रमो भवतीत्यर्थः ख ३ एतत्प्रदर्शित ख.

पृष्ठ 170

टिप्प॰—1 निवेशिते लिखिते. 2 अर्थ्यत इत्यर्थः साध्यं स यस्यास्तीत्यर्थी. 3 प्रमाणं लिखितादि वक्ष्यमाणम्. 4 निर्दिशेल्लेखयेत्. 5 अर्थ्येवेति आक्षेपादेव कर्तृलाभे तदुक्तिर्नियमार्थेति भावः. 6 तादृशोत्तरदानेनैव. 7 ततः साधनलेखनोत्तरम्.

पृष्ठ 171-172

टिप्प॰—1 मुख्यपादत्वासंभवादाह चतुरंशेति. 2 अभिधीयते ऋणादानादिषु वक्ष्यमाणेषु. 3 लक्षणोऽपि इति क्वचित्. 4 प्रत्याकलितस्य पौनःपुन्येन विचारणस्येत्यर्थः. 5 अभियुज्यते दोषविषयीक्रियतेऽनेनेति शेषः. 6 सत्यं गृहीतं प्रतिदत्तं चेति कारणोत्तरस्य अनेन दत्तं स्थितं मया पुनर्दत्तमित्येवं प्रत्यभियोगरूपत्वमित्यर्थः. 7 तथैवेति। अन्यथाऽन्यथावादित्वेन भङ्गप्रसङ्गात्. 8 ऋणादानादिव्यवहारविषये. 9 अत्र प्रकरणे पदशब्दो विषयवाची.

पाठा॰—१ इति व्यवहारमातृकाप्रकरणम्. २ साधारणासाधारणव्यवहार.

पृष्ठ 172-173

टिप्प॰—1 विषयान्तरं प्रत्यगमनेऽपीत्यर्थः 2 पदान्तरं प्रति गमनाद्वस्त्वन्तरगमनाच्चेत्यर्थः. 3 सिद्ध्यसिद्धीति। हीनवादित्वे प्रकृतार्थासिद्धिस्तथात्वे तत्सिद्धिरित्यर्थः. 4 पूर्वभूतेन सत्येन व्यवहारेण. 5 हीनवादी दण्ड्य एव, न प्राकृतार्थाद्धीयत इत्येतत्. 6 मन्युकृते वाक्पारुष्यदण्डपारुष्यादिव्यवहारे. 7 एवं शाब्दमाद्यार्थमुक्त्वा द्वितीयमसंपदध्वनितमुच्यते—अर्थेत्यादिना. 8 दण्डेति प्रत्यभियोक्तुरिति भावः

पाठा॰—१ वदन्केवलं ग.

व्यवहाराध्यायः

टिप्पणी एवं पाठान्तर

पृष्ठ 173-174

टिप्प॰—1 आक्षारयेत् कायेन वाचा वा क्षीणं कुर्यात्. 2 विनयो दण्डः. 3 पारुष्यं वाग्दण्डादि. 4 प्रतिभूः 'जामिन' इति भाषाप्रसिद्धोऽयम्. 5 तस्य प्रतिभुवः. 6 वादिन इति द्वयोरेकशेषः, जातावार्षं वा एकवचनम्. तेनार्थिप्रत्यर्थिनोः समासेन ग्रहणम्. 7 प्रकृतधनसममपलापनिमित्तकदण्डम्. 8 भावयितुं समर्थयितुम्. 9 अस्मिन्नर्थेऽयं पूर्वं पराजित इति प्राङ्न्यायोत्तरे गृहीतं प्रतिदत्तमिति कारणोत्तरे च दत्ते पूर्वन्यायं प्रतिदानं च प्रतिज्ञावाद्येवापलपतीति स एवापलापवादीत्यर्थः. 10 भावितः जयपराजय रूपप्राङ्न्यायस्य प्रतिदानस्य च साधनादङ्गीकारितो वादी. 11 मिथ्यावादी.

पाठा॰—१ एवं सति. २ निर्णयस्य कार्यं च ख. ३ प्रतिभूर्ग्राह्य इतयत आह ग. ४ धनं दद्याद्राज्ञे ख. ५ तत्राप्यर्थेऽपह्नववादी प्रत्य ख.

पृष्ठ 174-175

टिप्प॰—1 निह्नवे भावितो दद्यादित्येतत. 2 पदान्तराणि द्विविधानि सधनानि अधनानि च। तत्र सधनेष्वाह—पदान्तरेष्विति. 3 अधनेति। वाग्दण्डपारुष्यादिव्यवहारेषु प्रकृतधनसमदण्डदानस्य तद्द्विगुणदानस्य चासंभवाच्चेत्यर्थः. 4 तत्समं व्यवहारतुल्यम्. 5 अनुवाद इति। तद्व्यवहारे दण्डस्य विशिष्यविहितत्वेन प्राप्तत्वाद्विध्यसंभवेन पूर्वार्धेन तस्य सर्वस्य सामान्येनानुवाद इत्यर्थः. 6 प्रागुक्तनिमित्तान्यनिमित्तकोऽत्र प्राणनाशो ग्राह्यः. 7 यदि सद्यो नोत्तरं दातुमिच्छति तदा तदिच्छातोऽन्योऽप्युत्तरकालो भवति—अप॰।

पाठा॰—१ वक्तुं. २ योगे च. ३॰ थ वा साक्ष्ये A.

पृष्ठ 175-176

टिप्प॰—1 याति गच्छति यातीत्यर्थः। श्लोके गच्छेदित्यस्य लिङर्थाविवक्षायां तस्य पूर्वं विवरणं प्रदर्श्य ततो यातीति प्रदर्शनीयम्. 2 वा चार्थे. 3 पर्यन्तौ प्रान्तौ, सृक्किणी गल्लयोरन्तर्भागौ. 4 तथा वैवर्ण्यादिवत्. 5 विवेकस्य भेदस्य. 6 यत्किंचिद्विकारात्. 7 साधकबाधकप्रमाणयोरपरीक्षणाद्ग्राह्याग्राह्यत्वेन संदिग्धमर्थम्–अप॰। 8 अनेन हीनस्य पञ्चविधत्वमुक्तम्. 9 क्रिया साधनम्.

पाठा॰—१ बिन्दुचितं. २ दुर्ज्ञानत्वात् ग. ३ कारिणं ग.

पृष्ठ 176-177

टिप्प॰—1 उक्तपूर्ववादिभिन्नः. 2 अर्थी साध्यवान्. 3 मिथ्या मिथ्योत्तरे. 4 पूर्वन्यायकरणनिश्चये तु.5 पूर्वत्र काले गृहीतमुपभुक्तं चेतीत्यर्थः.6 'सर्वव्यवहार' इति पाठे प्रागुक्तसर्वेभ्य इत्यर्थः. 7 पणनं व्यवहरणं, स्वोक्तिसत्यतासूचनाय यथासंभव-द्रव्यदानाङ्गीकरणमिति यावत्. 8 प्रकृतार्थसममिति 'निह्नवे भावितः' (व्य. 11) इत्यत्रोक्तम्. 9 प्राड्विवाकादिरिति शेषः. 10 तत्र निमित्तसत्त्वादप्रवृत्तौ मानाभावाच्चेति भावः.

पाठ॰—१ साक्षिषु सत्सु ग. २ स्तस्मिन्पक्षे ग. ३ सपणं ख.

पृष्ठ 177-178

टिप्प॰—1 अनभिहितं अर्थिप्रत्यर्थन्तरेण. 2 व्यवहारतः हीयमानपापयोगाच्चेति करणतृतीयान्तात्तसिः. 3 भूतच्छले अनुसरति तच्छीलस्तत्त्वात् द्विगतर्द्विप्रकारः. 4 व्यभिचारस्य अयथार्थवादित्वस्यापि. 5 प्रतिज्ञाकालेऽर्थिनाऽभियोगत्वेनाभिहितम्. 6 पूर्वोक्तार्थैकदेश-हिरण्यंविषये. 7 किंतु युक्तिसिद्धमपीति भावः. 8 तर्कापरनामिका या संभावना सैव यः प्रत्ययो ज्ञानं तत्सहकृतात् 'निह्नुते' इति योगीश्वरवचनादित्यर्थः. 9 अस्य तदनुगृहीतत्वे च.

पाठ॰—१ तस्मात् ख. २ तत्त्वार्थयुक्तं यत्प्रमादाभि. ख. ३ निह्नवे लिखितेऽनेकमेकदेशविभा A. ४ न दापयितव्यो क. ५ न्यायज्ञाने तर्क उपायस्तेन तर्केण न्यायमभ्युह्य निश्चित्य नाभ्युपेत्य ख.

पृष्ठ 178-179

टिप्प॰—1 एवं निश्चितेऽर्थे प्रसक्तविरोधं परिहरति यत्त्विति. 2 न भवतीति। ऋणस्यान्यकृत्वेनाज्ञानस्यापि तत्र संभवेनापलापाभावात्. 3 'निह्नुते' इत्यस्य. 4 निह्नवोत्तरं= ज्ञात्वापलापो निह्नवः, तद्रूपमुत्तरम्; परिहृत्य परित्यज्य अज्ञानोत्तरे ज्ञानाभावेनोत्तरे प्रवर्तते. 5 स्थिरेति। लिङ्गदर्शनमात्रेणादृढहेतुनापि स्त्रीसंग्रहणादिरूपसाध्यस्य सिद्धिर्भवतीति तादृशानामस्थिरत्वम्, ऋणादानादिरूपस्य साध्यस्य तु दृढसाधनेनैव सिद्धिस्तेषां स्थिरत्वम् तदपि नाकाशादिवदिति स्थिरप्रायत्वमित्यर्थः. 6 स्थिरप्रायोष्वित्यस्य प्रत्युदाहरणमाह साहसादौ त्विति.7 साध्येति स्त्रीसंग्रहादिके विवादपदत्रये भाषावादिना यदेकार्थरूपं साध्यत्वेन कथितं तत्रानेकसाध्यसाधनतयाभिहितैः साक्षिभिः साध्यार्थजातस्यैकदेशेऽपि साधिते सकलं भवेत्सिद्ध्येदित्यर्थः.

पाठ॰—१ तत्पुत्राद्धृण ख. २ मीति वदन् ग. ३ उपदिष्टैः. ४ स्मृतेर्विरोधे A. ५ परस्परविरोध ग.

पृष्ठ 179-180

टिप्प॰—1 औशनसादि केवलं नीतिशास्त्रम्. 2 एकविषययोर्विरुद्धार्थयोर्हि स्मृत्योर्मिथो विरोधो नतु भिन्नविषययोरविरुद्धार्थयोर्वा। सति च विरोधे प्रबलदुर्बलभाव, चिन्ता। एवं च पूर्वमेव धर्मशास्त्रानुसारेणैव व्यवहारानुदर्शनस्य विहितत्वा-दौशनसादिनीतिशास्त्रस्य न व्यवहारविषये प्रवृत्तिरत एकविषयत्वाभावादर्थशास्त्रधर्मशास्त्रयोः सुतरां विरोधाभावादनयोः प्रबलदुर्बलभावचिन्तनमेव तावदयुक्तमिति शङ्काशयः. 3 मन्वादि-रूपैककर्तृनिष्पन्नत्वेन. 4 आचाराध्यायस्यादौ. 5 अन्योक्तमुदाहरणम् खण्डयति—न

तावदित्यादि युक्तमित्यन्तेन। न तावदुदाहरणं युक्तमिति व्यवहितेनान्वयः 6 यतो मन्युरेव प्रकाशमप्रकाशं वा तं मन्युं हिनस्तीत्यर्थः 7 अकामतो ब्राह्मणं हिंसित्वा स्थितस्येत्यर्थः

पाठा०—१ प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा क. २ वेदान्तपारगम्. ३ न दुष्यति क.

पृष्ठ 180

टिप्प०—1 'न हिंस्यात्' इत्यादिवचनेनैवेत्यर्थः 2 उद्यतेत्यत्र असिविषाग्नीनां द्वन्द्वं कृत्वोद्यतशब्देन बहुव्रीहिः 3 अथर्ववेदप्रतिपादिताभिचारादिकर्मणा. 4 मृत्युमाप्नुयुः 5 अयमस्मिन्नेवाध्यायेऽष्टमश्लोके पूर्वं दर्शितः

पाठा०—१ चतुर्धाब्य घ. २ मानवं ख.

पृष्ठ 181

टिप्प०—1 वक्ष्यमाणमग्रे लेख्यप्रकरणे. 2 स्वरूपं च प्रकारश्च वक्ष्यमाणो येषाम्. तत्र प्रकारो भेदः, स च दृष्टसाक्षिणः श्रुतसाक्षिण इत्येवमादिः 3 लिपेः स्फोटकव्यञ्जकत्ववत्साक्षिणां ध्वनिद्वारा तदभिव्यञ्जकत्वात्स्वरूपतस्तेषामतत्त्वेऽपि तत्त्वातत्त्वमिति भावः 4 आसेधरहितत्वादिविशेषणैः 5 अनुमाने इति। क्षेत्रादिकमस्य क्रयादिप्राप्तम् आसेधरहितत्वे सति चिरकालोपभुक्तत्वात् तदीयगृहादिवत् इत्यनुमानप्रयोगः 6 तादृशी भुक्तिः स्वतोऽनुपपद्यमाना तादृशं तत्कल्पयतीत्यर्थापत्तिर्बोध्या. 7 अत्र समस्तस्य प्रधानैकदेश इति विग्रहः 8 एवंविधो योऽभियोगस्तस्यापह्नवे परेण कृते सति. 9 संख्यावृद्धिविशेषयोः सिद्धेः 10 मानुषसंभवकृतनियमार्थमित्यपि क्वचित्.

पाठा०—१ पूर्वापि ग. २ वदतां वादिनां दैवी विवदतां ख.

पृष्ठ 181-182

टिप्प०—1 पूगादीनां विवरणमग्रे 30 तमे पद्ये द्रष्टव्यम्. 2 आभोगः परिणाहः, तेन च परिणाहवदङ्गणादिकं लक्ष्यते. जलवाहो जलनिर्गममार्गः 3 दत्तेति बहुवचनान्तयोर्द्वन्द्वः दत्तादत्तं विद्यते येषु दत्ताप्रदानिकाख्यविवादपदेषु. 4 विक्रीयासंप्रदानाख्ये. 5 समाह्वयः प्राणिद्यूतम्. 6 वादिप्रतिवाद्युक्तयोः 7 द्वे वृद्धिर्यस्य तद् द्विकम्, 'तदस्मिन्' इति कन्. 8 आधिकरणेन तु यद्यपि स्वामिभावो न निवर्त्यते, तथापि प्रतिबध्यते। ततश्च तस्य क्षेत्रस्याधिनिवृत्तौ पुरुषान्तरं प्रत्याधित्वं कर्तुं नैव शक्यते.

पाठा०—१ सर्वेष्वेब विवादेषु A. २ जयति ख.

पृष्ठ 182-183

टिप्प०—1 कैश्चित् आसेधरहितत्वचिरकालत्वादिभिः 2 पश्यतः वादिनः 3 अशब्दं यथा तथेत्यर्थः 4 स्वत्वम्। उत्पद्यत इति शेषः 5 तस्य स्वत्वविषयकप्रमितिजनकत्वादित्यर्थः 6 प्रमाणस्य = उपभोगस्य प्रमेयं = स्वत्वं प्रति. 7 स्वामीति रिक्थादिषु पञ्चसु सत्सु स्वामी भवति। अप्रतिबन्धो दायो रिक्थं, सप्रतिबन्धः संविभागः, क्रयः प्रसिद्धः, अरण्यादिष्वन्यपरिगृहीततृणकाष्ठादिस्वीकरणं परिग्रहः, निध्यादिप्राप्तिरधिगमः, इमे सर्वसाधारणस्वत्वकारकहेतवः। असाधारणास्तु ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादिना लब्धं, क्षत्रस्य परपराजयेन लब्धं, वैश्यशूद्रयो निर्विष्टं = भोगरूपेण भृतिरूपेण वा लब्धं, तदधिकं = असाधारणं स्वत्वजनकम्. 8 तेषु आध्यादिषु.

पाठा॰—१ असंबन्धेन.२ अप्रतिषेद्धस्य क.ग.३ विजितं घ;विनिर्जितम्.4 नचेदं वचनं ग.5 उत्तरविषयक्रियायाः ख.6 स्वत्वविशिष्टमेव–स्वयमेव घ.

पृष्ठ 183-184

टिप्प॰—1 अपवादोऽपवादत्वम्. 2 स्वत्वहान्या स्वरूपहानिः. 3 तस्य वादिनः. 4 उपेक्षायां यानि लिङ्गानि जडत्वबालत्वादीनि तेषां योऽभावस्तत्कृता.5 विषयो देशः, अस्य धनिनः. 6 अथ मतमित्यन्यथा व्याख्यानं. 7 स्मरणविषयतायोग्यकालिकायाः. इह 'पश्यत' इत्यत्र वचने.9 तावत्पर्यन्तं ततस्तेन लब्धेत्यादिः.

पाठा॰—१ अस्वत्वस्य ख.2 विषये चास्य भुञ्जते.3 समत्वेनापवादासंभवात् ख. 4 सत्योऽर्थो निर्दुष्टोऽर्थः. सभ्योऽन्योऽर्थो ग.

पृष्ठ 184-185

टिप्प॰—1 प्राप्तं, तत् द्रव्यदानम्. 2 अपोह्यते बाध्यते. 3 स्वत्वहेतुः प्रतिग्रहक्रयादिरागमः.4 उक्तवत्तस्यापि फलहानि परतया सुयोज्यत्वात्.5 यत् स्वं द्रव्यं यत्र परहस्ते विस्रम्भाद्विश्वासान्निक्षिपति.6 उपचयहानिः फलहानिः.7 तत्र तत्र आध्यादिषु.

पाठा॰—१ तस्योपनिधि ग. २ आधित्वनिमित्तकः. ३ सोदयफलभावात् घ. ४ आध्यादीनां निहन्तारं दापयेद्धनिने धनम् A.

पृष्ठ 185-186

टिप्प॰—1 विधिः प्राड्विवाकादेरिति शेषः.2 धिग्दण्डो धिगिति कुत्सनम्, वाग्दण्डः परुषवाक्यवचनात्मकः, धनदण्डो धनापहारः, वधदण्डः शारीरो बन्धरोधादिजीवितयोगान्तः. 3 व्यतिरिक्तानां तु इत्यपि क्वचित्. 4 नवधा इति क्विचत्पाठः. 5 अक्षतः शारीरसकलवधदण्डरहितः. 6 अवृत्तौ दुराचारे स्वव्यापारनिरोधान्यायप्रख्यापनादीनि. 7 वधः प्राणवियोगानुकूलो व्यापारः 8 यदङ्गकृतोऽपराधस्तच्छेदः.

पृष्ठ 186-187

टिप्प॰—1 पूर्वं 24 श्लोके 'पश्यतोऽब्रुवत' इत्यत्रेत्याशयः. 2 कापट्यरहितेन. 3 केवलम्.4 सागमो विशुद्धागमसहितः, अविच्छेदो निरन्तरः, अपरवोज्झितो निरनुक्रोशः,5 स. पूर्वक्रमागतो भोगः. 6 विशिष्टेनोपभोगेनैव. 7 स्मार्तः स्मरणयोग्यकालः आगमज्ञानसापेक्षः। 8 आगमज्ञाननिरपेक्षोऽस्मार्तः। 9 योग्यत्वे सत्यनुपलब्धिर्योग्यानुपलब्धिस्तस्या अभावे न. 10 क्रिया प्रमाणम्. 11 निरनुक्रोशः.

पाठा॰—१ आगमोऽत्यधिको A. अपरिवर्जित.

पृष्ठ 187-188

टिप्प॰—1 कारणं क्रिया प्रमाणमिति यावत्. 2 अस्मार्तकालोपलक्षकत्वेनोक्तार्धकम्.3 भोगान्येन प्रत्यक्षादिना.4 अलं समर्थः.5 करे शुण्डादण्डे.

पाठा॰—१ प्रथमस्य पुरुषस्य ख. २ भुक्तं पूर्वतरैस्त्रिभिः. ३ कायिकस्तु ख.

पृष्ठ 188-189

टिप्प॰—1 प्रतिग्राह्यो यदा प्राणी बलवान् वक्तुं समर्थस्तदा तं प्रतिग्राहं प्रतिग्रहीता

अनुमन्त्रयेत.2 केवलभोगस्य स्मार्तकालत्वात् स्वत्वे अप्रामाण्यात्.3 प्रतिपादयेत्.

पाठ॰—१ सहितादागमाभावात् ख.घ; दनुमन्त्रयेत्. २ प्रतिग्रहादेरिति ख.

पृष्ठ 189-190

टिप्प॰—1 भोग्येति। भोग्यहानिरर्थहानिस्तदनुद्धरणे तयोर्द्वितीयतृतीययोरित्यर्थः. 2 अधिकृताः प्राड्विवाकादयः. 3 देशान्तरं गत्वा प्रस्थाप्य वाऽश्वविक्रेतारो हेडाबुकाः 4.कुविन्दस्तन्तुवायः.5 हीनवर्णानां संघातो गणः.

पाठ॰—१ नवारूढः ख. ग. २ निवारयेत् घ. ३ नृपैः ग. ४ सोत्तरेति उत्तरश्चासौ सभ्यश्चेति तत्सहितेन. स्वोत्तर ख.

पृष्ठ 190-191

टिप्प॰—1 सपणे उभयकारितपणसहिते. 2 अनियुक्तत्वेनाप्रेषितत्वेन प्रकृतव्यवहारासंबद्धो यस्तत्कृतः.3 शिष्टिः शिक्षा, अवधेन अताडनेन.

पाठ॰—१ बलोपधि घ. तत्रोपधिः कैतवं. २ उपधिना भयेन घ. ३ असंबन्धकृतः ख. ४ वियोगोऽनिष्टप्राप्तिस्तज्जनितं ख. ग. ५ धिकारिणं प्रविशति ग.

पृष्ठ 191-192

टिप्प॰—1 सपणे उभयकारितपणसहिते. 2 अनियुक्तत्वेनाप्रेषितत्वेन प्रकृतव्यवहारासंबद्धो यस्तत्कृतः.3 शिष्टिः शिक्षा, अबधेन अताडनेन.

पाठ॰—१ बलोपधि घ. तत्रोपधिः कैतवं २ उपधिना भयेन घ. ३ असंबन्धकृतः ख. ४ वियोगोऽनिष्टप्राप्तिस्तज्जनितं ख. ग. ५ धिकारिणं प्रविशति ग.

पृष्ठ 192-193

टिप्प॰—1 निखातायां भूमौ गुप्तं स्थापितं धनं निधिः, वर्षशतिका वर्षसहस्रिकाश्च निधयो भवन्ति। ते च राजधनम्; 'निध्यधिगमो राजधनम्' (गौ. 10।43) इति वचनमस्र्यमाणनिधातृके निधौ इति द्रष्टव्यम्। 2 तद्धरेदधिगन्त्रे षष्ठांशं दद्यात्।

पाठ॰—१ षड्भागं ग. २ चतुर्थो भागः शेषं राज्ञ इति घ. ३ दद्याद्विप्रेभ्योऽर्धं घ. ४ राजधनं न ब्राह्मणस्य ग. घ. ५ रूपकसंख्यादिभिः ख. ग.

पृष्ठ 193

टिप्प॰—1 'यच्चौरैर्हृतमशक्यप्रत्यायनं तत् राज्ञा स्वकोशाद्दातव्यम् इत्याशयः। 2 अग्रे 64 तमपद्यव्याख्याने द्रष्टव्यम्.

पाठ॰—१ तदुपभुञ्जानः ग. घ. २ व्यवहाराणामाद्य घ. ३ धर्माश्च ऋणादान ख. ग.

पृष्ठ 194

टिप्प॰—1 सामुद्राः समुद्रव्यवहारिणः। केचित्तु-कान्तारं वर्णापशदत्वं ये गच्छन्ति ते कान्तारगाः वर्णापशदः। सह मुद्रया नियमेन वर्तन्त इति समुद्रो वर्णाश्रमविषयः, तमतिलंघयंति ये ते विपरीतलक्षणया वा सामुद्रा विकर्मस्था इत्याचख्युः। कान्तारगादीनामेव स्वकृता सर्वजातिविषया साधारणी वृद्धिर्न सर्वेषाम्—मेधा॰।

पाठ॰—१ ख–पुस्तकेऽधिकोऽयम्. २ विंशतिकं ख. ३ याति घ.

पृष्ठ 195-196

टिप्प॰—1 सामुद्राः समुद्रव्यवहारिणः। केचित्तु-कान्तारं वर्णापशदत्वं ये गच्छन्ति ते कान्तारगाःवर्णापशदः। सह मुद्रया नियमेन वर्तन्त इति समुद्रो वर्णाश्रमविषयः,तमतिलंघयंति ये ते विपरीतलक्षणया वा सामुद्रा विकर्मस्था इत्याचख्युः। कान्तारगादीनामेव स्वकृता सर्वजातिविषया साधारणी वृद्धिर्न सर्वेषाम्—मेधा॰।

पाठ॰—१ ख—पुस्तकेऽधिकोऽयम्. २ विंशतिकं ख. ३ याति घ.

पृष्ठ 196-197

टिप्प॰—1 तत्र 'सकृत' शब्दो न निश्चितार्थः,न्यायस्तु परित्यक्तः,स्वकृतश्च पाठः स्यान्नवी मानवी स्मृतिः—मेधातिथिः।

पाठ॰—१ गच्छेत् क. ग. A. २ प्रपन्नं साधयन्नर्थं घ. ३ लेखाद्युपन्यासेन घ. ४ प्राप्नुयात् घ.

पृष्ठ 198

टिप्प॰—1 'स्वकं धनम्' इति वचनादात्मनेपदप्रयोगाच्च संनिहितधनिकविषयकमेतत्। 2 निर्धनः कर्म कारयितव्यः, प्रेष्यत्वं व्रजेत् कर्म कुर्वतश्च सलाभधने प्रविष्टे दास्यान्मोक्षः—मेधा॰।

पाठ॰—१ मृणार्थं कर्म घ. २ द्धनिकायाधमर्णिकः. ३ पितं यत्स्यात् घ. ४ तत्स्यात् A. ५ पूर्वं वर्धत एव ग. घ.

पृष्ठ 199-200

पाठ॰—१ सर्वविशेषणं ख. २ निर्वृत्तं ख. ग. ३ पुत्रानध्यावहेयुः ख. ग. ४ स्तासां क. ग.

पृष्ठ 200-201

पाठ॰—१ स्वयमेव ख. २ शंकयेदमुच्यते घ. ३ कृतमृणमवश्यं घ. ४ अष्टमात् ख. ग.

पृष्ठ 201-202

टिप्प॰—1 पितृधनं रिक्थम्, ततश्च पुत्रो रिक्थग्राहः प्रथमतः, तदभावे क्षेत्रजादिः पुत्रप्रतिनिधिः, तदभावे पत्नी दुहित्रादिः, अत्र न पुत्रपरो 'रिक्थग्राह' शब्दः; 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य. 50) इत्येनेनैव पित्रयं धनं पुत्रेणापाकरणीयमित्युक्तत्वात्। 2 इदं शौण्डिकादिविषयं वा- अप.। 3 समवाय एककालावच्छेदेन प्राप्तिः.

पाठ॰—१ व्यवहारेदन्यत्र ख. २ यस्तां चोद्वहते ग. ३ तथैव ऋणं ख. ग. ४ स्पष्टयिष्यते ख. ग. ५ ऋक्थिनः A.

पृष्ठ 202-203

टिप्प॰—1 अन्धादिपुत्रा अन्याश्रितद्रव्यत्वेन न पितॄणापकरणेऽधिकारिणः सुबो॰।

पाठ॰—१ रिक्थग्राहाभावात् ख. २ भर्तव्यास्तु ख. भर्तव्याश्च घ. ३ प्रथमा नाम ख. ग. ४ प्राप्ता देशाद्वाराक्रीता ग. ५ ऋणमोढुः घ.

पृष्ठ 203-204

टिप्प॰—1 दर्शनविश्वासदानाङ्गीकर्ता प्रतिभूः— अप॰। 2 अत्र 'अविभक्त' ग्रहणं भ्रातृविषयं, पितापुत्रविषयं वा, न जायापतिविषयम्; नहि तयोर्धनविभागोऽस्ति। पतिधने हि जाया स्वामिनी; जायात्वादेव। अतो दंपत्योः साधारणं धनमशक्यं विभक्तुम्।

पाठ॰—१ विरोधप्रतिभासः ख. २ इति विवक्षायां ख. ३ तत्स्त्रीपुत्रादेः घ. ४ न चास्ति चेत् घ. ५ भावे स्वबन्धुषु ख. ६ द्रव्यव्ययावसानत्वात्.

पृष्ठ 204-205

टिप्प॰—1 'जायापत्योर्न विभागो विद्यते पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु, तथा पुण्यफलेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च' इत्यापस्तम्बः। 2 उर्वरा सर्वसस्याढ्या प्रायः बाहुल्यं यस्यां।

पाठ॰—१ भार्यायामपि ख. २ वरोऽस्तीति वा. घ. ३ संबन्धः ख.

पृष्ठ 205-206

टिप्प॰—1 वितथेऽन्यथाभावे. 2 दानप्रतिभुवः 3 दर्शनप्रत्ययप्रतिभुवोः.

पाठ॰—१ ये स्थिताः A. २ दिष्टं गतः घ. ३ पौत्रप्रपौत्रौ क. ग. ४ दातव्यमित्यत आह ख. ५ दाने प्रतिभुवः घ. ६ तथैकच्छाया ख.

पृष्ठ 206-207

टिप्प॰—1 नतु कालकलाक्रमादिकम्. 2 आशौचानन्तरकालनिर्णयकम्—जै॰ न्या॰ 4।3।17।38.

पाठ॰—१ वित्ताद्यपेक्षया घ. २ यः प्रार्थयते ख. ३ दद्यान्नांशतः ख. ४ तेष्वेकच्छाया ख. ५ मृते सति घ. ६ धनिनां घ; धनिने धनम् A. ७ तत्र दातव्य A. ८ ऋणिकं तं ग. ९ प्रतिपादयेत् ख. १० इदं वचनं ग. घ. ११ वस्त्रदान ख. १२ संततिरेवं ख. १३ प्रीतिकृतं च ख.

पृष्ठ 207-208

टिप्प॰—1 खादकेनाधमर्णेन. 2 लग्नकः प्रतिभूः. 3 विश्रम्भो विश्वासः.

पाठ॰—१ तदन्वेषणाय क. ख. २ मोक्तव्यो नान्यथा क. ख. ३ दापयेत्तत्तु प्रेते चैव ख. ४ प्रयुक्तास्तु घ. ५ नाविज्ञातो ६ माधिर्मो. ७ निरूपिते ख. ग.

पृष्ठ 208-209

टिप्प॰—1 वाहदोहादियुक्तो गवादिः सोपकारः अविकाराशङ्क्या पृथगुक्तिः.

पाठ॰—१ कृतावधौ घ. २ काले प्राप्ते च ख. ३ श्चिरन्तनकाला घ. ४ स्वत्वं न भवति ख. ५ ऽर्थं हापिते ख; v; A.

पृष्ठ 209-210

टिप्प॰—1 चरित्रधर्मः स एव बन्धकमाधिस्तेन यत्कृतमृणं तद्वृद्धिसहितं उत्तमर्णा वा सधमर्णं दापयेत्—अप॰। अत्र 'चरित्र' शब्दो न सदाचरणपरः, किंतु तत्फलपरः।

पाठ॰—१ नष्टश्चेत्तदा घ. २ वृद्धिर्हातव्या ख. ३ गोप्यस्य भोगस्य च ख. ४ स्वीकारान्तक्रिया पूर्वा ख. 5 प्रतिपादयेत् घ; A. 6 एवंविधं घ.

पृष्ठ 210-211

टिप्प॰—1 इतरो ग्रहीता चेद्व्यवस्थातिक्रमं करोति इत्याशयः। 2 प्रोषितप्रयोक्तृविषयं चैतत्—अप॰। 3 केवलं धनमेव ग्रहीतव्यम्, नान्यदित्याशयः।

पाठ॰—१ द्विगुणीभूतवमेव द्रव्यं घ. २ कृतं तदा तत्र ख. ३ इतरं चेत् ख. ४ दण्ड्यो भवति ख. ५ कल्पते तत्रैव ख. ६ ऊर्ध्वं धनं वर्धते ग. ७ मृणिने ख. ८ धारणिकात् ख.

पृष्ठ 212

टिप्प॰—1 'आधिःप्रणश्येद्द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते' (व्य॰ 58) इत्यनेन विरोधोऽत्र नाशंकनीयः; विषयान्तरत्वात्. 2 'यदि प्रेत्य', 'ऋणी च' इत्यत्रेत्युन्नेयम्.

पाठ॰—१ मूल्यापाकरणार्था ख; मूलर्णापाकरण. २ मूल्यदानं ख. ३ बन्धः आधिः ग. ४ मूला ख. ५ मूल्यमदत्त्वैव ख. ६ वृद्धिशेष मदत्त्वैव ख.

पृष्ठ 213-214

टिप्प॰—1 निक्षेपोपनिध्योः स्वल्प एव विशेष इति दर्शयति—निक्षेपेति। 2 तल्लक्षणं चोक्तं नारदेन—'अन्यद्रव्यव्यवहितं द्रव्यमव्याकृतं च यत्। निक्षिप्यते परगृहे तदौपनिधिकं स्मृतम्॥' इति। अन्यत्र च 'असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते। तं जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः॥' इत्यपि लक्षणम्। 3 कात्यायनस्तु—'ग्राह्यस्तूपनिधिः काले कालहीनं तु वर्जयेत्। कालहीनं ददद्दण्डं द्विगुणं च प्रदाप्यते॥' इत्याह.

पाठ॰—१ निक्षेप. २ तत्तु A. ३ तद्वद्भवेत्तज्जिह्म ख; तद्वद्भवेदाजिह्म, ४ भ्रंशश्चेन्मां A. ५ आजीवत्युप ख. आजीवन्फलं भुंक्ते ग.

पृष्ठ 214-215

टिप्प॰—1 याचितादयस्तु—'यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते' (मनुः 8।191) इत्यादिनोक्ताः, 'आदि'ना निक्षेपग्रहणम्। 2 प्रजापतिस्तु—'साक्षी द्विभेदो विज्ञेयः कृत एकोऽपरोऽकृतः। लेख्यारूढः कृतो ज्ञेयो मुक्तकोऽकृत उच्यते॥' इत्याह।

पाठ॰—१ याच्यमानं ग. २ पेक्षायां त्वयेदं ख. ३ निक्षेपप्रकरणम्.

पृष्ठ 215-216

पाठ॰—१ श्रावितः ख. २ सभ्यश्चैव ग. ३ सत्यवादन ख. ४ ष्ठानपराः ग.

पृष्ठ 216-217

पाठ॰—१ स्वयमुक्तिर्मृतान्तरम् घ; स्वयमुक्तेः ख २ वानप्रस्था निर्ग्रन्याश्चासा ख; निर्ग्रन्था निगडस्थाः ग. ३ वधकास्तथा ग. ४ वादिना ५ असाक्षिणः घ. ६ मुक्तिर्हि निर्दिष्टः ग. ७ साक्षित्वं कस्मिन्नर्थे ख. ८ साक्षात्स्यात् ख. ९ वतारपाखण्डकूट घ. १० पाषाण्डि A. ११ निर्धूतश्चेत्यसां A. १२ भूताविष्टः ग.

पृष्ठ 217-218

टिप्प॰—1 अयममि 'न स्त्रीबाले'त्यादिनिषिद्धसंग्रहः, अत एवाविरोधः। 2 अत्र साहस'शब्देन मनुष्यमारणमेव विवक्षितम्, न चौर्यादिकं तस्य स्वशब्देनैवोक्तत्वात्। 'साहस'शब्दश्च न चौर्यादिमात्रवाचकः, किं तु तद्विशेषस्य। यथाह नारदः—'सहसा क्रियते

कर्म यत्किंचिद्बलदर्पितैः। तत्साहसमिति प्रोक्तं, सहो बलमिहोच्यते ॥" इति।

पाठ०—१ स्वबला ख. २ दृष्टवतथवचनः ख. ३ अपिशब्दाद्द्वापि ग. घ. ४ त्यर्थं च त्र्यवर ग. ५ सत्यवादित्वहेतोः ख. ६ पृथगपृष्टाः ग.

पृष्ठ 218-219

पाठ०—१ बुवन्तं घ. २ सारानुसारेण ग. घ. ३ असाधयन् अभावयन्. ४ ये च पातकिनां लोकाः A. ५ तान्सर्वान्समवा A. ६ यथा ख. ७ यस्तेऽनृतवचनेन ग. यस्तेनोऽनृतवदनेन घ.

पृष्ठ 219-220

टिप्प०—1 यद्यपि 'सदश–' इति ऋणविशेषणं, तथापि धन्ययोग्यमिति तद्वाक्यात्पृथगुक्तम्—सदशेति। 'दश' शब्दोऽत्र दशमपरः, 'बन्ध' शब्दश्चांशपरः।

पाठ०—१ श्रवणस्य घ. २ विहितं च घ. ३ अस्यानेक क. ग. ४ भृशं संत्रासयेत् ग. ५ प्रदाप्यः षट् A. ६ चत्वारिंशत्तमेऽहनि. A. ७ कृतेऽपि कौटसाक्ष्ये घ.

पृष्ठ 220-221

टिप्प०—1 एतेन वादिनः प्रतिवादिनो वा जयपराजयावधारणनिर्णेजने सति पूर्वोपन्यस्तात्प्रमाणात्प्रमाणान्तरस्य पूर्वमुपन्यस्तस्य प्रतिपादनमफलमित्याकूतम्।

पाठ०—१ यत्र गुणिनः घ. २ स्वांभिप्रायेण प्रतिज्ञा घ. ३ मिथ्यासाक्षिणो घ.

पृष्ठ 221-222

पाठ०—१ कारणं दुष्टं घ. २ ज्ञानस्य प्रामाण्य ख. ३ वाक्यपरीक्षोप घ. ४ शुद्धाच्चवाक्याद्यः शुद्धो घ. ५ कृताः साक्षिणो ख. ६ तथाविधा एव साक्षिणो ग्राह्याः ख. ७ प्रमाणं कर्तव्यं ख. ८ मनुवचनात् ख. यमवचनात् घ.

पृष्ठ 222-223

पाठ०—१ दोषावधारणं ख. २ वाभावनिरपेक्ष ख. ३ अभावस्वरूपेण ख. ४ कस्मिन्विवादे घ. ५ पवादमाह ख. ६ प्याचार्या नानुमन्यन्ते घ.

पृष्ठ 223-224

टिप्प०—1 लोभाल्लोभेन मिथ्याभिधाने. 2 पूर्वं प्रथमसाहसमेव. 3 अत्र यतः कौटसाक्ष्यं तत एव पुनः पुनरभिधानम्, न तु पुनः पुनः प्रश्नपूर्वकम् इति न पूर्वेण विरोधः।

पाठ०—१ विवादाद्विवादपराजये ख. विवादात्पराजये ग. २ न दण्ड्याः ग. घ. ३ द्रष्टव्यम् ख. ग. ४ भयादौ मध्यमो दण्डो ख. ५ स्त्रीव्यतिरेकाभि ख. ६ वर्तमानकाल ख. ७ शास्त्रस्वरूप ख.

पृष्ठ 224-225

टिप्प०—1 जीवितग्रहणान्तो दण्ड इत्याशयः. 2 विंशत्कपर्दिकाः एकाकाकिणी, भाषायां, 'पै' इति ख्यातं ताम्रनिष्कम्. 3 भाषणसमये. 4 अनुबन्धो दोषोत्पादः जातिद्रव्यगुणाद्यपेक्षेति सुबोधिनी. 5 साक्ष्यं तत्रानृतं.

पाठ०—१ दण्डासंभवे ख. २ हीयेच्चैवं घ. ३ वदेत् घ. साक्ष्यमनृतम् घ.

पृष्ठ 225-226

टिप्प॰—1 वचनेन. 2 सरस्वतीदेवताकत्वनिरासायाह—सरस्वतीति । 3 'वर्णिनां हि वधो' इति वचनाद्वधप्रसङ्गे सत्यवचनमेव, तथा च गौतमः—'नानृतवचने दोषो जीवनं च तदधीनम्, न तु वाऽल्पीयसो जीवनम्' इति ।

पाठ॰—1 भ्यनुज्ञया ख. २ नाभूतं B. ३ निषिद्धं ख. ४ स्थ्यादवचनाभ्यनुज्ञा ख. ५ साक्षिणामसत्यवचनावचनप्रतिषेधातिक्रमयोः ख.

पृष्ठ 226-227

टिप्प॰—1 साक्षिनिरपेक्षम्. 2 यच्चोक्तं व्यासेन—'जातिः संज्ञा निवासोऽर्थः संख्या वृद्धिश्च वत्सरः । मासः पक्षो दिनं चैषां लिखितं व्यक्तिकारकम् ॥' इति ।

पाठ॰—१ मन्यहस्तकृतं ग. २ सगोत्रकैः A. ३ धनिकाऽधमर्णिकयोः ख. ४ संख्यावारादेः ख. ग.

पृष्ठ 227-228

टिप्प॰—1 यदप्याह नारदः–'लेख्यं तु द्विविधं विद्यात् स्वहस्तान्यकृतं तथा । असाक्षिमत् साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितिस्तयोः' इति । 2 आक्षिप्तः.

पाठ॰—१ तेऽसमाः, A. काभ्यामुभाभ्यां ख. ३ विना तु ख. ४ तत्रैतत् घ. ५ कृतं च लेख्यं ग. ६ संबन्धव्यवहारे च ख.

पृष्ठ 229

टिप्प॰—1 अयमर्थः– बहुत्वं त्रित्वे पर्यवस्यति, तथा च 'पितॄणां' इत्युक्तेः प्रपौत्रस्य प्रपितामहर्णं देयमिति प्रतीयते । एवं यदा पौत्रोऽप्यतिक्रान्तो मृतस्तदा 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य. 50) इत्यादिवचनैः पौत्रानन्तरकालीनस्य प्रपौत्रादेयत्व सिद्धेऽपि 'अतिक्रान्तं कालं' इत्युक्तेः पौत्रादीनामपि पत्रारूढे ऋणे तेयत्वाशंका भवतीति ।

पाठ॰—१ तत्पुत्रपौत्रैः. २ वचनाच्च चतुर्थादिः ख. ३ पत्रारूढे ऋणे ख. ग. ४ कारणापहरणे ख. ७ दग्धे तथा छि. A; छिन्ने भिन्ने तथा दग्धे V.

पृष्ठ 229-230

टिप्प॰—1 प्रतिज्ञातार्थः साध्यार्थस्तेन संयुक्तम्, तथोत्तरेण द्वितीयपादरूपेण क्रियया पत्रादिरूपेण च सहितम् । तथा सावधारणकं-अवधारणं निर्णयस्तेन सहितं जयपत्रं भवति । तच्चोक्तं बृहस्पतिना 'पूर्वोत्तरक्रियावादनिर्णयान्ते यदा नृपः । प्रदद्याज्जयिने लेख्यं जयपत्रं तदुच्यते ॥' इति । 2 हीनपत्रत इत्याशयः ।

पाठ॰—१ तस्करादिना ग.घ. २ द्वितीयपत्रं भवति ग. ३ नाय दुर्गाध्वापेक्षया ख. ४ दुर्देशावस्थिते क. ग. ५ दृष्टदर्शनं घ. ६ व्यवहारे ख. ७ दत्तं मे ख. ८ मुद्राङ्कितं ग. ९ व्यपलापी ग.

पृष्ठ 230-231

पाठ॰—१ संदिग्धलेख्ये शुद्धिः, A. २ संबन्धप्राप्तिः ख घ. ३ चोपगतं घ. ४ लिखितपरिचिह्नित ग. ५ उत्तमर्णं अथ ख.

पृष्ठ 232

टिप्प॰—1 'धटः स्यात्तु तुलाकाष्ठम्' इत्यभिधानम् । 2 महाभियोगो महाभिप्रायः, महापातकाद्यभियोग इति वा; स च द्विविधः—शङ्कितः, सावष्टम्भश्च। अवष्टम्भेन सहितः सावष्टम्भः, स्वोपरि दण्डमंगीकृत्य लापितः सावष्टम्भः, 'निश्चयः सः' इति कल्पतरुः। यथाऽभियोक्ता 'अहमस्यापराधं जानामि' इति शीर्षकस्थो भवति स सावमष्टभाभियोगः इति भावः । 3 'यद्यनेनेदं न कृतं स्यात्, तदा मयाऽयं दण्डो देयः' इति वादी शीर्षकस्थः ।

पाठ॰—१ दिभिरारभ्य घ. २ संदिग्ध. ३ अन्यत्रान्या ख. ४ योगेत्वेतानि. A. ५ कोशोऽस्त्येव ग.

पृष्ठ 233

टिप्प॰—1 'ब्राह्मणानामन्त्रय' इत्युक्ते परिव्राजकेऽपि ब्राह्मणत्वस्याविशिष्टत्वात् तन्निमन्त्रणेऽपि प्राप्ते, पुनः 'परिव्राजकमामन्त्रय' इति पृथगभिधानं यथा परिव्राजकप्राधान्यख्यापनार्थं तद्वच्छपथसिद्धानां तुलादीनां पृथक्ख्यापनं प्रयोजनान्तरार्थमित्याशयः।

पाठ॰—१ क्रियाव्यवस्था ख. २ भवतीति युक्तं घ. ३ राजद्रोहे V. ४ साध्येषु ग. सर्वेषु कोशयान घ. ५ नारदादि ख.ग. ६ नन्तरनिमित्तनिर्णयेभ्यो घ.

पृष्ठ 234

पाठ॰—१ न्तरसद्भावे घ. २ उक्तलक्षणे घ. ३ माशंयेद्दोष घ. ४ सचैलस्नानमाहूय A. ५ कोशसिद्धिः ख. ६ अनुक्तवेला ग-घ. ७ प्रथमोभागः घ. ८ उत्तमो घ.

पृष्ठ 235-236

पाठ॰—१ तोयसिद्धिः स्यात् ख. २ सार्वकालं ख. ३ यथा ख.

पृष्ठ 236

पाठ॰—१ तुला दिव्यं ग. २ दुर्बलानामिति सर्वदा घ. ३ प्रतिषेधादृते उक्तकालानति ग. ४ वस्थानाश्रितानि ख. ५ यदपेक्ष्य ख-ग. ६ तत्रैवं व्यवस्था घ. ७ दद्यादेव ख. ८ दद्यात्त्रवशद्विनाशे तु ग.

पृष्ठ 237

टिप्प॰—1 मातृका नाम परिभाषा. 2 पाण्डुलेखः 'खडू' इति भाषाप्रसिद्धः.

पाठ॰—१ अभिषापेषु ग. २ नृपद्रोहेषु ख. ३ ततोऽन्येषु तु कार्येषु सभामध्ये विदुर्बुधाः ग. ४ म्लेच्छानामपकारिणां ग. ५ दापयेत् ग. ६ रेखाः कृ A. ७ विशोधय घ. ८ पाण्डुलेख्येन ख.

पृष्ठ 238

टिप्प॰—लिङ्गमूर्ध्वगमनादिकम्. 2 पिटकं वंशभाण्डविशेषः

पाठ॰—१ मन्त्राः स्मृत्यन्तरोक्ताः ग-घ. २ प्रान्तरं ख. ३ हेमकारश्च कांस्यकारः घ. ४ प्राञ्जलिः प्राङ्मुखो भूत्वा घ. ५ ध्रुवोऽध्वरस्तथा सोमः ख. धरो ध्रुवश्च सोमश्च घ. ६ आदित्यानां तथायनं ग. आदित्याराधनं तथा ग. ७ वरुणोंऽशो भग ग-घ. ८ अग्नेः पश्चिमदिग्भागे रुद्राणां स्थापनं विदुः ग.

पृष्ठ 239

पाठ०—१ निवेद्यान्तां परिचर्यां ग-घ.२ यं चार्थमभियुक्तः स्यात् घ.

पृष्ठ 239-240

पाठ०—१ सर्वभूतानां घ.२ त्वमेव सर्वं घ.३ यथानिवेशं च घ.४ षष्ट्याहोरात्र उक्तश्च ख.५ शोध्यशुद्धि ग.६ सर्वे घ.७ न विशुद्धो घ.८ छेदे च भङ्गे च घ.९ भङ्गे तु घ.१० मुच्छ्रितां घ.

पृष्ठ 241

पाठ०—१ अग्निविधिं ग. अग्निविधानं घ. २ तव्रीही लक्ष A. ३ सप्त चाश्वत्थपत्राणि A. ४ तावत्सूत्राणि वेष्टयेत् ख.५ पत्राणि घ.६ स्वहस्तसहितानि घ.७ अन्तर्हितं रहः शुद्धमदग्धः ख. अन्तर्हितैर्हरन् ग.

पृष्ठ 242-243

पाठ०—१ मानवाः २ न्यसेत्क्षिप्रं V. ३ शाङ्गुलिकं A.

पृष्ठ 243

टिप्प०—1 मदनरत्ने तु—'अष्टमं सर्वदैवतम्। पुरस्तान्नवमं यत्तु तन्महत्पार्थिवं विदुः॥ मृदगोमयेन् तु कृतान्यदभिः पर्युक्षितानि वा' इति पाठः।

पाठ०—१ परिसंख्यययोक्तम् ख.ग.२ द्वादशाङ्गुलप्रमाणानां घ.३ तन्नवमं ख.ग. 4 द्वादशाङ्गुलः ख.

पृष्ठ 243-244-245

टिप्प०—1 यच्चोक्तं नारदेन—'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो रागद्वेषविवर्जितः। नाभिमात्रे जले स्थाप्यः पुरुषः स्थाणुवद् बली' इत्युक्तम्। 2 'ततस्तवावाहयेद्देवान् सलिलं चानुमन्त्रयेत्' इति पितामहः।3 'सत्येनाभिरक्षस्व वरुण!' इति विश्व०।

पाठ०—१ कराभ्यां व्रीहीन् ख.२ भूतशुद्धि ख.३ पश्चिममण्डले ख-ग.४ संदंशकेन घ.५ अभिशय्य ग. अभिशाय्य घ.६ देवपूजा घ.७ इत्युक्तं प्रार्थयते ख.ग.

पृष्ठ 245-246

टिप्प०—1 'सूर्मी स्थूणोऽयःप्रतिमा' इत्यमरः। 2 अवष्टम्भः धारणात्मकसंयोगविशेषः।3 'अप्सु प्रवेश्य पुरुषं प्रक्षिपेत्सायकत्रयम्' इति बृहस्पतिस्मणात्।4 मूर्धोऽपि निमज्जनात् इत्याशयः, अत एवोक्तं 'न पश्यती'ति। ततश्च न मूलविरोधः।

पाठ०—१ निमज्जेत्तु ख. २ जलूका घ. ३ मानयेद्यो ज, A. ४ गतेऽन्यस्मिन् V. ५ तदा शुद्धो ग-घ.६ स्थितयोस्तयोस्तृतीय ख.७ मध्यमशर ग.८ तदा शुद्धिं व्रजतीति ख.

पृष्ठ 246

पाठ०—१ प्रक्षिप्तानां च ग.२ च प्रवायति ग.३ समीपे सशरं घ.

पृष्ठ 247

टिप्प०—1 अतिचञ्चलतामिति भावः.

पाठा॰—१ सत्ये धर्मे,A.; सत्यधर्मव्यवस्थितः V. २ व्यवस्थितम् B. ३ जीर्णं तस्य शुद्धिं विनिर्दिशेत् A.; V. ४ नयनविवशतां. ५ पूजा कार्या ख. ६ तथैवोक्तानि ख. ७ यत्नेन परि ग.

पृष्ठ 248

पाठा॰—१ परीक्षणीयं ग. २ तथापि घ. ३ भिमुखाय स्थिताय ख. मुखाय विष घ. ४ संश्राव्य. A.

पृष्ठ 249

पाठा॰—१ पितामहनारदादिभिः घ. २ दापयेत् घ. ३ विभेदे घ. ४ दासेषु ख.

पृष्ठ 250

पाठा॰—१ कम्पयेद्यस्य ख. २ न प्रक्षेपणं ख. ३ माहरणीयं ग. ४ चूरुकारं ख.

पृष्ठ 251

टिप्प॰—1 अस्य पूर्वार्धं—'यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च' इति मनुस्मृतावालोचनीयम्.

पाठा॰—१ पापमायतु ख.

पृष्ठ 252

पाठा॰—१ अत्र पुत्रसद्भावः स्वामिसद्भावश्च प्रतिबन्धः, तदभावे पितृव्यत्वेन भ्रातृत्वेन च स्वं भवतीति विशेषः ख. घ. २ द्रव्यस्य व्यवस्थापनं ख. ३ पैत्रस्य ग. घ। ४ अदत्तादायिनश्चौरस्य. ५ याजनाध्या पनाद्वापि ख. ६ अन्यथास्वं ख. ७ नियतोपाधिकं घ.

पृष्ठ 253

टिप्प॰—1 स्वामिनाशस्यापि स्वत्वहेतुत्वेनातीते पितामहे तद्धने पितापुत्रयोः साधारणे मणिमुक्तादिकं वचनात् पितुः। स्थावरे तु साधारण्यमेवेत्येतावानर्थो यदि तद्वचनात् प्रतीयते, तदा पूर्वोक्ता व्यवस्था स्यात्; न च तथा। ततश्चैवं वक्तव्यम्—पितामहे जीवत्यपि स्थावरेषु सर्वसाधारण्यमिति। तथा चास्य वचनस्य पितामहोपार्जितस्थावरविषयत्वमनुपपन्नमित्याशयः।

पाठा॰—१ न विभाज्यमेव ग. २ स्वत्वं लौकिकं तदा ग. ३ त्स्वत्वमुत क. ख. ४ प्रसादादिह न प्रति ख. प्रसाददाने प्रति क. ५ समानमपि घ. ६ प्रसिद्धो ग. ७ न्यदीयधनविषयो घ. ८ तं तथोत्पत्त्येव ख.

पृष्ठ 253-254

टिप्प॰—1 स्वामिनाशस्यापि स्वत्वहेतुत्वेनातीते पितामहे तद्धने पितापुत्रयोः साधारण्ये मणिमुक्तादिकं वचनात् पितुः। स्थावरे तु साधारण्यमेवेत्येतावानर्थो यदि तद्वचनात् प्रतीयते, तदा पूर्वोक्ता व्यवस्था स्यात्; न च तथा। ततश्चैवं वक्तव्यम्—पितामहे जीवत्यपि स्थावरेषु सर्वसाधारण्यमिति। तथा चास्य वचनस्य पितामहोपार्जितस्थावर विषयत्वमनुपपन्नमित्याशयः।

पाठा॰—१ न विभाज्यमेव ग. २ स्वत्वं लौकिकं तदा ग. ३ त्स्वत्वमुत क. ख.

४ प्रसादादिह न प्रति ख.प्रसाददाने प्रति क.५ समानमपि घ.६ प्रसिद्धो ग.७ न्यदीयधनविषयो घ.८ तं तथोत्पत्त्येव ख.

पृष्ठ 254-255

टिप्प०—1 स्वोपार्जितेष्वपि स्थावरेष्वनुज्ञार्हसमर्थानुज्ञार्हसर्वानुमतिमन्तरेण दानानधिकारः,इतरेषु नानुमत्यपेक्षेति तदभिप्रायः। 2 उपरि 'षड्भिर्गच्छति मेदिनी' इत्युक्तम्, तत्र षण्णां क्रमेणोपयोगं दर्शयन् प्रथमतो ग्रामजनानुमतिं दर्शयति— तत्रापीत्यादिना।

पाठ०—१ पितृपितामहस्य घ.२ मुक्तावस्त्राभरणा ख-घ.३ एतेषां मणिमुक्तादीनां. ४ विमोक्षणादिषु ख., घ. ५ अनुज्ञादा ख., अनुज्ञादानादाव घ. ६ अनीशकृत्वात् घ. ७ सीमाप्रतिपत्ति ख-ग.

पृष्ठ 255

टिप्प०—1 एतेन पितुर्निधनमेव स्वत्वकारणं, न जन्म इत्युक्तम्, अन्यथा 'ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च' इति मनुविरोधापत्तिः। 2 इच्छयेति ऐच्छिकविभाग एव विवृत उत्तरार्धेन। इच्छायाः संभवति उक्तपक्षद्वयावलम्बनत्वे स्वातन्त्र्योगाद्वाक्यभेदापत्तेः, एकस्मै लक्षं कस्मैचित्कपर्दिकमन्यस्मै न किमपीत्यव्यवस्थापत्तेश्च व्य. म.। 3 उद्ध्रियत इत्युद्धारः। ज्येष्ठस्याविभक्तसाधारणधनादुद्धृत्य विंशतितमो भागः सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं तद्दातव्यमित्यादि। अयं चोद्धारविभागः कलौ नेष्टः; कलिवर्ज्येषु पाठात् व्य.म.। 4 जीवत्येव पितरि पितुरिच्छया विभाग इति यस्मिन्काले विभाग इत्यस्य, 'पिता' इत्यनेन येनेत्यस्य, 'ज्येष्ठं' इत्यनेन तथा इत्यस्योपसंग्रहः। 5 'न्यूनाधिक–' (व्य. 116) इत्यादिः। 6 मातुरिति। रमणः कामः। उपरतस्पृहो पिरक्तः प्रत्तासु भगिनीषु चेति काकाक्षिवद्रजोरमणनिवृत्त्योर्विशेषणम् व्य. म.।

पाठ०—१ मध्यमभागेन घ.२ जीवत्येव S.

पृष्ठ 256

टिप्प०—1 इच्छायामुक्तं। क्वचित्तदिच्छां विनापि विभागमाह बृहस्पतिः— 'क्रमागते गृहक्षेत्रे पिता पुत्राः समांशिनः॥ पैतृके न विभागार्हाः सुताः पितुरनिच्छया॥' अर्थात्पितामहाद्यर्जिते धने तदनिच्छयापि पुत्रा विभागर्हा इत्यर्थः व्य. म.। 2 अत्र 'पत्न्यः' इति बहुवचनेन 'पत्नी'पदस्वारस्येन च सापत्नमातुरपि विभागः सूचितः। अत एव मदनरत्ने 'पत्न्यः' इति बहुवचनात्प्रतिपत्नीस्वांशेन तुल्योंऽशो ग्राह्यः', न तु ताभ्यः पृथक् कृत्वांशो देयः; 'पुत्रवत् जायापत्योर्न विभागे विद्यते' इति हारीतिविरोधात्। तथा पुण्यफलेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च द्रव्यार्जनेष्वपि तस्याः सहत्वमेव। तद्वत्पतिरर्जयति जाया गृहे निवसतीति योगक्षेमावुभयायत्ताविति द्रव्यार्जने सहत्वमे। 3 विष्णुनाप्युक्तम्—'मातरः पुत्रभागानुसारिभागहारिण्यः' इति।

पाठ०—१ निच्छतो यत्किंचिदसारमपृथक् ख-ग.२ धर्मः A.

पृष्ठ 257-258

टिप्प०—1 अत्रासंबद्धत्वाद्बहुशेषपूरणेन व्याख्यातम्; अन्यथा तु तस्याशास्त्रोक्तत्वे तु 'अन्यथाशास्त्र' इति पाठः। 'अन्यथा' इति पाठेऽपि स एवार्थः इति बाल.। 2 पितुरूर्ध्वं च

प्रागपि च मन्वादिवचनैर्विषमविभागविधानात् समविषमविभागयोर्विकल्पे न्याय्ये सममेवेति नियमों न घटते इति पूर्वपक्ष्याक्षिपति—नन्वित्यादिना।

पाठ॰—१ विभजेयुः V. २ रूर्ध्वमृणं घ. ३ प्रायणात् क. ख. ४ तदर्धं मध्यमस्य स्यात्तदर्धं तु कनीयस इति व्य.म.५ द्धनसमुच्चयात् घ.६ दर्शितो मनुना ग.७ कथं विभजेरन्निति सममेव नियम्यते घ.८ शास्त्रदृष्टोऽस्ति ग.

पृष्ठ 258

टिप्प॰—1 मित्रावरुणदेवताकां वशां वन्ध्यामनुबन्ध्यामालभेतेत्यर्थः। 2 अन्योनियोगधर्मों विधिधर्मों विधायकवाक्यविहितो महोक्षमहाजालम्भनरूपस्तथानुबन्ध्यावशालम्भनरूपश्च धर्मो यथा नास्ति तथा विषयविभागोऽपि नास्तीति तदाशयः। 3 उत्कृष्टोंऽशो ज्येष्ठस्य पितुः। 4 प्रत्ता विवाहिता, अप्रत्ता अनूढा, प्रतिष्ठिता सधना, अप्रतिष्टिता निर्धना। 5 दुहित्रन्वय इत्यपरार्कः।

पाठ॰—१ धर्मोऽन्यो B. २ स्वमतमुक्त्वा ख. घ. ३ विशेषेषु घ.; विशेषेण क. ४ परिभाण्डं ग.५ विप्रतिषिद्धं घ.६ कृतर्णं.

पृष्ठ 259

टिप्प॰—1 यदि 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्ययमंशो मैत्रादिशेषो न स्यात्तदाऽयमर्थः संपत्स्यते—यद्यत् पितृद्रव्याविरोधेनार्जितं, तत्तदविभाज्यमिति। तथा चानया वचनव्यक्तया साधारण्येन तादृशानां मैत्रादीनामप्यविभाज्यत्वे सिद्धे पुनस्तेषां 'मैत्रमौद्वाहिकम्' इत्यविभाज्यत्वाभिधानमनुपपन्नं स्यादित्यत आह—अस्येति।

पाठ॰—१ मभ्युद्धरेत्तु A. २ सर्वत्र शेषः क. ३ क्रमायातं क. ४ समं विभजनीयं ग.

पृष्ठ 259-260

टिप्प॰—1 'दायादेभ्य' इत्यस्य स्थाने 'स्वयमीहितलब्धं' तन्नाकामो दातुमर्हति' इत्युत्तरार्धं मनुस्मृतावुपलभ्यते.

पाठ॰—१ विरोधश्चापद्येत घ.२ निषेधः घ.३ चाविभाज्य घ.४ इत्यस्यापवाद ख. ५ पितृधृतानि ख.६ तु विषमं-मनुस्मृतिः.७ पतन्त्यधः ग.८ विशेषस्योपादाना ग.

पृष्ठ 260-261

टिप्प॰—1 इदं मेधातिथि—कल्पतर्वभिप्रेतम्। 2 तत्र तेषां पितृतो भागकल्पना, न तेषां समो विभाग इत्याशयः।

पाठ॰—१ करणं ख.२ साधारणस्यार्थस्य ग. घ. ३ भागद्वयम् घ.४ द्रव्यविभाग क.५ पित्रंशं घ.

पृष्ठ 261-262

टिप्प॰—1 अत्राविभक्तधने भ्रातरि मृते तत्पुत्रः पितामहादनवाप्तविभागः पितृव्यात्तत्पुत्राद्वा निजपितृभागं गृह्णीयात्। एवं च तत्पुत्रः। तत्पौत्रस्तु न लभेतेति कात्यायनमतम्। 2 मृते पितरीति भावः।

पाठ॰—१ ष्वयमेव ख-ग.२ ध्रियमाणे तु पितरि ग.३ चोभयोः A., V. ४ भारकस्य ख.५ स्वाम्यमर्थसिद्धमिति.६ पितुः स्वार्जकत्वेन ख.७ कारोऽप्यस्तीति ख.

पृष्ठ 263

पाठ॰—१ मातुर्भागं तु सर्वमेव ग. घ; मातृभागं B. २ कृतमृणं घ.३ भागेभ्यो यत्किंचिदुद्धृत्य ज. ४ समये भ्रातुर्भार्यामप्रजायामस्पष्टगर्भायां स्वभागा ग., समये भ्रातृभार्यायामप्रजस्य स्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वं घ.

पृष्ठ 264-265

टिप्प॰—1 यदा ब्राह्मणस्य सर्ववर्णा भार्या भवन्ति, तासां च प्रत्येकं कन्यकाः सन्ति, तत्र ब्राह्मणी या कन्यका सा ब्राह्मणस्य पुत्रस्य यावानंशो भवति ततश्चतुर्थोऽशं लभते; एवं ब्राह्मणस्येन पितुः क्षत्रियादिकन्यकाः क्षत्रियादिसुतांशभागग्रहिण्य इति अप॰।

पाठ॰—१ तस्यैव क. ग. २ मातुः स्वपुत्र ख. ३ प्रायणा क. ग. ४ वक्ष्यति ग. ५ असंस्कृताश्चं A. ६ संस्कार्याः ग.७ इत्यमर्थो क., इत्यर्थो ग.८ कस्यचिद्ब्राह्मण्येवैका ख.

पृष्ठ 265

पाठ॰—१ अथ तु ग. घ. २ गृह्णीयात् एवं ग. ३ पित्र्यं धनं घ.४ गृह्णीयात् ग. ५ गृह्णीयाताम् ग.६ नच दत्त्वांशं तु ग.घ.७ संस्कारोपयोगि ख.८ बहुधनकत्वं घ.९ वरिष्ठं, न भागुरेः ख.

पृष्ठ 266-267

टिप्प॰—1 तत्र 'वर्ण' शब्दस्य नियतपुंस्त्वेनात्र स्त्रीषु लक्षणायां 'अपि' पदस्यैव तदङ्गीकारात्–बा.।

पाठ॰—१ विड्जौ तु द्व्येकभागिनौ A. २ वर्णास्त्रय उच्यन्ते ग. घ. ३ त्पन्ना एकैकशश्चतुस्त्रि ग.४ प्रत्तं ग.५ यदि दृश्यते A. ६ वा ज्ञातं ख.च ज्ञातं ग.

पृष्ठ 267-268

टिप्प॰—1 'मौद्गं चरुं निर्वपेत्' इति विहितमुद्गाभावे प्रतिनिधित्वेन माषा ग्राह्या न वेति संशयः! 'अयज्ञिया वै माषाश्चणकाः कोद्रवाः' इति श्रूयते। तेन सामान्येन माषजातिर्निषिध्यते; अतो मुद्गावयवबुद्धया गृह्यमाणेष्वपि माषेष्ववर्जनीयतया निषिद्धमाषजातीयावयवा अपि गृह्यन्त एवेति निषेधशास्त्रप्रवेशोऽस्तीत्यस्याशयः।

पाठ॰—१ यो लोभाद्विनिकुर्वीत.२ चोत्तारं क.३ श्रूयते घ.४ अपरस्य घ.५ प्रवर्तते घ.

पृष्ठ 268

पाठ॰—१ पिण्डदाता च ग.२ करणेन यत्क्षेत्रं.३ बीजवापनार्थं ग.४ तथानियोगो. घ.५ तं विगर्हन्ति– मनुः.६ विध्यभिगम्यैनां ख.

पृष्ठ 269-270

टिप्प॰—1 रहः अप्रकाशम्.2 वोढुः कन्यापरिणेतुः.

पाठ॰—१ स्यौरसान्निकृष्टो घ.

पृष्ठ 270-271

टिप्प॰—1 'वा'शब्दान्मात्रभावे पितैव दद्यात्। पित्रभावे मातैव। उभयसत्त्वे तु उभावपीति मदनः. 2 सदृशं कुलगुणादिभिर्न जात्येति मेधातिथिः, सदृशं जात्येति कुल्लूकः. 3 स चोक्तो मनुना (9 ।177)–'मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात्। आत्मानं स्पर्शयेद्यस्तु स्वयदत्तस्तु स स्मृतः ॥' इति । 2 सहोढोऽप्युक्तो मनुनैव (9 ।173)–'या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञातापि वा सती। वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥' इति ।

पाठ॰—१ निषेधः घ. २ गर्भे भिन्नः ख. घ. ३ प्रलोभेन ग. ४ स्वयंदत्त उपनतः B; ग. घ.

पृष्ठ 271-272

टिप्प॰—1 तृतीयांशहरा इति—कल्पतरुः। 2 आपस्तम्बधर्मविवृत्तौ तु स्मृत्यन्तरवाक्यं—'औरसः पुत्रिका बीजक्षेतजौ पुत्रिकासुतः। पौनर्भवश्च कानीनः सहोढो गूढसंभवः ॥ दत्तः क्रीतः स्वयंदत्तः कृत्रिमश्चापावद्धकः। यत्रक्वचोत्पादितश्च स्वपुत्रा दश पञ्च च ॥' इत्युक्तम्।

पाठ॰—१ चतुर्थांश ग. घ.

पृष्ठ 272

टिप्प॰—1 गोत्रेति गोत्ररिक्थे अनुगच्छतीति गोत्ररिक्थानुगः; प्रायस्तत्समनियत इति यावत्। दत्त्रिमः केवल व्द्यामुष्यायणे गोत्राद्यनुवृत्तेः। पिण्डः श्राद्धमौर्ध्वदेहिकादीति मेधातिथिकुल्लूकभट्टादयः। पिण्डः सापिण्ड्यं, स्वधौर्ध्वदेहिकश्राद्धादीत्यपरे व्य. म.। 2 'दानप्रतिभुवि प्रेते' (मनुः 8 ।160) इति पूर्वार्धमस्यं दानप्रतिभुवि तु पितरि मृते पुत्रं ऋणं दापयेदिति तस्यार्थः।

पाठ॰—१ सर्वांस्तांस्ते. २ स्वरूपद्वारेण ग. ३ प्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्.

पृष्ठ 273-274

पाठ॰—१ विभागेऽपि ग. २ धनं गृह्णीयात् ग. घ. ३ कृत्स्नं धनं ग.; दूरत एव क. ४ बन्धुशिष्याः सब्रह्म ख. ५ दिष्वनुलोमजेषु सूतादिषु प्रतिलोमजेषु ब्राह्मणादिषु अयं ग. ६ भाक् विवाह ग. घ. ७ गृह्णन्ति यथा ख. ८ धनग्रहणं घ.

पृष्ठ 274

पाठ॰—१ स्यार्यकुलजा क. ख. २ विरुद्धानि च वाक्यानीह ग.

पृष्ठ 275-276

पाठ॰—१ संबन्धो युक्तो घ. २ सा बीजं वा घ. ३ संसृष्टिनां तु घ. ४ वक्ष्यति घ.

पृष्ठ 276

टिप्प॰—1 तैत्तिरीयब्राह्मणे श्रूयते (2 ।2 ।4)–'तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं धार्यम्, दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति' इति।

पाठ॰—१ दिष्वविशेषात् घ. २ आदायकं घ. ३ ऽपवादः। श्रोत्रिय ख. घ. ४ श्रीकारादिभिः घ. ५ तथा पत्न्यः घ. ६ स्त्रीधनमिति मतं घ.

पृष्ठ 277

टिप्प०—1 द्वयोर्वरुणप्रघाससाकमेधपर्वणोः 2 अत्र चातुर्मास्येषूपवपन्ति वेदिमुपकिरन्तीत्याशयः।

पाठ०—१ तथा ख. २ तूपात्त ख. तूपात्र घ. ३ प्रतिपादयति ग. घ. ४ हरेतां घ. ५ अपुत्रधनं घ.६ श्रवणात् घ.७ धिकारमात्रप्रदर्शनपरं घ.८ संसृष्टविषयं घ.९ वचनादशङ्कित ख.

पृष्ठ 278

टिप्प०—1 अप्रतिष्ठिता अनपत्या निर्धना वा. 2 स्त्रीपदं पितुरप्युपलक्षकमिति संप्रदायविदः 3 अकृतेति। अकृता वा कृता वेति पुत्रिकाया एव द्वैविध्यं,तत्र 'यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरं' इत्यभिधाय कन्यादानकाले वरानुमत्या या क्रियते सा कृता, अभिसंधिमात्रकृता वाग्व्यवहारेण नं कृता अकृता इति कुल्लूकः। 4 व्यवहारमयूखेऽपि—दौहित्राभावे पितां तदभावे माता। तथा च कात्यायनः—'अपुत्रस्याप्यकुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा। तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राः प्रकीर्तिताः'॥ विष्णुश्च—'अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे दौहित्रगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे भ्रातृगामि, तदभावे भ्रातृपुत्रगामि, तदभावे सकुल्यगामि' इति। यत्तु विज्ञानेश्वरः—द्वन्द्वापवादके पितरावित्येकशेषे क्रमाप्रतीतावपि तदर्थबोधके विग्रहवाक्ये मातृशब्दस्य पूर्वनिपातात् अपवाद्यद्वन्द्वाक्रमानुसारात् पितुः पुत्रान्तरसाधारण्यात् मातुस्त्वसाधारण्याच्चादौ मातुस्तद्भावे पितुर्धनग्रहणमूचे तदेतद्वचोविरोधादपास्तम्। विग्रहवाक्ये मातृशब्दस्य पूर्वनिपात एकशेषस्य द्वन्द्ववैकल्पिकत्वेन तदपवादत्वे साधारण्यासाधारण्ययोःक्रमनियामकत्वे मानाभावाच्च.

पाठ०—१ अक्षता वा क्षता वापि ग.

पृष्ठ 278

टिप्प०—1 तथा च विष्णुकात्यायनौ—(वि. 17 ।4 ।7) 'प्रागुक्तमपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे दौहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि' इति। 'अपुत्रस्याथ कुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा। तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राश्च कीर्तिताः॥' इति। 2 अत्र केचन-सोदराभावे भिन्नोदरास्तदभावे सोदरसुता इत्याहुस्तन्न। 3 आचार्यशब्देनात्र विश्वरूपाचार्योऽभिप्रेतः।4 भ्रातृपदस्य सोदरे शक्त्या भिन्नोदरे च गौण्या वृत्तिद्वयविरोधात्। चेतित्तु 'भ्रातर' इत्यत्र 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' इत्यनुशासनात् भ्रातरश्च स्वसारश्च भ्रातर इति विरूपकैकशेषेण भ्रात्रभावे भगिन्य इत्याहुस्तन्न। विरूपैकशेषे मानाभावात्।

पृष्ठ 279

टिप्प०—1 तदभावे भगिनी; 'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' इति मनूक्तेः। 'बहवो ज्ञातयो यत्र सकुल्या बान्धवास्तथा। यस्त्वासन्नतरस्तेषां सोऽनपत्यधनं हरेत्॥' इति बृहस्पत्युक्तेः। तस्या अपि भ्रातृगोत्रोत्पन्नत्वेन गोत्रजत्वाविशेषाच्च। सगोत्रता परं नास्ति न च सात्र धनग्रहणप्रयोजकत्वेनोक्ता इति व्यवहारमयूखः। 2 सप्तममभिव्या-

प्येत्याशयः। 3 मनुस्मृतौ 'तदभावे सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा' इत्यत्र सकुल्यशब्देन सगोत्रसमानोदकानां मातुलादीनां बन्धुत्रयस्य ग्रहणम्। योगीश्वरवचनेऽपि बन्धुपदेन मातुललक्षणमन्यथा मातुलादीनामग्रहणमेव प्रसज्येतेति तत्पुत्राणां धनाधिकारस्ततः प्रत्यासन्नानां तेषां स नेति महदनौचित्यमापद्येत। 4 ननु पत्न्यादीनां सर्वेषां मृतनिरूपितानामेव धनभाक्त्वं बानन्धवानामपि तथैवास्तु, अतः कथं पितुर्मातुश्च बान्धवानां धनसंबन्धः, 'पितुः पितृष्वसुः पुत्राः' इत्यादि तु संज्ञासंज्ञिसंबन्धमात्रार्थं न धनसंबन्धार्थमिति चेदुच्यते;—विनाप्येतद्वचनं पितृमातुलपितृव्यादिष्विव पितृमातृबान्धवेष्वपि योगेनैव तच्छब्दप्रवृत्तिसंभवे संज्ञासंज्ञिसंबन्धोधनानर्थक्यापत्तेः। तेन बन्धूनुद्दिश्य धनसंबन्धविधौ पितृमातृबन्धुप्रापणेनैव वचोऽर्थवत्ता। बन्धूद्देशेनाशौचादिविधावप्येवमेवेति दिक्।

पृष्ठ 280

टिप्प०—1 वीरमित्रोदये तु—अत्रायं मृतपुंधनाधिकारक्रमः। तत्र प्रथमं पुत्रः, तदभावे पौत्रः, तदभावे प्रपौत्रः। मृतपितृकपौत्रमृतपितृपितामहकप्रपौत्रयोस्तु पुत्रेण सह युगपदधिकारः। प्रपौत्रपर्यन्ताभावे पत्नी। सा च प्राप्तभर्तृदाया भर्तुकुलं तदभावे पितृकुलं वा समाश्रिता सती शरीरक्षार्थं भर्तृदायं भुञ्जीत। तथा भर्तुरुपकारार्थं यथा कथचिद्दानादिकमपि कुर्वीत। नतु स्त्रीधनवत्स्वच्छन्दं विनियुञ्जीत। तदभावे दुहिता। तत्र प्रथमं कुमारी, तदभावे वाग्दत्ता तदभावे चोढा। सा च पुत्रवती संभावितपुत्रा च द्वे युगपदेवाधिकारिण्यौ। वन्ध्या विधवा च पुत्रहीना नाधिकारिणी। ऊढाया अभावे दौहित्रः। तदभावे पिता, तदभावे भ्राता। तत्रापि प्रथमं सोदरः, तदभावे वैमात्रेयः। मृतस्य भ्रातृसंसृष्टत्वे तु सोदरमात्रविषये प्रथमं संसृष्टसोदर एवाधिकारी, तदभावे चासंसृष्टसोदरः। एवं वैमात्रेयमात्रविषये प्रथमं संसृष्टवैमात्रेयः, तदभावे चासंसृष्टवैमात्रेयः। यदा तु संसृष्टो वैमात्रेयः सोदरश्च संसृष्टः, तदा तावुभौ तुल्यवदधिकारिणौ। भ्रातृणामभावे भ्रातुः पुत्रः। तत्रापि प्रथमं सोदरभ्रातृपुत्रः, तदभावे वैमात्रेयभ्रातृभ्रातृपुत्रः। संसर्गे तु सोदरभ्रातृपुत्रमात्रविषये प्रथमं संसृष्टसोदरभ्रातृपुत्रः, तदभावे चासंसृष्टसोदरभ्रातृपुत्रः। वैमात्रेयभ्रातृपुत्रमात्रविषये प्रथमं संसृष्टवैमात्रेयभ्रातृपुत्रः। तदभावे चासंसृष्टवैमात्रेयभ्रातृपुत्रः। यदा तु सोदरभ्रातृपुत्रोऽसंसृष्टो वैमात्रेयभ्रातृपुत्रश्च संसृष्टः तदा द्वौ भ्रातृवत्तुल्याधिकारिणौ। भ्रातृपुत्राभावे तु भ्रातृपौत्रः। तत्रापि भ्रातुः सोदरासोदरक्रमः संसर्गासंसर्गक्रमश्च बोध्यः। तदभावे पितृदौहित्रः; स च सोदरभगिनीपुत्रः, तदभावे वैमात्रेयभगिनीपुत्रश्च। तदभावे पितुः सहोदरः, तदभावे पितुर्वैमात्रेयः। तदभावे पितृसोदरपुत्रपितृवैमात्रेयपुत्रपितृसोदरपौत्रपितृवैमात्रेयपौत्राणां क्रमेणाधिकारः। तदभावे पितामहदौहित्रः। तत्रापि पितृसोदरभगिनीपुत्रः वैमात्रेयभगिनीपुत्रश्च। वक्ष्यमाणप्रपितामहदौहित्राधिकारेऽप्येवम्। तदभावे पितामहः। तदभावे पितामही। तदभावे पितामहसोदरभ्रातृवैमात्रेयभ्रातृतत्पुत्रपौत्रपितामहदौहित्राः क्रमेणाधिकारिणः। एतावत्पर्यन्तानां धनियोग्यपिण्डदातृणां त्वभावे धनिदेयपिण्डभोक्तृणां मातुलादीनामधिकारस्तभावे धनिमातृष्वस्त्रीयस्याधिकारः। तदभावे मातुलपुत्रपौत्राणां क्रमेणाधिकारः। तदभावे चाधस्तनसकुल्यानां धनिभोग्यलेपदातृणां प्रतिप्रणप्तृप्रभृतिपुरुषत्रयाणां क्रमेणाधिकारः। तदभावे पुनरूर्ध्वतनसकुल्यानां धनिदेयलेपभोक्तृणां वृद्धप्रपितामहादिसन्तीतिवामासत्तिक्रमेणाधिकारः। तदभावे समानोदकानामधिकारः। तेषामभावे चाचार्यस्य तदभावे

शिष्यस्य तदभावे सहवेदाध्यायिब्रह्मचारिणोऽधिकारः। तदभावे चैकग्रामस्थसगोत्र- समानप्रवरयोः क्रमेणाधिकारः। उक्तपर्यन्तानां सर्वेषां संबन्धिनामभावे ब्राह्मणधनवर्ज्यं राजा गह्णीयात्। ब्राह्मणधनं तु त्रैविद्यादिगुणयुक्ता ब्राह्मणागृह्णीयुः। एवं वानप्रस्थधनं भ्रातृत्वेनानुमतोऽपरो वानप्रस्थं एकतीर्थसेवी गृह्णीयात्। तथा यतिधनं सच्छिष्यः। नैष्टिकब्रह्मचारिणो घनमाचार्यः। उपकुर्वाणस्य तु ब्रह्मचारिणो धनं पित्रादिर्गृह्णीयादिति ज्ञेयम्।

पाठ॰—१ संबन्धःप्रतिग्रहादिःघ.२ धनसंभवःघ.३ हि वासोऽपि बिभृयात्तथा क.

पृष्ठ 281

टिप्प॰—1 अत्र वाक्ये पितृभातृपितृव्यैरेव सह संसृष्टता नान्येन। वचनेऽनुपादानादिति, मिताक्षरादिषु विभागकर्तृसामानाधिकरण्येनैव सेति युक्तम्। पित्रादिपदानि तु विभागकर्तृमात्रोपलक्षकाणि 'अर्धमन्तर्वेदी मिनोत्यर्धं बहिर्वेदी'तिवत्। अन्यथा वाक्यभेदात्। तेन पत्नीपितामहभ्रातृपौत्रपितृव्यपुत्रादिभिरपि सह संसृष्टता भवति। विभक्तो य एकत्र स्थितः स संसृष्ट इति सामानिधिकरण्याद्विभक्तभ्रात्रोः पुत्रादीनां न संसर्गः। विद्यमानं भावि वा धनमाक्वयोः पुनर्विभागावधि साधारणमित्याकारिका बुद्धिरिच्छा वा संसर्गः—व्यवहारमयूखः।

पाठ॰—१ च सोदरः V. २ संसृष्टिनो धनं... संसृष्ट्यनुजातस्य घ. ३ दिति संबन्धः घ.४ भिन्नोदरस्यासंसृष्टिनः सोदरस्य च घ.५ वा दद्यात्; चादद्यात् A; V. ६ नान्यमातृकः A. ७ मुक्तं। असंसृष्टी घ.

पृष्ठ 282

टिप्प॰—1 'अपयात्रित' इति पाठमङ्गीकृत्य अपयात्रितो राजद्रोहाद्युपरोधेन बन्धुभिर्घटस्फोटादिना बहिष्कृत इति मदनः। व्यवसायार्थं नावादिना समुद्रमध्ये द्वीपान्तरं गत इति युक्तम्, 'द्विजस्याब्धौ तु नौ यातुः शोधितंस्याप्यसंग्रहः' इति तस्य कलौ संसर्गनिषेधात्; राजद्रोहादौ घटस्फोटबहिष्कारयोरविधानाच्च—व्य. मयूखः।

पाठ॰—१ निषेधादसंसृष्ट ग.२ संसृष्टिनो भिन्नोदरस्य च घ.३ संसृष्टाः सहजीवन्त ४ सममन्यूनाधिक घ.५ भगिन्यश्च विभजेयुः ख.६ भर्तव्यास्तु निरंशकाः A. ७ संनिपातग्रहा ख.८ क्षयादिरोग घ.९ स्यादपयात्रितः.

पृष्ठ 283-284

पाठ॰—१ दोषाणामनंशित्वं घ.२ वेदनिकं चैव A; V.

पृष्ठ 284-285

टिप्प॰—1 अत्रेत्थं वीरमित्रोदयव्याख्यानम्–गृहोपस्करंणादीनां यन्मूलयं कन्यार्पणोपाधित्वेन वरारिभ्यः कन्याभरणरूपेण गृह्यते तच्छुल्कमिति मदनरत्ने व्याख्यातम्। उभयत्रापि पित्रादीनां कन्याया इदमित्युद्देशो विवक्षितः। 'यदानेतुं भर्तृगृहे शुल्कं तत्परिकीर्तितम्' इति व्यासोक्तं वा भर्तृगृहगमनार्थभत्कोचादि यद्दत्तं तच्छुल्कमित्यर्थ इति। अन्यथा तत्सत्वाभावेन स्त्रीधनत्वव्यपदेशानुपपत्तेः। 2 चतुर्ष्वपीत्यपिशब्दाद्गान्धर्वग्रहणम्। यद्वा,—अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा ब्राह्मभिन्ना दैवार्षप्राजापत्यगान्धर्वाश्चत्वारः। तेन 'ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्धनम्। अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते।।' इति न

मनुवचनविसंवादः।

पाठा०—१ भर्तुःसकाशात्. २ अप्रजायामतीतायां A. ३ अप्रजस्त्रयाः क. ग.

पृष्ठ 285-286

टिप्प०—1 भर्त्रभावे तत्रत्यासन्नानां सपिण्डानां पित्रभावे च तत्रत्यासन्नानां सपिण्डानामिति तत्रापि तेनास्याः प्रत्यासन्नास्तत्रत्यासन्नाः। तद्द्वारा तत्कुले प्रत्यासन्ना इति यावत्.

पाठा०—१ स्ववर्गे भाग ग. स्वस्ववर्गेण घ. २ कर्तृत्वेनान्वयेनापि घ.

पृष्ठ 286-287

टिप्प०—1 अनुबन्धो नाम दोषोत्पादको दोषः, 'दोषोत्पादेऽनुबन्धः स्यात्' इत्यमरोक्तेः। 2 संप्रतिरोधक इति व्याधिविशेषणं कार्यानुष्ठानबाधक इति च तदर्थ इत्याह वाचस्पतिः।

पाठा०—१ पितामह्यर्णापाकरणाधिकारात् ख. २ दद्यात्सहोदयम् A. ३ म्रियते तदा क. ख. ४ सर्वमादद्यात् A. ५ शुल्कं वा वरेण ख. ६ विगणय्य. ७ क्रमागतं ख. भत्रा घ., भर्त्रां न स्त्रियो V. ९ णापहृतं दद्यात् घ.

पृष्ठ 287-288

टिप्प०—1 धृतो भर्त्रादिना तस्यै दत्तः स तया धृत इत्यर्थः। 2 प्रकल्पयेदित्यस्यार्थमाह—दद्यादिति। एतेन 'प्रकीर्तितम्' इत्यपाठः सूचितः—इति बा.। अनेन 'प्रकीर्तितः' इति पाठो विज्ञानेश्वर-बालंभट्टी-विसंवादीति स्फुटम्। अपरं च, दृश्यतेऽयं पाठश्चोद्धृतो मिताक्षरायां विज्ञानेश्वरेण 'यदि कुर्यात्' (व्य.115) इत्यत्र। 3 ज्ञातिभिःउदासीनैः सजातीयैः, बन्धुभिः बन्धुत्रयैर्भात्रादिभिश्चेति भावः। 4 यौतकैः पृथक्कृतैर्गृहक्षेत्रैरिति विशेषणविशेष्यभावः—व्य. मयूखे। 5 तत्र बृहस्पतिः—'स्वेच्छाकृतविभागो यः पुनरेव विसंवदेत्। स राज्ञांऽशे स्वके स्थाप्यः शासनीयोऽनुबन्धकृत्' इत्याह। 6 कृष्यादिरूपेत्याशयः। 7 तेनैव नारदेनेत्यर्थः।

पाठा०—१ देयमाधि A. २ प्रकीर्तितम् A. ३ श्वशुरेण भत्रा वा ख. ४ ज्ञेया क्षेत्रकगृहयौतकैः V.

पृष्ठ 289

टिप्प०—1 अनेन मन्वनुक्रमो नाभिमत इति सूचितम्।

पाठा०—१ स्थविरा गणाः V. २ कृषाणाश्च (=वृद्धबालिका) ग, A., V. ३ चान्ये A. ४ रुपलक्षितम् V. ५ पद्मकाराः क. ख.

पृष्ठ 289-290

पाठा०—१ ग्राहांस्तूच्छवृत्तीन् ग. २ कुब्जकगुल्मांश्च क. ख. ३ प्रकाशितैः घ. ४ समा ग्रामा A.

पृष्ठ 290-291

टिप्प०—1 अत्र 'साक्षि'ग्रहणं सामन्ताद्युपलक्षणार्थम्—सु.। 2 'सीमासंधिषु

लक्षणम् । तत्तंथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः' इति मनु॰ ।

पाठ॰—१ कुर्वीत घ. २ दोषेषु ग. ३ क्रमाभिधानात् घ. ४ पलक्षितैरभुक्तेर्वा घ. ५ साक्षिणः सामन्तादयः घ. ६ सीमानं ख.

पृष्ठ 291-292

पाठ॰—१ मिथ्यावदते ग. २ साक्ष्यमौलत्वादीनां घ. ३ प्रवर्तकः A.

पृष्ठ 292-293

टिप्प॰—1 यच्चोक्तं बृहस्पतिना—निवेशकालादारभ्य गृहवार्यापणदिकम् । येन यावद्यथाभुक्तं तस्य तन्न विचालयेत् ॥ वातायनप्रणालीस्तु तथा निर्यूहवेदिकाः । चतुःश्यालस्यन्दनिकाः प्राङ्निविष्टा न चालयेत् ॥' इत्यदिना । 2 मर्यादाभेदे प्रथमसाहसः—सार्धं द्विशतम्; क्षेत्रहरणे तु उत्तमसाहसः—साशीतिः पणसाहस्रः; सीमातिक्रमणे मध्यमः ।

पाठ॰—१ प्रवहेषु च V. 2 पलालादिकूटाद्यर्थं घ. ३ तु A. ४ क्षेत्रस्य हरणे तथा V. ५ सीमातिक्रणे दण्ड्या V. ६ साधारणी ग. ७ सीमानमतिलङ्घ्य ख.

पृष्ठ 293-294

टिप्प॰—1 सेतुर्द्विविविधः—खेयो बद्ध्यश्च । क्षेत्रात्तोयं निर्गमयितुं यः स खेयः; यश्च क्षेत्रे एव जलधारणार्थं क्रियते स बद्ध्यः—बा॰ ।

पाठ॰—१ हरेत्. २ बहूपकारको नैव घ. ३ समप्रक्षेत्र घ. ४ अविनिवेद्यैव A. 5 भ्युपगमय्य घ. ६ यो न कुर्यान्न A. ७ तं प्रदाप्याकृष्टशदं (= शदः क्षेत्रस्य फलं, अकृष्टस्य क्षेत्रस्य शदः । अकृष्टेऽपि क्षेत्रे तं प्रदाप्य क्षेत्रमन्यस्यांर्पयेत्) A.

पृष्ठ 295

पाठ॰—१ हेतुमद् भावात् घ. २ गां तद्द्विगुणं घ.

पृष्ठ 296

पाठ॰—१ विनश्येत तावत्क्षेत्री फलं लभेत् A., V. २ पालस्ताड्येत गोमी तु पूर्वदण्ड V., पालस्ताड्योऽथ गोमी तु पूर्वोक्तं A. ३ गोमिन एव ग. ४ मूल्यद्वारेण घ. ५ गोमिनो देयं ख.

पृष्ठ 297-298

टिप्प॰—1 अनिर्गतदशाहा इत्याशयः । 2 अभिसारिणी स्वयूथात्प्रच्युता पुनः स्वयूथगामिनी ।

पाठ॰—१ सूतिकागन्तुकी च गौः V. २ च A. ३ राजदेवपरि A. ४ अदण्ड्याः काणकूटाश्च वृताश्च कृतलक्षणाः ५ द्विशताद्भृतिः घ. ६ अपहृतान् ख. ७ विघुष्य त्विति. ८ दैवराजमृतानां ख. ९ पशुस्वामिषु दद्यात्तु मृतेष्वङ्गानि घ., पशुस्वामिषु दद्यात्तु मृतेष्वङ्गानि ग. १० अङ्गादि दर्शयेत्.

पृष्ठ 298-299

टिप्प॰—1 अर्धत्रयोदशपण इति अर्धरहितत्रयोदशपणः सार्धद्वादशपण इति यावत् । 'तास्तृतीयपूर्वपदाः समानाधिकरणेन समस्यन्त उत्तरपदलोपश्च' इति

वार्तिकादुत्तरपदलोपी कर्मधारयः। यत्तु विज्ञानेश्वरेणार्धाधिकत्रयोदशपणो दण्ड इति व्याख्यातं, तत् सार्धद्विमात्रादिषु अर्धत्रिमात्रादीति महाभाष्यकारशब्दप्रयोगदर्शनादुपेक्ष्यम्। 2 मनुरपि—'धनुःशतपरीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः। शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥' इत्याह।

पाठा॰—१ स्वामिने A., V. २ दोषेण पशु घ. ३ ग्रामेच्छया ख., A. ४ सर्वतः समुपाहरेत् A. ५ चरणार्थं क. ख. ६ त्वपरिवृतादेव ख. ७ परीहारः(=परिहृतं कृष्यादिकं) A. ८ ग्रामक्षेत्रान्तरं A. ९ कर्पटस्य (=ग्रामनगरोभयधर्मयुक्तस्य) V. १० परिणाहः ख. ११ दिक्ष्वनुप्तसस्यं घ.

पृष्ठ 299-300

टिप्प॰—1 देशकालातिपत्तौ साऽप्रकाशक्रयेणापि गृहीत्वा स्वयमर्पयेत्, पदाप्यदोष इत्याशयः।

पाठा॰—१ अस्वामिक्रीतेन ख. २ क्रय्ये ग. ३ वा V. ४ विक्रेतारं ग्राहयेत् ग. ५ तद्विज्ञापकात्प्राक् घ.

पृष्ठ 300-301

टिप्प॰—1 विक्रेतारं दर्शयित्वा क्रेतुर्निर्दोषत्वम्, स्वामिनश्च द्रव्यलाभः, विक्रयिणश्च हस्तात्क्रेतुर्मूल्यप्राप्तिः राज्ञो दण्डप्राप्तिरित्याशयः।

पाठा॰—१ स्तत्र V. २ स्तत्र राज्ञस्तेनापि भाव्यते V. ३ वेति भाव्यं घ. ४ शोधयित्वा क. ख.

पृष्ठ 301-302

पाठा॰—१ लभेत V. २ माहिषोष्ट्र ग.

पृष्ठ 302-303

टिप्प॰—1 विहितमार्गाश्रयं दत्तानपकर्म, अविहितमार्गाश्रयं दत्ताप्रदानिकमिति भेदः। 2 अन्वाहितादिकमस्वतया दानानर्हं कुटुम्बपोषणपर्याप्तं यद्द्रव्यं दातुमिच्छति तन्निषिद्धतया दानानर्हमिति ज्ञेयम्।

पाठा॰—१ दत्तानपाकर्म ख. २ व्यवहारपदे ग. ३ रादानं ग. ४ पुत्रदारं च ग. ५ नान्वये सति सर्वस्वं देयं यच्चान्यसंश्रितम् V.

पृष्ठ 304

पाठा॰—१ धर्मप्रच्युतो घ. २ धर्मसंयुते ख. ३ उपकृते घ. ४ पुत्रादिवैर घ. ५ एकोऽपि स्वं द्रव्य ख. ६ अप्राप्तव्यवहारेण ग. ७ लोकवेदा घ.

पृष्ठ 304-305

पाठा॰—१ मदीयं कर्म ख. २ येनोपाधि ग. ३ धिगमे क्रयादीन् घ. ४ तस्मिन्नहि वीक्षितम्. ५ मावहेत् ख. ६ लोहादि ख. ७ माहिष्यादि ख.

पृष्ठ 305-306-307

टिप्प॰—1 प्रावारः उत्तरासङ्गः, 'प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ' इत्यमरः।

पाठ॰—१ पभोगविनश्वर ख. २ परीक्ष्य क. ग. ३ द्विपलं रजते शतम् । अष्टौ तु त्रपुसीसे च V. ४ त्तदंशानुसारेण घ. ५ इतोऽधिक ख. ६ कार्पासिके तथा A., कार्पासकेऽथ वा । मध्ये पञ्चपला हानिः V. ७ वृद्धिः स्यात् A. ८ वाल्कले तथा v. वल्कलेषु. ९ चित्रं सूत्रैः ख. १० प्रान्तादौ ग.

पृष्ठ 307-308

टिप्प॰—1 शणसूत्रनिर्मितं शाणम्, क्षौमं क्षुमा, अतसी तत्सूत्रनिर्मितम् ।

पाठ॰—१ रामबन्धः घ. २ यावद्दानार्थं घ. ३ यत्तद्दाप्या असंशयम् A., यत्तद्दाप्यमृणद्वयम् V. ४ आज्ञाकारणं ख. ५ श्चाधिकर्मकृत् घ. ६ कर्म करस्तूक्तो ख. ७ स्वामिनः स्वाङ्गै घ. ८ निर्वापस्थानम् घ.

पृष्ठ 308-309

पाठ॰—१ भृतश्चैव घ. २ मोचितो घ. ३ प्रतिपादनपरम् ख. ४ भक्तस्त्यागात्त A.; भाक्तस्तत्त्यागान्निष्क्रयादपि (= भाक्तः भक्तदासः) V. 5 मोचनीयः घ.

पृष्ठ 309-310

टिप्प॰—1 प्रतिशीर्षं नाम प्रतिनिधिः । 2 अन्तरा मध्ये, जीवनदशायामित्यर्थः; प्रतिमोक्षः प्रतिपक्षभूतो मोक्षः ।

पाठ॰—१ कृतवडवा घ. २ नारदेनैव. ३ प्रदानात्तत्प्रसाद घ. ४ मरणान्तिकः A. ५ स्यान्तो नान्तरा प्रतिमोक्षोऽस्ति घ.

प्रायश्चित्ताध्यायः

टिप्पणी एवं पाठान्तर

पृष्ठ 310-311

टिप्प०—1 पाखण्डिनो वेदमार्गविरोधिनो वाणिज्यादिकराः। नैगमास्तदविरोधिनः। 'आदि'पदेन त्रैविद्यानां ग्रहणम्.

पाठा०—१ भोजनं तत्फलप्रदः V. २ व्यवहारपदं घ. ३ त्रैविद्यान् A. ४ तद्ब्राह्मणजातं क.ग.

पृष्ठ 311-312

टिप्प०—1 अनुबन्धः दोषः, अपराध इत्यर्थः। आदिना जात्यादिपरिग्रहः। 2 ग्राम-देशशब्दौ तत्स्थजनबोधकौ जघन्यवृत्त्या, संघो वणिगादिसमूहः। 'इदमस्माभिः कार्यपरिहार्यं वा' इत्येवंरूपं संकेतं सत्यादिशापथेन कृत्वा तत् मध्ये यो नरो लोभादिनाऽतिक्रमेदित्याशयः।

पाठा०—१ मण्डले घ. २ राजा विप्रवासयेत् V. ३ राज्ञा कृतां ग. ४ हितवदन घ.

पृष्ठ 312-313

पाठा०—१ चैवंगणिषु वर्तितव्यं घ. २ यद्यस्मै ख. ३ वेदज्ञाः A. ४ पाषाण्डि A.

पृष्ठ 314-315

टिप्प०—1 मूलेऽसंबद्धत्वनिरासार्थं—यल्लब्धमित्यादि। 2 मूले दाप्य इत्येतदल्पायासपरम्। आयासबहुत्वे तु बृहस्पतिः—'त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीयात्सीरवाहकः। भक्ताच्छादभृतः सीराद्भागं गृह्णीत पञ्चमम् ॥ जातसस्यात्त्रिभागं तु प्रगृह्णीयादथाभृतः॥ भक्ताच्छादभृता ह्यन्नवस्त्रादानेन पोषितः॥' इति।

पाठा०—१ भृतानां घ.,B. भृताय घ.,B. ३ समं कार्यं भृत्यैः पाल्य उपस्करः V. ४ उपस्करणं ग. ५ दाप्यस्तद्दशमं A. भृत्यकर्म ग. घ. ७ यो यावत्कर्म कुर्यात् V. ८ दर्पाद्दिनमुल्लङ्घयेत् घ.

पृष्ठ 315-316

पाठा०—१ भृतेरपि किमपि धनमधिकं ख. २ च A. ३ उभयोरप्यशाठ्यं चेच्छाख्ये कुर्या (द्यथाश्रुतम् A.) द्यथाकृतम् V. ४ अराजदैविकान्नष्टं A. ५ विघ्नकर्ता च V. ६ संत्यजेत् V.

पृष्ठ 316-317

टिप्प०—1 जिताद्यद्द्रव्यं गृह्यते स पणः, वयांसि पक्षिणः, अक्षादिभिरचेतनैर्वयःप्रभृतिभिश्च चेतनैर्जिह्मेन देवनं द्यूतम्। 2 बघ्नः दन्त्युष्ट्रादि–बाला.। मदनरत्नप्रदीपे त्वत्र 'बध्र' इति पाठमादृत्य 'वध्रश्चर्मपट्टिका' इति व्याख्यातम्।

पाठ०—१ व्याध्याद्यपगमे ग. २ व्यवहारपदमधि घ. ३ अक्षवध्र ग.

पृष्ठ 317-318

पाठ०—१ भागं राज्ञे दद्याद्यथाश्रुतम् A. २ जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यवचाः क्षमी V. ३ जितं द्रव्यमुद्ग्राहयेत् ख.४ प्राप्ते भागे च नृपतिःA. ५ तु न A. ६ द्यूते पण जेत्रे ख. ७ सचिह्ना V.

पृष्ठ 319

टिप्प०—1 कार्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या कारणशब्दोऽत्र फलपरः।

पाठ०–१ खलु लोलुपाः ख.२ शिल्पादि ख. घ. ३ धिङ्मूर्ख जाल्मस्त्वमित्यादि ग.

पृष्ठ 319-320

पाठ०—१ त्रयोदश V. २ नेषोऽन्ध इति ख. ३ हि V. ४ र द्रष्टव्यः घ.

पृष्ठ 321-322

पाठ०—१ विशेषोपादानात् ख.२ दण्डाद्धीनं ख.३ सर्ववर्ण ग.४ प्रतिलोमापवादेषु A. ५ वर्णान्त्याद्यानुलोम्येन तस्मादेवार्धहानतः V. ६ पञ्चविंशत्यर्धं द्वादश घ. ७ वैशयस्य चार्धपञ्चाशत् घ.८ स्ततोऽधिकःA.

पृष्ठ 322-323

टिप्प०—1 'वर्णि' पदं मूर्धावसिक्तादिजातिपरम्।2 उत्तमवर्णाक्षेपविषयकमेतत्।

पाठ०—१ क्षेमाय घ. २ प्रथमसाहसः घ. ३ वर्णानामाक्षेपे ग. ४ संबन्धे तु घ. ५ जातिरूपाणां V.

पृष्ठ 323-324

टिप्प०—1 दण्डपारुष्यं नाम शरीरस्य विरूपीकरणम्, तत्र अबगोरणं, निःसंगपातनं, क्षतजदर्शनं चेति साधनत्रयम्। 2 पारुष्यं कुर्यात् इत्यर्थः।

पाठ०—१ करणभेदेन ख. २ तस्योपदृष्टं ख. ३ निःशङ्कपातन घ. ४ कुर्यान्न तद्विनयभाक् ख.

पृष्ठ 324-325

पाठ०—१ अस्राक्षिके हते A. २ कृताद्दृते A., कृताद्भयात् V. ३ चिह्नैर्व्रणादि ख. ४ द्विगुणः स्मृतः ख.५ दमः प्रोक्तो मदादिभि A. ६ न्यूनश्रुतादिषु ख.७ च्वेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः–मनुः

पृष्ठ 326

पाठ०—१ वर्णानां घ.२ करालुञ्जनेषु A. ३ पीडाकर्षाञ्जनावेष्ट्य V. ४ दमयेदिति

ग.5 पीडां A. 6 पणान्दाप्यो A.; V. 7 मांसास्थिविभेदे ख.

पृष्ठ 327-328

पाठ॰—१ दन्तभङ्गे A. २ सक्थ्यङ्घ्रिभभङ्गे A. उत्तमसाहसः V. ४ पराधेऽप्येतस्येव घ. ५ ए एवोक्तः प्रतिलोमानुलोमतः। स एव दण्डपारुष्ये राज्ञा कार्यो यथाक्रमम् घ. ६ स्तथा A. ७ त्थानधनव्ययम् A. ८ दण्डश्च V.

पृष्ठ 328-329

पाठ॰—१ द्वैधीकरणे घ. २ समन्विताः घ. ३ अजाविहरिणानां घ. ४ स्त्रिश्चतुःपणः ख. ५ स्रावणादिनिमित्तेषु ख.

पृष्ठ 329-330-331

पाठ॰—१ पणाद्दण्डादारभ्य घ. २ दमो वृक्षेऽथ विश्रुते ख., 'दमा वृक्षं' A. ३ शिखायायिन्यः, ४ हरणं साहसं A. ५ यथेष्टविनियोग ग-घ. ६ त्वाद्विशेषेण ग.

पृष्ठ 321-322

टिप्प॰—1 नाप्रामाण्यम्, न वा विकल्पः, अपि तु विशेषस्य सामान्यापवादकत्वेनापहाररूपे विषयविशेषे द्वैगुण्यचातुर्गुण्यविधायकेन विशेषवाक्येन सामान्यविधायकं बाध्यत इत्यभिप्रायः।

पाठ॰—१ पाधिना भिद्यते घ. २ कुर्वित्येवं वाचैव कारयति घ.

पृष्ठ 332-33

पाठ॰—१ अर्घ्याक्रोशाति ख., A. २. न्स्पृशन् A. ३ शूद्रः प्रव्रजितानां ख. A. ४ पितापुत्र A. ५ ग्रहीष्यामीत्येवं ख.

पृष्ठ 333-334

टिप्प॰—1 केवलं तत्साक्षिणो दण्डो नात्रानुमतः; साक्षित्वोच्छेदापत्तेः, तदसत्त्वे च विवादावसानविरहापत्तेश्च; किं च यः कलहनिवारणसमर्थोऽपि तमनिवारन् साक्ष्यमङ्गीकरोति स दण्ड्या इत्याशयः।

पाठ॰—१ विक्रयापक्रमाधानयाचितेषु (= भाटकेनार्पणमपक्रमः, आधमनमाधानम्) V. २ शाल्मले फलके ख. ३ अष्टमभागोनं पणं मूल्यं ख-घ, ४ पादाद्यपचयेन ख. ५ द्विशतो दमः V. ६ तु A. ७ प्यष्टशतो दमः V.

पृष्ठ 334-335-336

टिप्प॰—1 तिर्यक्षु मूल्यविशेषेण, मानुषेषु ब्राह्मणत्वादिविशेषेण, राजपुरुषेषु तत्प्रत्यासत्तिविशेषेण दण्डस्य गुरुलघुत्वे कल्पनीये इति भावः।

पाठ॰—१ व्यवहारिकमुद्रितत्वं घ. २ चरन्दाप्यः घ. ३ राजमानुषे तूत्तमं घ., A. ४ दण्डानां. ५ हीनं क्षिपतः पणा दण्डस्तु A.

पृष्ठ 336-337

पाठ॰—१ विक्रयेऽष्टगुणो A. २ कार्ष्णायसे च घ. ३ समुद्र ख. ४-५ तु A. ६ भिन्ने भिन्नमूल्ये घ. ७ ह्रासे वृद्धौ वा साहस्रो दण्ड उच्यते A. ८ जानतां घ.

पृष्ठ 337-338

टिप्प०—1 अन्यथा परदेशविषये वक्ष्यमाणत्वे नात्रानुक्तौ न्यूनतेति हृद्यम्।

पाठ०—१ मभिहितो A. २ लाभकः A. ३ शेषः घ. ४ पारदेशे A. ५ वशाल्लाभः. कल्प्य ग. ६ नुग्राहकः A.

पृष्ठ 339

पाठ०—१ गणितं क्रमुकफलादि; तुलितं कर्पूरादि. ग.ग्र. २ 'श्चेदत्र' ख. ३ कुड्यपात्यघातादि ख.

पृष्ठ 339-340

टिप्प०—1 अनुचितमूल्येन विक्रयो हि अनुशय इत्युच्यते। 2 'तस्येहानुशयो भवेत्। सोऽन्तर्दशाहे तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा' इति तच्छेषः।

पाठ०—१ पण्यदोष A. २ सदृक्षं घ. ३ मूल्याच्च A.

पृष्ठ 341-342

पाठ०—१ यत्पण्यं दुष्क्रीतं ख. २ पदमधुना समभिदधाति घ. ३ रक्षित दशमांशभाक् A.

पृष्ठ 342-343

पाठ०—१ यद्राजयोग्यं ख. २ सव्याजक्रयविक्रयी (=सव्याजौ शौल्किक-प्रतारणावन्तौ) A. ३ ब्राह्मणंः प्रतिवेशानां A. ४ तरे—मनुस्मृतिः ५ तरो नावादिः घ. ६ संपूर्णानां ख.

पृष्ठ 343-344

टिप्प०—1 पूर्वं गवां प्रस्तुतत्वात् शतेन गवां शतेन तं यजमानं अध्वर्य्वादयो दीक्षयन्तीत्यर्थः। यतो दक्षिणाग्रहणेन यजमानयुता भवन्ति। यथा भुजिक्रियासाध्ये तृप्त्यात्मके कार्ये 'पयसा तृप्तिं कुर्वीत' इति पयोद्रव्ये विहिते तत्पयो भोजनसाधनस्यौदनस्य स्थाने निपतति तद्वदत्रापि दीक्षयन्तीति णिजर्थभूतं दीक्षाकारणं दक्षिणादानस्य कार्ये इत्याशयः।

पाठ०—१ विज्ञेयः घ. २ तद्धारयेत् घ. ३ वचने गवा घ.

पृष्ठ 344-345

टिप्प०—1 इदं 'स्यात्साहसं त्वन्वयवत्' इति मनुव्याख्यानुगुणम्। 2 इदं तु 'कृत्वाऽपह्नूते' इतिपरम्। 3 लोप्त्रं अपहृतद्रव्यैकदेशः, पांसुकर्दमादिवर्ती पादाङ्कः पदं तस्य पुरुषस्य पादेन संमितम्। यस्य गृहं प्रति नष्टदेशादारभ्य पदपरंपरा जाता सोऽपि चौर इत्यपरार्कः।

पाठ०—१ नियमो घ. २ पह्नवते च यत् घ. हृत्वापव्ययते-मनुः। ३ ग्रहणं घ. ४ नाशदिवसा.

पृष्ठ 345-346

पाठ०—१ नामजात्यादि A. २ गूढवासिनः घ. ३ लपित्य इत्येवं घ. ४ गृहमित्येवंविधं पृच्छन्ति घ. ५ प्रतिक्षिप्तं घ. ६ गतं.

पृष्ठ 347

टिप्प॰—1 विवीतः प्रचुरतृणकाष्ठो रक्ष्यमाणत्वेन परिगृहीतो भूप्रदेश इति पूर्वं 160 पद्ये विवृतमेव.

पाठा॰-१ स्ता वर्तयेत् घ. २ चौरस्य पदं ख. ३ लुप्येत ख.; मुच्येत ग. ४ वापराधः घ.

पृष्ठ 348-349

पाठा॰—१ चौर्यार्पणादिकं घ. २ समाहारोपये दशग्रामी वा. घ. ३ शूलमारोपये A. ४ अग्न्यागारा ग. ५ हस्तपादौ तु घ.

पृष्ठ 349

पाठा॰—१ गोव्यतिरिक्तेषु घ. २ तारतम्यभावोऽस्तीति घ.

पृष्ठ 350-351

पाठा॰—१ मत्स्यानामौषधस्य च. सर्वेषामपल्पमूल्यानां घ. २ गृहीतव्या मुष्टिरेका घ. ३ व्ययम् A.

पृष्ठ 351-352

पाठा॰—१ वक्ष्यते ग-क. २ भ्रूणपुरुष A. ३ प्रवासयेत् A. ४ अविज्ञातपुरुषेण ख. ५ तत्प्रदेश A.

पृष्ठ 353-354

टिप्प॰—1 यद्यप्ययं दाहकशब्दान्तो द्वन्द्वसमासः, तथापि यौगपद्यासंभवादाहखलमिति। 2 यस्य तृणस्योशीरं मूलं स तृणविशेषो वीरणम्; 'स्याद्वीरणं वीरतरं मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्' इत्यमरः।

पाठा॰—१ संभाषा निर्जने घ. २ समुदाहृतम् घ. ३ मपाश्रयः घ. ४ परस्त्रियाः B. ५ सहैकस्थानमेव B., A.

पृष्ठ 354

टिप्प॰—1 'स्त्री निषेधे शतं दण्ड्या द्विशतं तु दमः पुमान् इति व्य॰ मयूखे.

पृष्ठ 355-356

पाठा॰—१ अगुप्तैकाङ्गसर्वस्वैः घ. २ हरेत्कन्याम् घ. ३ त्वन्यथाऽधमम्; A. ४ सवर्णां तु प्राप्ति A. ५ स्त्वयथाऽधमः (=प्रथमसाहसः) A.

पृष्ठ 356-357

पाठा॰—१ दूषयंस्तुल्यो ख. २ विशेषात्सानुरागामकामां ख. ३ मिथ्याभिशंसिते; घ; मिथ्याभिशंसिता A. ४ पशुं गच्छञ्शतं दाप्यो हीनस्त्रीं गां A.

पृष्ठ 358

टिप्प॰—1 तस्या लक्षणं-'स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतःश्रयेत्' इत्युक्तम्। 2 सूतकादौ तु वचनादधिकराभावः, न स्वरूपेण; अत्र तु न वचनम्, नापि स्वरूपतः; यतो दास्यं नाम पारतन्त्र्यमेव, शिष्यत्वादिवत्; अतो न स्वधर्मत्यागः, येन साधारण्यं स्यादित्याशयः।

पाठा॰—१ यतस्ताः सपरपरिग्रहाः घ. २ स्वर्थाद्गम्यते घ. ३ मुत्कृष्टं घ.

पृष्ठ 358-359

टिप्प॰—1 परदासीं हठादपगच्छतो दशपणो दण्डः– अप.। 2 भाटिं सर्वमूल्यम्।

पाठा॰—१ उपगमनीया घ. २ अयोनौ गच्छतो. . . चाधिमेहतः. . . ॥ 292 ॥ ३ मनभिलषन्तीं घ. ४ घातदन्तनखा ख-घ.

पृष्ठ 360-361

टिप्प॰—1 आस्यपाम्वादौ पुरुषस्य शिश्नप्रक्षेपणं पुरुषमेहनम्।

पाठा॰—१ अन्त्याभिगमने... ॥292 ॥ A. २ वाभिमेहतः। विद्वान्दशपणो दण्डः V. ३ स्वेच्छया योषां घ. ४ त्वाङ्क्य. A. ५ कबन्धेन. A. ६ स्तथाऽङ्क्य. A. ७ नृपसमीपं घ. ८ र्णकि पुनर्ज्ञेया ख. 9 भेदश्च घ.

पृष्ठ 361-362

पाठा॰—१ न्यूनं वा घ. २ वाऽपि यो लिखेद्राज. A. वाऽप्यधि A. ४ चौरौ. A.: ५ द्विजं प्रदूष्याभक्ष्येण दण्ड्य उत्तमसाहसम्। क्षत्रियं मध्यमं वैश्यं प्रथमं शूद्रमर्धिकम् A.; अभक्षैर्दूषयन् विप्रं दण्ड उत्तमसाहसम् V. ६ द्रव्यरूपेण घ. ७ शब्दादङ्गच्छेदेन ख.

पृष्ठ 362-363

टिप्प॰—1 स्वामी रथी, प्राजकः सारथिः 2 आप्तो नाम निवारणसमर्थः—अप.।

पाठा॰—१ 'ण वाह्ययुग्म' A. २ तिर्यगपसरता घ. ३ आक्रन्दनेप्यपैहीति घ. ४ क्षुद्रकाणां पशूनां तु घ.

पृष्ठ 364

पाठा॰—१ मित्रस्तवादेः घ. २ चोपजापकान् घ. ३ न शारीरो दण्डः ख. ४ मध्यमसाहसः A. ५ हितेप्सु ख.

पृष्ठ 365

पाठा॰—१ सम्यग्दृष्टा तु दुर्दृष्टान्व्य A. २ द्विगुणं पृथक् A. ३ जयिसहिताः घ. ४ दुर्दृष्टता तदा ख. ५ रेकैकस्यैव ख.

पृष्ठ 366

पाठा॰—१ अन्यायेन तु यो दण्डो घ. २ राजभिर्दत्तदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥ एवमुद्धृतदण्डानां विशुद्धिः पापकर्मिणाम्। स्वधर्मस्थापनाद्राजा प्रजाभ्यो धर्ममश्नुते॥ यत्र दण्डविधिर्नोक्तः सर्वैरेव महात्मभिः। देशकालादि संचिन्त्य तत्र दण्डो विधीयते॥

पृष्ठ 367

टिप्प॰—1 अवटः= गर्तः। 2 अत्रादिपुराणे विशेषः– 'पूर्वामुखस्तु नेतव्यो ब्राह्मणो बान्धवैर्गृहात्। उत्तराभिमुखो राजा वैश्यः पश्चान्मुखस्तथा॥ दक्षिणाभिमुखः शूद्रो निर्हर्तव्यः स्ववान्धवैः।' इति।

पाठा॰—१ अत्राशुद्धशब्दस्य च व्यवहारेणाहिताग्नि ख. २ आश्मशानमनुव्राज्य

A. ३ मृतः.A. ४ नास्य ङ.५ शवश्च ङ.६ गायद्भिः क.

पृष्ठ 368

पाठ०—१ उदकदानात्मकं क. २ आहिताग्नेर्दानप्रक्रियया ङ. ३ आहिताग्नेः स्वगृह्याग्निना ङ.

पृष्ठ 369-370

पाठ०—१ प्राङ्मुखाश्च ख. २ कल्पनीयस्या क.

पृष्ठ 370-371

टिप्प०—1 आदिष्टी ब्रह्मचारी, आ व्रतस्य समापनात् आ समावर्तनादिति भावः।

पाठ० —१ स्य समान ङ. २ प्रेतानां चोदकक्रिया.A. ३ प्रत्तस्वस्रीय ङ. ४ प्रत्येकं कुर्युः ख. ५ आदाय. ६ त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति.

पृष्ठ 371-372

टिप्प०—1 ब्रह्मदण्डः ब्रह्मशापः। 2 कटः शवखट्वा।

पाठ०—१ पाषण्डाना A., V. २ आत्मघातिन्यो A. ३ विवक्षितम्। एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम् क. ग.

पृष्ठ 372

पाठ०—१ पूर्वैव वेदितव्यम् ख.

पृष्ठ 373-374

पाठ०—१ अर्चयेद्देवेशं क. २ देवरूपं क.ग. ३ सानुचाराय क.ङ. ४ विप्रेणाचम्य क. ५ वृद्धतमं.

पृष्ठ 374-375

टिप्प०—1 शोकनिरसने 'संयोगोऽभिमतो येषां वियोगः कथमप्रियः। संयोगो हि वियोगेन ग्रस्त एवाभिजायते। किन्तु खल्वसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि॥ यदा त्वामनुशोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम्। अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः॥ गत्वाऽसौ वेद न त्वन्तमतः किमनुशोचसि। नायमत्यन्तसंवासः कस्यचित्केनचित्तसह। अपि स्वेन शरीरेण, किमुतान्यैः पृथग्जनैः॥' इति चात्रोह्यम्।

पृष्ठ 375-376

पाठ०—१ 'प्रयत्नतः' A. २ 'आचम्याथाग्निमुदकं' A. ३ तत्क्षणाच्छुद्धि ङ, तत्क्षणाच्छुद्धिरन्येषां A.

पृष्ठ 377

पाठ०—१ स कटान्नं A. २ पृथक्पृथक्. ख.A. ३ रिणः सर्व इति क.

पृष्ठ 378-379

टिप्प०—1 याज्ञवल्क्यमते तु त्रिरात्रमेव पिण्डदानम्, अन्ये तु यावदाशौचमकैकः पिण्डो देय इत्याहुः—यथाह विष्णुः—'यादाशौचं प्रेतस्योदकं पिण्डमेकं च दद्युः' इति।

पाठा०—१ भूतपूर्वदग्धाः ङ.

पृष्ठ 379

टिप्प०—1 वितानस्त्रेता,तत्संबन्धिन्यो वैतानाः। अत्र केचिद्व्याचक्षते—विताने वेदे भवा वैतानाः, उपासने गृह्ये भवा औपासनाः, वैतानाश्चौपासनाश्च वैतानोपासनाः क्रिया इति;—तदेतद्व्याख्यानमरमणीयम्;तथात्वे वैतान्यौपासन्य इति शब्दापंत्तेः,न पुनर्वैतानोपासना इति ज्ञेयम्।

पाठा०—१ गुरौ मृते क.२ वैतानो A. चोदनाः A. ४ बध्यते क.

पृष्ठ 380

पाठा०—१ अनुज्ञातमन्न ख.

पृष्ठ 381-382

टिप्प०—1 उदकदानिनः=समानोदकाः; तल्लक्षणं चोक्तं मनुना—'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते। समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥' इति। एवंसंज्ञकादेषामस्माकं च संतानजन्मेति यावज्ज्ञानभावस्तावत्समानोदकत्वमित्याशयः। 2 इदं वचनं पूर्वमाचाराध्याये आलोचनीयम्

पृष्ठ 383

टिप्प०—1 समसंख्याकदिनापनोद्याशौचपरमेतद्वचनम्। यदाह बौधायनः—जनन्मरणयोः संनिपाते समानो दशरात्रोऽथो यदि दशरात्राः संनिपतेयुः आद्यं दशरात्रमाशौचमानवमाद्दिवसात्' इति।

पाठा०—१ अहोवृद्धिमत् ख.२ शावस्य ख.

पृष्ठ 384-385

पाठा०—१ पर्यंतं ङ.२ अत ऊर्ध्वं प्रसवो दशाहं घ.

पृष्ठ 385-386

पाठा०—१ सूतकाहोभिः ख.२ सद्यः शौचास्तु घ.

पृष्ठ 387

पाठा०—१ आशौचपूर्वदिनं घ.

पृष्ठ 387-388

टिप्प०—1 अन्त्यजेति। अन्त्यजादेरप्युपलक्षणमित्यर्थः। अत एवाभ्यर्हितत्वान्नृपस्यैव पूर्वनिपातः। 2 देशान्तरस्थे सपिण्डे मृते दशरात्रादाशौचकाले चानतिक्रान्ते श्रुते, दशरात्रेः शेषं यावदाशौचं भवति। अशेषेऽतिक्रान्ते दशरातादौ यदि तन्मरणं श्रुतं, तदा त्रिरात्रमाशौचं सपिण्डनामित्याशयः।

पाठा०—१ यावन्नाभ्युदितो रविः घ.२ यथातिथीति ख.३ विप्रगोनृपहतानामन्वक्षं A. ४ शौचमित्यर्थः न पुनः ख.५ स्यादशेषे त्र्यहमेव च A.

पृष्ठ 388-389

टिप्प॰—1 निर्दशं = निर्गतदशाहम्। 2 प्रोषितः देशान्तरस्थः; देशान्तरं चोक्तं 'देशान्तरं वदन्त्येके षष्टियोजनामायतम्। चत्वारिंशद्वदन्त्यन्ये त्रिंशदन्ये तथैव च॥' इति।

पाठ॰—१ मिति स्थितिः ख. २ प्रोषिते सर्वेषां ख. ३ वैखानसो वानप्रस्थः.

पृष्ठ 389

टिप्प॰—1 'सर्वेषां वत्सरे पूर्णे प्रेते दत्वोदकं शुचिः।' अयं विशेषोऽपरार्के।

पाठ॰—१ पुनरुपरते ख. २ त्रिरात्रं वेति ख.

पृष्ठ 390-391

टिप्प॰—1 आ दन्तजन्मन इति। श्लोकोऽपरार्के न व्याख्यातः।

पाठ॰—१ स्वाम्याशौचेन ख. २ ऽनधिकारस्तु क. ङ. ३ कर्म द्वितीये ख. ४ क्षिपेत्तत्र्यहमेव क.

पृष्ठ 391

टिप्प॰—1 अकृतचूडायाम्। 2 अपरिणीतानां स्त्रीणां भर्तृपक्ष्याः कुमारस्य चौलादूर्ध्वं उपनयनात्प्राङ्मरणे यस्त्रिरात्रयात्मकः कल्प उक्तस्तेन शुद्ध्यन्तीत्याशयः।

पाठ॰—१ कुलवर्णधर्मापेक्षया घ. २ मुपस्पृश्य इति ग. ३ इति वसिष्ठस्मरणात् घ.

पृष्ठ 392-393

पाठ॰—१ यदूर्ध्वं ख. २ संबन्धा उप ख. ३ समारभेत् घ ४ त्मादिसंबन्धे ग.

पृष्ठ 393

पाठ॰—१ तदा A. .

पृष्ठ 394-395

पाठ॰—१ वह्निस्पृग्घृत A. २ चेच्छन्ति पार्थिवा A.

पृष्ठ 395-396

पाठ॰—१ रक्षार्थं शायनं ग. २ भृत्या वैद्या दासास्तथैव च. घ. ३ वरणकरणसंगता ग. वरणाभरणसंभृता ङ. ४ याजमानेषु ख. ५ स्नानविध्यर्थं ख. स्नानविशुध्यर्थं ग.

पृष्ठ 396

पाठ॰—१ तस्मादन्यस्य ख. २ प्रवृत्ते ग. ३ त्रोपलक्षकम् ग. ङ.

पृष्ठ 397-398

पाठ॰—१ श्रुतिचोदिताः घ. २ क्वचित्कर्मविशेषे इदं ख. ३ ब्रह्मानध्ययनकृतायां ग. ४ शुद्ध्यतीति। इत्या ख. ५ उदक्याशौचिभिः A.

पृष्ठ 398-399

पाठ॰—१ बहुवचनादरः २ पूयश्मशाना. ३ शवस्पृशं घ ४ गायत्रीमष्टवारं जपेत् ख. ५ शवस्पृशं ग. ६ पूयं.

पृष्ठ 400

पाठ॰—१ च्चाण्डालाद्यचेतन ख.२ तमेव तु स्पृशेत् ख.

पृष्ठ 400-401

पाठ॰—१ अशुचिनां पुनः ख.२ शवदाहकं ङ.३ जले इत्यादि.४ नद्यास्तु A. ५ सोऽथ A.

पृष्ठ 402

पाठ॰—१ शोधनम् ङ.२ न्द्रियसंबन्धो ङ.३ जाग्रत्स्वप्न ख.४ तत्त्वमसीत्यादि ख. ५ परमात्मशुद्धिः ख.

पृष्ठ 402-403

पाठ॰—१ साधारणे हि ते इति ख.

पृष्ठ 404

पाठ॰—१ रसक्षारदधि क्षीरघृतं जलम् A. २ मधूच्छिष्मधुलाक्षाः सबर्हिषः A. ३ कुतुपकेश ख.४ नीली A. ५ उपलं माणिक्यादि ख.६ अजोर्णलोमकृतः ङ.७ गौतमस्मरणात् क.ङ.

पृष्ठ 405-406

पाठ॰—१ कृष्यां तु क. ख. २ नत्वेवं लवणं ख. ३ नीयमिति यावत् क. ख. ४ निगच्छति ख.५ भुञ्जानोऽपि यत A. ६ हीनतरस्ततो ख.७ वा नैवेनसा ख.

पृष्ठ 406-407

पाठ॰—१ सेवाऽनूपो A. २ भोक्ष्यमापत्तौ ख.३ न्यप्यनुज्ञायन्ते ङ.४ रूपकरणादि ङ.५ तथाऽऽख्ये A. ६ धान्यमाहरेत् ७ नाष्टिकेन ङ.८ ममापहृतमिति ख.९ योशनया ख.

पृष्ठ 407-408

टिप्प॰—1 'अर्धाधानं स्मृतं श्रौतस्मार्ताग्न्योस्तु पृथक्कृतिः। सर्वाधानं तयोरैक्यकृतिः पूर्वयुगाश्रया।' त्रेतापरिग्रहः= सर्वाधानम्.

पाठ॰—१ राज्ञो दोषः ङ.२ वानप्रस्थो वनवासे ख.२ दर्शमास्कन्दयत् ग.ङ.

पृष्ठ 409

पाठ॰—१ तन्निरपेक्षेणाधिकारः ङ.२ व्रात्येऽहनि ङ.३ लम्भिका ङ.४ अवरुध्य यजेतेत्यवरोध.क.ख.५ नाग्निमाधाय ख.६ अकालकृष्ट ख.

पृष्ठ 410-411

पाठ॰—१ अर्थाय A. २ श्रौतस्मार्तं A. ३ कुर्यात्क्रियास्तथा A. ४ सदा कृच्छ्रैश्च वर्तयेत् A. यातेऽन्नमश्नी A.

पृष्ठ 411-412

पाठ॰—१ शुचिर्भूमौ स्वपेद्रात्रौ दिवसं प्र A. २ चन्दनैर्यो विलि A.

पृष्ठ 413

पाठा॰—१ वीराधानं ङ.

पृष्ठ 414

पाठा॰—१ वानप्रस्थधर्मान् ङ. २ सर्व A. ३ गृहस्थोत्तराश्रम ख.

पृष्ठ 415-416

पाठा॰—१ शान्तः करणोपरतः क. २ मनोपरिग्रह. ङ.

पृष्ठ 417

पाठा॰—१ नाभिलक्षित ङ. २ प्रसज्जेत् ङ.

पृष्ठ 419

पाठा॰—१ भिक्षाहरणप्रयोग ङ. २ विहाय A. ३ अपकारणेन ङ. ४ मोक्षप्रसाधनत्वात् ङ. ५ रूपविपर्ययाः ङ.

पृष्ठ 419-420

पाठा॰—१ संदृश्यः सूक्ष्म A. २ सर्वधर्म उदीरितः A.

पृष्ठ 421-422

पाठा॰—१ स्पन्दतया कथं ख. २ भयाश्रयम् A. ३ हेतुपुण्यापुण्यादेर्बौद्धा ङ.

पृष्ठ 422-423

पाठा॰—१ रसवदुदकम् ख. २ सूर्यस्तस्माद्वं A. मुपगच्छति A. ४ रम्भकरणे दुष्ट ख.

पृष्ठ 424

पाठा॰—१ कोष्ठपवन ङ. २ संपर्काद्द्रवीभूतं ङ. ३ शब्दश्रोत्रबला A. ४ प्रकाशताम् A. ५ रसेभ्यो A.

पृष्ठ 425-426

पाठा॰—१ दोहदस्याप्रदानेन ङ. A. २ द्विहृदयायाः स्त्रिया ङ. ३ दोहदम् ङ. ४ सक्थिसीदनं ङ. ५ रनुबन्धः ङ. ६ वाऽपि A.

पृष्ठ 427-428

टिप्प॰—1 अन्यद्वक्ष्यमाणं षडङ्गत्वादिकमनियतमिति सूचनार्थं पुनः 'षट्' पदोपादानमत्रेति ज्ञेयम्।

पाठा॰—१ पुनर्गर्भं पुनर्धात्री A. २ तथाष्टम ङ. ३ मासि A. ४ त्वचं A. ५ तथास्थीनि सह A.

पृष्ठ 428

टिप्प॰—1 यद्यपि 'अरत्नि'शब्दो बाह्म एव प्रोक्तस्तथाप्यत्रास्थीनां चतुःसंख्यासंपत्त्यर्थं प्रयुज्यमानः समस्त एव हस्तोऽत्र ज्ञेयः।

पाठा॰—१ तासां A. २ पञ्चदशास्थीनि जत्र्वेव च A.

पृष्ठ 429-430

टिप्प॰—1 'नव कपालं वै शिरः' इति श्रुतिस्तु मुखसहितशिरः परा, अत्र तु मुखरहितानि शिरांस्यभिमतानि इति न कोऽपि विरोधः।

पाठा॰—१ पायुरुपस्थश्च A. २ च A. ३ जानीत म A. ४ हृदयः A. ५ भिप्रायेण ङ.

पृष्ठ 430-431

पाठा॰—१ क्लोमा ख. २ वृक्कको A. ३ कोष्ठौ विस्तरोऽय A. ४ दन्तावेष्टावेष्टौ कुकुन्दरे A. ५ संघातकौ A. ६ पिण्डिकाः A. ७ चिबुकं A. ८ अवटु A. ९ अक्षिवर्त्मचतुष्कं A.

पृष्ठ 432

पाठा॰—1 लक्षाश्च A. 2 केशश्मश्रु शरीरिणाम् A. 3 एको नु वेदैषां ङ. 4 वेदैषां A.

पृष्ठ 433-434

पाठा॰—१ मज्जैकोऽर्धं A. २ च A. ३ हिता नाम हि ता नाड्यः A.

पृष्ठ 435

टिप्प॰—1 जीवपरमात्मनोरभेदविज्ञानं विषयान्तरासंभिन्नं योगः; 'आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः। तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते' इति वचनात्। 2 इदमेवोक्तं भगवता गीतायाम् (6।25)—'शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥' इति।

पाठा॰—१ यथावधानेन पठन्साम गायत्यविस्वरम् A. २ स्तथाऽभ्यासात्प A.

पृष्ठ 435-436-437

पाठा॰—१ अनुस्मृतात्मैक क. २ अपरान्तिक A. ३ मकरीं ख. ४ त्रैवेणुकं सुराबिन्दमु A. ५ ऋग्गाथाः A. ६ ब्रह्मगीतिकाः A. ७ गायन्नेतत्त A. ८ प्रयत्नेन A. ९ गीतप्रमाणं कल्प्यते ख. १०. गीतेन A. ११ भूत्वा सह तेनैव क. ङ.

पृष्ठ 437-438

पाठा॰—१ आत्मनश्च A. २ संभूताश्च पृथिव्यादिभूतसंघाताः जीवानां ङ. ३ विराट् च A.

पृष्ठ 438-439

पाठा॰—१ त्यागात्संभूतो A. २ तन्मण्डलमसौ A. ३ प्रत्युपनीयते क. ४ भिहितसंज्ञात्पुनरन्नं क.

पृष्ठ 440

पाठा॰—१ शिरस्तो A. २ तत्तज्जन्मेत्युच्यते ङ. ३ करणेनान्वितस्य ख. ४ पूर्वज्ञानं कथं च न A. ५ सर्वज्ञोपि ङ.

पृष्ठ 441-442

पाठा०—१ अनन्ता हि A. २ इह चामुत्र चैकेषां A. ३ योनितां प्राप्नोतीति ङ. ४ पुरुषस्तथा A. ५ पूर्वावृत्त्यादि ख.

पृष्ठ 443

पाठा०—१ स्थावरेषूपजायते A. २ धर्मकृद्वेदविद्याति सात्विको A. ३ तारतम्यादुत्कृष्ट ४ पुनर्जन्माधिगच्छति A.

पृष्ठ 444-445

पाठा०—१ अन्तःकरणादेर्ज्ञान ख. २ कदूर्वारौ A. ३ ज्ञाता वाप्नोति वेदनाम् A., यो न वाप्नोति क. ४ त्मिकादिबहुरूपां ख.

पृष्ठ 446

पाठा०—१ सृजत्यात्मानमात्मैव A.

पृष्ठ 447-448

पाठा०—१ अतीतार्थस्मृतिः क. ग., अतीतार्था A. २ विषये सक्तः A. ३ सिद्ध्यर्थं ङ. ४ संप्लुतः A. ५ ज्ञेये च प्रकृतौ विकारे चावि A. ६ अनाशकानलापात A.

पृष्ठ 449

पाठा०—१ वेदशास्त्रस्य च विवेचनम् A. २ स च योग्य A.

पृष्ठ 450-451

पाठा०—१ अविप्लुतस्मृतिः सम्यग्जाति. २ जातिस्मरतयामियात् A. ३ यत्स्वयं दुःसंस्कार ख. ४ जन्मतः ५ स्वपितृकारणबीज ख. ६ आराध्यनियत ङ.

पृष्ठ 451-452

पाठा०—१ देहसंक्ष्यः A. २ नेकवर्तिनीनां ङ. ३ स्थितानां पटुतरदोधूयमान ङ. ४ कर्बुनीलाः कपिलाः पीतलोहिताः ङ; बभ्रुनीलाः A.

पृष्ठ 453

याठा०—१ रश्मयश्च ख. २ मितप्रभाः A. ३ विद्यमानं सर्वस्य जगतस्था A. ४ कारणगुणप्रक्रमेण. ङ. ५ रिक्तचैतन्यादि ख.

पृष्ठ 454

पाठा०—१ उन्मेषश्चेतना A. २ लिङ्गानि दृश्यन्ते A. ३ सर्वज्ञ A. ४ श्लोकेऽनुगमन ङ. ५ द्योतकतया क.

पृष्ठ 456

पाठा०—१ स्तस्य प्रकीर्तिताः A. २ हि सः A. ३ तस्यवाविशिष्टस्य ख.

पृष्ठ 457

पाठा०—१ सत्यवदन ख. २ अष्टाशीतिसहस्राणि A. ३ पुनरावृत्तिनो. A. ४ समागमः ङ. ५ सप्तर्षिनागवीथ्यन्ते.

पृष्ठ 458-459

पाठा॰—१ यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित् A. २ समग्रैरेवमेव A. ३ य एवमेनं ख.

पृष्ठ 460

पाठा॰—१ न्यस्येतरं करम् ङ.

पृष्ठ 461-462

टिप्प॰—1 'सिद्धे योगे' इत्यन्तं यावत् यतिविषयकमभिहितम्, संप्रति वानप्रस्थविषयकमाह– अथवेत्यादिना। अयाचिताशी स्वयमुपनतान्नसेवी, मितभुक् केवलं प्राणधारणस्य कृते एव भोक्ता, न्यस्तकर्मा काम्यनिषिद्धकर्मत्यागीति भावः।

पाठा॰—१ धारणामवधारयन्. २ सिद्धेश्च; सिद्धिर्हि ख. ३ अणिमा प्राप्त्या ख. ४ कारणनिरपेक्ष क. ग.

पृष्ठ 462-463

पाठा॰—१ पारिव्रज्य ख. २ वेणानां ख.

पृष्ठ 463

पाठा॰—१ योनीः ख. २ गोवाजिमृगपक्षिणाम्. ३ पुष्कसानां च ङ.

पृष्ठ 465

टिप्प॰—1 हीनजातिः शूद्रादियोनिरित्यन्ये। 2 गोधा बिलेशयः शिशुमारसदृशः प्राणिभेदः।

पाठा॰—१ शकटविलाख्यः ङ. २ वरटाख्यः ङ. ३ पृष्टाकोटेन. ख.

पृष्ठ 466

पाठा॰—१ ब्रह्मस्वहरः ख. २ मृष्टैकाशी ३ खण्डकारः ख. ४ अस्थूलजङ्घ ङ. ५ अवगूरणी ख. ६ मिष्टैकभोजी ङ. ७ हृत्वा दोषं ख. ८ नच प्रारब्ध ख. ९ सत्तां पुनरपेक्षते ख. १० कारणभूत ख-ग. ११ मनुभूय तस्य ख.

पृष्ठ 467

टिप्प॰—1 दारिद्र्यद्यशुभलक्षणोपेता इति भावः।

पाठा॰—१ प्राचीननयात् क. ख. २ संव्यवहारार्थत्वस्यापि ख. ३ यया कर्म ख.

पृष्ठ 468-469

टिप्प॰—1 मित्रदेवताकत्वान्मैत्रः पायुस्तदेवाक्षं कर्मेन्द्रियं तत्र ज्योतिर्यस्य.

पाठा॰—१ च भावरूप क. ग. २ यद्यप्यनुप ख. ३ नाभावरूपविहिताकरणं ख. ४ परिपाकजननाद्धातु ख. ५ विप्रो भवति विच्युतः ग. ङ.

पृष्ठ 469-470

पाठा॰—१ प्रायश्चित्तनिमित्त ङ. २ लोकश्चायं संव्यव ख. ३ धिकारशङ्का ङ. ४ अपश्चात्तापिनो यान्ति नरकानतिदारुणान् A. ५ दुःखादान् ङ. ६ महारौरवशाल्मलिम् A. ७ नदीपथम् A. ८ तपनं ग.

पृष्ठ 471

टिप्प०—1 तथा चाह छागलेयः—'प्रायश्चित्तमकामानां कामावाप्तौ न विद्यते, उपपातक एव स्यात्तथा चात्मोपघातिने ॥' इति । तस्यायमाशयः—कामसहिते पापे प्रायश्चितं पापक्षयतया न विद्यते। उपपातकात्महत्ययोस्तु कामसहिते वर्तत इति। मरणान्तिकप्रायश्चित्तानां पापक्षयः स्पष्ट एव ।

पाठ०—१ धिगता शूद्रा त्वज्ञानात्तु ख. २ ज्ञानात्तद्द्विगुणं ग.; ज्ञाने तु द्विगुणं ङ. ३ इत्याद्यपूर्ववचनैः ङ. ४ अन्यतराभावेऽपि ग. ५ विद्यमानस्याप्रवृत्ति ङ.

पृष्ठ 471-472

पाठ०—१ नेष्ट्वा ब्रह्मचर्यं चरेदुपनयनत इति सर्वं पाप्मानं ख. २ ब्रह्महा सुरापो गुरुतल्पगो मातृपितृ ख. ३ संबन्धावगम ङ. ४ पापक्षयं प्रति प्रतिपादन ङ. ५ नास्यास्मिल्लोके क. ग.

पृष्ठ 473

टिप्प०—1 'गुरुतल्पं, सुरापानं, ब्रह्महत्यां ब्राह्मणसुवर्णहरणं, पतिसंयोगं' इत्यत्र स्पष्टीकरणात्, तथा चाग्रे स्वयं 'ब्राह्मणस्वर्णहारी' इति ।

पाठ०—१ संपिबेत्समाम् A. २ वियोगकरणे ख. ३ समर्थं प्रवर्तयति ङ. ४ तादृशमननस्य ख.

पृष्ठ 474

पाठ०—१ तथान्योपि ख. २ फलगुरु ख. ३ देवकुलतडाग. क.ग.ङ. ४ तडागकर्त्रादयो ख. ५ दप्यफलत्वम् ख. ६ मता कारणं ङ. ७ नास्ति प्रसंगः क.

पृष्ठ 475-476

पाठ०—१ मन्युनात्मानं ख. २ कर्ता धनदाना ङ. ३ ततः क. ४ मुत्कर्षं च ङ. ५ द्द्विज.

पृष्ठ 476-477

टिप्प०—1 वाङ्मनःकायकर्मणामनार्जवमित्याशयः। 2 यच्चोक्तं विष्णुना- 'ब्राह्मणस्य भूमिहरणं निक्षेपहरणं च सुवर्णस्तेयसमम्' इति ।

पाठ०—१ विषयं यज्जेह्यमिति ख. २ विशेषत्वेन ङ. ३ गुरुत्वमवगम्यते ख.

पृष्ठ 477

पाठ०—१ गर्हितान्नाद्ययोः २ गच्छंश्च A. ३ वधस्तत्र ख. ४ स्तथा A. ५ दण्डार्थः ख.

पृष्ठ 478-479

पाठ०—१ वर्ष्मसंक्षयात् ङ. २ चानपक्रिया क. ग. ३ परिवेदक ङ.

पृष्ठ 479-480

पाठ०—१ संबन्ध्यर्णस्या ख. २ साधिकारत्वाविशेषां ङ. ३ वृत्त्युपजीवित्वम् ङ. ४ प्रतिषेधे ङ.

पृष्ठ 480-481

टिप्प॰—1 मृगयादीन्यष्टादश व्यसनानि मनुस्मृतौ (7 श्लो.47-53) 'मृगयाऽक्षो दिवा(स्वप्न) परिवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजजो दशको गणः। । पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥ द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः। तं यत्नेन जयेल्लोभं दुष्टा (तज्जा) वेतावुभौ गणौ ॥ पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः। पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते । व्यसन्यधोधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥' इति ।

पाठा॰—१ करणेन ङ.२ च मैथुनं पुंसि.३ श्वासगोत्रायाः ख.

पृष्ठ 481

पाठा॰—१ पैशुन्यम् ख. २ गुल्मलतौषधीनां क. ग. ३ स्यानपक्रिया ग. ४ नुपातकत्वेन ख.

पृष्ठ 483

टिप्प॰—1 तत्र भिक्षानियमश्चोक्तो वसिष्ठेन—'सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षम्' इति ।

पाठा॰—१ ब्रह्महा द्वादशसमा.२ सर्वभूतहिते ग.३ चीरवासा जटी ख.४ ण्येवात्र मृष्टं लभ्यते नात्रेत्येवमसंकल्पितानि ख.५ तथा सायंकाल एव ख.६ संयतःपुमान् क.७ भिक्षां चरेत् ख.ङ.८ खट्वाङ्गपाणिः ख.९ ङ.पुस्तके १० स्थानाशनाभ्यां ङ.

पृष्ठ 483-484

पाठा॰—१ साधारणस्मरणत्वात् ख.२ किं तत्र द्वित्रिब्राह्मणवधे ङ.३ द्वित्रिब्राह्मण क। ४ द्विगुणं चरेत् ख.५ नैमित्तिकमावर्तते ख.

पृष्ठ 484-485

टिप्प॰—1 अस्थिरहितानां प्राणिनां शकटपरिमितानां वधे इत्यर्थः। गुणवदुपरि आत्मघाती वा.

पाठा॰—१ परममिति ख.परमेव ग.२ वृत्तिप्रायश्चित्त ङ.३ वर्षैकेण विशुद्ध्यति ङ.

पृष्ठ 485-486

पाठा॰—१ भागिनो भूय ख. २ तथार्वाक्तु ख. ३ पुत्रहिताचरणे ख. ४ प्रयोजकाभावापन्न ङ.५ सिद्धिरुच्यते ङ.६ मनुष्ठेयेन ख.

पृष्ठ 486

पाठा॰—१ रूपतया विशेष.२ समुच्चयपरं ख.३ द्योक्तत्वात् ख.

पृष्ठ 487-488

पाठा॰—१ समस्यावधि ङ.२ कस्य वासंपूर्णोऽपि ख.३ स्नाने च ख.४ विशुद्ध्यति ङ.५ स्नात्वा शुद्ध्येत् ख.६ सर्वस्वजान्यां,सर्वस्व–याज्याव्यां ङ.७ भोजयित्वा ङ.

पृष्ठ 488-489

पाठ॰—१ वार्तिनामग्निविदामग्नि ख. २ वा A. ३ त्रिवारं क.

पृष्ठ 490

पाठ॰—१ स्वाहेति हि A. २ मज्जान्तं A. ३ भ्रूणहाग्निम् ४ हविष्कामो होम इति ङ. ५ गृह्यं वा निर्वपेच्छ्रौतं ङ.

पृष्ठ 491

पाठ॰—१ द्वादशवार्षिकषड्वार्षिकत्रैवार्षिकादिषु साक्षाद्धन्त्रादिषु ङ. २ शुध्यत्यथ मिताशी वा A.

पृष्ठ 492

पाठ॰—१ ब्रह्महा विप्रमुच्येत ङ. २ वीरासनेन संवत्सरे ङ.

पृष्ठ 494

पाठ॰—१ हन्ता A.

पृष्ठ 495-496

पाठ॰—१ रविपर्ययात् ङ. २ कार्यमात्रं ङ. ३ माप्नुयात् A.

पृष्ठ 496-497

पाठ॰—१ पाधिकत्वेन घ. २ नेकशक्ति ङ. ३ मद्यस्य व्यतिरेक ङ.

पृष्ठ 498

पाठ॰—१ निन्दितत्वावगतौ ङ.

पृष्ठ 498-499

पाठ॰—१ चरेद्ब्रह्महणि व्रतम् A. २ भक्षयेत्तु समां निशि A. ३ संभवे श्रूयमाणस्वसंबन्धि स्वयं ख. ४ पिण्याकपिण्डान् ङ. ५ तंदुलावणवस्तान्वा ङ.

पृष्ठ 500

पाठ॰—१ अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा A.

पृष्ठ 502

पाठ॰—१ शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामा.

पृष्ठ 503

टिप्प॰—1 मनुस्मृतौ तु—'गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्। वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु॥'

पृष्ठ 504

पाठ॰—१ द्विजाधमः २ तन्निर्दाप्यात्मशुद्धये.

पृष्ठ 505

पाठ॰—१ द्वै विप्रतुष्टिदम् A.

पृष्ठ 506

टिप्प॰—1 गद्याणेति। किंचिदधिकशास्त्रीयमाषत्रयेत्यर्थः। टंकपरिमितेत्यर्थ इति केचित्।

पाठ॰—१ न तर्ह्यनन्तरं ङ. २ लोभात् ङ.

पृष्ठ 507

पाठ॰—१ गुरुतल्पगमन ङ. २ सुप्यादायस्या A. ३ तल्पोऽभिभाष्यैनः ङ.

पृष्ठ 509

पाठ॰—१ गुरुत्वत्येष्टत्वात् ङ. २ समश्नन्वै ङ. ३ समां A.

पृष्ठ 511-512

पाठ॰—१ मेवात्र कल्पनया ङ. २ दूर्ध्वं कामतो ङ. ३ धिकारान्मरणा ङ.

पृष्ठ 512

पाठ॰—१ चण्डालाद्यां ग.

पृष्ठ 513

पाठ॰—१ पातकित्वा ख. २ अतिदेशकत्वे ङ. ३ इति सर्वं निरवद्यं ङ. ४ तैरिति सर्वनाम ख. ५ तस्मिन्नेव ङ.

पृष्ठ 515

पाठ॰—१ भ्यस्तेनेति ङ. २ मर्धकृत्या ङ.

पृष्ठ 517

पाठ॰—१ प्राजापत्यं वाऽतिकृच्छ्रं A. २ वोपोष्य A.

पृष्ठ 519

पाठ॰—१ प्रदेशाशनजनित ङ. २ तेन. ३ अग्नि. ४ सर्वप्राणैर्विमोषयेत् ङ.

पृष्ठ 520

पाठ॰—१ सप्रतिज्ञं ङ. २ प्रायश्चितं पृथक्तत्र धर्मशास्त्रे विधीयते ङ.

पृष्ठ 521-522

पाठ॰—१ बन्धनादि ख. २ बन्धने तथा क। ३ लगुडैर्वापि ङ. ४ तत्रावरोधादिना ङ. ५ संरक्षणं ङ. ६ द्वाविंशत्यहः ङ. ७ अविदोहा. ख.

पृष्ठ 522-523

पाठ॰—१ मोचनेऽपि वा ङ. २ मौञ्जैर्न च शृङ्खलैश्च ङ. ३ गोकृच्छ्रार्धं भवेत् ङ. ४ अतिदोहातिदमने ङ. ५ मृतापि वा ङ. ६ गूढगर्भ ङ. ७ व्याघ्रादि ङ ८ श्रृङ्गभङ्गेऽस्थिभङ्गे वा. ङ.

पृष्ठ 523

पाठ॰—१ द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य.

पृष्ठ 525

पाठा०—१ यस्योपनयने आपद्भावेन ङ.२ कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति.

पृष्ठ 525-526

पाठा०—१ हरतोऽभ्यधिको वधः ङ.२ घ्राणामेव ङ.३ कणान्नता ङ.

पृष्ठ 526-527

पाठा०—१२ क्लृप्तानां ङ.२ अधिकमिदं ग.पुस्तके ३ मानोन्नतसंकीर्ण ङ.

पृष्ठ 528

पाठा०—१ अधीयानस्य नाशितं ख.

पृष्ठ 528-529

पाठा०—१ मवकीर्णी ङ.२ द्विवार्षिकवार्षिकषाण्मासिकानि ख.२ त्रैवार्षिकानां ख. ४ तिष्ठेत्तत्पापमोक्षतः इति ङ.५ भार्यायां द्रष्टव्यम् ङ.

पृष्ठ 529-530

पाठा०—१ धनुरन्तःपाती भागो ङ.पुस्तके नास्ति २ वरुडी तथा ङ.

पृष्ठ 530-531

पाठा०—१ दैन्दवं स्मृतम् ख.२ वैश्यसंगमे ङ.

पृष्ठ 531

पाठा०—१ दकामादैन्दवद्वयम्.२ संमिते कर्षे ङ.

पृष्ठ 532-533

पाठा०—१ वृषभैकसहस्रा A. २ वैश्यहा त्वेतत् ङ. ३ व्रतमब्दमेकं ङ. ४-५ बृहद्धारीतोक्तं ङ.

पृष्ठ 534

पाठा०—१ दुर्वृत्ता ब्रह्मनृपविट्शूद्रयोषाः A.

पृष्ठ 534-535

पाठा०—१ व्यापादितास्तदा ङ.२ वा A.

पृष्ठ 536

पाठा०—१ उपस्पृशेत् ङ.२ क्रव्यादे तु वत्सिकाम् A. ३ वकादयः ख.

पृष्ठ 539

पाठा०—१ कृसरं भोजयेत् ङ.२ शशशल्लूक ङ.३ वृक्षगुल्मलतानां च च्छेदने A.

पृष्ठ 539-540

पाठा०—१ दण्डानुसारात् ङ.२ साधारणप्राप्तं प्रायश्चित्तं क.३ दष्टश्चोष्ट्रादि ख. ४ मूषिकाप्लव ख.५ विशुध्यति ङ.६ सव्रता ख.

पृष्ठ 540-541

पाठ०—१ चोपचूलनं.२ षड्रात्रं च तदा प्रोक्तं प्राजापत्यं विशोधनं ङ.३ एताभ्यां स्कन्नं रेतोऽनुमन्त्रयेत् A. ४ भ्रवोर्वाऽपि तथा नामिकया A. ५ वक्ष्यमार्णत्वात् ङ. ६ दृष्ट्वाऽम्बुनि वै जपेत् A. ७ चापले वाऽनृतेऽपि च A.

पृष्ठ 542

पाठ०—१ निष्ठीविते ङ.

पृष्ठ 543

पाठ०—१ गार्हस्थ्यासंभवः परिग्रहश्च ङ.

पृष्ठ 544

पाठ०—१ अयं धनुश्चिह्नगो भागोऽधिकः ङ. पुस्तके २ भाविनस्तत्र ख. ३ अवगोरण ङ.४ प्रयुक्तं अत एव.

पृष्ठ 545-546

पाठ०—१ हुत्वा चाऽऽज्याहुतिद्वयम् । उपस्थानद्वयं कुर्यात् A. २ समायमद्भि ख.३ हयादीनारुह्य ख.४ वासोगृहादीनां ङ.५ शेषो व्रतानि A.

पृष्ठ 546-547

पाठ०—१ प्रहितो म्रियते यदि A. २ पृथक्त्वनिवेशिनी क. ३ इदमर्धं ङ. पुस्तक एवाधिकमस्ति.४ गोश्चिकित्सार्थे ख।

पृष्ठ 547-548

पाठ०—१ समाख्याने २ नोपपतनीयेन वा ङ. ३ नोपि ततो न्यूनं ङ.४ निर्वपेत पुरोडाशं वायव्यं चरुमेव वा A.

पृष्ठ 548-549

टिप्प०—1 'देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि' इत्यादिकं शाकलशाखायं सूक्तं प्रोक्तम्, तेन मासपर्यन्तं होमः कार्यः।

पाठ०—१ सगोत्रे ङ.२ कामतोऽकामतो वापि ङ.

पृष्ठ 549-550

पाठ०—१ चापरा ङ.२ दीनि कामज़ाति ङ.

पृष्ठ 551

पाठ०—१ नाध्यापयेद्य एता ख.२ यस्तु वेदं ङ.

पृष्ठ 552

पाठ०—१ श्राद्धप्रकरणे ङ. २ कृच्छ्रमब्दं ङ. ३ कूटव्यवहारी मित्रध्रुक् ख. ४ परिविन्दकयाजन ङ.५ शक्तिगुणापेक्षया क.६ व्यवस्थापनीयानि.

पृष्ठ 553

पाठ०—१ द्विजकार्येषु ङ.

पृष्ठ 554

पाठ॰—१ हीनस्त्रीनिषेवण ङ.२ पूर्वाभ्यासे.

पृष्ठ 555

पाठ॰—१ जप्यनिरतः ख. २ निरतो मुच्यतेऽसत्प्रति A. ३ दिकं गृह्णाति ङ. ४ पूर्णमासे प्रमुच्यते.५ मात्रे गृहीत्वा तु ख.

पृष्ठ 556-557

पाठ॰—१ भक्षायाः ङ.२ सप्तरात्रं पयः पिबेदिति क.३ खराणां च क.

पृष्ठ 557-558

पाठ॰—१ गव्यं मांसम् २ संस्कारश्च देवद्रोण्यां ख.

पृष्ठ 559

पाठ॰—१ तदि्द्वजस्याहुर्भुक्त्वा ङ.२ शुष्कपर्युषित ङ.३ शुचिभोजने ङ.४ पुष्कस ङ.

पृष्ठ 560

पाठ॰—१ द्रष्टव्यं ङ. २ संस्पृष्ट ङ. ३ भिर्वेत्यभिहितं ख. ४ उच्छूनतयाभिन्नं ख. ५ जायते ख.

पृष्ठ 560

पाठ॰—१ कोशविनिःसृतं वा ङ.

पृष्ठ 562

टिप्प॰—1 फाणितं इक्षुरसविकारः काकवीति भाषायां प्रसिद्धम्.

पाठ॰—१ क्षिपते ख. २ चाग्रं क. ३ दुष्टान्नभोजने ख.

पृष्ठ 563

पाठ॰—१ मासिके ङ. २ प्रायश्चित्तं ङ. ३ द्विरात्रम्.

पृष्ठ 564

पाठ॰—१ पतितान्नमवेक्षितम् ङ.

पृष्ठ 564-565

पाठ॰१ तथा तस्यैव भोजनं ङ.२ अज्ञानाद्भोजने ख.३ ततः शुचिर्भवेद्विप्रः पञ्चगव्यं पिबेन्नरः इति ङ.४ द्वितश्चान्द्रायणं चरेदिति ङ.५ पञ्चयज्ञान्स्वयं कृत्वा परान्मुपजीवित ङ.

पृष्ठ 566

पाठ॰—१ प्राणायामं जले A. २ स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासा.

पृष्ठ 567

टिप्प॰—1 'कृच्छ्रोऽल्पतरशोणिते' इति पाठान्तरेऽल्पतरशोणितेऽपि कृच्छ्रः शुद्धिहेतुरिति ज्ञेयम्.

पाठ०—१ गुरुं त्वकृत्यं हुंकृत्य विप्रं A. २ संनिवेश्य च. ३ सचेलः स्नानमाचरेत् ङ.

पृष्ठ 568

पाठ०—१ निष्कृतिर्न विधीयते. २ प्राजापत्यं तु मार्गणम्.

पृष्ठ 569

पाठ०—१ त्रिवर्णेषु च सामान्यं ङ. २ भवेद्विप्रे त्रिभिः ङ. ३ अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च.

पृष्ठ 570

पाठ०—१ प्रायश्चित्तनिमित्तस्य ख. २ चापेक्ष्य A. ३ नोक्ता च A. ४ उदवास ङ. ५ द्वादशवार्षिकादिकं ङ. ६ जृम्भितास्फोटनानि ङ.

पृष्ठ 571

पाठ०—१ दर्शनाद्दोषाल्पत्व ख. २ बहिर्ग्रामान्निनयेयुः A. ३ बान्धवैः सह ङ. ४ विपरिषिंचेयुः ङ.

पृष्ठ 572

पाठ०—१ वाऽप्येनं संपिबेयुश्च A.

पृष्ठ 573-574

पाठ०—१ संपिबेन्न तु A. २ सदा A. ३ प्रदद्यात्प्रथमं A. ४ सह क्रिया A.

पृष्ठ 574-575

पाठ०—१ विख्यातपापं वक्तृभ्य ङ. २ निरुक्तो ङ. ३ एकोऽपि धर्म विद्धर्मम् ४-५ तथा च पर्षदा ख. ६ अविख्यापितदोषस्तु रहस्यव्रतमाचरेत् A.

पृष्ठ 576

पाठ०—१ विशुद्ध्येत्तु A. गां दत्त्वा च पयः ङ. ३ न्यद्वा गमनं ख. ४ कामतो वध ख. ५ वासाः सकृत ख.

पृष्ठ 577

पाठ०—१ स्वाहेति हि वा A. २ मासं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च तृचं प्रति । माहित्र्यं शुद्ध ख.

पृष्ठ 578

पाठ०—१ सुरापः स्वर्णहारी च A.

पृष्ठ 579

पाठ०—१ षोढशऋचां चत्वारिंशत्संख्याकजप उक्तः ख.

पृष्ठ 580-581

पाठ०—१ अर्धमासद्वादशद्वादश ख. २ पातवर्ज्यमित्यादि ख. ३ तु A. ४ च A. ५ चाभक्ष्यभक्षणं ख.

पृष्ठ 581-582

टिप्प०—1 अघमर्षणमृतं च सत्यमित्यादि 2 देवकृतं देवकृतस्यैनस इत्याद्यृक् 3 शुद्धवत्यः एतोन्विन्द्रं स्तवामेत्याद्या ऋचः.4 तरत्समास्तरत्समन्दीत्याद्या ऋचः.

पाठ०—१ त्रिकाल A. २ एते A. ३ सा देवी ङ. ४ कल्मषनाशिनी ङ. ५ सर्वदेवपवित्राणि.

पृष्ठ 582

टिप्प०—1 कूष्माण्ड्यः यद्देवा देवहेडनमितयाद्याः 2 पावमान्यः स्वादिष्ठया मदिष्ठयेत्याद्याश्चत्वारोऽध्यायाः.3 दुर्गा जातवेदसे सुनवामेत्यादि सूक्तम्.4 साविन्त्रिर्देवस्यत्वेत्याद्यृचः. 5 अभिषङ्गास्तदाख्या मन्त्रविशेषाः. 6 पदस्तोमाः उत्सोदेवाहिरण्यया इत्यादयः. 7 समानि साधारणानि. 8 व्याहृतीः भूरग्नये च पृथिव्यै चेत्यादिकाः. 9 भारदण्डानि सामानि अग्नआयाहीत्यादीनि.10 गायत्रं सामविशेषः.11 रैवतं रेवतीर्नः सधमाद इत्यादि.12 पुरुषव्रतं वैश्वानरमित्यादि. 13 भासं अग्नेव्रतपत इत्यादि. 14 देवव्रतं अनृतात्सत्यमुपैमीत्यादि. 15 आर्त्विगं ऋत्विग्भ्रेषमन्त्रा बौधायनीयाः. 16 बार्हस्पत्यं बृहस्पते प्रथमं वाचो इत्यादि. 17 वाक्सूक्तं ओष्ठापिधानेत्यादि. 18 मध्वृचः मधुवाता इत्यादयः. 19 शतरुद्रियं नमस्ते रुद्र मन्वय इत्यादि. 20 अथर्वशिरः देवा ह वै स्वर्गमित्यादि. 21 त्रिसुपर्णं ब्रह्ममेतुमामित्यादि. 22 महाव्रतं अथ महाव्रतमित्यादि.23 गोसूक्तं आगावो अग्मन्नित्यादि.24 अश्वसूक्तं अये ते अस्तु हर्यत इत्यादि.25 इन्द्राय सामगायतेत्याद्ये इन्द्रशुद्धसामनी.26 आज्यदोहमित्यादीनि त्रीण्याज्यदोहानि.27 रथन्तरं सामविशेषः.28 अग्नेव्रतम्.29 वामदेव्यं कयानश्चित्र इत्यादि. 30 बृहत्साम सामविशेषः इति वसिष्ठस्मृतिटीकायाम्.31 वाचनं दानं तिलैरित्यत्रापि संबध्यते तिलदानमित्यर्थः—मयूखः.32 दापयेदित्यर्थः.

पाठ०—१ गायत्र्यावर्तनं A. दोषजातेन ख.३ गायत्र्या लक्षहोमः ख.४ पञ्चसप्त च ख.

पृष्ठ 583

पाठ०—१ किल्बिषं ङ.२ तिष्ठेत् A. ३ शुद्धिर्ब्रह्म A. ४ घृतं चाभिमन्त्रयेत् ख.

पृष्ठ 584-585

पाठ०—१ परम् ख.२ द्वैरात्रः ख.३ सांतपनं.४ पवित्रं कायशोधनमिति ङ.

पृष्ठ 585-586

पाठ०—१ अच्छिन्नाग्राः कुशाः स्थिता. २ ताम्रेण ख. ३ पेयादेकैकं ख. ४ प्रत्यहाभ्यस्तैः A.

पृष्ठ 586-587

पाठ०१ पर्णकृच्छ्रु उदाहृतः A. २ त्रिरात्रस्य मारुतस्य ख.३ चैकेन A. ४ उदाहृतः A.

पृष्ठ 589

पाठ०—१ विशेषेणान्तराण्यन्वेषणीयानि ङ. २ परिमितत्वात् ख. ३ तिकृच्छ्रंमित्युक्तं.

पृष्ठ 590

पाठ॰—१ सौम्यः कृच्छ्रोऽयमुच्यते A. २ मुपयुज्य ख. ३ यथाविधि ङ. ४ कर्म कुर्वन् ङ.

पृष्ठ 592

पाठ॰—१ युञ्जीत A.

पृष्ठ 592

पाठ॰—१ स्तनान्ते ङ. २ एकमाप्ल्वा ङ.

पृष्ठ 593

पाठ॰—१ आज्येन वा.

पृष्ठ 594-595

पाठ॰—१ द्विगुणे व्रत आचीर्णे ङ. २ दोषव्यतिरेकेण ङ. ३ आज्येवेनैति ङ. ४ तु A. 5 चान्द्रैस्त्विति ङ.

पृष्ठ 595-596

पाठ॰—१ सर्वपातकनाशनं ख. २ तन्मूल्यं वा न संशयः ङ.

पृष्ठ 596-597

पाठ॰—१ प्राजापत्यानां प्रत्याम्नायधेन्वादयः ख. २ तदतिधनिनः ङ. ३ पराकृतप्तातिकृच्छ्रे तिस्रस्तिस्रस्तु गास्तथा. ४ तुल्यत्वाद्द्विगुणत्वाच्च ङ. ५ त्रयवर्जनपरस्य ङ. ६ भोजनवर्जनेऽन्यस्येति ङ. ७ ततश्चान्त्यत्र्यहे ङ. ८ स्नानादीतिकर्तव्यता ङ.

पृष्ठ 597-598

पाठ॰—१ अन्यद्वा पावनं किंचित्सममाहुर्मनीषिणः. २ च समाहिताः A.

पृष्ठ 598-599

पाठ॰—१ श्रुत्वेमामृषयो ङ. २ वैश्यस्तु A. ३ सर्वान् A.

पृष्ठ 600

पाठ॰—१ दन्योपमामाकल्पं ङ. २ मधुलवमुचां ङ. ३ मर्थितामर्थितायाः ४ यावत्प्रत्यक् ५ प्राचीसमुद्रादमितनृपशिरोरत्न.

याज्ञवल्क्यस्मृतिस्थपद्यार्धानां वर्णानुक्रमकोशः ।

श्लोकाः ... पृष्ठम्

अ

अकामतः कामचारे ... २९६
अकारणे च विक्रोष्टा ... ३३२
अकार्यकारिणां दानं ... ४०१
अक्रूरैरायुधैर्यान्ति ते ... १४३
अकूटं कूटकं ब्रूते ... ३३४
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च ... ४१२
अक्षता च क्षता चैव ... ३३
अक्षतायां क्षतायां वा ... २७०
अक्षताल्पकश्रोणी ... ४२८
अक्षयोऽयं निधी राज्ञां ... १४०
अक्षिकर्णचतुष्कं च ... ४३१
अगृहीते समं दाप्यः पु ... ३५९
अगृहीते समं दाप्यो भृ ... ३१४
अग्निकार्यं ततः कुर्यात् ... १०
अग्निदानां च ये लोका ... २१९
अग्निर्जलं वा शूद्रस्य ... २३५
अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं ... २४२
अग्नीन्वाप्यात्मसात्कृत्वा ... ४१२
अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ ... १४१
अग्नौ करिष्यन्नादाय ... १०७
अग्नौ सुवर्णमक्षीणं ... ३०६
अग्र्यः सर्वेषु वेदेषु ... १००
अजः शरीरग्रहणात् ... ४२१
अजातौ जातिकरणे ... ३३६
अजाश्वयोर्मुखं मेध्यं ... ९०
अज्ञानात्तु सुरां पीत्वा ... ५००
अतः शृणुध्वं मांसस्य ... ८१
अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते ... १७
अतिथिं श्रोत्रियं तृप्तं ... ५५
अतिथित्वेन वर्णानां ... ५३

श्लोकाः ... पृष्ठम्

अतीतायामप्रजसि ... २८५
अतीतार्थस्मृतिः कस्य ... ४४७
अतो न रोदितव्यं हि ... ३७५
अतो यतेत तत्प्राप्त्यै ... १५३
अतो यदात्मनोऽपथ्यं ... ४२०
अत्राहममुकः साक्षी ... २२७
अथवाप्यभ्यसन्वेदं ... ४६२
अदत्तादाननिरतः ... ४४३
अदत्तान्यग्निहीनस्य ... ७३
अददद्धि समाप्नोति ... १९३
अदीर्घसूत्रः स्मृतिमान् ... १३८
अदुष्टां तु त्यजन्दण्ड्यो ... ३३
अदेशकालसंभाषं ... ३५४
अद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभिः ... ९
अधर्मदण्डनं स्वर्ग ... १५४
अधिविन्नस्त्रियै दद्यात् ... २८७
अधिविन्ना तु भर्तव्या ... ३६
अधीतवेदो जपकृत् ... २१४
अध्याप्याधर्मतः साधु ... १२
अध्यायानामुपाकर्म ... ६७
अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः ... ५४
अनग्नममृतं चैव ... ५२
अनन्ता रश्मयस्तस्य ... ४५२
अनन्ताश्च यथा भावाः ... ४४१
अनन्यपूर्विकां कान्तां ... २२
अनन्यविषयं कृत्वा ... ४३५
अनभिख्यातदोषस्तु ... ५७५
अनर्चितं वृथामांसं ... ७६
अनाख्याय ददद्दोषं ... ३३
अनादिरात्मा कथितः ... ४३७
अनादिरात्मा संभूतिः ... ४३९

श्लोकाः ... पृष्ठम्

अनादिरादिमांश्चैव ... ४५६
अनादिष्टेषु पापेषु ... ५९५
अनाशकानलघात ... ४४८
अनाहिताग्निता पण्य ... ४७८
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां ... ४६८
अनिन्द्येषु विवाहेषु ... ४५
अनिबद्धप्रलापी च ... ४४२
अनियुक्तो भ्रातृजायां ... ५४९
अनिवेदितविज्ञातो ... १९३
अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः ... ३०१
अनिवेद्य नृपे शुद्ध्येत् ... ५०५
अनिश्चित्य भृतिं यस्तु ... ३१४
अनुगम्याम्भसि स्नात्वा ... ३९४
अनुपाकृतमांसानि ... ७८
अनृते तु पृथग्दण्ड्याः ... २९१
अनेकपितृकाणां तु ... २६१
अनेन विधिना जातः ... ३४
अनेन विधिना देहं ... २१
अनेन विधिराख्यातः ... ३४४
अनौरसेषु पुत्रेषु ... ३९३
अन्तरा जन्ममरणे ... ३८३
अन्तरा पतिते पिण्डे ... २४४
अन्तरे च तयोर्यः स्यात् ... ३३४
अन्तर्जले विशुद्ध्येत ... ५७६
अन्तर्जानु शुचौ देश ... ८
अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिः ... ४६१
अन्तेवासी गुरुप्राप्त ... ३१०
अन्त्यजैर्गर्दभैरुष्ट्रैः ... १२६
अन्त्यपक्षिस्थावरतां ... ४४१
अन्त्याभिगमने त्वङ्क्यः ... ३६०
अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्याः ... २८२
अन्नं पर्युषितं भोज्यं ... ७७
अन्नं भूमौ श्वचाण्डाल ... ५१
अन्नं पितृमनुष्येभ्यो ... ५२

श्लोकाः ... पृष्ठम्

अन्नमादाय तृप्ताः स्थ ... ११०
अन्नमिष्टं हविष्यं च ... १०९
अन्नहर्तामयावी स्यात् ... ४६४
अन्यत्र कुलटाषण्ढ ... ९८
अन्यथावादिनो यस्य ... २२१
अन्यहस्ते च विक्रीय ... ३४०
अन्यायेन नृपो राष्ट्रात् ... १४८
अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्याः ... ३४५
अन्योदर्यस्तु संसृष्टी ... २८१
अन्योन्यापहृतं द्रव्यं ... २६७
अन्विता यान्त्यचरित ... ४७०
अपनः शोशुचदघम् ... ३६९
अपरान्तकमुल्लोप्यं ... ४३६
अपराह्णे समभ्यर्च्य ... १०३
अपश्चात्तापिनः कष्टान् ... ४७०
अपश्यता कार्यवशात् ... १६३
अपसव्यं ततः कृत्वा ... १०६
अपहता इति तिलान् ... १०६
अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा ... १५५
अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो ... ३३
अपुत्रा योषितश्चैषां ... २८३
अपुत्रेण परक्षेत्रे ... २६७
अप्रजस्त्रीधनं भर्तुः ... २८५
अप्रणोद्योऽतिथिः सायं ... ५३
अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा ... ५३५
अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं ... ४१७
अप्रयच्छन्समाप्नोति ... ३१
अप्राप्तव्यवहारं च ... ३३५
अफालकृष्टेनाग्नींश्च ... ४०९
अबन्ध्यं यश्च बध्नाति ... ३३५
अब्भक्षो मासमासीत ... ५४७
अब्रुवन्हि नरः साक्ष्यं ... २१९
अब्लिङ्गानि जपेच्चैव ... ३९८
अभक्ष्येण द्विजं दूष्यः ... ३६१

श्लोकाः पृष्ठम्
अभावे ज्ञातयस्तेषां ... ४२
अभावे ज्ञातृचिह्नानां ... २९२
अभिगन्तास्मि भगिनीं ... ३२०
अभिघाते तथा छेदे ... ३२८
अभियुक्तं च नान्येन ... १७२
अभियोगमनिस्तीर्य ... १७१
अभियोगेऽथ साक्ष्ये वा ... १७५
अभिरम्यतामिति वदेत् ... ११४
अभिलेख्यात्मनो वंश्यान् ... १४२
अभिशस्तो मृषा कृच्छ्रं ... ५४८
अभ्रातृको हरेत्सर्वं ... २७३
अमावास्याऽष्टका वृद्धिः ... ९९
अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठ्यूत ... ३२४
अमेध्यशवशूद्रान्न ... ७०
अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः ... ८९
अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो ... ४६
अयं तु परमो धर्मः ... ४
अयं मे वज्र इत्येवं ... ६५
अयमेवातिकृच्छ्रः स्यात् ... ५८९
अयनं देवलोकं च ... ४५९
अयाचिताहृतं ग्राह्यम् ... ९८
अयाचिताशी मितभुक् ... ४६२
अयुक्तं शपथं कुर्वन् ... ३३२
अयोनौ गच्छतो योषां ... ३६०
अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति ... १४८
अरण्ये निर्जले देशे ... ४६५
अरण्ये नियतो जप्त्वा ... ४९१
अराजदैविकं नष्टं ... ३१५
अरिर्मित्रमुदासीनो ... १५०
अरोगामपरिक्लिष्टां ... ९६
अरोगिणीं भ्रातृमतीं ... २४
अरोगित्वं यशो वीत ... १२४
अर्कः पलाशः खदिरः ... १३५
अर्घप्रक्षेपणाद्विंशं ... ३४२
अर्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा ... ३३७

श्लोकाः पृष्ठम्
अर्घोऽनुग्रहकृत्कार्यः ... ३३८
अर्घ्याक्षेपातिक्रमकृत् ... ३३२
अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु ... ११५
अर्थशास्त्रात्तु बलवत् ... १७९
अर्थस्य संचयं कुर्यात् ... ४१०
अर्थानां छन्दतः सृष्टिः ... ४६१
अर्धत्रयोदशपणः ... २९८
अर्धोऽधमेषु द्विगुणः ... ३२०
अर्वाक् चतुर्दशादह्नो ... २४९
अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी ... ३०१
अर्वाक्सपिण्डीकरणं ... ११८
अलंकृतां हरन्कन्यां ... ३५६
अलब्धमीहेद्धर्मेण ... १४१
अवकीर्णी कुण्डगोलौ ... १०२
अवकीर्णी भवेद्गत्वा ... ५४२
अवटश्चैवमेतानि ... ४३१
अवरुद्धासु दासीषु ... ३५७
अविज्ञातहतस्याशु ... ३५२
अविप्लुतब्रह्मचर्यः ... २२
अविप्लुतमतिः सम्यक् ... ४५०
अविभक्तैः कुटुम्बार्थे ... १९९
अवीचिमन्धतामिस्रं ... ४७०
अवीराब्रीस्वर्णकार ... ७५
अवेक्ष्या गर्भवासाश्च ... ४१९
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः ... ४५५
अशक्तस्तु वदन्नेवं ... ३२२
अशीतिभागो वृद्धिः स्यात् ... १९४
अश्वमेधफलं तस्य ... ५९९
अश्वरत्नमनुष्यस्त्री ... ४७६
अश्वस्थानाद्गजस्थानात् ... १२८
अश्वानायुश्च विधिवत् ... १२४
अष्टमे मास्यतो गर्भो ... ४२६
अष्टौ त्रपुणि सीसे च ... ३०६
असच्छास्त्राधिगमनं ... ४७९

श्लोकाः ... पृष्ठम्
असत्कार्यरतोऽधीरः ... ४४३
असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः ... ४७
असंबद्धकृतश्चैव ... १९०
असंसृष्टयपि वाऽऽदद्यात् ... २८१
असंस्कृतास्तु संस्कार्याः ... २६४
असाक्षिकहते चिह्नैः ... ३२४
असिपत्रवनं चैव ... ४७०
अस्कन्नमव्यथं चैव ... १४१
अस्थिमतां सहस्रं तु ... ५३५
अस्नेहा अपि गोधूम ... ७७
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं ... ७२
अहंकारः स्मृतिर्मेधा ... ४५४
अहंकारश्च बुद्धिश्च ... ४५५
अहंकारेण मनसा ... ४५१
अहःशेषं सहासीत ... ५५
अहन्येकादशे नाम ... ६
अहस्त्वदत्तकन्यासु ... ३९१
अहिंसा सत्यमस्तेयं ... ५९
अहिंसा स्तेयमाधुर्ये ... ५८४
अहो मासस्य षण्णां वा ... ४१०

आ

आकाशपवनज्योतिः ... ४५३
आकाशमेकं हि यथा ... ४४५
आकाशाल्लाघवं सौक्ष्म्यं ... ४२४
आकृष्णेन इमं देवाः ... १३५
आगमस्तु कृतो येन ... १८८
आगमेनोपभोगेन ... ३०१
आगमेऽपि बलं नैव ... १८७
आगमोऽभ्यधिको भोगात् ... १८६
आ गर्भसंभवाद्गच्छेत् ... ३४
आगामिभद्रनृपति ... १४१
आचम्याद्भ्यादि सलिलं ... ३७६
आचरेत्सदृशीं वृत्तिम् ... ५९
आचान्तः पुनराचम्य ... ९१

श्लोकाः ... पृष्ठम्
आचार्यत्वं श्रोत्रियश्च ... १२६
आचार्यपत्नीं स्वसुतां ... ४७७
आचार्यपित्रुपाध्याया ... ३७७
आचार्योपासनं वेद ... ४४९
आजीवन्स्वेच्छया दण्ड्यः ... २१४
आज्ञासंपादिनीं दक्षां ... ३६
आ तृप्तेस्तु पवित्राणि ... १०९
आत्मज्ञः शौचवान्दान्तः ... ४४३
आत्मतुल्यं सुवर्णं वा ... ५०५
आत्मनस्तु जगत्सर्वं ... ४३७
आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भो ... ४७९
आत्मा गृह्णात्यजः सर्वं ... ४२४
आ दन्तजन्मनः सद्यः ... ३९०
आदातुश्च विशुद्ध्यर्थं ... ४९२
आदित्यस्य सदा पूजां ... १३२
आदिमध्यावसानेषु ... १३
आद्यौ तु वितथे दाप्या ... २०५
आधयो व्याधयः क्लेशाः ... ४१९
आधानं विक्रयं वापि ... ३३६
आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे ... २०८
आधिवेदनिकाद्यं च ... २८४
आधिसीमोपनिक्षेप ... १८४
आधिस्तु भुज्यते तावत् ... २२९
आधेः स्वीकरणात्सिद्धिः ... २१०
आधौ प्रतिग्रहे क्रीते ... १८२
आध्यादीनां विहर्तारं ... १८५
आनीय विप्रसर्वस्वं ... ४८९
आपद्गतः संप्रगृह्णन् ... ४०६
आपद्यपि हि कष्टायां ... ३९६
आपोशनेनोपरिष्टात् ... ५२
आपोशानक्रियापूर्वं ... १३
आमाशयोऽथ हृदयं ... ४३०
आ मृत्योः श्रियमाकाङ्क्षन् ... ७१
आयुः प्रजां धनं विद्यां ... १२५

श्लोकाः ... पृष्ठम्

आयुष्कामस्तथैवायुः ... ५९९
आरामायतनग्राम ... २९२
आरोग्यबलसंपन्नो ... १३७
आर्त्या गत्या तथाऽगत्या ... ४५३
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते ... ४१२
आवाहनाग्नौकरण ... ११४
आवाहयेदनुज्ञातो ... १०५
आवाह्य तदनुज्ञातो ... १०६
आवेदयति चेद्राज्ञे ... १६४
आशुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि ... ३७
आश्मशानादनुव्रज्य ... ३६७
आषोडशादा द्वाविंशात् ... १७
आसुरो द्रविणादानात् ... ३०
आस्तिकः श्रद्दधानश्च ... १२४
आहरेद्विधिवद्दारान् ... ४४
आहुत्याप्यायते सूर्यः ... ४२२
आहूतश्चाप्यधीयीत ... ११

इ

इच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिः ... ३७६
इज्याचारदमाहिंसा ... ४
इज्याध्ययनदानानि ... ५७
इतरेण निधौ लब्धे ... १९३
इति संचिन्त्य नृपतिः ... १५५
इति संश्रुत्य गच्छेयुः ... ३७५
इतिहासांस्तथा विद्याः ... २०
इत्युक्त्वोक्त्वा प्रिया वाचः ... ११२
इत्युक्त्वा चरतां धर्मं ... २९
इत्येतदस्थिरं वर्ष्म ... ४३३
इदमूचुर्महात्मानं ... ५९८
इन्द्रियाणि मनः प्राणो ... ४२३
इन्द्रियान्तरसंचार ... ४५४
इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः ... ४७९
इमे लोका एष चात्मा ... ४४५
इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन ... १५५

श्लोकाः ... पृष्ठम्

इह कर्मोपभोगाय ... ४५३
इह लोके यशः प्राप्य ... ५९८
इह वामुत्र वैकेषां ... ४४२
इहैव सा शुनी गृध्री ... ५०२

ई

ईश्वरः स कथं भावैः ... ४४०
ईश्वरः सर्वभूतस्थः ... ४५५

उ

उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये ... २२१
उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डान् ... ११०
उत्कोचजीविनो द्रव्य ... १४८
उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ ... ३४८
उत्तमो वाऽधमो वापि ... ३५१
उत्तानं किंचिदुन्नाम्य ... ४६०
उत्पन्ने स्वामिनो भोगः ... २९४
उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु ... २७१
उदक्याशुचिभिः स्नायात् ... ३९८
उदक्यास्पृष्टसंघुष्टं ... ७६
उदरं च गुदौ कोष्ठ्यौ ... ४३०
उदुम्बरः शमी दूर्वा ... १३५
उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः ... ३२५
उद्गूर्णे हस्तपादे तु ... ३२६
उद्बुध्यस्वेति च ऋचो ... १३५
उपजिह्वास्फिजौ बाहू ... ४३१
उपजीव्यद्रुमाणां च ... ३२९
उपजीव्य धनं मुञ्चन् ... ३६३
उपतिष्ठतामक्षय्यस्थाने ... ११४
उपनीय गुरुः शिष्यं ... ७
उपनीय ददद्वेदं ... १५
उपपातकजातानाम् ... ५८०
उपपातकयुक्ते तु ... ३२२
उपपातकशुद्धिः स्यात् ... ५२४
उपवासेन चैवायं ... ५८७
उपस्थानं ततः कुर्यात् ... ५४५

श्लोकाः ... पृष्ठम्
उपस्थितस्य मोक्तव्यः ... २११
उपाकर्मणि चोत्सर्गे ... ६८
उपायाः साम दानं च ... १५१
उपासते द्विजाः सत्यं ... ४५९
उपास्य पश्चिमां संध्यां ... ५६
उपेयादीश्वरं चैव ... ५०
उभयानुमतः साक्षी ... २१७
उभयाभ्यर्थितेनैतत् ... २२८
उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः ... १७३
उभयोरप्यसाध्यं चेत् ... ३१५
उभयोरप्यसौ रिक्थी ... २६७
उरगेष्वायसो दण्डः ... ५३७
उरः सप्तदशास्थीनि ... ४२९

ऊ

ऊनद्विवर्षं निखनेत् ... ३६७
ऊनद्विवर्षं उभयोः ... ३८१
ऊनं वाऽभ्यधिकं वापि ... ३६१
ऊरुस्थोत्तानचरणः ... ४६०
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां ... ४५२

ऋ

ऋग्गाथा पाणिका दक्ष ... ४३६
ऋग्यजुःसामविहितं ... ४३८
ऋगं दद्यात्पतिस्तासां ... २००
ऋणं लेख्यकृतं देयं ... २२९
ऋतुसंधिषु भुक्त्वा वा ... ६९
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैः ... १४६
ऋत्विक्पुरोहितापत्य ... ७३
ऋत्विजां दीक्षितानां च ... ३९६
ऋषभैकसहस्रा गाः ... ५३२

ए

एकं घ्नतां बहूनां च ... ३२७
एकच्छायाश्रितेष्वेषु ... २०६
एकदेशमुपाध्यायः ... १६

श्लोकाः ... पृष्ठम्
एकभक्तेन नक्तेन ... ५८७
एकरात्रोपवासश्च कृ ... ५९०
एकरात्रोपवासश्च त ... ५८६
एकादशगुणं दाप्यो ... ३१३
एकारामः परिव्रज्य ... ४१६
एकैकस्य त्वष्टशतम् ... १३६
एकैकं ह्रासयेत्कृष्णे ... ५९०
एकोद्दिष्टं देवहीनम् ... ११४
एकोनत्रिंशल्लक्षाणि ... ४३२
एतद्यो न विजानाति ... ४६०
एतत्सपिण्डीकरणम् ... ११५
एतान्सर्वान्समाहूय ... १३०
एते महापातकिनो ... ४७३
एते मान्या यथापूर्वं ... १६
एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि ... ५६
एतैरुपायैः संशुद्धः ... ४४९
एतैरेव गुणैर्युक्तः ... २७
एभिश्च व्यवहर्ता यः ... ३३४
एभिस्तु संवसेद्यो वै ... ५१३
एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां ... ३८
एवं पुरुषकारेण ... १५२
एवं प्रदक्षिणावृत्को ... ११३
एवं मातामहाचार्य ... ३७०
एवं विनायकं पूज्य ... १३२
एवमस्त्विति होवाच ... ५९९
एवंवृत्तोऽविनीतात्मा ... ४४८
एवमस्यान्तरात्मा च ... ४६८
एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं ... २४७
एवमेतदनाद्यन्तं ... ४३८
एवमेनः शमं याति ... ६
एष एव विधिर्ज्ञेयः प्रा ... ३१९
एष एव विधिर्ज्ञेयो व ... २९२
एषां त्रिरात्रमभ्यासात् ... ५९०
एषामन्नं न भोक्तव्यं ... ७५

श्लोकाः ... पृष्ठम्
एषामन्यतमाभावे ... १८०
एषामपतितान्योन्य ... ३३२
एषामभावे पूर्वस्य ... २७३
एषामसंभवे कुर्यात् ... ६०
ऐ
ऐणरौरववाराह ... १२१
ओ
ओङ्काराभिष्टुतं सोमं ... ५८१
औ
औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां ... २८३
औरसो धर्मपत्नीजः ... २६९
औवेणकं सरोविन्दुम् ... ४३६
औष्ट्रमैकशफं स्त्रैणम् ... ७७
क
कट्वैर्वारौ यथाऽपक्के ... ४४४
कथमेतद्विमुच्यामः ... ४३७
कदर्यबद्धचौराणां ... ७४
कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठ ... ८
कनीनिके चाक्षिकूटे ... ४३१
कन्धराबाहुसक्थ्नां च ... ३२७
कन्यां कन्यावेदिनश्च ... १२३
कन्याप्रदः पूर्वनाशे ... ३१
कन्याप्रदानं तस्यैव ... ४७९
कन्यासंदूषणं चैव ... ४७९
कन्यां समुद्वहेदेषां ... ५१६
कपिला चेत्तारयति ... ९५
करणैरन्वितस्यापि ... ४४१
करपाददतो भङ्गे... ... ३२७
करोति किंचिदभ्यासात् ... ४२१
करोति तृणमृत्काष्ठैः ... ४४६
करोति तृप्तिं कुर्याच्च ... २०
करोति पुनरावृत्तिः ... ४५९
करोति यः स संमूढो ... ३७४
करौ विमृदितव्रीहेः ... २४१

श्लोकाः ... पृष्ठम्
कर्णौ शंखौ भ्रुवौ दन्त ... ४३१
कर्तव्यं वचनं तेषां ... ३१३
कर्तव्यं वचनं सर्वैः ... ३१२
कर्तव्याग्रयणेष्टिश्च ... ६०
कर्तव्या मन्त्रवन्तश्च ... १३४
कर्तव्याशयशुद्धिस्तु ... ४१८
कर्मक्षयात्प्रजायन्ते ... ४६३
कर्मणा द्वेषमोहाभ्यां ... ४४८
कर्मणा मनसा वाचा ... ७२
कर्मणां फलमाप्नोति ... १३२
कर्मणां संनिकर्षाच्च ... ४५०
कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः ... १०१
कर्मभिः स्वशरीरोत्थैः ... ३७५
कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ ... ४९
कर्मेन्द्रियाणि जानीयात् ... ४२९
कलविङ्कं सकाकोलं ... ७९
कलहापहृतं देयं ३२७
कानीनः कन्यकाजातो ... २६९
कान्तारगास्तु दशकं ... १९५
कामतो व्यवहार्यस्तु ... ४७१
कामावकीर्ण इत्याभ्यां ... ५४५
कामोदकं सखिप्रत्ता ... ३७०
कारणान्येवमादाय ... ४४६
कारयेत्सर्वदिव्यानि ... २३४
कारुहस्तः शुचिः पण्यं ... ८६
कार्मिके रोमबद्धे च ... ३०७
कार्यौ द्वितीयापराधे ... ३४८
कार्षिकस्ताम्रिकः पणः ... १५८
कालकर्मात्मबीजानां ... ४५१
काले कालकृतो नश्येत् ... २०८
कालोऽग्निः कर्म मृद्वायुः ... ४०१
काषायवाससश्चैव... ... १२६
काष्ठलोष्टेषुपाषाण... ... ३६२
किंचित्सास्थिवधे देयं ... ५३८

श्लोकाः ... पृष्ठम्
कुमारी च न भर्तारं ... १२६
कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातो ... १०७
कुर्याच्छ्वशुरयोः पाद ... ४१
कुर्यात्त्रिषवणस्नायी ... ५९३
कुर्यात्प्रत्यभियोगं च ... १७३
कुर्यात्प्रदक्षिणं देवम् ... ६४
कुर्याद्यथास्य न विदुः ... १५०
कुर्यान्मूत्रपुरीषे च ... ७
कुलानि जातीः श्रेणीश्च ... १५६
कुशाः शाकं पयो मत्स्याः ... ९८
कुशूलकुम्भीधान्यो वा ... ६१
कुसीदकृषिवाणिज्य ... ५८
कूटस्वर्णव्यवहारी ३६२
कूष्माण्डो राजपुत्रश्च ... १२९
कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तु ... ५९८
कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च ... ५१७
कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यात् ... ५४६
कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा ... ५८९
कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते ... ५६७
कृतज्ञाद्रोहिमेधावि ... १२
कृतरक्षः समुत्थाय ... १४४
कृतशिल्पोऽपि निवसेत् ... ३१०
कृताकृतांस्तन्दुलांश्च ... १३०
कृताग्निकार्यो भुञ्जीत ... १३
कृतेऽन्तरे त्वहोरात्रं ... ६९
कृतोदकान्समुत्तीर्णान् ... ३७४
कृत्तिकादिभरण्यन्तं ... १२४
कृत्वा हि रेतोविण्मूत्र ... ५८१
कृत्वेदं विष्णुरित्यन्ने ... १०८
कृमिकीटपतङ्गत्वं... ... ४६३
कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या ... ४०६
कृष्णलः पञ्च ते माषः ... १५६
कृष्णा गौरायसं छागः ... १३६
केचिद्दैवात्स्वभावाद्वा ... १५२
श्लोकाः ... पृष्ठम्
केशभस्मतुषाङ्गार... ... ६६
कोऽन्यथैकेन नेत्रेण ... ४४७
कोयष्टिप्लवचक्राह्व ... ७९
कोले घृतघटो देयः ... ५३७
कौशेयनीललवण... ... ४०४
क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं ... १५०
क्रमात्ते संभवन्तीह ... ४६०
क्रमात्ते संभवन्त्यर्चिः ... ४५९
क्रमादभ्यागतं द्रव्यं ... २५९
क्रमेणाचार्यसच्छिष्य ... २८०
क्रयी वा निःस्ववस्तस्मात् ... ३३७
क्रव्यादपक्षिदात्यूह ... ७८
क्रियमाणोपकारे तु ... ५४६
क्रीडां शरीरसंस्कारं ... ४१
क्रीतलब्धाशना भूमौ ... ३७७
क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः ... २७०
क्रीत्वा नानुशयः कार्यः ... ३४१
क्रूरोग्रपतितव्रात्य... ... ७४
क्रेता मूल्यमवाप्नोति ... ३००
क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः ... २८२
क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागाः ... २६६
क्षत्रस्य द्वादशाहानि ... ३८९
क्षत्रिया मागधं वैश्यात् ... ४७
क्षयं वृद्धिं च वणिजा ... ३४१
क्षात्रेण कर्मणा जीवेत् ... ४०३
क्षुद्रमध्यमहाद्रव्य ३४९
क्षुद्रान्त्रं वृक्कौ बस्ति ... ४३०
क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु ... २६९
क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानात् ... ४०१
क्षेत्रवेश्मवनग्राम ३५३
क्षेत्रस्य हरणे दण्डा ... २९३
क्षेपं करोति चेद्दण्ड्यः ... ३१९

ख

खड्गामिषं महाशल्कं ... १२२

श्लोकाः पृष्ठम्
खमण्डलादसौ सूर्यः ... ४३८
खरपुल्कसवेणानां ... ४६३
खराजमेषेषु वृषो... ... ५३६
खरोष्ट्रयानहस्त्यश्व ... ७१

ग

गजे नीलवृषाः पञ्च ... ५३६
गणद्रव्यं हरेद्यस्तु ... ३११
गणानामाधिपत्ये च ... १२५
गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं ... २४५
गन्त्री वसुमती नाशम् ... ३७५
गन्धरूपरसस्पर्श ४२९
गन्धलेपक्षयकरं ८
गन्धाश्च वलयश्चैव ... १३४
गन्धोदकतिलैर्युक्तं ... ११५
गम्यं त्वभावे दातॄणां ... ३१
गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः ... ३५७
गर्दभं पशुमालभ्य ... ५४२
गर्भभर्तृवधादौ च ... ३५
गर्भस्य वैकृतं दृष्टम् ... ४५१
गर्भस्रावे मासतुल्याः ... ३८४
गर्भहा च यथावर्ण ... ४९४
गर्भाधानमृतौ पुंसः ... ६
गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ... ७
गायत्रीजाप्यनिरतः ... ५५५
गायत्रीं शिरसा सार्धं ... १०
गीतज्ञो यदि योगेन ... ४३७
गीतनृत्यैश्च भुञ्जीत ... १४५
गुडौदनं पायसं च ... १३६
गुणिद्वैधे तु वचनं ... २२०
गुरवे तु वरं दत्त्वा ... २१
गुरुं चैवाप्युपासीत ... ११
गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य ... ५६७
गुरूणामध्यधिक्षेपो ... ४७५
गुर्वन्तेवास्यनूचान ... ३९२
गुल्मगुच्छक्षुपलता ... ३३०

श्लोकाः पृष्ठम्
गृहधान्याभयोपानत् ... ९७
गृहीतमूल्यं यः पण्यं ... ३३९
गृहीतवेतनः कर्म ... ३१४
गृहीतवेतना वेश्या ... ३५९
गृहीतः शङ्कया चौर्ये ... ३४६
गृहीतशिश्नश्चोत्थाय ... ८
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता ... २८७
गृहीतानुक्रमाद्दाप्यो ... १९७
गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ ... ५०७
गृहेऽपि निवसन्विप्रो ... ८२
गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो ... २६९
गृह्णन्प्रदातारमधो ... ९४
गृह्णीयाद्धूर्तकितवात् ... ३१७
गेयमेतत्तदभ्यास ... ४३६
गोघ्रातेऽन्ने तथा केश ... ८७
गोघ्रातं शकुनोच्छिष्टं ... ७६
गोपशौण्डिकशैलूष ... २००
गोपस्ताड्यश्च गोमी तु ... २९६
गोपाः सीमाकृषाणा ये ... २८८
गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः ... २०९
गोब्राह्मणानलान्नानि ... ७२
गोब्राह्मणार्थं संग्रामे ... ३९५
गोभूतिलहिरण्यादि ... ९३
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं ... ५८४
गोवधो व्रात्यता स्तेय ... ४७८
गोष्ठे वसन्ब्रह्मचारी ... ५५५
गोष्ठेशयो गोऽनुगामी ... ५१७
गौरसर्षपकल्केन १२७
गौरस्तु ते त्रयः षद ते ... १५६
गौर्देया कर्मणोऽस्यान्ते ... ५७९
ग्रहणान्तिकमित्येके ... १७
ग्रहाणामिदमातिथ्यं ... १३७
ग्रहाधीना नरेन्द्राणां ... १३७
ग्रामादाहृत्य वा ग्रासान् ... ४१३
ग्राम्येच्छया गोप्रचारो ... २९८

श्लोकाः ... पृष्ठम्
ग्राहकैर्गृह्यते चौरो ... ३४५
ग्रीवा पञ्चदशास्थिः स्यात् ... ४२८
ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो ... ४१२
ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु ... ३१७

घ

घटेऽपवर्जिते ज्ञाति ... ५७४
घातितेऽपहृते दोषो ... ३४७

च

चतुर्दश प्रथमजः ... २९
चतुर्विंशतिको दण्डः ... ३६०
चतुष्पादकृतो दोषः ... ३६२
चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं ... १७१
चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युः ... २६६
चत्वारो वेदधर्मज्ञाः ... ५
चत्वार्यरत्निकास्थीनि ... ४२८
चरितव्रत आयाते ... ५७२
चरित्रवन्धककृतं २१०
चरुस्रुक्स्रुवसस्नेह ८३
चरेद्व्रतमहत्वापि ४९५
चर्मण्यानडुहे रक्ते ... १२८
चाटतस्करदुर्वृत्त १४७
चाण्डालो जायते यज्ञ ... ६०
चान्द्रायणं चरेत्सर्वान् ... ५१६
चान्द्रायणं वा त्रीन्मासान् ... ५०९
चान्द्रायणैर्नयेत्कालं ... ४११
चाषांश्च रक्तपादांश्च ... ८०
चिकित्सकातुरक्रुद्ध ... ७४
चीर्णव्रतानपि सतः ... ५७३
चेष्टाभोजनवाग्रोधे ... ३२७
चैत्यश्मशानसीमासु ... ३३०
चैलधावसुराजीव... ... ७५
चौरं प्रदाप्यापहृतं ... ३४६

छ

छलं निरस्य भूतेन ... १७७
छिन्ननस्येन यानेन ... ३६२

श्लोकाः ... पृष्ठम्

ज

जगदानन्दयेत्सर्वम् ... १५४
जगदुद्भूतमात्मा च ... ४३७
जग्ध्वा परेऽह्न्युपवसेत् ... ५८४
जघनादन्तरिक्षं च ... ४४०
जपन्नासीत सावित्रीं ... १०
जपः प्रच्छन्नपापानां ... ४१
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं ५१
जप्त्वा यथासुखं वाच्यं ... १०९
जप्त्वा सहस्रं गायत्र्याः ... ५८३
जलमेकाहमाकाशे ... ३७८
जलं पिबेन्नाञ्जलिना ... ६६
जलं प्लवः पयः काको ... ४६५
जलान्ते छन्दसां कुर्यात् ... ६८
जले स्थित्वाऽभिजुहुयात् ... ५७७
जातद्रुमाणां द्विगुणो ... ३३०
जातिरूपवयोवृत्त... ... ४४७
जातोऽपि दास्यां शूद्रेण ... २७३
जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः ... ४८
जायन्ते लक्षणभ्रष्टाः ... ४६७
जायन्ते विद्ययोपेताः ... ४६८
जारं चौरेत्यभिवदन् ... ३६३
जालपादान्खञ्जरीटान् ... ७९
जालसूर्यमरीचिस्थं ... १५६
जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे ... ३१७
जितं ससभिके स्थाने ... ३१८
जिह्मं त्यजेयुर्निर्लाभं ... ३४४
जीवेद्वापि शिलोञ्छेन ... ६१
जुगुप्सेरन्न चाप्येनं ... ५७२
जुहुयान्मूर्धनि कुशान् ... १२९
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन ... २५५.
ज्ञातयो वा हरेयुस्तत् ... ३४३
ज्ञातिश्रैष्ठ्यं सर्वकामान् ... १२३
ज्ञात्वाऽपराधं देशं च ... १५९

श्लोकाः पृष्ठम्
ज्ञात्वा राजा कुटुम्बं च ... ४०७
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात् ... ४१८
ज्ञेयं चारण्यकमहं ... ४३५
ज्ञेयज्ञे प्रकृतौ चैव ... ४४८

त

तक्षणं दारुशृङ्गास्थ्नां ... ८५
तज्ज्ञः पुनात्युभयतः ... २८
ततः शुक्लाम्बरधरः ... १३१
ततः स्वैरविहारी स्यात् ... १४५
ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य ... ४५९
ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ ... ४६०
ततो निष्कल्मषीभूताः ... ४६८
ततोऽभिवादयेद्वृद्धान् ... ११
ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः ... १७०
तत्कर्मणामनुष्ठानं... ... ४४९
तत्कालकृतमूल्यो वा ... २११
तत्पावनाय निर्वाप्यः ... २२५
तत्पुनस्ते समैरंशैः ... २६७
तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यं ... २२८
तत्र गत्वाऽवतिष्ठन्ते ... ४५८
तत्र तत्र च निष्णाताः ... १४३
तत्र तत्र तिलैर्होमो ... ५८२
तत्र दुर्गाणि कुर्वीत ... १४२
तत्र दैवमभिव्यक्तं ... १५२
तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं ... २६२
तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दो ... ३१५
तत्रात्मा हि स्वयं किंचित् ... ४२१
तत्राष्टाशीतिसाहस्राः ... ४५७
तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् ... ४५०
तत्सत्यं वद कल्याणि ... २३७
तत्सर्वं तस्य जानीहि ... २१९
तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति ... १७०
तत्सुता गोत्रजा बन्धुः ... २७३
तथाच्छादनदानं च ... १०५

श्लोकाः पृष्ठम्
तथात्मैको ह्यनेकश्च ... ४४५
तथा पाठीनराजीव ... ८१
तथा मांसं श्वचण्डाल ... ९०
तथा वर्षात्त्रयोदश्यां ... १२२
तथाऽविपक्वकरणः ... ४४४
तथा शक्तः प्रतिभुवं ... ३२२
तथाश्वमेधावभृथ... ... ४८७
तथैव परिपाल्योऽसौ ... १४९
तथैवानाश्रमे वासः ... ४७९
तथोपनिधिराजस्त्री ... १८४
तद्दत्समवाप्नोति... ... ९७
तदन्नं रसरूपेण ४२२
तदन्नं विकिरेद्भूमौ ... ११०
तदभावेऽस्य तनये ... २१
तदर्धं मध्यमः प्रोक्तः ... १५८
तदवाप्य नृपो दण्डं ... १५३
तदहर्न प्रदुष्येत... ... ३८२
तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैः ... ४८९
तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं ... ३६४
तन्मात्रादीन्यहंकारात् ... ४५५
तन्मूले द्वे ललाटाक्षि ... ४२८
तन्मूल्याद्द्विगुणो दण्डो ... ३३१
तपसश्च परस्येह २०
तपसा ब्रह्मचर्येण... ... ४५८
तपस्तप्त्वाऽसृजद्ब्रह्मा ... ९२
तपस्विनो दानशीलाः ... २१५
तपो वेदविदां क्षान्तिः ... ४०१
तप्तक्षीरघृताम्बूनाम् ... ५८६
तप्तेऽयःशयने सार्धं ... ५०७
तमायान्तं पुनर्जित्वा ... ३६५
तमेव कृत्स्नमाप्नोति ... १४९
तरिकः स्थलजं शुल्कं ... ३४३
तवाहंवादिनं क्लीवं ... १४४
तस्मात्तु नृपतेरर्धं ... १४८

श्लोकाः … पृष्ठम्
तस्मात्तेनेह कर्तव्यं … ४६८
तस्माद्यत्नात्पुनर्यज्ञः … ४३८
तस्मादस्ति परो देहात् … ४५४
तस्य वृत्तं कुलं शीलं … ४०७
तस्य षोढा शरीराणि … ४२७
तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं … ११८
तस्येत्युक्तवतो लौहं … २४२
तस्यैतदात्मजं सर्वम् … ४२३
ताम्रकात्स्फटिकाद्रक्त … १३३
तामिस्रं लोहशङ्कुं च … ४७०
तारानक्षत्रसंचारैः … ४५३
तालज्ञश्चाप्रयासेन … ४३६
तालुस्थाचलजिह्वश्च … ४६०
तालूदरं बस्तिशीर्षं … ४३१
तावन्त एव मुनयः … ४५७
तावद्द्यौः पृथिवी ज्ञेया … ९५
तित्तिरौ तु तिलद्रोणं … ५३७
तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान् … ५९०
तिलौदनरसक्षारान् … ४०४
तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण … २८
तुलाग्न्यापो विषं कोशो … २३२
तुलाधारणविद्वद्भिः … २३७
तुलापुरुष इत्येषः … ५९०
तुलाशासनमानानां … ३३४
तुला स्त्रीबालवृद्धान्ध … २३५
तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां … ६
तृणगुल्मलतात्वं च … ४६३
तृप्त्यर्थं पितृदेवानां … ९२
ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं … २०
तेन त्वामभिषिञ्चामि … १२८
तेन देवशरीराणि … ४५२
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति … ४५७
तेनोपसृष्टो यस्तस्य … १२६
तेनोपसृष्टो लभते … १२६

श्लोकाः … पृष्ठम्
तेऽपि तेनैव मार्गेण … ४५७
तेभ्यः क्रियापराः श्रेष्ठाः … ९३
तेऽष्टौ लिक्षा तु तास्तिस्रो … १५६
तैलहृत्तैलपायी स्यात् … ४६४
तैश्चापि संयतैर्भाव्यं … १०३
तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं … १३९
त्यजन्दाप्यस्तृतीयांशम् … ३६
त्यागः परिग्रहाणां च … ४४९
त्रपुसीसकताम्राणां … ८८
त्रयो लक्षास्तु विज्ञेयाः … ४३२
त्रायस्वास्मादभीशापात् … २४७
त्रिणाचिकेतदौहित्र … १०१
त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्य … ९
त्रिरात्रमा व्रतादेशात् … ३९०
त्रिरात्रं दशरात्रं वा … ३८१
त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य … ५४९
त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा … ५७६
त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा … ५७७
त्रिर्वित्तपूर्णपृथिवी … २०
त्रिंशद्दिनानि शूद्रस्य … ३८९
त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद्व्रात्यः … ५५०
त्रैकाल्यसंध्याकरणात् … ५८१
त्रैवार्षिकाधिकान्नो यः … ५९
त्रैविद्यनृपदेवानां … ३२३
त्रैविद्यं वृत्तिमद्ब्रूयात् … ३११
त्र्यङ्गहीनस्तु कर्तव्यो … ३६२
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः … २१५
त्र्यहं प्रेतेष्वनध्यायः … ६८
त्वं तुले सत्यधामासि … २३७
त्वमग्ने सर्वभूतानाम् … २४१
त्वं विष ब्रह्मणः पुत्रः … २४७

द

दण्डः क्षुद्रपशूनां तु … ३२९
दण्डं च तत्समं राज्ञे … १८५

श्लोकाः ... पृष्ठम्
दण्डं च क्षपणं चैव ... १७७
दण्डं दद्यात्सवर्णासु ... ३५६
दण्डनीत्यां च कुशलम् ... १४०
दण्डनीया तदर्धं तु ... २९५
दण्डप्रणयनं कार्यं ... ३२१
दण्डं स दाप्यो द्विशतं ... ३३५
दण्डाजिनोपवीतानि ... १२
दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो ... २७०
दत्तामपि हरेत्पूर्वात् ... ३२
दत्त्वर्णं पाटयेल्लेख्यं ... २३१
दत्त्वा कन्यां हरन्दण्ड्यो ... २८६
दत्त्वा चौरस्य वा हन्तुः ... ३५०
दत्त्वा तु दक्षिणां शक्त्या ... १११
दत्त्वा तु ब्राह्मणायैव ... १९७
दत्त्वाऽन्नं पृथिवीपात्रं ... १०८
दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा ... १४१
दत्त्वाऽर्घ्यं संस्रवांस्तेषां ... १०६
दत्त्वोदकं गन्धमाल्यं ... १०५
दद्याच्चतुष्पथे शूर्पे ... १३०
दद्यात्त्रिरात्रं चोपोष्य ... ५१७
दद्याद्गृहक्रमादेवं... ... १३६
दद्यादपहरेच्चांशं २८१
दद्यादृते कुटुम्बार्थान् ... १९९
दद्यान्माता पिता वा यं ... २७०
दद्युर्वा स्वकृतां वृद्धिं ... १९५
दद्युस्तद्रिक्थिनः प्रेते ... १९९
दध्यन्नं पायसं चैव ... १३०
दध्योदनं हविश्चूर्णं ... १३६
दन्तोलूखलिकः काल ... ४११
दन्दशूकः पतङ्गो वा ... ४६०
दम्भिहैतुकपाखण्डि ... ६२
दशकं पारदेश्ये तु ... ३३८
दशपूरुषविख्यातात् ... २६
दर्शनप्रतिभूर्यत्र... ... २०५

श्लोकाः ... पृष्ठम्
दर्शने प्रत्यये दाने ... २०५
दर्शैकपञ्चसप्ताह ३०५
दाक्षायणी ब्रह्मसूत्री ... ६४
दातव्यं प्रत्यहं पात्रे ... ९४
दातारो नोऽभिवर्धन्तां ... ११२
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति पू ... ९५
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति व ... ९५
दानं दमो दया क्षान्तिः ... ५९
दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रं ... २७४
दाने विवाहे यज्ञे च ... ३९६
दान्तस्त्रिषवणस्नायी ... ४१०
दापयित्वा हृतं द्रव्यं ... ३४६
दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं ... १७८
दाप्यस्तु दशमं भागं .. ३१४
दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च ... २६२
दाप्यो दण्डं च यो यस्मिन् ... ३२८
दायकालाहृते वापि ... ४९
दायादेभ्यो न तद्दद्यात् ... २५९
दासीकुम्भं बहिर्ग्रामात् ... ५७१
दाहयित्वाऽग्निहोत्रेण ... ४४
दिवा संध्यासु कर्णस्थ ... ७
दीयमानं न गृह्णाति ... १९८
दीर्घतीव्रामयग्रस्तं ... ४८९
दुःखमुत्पादयेद्यस्तु ... ३२८
दुःखे च शोणितोत्पादे ... ३२८
दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं ... ३२८
दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वा ... ३६५
दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च ... २८७
दुर्वृत्तब्रह्मविट्क्षत्रशूद्र ... ५३४
दुष्टा दशगुणं पूर्वात् ... ६७
दुहितॄणां प्रसूता चेत् ... २८५
दूरादुच्छिष्टविण्मूत्र ... ७२
दूर्वासर्षपपुष्पाणां... ... १३१

श्लोकाः ... पृष्ठम्
दूषणे तु करच्छेदः ... ३५६
दृतिं धनुर्बस्तमविं ... ५३४
दृश्याद्वा तद्विभागः स्यात् ... २६३
दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वैद्यान् ... १४६
दृष्ट्वा पथि निरातङ्कं ... ४८९
देयं चौरहृतं द्रव्यं ... १९३
देयं प्रतिश्रुतं चैव ... ३०४
देवतार्थं हविः शिग्रुः ... ७८
देवर्त्विक्स्नातकाचार्य ... ७१
देवातिथ्यर्चनकृते ... ९८
देवानुग्रान्समभ्यर्च्य ... २४८
देवान्पितॄन्समभ्यर्च्य ... ८१
देवान्संतर्प्य सरसो ... ४३८
देवेभ्यश्च हुतादन्नात् ... ५१
देशं कालं च भोगं च ... ३०७
देशं कालं च योऽतीयात् ... ३१५
देशं कालं वयः शक्तिं ... ५७०
देशकालवयःशक्ति ... ३४९
देशकालातिपत्तौ च ... २९९
देशाद्देशान्तरं याति ... १७५
देशान्तरगते प्रेते... ... ३४३
देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये ... २२९
देशेऽशुचावात्मनि च ... ७०
देशे काल उपायेन ... ३
दैवे पुरुषकारे च... ... १५२
दोषैः प्रयाति जीवोऽयं ... ४४१
दौर्हृदस्याप्रदानेन ... ४२५
द्यूतं कृषिं वणिज्यां च ... १२३
द्यूतमेकमुखं कार्यं ... ३१९
द्यूतस्त्रीपानसक्ताश्च ... ३४५
द्रव्यं तदौपनिधिकं ... २१३
द्रव्यं ब्राह्मणसंपत्तिः ... ९९
द्रव्यप्रकारा हि यथा ... ४६६
द्रव्याणां कुशला ब्रूयुः ... ३०७

श्लोकाः ... पृष्ठम्
द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः ... ४५९
द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु ... ३२४
द्रष्टारो व्यवहाराणां ... ३१८
द्वात्रिंशतं पणान्दण्ड्यो ... ३२६
द्वादशाहोपवासेन ... ५९०
द्वासप्ततिसहस्राणि ... ४३४
द्विगुणं त्रिगुणं वापि ... ४६०
द्विगुणं प्रतिदातव्यं ... २०६
द्विगुणं सवनस्थे तु ... ४९५
द्विगुणा वाऽन्यथा ब्रूयुः ... २२१
द्विगुणांस्तु कुशान्दत्त्वा ... १०६
द्विजस्तृणैधःपुष्पाणि ... २९८
द्विनेत्रभेदिनो राज ... ३६४
द्विपणे द्विशतो दण्डो ... ३३६
द्वे कृष्णले रूप्यमाषो ... १५७
द्वे द्वे जानुकपोलोरु ... ४२८
द्वे शते खर्वटस्य स्यात् ... २९८
द्वैधीभावं गुणानेतान् ... १५१
द्वैधे बहूनां वचनं ... २२०
द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्ये ... १०४
द्वौ शङ्खौ कपालानि ... ४२९

ध

धनं वेदान्भिषक्सिद्धिं ... १२४
धनी वोपगतं दद्यात् ... २३१
धनुःशतं परीणाहो ... २९८
धमनीनां शते द्वे तु ... ४३१
धर्मकृद्वेदविद्यावित् ... ४४३
धर्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धाः ... ३१३
धर्मप्रधाना ऋजवः ... २१५
धर्मशास्त्रानुसारेण ... १६१
धर्मार्थकामान्स्वे काले ... ५६
धर्मार्थं यश्चरेदेतत् ... ५९५
धर्मार्थं विक्रयं नेयाः ... ४०५
धर्मो हि दण्डरूपेण ... १५३

श्लोकाः पृष्ठम्

धान्यकुप्यपशुस्तेयं ... ४७८
धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः ... ४६४
धारणा प्रेरणं दुःखं ... ४२३
धारयेत्तत्र चात्मानं ... ४६०
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव ... १३८
धावतः पूतिगन्धे च ... ७०
धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो ... १५८
धूमं निशां कृष्णपक्षं ... ४६०
धेनुः शङ्खस्तथानड्वान् ... १३६
ध्यानयोगेन संपश्येत् ... ४१९
ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ ... ४३५

न

न क्षयो न च वृद्धिश्च ... ३०७
नग्नः स्नात्वा च भुक्त्वा च ... ५६६
न च मूत्रं पुरीषं वा ... ६५
न चाहूतो वदेत्किंचित् ... १७५
न तत्पुत्रा ऋणं दद्युः ... २०५
न तत्र कारणं भुक्तिः ... १८९
न तत्सुतस्तत्सुतो वा ... १८८
न तु मेहेन्नदीछाया ... ६४
न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै ... २८७
न दत्तं स्त्रीधनं यासां ... २५६
न ददाति हि यः साक्ष्यं ... २२०
न दाप्योऽपहृतं तं तु ... २१३
न निन्दाताडने कुर्यात् ... ७२
न निषेध्योऽल्पबाधस्तु ... २९३
न प्रत्यग्न्यर्कगोसोम ... ६४
न ब्रह्मचारिणः कुर्युः ... ३७१
न भार्यादर्शनेऽश्नीयात् ... ६३
नमस्कारेण मन्त्रेण ... ५८
नयेयुरेते सीमानं ... २८८
न योषित्पतिपुत्राभ्यां ... १९९
न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात् ... ६७
न लिप्येतैनसा विप्रो ... ४०६
नव च्छिद्राणि तान्येव ... ४३१

श्लोकाः पृष्ठम्

नवमे दशमे वाऽपि ... ४२६
न विद्यया केवलया ... ९३
न विरुद्धप्रसङ्गेन ... ६२
नष्टापहृतमासाद्य ... २९९
नष्टो देयो विनष्टश्च ... २०९
न संशयं प्रपद्येत ... ६३
नस्तः प्राणा दिशः श्रोत्रात् ... ४४०
न स्पृशन्तीह पापानि ... ५८३
न स्वाध्यायविरोध्यर्थं ... ६२
न हन्याद्विनिवृत्तं च ... १४४
नाक्रामेद्रक्तविण्मूत्र ... ७१
नाक्षैः क्रीडेन्न धर्मघ्नैः ... ६६
नाचक्षीत धयन्तीं गां ... ६७
नातः परतरो धर्मो ... १४३
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति ... १५५
नानारूपाणि कुर्वाणः ... ४५०
नान्वये सति सर्वस्वं ... ३०३
नापात्रे विदुषा किंचित् ... ९३
नाभिदघ्नोदकस्थस्य ... २४४
नाभिरोजो गुदं शुक्रं ... ४३०
नामभिर्बलिमन्त्रैश्च ... १२९
नाश्रमः कारणं धर्मे ... ४२०
नासहस्राद्धरेत्फालं ... ४३०
नासिका लोचने जिह्वा ... २३६
नास्तिक्यं व्रतलोपश्च ... ४७८
नाहितं नानृतं चैव ... ६३
निक्षेपस्य च सर्वं हि ... ४७६
निजधर्माविरोधेन ... ३११
निजलालासमायोगात् ... ४४६
निजं शरीरमुत्सृज्य ... ४६१
निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो ... ४४३
निमन्त्रयेत पूर्वेद्युः ... १०३
निमित्तमक्षरः कर्ता ... ४२१
निमित्तशाकुनज्ञान ... ४५३
निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो ... ४६०

श्लोकाः पृष्ठम्
निमेषश्चेतना यत्नः ... ४५४
नियमा गुरुशुश्रूषा ... ५८४
निराया व्ययवन्तश्च ... ३४५
निर्वपेत्तु पुरोडाशं ... ५४८
निर्वास्या व्यभिचारिण्यः ... २८३
निवासराजनि प्रेते ... ३९३
निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः ... ३६६
निशायां वा दिवा वाऽपि ... ५८१
निषिद्धभक्षणं जैह्म्यं ... ४७५
निषेकाद्याः श्मशानान्ताः ... ५
निष्कं सुवर्णाश्चत्वारः ... १५७
निःसरन्ति यथा लोह ... ४२०
निःसार्यते बाण इव ... ४२६
निस्तीर्य तामथात्मानं ... ४०३
निह्नवे भावितो दद्यात् ... १७३
निह्नुते लिखितं नैकं ... १७८
नीचाभिगमनं गर्भ ... ५७३
नीरजस्तमसा सत्त्व ... ४४९
नीवीस्तनप्रावरण... ... ३५४
नृपार्थेष्वभिशापे च ... २३७
नृपेणाधिकृताः पूगाः ... १८९
नृशंसराजरजक ७५
नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं ... ६५
नैतन्मम मतं यस्मात् ... २७
नैवेशिकं स्वर्णधुर्यं ... ९६
नैवेशिकानि च ततः ... १४६
नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु ... २१
न्यायागतधनस्तत्त्व ... ४६२
न्यूनाधिकविभक्तानां ... २५६

प

पक्षे गते वाप्यश्नीयात् ... ४११
पञ्चकं च शतं दाप्यः ... १९७
पञ्चगव्यं पिबेद्गोघ्नो ... ५१७
पञ्चग्रामी बहिः क्रोशात् ... ३४८
पञ्चदश्यां चतुर्दश्यां ... ६९

श्लोकाः पृष्ठम्
पञ्चधातून्स्वयं षष्ठः ... ४२३
पञ्चधा संभृतः कायो ... ३७५
पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य ... ७३
पञ्चबन्धो दमस्तस्य ... ३०१
पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं ... २५
पञ्चाशत्पणिको दण्डः ... ३३२
पटे वा ताम्रपट्टे वा ... १४२
पणानेकशफे दद्यात् ... ३०२
पणान्दाप्यः पञ्च दश ... ३२८
पण्यस्योपरि संस्थाप्य ... ३३८
पण्येषु प्रक्षिपन्हीनं ... ३३६
पतनीयकृते क्षेपे ३२२
पतितस्य बहिः कुर्युः ... ५७१
पतितानामेष एव... ... ५७२
पतिताप्तार्थसंबन्धि ... २१७
पतिप्रियहिते युक्ता ... ४३
पतिलोकं न स. याति ... ५०२
पत्नी दुहितरश्चैव... ... २७३
पत्रशाकं शिखी हृत्वा ... ४६५
पदानि क्रतुतुल्यानि ... १४४
पथि ग्रामविवीतान्ते ... २९६
पन्था देयो नृपस्तेषां ... ५७
पन्थानश्च विशुध्यन्ति ... ९०
पयसा वाऽपि मासेन ... ५२४
पयो दधि च मद्यं च ... ४०५
परद्रव्यगृहाणां च... ... ३४५
परद्रव्याण्यभिध्यायन् ... ४४२
परपाकरुचिर्न स्यात् ... ५५
परपूर्वापतिः स्तेनः ... १०२
परभूमिं हरन्कूपः ... २९३
परशय्यासनोद्यान ... ७३
परश्च हीन आत्मा च ... १५१
परस्परं तु सर्वेषां ... ३२६
परस्य योषितं हृत्वा ... ४६५
पराशरव्यासशङ्ख ३

श्लोकाः पृष्ठम्
परिभूतामधःशय्यां ... ३४
परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो ... १७५
परिस्तृते शुचौ देशे ... १०४
परेण भुज्यमानायाः ... १८२
पर्णोदुम्बरराजीव... ... ५८६
पलं सुवर्णाश्चत्वारः ... १५६
पलाण्डुं विड्वराहं च ... ८०
पवित्रपाणिराचान्तः ... १०३
पवित्राणि जपेत्पिण्डान् ... ५९३
पशुमण्डूकनकुल ६९
पशून्गच्छञ्शतं दाप्यो ... ३५७
पश्चाच्चैवापसरता ... ३६२
पश्चात्तापो निराहारः ... ४०१
पश्यतोऽब्रुवतो भूमेः ... १८२
पश्येच्चारांस्ततो दूतान् ... १४५
पाखण्ड्यनाश्रिताः स्तेनाः ... ३७१
पाणिपादशलाकाश्च ... ४२७
पाणिप्रक्षालनं दत्त्वा ... १०५
पाणिर्ग्राह्यः सवर्णासु ... ३०
पात्राणां चमसानां च ... ८३
पात्रे धनं वा पर्याप्तं ... ४९२
पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं ... ३
पादकेशांशुककरो ... ३२६
पादशौचं द्विजोच्छिष्टं ... ९६
पादौ प्रतापयेन्नाग्नौ ... ६६
पारदारिकचौरं वा ... ३६१
पारदार्यं पारिवित्त्यं ... ४७८
पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धं ... ४२८
पालदोषविनाशे तु ... २९८
पालितं वर्धयेन्नीत्या ... १४१
पालो येषां न ते मोच्याः ... २९७
पावकः सर्वमेध्यत्वं ... ३५
पांसुप्रवर्षे दिग्दाहे ... ७०
पिण्डदोंऽशहरश्चैषां ... २७१

श्लोकाः पृष्ठम्
पिण्डयज्ञावृता देयं ... ३७७
पिण्डांस्तु गोऽजविप्रेभ्यो ... १२१
पिण्याकं वा कणान्वापि ... ४९८
पिण्याकाचामतक्राम्बु ... ५९०
पितरि प्रोषिते प्रेते ... २०१
पिता पितामहो भ्राता ... ३१
पितापुत्रविरोधे तु ... ३३४
पितुरूर्ध्वं विभजतां ... २६४
पितुः स्वसारं मातुश्च ... ४७७
पितृद्रव्याविरोधेन ... २५९
पितृपात्रं तदुत्तानं ... ११२
पितृपुत्रस्वसृभ्रातृ... ... ३३२
पितृभ्यः स्थानमसीति ... १०७
पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं ... २६४
पितृमातृपतिभ्रातृ ... २८४
पितृमातृपराश्चैव... ... १०१
पितृमातृसुतत्यागः ... ४७८
पितृमातृसुतभ्रातृ ... ४२
पितृयानोऽजवीथ्याश्च ... ४५७
पितृलोकं चन्द्रमसं ... ४६०
पितॄंश्च मधुसर्पिर्भ्यां ... १९
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्यात् ... ५९९
पितॄन्मधुघृताभ्यां च ... १९
पित्तात्तु दर्शनं पक्ति ... ४२४
पित्रोस्तु सूतकं मातुः ... ३८२
पिशुनानृतिनोश्चैव ... ७५
पीडाकर्षांशुकावेष्ट ... ३२६
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत् ... १४७
पुण्यात्षड्भागमादत्ते ... १४७
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं... ... २०१
पुत्रं श्रैष्ठ्यं च सौभाग्यं ... १२३
पुत्रान्देहि धनं देहि ... १३१
पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः ... २०२
पुनरावर्तिनो बीज ... ४५७

श्लोकाः ... पृष्ठम्
पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भे ... ४२६
पुनःसंस्कारमर्हन्ति ... ५००
पुमान्संग्रहणे ग्राह्यः ... ३५३
पुराणन्यायमीमांसा ... २
पुरुषोऽनृतवादी च ... ४४२
पुरोहितं प्रकुर्वीत... ... १४०
पुंश्चलीवानरखरैः ... ५४०
पुष्पं चित्रं सुगन्धं च ... १३०
पूर्वकर्मापराधी च ... ३४५
पूर्वपक्षेऽधरीभूते... ... १७६
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं... ... १८९
पूर्वस्मृतादर्धदण्डः ... ३३०
पृथक्पृथग्दण्डनीयाः ... २२३
पृथक्सान्तपनद्रव्यैः ... ५८५
पृथिवी पादतस्तस्य ... ४४०
पौषमासस्य रोहिण्यां ... ६८
प्रकुर्यादायकर्मान्त ... १४३
प्रक्रान्ते सप्तमं भागं ... ३१६
प्रक्षिपेत्सत्सु विप्रेषु. ... १२१
प्रजापतिपितृब्रह्म... ... ८
प्रजापीडनसंतापात् ... १४९
प्रतिकूलं गुरोः कृत्वा ... ५४६
प्रतिगृह्य तदाख्येयम् ... ४०७
प्रतिग्रहपरीमाणं १४२
प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात् ... ३०४
प्रतिग्रहसमर्थोऽपि ... ९७
प्रतिग्रहे सूनिचक्रि ... ६७
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे ... ५७
प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां ... १२३
प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं ... २००
प्रतिप्रणवसंयुक्तां १०
प्रतिभूर्दापितो यत्तु ... २०६
प्रतिमानसमीभूतो ... २३७
प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं १७
प्रतिषिद्धमनादिष्टं ... ३४२

श्लोकाः ... पृष्ठम्
प्रतिषेधे तयोर्दण्डो ... ३५४
प्रतिसंवत्सरं चैवम् ... ११९
प्रतिसंवत्सरं त्वर्घ्याः ... ५४
प्रतिसंवत्सरं सोमः ... ६०
प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं ... १६५
प्रत्येकं प्रत्यहं पीतैः ... ५८६
प्रथमे मासि संक्लेद ... ४२४
प्रथमं साहसं दद्यात् ... ३६३
प्रदक्षिणमनुव्रज्य... ... ११३
प्रदर्शनार्थमेतत्तु ४६६
प्रधानं क्षत्रिये कर्म ... ५८
प्रनष्टाधिगतं देयं... ... १९२
प्रपन्नं साधयन्नर्थं ... १९६
प्रमाणं लिखितं भुक्तिः ... १८०
प्रमादमृतनष्टांश्च ... २९७
प्रमादवान्भिन्नवृत्तो ... ४४३
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं ... १२५
प्रयत्न आकृतिर्वर्णः ... ४२३
प्रयोजकेऽसति धनं ... २११
प्ररोहिशाखिनां शाखा ... ३२९
प्रविशेयुः समालभ्य ... ३७६
प्रवेशनादिकं कर्म... ... ३७६
प्रवृत्तचक्रतां चैव... ... १२४
प्रव्रज्यावसितो राज्ञो ... ३०९
प्रष्टव्या योषितश्चास्य ... ३५२
प्रसह्य घातिनश्चैव ... ३४८
प्रसह्य दास्यभिगमे ... ३५९
प्रस्थानविघ्नकृच्चैव... ... ३१५
प्राक्सौमिकीः क्रियाः कुर्यात् ५९
प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन ... ८
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं ... ५०९
प्राजापत्यां तदन्ते तान् ... ४१४
प्राणात्यये तथा श्राद्धे ... ८१
प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य ... १०
प्राणायामशतं कार्यं ... ५८०

श्लोकाः	पृष्ठम्
प्राणायामं जले कृत्वा ...	५४०
प्राणायामी जले स्नात्वा ...	५६६
प्रातःसंध्यामुपासीत ...	४९
प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यं ...	२०४
प्रातिलोम्यापवादेषु ...	३२१
प्रातिलोम्ये वधः पुंसो ...	३५४
प्राप्ते नृपतिना भागे ...	३१८
प्राप्यते ह्यात्मनि तथा ...	४४४
प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः ...	४७०
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो... ...	४७१
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्यात् ...	५७०
प्रियो विवाह्यश्च तथा ...	५४
प्रीणयन्ति मनुष्याणां ...	१२४
प्रीणाति देवानाज्येन ...	१९
प्रेषयेच्च ततश्चारान् ...	१४६
प्रोक्षणं संहतानां च ...	८४
प्रोषिते कालशेषः स्यात् ...	३८०
फ	
फलपुष्पान्नरसज... ...	५३८
फलोपलक्षौमसोम ...	४०४
फालाहतमपि क्षेत्रं ...	२९४
फेनप्रख्यः कथं नाशं ...	३७५
ब	
बध्वा वा वाससा क्षिप्रं ...	५६७
बन्दिग्राहांस्तथा वाजि ...	३४८
बन्धुदत्तं तथा शुल्कं ...	२८४
बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्याः ...	४१
बलाद्दासीकृतश्चौरैः ...	३०८
बलानां दर्शनं कृत्वा ...	१४५
बलिकर्मस्वधाहोम ...	५१
बलोपाधिविनिर्वृत्तान् ...	१९०
बहवः स्युर्यदि स्वांशैः ...	२०६
बहूनां यद्यकामासौ ...	३५९
बालसुवासिनीवृद्ध ...	५२
बाहुग्रीवानेत्रसक्थि ...	३२२

श्लोकाः	पृष्ठम्
बीजायोवाह्य रत्नत्री ...	३०५
बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि ...	४५५
बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात् ...	४५५
बुभुक्षितस्त्र्यहं स्थित्वा ...	४०७
बृहस्पते अतियदर्यः ...	१३५
ब्रह्मक्षत्रविशां कालः ...	१७
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः ...	५
ब्रह्मखानिलतेजांसि ...	४४५
ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिः ...	५८४
ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकं ...	१४
ब्रह्मचारी भवेत्तां तु ...	११३
ब्रह्मचार्येव पर्वाणि ...	३८
ब्रह्मणैषां वरो दत्तः ...	१३७
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य ...	४५२
ब्रह्मलोकमवाप्नोति ...	२१
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रान् ...	१२३
ब्रह्महत्याव्रतं वापि ...	५३२
ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयम् ...	४७५
ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् ...	४६४
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि ...	४८२
ब्रह्महा मद्यपः स्तेनः ...	४७३
ब्राह्मणः काममश्नीयात् ...	१४
ब्राह्मणक्षत्रियविशः ...	१८
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या ...	२८
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भैक्षः ...	१३
ब्राह्मणः पात्रतां याति ...	५९९
ब्राह्मणप्रातिवेश्यानाम् ...	३४३
ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः ...	१९८
ब्राह्मणस्य परित्राणात् ...	४८७
ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे ...	[illegible]०२
ब्राह्मणस्वर्णहारी तु रुद्र ...	५७८
ब्राह्मणान्भोजयेद्द्यात् ...	१३१
ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो ...	३९४
ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धे ...	१४७
ब्राह्मणेषु चरेद्भैक्षं ...	१३

श्लोकाः ... पृष्ठम्
ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो ... ४७
ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय ... ५६
ब्राह्मो विवाह आहूय ... २८
ब्रूयुरस्तु स्वधेत्युक्ते ... १११

भ

भक्तावकाशाभ्युदक ... ३५०
भक्षयित्वोपविष्टानां ... २९५
भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधा ... ८१
भगं ते वरुणो राजा ... १२८
भगमिन्द्रश्च वायुश्च ... १२८
भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे ... ४२८
भगिन्यश्च निजादंशात् ... २६४
भद्रासनोपविष्टस्य ... १२७
भयं हित्वा च भूतानां ... ४१८
भर्तृभ्रातृपितृज्ञाति ... ४१
भवो जातिसहस्रेषु ... ४१९
भस्मपङ्करजःस्पर्शे ... ३२४
भस्माद्भिः कांस्यलोहानां ... ८८
भार्याया विक्रयश्चैषां ... ४७९
भार्यारतिः शुचिर्भृत्यः ... ५८
भावाभावौ च जगतः ... १३७
भावैरनिष्टैः संयुक्तः ... ४४४
भासं च हत्वा दद्याद्गां ... ५३६
भास्करालोकनाश्लील ... १५
भिन्ने दग्धेऽथवा छिन्ने ... २२९
भिन्ने पणे च पञ्चाशत् ... ३३६
भिषङ्मिथ्याचरन्दण्ड्यः ... ३३५
भुक्त्वार्द्रपाणिरम्भोऽन्तः ... ७०
भूतपित्रमरब्रह्म ५१
भूतमप्यनुपन्यस्तं ... १७७
भूतात्मनस्तपोविद्ये ... ४०१
भूदीपाश्चान्नवस्त्राम्भः ... ९६
भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं ... ४२४
भूर्या पितामहोपात्ता ... २६२
भूशुद्धिर्मार्जनाद्दाहात् ... ८७

श्लोकाः ... पृष्ठम्
भृतकाध्यापकः क्लीबः ... १०२
भृतादध्ययनादानं ... ४७८
भृतिमर्धपथे सर्वां ... ३१६
भृत्यांश्च तर्पयेच्छ्मश्रु ... ४०९
भृत्यैः परिवृतो भुक्त्वा ... ५६
भेदं चैषां नृपो रक्षेत् ... ३१३
भेषजस्नेहलवण... ... ३३६
भैक्षाग्निकार्ये त्यक्त्वा तु ... ५४५
भोगांश्च दद्याद्विप्रेभ्यो ... १४०
भोजयेच्चागतान्काले ... ५३
भोज्यान्ना नापितश्चैव ... ७६
भ्रातृणामथ दम्पत्योः ... २०४
भ्रेषश्चेन्मार्गितेऽदत्ते ... २१३

म

मज्जान्तां जुहुयाद्वापि ... ४९०
मण्डलं तस्य मध्यस्थ ... ४३४
मतं मेऽमुकपुत्रस्य ... २२७
मत्तोन्मत्तार्तव्यसनि ... १९०
मत्स्यान्पक्वांस्तथैवामान् ... १३०
मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा ... ८०
मधु दंशः पलं गृध्रो ... ४६५
मधुना पयसा चैव ... १९
मधुमांसाञ्जनोच्छिष्ट ... १५
मधुमांसाशने कार्यः ... ५४६
मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं ... ३६१
मध्यमो जातिपूगानां ... ३२३
मध्यस्थस्थापितं चेत्स्यात् ... १९८
मध्ये पञ्चपला वृद्धिः ... ३०६
मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे ... ३२७
मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ ... ४२६
मनसश्चन्द्रमा जातः ... ४४०
मन्त्रमूलं यतो राज्यं ... १५०
मन्वत्रिविष्णुहारीत ... ३
मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या ... ४५३
मम दाराः सुतामात्याः ... ४४८

श्लोकाः पृष्ठम्
मयि तेज इति च्छायां ... ५४१
मर्यादायाः प्रभेदे च ... २९३
मलिनो हि यथादर्शो ... ४४४
महागणपतेश्चैव १३२
महानरककाकोलं ... ४७०
महापशूनामेतेषु ३२९
महापातकजान्घोरान् ... ४६३
महापातकजैर्घोरैः ... ४७०
महापापोपपापाभ्यां ... ५४७
महाभियोगेष्वेतानि ... २३२
महाभूतानि सत्यानि ... ४४७
महिषोष्ट्रगवां द्वौ द्वौ ... ३०२
महीपतीनां नाशौचं ... ३९५
महोक्षं वा महाजं वा ... ५८
महोक्षोत्सृष्टपशवः ... २९७
महोत्साहः स्थूललक्षः ... १३८
मातापितृगुरुत्यागी ... १०२
मातामहानामप्येवं ... १०४
मातामहानामप्येवं ... १११
मातुर्दुहितरः शेषं ... २५८
मातुर्यदग्रे जायन्ते ... १८
मातुः सपत्नीं भगिनीं ... ४७७
मातृपित्रतिथिभ्रातृ ... ७२
मात्स्यहारिणकौरभ्र ... १२१
मानुषे मध्यमं राज ... ३३५
मानुष्ये कदलीस्तम्भ ... ३७४
मानेन तुलया वापि ... ३३५
मान्यावेतौ गृहस्थस्य ... ५४
मारुतेनैव शुध्यन्ति ... ९२
मार्जनं यज्ञपात्राणां ... ८५
मार्जारगोधानकुल ... ५३६
माषानष्टौ तु महिषी ... २९५
मांसक्षीरौदनमधु... ... २०
मांसवृद्ध्याभितृप्यन्ति ... १२१
मांसं शय्यासनं धानाः ... ९८

श्लोकाः पृष्ठम्
मासेनैवोपभुञ्जीत ... ५९२
मास्यर्बुदं द्वितीये तु ... ४२४
माहिष्येण करण्यां तु ... ४७
मितश्च संमितश्चैव ... १२९
मित्रध्रुक् पिशुनः सोम ... १०२
मित्राण्येताः प्रकृतयो ... १५३
मिथिलास्थः स योगीन्द्रः ... २
मिथ्याभियोगी द्विगुणं ... १७३
मिथ्याभिशस्तदोषं च ... ५४७
मिथ्याभिशंसिनो दोषं ... ५४७
मिथ्यावदन्परीमाणं ... ३४२
मुक्त्वाग्निं मृदितव्रीहि ... २४४
मुखजा विप्रुषो मेध्याः ... ९१
मुखबाहूरुपज्जाः स्युः ... ४४०
मूर्धा सकण्ठहृदयं ... ४३०
मूलकं पूरिकापूपान् ... १३०
मूषको धान्यहारी स्यात् ... ४६५
मृग(गा)श्वसूकरोष्ट्राणां ... ४६३
मृच्चर्मपुष्पकुतप... ... ४०४
मृच्चर्ममणिसूत्रायः ... ३३६
मृतकल्पः प्रहारार्तो ... ४९१
मृताङ्गलग्नविक्रेतुः ... ३६४
मृतायां दत्तमादद्यात् ... २८६
मृते जीवति वा पत्यौ ... ३६
मृते पितरि कुर्युस्तं ... २७३
मृतेऽहनि प्रकर्तव्यं ... ११९
मृत्तिकां रोचनां गन्धान् ... १२८
मृत्युदेशसमासन्नं ... ३५२
मृद्दण्डचक्रसंयोगात् ... ४४६
मेदसा तर्पयेद्देवान् ... १९
मैत्रमौद्वाहिकं चैव ... २५९
मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने ... २१२
मोहजालमपास्येह ... ४३८

य

यं यं क्रतुमधीते च ... २०

श्लोकाः ... पृष्ठम्

यः कण्टकैर्वितुदति ... ४१२
यः कश्चिदर्थो निष्णातः ... २२६
यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो ... २२४
यः साहसं कारयति ... ३३१
य आहवेषु वध्यन्ते ... १४३
य इदं धारयिष्यन्ति ... ५९८
य इदं श्रावयेद्विद्वान् ... ५९९
य एनमेवं विन्दन्ति ... ४५९
य एव नृपतेर्धर्मः ... १४९
यजूंषि शक्तितोऽधीते ... १९
यजेत दधिकर्कन्धू ... ११३
यज्जन्म सर्वभूतानाम् ... ४३८
यज्ञस्थऋत्विजे दैवः ... २९
यज्ञानां तपसां चैव ... १९
यज्ञार्थं लब्धमददत् ... ६०
यज्ञांश्चैव प्रकुर्वीत ... १४०
यज्ञेन तपसा दानैः ... ४६०
यत एतानि दृश्यन्ते ... ४५४
यतिपात्राणि मृद्वेणु ... ४१८
यतो वेदाः पुराणानि ... ४५८
यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं ... १२९
यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे ... २७
यत्र यत्र च संकीर्णं ... ५८२
यत्र वृत्तमिमे चोभे ... ९३
यत्रानुकूल्यं दंपत्योः ... ३६
यथाकथंचित्त्रिगुणः ... ५८८
यथाकथंचिद्दत्त्वा गां ... ९६
यथाकथंचित्पिण्डानां ... ५९२
यथाकर्म फलं प्राप्य ... ४६७
यथाकामी भवेद्वापि ... ३९
यथा गुरुक्रतुफलं ... ५९८
यथाजाति यथावर्णं ... २१५
यथात्मानं सृजत्यात्मा ... ४५६
यथार्पितान्पशून्गोपः ... २९७
यथालाभोपपन्नेषु ... १०७

श्लोकाः ... पृष्ठम्

यथावर्णं प्रदेयानि ... १३४
यथाविधानेन पठन् ... ४३५
यथाशास्त्रं प्रयुक्तः सन् ... १५४
यथा हि भरतो वर्णैः ... ४५०
यथा ह्येकेन चक्रेण ... १५२
यदस्यान्यद्रश्मिशतं ... ४५२
यदा तु द्विगुणीभूतं ... २१२
यदा सस्यगुणोपेतं ... १५१
यदि कुर्यात्समानंशान् ... २५६
यदुच्यते द्विजातीनां ... २७
यद्ददाति गयास्थश्च ... १२२
यद्यप्येकोऽनुवेत्त्येषां ... ४३२
यद्यस्मि पापकृन्मातः ... २३७
यद्येवं स कथं ब्रह्मन् ... ४४०
यन्मेऽद्य रेत इत्याभ्यां ... ५४१
यमसूक्तं तथा गाथा ... ३६७
यमापस्तम्बसंवर्ताः ... ३
यवार्थास्तु तिलैः कार्याः ... १०६
यवैरन्ववकीर्याथ ... १०५
यश्च यस्य यदा दुःस्थः ... १३७
यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता ... ३३१
यस्तत्र विपरीतः स्यात् ... ३१२
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः ... ३७
यस्मिन्देशे मृगः कृष्णः ... २
यस्मिन्देशे य आचारो ... १४९
यस्मिंस्तु संस्रवाः पूर्वं ... ११२
यस्य वेगैर्विना जीर्येत् ... २४७
यस्योचुः साक्षिणः सत्यां ... २२१
या आहृता ह्येकवर्णैः ... १२८
यागस्थक्षत्रविड्घाती ... ४९४
याचितान्वाहितन्यास ... २१४
याचितेनापि दातव्यं ... ९४
यातश्चेदन्य आधेयः ... २१०
या दिव्या इति मन्त्रेण ... १०५
यानं वृक्षं प्रियं शय्यां ... ९७

श्लोकाः ... पृष्ठम्
यावद्वत्सस्य पादौ द्वौ ... ९५
यावत्सत्यं विनश्येत्तु ... २९६
युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्न ... २३०
युग्मान्दैवे यथाशक्ति ... १०४
ये च दानपराः सम्यक् ... ४५७
येऽनेकरूपाश्चाधस्तात् ... ४५३
ये पातककृतां लोकाः ... २१९
ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां ... १४८
ये लोका दानशीलानां ... ९७
ये समाना इति द्वाभ्यां ... ११५
योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ... ४३५
योगी मुक्तश्च सर्वासां ... ४४५
योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं ... १
योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ... १५८
यो दण्ड्यान्दण्डयेद्राजा ... १५५
यो द्रव्यदेवतात्याग ... ४३८
योऽभियुक्तः परेतः स्यात् ... १८९
यो मन्येताजितोऽस्मीति ... ३६५
यो यस्मान्निःसृतश्चैषां ... ४५६
यो यावत्कुरुते कर्म ... ३१५
यो येन संवसत्येषां ... ४६४

र

रक्तस्रग्वसनाः सीमां ... २९०
रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां ... ४२
रङ्गावतारिपाखण्डि ... २१७
रजसा तमसा चैवं ... ४४०
रजस्तमोभ्यामाविष्टः ... ४५६
रजस्वलामुखास्वादः ... ४७५
रथ्याकर्दमतोयानि ... ९२
रम्यं पशव्यमाजीव्यं ... १४२
रश्मिरश्मी रजश्छाया ... ९०
रसस्य नव विज्ञेयाः ... ४३३
रसस्याष्टगुणा परा ... १९६
रसात्तु रसनं शैत्यं ... ४२४
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे ... ४१७

श्लोकाः ... पृष्ठम्
राक्षसो युद्धहरणात् ... ३०
रागाल्लोभाद्भयाद्वापि ... १६३
राजताद्यसः सीसात् ... १३३
राजदैवोपघातेन ... ३४०
राजनि स्थाप्यते योऽर्घः ... ३३७
राजपत्न्यभिगामी च ... ३५३
राजयानासनारोढुः ... ३६४
राजा कृत्वा पुरे स्थानं ... ३११
राजान्तेवासियाज्येभ्यः ... ६२
राजा लब्ध्वा निधिं दद्यात् ... १९२
राजा सुकृतमादत्ते ... १४४
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणान् ... १४९
राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः ... १९७
राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो ... ३०७
राज्ञामेकादशे सैके ... ७
राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः ... ३१८
राज्ञा सभासदः कार्याः ... १६२
राज्ञा सर्वं प्रदाप्यः स्यात् ... २१९
राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं ... ३६४
रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो ... २०२
रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात् ... २३३
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा ... ४३७
रूपं देहि यशो देहि ... १३१
रूपाण्यपि तथैवेह ... ४४१
रोगी हीनातिरिक्ताङ्गः ... १०२
रोम्णां कोट्यस्तु पञ्चाशत् ... ४३२
रौरवं कुड्मलं पूति ... २२२

ल

ललाटं स्विद्यते चास्य ... १७५
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोः ... १२९
लशुनं गृञ्जनं चैव ... ८०
लाक्षालवणमांसानि ... ४०५
लाभालाभौ यथाद्रव्यं ... ३४१
लिखितं ह्यमुकेनेति ... २२८
लिङ्गं छित्त्वा वधस्तस्य ... ४७७

श्लोकाः ... पृष्ठम्

लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ ... ३२९
लिङ्गेन्द्रियग्राह्यरूपः ... ४५६
लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं ... २२७
लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत् ... २३१
लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः ... ३७
लोमभ्यः स्वाहेत्यथवा ... ५७७
लोमभ्यः स्वाहेत्येवं हि ... ४९०
लौहामिषं महाशाकं ... १२२

व

वङ्क्षणौ वृषणौ वृक्कौ ... ४३१
वणिग्लाभं न चाप्नोति ... १२६
वनाद्गृहाद्वा कृत्वेष्टिं ... ४१४
वपावसावहननं ४३०
वयः कर्म च वित्तं च ... १५९
वयोबुद्ध्यर्थवाग्वेष ... ५९
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रि ... १९४
वर्णानामानुलोम्येन त ... ३२१
वर्णानामानुलोम्येन दा ... ३१०
वर्णाश्रमेतराणां नो ... १
वर्णिनां हि वधो यत्र ... २२५
वर्त्याधारस्नेहयोगात् ... ४५१
वर्षत्यप्रावृतो गच्छेत् ... ६५
वसा त्रयो द्वौ तु मेदो ... ४३३
वसानस्त्रीन्पणान्दण्ड्यः ... ३३३
वसुरुद्रादितिसुताः ... १२४
वसेत्स नरके घोरे ... ८२
वस्त्रं चतुर्गुणं प्रोक्तं ... २०७
वस्त्रधान्यहिरण्यानां ... १९६
वाकोवाक्यं पुराणं च ... २०
वाक्चक्षुः पूजयति नो ... १७५
वाक्पाणिपादचापल्यं ... ५५
वाक्शस्तमम्बुनिर्णिक्तं ... ८९
वाचं वा को विजानाति ... ४४७
वाच्यतामित्यनुज्ञातः ... १११
वाजेवाज इति प्रीतः ... ११२

श्लोकाः ... पृष्ठम्

वानप्रस्थगृहेष्वेव ५१२
वानप्रस्थयतिब्रह्म... ... २८०
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी ... ४०८
वायवीयैर्विगण्यन्ते ... ४३२
वायुभक्षः प्रागुदीचीं ... ४१३
वायुभक्षो दिवा तिष्ठन् ... ५८३
वायोश्च स्पर्शनं चेष्टां ... ४२४
वालवासा जटी वापि ... ४९८
वासनस्थमनाख्याय ... २१३
वासो गृहान्तिके देयं ... ५७२
विकर्णकरनासौष्ठीं ... ३५१
विक्रयावक्रयाधान ... ३३३
विक्रियापि च दृष्टैव ... ४५१
विक्रीणतां वा विहितो ... ३३७
विक्रीणीते दमस्तत्र ... ३४०
विक्रीतमपि विक्रेयं ... ३४०
विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः ... ३००
विख्यातदोषः कुर्वीत ... ५७४
वितथाभिनिवेशी च ... ४४२
वित्तात्मानं वेद्यमानं ... ४५३
विदश्य निम्बपत्राणि ... ३७५
विद्याकर्मवयोबन्धु ... ५६
विद्यातपोभ्यां हीनेन ... ९४
विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्यां ... ५९९
विद्वानशेषमादद्यात् ... १९२
विनापि शीर्षकात्कुर्यात् ... २३३
विना धारणकाद्वापि ... २११
विनापि साक्षिभिर्लेख्यं ... ८९
विनायकः कर्मविघ्न ... १२५
विनायकस्य जननी ... १३१
विनीतः सत्त्वसंपन्नः ... १३८
विनीतस्त्वथ वार्तायां ... १३८
विपाकः कर्मणां प्रेत्य ... ४४२
विपाकात्त्रिप्रकाराणां ... ४५६
विपाके गोवृषाणां तु ... ५४६

श्लोकाः पृष्ठम्
विप्रश्चैन च शूद्रस्य ... ३६४
विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रः ... ५६७
विप्रदुष्टां स्त्रियं चैव ... ३५१
विप्रपीडाकरं छेद्यम् ... ३२५
विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि ... ४६
विप्रा हि क्षत्रियात्मानो ... ७१
विप्रुषो मक्षिकाः स्पर्शे ... ९०
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं ... १४३
विप्लुतः सिद्धमात्मानं ... ४४७
विभक्तेषु सुतो जातः ... २६३
विभजेरन्सुताः पित्रोः ... २५७
विभागं चेत्पिता कुर्यात् ... २५५
विभागनिह्नवे ज्ञाति ... २८८
विभागभावना ज्ञेया ... २८८
विभावयेन्न चेल्लिङ्गैः ... १९२
विमना विफलारम्भः ... १२६
विराजः सोऽन्नरूपेण ... ४३८
विरुद्धं वर्जयेत्कर्म ... ६६
विवादयेत्सद्य एव ... १७४
विवादं वर्जयित्वा तु ... ७३
विवादाद्द्विगुणं दण्डं ... २२३
विवीतभर्तुस्तु पथि ... ३४७
विशेषपतनीयानि ५७३
विश्वेदेवाश्च प्रीयन्तां ... १११
विषयेन्द्रियसंरोधः ... ४४९
विषाग्निदां पतिगुरु ... ३५१
विहितस्याननुष्ठानात् ... ४६८
वीणावादनतत्त्वज्ञः ... ४३६
वृक्षगुल्मलतावीरुत् ... ५३९
वृथाकृसरसंयाव ७९
वृथादानं तथैवेह १९९
वृद्धबालातुराचार्य ... ७२
वृद्धभारिनृपस्नात ५७
वृषक्षुद्रपशूनां च ३३२
वृष्ट्यायुःपुष्टिकामो वा ... १३३
श्लोकाः पृष्ठम्
वेत्ति सर्वगतां कस्मात् ... ४४१
वेद एव द्विजातीनां ... १९
वेदप्लावी यवाश्यब्दं ... ५५०
वेदमध्यापयेदेनं ७
वेदं व्रतानि वा पारं ... २१
वेदाथर्वपुराणानि ५१
वेदानुवचनं यज्ञो ४५८
वेदाभ्यासरतं क्षान्तं ... ५८३
वेदार्थविज्ज्येष्ठसामा ... १००
वेदार्थानधिगच्छेच्च ... ५०
वेदाः स्थानानि विद्यानां ... २
वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैः ... ४५३
वैणाभिशस्तवार्धुष्य ... ७४
वैतानोपासनाः कार्याः ... ३७९
वैरूप्यं मरणं वापि ... ४२५
वैश्यवृत्त्यापि जीवन्नो ... ४०४
वैश्यश्च धान्यधनवान् ... ५९९
वैश्यहाब्दं चरेदेतत् ... ५३२
वैश्यात्तु करणः शूद्र्यां ... ४६
वैश्या प्रतोदमादद्यात् ... ३०
वैश्याशूद्र्योस्तु राजन्यात् ... ४६
व्यतीपातो गजच्छाया ... ९९
व्यत्यये कर्मणां साम्यं ... ४८
व्यभिचाराद‍ृतौ शुद्धिः ... ३५
व्यवहारान्नृपः पश्येत् ... १६१
व्यवहारान्स्वयं पश्येत् ... १५५
व्यवहारांस्ततो दृष्ट्वा ... १४४
व्यसनं जायते घोरं ... २४९
व्यासिद्धं राजयोग्यं च ... ३४२
व्रजन्नपि तथात्मानं ... १२६
श
शक्तस्यानीहमानस्य ... २५६
शक्तितो वा यथालाभं ... १३६
शक्तोऽप्यमोक्षयन्स्वामी ... ३६३
शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे ... ४११

श्लोकाः ... पृष्ठम्
शतमानं तु दशभिः ... १५७
शते दशपला वृद्धिः ... ३०६
शतं स्त्रीदूषणे दद्यात् ... ३५७
शत्यस्तदर्धिकः पाद ... ३२२
शं नो देवीस्तथा काण्डात् ... १३५
शं नो देव्या पयः क्षिप्त्वा ... १०५
शपन्तं दापयेद्राजा ... ३२०
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च ... ४५६
शब्दादिविषयोद्योगं ... ४४७
शरणागतबालस्त्री ... ५७३
शरीरचिन्तां निर्वर्त्य ... ४९
शरीरपरिसंख्यानं ... ४४९
शरीरसंक्षये यस्य ... ४५०
शरीरेण च नात्मायं ... ४५१
शशश्च मत्स्येष्वपि हि ... ८१
शस्त्रविक्रयिकर्मार ... ७५
शस्त्रावपाते गर्भस्य ... ३५१
शस्त्रासवमधूच्छिष्टं ... ४०४
शस्त्रेण तु हता ये वै ... १२३
शाकरज्जुमूलफल ... ८३
शाकार्द्रौषधिपिण्याक ... ४०४
शातातपो वसिष्ठश्च ... ३
शास्त्राणि चिन्तयेद्बुद्ध्या ... १४५
शिरःकपाली ध्वजवान् ... ४८२
शिराः शतानि सप्तैव ... ४३१
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेत् ... ५८
शुक्तं पर्युषितोच्छिष्टं ... ७६
शुक्रः शनैश्चरो राहुः ... १३३
शुक्रियारण्यकजपो ... ५८१
शुक्लाम्बरधरो नीच ... ६३
शुचि गोतृप्तिकृत्तोयं ... ९०
शुद्धश्चेद्द्रुमयोर्ध्वं मां ... २३७
शुध्येत वा मिताक्षित्वात् ... ४९१
शुध्येरन्स्त्री च शूद्रश्च ... ९

श्लोकाः ... पृष्ठम्
शूद्रः प्रव्रजितानां च ... ३३२
शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं ... ४७९
शूद्रस्तथान्त्य एव स्याद् ... ३६०
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा ... ५८
शूद्राज्जातस्तु चण्डालः ... ४७
शूद्रादायोगवं वैश्यात् ... ४७
शूद्रेषु दासगोपाल ... ७६
शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि ... ५१७
शोणितेन विना दुःखं ... ३२६
शोध्यस्य मृच्च तोयं च ... ४०१
शौल्किकैः स्थानपालैर्वा ... ३०१
श्मश्रु चास्यगतं दन्त ... ९१
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् ... ११२
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्य ... ४५८
श्राद्धकृत्सत्यवादी च ... ४६२
श्राद्धं प्रति रुचिश्चैव ... २१८
श्रान्तसंवाहनं रोगी ... ९६
श्रीकामः शान्तिकामो वा ... १३३
श्रुताध्ययनसंपन्नः ... १६२
श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं ... १६७
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः ... ४
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक् ... ७२
श्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योऽपि ... ५९९
श्रुत्वैतादृषयो धर्मान् ... ५९८
श्रेणिनैगमपाखण्डि ... ३१३
श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां ... ४५३
श्रौतं स्मार्तं फलस्नेहैः ... ४११
श्रौतस्मार्तक्रियाहेतोः ... १४०
श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं ... ३७५
श्लेष्मौजसस्तावदेव ... ४३३
श्लोकत्रयमपि ह्यस्माद्यः ... ५९९
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि ... ४५८
श्वक्रोष्टृगर्दभोलूक ... ७०
श्वित्री वक्रं श्वा रसं तु ... ४६५

श्लोकाः ... पृष्ठम्

ष

षट्पञ्चाशच्च जानीत ... ४३२
षट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं च ... ४३३
षडङ्गानि तथाऽस्थ्नां च ... ४२७
षण्मासाच्छ्रूद्रहाप्येतत् ... ५३२
षष्ठ्यङ्गुलीनां द्वे पार्ष्ण्योः ... ४२८
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि ... ६६
षष्ठे बलस्य वर्णस्य ... ४२५
षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तः ... ६
षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां ... ३८
षोडशाङ्गुलकं ज्ञेयं ... २४३
षोडशाद्यः पणान्दाप्यो ... ३२८
ष्ठीवनासृक्शकृन्मूत्र ... ६६

स

स आत्मा चैव यज्ञश्च ... ४३८
सकटान्नं च नाश्नीयात् ... ३७७
सकामास्वनुलोमासु ... ३५६
सकायः पावयेत्तज्ज्ञः ... २९
सकाशादात्मनस्तद्वत् ... ४२०
सकांस्यपात्रा दातव्या ... ९४
स कूटसाक्षिणां पापैः ... २२०
सकृत् प्रदीयते कन्या ... ३२
सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं ... ३७०
सखिभार्याकुमारीषु ... ४७६
स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा ... १५
सगोत्रासु सुतस्त्रीषु ... ४७६
सगौरसर्षपैः क्षौमं ... ८६
संग्रामे वा हतो लक्ष्य ... ४९१
संघातं लोहितोदं च ... ४७०
सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा ... ३४७
सचैलं स्नातमाहूय ... २३४
सजातावुत्तमो दण्डः ... ३५४
सजातीयेष्वयं प्रोक्तः ... २७२
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह ... ४३४
संततिः स्त्रीपशुष्वेव ... २०७
स तद्दद्याद्विलवाच्च ... ३४२
स तमादाय सप्तैव ... २४२
स तान्सर्वानवाप्नोति ... २१९
स तु सोमघृतैर्देवान् ... १९
सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षां ... ५३
सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु ... ५३
सत्यंकारकृतं द्रव्यं ... २१०
सत्यमस्तेयमक्रोधो ... ४२०
सत्यसंधेन शुचिना ... १५४
सत्यामन्यां सवर्णायां ... ४४
सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैः ... ३१९
सत्येन माऽभिरक्ष त्वं ... ४४२
सत्रिव्रतिब्रह्मचारि ... ३९६
सत्त्वं रजस्तमश्चैव ... ४५६
स दग्धव्य उपेतश्चेत् ... ३६७
स दद्यात्प्रथमं गोभिः ... ५७४
स दानमानसत्कारैः ... ३१२
स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ... २२४
संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात् ... २३०
संदिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः ... १७५
संदिष्टस्याप्रदाता च ... ३३२
सद्दानमानसत्कारान् ... १४८
सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः ... ३५३
संधिं च विग्रहं यानम् ... १५१
संधिन्यनिर्दशावत्सा ... ७७
संध्यागर्जितनिर्घात ... ६९
संध्यामुपास्य शृणुयात् ... १४५
संध्यां प्राक्प्रातरेवं हि ... १०
स नाणकपरीक्षी तु ... ३३४
संनिरुध्येन्द्रियग्राम ... ४१८
संनिरुध्येन्द्रियग्रामं ... ४६०
स नेतुं न्यायतोऽशक्यो ... १५४
सन्ततिस्तु पशुस्त्रीणां ... १९५
सपणश्चेद्विवादः स्यात् ... १७७
सपिण्डो वा सगोत्रो वा ... २२

श्लोकाः ... पृष्ठम्
सप्तत्रिंशदनध्यायाः ... ७१
सप्तमाद्दशमाद्वापि ... ३६९
सप्तमे चाष्टमे चैव ... ४२६
सप्तर्षिनागवीथ्यन्तः ... ४५७
सप्तषष्टिस्तथा लक्षाः ... ४३२
सप्ताश्वत्थस्य पत्राणि ... २४१
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं ... ५८५
सप्तैव तु पुरीषस्य ... ४३३
सप्तोत्तरं मर्मशतं... ... ४३२
स प्रदाप्यः कृष्टफलं ... २९४
सब्रह्मचारिकात्मीय ... २२७
संभूय कुर्वतामर्घं... ... ३३७
संभूय वणिजां पण्यं ... ३३७
संभोज्यातिथिभृत्यांश्च ... ५२
सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्याः ... १६३
सभ्याः सजयिनो दण्ड्याः ... ३६५
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ... १६३
समकालमिषुं मुक्तं ... २४५
स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत ... १३९
सममेषां विवीतेऽपि ... २९५
समवायी तु पुरुषो ... ४३९
समवायेन वणिजां ... ३४१
समासेऽर्थे ऋणी नाम ... २२७
समाप्य वेदं द्युनिशं ... ६९
समामासतदर्धाहर्नामजाति ... २२७
समामासतदर्धाहर्नामजात्या ... १६५
संमितानि दुराचारो ... ८२
समुद्रपरिवर्तं च ३३६
समूहकार्य आयातान् ... ३१२
समूहकार्यप्रहितो... ... ३१३
समेष्वेवं परस्त्रीषु... ... ३२४
सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः ... १५४
सम्यक्प्रयुक्ताः सिध्येयुः ... १५१
सम्यक्संकल्पजः कामो ... ४
संयतेन्द्रियता विद्या ... ४२०
श्लोकाः ... पृष्ठम्
संयतोपस्करा दक्षा ... ४६
संयोगे केचिदिच्छन्ति ... १५२
संयोज्य वायुना सोमं ... ४३८
स राजसो मनुष्येषु ... ४४३
सर्गादौ स यथाकाशं ... ४२२
सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् ... ९८
सर्वदानाधिकं यस्मात् ... १४७
सर्वधर्ममयं ब्रह्म... ... ९७
सर्वपापहरा ह्येते... ... ५८१
सर्वभूतहितः शान्तः ... ४१६
सर्वमन्नमुपादाय ११०
सर्वः साक्षी संग्रहणे ... २१८
सर्वस्य प्रभवो विप्राः ... ९३
सर्वस्वहरणं कृत्वा... ... ३११
सर्वान्कामानवाप्नोति ... ८२
सर्वाश्रयां निजे देहे ... ४४५
सर्वेष्वर्थविवादेषु १८२
सर्वौषधैः सर्वगन्धैः ... १२७
सलिलं भस्म मृद्वापि ... ८७
सलिलं शुद्धिरेतेषां ... ४१८
सवत्सारोमतुल्यानि ... ९५
सवर्णासु विधौ धर्म्ये ... ४४
सवर्णेभ्यः सवर्णासु ... ४५
संविशेत्तूर्यघोषेण १४६
सव्याहृतिकां गायत्रीं ... १०९
सश्रीफलैरंशुपट्टं ८५
स सम्यक्पालितो दद्यात् ... ३१७
संसृष्टिनस्तु संसृष्टी ... २८१
संस्राव्य पाययेत्तस्मात् ... २४८
स संदिग्धमतिः कर्म ... ४४७
सहस्रकरपन्नेत्रः ४३८
सहस्रशीर्षाजापी तु ... ५७९
सहस्राक्षं शतधारं ... १२८
सहस्रात्मा मया यो वः ... ४४०
स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः ... ४५९

श्लोकाः ... पृष्ठम्
साक्षिणः श्रावयेद्वादि ... २१८
साक्षिणश्च स्वहस्तेन ... २२७
साक्षिमच्चं भवेद्यद्वा ... २३२
साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ... २४१
साक्षिषूभयतः सत्सु ... १७६
साधारणस्यापलापी ... ३३२
साधून्संमानयेद्राजा ... १४८
साध्यमानो नृपं गच्छन् ... १९६
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात् ... ५
सामन्तकुलिकादीनाम् ... ३३२
सामन्ता वा समग्रामा ... २९०
सामानि तृप्तिं कुर्याच्च ... १९
सामान्यद्रव्यप्रसभ ... ३३१
सामान्यार्थसमुत्थाने ... २६१
सारसैकशफान्हंसान् ... ७८
सावधानस्तदभ्यासात् ... ४३५
सावित्रीपतिता व्रात्या ... १७
सावित्रीमशुचौ दृष्टे ... ५४१
साशीतिपणसाहस्रो ... १५८
साहसस्तेयपारुष्य ... १७४
साहसी दृष्टदोषश्च ... २१७
सिद्धे योगे त्यजन्देहं ... ४६१
सितासिताः कर्बुरूपा ... ४५२
सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य ... २८८
सुकृतं यत्त्वया किंचित् ... २१९
सुतविन्यस्तपत्नीकः ... ४०८
सुताश्चैषां प्रभर्तव्याः ... २८३
सुराकामद्यूतकृतं १९९
सुरापी व्याधिता धूर्ता ... ३५
सुरापोऽन्यतमं पीत्वा ... ४९६
सुराप्य आत्मत्यागिन्यो ... ३७१
सुराम्बुघृतगोमूत्र ... ४९६
सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं ... ३८
सूर्यः सोमो महीपुत्रः ... १३३
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं ... ९

श्लोकाः ... पृष्ठम्
सृजत्यात्मानमात्मा च ... ४४६
सृजत्येकोत्तरगुणान् ... ४२२
सेकादुल्लेखनाल्लेपात् ... ८७
सेतुभेदकरीं चाप्सु ... ३५१
सेतुवल्मीकनिम्नास्थि ... २८८
सेकानूपं नृपो भैक्षं ... ४०६
सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रे ... ४३
सेह कीर्तिमवाप्नोति मो ... ३६
सोऽचिराद्विगतश्रीको ... १४८
सोदयं तस्य दाप्योऽसौ ... ३३९
सोदरस्य तु सोदरः ... २८१
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो ... ३११
सोमः शौचं ददावासां ... ३५
सोषरोदकगोमूत्रैः ... ८५
सौवर्णराजताब्जानाम् ... ८३
स्तनान्तरं भ्रुवोर्मध्यं ... ५४१
स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा ... ३५२
स्त्रीनक्तमन्तरागार ... १९०
स्त्रीनिषेधे शतं दद्यात् ... ३५४
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे ... ४२३
स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या ... ३५
स्त्रीवालवृद्धकितव ... २१७
स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यं ... ३७
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो ... ४७८
स्त्र्यालोकालम्भविगमः ... ४४९
स्थानासनविहारैर्वा ... ४११
स्थालैः सह चतुःषष्टिः ... ४२७
स्थैर्यं चतुर्थे त्वङ्गानां ... ४२५
स्नपनं तस्य कर्तव्यं ... १२७
स्नातस्य सार्षपं तैलं ... १२९
स्नातानपवदेयुस्तान् ... ३७४
स्नात्वा देवान्पितॄंश्चैव ... ५०
स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते ... ९१
स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैः ... ९
स्नानं मौनोपवासेज्या ... ५८४

श्लोकाः ... पृष्ठम्
स्नायान्नदीदेवखात० ... ७३
स्फीतादपि न संचारि० ... २६
स्फ्यशूर्पाऽजिनधान्यानां ... ८४
स्मृत्याचारव्यपेतेन ... १६४
स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु ... १७९
स्यादोषधिवृथाच्छेदे ... ५३९
स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु ... १४७
स्वं कुटुम्बाविरोधेन ... ३०३
स्वं लभेतान्यविक्रीतं ... २९९
स्वकर्म ख्यापयंस्तेन ... ५०२
स्वच्छन्दविधवागामी ... ३३२
स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो ... ३९
स्वदेशपण्ये तु शतं ... ३३८
स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय... १५६
स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं ... १२६
स्वप्याद्भूमौ शुची रात्रौ ... ४११
स्वभावाद्विकृतिं गच्छेत् ... १७५
स्वयंकृतं वा यदृणं ... २००
स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां ... १३८
स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां ... ४५४
स्वर्गं ह्यपत्यमोजश्च शौर्यं ... १२३
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य ... २७३
स्ववर्णैर्वा पटे लेख्या ... १३३
स्वसीम्नि दद्याद्ग्रामस्तु ... ३४८
स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यात् ... १११
स्वस्त्रीयऋत्विग्जामातृ ... १०१
स्वहस्तकालसंपन्नं ... १४२
स्वाध्यायाग्निसुतत्यागो ... ४७९
स्वाध्यायवान्दानशीलः ... ४१०
स्वाध्यायं सततं कुर्यात् ... १०४
स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं ... १५३
स्वामिने योऽनिवेद्यैव क्षेत्रे ... २९४
स्वामिप्राणप्रदो भक्तः ... ३०९

श्लोकाः ... पृष्ठम्
स्वैरिणी या पतिं ३३

ह

हंसश्येनकपिक्रव्याज्जल० ... ५३६
हतानां नृपगोविप्रैरन्वक्षं ... ३८७
हत्वा त्र्यहं पिबेत्क्षीरं ... ५३६
हविष्यान्नेन वै मासं ... १२१
हस्तेनौषधिभावे वा ... ६७
हस्तौ पायुरुपस्थं च ... ४२९
हानिर्विक्रेतुरेवासौ ... ३४०
हानिश्चेत्क्रेतृदोषेण ... ३४०
हास्यं परगृहे यानं ... ४१
हितं तस्याचरेन्नित्यं ... ११
हिताहिता नाम नाड्यस्तासां... ४३४
हिताहितेषु भावेषु ... ४४८
हिरण्यभूमिलाभेभ्यो ... १५३
हिरण्यं व्यापृतानीतं ... १४५
हिंसकश्चाविधानेन ... ४४३
हिंस्रयन्त्रविधानं च ... ४७९
हीनकल्पं न कुर्वीत ... ६०
हीनजातिं परिक्षीण ... १९८
हीनजातौ प्रजायेत ... ४६५
हीनाद्ग्रहो हीनमूल्ये ... २९९
हीना न स्याद्विना भर्त्रा ... ४२
हीनेष्वर्धदमो मोह० ... ३२४
हुतशेषं प्रदद्यात्तु ... १०७
हुत्वाग्नीन्सूर्यदैवत्यान् ... ५०
हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं ... ३०१
हृताधिकारां मलिनां ... ३४
हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु ... ९
हेमशृङ्गी शफै रौप्यैः ... ९४
हेममात्रमुपादाय रूपं ... ४४६
हेमहारी तु कुनखी ... ४६४
होतव्या मधुसर्पिर्भ्यां ... १३६

धर्मशास्त्र-ग्रन्थः

- **खादिरगृह्यसूत्रम् अथवा द्राह्यायणगृह्यसूत्रम्।** रूद्रस्कन्दवृत्ति सहित। ठाकुर उदय नारायण सिंह कृत हिन्दी टीका सहित।
- **गोभिलगृह्यसूत्रम्।** पं० सत्यव्रतसामाश्रमिकृत संस्कृत व्याख्या। ठाकुर उदय नारायण सिंह कृत हिन्दी टीका सहित।
- **धर्मसिन्धुः।** हिन्दी टीका सहित। पं० राजवैद्य रविदत्त शास्त्री
- **धर्मद्रुम।** (धर्मशास्त्र का इतिहास, परिचयात्मक एवं विवेचनात्मक ग्रन्थ)। आचार्य राजेन्द्र पाण्डेय
- **निर्णयसिन्धुः।** कमलाकरभट्ट। हिन्दी अनुवाद सहित। म०म० श्रीव्रजरत्न भट्टाचार्य
- **पराशरस्मृतिः।** भाषाटीका सहित। पं० गुरूप्रसाद शर्मा
- **भगवन्तभास्करः।** मीमांसक श्रीनीलकण्ठभट्टविरचितम्। (1–2 भाग)
- **मनुस्मृतिः।** रामेश्वरभट्ट कृत हिन्दी टीका सहित।
- **Manusmriti:** (Text with English Translation); R.N. Sharma
- **Yajnavalkyasmriti:** Sanskrit text with its Transliteration and Commentary in English by B.S. Bist
- **वेदी पूजा-रहस्यम् अर्थात् वेदी पूजा विधिः।** अशोक कुमार गौड .
- **सर्वधर्मकोश।** (विश्व के बारह जीवनधर्मो के धर्मग्रन्थों से संगृहीत शिक्षाओं व मान्यताओं का अपूर्व संकलन)। डॉ० रामसरूप 'रसिकेश'
- **हिन्दू-संस्कार।** डॉ० राजबली पाण्डेय
- **The Hindu Law Codes (The Dharma Shastra) :** Text with Transliteration and English Translation by M. N. Dutt
- **Methodology of Ancient Indian Sciences:** Prof. W.K. Lele
- **Hindu Polity :** K. P. Jayaswal
- **The Principal Upanishads (2Vols.)** Text with Transliteration and English Translation by Board of Oriental Scholars: Edited by Max Müller

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली

RGD, New Delhi